मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

[प्रथमो भागः]

युधिष्ठिरो मीमांसकः

आचार्य-शबरस्वामि-विरचितम्

जैमिनीय-मीमांसा-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

[प्रथमो भागः]

व्याख्याकारः—युधिष्ठिरो मीमांसकः

समर्पणम्

पूर्वोत्तरमीमांसापारदृश्वनां
महामहोपाध्यायाद्यनेकविरुद्भाजां
यशःकायमात्रेण वर्तमानानां तत्र भवतां
श्रीपण्डितप्रवरचिन्नस्वामि-शास्त्र्यपरनाम्ना प्रथितयशसां

श्रीपूज्यपादगुरुवरवेङ्कटसुब्रह्मण्यशास्त्रिणां
पुण्यस्मृतौ
मीमांसा-शावर-भाष्यस्यैमां हिन्दीव्याख्यां
सादरं समर्पयति
तत्र भवतांम् अन्तेवासी
युधिष्ठिरो मीमांसकः

भूमिका

वैदिक-वाङ्मय तथा उपाङ्गभूत षट्दर्शनों में पूर्वमीमांसाशास्त्र का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस शास्त्र में वेद, उसकी व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में जो वचन याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से अस्पष्ट एवं सन्दिग्ध से हैं, उनका स्पष्टीकरण शंका-निवारणपूर्वक किया गया है। इसके साथ ही उस समय याज्ञिक-सम्प्रदाय में जो अन्याय्य रूढियां प्रचलित हो चुकी थीं, उनके न्याय्य-स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार धर्मसूत्रों में जो वेदविरोधी अंश प्रविष्ट हो चुके थे, उनका प्रवल निराकरण किया है। जहां इस शास्त्र का विषय की दृष्टि से क्षेत्र बहुत विस्तृत है, वहां संकर्षकाण्डान्त शास्त्र आकार की दृष्टि से पांचों दर्शनों के दुगुने से भी अधिक है। इतना ही नहीं, वेदान्त न्याय आदि पांचों शास्त्रों का पठनपाठन भारतवर्ष में प्रायः होता रहा है, परन्तु मीमांसाशास्त्र के पठन-पाठन का क्षेत्र चिरकाल से सीमित रहा है। सम्प्रति इस शास्त्र के पारदृश्वा विद्वान् दुर्लभ हैं।

विद्वद्वर श्री गङ्गानाथ झा का मीमांसा-शाबरभाष्य का अंग्रेजी अनुवाद बहुत वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी-भाषा में प्रयागनिवासी स्व० श्री पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय ने शाबर-भाष्य का अनुवाद लिखा था। वह अद्यावधि अप्रकाशित ही पड़ा है। अनुवादमात्र से तो मीमांसा-शास्त्र का साधारण वोध होना भी कठिन है। मीमांसाशास्त्र के पठन-पाठन का अधिकारी तो अधीतवेद ही है, यह भाष्यकार शवरस्वामी ने प्रथम सूत्र के व्याख्यान में लिखा है। सम्प्रति वेदाध्ययन की परम्परा नष्ट हो चुकी है, इसलिये मीमांसाशास्त्र में वेद शाखा ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थों के उद्धृत वचनों के आकर-स्थान का भी अध्येता को ज्ञान नहीं होता। ऐसे छात्रों को गुरु-मुख से अध्ययन करने पर भी जब विषय स्पष्ट नहीं होता, फिर अनुवादमात्र की सहायता से शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना तो असम्भव ही है।

यद्यपि मैं भी परम्परागत वेदाध्ययन से रहित था, परन्तु मेरे हृदय में स्वाध्याय में प्रवृत्ति अध्ययनकाल के आरम्भ में ही जागृत हो गई थी। इसलिये मीमांसाशास्त्र के अध्ययन से पूर्व उपलब्ध वैदिक-वाङ्मय— वेद शाखा ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों का दो तीन बार पारायण कर चुका था। उसका कुछ प्रभाव बुद्धिगत हो चुका था। साथ ही व्याकरण निरुक्त तथा न्यायादि दर्शनग्रन्थों का अध्ययन भी मैं कर चुका था। कात्यायन श्रौतसूत्र का अध्ययन भी चालू था। इस सब सम्पत् के साहाय्य से अधीतवेद न होने पर भी मीमांसाशास्त्र के तात्पर्य को समझने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। साथ ही परमेश्वर की अपार दया से मीमांसाशास्त्र के ऐसे गुरु मुझे

प्राप्त हो गये, जो वेद और मीमांसाशास्त्र के परावरज्ञ थे। उन्होंने एक-एक पदार्थ को भाष्य में उद्धृत वचन के पूर्वापर प्रसंग का बोध कराते हुये शास्त्र का अध्यापन कराया।

इस सब स्थिति को ध्यान में रखकर मैंने मीमांसाभाष्य की प्रकृत व्याख्या में भाष्य में उद्ध्रियमाण वचनों के यथासम्भव मूल आकर-स्थानों और प्रसंग का निर्देश करते हुये व्याख्या करने का प्रयास किया है। प्राचीन व्याख्याता आचार्य प्रायः पराम्पराप्राप्त उदाहृत वचनों को उद्धृत करते जाते हैं। मीमांसाशास्त्र की अति प्राचीन व्याख्याएं उस समय लिखी गई थीं, जब वेद की समस्त शाखाएं वा ब्राह्मणग्रन्थ पठन-पाठन में व्यवहृत थे। अतः उस समय के व्याख्याताओं तथा अधीतवेद अन्तेवासियों को उनके मूलस्थान ज्ञात ही थे। परन्तु सम्प्रति वेद की ६–७ शाखाएं और १०–१२ छोटे-मोटे ब्राह्मण ग्रन्थ ही मिलते हैं। अतः शाबरभाष्य में परम्परा से उद्धृत किये गये सभी वचनों के मूल-स्थान का निर्देश करना सम्प्रति असम्भव है। फिर भी अनुपलब्ध-मूल उद्धरणों के यथासम्प्रदाय प्रकरणादि का निर्देश करके व्याख्यान करने का प्रयास किया है।

शाबरभाष्य की संस्कृतभाषा यद्यपि पातञ्जल-महाभाष्य के सदृश बहुत सरल है, परन्तु पातञ्जल-महाभाष्य के समान प्राञ्जल और सक्षम नहीं है। इस कारण अनेक स्थानों पर शबर-स्वामी के अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये केवल अनुवादमात्र सक्षम नहीं है। ऐसे स्थानों पर हमने [ ] कोष्ठक में अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। भाष्य में अनेक स्थल ऐसे आते हैं, जिनका याज्ञिक-प्रक्रिया की दृष्टि से स्पष्टीकरण आवश्यक होता है, और अनेक स्थानों पर भाष्यकार पारिभाषिक संज्ञाओं का व्यवहार करके अपने कथन को व्यक्त करते हैं। उन पारि-भाषिक संज्ञाओं का परिज्ञान न होने से भाष्यकार का अभिप्राय व्यक्त नहीं होता। अतः ऐसे सभी स्थलों को 'विवरण' शीर्षक के अन्तर्गत यथाशास्त्र यथामति विवृत करने का प्रयास किया है।

इसके साथ ही भाष्यकार आचार्य शबरस्वामी की व्याख्या से जहां मतभेद था, उसे भी हमने विवरण में ही प्रकाशित करने का प्रयास किया है। प्रत्येक शास्त्रवित् यह जानता है कि ज्यों-ज्यों काल बीतता जाता है, उसमें अनेक वाद उत्पन्न होते जाते हैं। कभी-कभी तो उत्तरवर्ती व्याख्याताओं के परस्पर-विरोधी व्याख्यानों को देखकर यह निश्चय करना ही कठिन हो जाता है कि शास्त्रकार का अपना वास्तविक अभिप्राय क्या था ? इसका सब से उत्तम उदाहरण वेदान्तदर्शन है। इसके व्याख्याकार सभी प्रमुख आचार्यों ने अपने-अपने अद्वैत विशिष्टाद्वैत द्वैत आदि विभिन्न मतों के अनुसार व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं, और सभी ने यह उद्घोषित किया है कि हमने जिस मत का प्रतिपादन किया है, वही शास्त्रकार भगवान् बादरायण (=कृष्णद्वैपायन) को अभिमत था। परन्तु थोड़ी-सी भी स्वतन्त्र बुद्धिवाला यह सोच सकता है कि शास्त्रकार का समस्त भाष्यकारों द्वारा प्रतिज्ञात सभी परस्पर-विरोधी मतों में तात्पर्य नहीं हो सकता। अर्थशास्त्र-विशारद विष्णु-गुप्त चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र के अन्त में लिखा है:—

दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम् ।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं भाष्यं च ॥

यही स्थिति मीमांसाशास्त्र की भी है । मीमांसाशास्त्र में दो प्रधान वाद हैं—शबरस्वामी आदि के मतानुसार मीमांसाशास्त्र निरीश्वरवादी है । वह न ईश्वर को मानता है, और न जगत् के सर्ग और प्रलय को । इस अंश में वह जैन मत के बहुत समीप है । कुछ व्याख्याता मीमांसा-शास्त्र को ईश्वरवादी, और उसमें जगत् के सर्ग और प्रलय को स्वीकार करते है । पुनश्च शाबरभाष्य के मतानुयायियों में भी तीन मत हैं । एक–भाट्ट (कुमारिल भट्ट का) मत है; दूसरा–गुरुमत अथवा प्राभाकर (भट्ट प्रभाकर का)मत; और तीसरा–मुरारि मिश्र का, जिस के सम्बन्ध में **मुरारेस्तृतीयः पन्थाः** आभाणक प्रसिद्ध है । ये तीनों अपनी-अपनी दृष्टि से शाबरभाष्य की व्याख्याएं करते हैं । इतना ही नहीं, बहुत्र शाबरभाष्य की कठोर आलोचना भी करते हैं ।

हमने शाबरभाष्य की व्याख्या में पूरी तरह तटस्थ रहकर भाष्यकार के अभिप्राय को ही व्यक्त करने का प्रयास किया है । इसलिये जो व्यक्ति शाबरभाष्य को समझना चाहते हैं, उनके लिये हमारा प्रयत्न निस्सन्देह लाभदायक होगा । परन्तु जहां भी हमारा विचार शाबरभाष्य और उसकी वर्तमान व्याख्याओं से भिन्न था, वहां हमने इनके मतों की स्पष्ट आलोचना भी की है । यथा 'वेदापौरुषेयत्व-अधिकरण' पर वर्तमान मीमांसकों के 'वेद=शाखा-ब्राह्मण-उपनिषद् सभी अपौरुषेय हैं' मत की २०–२५ पृष्ठों में विस्तृत आलोचना की है । अपने विचार की पुष्टि में हमने वैदिक-वाङ्मय के प्रचुर उद्धरण देकर, तथा सूत्रकार-अभिमत 'वेद' शब्द के अर्थ में समस्त मीमांसा शास्त्र में जिन-जिन सूत्रों में 'वेद' शब्द प्रयुक्त हुआ है, शबरस्वामी उद्धृत उदाहरण वचनों के आधार पर ही उनके द्वारा अपने तात्पर्य को स्पष्ट किया है । इसी प्रकार पशुयागों से सम्बद्ध उद्धरणों पर भी नई दृष्टि से विचार प्रस्तुत किये हैं ।

सम्भव है मीमांसाशास्त्र और श्रौतयज्ञों के सम्बन्ध में विशेषकर पशुयागों के सम्बन्ध में प्रस्तुत विचारों से, किन्हीं के सम्प्रदायागत विचारों को ठेस पहुंचे । परन्तु हम उनसे इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि मीमांसा-सम्प्रदाय भाट्टमत गुरुमत और मुरारि-पन्था के रूप में पहले ही विभक्त हो चुका है, और इनमें भी बहुजन-परिगृहीत भाट्टमतानुयायी-ग्रन्थकार भी एक-दूसरे के मतों का अद्ययावत् खण्डन-मण्डन करते चले आ रहे हैं, उससे यदि मीमांसाशास्त्र पर कोई आंच नहीं आती है, तो हमारे प्रस्तुत प्रयत्न को भी सहृदयता से उसी रूप में ग्रहण करने की हम समस्त मीमांसक-शास्त्रज्ञों से अभ्यर्थना करते हैं । **वादे वादे जायते तत्त्वबोधः** यह आप्तोक्ति ऐसे प्रयत्नों के विषय में ही तो है । अन्त में हम बौद्ध और जैन मतानुयायियों के प्रहार से वेद की रक्षा करनेवाले भट्ट कुमारिल के शब्दों में ही अपने कथन को समाप्त करते हैं—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वपोद्यते ॥
[श्लोकवार्तिक, ग्रन्थकार-प्रतिज्ञा, श्लोक ७]

नमस्कार और धन्यवाद

सब से प्रथम मैं गुरुजनों के भी आदि गुरु परमात्मा को नमस्कार करता हूं,जिसने सृष्टि के आदि में आद्य-ऋषियों के अन्तःकरण में अपने यथार्थज्ञानरूप वेदों को संचारित करके मानवों को कर्तव्य-अकर्तव्यरूप, धर्म-अधर्म, और आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का यथार्थ ज्ञान दिया। इसके साथ ही जिसकी असीम कृपा से इस जन्म में मुझे ऐसे वैदिकधर्म-प्रेमी कर्तव्य-परायण माता-पिता, और विविध शास्त्र-निष्णात निष्काम छात्र-हितैषी गुरुजन प्राप्त हुये, जिन्हें पाकर मैं अपने जीवन को कुछ अंश में सफल बना सका।

प्राचीन ऋषि-मुनि-आचार्यों को नमस्कार—आदि देव, आदि विद्वान्, आदि शास्त्र-शास्ता **भगवान् ब्रह्माजी** से लेकर **भगवान् जैमिनि** अथवा **भगवान् बोधायन** पर्यन्त वेदादिसच्छास्त्र-प्रवक्ता समस्त **ऋषियों**, उत्तरकालिक आर्ष-वाङ्मय के वृत्तिकार एवं भाष्यकार **मुनियों**, तदुत्तरवर्ती विविध शास्त्र-व्याख्याकार **आचार्यों**, तथा तदनुयायी उत्तरकाल के समस्त **विद्वज्जनों**, जिनके सतत जागरूक प्रयत्नों से प्रसृत वैदिक-आर्ष-वाङ्मय की पुण्यसलिला ज्ञानगङ्गा हमारे तक पहुंची है, उन सब को मैं श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता हूं—

नमः परमर्षिभ्यो नमो मुनिभ्यो नम आचार्येभ्यो नमो विद्वद्वरेभ्यः।

वेदोद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती को नमस्कार—पुनश्च आधुनिक युग के वेदोद्धारक, वैदिधर्मप्रचार के लिये उत्सर्गीकृतकाय, वेदैकशरण, अशेषशेमुषी-संपन्न, प्रातःस्मरणीय **स्वामी दयानन्द सरस्वती** को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता हूं, जिन्होंने मत-मतान्तरों के झंझावात से विनष्ट कल्प वेद एवं आर्ष-वाङ्मय के पुनरुद्धार के लिये अनेकधा विषपान करते हुये वि० सं० १९४० की दीपावली के शुभ दिन महाप्रयाण करते-करते भी अनेक नास्तिक वेदविरोधी जनों के हृदयों में ज्ञान-ज्योत्स्ना को संचारित करते हुये—**'हे ईश्वर! तेरी इच्छा पूर्ण हो'** कहते हुये तन-मन और आत्मा को ब्रह्मार्पित कर दिया।

आज देश में वेद और आर्षज्ञान का जो थोड़ा-बहुत प्रसार हो रहा है, उसमें वेद के पुनरुद्धारक इन महात्मा का भारी योगदान है। आप ही स्वतन्त्रता और स्वदेशीयता के प्रथम उद्घोषक, मातृ-शक्ति के पूजक, दीन अनाथों के परित्राता, आर्यजाति के रक्षक, मत-मतान्तरों के निर्भीक उन्मूलक, और गोपाल श्रीकृष्ण महाराज के समान गोपाल थे। आपके जीवन और कृतियों से प्रेरणा प्राप्त करके उनके द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज ने प्रारम्भिक काल में देश जाति और समाज के उद्धार में जो अप्रतिम कार्य किया, उसे सम्पूर्ण प्रबुद्ध मनस्वी भारतवासी जानते हैं।

मैं अपने सारस्वत कुल के अनुरूप सरस्वती की समुपासना में प्रवृत्त जो हो सका, उसका भी श्रेय मूलतः प्रातःस्मरणीय स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को ही है, मेरे ग्राम के श्री सूरजमल

पटेल[१] अजमेर में यदि आपके दर्शन और उपदेश श्रवण न करते, तो उनके द्वारा पूज्य पितृचरण के अन्तःकरण में वैदिकधर्म की शुभ ज्योत्स्ना प्रस्फुटित न होती।[२] । वे अज्ञानान्धकार-परिवेष्टित रहकर परम्परागत कृषि में ही लगे रहते, और फलस्वरूप मैं वेदविद्या वा आर्षज्ञान-गङ्गा के पवित्र अमृतोपम जलविन्दु का आस्वादन करने में सर्वथा असमर्थ रहता। इस प्रकार प्रातःस्मरणीय स्वामी दयानन्द सरस्वती का हमारे कुल पर जो महान् ऋण है, उससे उनके द्वारा निर्दशित वैदिकधर्म के प्रसार के कारण एक मतान्ध मुसलमान डाक्टर के हाथों अपनी वलि देकर कुछ सीमा तक पूज्य पितृचरण तो उन्मुक्त हो गये, परन्तु मैं तो दिन-प्रतिदिन उनके महान् उपकारों को स्मरण करता हुआ अपने को अधिकाधिक उनके ऋणपाश में वन्धा पाता हूं।

जीवन-निर्माता माता-पिता को नमस्कार— प्रातस्मरणीया माता यमुनाबाई, जिसका दुर्दैव से मेरी ७-८ वर्ष की अवस्था में ही वियोग हो गया था, के मेरे पूज्य पिता **श्री गौरीलाल आचार्य** को कहे गये अन्तिम शब्द थे—**'मैं आप से बिछुड़ रही हूं, आप अकेले रह जायेंगे, कहीं मोह में पड़कर युधिष्ठिर को गुरुकुल भेजना न भूल जायें'**। एक मरणासन्न माता के मेरे अभ्युदय के लिये कहे गये उक्त गम्भीर शब्द मुझे आज तक स्मरण हैं। ये शब्द ही मुझे सदा सब अवस्थाओं में प्रेरणा देते रहे। पूजनीया माता और पितृचरण ने परमहंस स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षा से प्रेरित होकर यह दृढ़ निश्चय किया था कि हम तो कुलानुरूप ब्राह्मण नहीं बन सके, परन्तु **अपनी सन्तति को सच्चा वेदपाठी ब्राह्मण अवश्य बनायेंगे**। अपनी आदर्श जीवनसंगिनी के दुःखद वियोग के कारण पूज्य पितृचरण दो-ढाई वर्ष अनन्यभनस्क रहे। तत्पश्चात् स्वस्थमना होने पर उन्होंने पूर्व निश्चय के अनुसार मुझे गुरुकुल में भेजने का उपक्रम किया।

गुरुकुल कांगड़ी (हरद्वार) में वयः कुछ अधिक होने, और गुरुकुल सान्ता क्रुज वम्वई में पैरों की जन्मजात विकृति के कारण मुझे प्रवेश न मिला। मैं समझता हूं इसके पीछे भी परम कृपालु परेश का ही हाथ था। 'ईश्वर जो कुछ करता है, उसी में उसका कल्याण निहित होता है' का मैंने अपने जीवन में साक्षात् अनुभव किया है। यदि मुझे इन गुरुकुलों में स्थान प्राप्त हो जाता, तो निस्सन्देह मेरा न इतना बौद्धिक विकास होता, और ना ही वेद-वेदाङ्ग आदि विविध शास्त्रों में अन्तःप्रवेश होता। वेद-वेदाङ्गों की ऊपरी सतह पर ही मैं डोलता रहता। अस्तु।

अनेक प्रतिष्ठित गुरुकुलों में प्रवेश न मिलने से मेरे पितृचरण कुछ खिन्न थे। परन्तु प्रभु सब की सदिच्छा पूर्ण करते हैं। अचानक मई वा जून १९२१ के **आर्यमित्र** साप्ताहिक में 'स्वामी सर्वदानन्द साधु आश्रम, पुल कालीनदी, अलीगढ़ का विज्ञापन उन्हें देखने को मिला, जिसमें वहां कुछ विद्यार्थियों को प्रविष्ट करने का उल्लेख था। और साथ ही लिखा था—'इस विद्यालय में ऋषि

---

१. ये महानुभाव मेरी किशोर अवस्था तक जीवित थे। इन्होंने एक बार सन् १९२५ में मुझे भी ऋषि दयानन्द सरस्वती के आकार-प्रकार एवं उपदेशों के कुछ संस्मरण सुनाये थे। संस्मरण सुनाते समय वे बड़े भाव-विभोर हो गये थे।

२. इसी कारण मेरे पूज्य पितृचरण पत्रादि में उन्हें **आदिगुरु** विशेषण से स्मरण करते थे।

दयानन्द सरस्वती प्रदर्शित आर्ष पाठविधि के अनुसार ही शिक्षण दिया जाता है।' इस विज्ञापन के अनुसार पितृचरण ने विद्यालय के आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु से पत्रव्यवहार द्वारा अनुमति प्राप्त करके, ३ अगस्त १९२१ को वे पूज्य आचार्य जी के चरणों में मुझे लेकर उपस्थित हुये, और पूर्ण सन्तुष्ट होकर मुझे पूज्य गुरु-चरणों में छोड़कर कृतकृत्य हो गये।

मैं अपनी पूजनीया सुसंस्कृता स्नेहमयी माता और पुत्र-वत्सल पूज्य पितृचरणों का, जिनके सत्प्रयत्नों से मेरे जीवन की आधारशिला रखी गई एवं सुदृढ़ हुई, उन्हें वारम्वार श्रद्धा-सुमन प्रस्तुत करता हूं।

ज्ञान-प्रदाता गुरुजनों को नमस्कार—स्व० श्री पूज्य गुरुवर पं० **ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु** और उनके आद्य सहयोगी स्व० श्री गुरुवर **पं० शङ्करदेवजी**, तथा स्व० श्री माननीय पं० **बुद्धदेवजी** का अत्यन्त कृतज्ञ हूं, जिन्होंने मुझे अपने चरणों में आश्रय देकर मुझे पशु से नर वनाने का सत्प्रयत्न किया। श्री पूज्य गुरुवर पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने न केवल गुरुत्व का भार ही उठाया, अपितु वात्सल्य के रूप में पितृत्व को भी निभाया। आप जैसा छात्रवत्सल एवं '**सर्वत्र जयमन्विच्छेत् शिष्यादिच्छेत् पराजयम्**' की भावनापर्यन्त छात्र की सर्वाङ्गीण उन्नति के चाहनेवाले गुरुजन की उपलब्धि अनेक जन्मों के पुण्योदय वा ईश्वर कृपा से होती है। आप वेद व्याकरण निरुक्त तथा दर्शनशास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् थे। देव दयानन्द-प्रतिपादित आर्ष-पाठविधि के अनन्य सफल प्रयोक्ता थे। सारी आयु आपने आर्षग्रन्थों के पठन-पाठनरूपी सारस्वत-सत्र एवं देवगिरा संस्कृतभाषा के समुत्थान में लगाई। पाणिनीय व्याकरण को अष्टाध्यायी के माध्यम से अत्यन्त सरल बनाने का आपका असाधारण प्रयत्न सदा स्मरणीय रहेगा। सिद्धान्त-कौमुदी के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन करने-करानेवाले दिग्गज विद्वान् भी आपके इस प्रयत्न के मुक्त-कण्ठ से प्रशंसक थे। व्याकरण के अनेक उद्भट विद्वानों ने उनके इस कार्य से प्रभावित होकर सश्रद्ध नतमस्तक होकर उन्हें गुरु स्वीकार किया। उनमें आत्मकूर (कर्नूल-आन्ध्र) निवासी अनेकशास्त्रनिष्णात माध्व सम्प्रदाय के आचार्य श्री पं० पद्मनाभ आचार्य प्रमुख हैं। उनके विद्यालय में व्याकरण का पाठ आरम्भ होने से पूर्व परम्परानुसार व्याकरणशास्त्र के आचार्यों को स्मरण करते हुए भगवान् सूत्रकार पाणिनि वार्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार पतञ्जलि के नामस्मरण के पश्चात् आधुनिक युग के पाणिनीय शास्त्र के पुनरुद्धारकों के रूप में श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती, श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती, और श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का नाम स्मरण करके व्याकरणशास्त्र का पाठ आरम्भ होता है। मैं श्री माननीय मित्रवर पं० पद्मनाभ आचार्य के **सत्यान्न प्रमदितव्यम्, न हि सत्यात् परो धर्मः** को क्रियान्वित करनेवाले महनीय आचरण से उनके प्रति सदा नतमस्तक होता हूं।

ऐसे अद्भुत कृपालु छात्रवत्सल प्रातःस्मरणीय गुरु-वर को भूयोभूयः नमकार करता हूं। आपके इस महनीय ऋषि-ऋण से इस जन्म में तो क्या अनेक जन्मों में भी उऋण होना सम्भव नहीं है।

पूर्वोत्तरमीमांसा के पारदृश्वा, वेदमूर्त्ति, महामहोपाध्याय आदि अनेक विरुदों से विभूषित,

स्व० गुरुवर **श्री चिन्नस्वामी शास्त्री** नाम से विख्यात **श्री वेङ्कट सुब्रह्मण्य शास्त्री जी** को, जिन्होंने अनुपम शिष्य-वात्सल्य से मुझ जैसे स्थूल-मति छात्र को पूर्वमीमांसा शाबरभाष्य की गूढतम ग्रन्थ-ग्रन्थियों को इस कुशलता से हृदयङ्गम कराया कि आज ४२ वर्ष के अनभ्यास के पश्चात् भी यह शास्त्र बुद्धि में यथावत् उपस्थित है। ऐसे महनीय गुरुवर को सादर नमस्कार के रूप में श्रद्धासुमन प्रस्तुत करता हूं। इसके साथ ही आपके पट्टशिष्य मीमांसा-शिरोमणि पूज्य गुरुवर **श्री पट्टाभिराम जी शास्त्री** को, जिनकी महती कृपा से मीमांसाशास्त्र के विविध ग्रन्थों का अध्ययन किया, भक्ति पुरःसर नमस्कार करता हूं।

कर्मकाण्ड के विश्रुत विद्वान् वेदमूर्ति माननीय गुरुवर **श्री पं० भगवत्प्रसाद मिश्र** का मैं अत्यन्त आभारी हूं। जब मेरे कर्मकाण्ड के अन्यत्र अध्ययन में संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण व्याघात उत्पन्न हुआ, तब आपने **'मैं किसी भी मनुष्याकृतिवाले को पढ़ाने को तत्पर हूं'** कहकर मुझे अपने चरणों में आश्रय दिया, और बड़े प्रेम तथा आत्मीयता के साथ मुझे कात्यायन श्रौतसूत्र पढ़ाया, और कर्मकाण्डीय ग्रन्थियों को सुलझाया। ऐसे निष्काम छात्रवत्सल गुरुवर्य को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता हूं।

न्याय आदि विविध शास्त्रों के पारदृश्वा विद्वान् स्व० गुरुवर पूज्य **श्री पं० ढुण्ढिराजजी शास्त्री** का भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं, जिन्होंने अपनी अत्यन्त व्यस्त दिनचर्या में भी कृपा करके न्यायादि कतिपय शास्त्रों के विविध गहन ग्रन्थों का बोध कराया। आपके हृदय में छात्रों के प्रति जो वात्सल्य भावना सदा जागरूक रहती थी, उसका प्रत्येक छात्र के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता था। दिन हो चाहे रात, आपने कभी किसी छात्र से यह नहीं कहा कि 'मेरे पास समय नहीं है'। प्रातः से रात के ९-१० बजे तक आप छात्रों को बराबर पढ़ाते रहते थे। ऐसे महनीय गुरुवर को मैं श्रद्धासहित नमस्कार करता हूं।

इनके अतिरिक्त जिन विद्वद्वरेण्यों से साक्षात् अध्ययन तो नहीं किया, परन्तु जिनकी दिव्य-मूर्ति के दर्शनमात्र से हृदय-कमल प्रस्फुटित हो जाता था, हृदय में कर्तव्यभावना का उदय होता था, और हृदय को सुप्रेरणा प्राप्त होती थी, उनमें मतान्धकार से सर्वथा अस्पृष्टात्मा, छात्रवत्सल, व्याकरण के सूर्य स्व० गुरुवर **श्री पं० देवनारायणजी तिवारी**, और अनेक शास्त्रों के उद्भट विद्वान् स्व० गुरुवर सर्वतन्त्रस्वतन्त्र **श्री पं० काशीनाथ जी** को भी मैं श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता हूं। इसी प्रकार गोण्डल रसायनशाला के संस्थापक पूज्य **श्री स्वामी चरणतीर्थ जी** (श्री पं० जीवराम कालिदास शास्त्री) भी एक महनीय विभूति थे। आप महानुभावों के बहुधा दर्शनमात्र एवं सान्निध्यमात्र से ही मुझे जो कर्तव्यपरायणता और जीवन-रहस्य के समझने में सहायता मिली, उसके लिये मैं आप महानुभावों के प्रति सदा ऋणी रहूंगा।

वस्तुतः वह मेरे जीवन का स्वर्णिम समय था, जब ऐसे महनीय गुरुजनों के चरणों में बैठ-कर अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार दो चार शब्द सीखे। आज ऐसे उदात्त विचारोंवाले छात्र-वत्सल गुरुजनों का प्रायः लोप हो चुका है।

इन गुरुजनों के साथ ही रामलाल कपूर परिवार के स्तम्भ-स्वरूप श्रद्धेय स्व० श्री रूपलाल जी कपूर, स्व० श्री हंसराजजी कपूर, स्व० श्री ज्ञानचन्दजी कपूर, और श्री प्यारेलाल जी कपूर का भी मैं अत्यन्त आभारी हूं। ईश्वर की महती कृपा से ही इस धर्मप्रेमी विद्यारसिक परिवार का मेरे प्रति बाल्य काल से आज तक वात्सल्य प्रेम बना हुआ है। इस परिवार के दिवङ्गत महानुभावों और विद्यमान सभी सदस्यों के प्रति श्रद्धापूर्वक स्मरण कृतज्ञता और आभार प्रगट करता हूं।

करनाल निवासी वेद-प्रेमी रा० सा० श्री चौधरी प्रताप सिंह का भी मैं बहुत आभारी हूं, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये लगभग ६ हजार रुपयों का कागज लम्बी अवधि के ऋण के रूप में देकर कार्य आरम्भ करने में अमूल्य सहायता प्रदान की। आप कई वर्षों से मुझे १०० रु० मासिक निष्काम सहायता भी दे रहे हैं। तदर्थ मैं आपका कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद करता हूं।

मेरे मित्र श्री पं० महेन्द्र शास्त्री जी ने इस ग्रन्थ के मुद्रणपत्र-संशोधन के साथ-साथ लेखन में प्रमादवश हुई भूलों की ओर ध्यान आकृष्ट करके विशेष सहायता की है। आपके हार्दिक सहयोग के बिना ग्रन्थ का वर्तमानरूप में शुद्ध प्रकाशन सम्भव नहीं था। इसके लिये मैं श्रीमान् शास्त्री जी का अत्यन्त अनुगृहीत हूं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमारे विद्यालय के पुरातन छात्र श्री सोमदेव जी शास्त्री एम०ए०, और उनके माननीय पिताजी ने दो सहस्र रुपये की, तथा अन्य जिन महानुभावों ने छोटी-मोटी राशि देकर सहयोग प्रदान किया है, उन सब का मैं धन्यवाद करता हूं। और आशा करता हूं कि आगे भी इसी प्रकार वैदिकधर्मप्रेमी आर्यजन मेरे सारस्वत-सत्र में सहयोग प्रदान करते रहेंगे॥

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा)

विदुषां वशंवदः —
युधिष्ठिर मीमांसक

उपोद्घातरूप निबन्ध–त्रयी

१. शास्त्रावतार-मीमांसा, २. वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा-मीमांसा, ३. श्रौतयज्ञ-मीमांसा

निबन्ध-त्रयी की संक्षिप्त विषय-सूची

१. शास्त्रावतार-मीमांसा

२. वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा-मीमांसा

३. श्रौत-यज्ञ-मीमांसा

शास्त्रावतार-मीमांसा

निरुक्तकार यास्क मुनि ने निरुक्तशास्त्र के प्रादुर्भाव का वर्णन इस प्रकार किया है—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च॥ निरुक्त १।२०॥

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में जिन ऋषियों के द्वारा वेद का प्रादुर्भाव हुआ, वे ऋषि वेद के साक्षात्कृतधर्मा (=वेदार्थ को यथावत् जाननेवाले) थे। उन्होंने अपने से ज्ञान में अवर (=अल्प =हीन) असाक्षात्कृतधर्माओं (=वेदार्थ को न जाननेवालों) को उपदेश (=इस मन्त्र का यह अर्थ है) के द्वारा मन्त्रों को दिया, अर्थात् मन्त्रों के अर्थों का बोध कराया। जिनकी बुद्धि मन्द थी, और मन्त्र से मन्त्रार्थ के बोध में असमर्थ थे, उनके लिये ऋषियों ने वेदाङ्गों का प्रवचन किया। अतः अवर=अल्पबुद्धिवाले उपदेश से ग्लानि करनेवाले=उपदेश से मन्त्रार्थबोध में असमर्थ लोगों ने मन्त्रार्थ-ज्ञान के लिये निरुक्तादि वेदाङ्गों का अभ्यास[1] किया।

इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में ही कुछ काल के अनन्तर ऋषियों ने अल्प सामर्थ्यवाले मानवों के कल्याण के लिये वेदाङ्गों का उपदेश किया।

वेदाङ्गों के उपदेश

आद्य उपदेष्टा=ब्रह्मा—भारतीय इतिहास के अनुसार सभी शास्त्रों के आद्य उपदेष्टा भगवान् ब्रह्मा थे। इनका उपदेश ही **शास्त्र=शासन** कहाया। उपदेश के अति विस्तृत होने से इनका एक नाम **तन्त्र** भी हुआ। इनके पश्चात् देश काल और स्थिति के भेद से उत्तरवर्ती ऋषियों ने शास्त्रों का जो उपदेश किया, उसका मूल आधार ब्रह्मा का उपदेश था। अतः इनका उपदेश **अनुशासन अनुतन्त्र** अथवा **स्मृति** कहाता है। शास्त्रत्व धर्म के सामान्य से यद्यपि इनके लिये भी

---

१. 'समाम्नासिषुः' का अर्थ दुर्ग और स्कन्द स्वामी ने अशुद्ध लिखा है। सम् पूर्वक म्ना अभ्यासे का यह रूप है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसका अर्थ अन्तर्णीत ण्यर्थ मानकर 'सम्यग् अभ्यासं कारितवन्तः' किया है। द्र०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रश्नोत्तरविषय तथा ऋग्वेदभाष्य १।१।२, रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस मुद्रित, भाग १, पृष्ठ ४७७। अजमेरमुद्रित ऋग्भाष्य में हस्तलेख से विरुद्ध अर्थ छपा है (द्र०—पृष्ठ४४७,टि० २)। नीलकण्ठ गार्ग्य द्वारा विरचित निरुक्तश्लोकवार्तिक (अमुद्रित) में शुद्धधातु का रूप मानकर 'सम्यगभ्यस्तवन्तस्ते' अर्थ किया है।

शास्त्र वा तन्त्र शब्द का प्रयोग होता है, तथापि इन्हें **अनुशास्त्र** वा **अनुतन्त्र** ही जानना चाहिये। ब्रह्मा से उत्तरवर्ती उपदेश **प्रवचन** कहाता है। प्रवचन उपदेश की एक विशेष विधा है। इसमें प्रवक्ता अपने से पूर्व विद्यमान ग्रन्थ में देशकाल की परिस्थिति को ध्यान में रखकर कुछ न्यून और कुछ नये अंश का समावेश करके उसे नया रूप देता है। इस प्रवचन को **संस्कार** भी कहते हैं। प्रवक्ता अथवा संस्कर्ता पूर्व ग्रन्थ का किस प्रकार प्रवचन अथवा संस्कार करता है, इसका वर्णन आयुर्वेदीय चरक संहिता में इस प्रकार मिलता है—

> **विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।**
> **संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥** सिद्धिस्थान १२।६५, ६६॥

इसी प्रवचन अथवा संस्कार के कारण प्रत्येक नये प्रवचन में जहां नवीन अंश का समावेश होता है, वहां प्राचीन अंश भी सुरक्षित रहता है। प्रत्येक प्रोक्त शास्त्र का गहराई से अनुशीलन करने पर दोनों अंशों को पृथक्-पृथक् रूप से जाना जा सकता है।

यह शास्त्रोपदेश की प्रवचन अथवा संस्कार-विधा भारतीय ऋषियों की विशेष देन है। इस विधा का प्रयोग नीरजस्तम, लोकैषणा से दूर रहनेवाले, अभिमानरहित, शिष्यों के हित की कामना करनेवाले ऋषि-मुनि ही कर सकते थे। इस कारण इन गुणों के आकरभूत ऋषि-मुनियों के उच्छेद के साथ ही इस प्राचीन शास्त्र-प्रवचन-विधा का भी अन्त हो गया। उत्तरकाल में अपवादरूप आयुर्वेदीय चरकसंहिता के प्रतिसंस्कर्ता **दृढबल**, और पातञ्जल महाभाष्य के प्रति-संस्कर्ता **चन्द्राचार्य** आदि दो-चार ऐसे व्यक्ति अवश्य हुये हैं, जिन्होंने लोककल्याण की कामना से प्रेरित होकर नष्ट हुये प्राचीन ग्रन्थों का पुन: संस्कार करके उन्हें लोकोपयोगी बनाया। अस्तु,

मीमांसाशास्त्र के प्रवक्ता और व्याख्याता ऋषि-मुनि और आचार्यों की परम्परा का संक्षिप्त उल्लेख आगे करेंगे। पहले **मीमांसा** नाम और वर्तमान मीमांसाशास्त्र का अति संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं।

'मीमांसा' शब्द का अर्थ

सम्प्रति मीमांसाशास्त्र एक होते हुये भी विषय-विभाग की दृष्टि से **पूर्वमीमांसा** और **उत्तरमीमांसा** दो विभागों में विभक्त माना जाता है। वैयाकरणों के मतानुसार मीमांसा शब्द **मानबधदानशान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य** (अष्टा० ३।१।६) नियम से मान धातु से **जिज्ञासा** अर्थ में सन् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। यद्यपि पाणिनि ने साक्षात् 'जिज्ञासा' अर्थ का निर्देश नहीं किया, फिर भी सभी वैयाकरण चाहे पाणिनीय मतानुयायी हों चाहे पाणिनीयेतर, 'जिज्ञासा' रूप विशेष अर्थ में ही मीमांसा पद की निष्पत्ति अथवा प्रवृत्ति मानते हैं। इस प्रकार मीमांसा-शब्द का अर्थ होता है—जिज्ञासा=जानने की इच्छा। यद्यपि जैमिनि ने **अथातो धर्मजिज्ञासा** और बादरायण (=कृष्ण द्वैपायन व्यास) ने **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** सूत्रों में 'जिज्ञासा' शब्द का ही प्रयोग किया है, फिर भी 'जिज्ञासा' और 'मीमांसा' के पर्याय होने से पूर्वोत्तर मीमांसाओं के लिये **धर्ममीमांसा=कर्ममीमांसा** तथा **ब्रह्ममीमांसा** शब्द का प्रयोग होता है।

जिज्ञासा अथवा मीमांसा का अर्थ 'जानने की इच्छा' मात्र होने पर भी इच्छा की कार्यरूप में परिणति 'विचार' में होती है। किसी भी विषय में जिज्ञासा होने पर मनुष्य उस विषय को तत्त्वतः जानने के लिये जो प्रयत्न करता है, वह होता है—**तद्विषयक साङ्गोपाङ्ग-विचार**। इसलिये मीमांसाशास्त्र **विचार-शास्त्र** भी कहाता है। किसी एक विषय का साङ्गोपाङ्ग विचार अन्य तत्सदृश विषयों के विचार में सहायक होता है, इसलिये इन्हें **न्याय** भी कहते हैं। मीमांसा-शास्त्र में लगभग १००० न्याय होने से इसे **न्यायविस्तर** भी कहा जाता है।

मीमांसाशास्त्र का संक्षिप्त परिचय

भारतीय दर्शनशास्त्रों के वाङ्मय में मीमांसादर्शन का विषय आकार और वाङ्मय सभी दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। मीमांसादर्शन के विषयभेद से दो भाग हैं—**पूर्व मीमांसा** और **उत्तर मीमांसा**। पूर्व मीमांसा में १६ अध्याय हैं, और उत्तर मीमांसा में ४ अध्याय। मीमांसा-शास्त्र के १३–१६ तक ४ अध्याय **सङ्कर्ष-काण्ड** अथवा **संकर्षण-काण्ड** के नाम से व्यवहृत होते हैं। इन (१३–१६) ४ अध्यायों के पठन-पाठन की शिथिलता के कारण यह भाग उत्सन्नप्राय हो चुका है। इसकी उत्सन्नता का मुख्य कारण सम्भवतः शवरस्वामी का इन अध्यायों पर भाष्य न लिखना है। इसी कारण उनके अनुयायियों ने भी इस भाग की उपेक्षा की। लगभग ढाई हजार वर्ष के सुदीर्घ काल में केवल २-३ ही ग्रन्थकार ऐसे हुये, जिनका ध्यान इन अध्यायों की ओर गया, और उन्होंने इस भाग पर संक्षिप्त व्याख्यान लिखे।

पूर्वोत्तर-मीमांसा एकशास्त्र

प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार पूर्व-उत्तर दोनों भाग विषय-विभाग और प्रवक्तृ-भेद से पृथक् होते हुये भी मीमांसात्व सामान्य की दृष्टि से एकशास्त्र माने जाते हैं। यथा—

१—अज्ञातनामा 'प्रपञ्चहृदय' ग्रन्थ का लेखक (सम्भवतः ८वीं शती वि०) ने उपाङ्ग प्रकरण में लिखा है—

'तदिदं विंशत्यध्यायनिबद्धम् [मीमांसाशास्त्रम्]। तत्र षोडशाध्यायनिबद्धं पूर्वमीमांसा-शास्त्रं पूर्वकाण्डस्य धर्मविचारपरायणं जैमिनिकृतम्। तदन्यदध्यायचतुष्कम् उत्तरमीमांसाशास्त्रम्, उत्तरकाण्डस्य ब्रह्मविचारपरायणं व्यासकृतम्' ॥ पृष्ठ ३८, ३९।

अर्थात्—मीमांसाशास्त्र बीस अध्यायात्मक है। उसके १६ अध्यायों में निबद्ध पूर्वमीमांसा-शास्त्र पूर्वकाण्ड धर्मविचारपरक जैमिनिकृत है। उससे भिन्न ४ अध्याय का उत्तरमीमांसाशास्त्र उत्तरकाण्ड ब्रह्मविचारपरक व्यासकृत है।

२—आचार्य रामानुज ने वेदान्तदर्शन के श्रीभाष्य के आरम्भ (१।१।१) में वृत्तिकार का निर्देश करते हुये लिखा है—

'वक्ष्यति च कर्मब्रह्ममीमांसयोरेकशास्त्रत्वम्। संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः'।

अर्थात्—वृत्तिकार [बोधायन] कहेंगे—यह शारीरकशास्त्र जैमिनीय षोडशाध्यायात्मक कर्ममीमांसा के साथ एकशास्त्र है।

३—सेश्वर-मीमांसा का रचयिता श्री वेङ्कटनाथ अपरनाम वेदान्ताचार्य लिखता है—

'अथातो धर्मजिज्ञासा' (पू० मी० १।१।१) इत्यारभ्य 'अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात्' (उ० मी० ४।४।२१) इत्येवमन्तं विंशतिलक्षणमेकं शास्त्रम्। सेश्वरमीमांसा १।१।१, पृष्ठ १॥

अर्थात्—**'अथातो धर्मजिज्ञासा'** (पू० मी० १।१।१) से आरम्भ करके **'अनावृत्तिशब्दाद् अनावृत्तिशब्दात्'** (उ० मी० ४।४।२१) सूत्रपर्यन्त २० अध्यायात्मक **'मीमांसा'** नाम का एक-शास्त्र है।

४—दोनों पूर्व-उत्तर मीमांसा के एकशास्त्र होने के कारण प्राचीन व्याख्याकार बोधायन और उपवर्ष नामा आचार्यों ने समस्त २० अध्यायों पर अपनी व्याख्याएं लिखी थीं। प्रपञ्च-हृदयकार लिखता है—

'तस्य विंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटिनामधेयं भाष्यं बोधायनेन कृतम्। तद् ग्रन्थबाहुल्यभयादुपेक्ष्य किञ्चित् संक्षिप्तम् उपवर्षेण कृतम्'। प्रपञ्च-हृदय, पृष्ठ ३९॥

अर्थात्—उस बीस अध्यायों में निबद्ध मीमांसाशास्त्र का **'कृतकोटि'** नाम का विपुल भाष्य बोधायन ने किया था। उसकी विपुलता के भय से उपवर्ष ने कुछ संक्षिप्त भाष्य रचा।

पूर्वोत्तर-मीमांसा के एकशास्त्रत्व में अन्य हेतु

पूर्व और उत्तर मीमांसा के एकतन्त्रत्व (=एकशास्त्रत्व) में दो प्रधान हेतु और भी हैं। उनमें एक है—वेद और उससे सम्बद्ध शाखा ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद्‌रूपी ऐकात्म्यरूप से सम्बद्ध समस्त वैदिक वाङ्मय में प्रधानरूप से उद्दिष्ट यज्ञादि कर्म और ब्रह्म (=ईश्वर तथा ब्रह्माण्ड) की द्विभागात्मक मीमांसाशास्त्र में मीमांसा करना। और दूसरा कारण है—यज्ञरूप कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होना। इस द्वितीय कर्म और ज्ञान के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध को दर्शानेवाली यजुर्वेद (४०।१४) की एक अत्यन्त प्रसिद्ध श्रुति है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

अर्थात्—विद्या=ज्ञान और अविद्या=कर्म दोनों को जो साथ-साथ जानता है (=ज्ञान-पूर्वक कर्म करता है, तथा कर्म करता हुआ ज्ञानार्जन में संलग्न रहता है) वह कर्म से मृत्यु को पार करके ज्ञान से अमृत (=मोक्ष) को प्राप्त करता है।

इसी याजुष श्रुति के भाव को बृहदारण्यक उपनिषद् (४।४।२) में इस प्रकार प्रकट किया है—**विद्याकर्मणी समन्वारभेते**। अर्थात् शरीर से आत्मा के उत्क्रमण करते हुये विद्या और कर्म उसका अनुगमन करते हैं। उनसे उत्तर जन्म की प्राप्ति होती है। और अन्त में इन्हीं के साहाय्य से आत्मा मृत्यु का अतिक्रमण करके मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिये महायाज्ञिक एवं ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य ने कर्मकाण्ड और आत्म-ज्ञान का सम्बन्ध इस प्रकार दर्शाया है—

"तदाहुः—आत्मयाजी श्रेया३न् देवयाजी३ इत्यात्मयाजीति ह ब्रूयात् । स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते, इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयत इति । स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवमस्मात् मर्त्याच्छरीरात् पाप्मनो निर्मुच्यते । स ऋङ्मयो यजुर्मयः साममय आहुतिमयः स्वर्गं लोकमभिसम्भवति । अथ ह स देवयाजी यो वेद देवानेवाहमिदं यजे देवान्त्समर्पयामीति । स यथा श्रेयसे पापीयान् बलिं हरेद् वैश्यो वा राज्ञे बलिं हरेदेवं स न तावन्तं लोकं जयति यावन्तमितरः" ॥ शत० ११।२।६।१३-१४॥

अर्थात्—कुछ व्यक्ति पूछते हैं कि—आत्मयाजी श्रेष्ठ है, अथवा देवयाजी। उन्हें 'आत्मयाजी श्रेष्ठ है' ऐसा वह (आत्मज्ञानी) उत्तर देवे । आत्मयाजी वह है, जो यह जानता है कि इस यज्ञ-कर्म से मेरा अमुक अङ्ग संस्कृत होता है, इससे मेरा अमुक अङ्ग वृद्धि को प्राप्त होता है । ऐसा जाननेवाला व्यक्ति जैसे सांप केंचुली से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार इस पापरूप (=दुःखरूप) मरणधर्मा शरीर से मुक्त होकर ऋङ्मय यजुर्मय साममय आहुतिमय स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। और वह देवयाजी है, जो यह जानता है कि मैं इस यज्ञकर्म से देवों का यजन करता हूं, देवों को हवि समर्पित करता हूं। वह उस प्रकार कर्म करता है, जैसे कोई निर्बल वलवान् के लिये उपहार देवे, अथवा वैश्य (धन की रक्षा चाहता हुआ) राजा के लिये उपहार देवे । वह उतने परिमाणवाले लोक को नहीं जीतता है (=प्राप्त होता है), जितने परिमाणवाले लोक को इतर आत्मयाजी प्राप्त होता है ।

शतपथकार के काल में कर्मकाण्ड और आत्मज्ञान के मार्ग अलग-अलग प्रतिष्ठित हो गये थे । उपनिषदों में ऐसे कतिपय वचन मिलते हैं, जिनमें कर्मकाण्ड की निन्दा परिलक्षित होती है ।[1] इतना ही नहीं, निरुक्त १।१५ से विदित होता है कि उस काल में कौत्स सदृश ऐसे महायाज्ञिक उत्पन्न हो चुके थे, जिन्होंने मन्त्रों के यज्ञ में उच्चारणमात्र से अदृष्ट की उत्पत्ति मानकर मन्त्रों को अनर्थक कहना आरम्भ कर दिया था[2] । ये दोनों ही मत वेदविरुद्ध हैं ।

यद्यपि कौत्स के मन्त्रानर्थक्यवाद का भगवान् यास्क और जैमिनि ने अपने ग्रन्थों में प्रवल खण्डन किया है[3], परन्तु प्रथम पक्ष का खण्डन,अथवा कर्मकाण्ड और अध्यात्मवाद का समन्वय करने की दिशा में याज्ञवल्क्य का प्रयत्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । महर्षि याज्ञवल्क्य ने उपर्युक्त वचन में कर्मकाण्ड और अध्यात्मवाद का सुन्दर समन्वय करके 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (यजुः ४०।१४) रूप वैदिक पक्ष को पुनः स्थापित किया ।

इतना ही नहीं, याज्ञवल्क्य ने तात्कालिक विचारधारा का उन्मूलन करने के लिये उस समय की प्रवचन-पद्धति, जिसमें ब्राह्मण और आरण्यकों का पृथक् प्रवचन किया जाता था, उन्मूलन करने के लिये शतपथ-ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड के अन्तर्गत ही बृहदारण्यक का प्रवचन किया ।

---

१. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ मुण्डकोप० १।२।७॥

२. यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनाय (निरुक्तम्) अनर्थकं भवतीति कौत्सः । अनर्थका हि मन्त्राः । निरुक्त १।१५॥ ३. निरुक्त १।१६॥ मी० १।२।३१–५३॥

उत्तरमीमांसा का पूर्वमीमांसा के साथ सम्बन्ध

उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसा का एकशास्त्रत्व और पूर्वोत्तरभागत्व उत्तरमीमांसा के निम्न सूत्रों से भी स्पष्ट परिलक्षित होता है—

१—**प्रदानवदेव तदुक्तम्** । उ० मी० ३।३।४३॥

२—**श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः** । उ० मी० ३।३।३६॥

३—**लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि च** । उ० मी० ३।३।४४॥

४—**स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः** । उ० मी० ३।४।४४॥

५—**आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते** । उ० मी० ३।४।४५॥

६—**द्वादशाहवदुभयं बादरायणोऽतः** । उ० मी० ४।४।१२॥

उत्तर मीमांसा के इन सूत्रों में कर्मकाण्ड-गत और पूर्वमीमांसा-गत अनेक न्यायों का उल्लेख किया है। दूसरे सूत्र में **श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्**, और तीसरे सूत्र में **लिङ्गभूयस्त्वात्** निर्देश द्वारा पूर्वमीमांसा ३।३।४४ के **श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थ-विप्रकर्षात्** पूरे सूत्र की ओर संकेत किया है।

इसके अतिरिक्त दोनों तन्त्रों में जिन १२ आचार्यों को स्मरण किया है, उनमें से ६ आचार्य-नाम दोनों तन्त्रों में समान हैं (यह आगे उभयतन्त्रगत आचार्यों के नाम-निर्देश से स्पष्ट हो जायेगा)। इन आचार्यों का दोनों तन्त्रों में समानरूप से स्मरण इस बात का ज्ञापक है कि इन आचार्यों ने दोनों तन्त्रों को एक मीमांसा-शास्त्र मानकर इनके विषय में समानरूप से विचार किया था।

इसके साथ ही यह तथ्य भी ध्यान में रखने योग्य है कि पूर्वमीमांसागत न्यायों को उत्तर-मीमांसा में विचार के लिये जिस प्रकार आधार बनाया है, उस प्रकार उत्तरमीमांसा के न्यायों का निर्देश पूर्वमीमांसा में नहीं मिलता। इससे इनका पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा नामकरण भी सार्थक प्रतीत होता है।

बीस अध्यायात्मक मीमांसा के तीन काण्ड

यद्यपि वर्तमान २० अध्यायात्मक मीमांसाशास्त्र के पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दो ही प्रमुख भेद हैं। परन्तु इससे प्राचीन मीमांसाशास्त्रों में तीन काण्ड थे। कर्मकाण्ड दैवतकाण्ड और अध्यात्मकाण्ड। यास्कमुनि के **याज्ञदैवते पुष्पफले देवताऽध्यात्मे वा** (निरुक्त १।२०), तथा याज्ञवल्क्य मुनि के शतपथ में बहुत्र **इत्यधियज्ञम्, अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्** रूप व्याख्यान से विदित होता है कि यज्ञ दैवत और अध्यात्म का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। (इस सम्बन्ध का हमने **श्रौतयज्ञ-मीमांसा** में विस्तार से प्रतिपादन किया है।) इसके आधार पर यह सम्भावना

प्रतीत होती है कि प्राचीन मीमांसाशास्त्र में इन तीनों काण्डों पर विचार किया गया था। इसकी पुष्टि वर्तमान पूर्वमीमांसा के अध्याय १३-१६ तक भाग का दैवतकाण्ड नाम से यत्र-तत्र उल्लेख होने से भी होती है।

वर्तमान पूर्वमीमांसा का दैवत काण्ड—जैमिनीय मीमांसा के १३–१४–१५–१६ चार अध्याय देवताकाण्ड शब्द से व्यवहृत होते हैं[1]। प्रपञ्च-हृदयकार और शाङ्कर-भाष्य के कुछ टीकाकारों ने इन अध्यायों का देवताकाण्ड नाम से उल्लेख किया है। परन्तु इन अध्यायों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय पूर्व १२ अध्यायों में विचारित विषयों के ही अवशिष्ट विचार हैं। विषय की दृष्टि से इन चार अध्यायों को १२ अध्यायात्मक पूर्वमीमांसा का परिशिष्ट कहना अधिक उपयुक्त है। इन अध्यायों का विशिष्ट उल्लेख संकर्ष अथवा संकर्षण-काण्ड के नाम से होता है। शबर-स्वामी से प्राचीन षोडशाध्यायी के व्याख्याकार देवस्वामी ने संकर्ष-काण्ड के आरम्भ में 'संकर्ष' शब्द के विषय में लिखा है–

> सिद्धैरेतैः प्रसङ्गान्तैः श्रुतियोगं प्रदर्शयन्।
> लक्षणानि श्रुतीश्चैव[2] संकृष्याय जगे मुनिः॥

अर्थात्—इन [पूर्व भाग से] सिद्ध प्रसङ्गान्तों (=सिद्धान्तों) के साथ श्रुति का योग दर्शाते हुये लक्षण और श्रुतियों को [पृथक्] संकृष्य (=खींचकर वा निकालकर) जैमिनि ने इस काण्ड का प्रवचन किया है।

इस प्रकार देवस्वामी ने 'संकृष्य' पद द्वारा संकर्ष वा संकर्षण का सम्बन्ध दर्शाया है। संगृह्य पाठ भी है, इसका अर्थ होगा संग्रह करके। इन अध्यायों में देवता-विचार तो नाममात्र ही है[3]। उसके आधार पर 'देवताकाण्ड' नामकरण सम्भव नहीं है। अतः हमारा विचार है कि इस नाम के पीछे प्राचीन मीमांसाशास्त्र के प्रवचन की परिपाटी कारण है। प्राचीन वैदिक विचार-धारा के अनुसार मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञकर्म, आधिवैदिक जगत् और अध्यात्म तीनों के साथ है। अतः प्राचीन मीमांसाशास्त्रों में तीनों काण्डों की मीमांसा विद्यमान थी। उनमें मध्यम देवता-काण्ड था। उसी के अनुकरण पर जैमिनीय मीमांसा के अन्तिम चार अध्यायों में देवता-विचार का प्रायः अभाव होने पर भी पूर्ववत् व्यवहार होता रहा।

मीमांसा-शास्त्र का प्रयोजन

वेद में जिस कर्म और ज्ञान का उपदेश किया गया है, उसको हृदयङ्गम कराने के लिये उत्तरकाल में ऋषि-मुनियों ने वेद की शाखाओं ब्राह्मणों आरण्यकों एवं उपनिषद् ग्रन्थों का प्रवचन किया। यह प्रवचन भारतीय वाङ्मय तथा अन्य देशस्थ वाङ्मय में असकृत् उल्लिखित मनु के जल प्लावन से लेकर द्वापरान्त में कृष्ण द्वैपायन व्यास के शिष्य-प्रशिष्यों तक चलता रहा। वायुपुराण (के अध्याय २३, श्लोक ११५-२२८) के अनुसार केवल द्वापर में ही अट्ठाईस

---

१. द्र०—सव्याख्य संकर्षकाण्ड, प्रस्तावना, पृष्ठ ३-५ (मद्रास वि० वि० संस्करण)।

२. द्रष्टव्य—वही प्रस्तावना, पृष्ठ ३। ३. द्रष्टव्य—वही प्रस्तावना, पृष्ठ ४।

व्यासों ने २८ वार वेद-शाखाओं का प्रवचन किया था। महाभाष्य (नवाह्निक) आदि में स्मृत ११३१ शाखाएं कृष्णद्वैपायन के शिष्य-प्रशिष्यों, एवं याज्ञवल्क्य के शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त हैं। प्राचीन शाखाओं में से तो कतिपय वेद-शाखाओं के नाममात्र प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में सुरक्षित रह गये हैं। हां, प्राचीन ऐतरेय शाखा का ब्राह्मण और आरण्यक अवश्य मिलता है, परन्तु इसका वर्तमान स्वरूप भी शौनक द्वारा प्रतिसंस्कृत है।[1]

इस प्रकार इस सुदीर्घकाल में कर्मकाण्ड और अध्यात्मकाण्ड में अनेक वाद उत्पन्न हो गये। अनेक विषयों में तो परस्पर-विरुद्ध व्यवहार भी चल पड़ा था। इसलिये मीमांसकों ने शाखा ब्राह्मण वा उपनिषद्गत वचनों के तात्पर्य के स्पष्टीकरण और विरोध-परिहार के लिये मीमांसा-शास्त्र का समय-समय पर प्रवचन किया। कृष्णद्वैपायन के शिष्य-प्रशिष्यों के प्रवचनकाल में यह विरोध अत्यधिक बढ़ गया था। साथ ही मन्त्रानर्थक्यवाद जैसे वेद पर कुठाराघात करनेवाले अनेक वाद प्रचलित हो गये थे। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का विरोध एवं एक-दूसरे की निन्दा भी चरम-कोटि पर पहुंच गई थी। ऐसे भयङ्कर काल में वैदिक कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड के मूल तत्त्वों की सुरक्षा, वेदविरुद्ध मतों वा वादों का निराकरण, और कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के स्वगत विरोधों तथा पारस्परिक विरोधों को दूर करने के लिये अपने समय के महान् वेदज्ञ गुरु-शिष्यों (कृष्ण द्वैपायन व्यास और जैमिनि) ने मिलकर खण्डशः दो भागों में मीमांसाशास्त्र का प्रवचन किया।

इन दोनों सर्वज्ञकल्प महामानवों के इस प्रयत्न से भी पारस्परिक विरोध शान्त नहीं हुआ। याज्ञिक तथा ब्रह्मविचारमन्य मीमांसाशास्त्रगत सिद्धान्तों का अपलाप करके अपने साम्प्रदायिक आग्रह से मुक्त नहीं हुये। आज तक याज्ञिक लोग पूर्वमीमांसा के न्याय्य पन्थ को छोड़कर अविचारित मार्ग का ही अवलम्बन करते चले आ रहे हैं, और अनेक अवैदिक विचार-धाराओं से ग्रस्त हैं। अध्यात्म-चिन्तन के उत्तरमीमांसा के न्याय्य मार्ग का परित्याग करके विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार उत्तरमीमांसा की जो परस्पर-विरुद्ध व्याख्यायें कीं, उनमें कृष्ण द्वैपायन का मूल सिद्धान्त ऐसा तिरोहित हो गया कि उसका जानना भी असम्भव नहीं, तो दुष्कर अवश्य हो गया।

इस प्रकार मीमांसाशास्त्र के प्रवचन में भगवान् जैमिनि, और ब्रह्मिष्ठ कृष्ण द्वैपायन का जो लक्ष्य था, वह पूर्ण नहीं हुआ। ये ग्रन्थ केवल विवादग्रस्त ग्रन्थ बनकर रह गये। अस्तु,

अब हम मीमांसाशास्त्र के लोक में अवतरित होने, और उसके वर्तमान पूर्वोत्तर मीमांसा के प्रवचन तक की जो परम्परा प्राचीन ग्रन्थों से परिज्ञात होती है, उसका संक्षेप से उल्लेख करेंगे।

मीमांसा-शास्त्र की परम्परा

शास्त्रावतार के विषय में निरुक्तकार यास्क का वचन हम पूर्व उद्धृत कर चुके हैं। भारतीय वाङ्मय में सभी शास्त्रों को वेदमूलक माना है, और सभी प्रमुख शास्त्रों के प्रथम शासक—

१. द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २५१-२५२, संवत् २०३०।

उपदेशकरूप से आदिदेव ब्रह्मा को स्मरण किया है। मनु के जल-प्लावन के पश्चात् ब्रह्मा के आद्युपदेश से लेकर जैमिनिपर्यन्त काल न्यूनातिन्यून १२–१३ सहस्रों वर्षों का है। यह इससे अधिक हो सकता है, परन्तु इससे न्यून की सम्भावना भी नहीं है। क्योंकि आदिकाल से कलि के प्रारम्भ तक लगभग १२ सहस्र वर्षों का इतिहास भारतीय वाङ्मय में लगभग पूर्णतया संगृहीत है। इस सुदीर्घकाल में ब्रह्मा के पश्चात् जैमिनिपर्यन्त किन-किन महर्षियों ने मीमांसाशास्त्र का प्रवचन किया, यह अज्ञात है।

पार्थसारथिमिश्र-निर्दिष्ट मीमांसा की परम्परा—भट्टकुमारिल कृत श्लोकवार्तिक की टीका में पार्थसारथिमिश्र ने मीमांसाशास्त्र की परम्परा इस प्रकार लिखी है—

ब्रह्मा प्रजापतये मीमांसां प्रोवाच, सोऽपीन्द्राय, सोऽप्यादित्याय, स च वसिष्ठाय, सोऽपि पराशराय, पराशरः कृष्णद्वैपायनाय, सोऽपि जैमिनये। श्लोकवार्तिकटीका, पृष्ठ ८।

सुचरितमिश्र द्वारा उक्त मीमांसा की परम्परा—पार्थसारथिमिश्र से प्राचीन श्लोकवार्तिक के टीकाकार सुचरितमिश्र ने **इहैव कैश्चिदुक्तः** लिखकर मीमांसा की परम्परा इस प्रकार दी है—

ब्रह्मा महेश्वरो वा मीमांसां प्रजापतये प्रोवाच, प्रजापतिरिन्द्राय, इन्द्र आदित्यायेत्येवमादि। श्लोकवार्तिक, काशिका टीका, भाग १, पृष्ठ ९।

इस परम्परा में **महेश्वर** नाम अधिक है। महेश्वर भी वेदाङ्गों का प्रवक्ता है। महाभारत शान्तिपर्व २८४।९२ में लिखा है—**वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य**। पाणिनीय व्याकरण माहेश्वर सम्प्रदाय का है (द्र०—हमारा संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ७३–७७, संवत् २०३० संस्करण)।

पार्थसारथिमिश्र तथा सुचरितमिश्र द्वारा निर्दिष्ट उक्त परम्परा का हमें कहीं से समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु सुचरितमिश्र के **इहैव कैश्चिदुक्तः** वचन से विदित होता है कि दोनों ग्रन्थकारों ने उक्त परम्परा श्लोकवार्तिक की किन्हीं प्राचीन व्याख्याकारों की व्याख्या से उद्धृत की है। उक्त परम्परा को एक गुरु-परम्परा स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु इसमें १२–१३ सहस्र वर्ष में इतने ही प्रवक्ताओं को स्वीकार करने में काल की सुदीर्घता स्पष्ट बाधक है। यदि इन्हें प्रमुख शास्त्र-प्रवक्ता मान लें, तो कुछ सीमा तक आपत्ति दूर हो सकती है।

पूर्व-उत्तरमीमांसा में स्मृत आचार्य

संकर्षकाण्ड सहित षोडशलक्षणी पूर्वमीमांसा और चतुरध्यायी उत्तरमीमांसा में निम्न आचार्यों के नामोल्लेखपूर्वक मत उद्धृत हैं—

द्वादशाध्यायात्मक पूर्वमीमांसा (संकर्ष काण्ड-रहित) में निम्न आचार्यों के मत स्मृत हैं[1]—

---

१. द्वादशाध्यायी पूर्वमीमांसाशास्त्र की जो आगे अध्याय, पाद, और सूत्रों की संख्या दी है, वह चौखम्बा संस्कृत सीरिज काशी के छपे शाबर भाष्य के अनुसान है। इसमें भी पाठभ्रंश

आत्रेय ४।३।१८॥ ६।१।२६॥

आश्मरथ्य ६।५।१६॥

ऐतिशायन ३।२।४३॥ ३।४।२४॥ ६।१।६॥

कामुकायन ११।१।५६, ६१॥

कार्ष्णाजिनि ४।३।१७॥ ६।७।३५॥

जैमिनि ३।१।४॥ ६।३।४॥ ८।३।७॥ ९।२।३९॥ १२।१।७॥

बादरायण १।१।५॥ ५।२।१९॥ ६।१।८॥ १०।८।४४॥ ११।१।६३॥

बादरि ३।१।३॥ ६।१।२७॥ ८।३।६॥ ९।२।३३॥

लाबुकायन ६।७।३७॥

संकर्षकाण्डरूप पूर्वमीमांसा (अ० १३–१६) में निम्न आचार्य स्मृत हैं[1]—

आलेखन २।२।४१॥ ४।२।१॥

आश्मरथ्य २।२।४२॥ ४।२।२॥

औडुलोमि ३।१।३॥

कार्ष्णाजिनि १।१।११॥

बादरायण ३।२।३८॥

उत्तरमीमांसा (वेदान्त अ० १७–२०) में निम्न आचार्य कहते हैं[2]—

आत्रेय ३।४।४४॥

आश्मरथ्य १।२।२९॥ १।४।२०॥

औडुलोमि १।४।२१॥ ३।४।४५॥ ४।४।६॥

काशकृत्स्न १।४।२२॥

कार्ष्णाजिनि ३।१।९॥

जैमिनि १।२।२८, ३१॥ १।३।३१॥ १।४।१८॥ ३।२।४०॥ ३।४।२, १८, ४०॥ ४।३।१२॥ ४।४।५, ११॥

बादरायण १।३।२६, ३३॥ ३।२।४१॥ ३।४।१, ८, १९॥ ४।४।७, १२॥

बादरि १।२।३०॥ ३।१।११॥ ३।४।७॥ ४।४।१०॥

विंशति अध्यायात्मक मीमांसाशास्त्र में समूहावलम्ब से निम्न १२ आचार्य स्मृत हैं—

के कारण दो-तीन स्थानों में सूत्र संख्या का शोधन करके दी है। अतः दो-तीन स्थानों में इस संस्करण में भी सूत्रसंख्या में १–२ संख्या का न्यूनाधिक्य जानना चाहिये। अन्य वृत्तिग्रन्थों में सूत्रपाठ के भेद के कारण सूत्रसंख्या में कहीं-कहीं ८–१० संख्या तक भेद हो सकता है।

१. संकर्ष-काण्ड जो देवस्वामीभाष्य के साथ मद्रास से छपा है, उसमें चारों अध्यायों की स्वतन्त्र अध्याय संख्या का निर्देश होने से यहां अध्याय संख्या १–४ दी है।

२. वेदान्तदर्शन की अध्याय संख्या का स्वतन्त्ररूप से व्यवहार होने से हमने अध्याय संख्या १–४ दी है। यह संख्या ब्रह्ममुनि कृत भाष्यानुसार है। अन्य भाष्यों में सूत्रसंख्या में कहीं-कहीं भेद हो सकता है।

आत्रेय	**औडुलौमि**	**जैमिनि**
आलेखन	**कामुकायन**	**बादरायण**
आश्मरथ्य	**काशकृत्स्न**	**बादरि**
ऐतिशायन	**कार्ष्णाजिनि**	**लाबुकायन**

काशकृत्स्नि—भगवान् पतञ्जलि कृत महाभाष्य ४।१।१४, ९३; ४।३।१२५ में काशकृत्स्नि-प्रोक्त मीमांसा का उल्लेख मिलता है—

काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी । काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी ।।

महाकवि भास ने भी यज्ञफल नाटक में काशकृत्स्निप्रोक्त मीमांसा का उल्लेख किया है—**काशकृत्स्नं मीमांसाशास्त्रम् । अंक ४, पृष्ठ १२६।।**

कात्यायन मुनि अपने श्रौतसूत्र में काशकृत्स्नि आचार्य का यज्ञविषयक एक मत उद्धृत किया है—**सद्यस्त्वं काशकृत्स्निः । ४।१।१७।।**

काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि एक आचार्य—उत्तरमीमांसा में स्मृत काशकृत्स्न और महाभाष्य आदि में स्मृत काशकृत्स्नि नाम प्रत्यय भेद से एक ही आचार्य के हैं । यथा–पाणिन और पाणिनि, दाशरथ राम और दाशरथि राम । बोधायन गृह्यसूत्र (१।४।४४) में मीमांसाशास्त्र में स्मृत बादरि और आत्रेय के साथ काशकृत्स्न का भी यज्ञविषयक मत उद्धृत है ।[1] इससे भी काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि का एकत्व बोधित होता है । हमने व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में 'काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि दोनों नाम एक आचार्य के हैं', इस विषय में विस्तार से लिखा है (द्र०–व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ १०७, संवत् २०३० का संस्करण) ।

इस प्रकार सुचरितमिश्र और पार्थसारथिमिश्र द्वारा उल्लिखित गुरुपरम्परा के ब्रह्मा महेश्वर, प्रजापति, इन्द्र, आदित्य, वसिष्ठ और पराशर नामों को जोड़ने पर मीमांसा प्रवक्ता १९ आचार्यों का परिज्ञान होता है । श्रौतसूत्रों में स्मृत आचार्यों में कुछ का मीमांसा-प्रवचन सम्भव है । यदि उन्हें भी सम्मिलित किया जाये, तो यह संख्या बढ़ सकती है ।

भारतीय काल-विभाग

'मनु का जलप्लव' इस पृथिवी की एक सत्य महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है । इसी कारण इसका उल्लेख भारतीय वाङ्मय के अतिरिक्त भारतीयेतर अन्य मतावलम्बियों के ग्रन्थों में भी मिलता है । इस जलप्लव के पश्चात् लगभग १५-१६ सहस्र वर्षों के काल को हमने भारतीय ऐतिहासिक कालगणना के अनुसार इस प्रकार विभक्त किया है—

१–देवयुग (आदियुग) देवयुग का काल लगभग ५००० सहस्रवर्ष का था कृतयुग (४८००

---

१. आघारं प्रकृतिं प्राह दर्विहोमस्य बादरिः । अग्निहोत्रं तथाऽऽत्रेयः काशकृत्स्नस्त्व पूर्वताम् ।।

सौरवर्ष)[1] का ही देवयुग आदियुग वा आदिकाल नामों से भारतीय ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। त्रिविष्टप (तिब्बत) ही देवभूमि थी।

२—ऋषि-युग—देवयुग के अन्तिम चरण में तिब्बतीय मानवों का गङ्गा आदि प्रमुख नदियों के साथ-साथ इस भूमि पर अवतरण हुआ। देवभूमि के प्रतिपक्ष में इसका नाम मर्त्यभूमि वा मर्त्यलोक प्रसिद्ध हुआ। इस नवीन शस्य-श्यामला भूमि पर ऋषियुग का आरम्भ हुआ। इस ऋषियुग का आरम्भ दशम प्रजापति वैवस्वत मनु की सन्तति से होता है। इसी कारण इस भूमि के वासी मानव कहाते हैं। यह आर्षकाल लगभग ६००० वर्ष (=३६०० सौरवर्ष त्रेता + २४०० सौरवर्ष द्वापर) रहा। द्वापर के अन्तिम चरण से ऋषियों का उत्क्रमण आरम्भ हो गया।[2] फिर भी कलि के लगभग ३०० वर्षों तक ऋषि-परम्परा कुछ मात्रा में विद्यमान रही। इस परम्परा में बोधायन अन्तिम ऋषि माना जाता है। शास्त्रकार की दृष्टि से जैमिनि तक प्रायः गणना की जाती है। इस ऋषियुग में ऋषियों ने समस्त वैदिक-वाङ्मय (शाखा-शाखान्तर-आरण्यक-उपनिषद्) तथा अन्य शास्त्रों का बहुधा प्रवचन किया। इन का अन्तिम प्रवचन द्वापर के अन्त्य के दो सौ वर्ष और कलि के दो सौ वर्ष अर्थात् द्वापर कलि की सन्धि के ४०० वर्षों में अन्तिम व्यास कृष्ण द्वैपयन और उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने तथा अन्य गुरु-शिष्य सम्प्रदायों से सम्बद्ध ऋषियों ने किया। इस ६००० सहस्र वर्ष के ऋषियुग को प्रवचनकाल भी कह सकते हैं।

३—मुनि-युग—आर्षयुग के पश्चात् मुनियुग का आरम्भ जानना चाहिये। इसकी परि-समाप्ति कलि के २००० सहस्र वर्ष बीतने तक हो जाती है। इस युग में वैदिक-वाङ्मय तथा अन्य मूलशास्त्रों का प्रवचन नहीं हुआ। इस युग की विशेष देन प्राचीन शास्त्रों के प्रामाणिक भाष्य ग्रन्थ हैं। इसी काल में उपवर्ष पतञ्जलि और वात्स्यायन सदृश मूर्धाभिषिक्त भाष्यकार हुये।

४—आचार्य-युग—मुनियुग की समाप्ति के पश्चात् आचार्ययुग आरम्भ होता है। यह युग विक्रम से १ सहस्र वर्ष पूर्व (२००० कलि के पीछे) से आरम्भ होकर विक्रम-पूर्व समाप्त होता है। इस प्रकार आचार्ययुग का काल लगभग १००० एक सहस्र वत्सरमात्र है। इस युग में आर्षकाल और मुनिकाल की विचारधारा में विशेष परिवर्तन हुये। इस परिवर्तन के कारण भर्तृहरि शबरस्वामी शङ्कर प्रभृति आचार्यों ने अनेक नये वादों अथवा सम्प्रदायों को जन्म दिया। इस काल के आचार्यों ने प्राचीन आर्ष-शास्त्रों की पुरातन मुनियों द्वारा की गई व्याख्याओं की उपेक्षा करके अपने नये वादों वा मतों की स्थापना के लिये प्राचीन शास्त्रों की व्याख्याताएं लिखने का उपक्रम किया। यद्यपि इसमें चारवाक, बौद्ध और जैन सदृश अवैदिक मतों का समुत्थान भी कुछ सीमा तक कारण रहा है, परन्तु प्रधान कारण इनकी अहंमन्यता है।

---

१. इस सम्बन्ध में हमने 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' (भाग १), पृष्ठ १३३–१३४ पर टिप्पणी के रूप में लिखा है। जो पाठक इस विषय को विस्तार से जानना चाहें, वें उस ग्रन्थ में देखें।

२. द्र०—निरुक्त १३।१२—'मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवान् (=विदुषः) अब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति'।

अपने वादों की सिद्धि के लिये इन्होंने सभी प्राचीन ऋषि-मुनियों की समालोचना की । इसी काल में प्राचीन वाङ्मय में, विशेषकर दर्शन-शास्त्रों में परस्पर विरोध-भावना भी पनपी । इसमें आचार्य शङ्कर ने सबसे अधिक आर्ष-दर्शनशास्त्रों के पारस्परिक तथा कथित विरोध को तात्त्विक विरोध में परिणत किया । इसी काल ने भर्तृहरि ने वाक्यपदीय प्रभृति ग्रन्थों की रचना करके शब्दाद्वैत वाद को प्रतिष्ठित किया । शवरस्वामी ने ब्रह्म की सत्ता का अपलाप करते हुये पूर्वमीमांसा का भाष्य रचा, और भट्टकुमारिल ने शावरभाष्य पर वार्तिक लिखे । आचार्य शङ्कर ने भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद और वौद्ध दार्शनिकों से प्रेरणा प्राप्त करके **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः** मत की सिद्धि के लिये वेदान्त दर्शन पर भाष्य लिखा ।

आर्ष ज्ञान को समूल नष्ट करने का सामूहिक प्रयत्न

पण्डित-युग—इस युग का आरम्भ सम्राट् विक्रमादित्य के काल से होता है । आचार्य-युग तक प्राचीन परम्पराएं कुछ सीमा तक अक्षुण्ण रहीं । मानवों के हृदयों में प्राचीन ऋषि-मुनियों के प्रति श्रद्धा प्रायः वनी रही । इसका प्रमुख कारण यह था कि आचार्य युग के भाष्यकारों ने अपने वादों की सिद्धि के लिये प्राचीन आर्षग्रन्थों को ही आधार बनाया था । परन्तु इन आचार्यों में जिस अहंभावना का उदय हो चुका था, उसमें उत्तरोत्तर प्रवृद्धि होती गई । आचार्ययुग की समाप्ति तक अहंभावना इतनी बढ़ गई कि पण्डितयुग के विद्वान् अपने को प्राचीन ऋषि-मुनि वा आचार्यों से भी अधिक विद्वान् समझने लगे । इसी विद्यामद के कारण इन्होंने अपने ग्रन्थों के प्रचार के लिये प्राचीन आर्ष वा आर्षकल्प प्रामाणिक ग्रन्थों की निन्दा करने में ही अपने पाण्डित्य का प्रधान रूप से उपयोग किया । इन्हें अपने ज्ञान वा ग्रन्थ की उत्कर्षता पर भरोसा नहीं था । अन्यथा वे प्राचीन आर्ष तन्त्रों की निन्दा न करके विद्वज्जनों के क्षीर-नीर विवेक पर ग्रन्थों के भाग्य को छोड़ देते । इन्हें तात्कालिक विद्वानों में प्राचीन आर्षग्रन्थों के प्रति जो श्रद्धा और विश्वास विद्यमान था, उससे इन्हें भय लग रहा था कि प्राचीन आर्षग्रन्थों की तुलना में हमारे ग्रन्थों को विद्वत्समाज कभी आदृत नहीं करेगा । अतः इस काल के पण्डितों ने आर्षज्ञान-समन्वित ग्रन्थराशिरूप मार्गावरोधक कण्टक को दूर करने के लिये आर्षज्ञान की अवहेलना वा निन्दा करना ही उचित समझा । हम इस तथ्य को प्रकट करने के लिये विक्रम के नवरत्नों में से तीन प्रमुख ग्रन्थकारों के वचन उद्धृत करते हैं—

१. प्रसिद्ध वैद्य वाग्भट्ट ने अपने 'अष्टाङ्ग-संग्रह' में लिखा है—

यदि चरकमधीते तद्ध्रुवं सुश्रुतादिप्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः ।
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः किमिव खलु करोतु व्याधितानां वराकः ॥

अभिनिवेशवशाद् अभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढमूलकः ।
पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः ॥

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।
भेलाद्याः किन्न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम् ॥

अर्थात्—केवल चरक पढ़ता है, तो सुश्रुतादि में कहे गये रोगों के नाम-ज्ञान से भी रहित होगा। यदि चरक नहीं पढ़ता, तो चिकित्सा की प्रक्रिया को न जाननेवाला मूर्ख रोगी का क्या उपकार करेगा। जो दृढ़मूलक (=अन्धश्रद्धावाला) अभिनिवेशवश (आर्षग्रन्थ ही पढ़ूंगा, इस धारणा से) उत्कृष्टरूप से कहे गये श्रेष्ठ ग्रन्थ को भी नहीं पढ़ता, तो वह मूर्ख अखिन्न होकर सारी आयु आद्य वैद्यक शास्त्र को पढ़ता रहे। यदि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के पढ़ने में ही प्रीति है, तो चरक-सुश्रुत वो छोड़कर भेल आदि ऋषियों के ग्रन्थों को क्यों नहीं पढ़ते ? इसलिये सुभाषित ग्रन्थों को ही ग्रहण करना चाहिये (पढ़ना चाहिये)।

२—ज्योतिर्विद् वराहमिहिर भी बृहत्संहिता अ० १ में लिखता है—

मुनिरचितमिति यच्चिरन्तनं साधु न मनुजग्रथितम्।
तुल्येऽर्थेऽक्षरभेदाद् अमन्त्रके का विशेषोक्तिः॥

अर्थात्—मुनियों द्वारा रचित ग्रन्थ ही साधु है, मनुष्यों के रचित साधु नहीं है [ऐसा जो कहता है, उससे पूछना चाहिये कि] अक्षर भेद से समान अर्थ होने पर मन्त्र को छोड़कर अन्य में क्या विशेष कथन हो सकता है ?

३—कवि कालिदास ने भी मालविकाग्निमित्र के आरम्भ में लिखा है—

पारिपार्श्वकः—मातावत् प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः ?

सूत्रधारः—अयि ! विवेकविश्रान्तमभिहितम्। पश्य !

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

अर्थात्—पारिपार्श्वक पूछता है—यह ठीक नहीं है कि प्रसिद्ध यशस्वी भास सौमिल्लक और कविपुत्रों के प्रबन्धों (नाटकों) को छोड़कर वर्तमान कवि कालिदास की कृति (नाटक) में तेरा क्यों अत्यादर है ? सूत्रधार उत्तर देता है—अरे पारिपार्श्वक ! यह बात विवेक की जिसमें विश्रान्ति हो जाती है, ऐसे [मूर्ख] से कही गई है। देखो—जो पुराना हो, वही सब अच्छा नहीं होता, और न कोई काव्य नवीन होने से अयुक्त होता है। ज्ञानी लोग परीक्षा करके पुराने और नये में से युक्ततर को स्वीकार करते हैं। मूढ़ दूसरों की बुद्धि के (=पुरातनों के) पीछे चलनेवाले होते हैं।

ये तीनों प्रसिद्ध व्यक्ति भारतीय इतिहासानुसार विक्रमादित्य की सभा के प्रसिद्ध नवरत्नों में अन्यतम थे।

धीरे-धीरे विद्वानों में अहंकार की प्रवृत्ति बढ़ती गई। उत्तर काल में जो ग्रन्थ लिखे गये, उनमें एक-दूसरे की उक्तियों का खण्डन-मण्डन ही अधिक मिलता है। दूसरे शब्दों में यदि यह कहा जाये कि 'इस काल के पण्डितों ने स्वपाण्डित्य की प्रकर्षता सिद्ध करने के लिये ही ग्रन्थ रचे,

न कि शास्त्र का बोध कराने के लिये' तो अनुचित न होगा। इस कारण शास्त्र पीछे पड़ गया, उसका तत्त्वज्ञान प्राप्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया।

आर्ष-ज्ञान के पुनरुद्धारक—ऐसे विकराल काल में विक्रम की २०वीं शती के आरम्भ में मथुरावासी **स्वामी विरजानन्द सरस्वती** को आर्षज्ञान की श्रेष्ठता का प्रतिभान हुआ। उन्होंने अनार्षग्रन्थों का पठन-पाठन त्यागकर आर्षज्ञान-ज्योति को पुनः प्रज्वलित करने के लिये घोर परिश्रम किया। उनसे शिक्षा प्राप्त करके **स्वामी दयानन्द सरस्वती** ने वेदादि शास्त्रों का पुनरुद्धार एवं आर्षग्रन्थों के प्रचार में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया। अपने कार्य को जीवनोपरान्त चालू रखने के लिये **आर्यसमाज** के नाम से एक समाज संघटित किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के स्वर्गवास के पश्चात् कुछ समय तक आर्यसमाज उनकी इच्छा के अनुरूप कार्य करता रहा, परन्तु थोड़े काल के पश्चात् ही उसमें शिथिलता आ गई, और वह स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा निर्दिष्ट कार्यक्रम को छोड़कर उनके लक्ष्यविरोधी अन्य कार्यों में रत हो गया। सम्प्रति केवल ४–५ विद्यालयों में उनके द्वारा निर्दिष्ट पद्धति से व्याकरण पर्यन्त थोड़ा बहुत पठन-पाठन होता है। इस प्रकार जिस महत्त्वपूर्ण वेद और आर्षग्रन्थों के प्रचार के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती जीये और मरे, वह अधूरा रह गया। हन्त! ५ सहस्र वर्षों के सुदीर्घकाल के पश्चात् स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके गुरु प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने जिस वैदिक आर्षज्ञान ज्योति को प्रज्वलित किया था, वह उनके अनुयायियों की उपेक्षा के कारण अल्पावधि में ही बुझसी गई। अब कौन इस सम्प्रदायनिरपेक्ष वैदिक आर्ष-ज्ञान को पुनः प्रकट करेगा? कौन इसका पुनरुद्धार करेगा?

मीमांसाशास्त्र के प्रवक्ता एवं व्याख्याता

अब हम अतिसंक्षेप से पूर्व-मीमांसाशास्त्र के प्रवक्ताओं और व्याख्याताओं का वर्णन करते हैं—

भारतीय ऐतिह्य के अनुसार द्वापर युग के पश्चात् ऐतिहासिक काल के ज्ञान के लिये **कलिसंवत्, आद्य शंकराचार्य का काल और विक्रम संवत्** अत्यन्त ठोस आधार हैं। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय ऐतिहासिक समस्त निश्चित आधारों को असत्य बताकर अपने मनमाने ढंग से भारतीय इतिहास की रूप-रेखा निर्धारित कर दी है, और आज प्रायः समस्त आधुनिक इतिहास-लेखक उसी का अन्ध अनुकरण कर रहे हैं। तथापि उनके मत की समीक्षा करने का प्रयत्न न करना ब्रिटिश शासनकाल में तो कुछ समझ में आता था, परन्तु भारत के स्वतन्त्र होने पर भी इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा है, यह अत्यन्त खेद की बात है। इसका एकमात्र कारण है **हमारी मानसिक परतन्त्रता**। आज भारत को स्वतन्त्र हुये ३० वर्ष बीत गये, परन्तु हमारा शासन भारतीय बालकों और नवयुवकों को वही इतिहास पढ़ा रहा है, जो न केवल भारतीय इतिहास के सर्वथा विपरीत है, अपितु भारतीय ज्ञान-गरिमा भारतीय संस्कृति और भारतीय इतिहास को दूषित करनेवाला भी है।

हम मीमांसाशास्त्र के प्रवक्ता और व्याख्याताओं के काल का यहां भारतीय इतिहास के अनुसार निर्देशमात्र करेंगे। उसकी स्थापना और पाश्चात्य मत का खण्डन यहां नहीं करेंगे। यह प्रयत्न मीमांसाशास्त्र का इतिहास ग्रन्थ में (यदि इस ग्रन्थ का लेखन जीवनकाल में सम्भव हुआ) करेंगे। इस समय हम भारतीय दृष्टि से लिखे गये निम्न इतिहास-ग्रन्थों को आधार बना कर कालनिर्देश कर रहे हैं—

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास—भाग १–२। श्री पं० भगवद्दत्त लिखित।
२. वैदिक-वाङ्मय का इतिहास—भाग १–२–३। श्री पं० भगद्दत्त लिखित।
३. वेदान्त-दर्शन का इतिहास—श्री पं० उदयवीर शास्त्री लिखित।
४. सांख्य-दर्शन का इतिहास—श्री पं० उदयवीर शास्त्री लिखित।
५. संस्कृत-व्याकरण शास्त्र का इतिहास—भाग १–२–३। मेरे द्वारा लिखित।
६. आयुर्वेद का इतिहास—श्री वैद्य सूरमचन्द कविराज लिखित।

इन महानुभावों ने भारतीय ऐतिहास के पूर्वनिर्दिष्ट तीन मुख्य आधारों तथा अन्य विभिन्न विषयों का अपने ग्रन्थों में प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार सप्रमाण मण्डन और पाश्चात्य मतों का सोपपत्तिक खण्डन किया।

मीमांसाशास्त्र के प्रवक्ता

मीमांसाशास्त्र का प्रवचन आदिदेव ब्रह्मा से लेकर द्वापरान्त कालीन जैमिनि पर्यन्त अनेक ऋषि-मुनियों ने किया था। परन्तु देवयुग के विज्ञात ५ प्रवक्ताओं तथा ऋषियुग के जिन १२ प्रवक्ताओं का उल्लेख मीमांसाशास्त्र में मिलता है, उनके नामों का उल्लेख हम पूर्व (पृष्ठ ८, ९) कर चुके हैं। हम आगे उनका क्रमशः वर्णन करते हैं—

१. ब्रह्मा—ब्रह्मा भारतीय इतिहास में आदिदेव के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारतीय वाङ्मय में इन्हें समस्त प्रधानभूत शास्त्रों का आद्य शास्ता (=शासनकर्ता) कहा है। इन्हीं के शासन के कारण समस्त विद्याओं के मूल ग्रन्थ शास्त्र वा शासन कहाते हैं। ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट ग्रन्थों के अतिविस्तीर्ण होने से इन्हें तन्त्र भी कहते हैं। उत्तरवर्ती ऋषि-मुनियों ने ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट ग्रन्थों को ही संक्षिप्त तथा स्वकालोपयोगी बनाया[1]। इसी कारण भारतीय इतिहास में समस्त शास्त्रों को तत्तद् ऋषियों द्वारा प्रोक्त माना जाता है[2]। प्रोक्त का लक्षण है—'ग्रन्थ के

---

१. विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥ चरक, सिद्धि० १२।६५, ६६॥

२. यह प्रवचन-विधा केवल भारतीय वाङ्मय में ही उपलब्ध होती है। और वह भी आर्ष-वाङ्मय में। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रवचन-विधा में प्रवक्ता को अहंकार का त्याग करना पड़ता है। अहंकार का परित्याग नीरजस्तम ऋषि लोग ही कर सकते हैं। सामान्य आचार्यों वा लेखकों द्वारा अहंकार का त्याग असम्भव है। यही कारण है कि सामान्य विद्वज्जन स्वमहत्त्व का प्रख्यापन करने के लिये प्राचीन शास्त्रों की निन्दा करते हैं। द्र०—पृष्ठ १२-१४॥

द्वारा कृत ग्रन्थ का विशेष प्रवचन[1] । ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट अथवा कृत ग्रन्थ का शास्त्र शासन और तन्त्र नाम होने से उत्तरवर्ती ऋषि-मुनियों द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ **अनुशास्त्र अनुशासन और अनुतन्त्र** कहाते हैं। सुचरित मिश्र और पार्थसारथि मिश्र के पूर्व उद्धृत वचन (पृष्ठ ९) में मीमांसा-शास्त्र के आद्य उपदेशक ब्रह्मा का निर्देश मिलता है।

पं० भगवद्दत्त जी ने 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' ग्रन्थ के द्वितीय भाग (पृष्ठ २२–२६, संवत् २०१७) में ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट २२ शास्त्रों का उल्लेख किया है । ब्रह्मा के विषय में अधिक ज्ञान के लिये देखें—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृष्ठ १४–२७ (संवत् २०१७)। तथा संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ५८, ५९ (संवत् २०३०) ।

२. महेश्वर (=शिव)—महेश्वर कृत मीमांसाशास्त्र का उल्लेख सुचरित मिश्र ने श्लोकवार्तिक की टीका में किया है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ९ पर उद्धृत वचन) । व्याकरण-शास्त्र में माहेश्वर सम्प्रदाय अति प्रसिद्ध है। पाणिनीय व्याकरण माहेश्वर सम्प्रदाय का है। महेश्वर के सम्वन्ध में विशेष देखें—संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ७३–७७ (संवत् २०३०) ।

३. प्रजापति—पार्थसारथि मिश्र के अनुसार ब्रह्मा ने, और सुचरित मिश्र के अनुसार ब्रह्मा अथवा महेश्वर ने प्रजापति को मीमांसाशास्त्र का उपदेश किया था, तथा प्रजापति ने इन्द्र को। भारतीय-वाङ्मय में कश्यप आदि १० प्रजापति प्रसिद्ध हैं । उनमें से किस प्रजापति ने मीमांसाशास्त्र का प्रवचन किया, यह अज्ञात है।

४. इन्द्र प्रजापति ने इन्द्र को मीमांसाशास्त्र का उपदेश किया था। भारतीय इतिहास के अनुसार इन्द्र कश्यप प्रजापति का पुत्र था। उनकी माता दक्ष प्रजापति की कन्या अदिति थीं। कौटिल्य अर्थशास्त्र १।८ में इन्द्र को बाहुदन्ती-पुत्र कहा है। इस के ग्यारह सहोदर भ्राता थे । ये द्वादश आदित्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्द्र ने न्यूनातिन्यून ५ आचार्यों से विद्याध्ययन किया था । इनके नाम हैं—**प्रजापति, बृहस्पति, अश्विनी कुमार, मृत्यु=यम और कौशिक विश्वामित्र** । देवराज इन्द्र ने विभिन्न शिष्यों के प्रति विभिन्न शास्त्रों का उपदेश किया था । इनमें यज्ञविद्या, अध्यात्म-विद्या, शब्दशास्त्र, आयुर्वेद (=कायचिकित्सा, शल्यचिकित्सा), पुराण, छन्दःशास्त्र और मीमांसा-शास्त्र प्रमुख हैं। इन्द्र ने आदित्य को मीमांसाशास्त्र का उपदेश किया था, ऐसा पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है।

इन्द्र के विषय में हमने संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास ग्रन्थ (भाग १, पृष्ठ ८०–८९) में विस्तार से लिखा है।

५. आदित्य—पार्थसारथिमिश्र के लेखानुसार इन्द्र ने आदित्य को मीमांसा का उपदेश किया था, और आदित्य ने वसिष्ठ को। हमने पूर्व लिखा है कि माता अदिति के इन्द्र प्रभृति द्वादश

---

१. द्र०—**'यत्तेन प्रोक्तं न च तेन कृतम्'** । महाभाष्य ४।३।१०१।। **'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरक-प्रतिसंस्कृते ।'** चरक के प्रत्येक अध्याय के अन्त में।

पुत्र आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत मीमांसाशास्त्र का प्रवक्ता आदित्य उनमें से ही कोई अन्यतम है, अथवा उनसे भिन्न आदित्यनामा व्यक्ति है, यह अज्ञात है। शतपथ की अन्तिम पङ्क्ति के अनुसार शुक्लयजुओं का आदि प्रवक्ता आदित्य था। वैदिक-वाङ्मय में आदित्यायन और आङ्गिरसायन यजु प्रसिद्ध हैं—द्वयान्येव यजूंषि आदित्यानामङ्गिरसां च (प्रतिज्ञा-परिशिष्ट[1])। इनका उल्लेख शतपथ ४।४।५।१९, २० तथा ऐ० ब्रा० ४।१७ में भी मिलता है। याज्ञवल्क्य-चरित (मराठी) के लेखक श्रीधर अण्णा शास्त्री वारे ने प्रतिवेद आदित्य सम्प्रदाय से सम्बद्ध शाखाओं का उल्लेख किया है। द्र०—याज्ञवल्क्य-चरित (मराठी) पूर्वार्ध के अन्त में प्रतिवेद-शाखा-निदर्शक वंश पट।

६. वसिष्ठ—पार्थसारथि मिश्र के वचनानुसार आदित्य ने वसिष्ठ को मीमांसाशास्त्र का उपदेश किया था। यह वसिष्ठ कुल का आदि देवर्षि है। इसे पुराणों में ब्रह्मा का मानस पुत्र कहा है। मानस पुत्र का अर्थ होता है—मन से स्वीकृत। पुराणों ने मित्रावरुण (=प्राण-उदान) और उर्वशी (=विद्युत्) के सम्बन्ध से उत्पन्न वसिष्ठ (=जीवनीय जल) के आलङ्कारिक वैदिक आख्यान का सम्बन्ध देवर्षि वा ब्रह्मर्षि वसिष्ठ के साथ जोड़कर इनके चरित्र को दूषित किया है।

भारत के प्राचीन इतिहास में विशेषकर सूर्यवंशीय राजघराने के साथ वसिष्ठ कुल का महत्त्वपूर्ण योगदान वा सम्बन्ध रहा है। इतिहास के लम्बे काल में एक ही वसिष्ठ की कल्पना नहीं की जा सकती। भारतीय इतिहास में जनक प्रभृति अनेक नाम ऐसे है, जो कुल नाम के रूप में सहस्रों वर्षों तक चलते रहे। इस तत्त्व को न जानने से इतिहास में अनेक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं।

ये सभी मीमांसाशास्त्र-प्रवक्ता **देवयुग** के व्यक्ति हैं। इस युग में प्रोक्त मीमांसाशास्त्र का क्या स्वरूप था, यह भी अज्ञात है। इन के पश्चात् हम **ऋषियुग** के ज्ञात मीमांसा-प्रवक्ताओं का उल्लेख करेंगे। इन मीमांसा-प्रवक्ताओं के मीमांसाशास्त्र का स्वरूप लगभग वर्तमान में उपलब्ध मीमांसा जैसा ही रहा होगा, परन्तु कुछ विषयों में भिन्नता अवश्य थी। यह उनके मतों के उल्लेख से ही स्पष्ट है। यद्यपि पार्थसारथि मिश्र ने वसिष्ठ से पराशर, और पराशर से कृष्ण-द्वैपायन के मीमांसाध्ययन का उल्लेख किया है, फिर भी हम पराशर का निर्देश कृष्णद्वैपायन से पूर्व करेंगे। क्योंकि पराशर कृष्णद्वैपायन के पिता थे। सम्भव है, पराशर ने वसिष्ठ कुल के किसी अन्तिम वसिष्ठ से मीमांसाशास्त्र को प्राप्त किया होगा।

मीमांसाशास्त्र में उल्लिखित—पार्थसारथि मिश्र वा सुचरित मिश्र द्वारा स्मृत पराशर, और मीमांसाशास्त्र में उल्लिखित १२ मीमांसकों में से केवल तीन **पराशर बादरायण** (=पाराशर्य कृष्ण-द्वैपायन और **जैमिनि** का ही पौर्वापर्य सम्बन्ध तथा निश्चित काल ज्ञात होता है। मीमांसाशास्त्रोक्त शेष १० प्रवक्ताओं का पौर्वापर्यक्रम अज्ञात है, और विशेष वृत्त भी अनुपलब्ध है। हां, इतना

---

१. कात्यायनीय दो प्रतिज्ञा-परिशिष्ट हैं। एक श्रौतसूत्र से संबद्ध, और दूसरा प्रातिशाख्य से संबद्ध। उपरिनिर्दिष्ट पाठ प्रथम प्रतिज्ञा-परिशिष्ट का है।

अवश्य है कि इन मीमांसकों का उल्लेख यज्ञीय ब्राह्मण श्रौत गृह्य आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इससे इनकी यज्ञशास्त्र-पारदृश्वता स्पष्ट है। कालक्रम का निश्चय न होने से हम १० मीमांसा-प्रवक्ताओं का उल्लेख अकारादि क्रम से करेंगे—

७. **आत्रेय**—यह गोत्र नाम है। भारतीय वाङ्मय में कृष्ण आत्रेय पुनर्वसु आत्रेय आदि अनेक आत्रेय स्मृत हैं। जब तक मीमांसाशास्त्र में स्मृत आत्रेय का व्यक्तिगत नाम ज्ञात न हो, तब तक उसके काल का निर्धारण करना कठिन है। आत्रेय का निर्देश मीमांसा (द्वादशाध्यायी) और वेदान्त सूत्र दोनों में मिलता है (द्र०—पूर्व पृष्ठ १०)। इनके अतिरिक्त आत्रेय का नाम अनेक श्रौत वा गृह्यसूत्रों में भी उपलब्ध होता है।

८. **आलेखन**—आलेखन आचार्य का नाम केवल संकर्ष-काण्ड में दो स्थानों पर मिलता है (द्र०—पूर्व पृष्ठ १०)।

९. **आश्मरथ्य**—अश्मरथ का पुत्र आश्मरथ्य कहाता है। पाणिनि ने गर्गादि गण ४।१।१०५ में अश्मरथ शब्द पढ़ा है। उससे यञ् प्रत्यय होकर आश्मरथ्य प्रयोग उपपन्न होता है। पाणिनि के लेखानुसार यह गोत्र नाम भी है। अतः मीमांसा आदि में स्मृत आश्मरथ्य अश्मरथ का साक्षात् पुत्र है, अथवा उस गोत्र का व्यक्तिविशेष यह अज्ञात है। आश्मरथ्य का उल्लेख मीमांसा (द्वादशाध्यायी) संकर्ष-काण्ड और वेदान्तसूत्र तीनों में मिलता है (द्र० - पूर्व पृष्ठ १०)। आश्मरथ्य का नाम श्रौत एवं गृह्यसूत्रों में भी बहुत्र स्मृत है।

१०. **ऐतिशायन**—इतिश का उल्लेख पाणिनि ने नडादिगण (४।१।९९) किया है। उससे फक् प्रत्यय होकर इतिश का गोत्रापत्य ऐतिशायन कहाता है। बोधायन श्रौत प्रवराध्याय में यह गोत्ररूप से स्मृत है। ऐतिशायन आचार्य का नाम केवल पूर्वमीमांसा (द्वादशाध्यायी) में तीन स्थानों पर उपलब्ध होता है (द्र०—पूर्व पृष्ठ १०)।

११. **औडुलोमि**—उडुलोमन् का अपत्य औडुलोमि कहाता है। उडुलोमन् का पाठ यद्यपि पाणिनि ने बाह्वादि गण (४।१।९६) में नहीं किया, फिर भी बाह्वादि के आकृतिगण होने से उडुलोमन् से इञ् प्रत्यय होता है, ऐसा काशिकाकार का मत है। औडुलोमि का मत संकर्ष-काण्ड और वेदान्तसूत्र में बहुत्र मिलता है (द्र०—पूर्व पृष्ठ १०)। बोधायन श्रौत प्रवर-प्रकरण में भी औडुलोमि स्मृत है।

१२. **कामुकायन**—कामुक का गोत्रापत्य कामुकायन है। कामुक का पाठ पाणिनि ने नडादिगण (४।१।९९) में किया है, उससे फक् प्रत्यय होता है। इस आचार्य का उल्लेख केवल पूर्वमीमांसा (द्वादशाध्यायी) में उपलब्ध होता है (द्र०—पूर्व पृष्ठ १०)।

१३. **काशकृत्स्न**—काशकृत्स्न का नाम केवल वेदान्त सूत्र १।४।२२ में उपलब्ध होता है। काशकृत्स्न का ही अपरनाम काशकृत्स्नि है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ११) लिख चुके हैं। वहीं काशकृत्स्नि मीमांसा के निदर्शक भगवान् पतञ्जलि और महाकवि भास के वचन भी उद्धृत किये हैं।

काशकृत्स्न अथवा काशकृत्स्नि के पिता का नाम कशकृत्स्न था । तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में भट्ट पराशर ने काशकृत्स्न को बादरायण (=कृष्णद्वैपायन) का शिष्य कहा है (द्र०—संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १०१) । इसी तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में सङ्कर्ष-काण्ड को काशकृत्स्नप्रोक्त लिखा है (द्र०—वही ग्रन्थ, भाग १, पृष्ठ १०८, टि० ८) । काशकृत्स्नि का मत कात्यायन श्रौत ४।३।१७ में मिलता है । काशकृत्स्न अपरनाम काशकृत्स्नि के विषय में संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १०६–१२२ तक विस्तार से लिखा है ।

१४. कार्ष्णाजिनि—कृष्णाजिन के पुत्र कार्ष्णाजिनि का उल्लेख पूर्वमीमांसा (द्वादशाध्यायी), संकर्ष-काण्ड और उत्तरमीमांसा तीनों में उपलब्ध होता है (द्र०—पूर्व पृष्ठ १०) । कात्यायन श्रौत १।६।२३ में भी कार्ष्णाजिनि का मत उल्लिखित है ।

१५. बादरि—ऋषिविशेष वाचक बदर शब्द से अपत्य अर्थ में इञ् (४।१।९५) होता है । बदर ऋषि के पुत्र बादरि के अनेक मत मीमांसा और वेदान्तदर्शन में मिलते हैं (द्र०—पूर्व पृष्ठ १०) । बादरि और बादरायण का कोई परस्पर सम्बन्ध था या नहीं, यह विचारणीय है ।

१६. लाबुकायन—लाबुकायन का मत जैमिनि ने केवल एक स्थान (६।७।३७) पर ही दिया है । लाबुकायन नाम के अनुसार इसके पिता का नाम 'लबुक' होना चाहिये । पाणिनि ने यद्यपि नडादिगण (४।१।१०५) में लबुक पद नहीं पढ़ा है, पुनरपि प्रयोगसामर्थ्य से अथवा नडादि के आकृतिगणत्व से लबुक से भी फक् प्रत्यय जानना चाहिये ।

मीमांसाशास्त्र में उल्लिखित इन आचार्यों में कौन कितना प्राचीन है, यह जानने का कोई साधन नहीं है । इनमें से कुछ आचार्य निश्चय ही जैमिनि से पर्याप्त प्राचीन होंगे, और कुछ समकालिक भी हो सकते हैं ।

१७. पराशर—पराशर महर्षि वसिष्ठ के पौत्र और शक्ति के पुत्र थे । ये कृष्णद्वैपायन व्यास के पिता थे । पराशर के मीमांसा-प्रवक्तृत्व का उल्लेख केवल पार्थसारथि मिश्र ने किया है । धर्मशास्त्र में पाराशरी स्मृति, एवं ज्योतिषशास्त्र में पराशरी संहिता प्रसिद्ध है । कृष्णद्वैपायन का जन्म भारत युद्ध से न्यूनातिन्यून १८० वर्ष पूर्व हुआ था । इस प्रकार पराशर का जन्म भारत युद्ध से २५०–३०० वर्ष पूर्व हुआ होगा ।

१८. बादरायण—भारतीय इतिहास के अनुसार बादरायण कृष्णद्वैपायन व्यास का ही नामान्तर है । बादरायण नाम का सम्बन्ध सन्दिग्ध है । बदर शब्द का नडादिगण (४।१।९९) में पाठ होने से बदर का गोत्रापत्य बादरायण होता है । यह व्युत्पत्ति हेमचन्द्र ने अभिधान-चिन्तामणि ३।५११ की व्याख्या में दर्शाई है । **बदराणामयनं स्थितिः स्थानम् बदारायणम्**=जहां बेरों का वन हो वह बदरायण, **बदरायणे निवासोऽस्य बदरायणः**=वदरिकाश्रम में निवास जिसका हो, वह बादरायण । कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वदरिकाश्रम में तपस्या करते हुये वेदों का प्रवचन किया था, यह महाभारत में प्रसिद्ध है । इस दृष्टि से यह द्वितीय व्युत्पत्ति युक्त है । यह व्युत्पत्ति शब्दकल्पद्रुम कोष में दर्शाई है । हमारा विचार है कि—**बदरीणां समूहः** इस अर्थ में अन्तोदात्त बदरी (गौरादि

४।१।४१ से ङीष्, तदन्त) से अनुदात्तादेरञ् (४।२।४३) से अञ् **बादरम्=बदरीणां वनम्** । **बादरमयनं यस्य स बादरायणः** (=बादर वन जिसका अयन=गमनागमन स्थान है), इस प्रकार भी व्युत्पत्ति की जा सकती है। अर्थ दोनों का समान ही है। तात्पर्य यह है कि कृष्णद्वैपायन का बदरिकाश्रम=बदरायण में निवास के कारण बादरायण नाम प्रसिद्ध हुआ था।

कृष्णद्वैपायन का वृत्तान्त महाभारत ग्रन्थ में निर्दिष्ट है । तदनुसार सत्यवती नाम्नी धीवर कन्या से पराशर के सम्बन्ध से कृष्णद्वैपायन का जन्म हुआ था। कृष्ण यह मूल नाम है। इसका सम्बन्ध कृष्ण वर्ण से भी हो सकता है। सत्यवती ने नदी के द्वीप में कृष्ण को जन्म दिया था। इस कारण कृष्ण का द्वैपायन विशेषण रूप में प्रयुक्त होता है। कृष्ण द्वैपायन ने अनेक छात्रों को चारों वेदों की विविध-शाखाओं का प्रवचन किया। इसलिये इनका नाम वेदव्यास लोक में प्रसिद्ध हुआ—**वेदान् विव्यास यस्मात्स वेदव्यास इति स्मृतः**। इसके साथ ही महाभारत की रचना और उत्तरमीमांसा का प्रवचन भी वेदव्यास ने किया था। योगदर्शन का भाष्य भी व्यास-प्रणीत माना जाता है।

१६. **जैमिनि**—भगवान् जैमिनि कृष्णद्वैपायन के शिष्य थे । इन्हें व्यास जी ने सामवेद पढ़ाया था। जैमिनि ने सामसम्बन्धी जैमिनीय संहिता-ब्राह्मण-उपनिषद्-श्रौत और गृह्यसूत्रों का प्रवचन किया था। ये सभी ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थों के साथ ही भगवान् जैमिनि ने षोडशाध्यायी (संकर्षकाण्ड सहित) पूर्वमीमांसा का प्रवचन भी किया । यह मीमांसाशास्त्र का अन्तिम प्रवचन है। चिरकाल से प्रचलित यज्ञीय कर्मकाण्ड में पर्याप्त मतभेद उत्पन्न हो गये थे । शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों के कर्मकाण्डपरक वचनों के तात्पर्य-ज्ञान में बहुत मतिभेद उपस्थित हो गया था। इन सब विषयों के मतभेदों को दूर करने, तथा शाखाओं और ब्राह्मणवचनों का यथावत् न्याय्य तात्पर्य बताने के लिये मुख्यतया मीमांसाशास्त्र का प्रवचन जैमिनि ने किया था। पर साथ ही उस समय के महायाज्ञिकों द्वारा जो मन्त्रों के अनर्थकत्व की घोषणा कर दी गई थी[1], और विविध विग्रहवान् देवताओं की कल्पना की जा चुकी थी। उनके निराकरण का भी भगवान् जैमिनि ने प्रशस्य प्रयत्न किया है।

जैमिनि के पिता का नाम अज्ञात है। जैमिनि प्रयोग के अनुसार पिता का नाम **जिमिन्** अथवा **जेमिन्** होना चाहिये। जैमिनि-प्रोक्त मीमांसा **जैमिनीया** कहाती हैं। जैमिनि शब्द के योग से **काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी** के समान **जैमिनी मीमांसा** प्रयोग उपपन्न होता है। 'जैमिनीय' प्रयोग की दृष्टि से **जैमन** नामान्तर भी था, ऐसा मानना पड़ता है। यथा अन्यत्र एक व्यक्ति के पाणिनि-पाणिन, काशकृत्स्नि-काशकृत्न, आपिशलि-आपिशल आदि दो-दो नाम देखे जाते हैं, उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। यथा **पाणिनीयाः** का सम्बन्ध पाणिन से, **आपिशलीयाः** का आपिशल से, **काशकृत्स्नीयाः** का काशकृत्स्न के साथ है, और **आपिशलाः** और **काशकृत्स्नाः** का सम्बन्ध आपिशलि और काशकृत्स्नि नाम के साथ है। इस विषय में हमने विशेष विचार संस्कृत-

---

१. यदि मन्त्रार्थ-सम्प्रत्यानाय अनर्थको भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः। निरुक्त १।१५।

व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १०६–१०८ (संवत् २०३०); तथा महाभाष्य-व्याख्या १।१ आह्निक १ के अन्त में ७६। इसी प्रकार जैमिनीयाः प्रयोग की उपपत्ति 'जैमिन' से ही हो सकती है, जैमिनि से नहीं।

अन्तिम तीन मीमांसा-प्रवक्ता भगवान् पराशर बादरायण (=कृष्णद्वैपायन) और जैमिनि का काल भारतीय इतिहास में सुनिश्चित है। कृष्णद्वैपायन के पिता पराशर मुनि का जन्म कलि संवत् से लगभग ३०० वर्ष पूर्व हुआ था। जैमिनि पाराशर्य व्यास के शिष्य थे। कृष्णद्वैपायन ने शाखाओं का प्रवचन भारत युद्ध से न्यूनातिन्यून १०० वर्ष पूर्व किया था। अतः जैमिनि का काल भारत युद्ध से १५० वर्ष पूर्व से भारत युद्ध के १०० वर्ष पीछे तक निश्चित है।

भगवान् जैमिनि की मृत्यु—पञ्चतन्त्र मित्र-संप्राप्ति में ३६वां श्लोक (जीवानन्द संस्करण) इस प्रकार है—

> सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
> मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
> छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्,
> अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ॥[1]

इस श्लोक के अनुसार अष्टाध्यायी के प्रवक्ता पाणिनि को सिंह ने मारा था, मीमांसा-प्रवक्ता जैमिनि को हाथी ने रौंदा था, और छन्दःशास्त्रप्रवक्ता पिङ्गल को समुद्र तट पर मकर ने निगल लिया था।

बस इससे अधिक मीमांसा-प्रवक्ता जैमिनि के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

मीमांसा के भाष्यकार

विंशति-अध्यायात्मक मीमांसा के एकशास्त्रत्व को स्वीकार करके कुछ आद्य व्याख्याताओं ने पूरे २० अध्यायों पर व्याख्याएं लिखी थीं। तदनन्तर कुछ व्याख्याताओं ने उत्तरमीमांसा (=ब्रह्मकाण्ड) को छोड़कर षोडश अध्यायात्मक पूर्वमीमांसा पर व्याख्याएं लिखीं। अन्तिम भाष्यकार शबरस्वामी ने संकर्षकाण्ड को छोड़कर शेष द्वादशाध्यायी पर ही अपना भाष्य लिखा। इस विषय का वर्णन अज्ञातनामा प्रपञ्च-हृदयकार ने इस प्रकार किया है—

"तस्य विंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटिनामधेयं भाष्यं बोधायनेन कृतम्। तद्ग्रन्थबाहुल्याद् उपेक्ष्य किञ्चित् संक्षिप्तम् उपवर्षेण कृतम्। तदपि मन्दमतीन् प्रति दुष्प्रतिपादं विस्तीर्णत्वादित्युपेक्ष्य षोडशलक्षणपूर्वमीमांसाशास्त्रमात्रस्य देवस्वामिनाऽतिसंक्षिप्तम्। भवदासेनापि कृतं जैमिनीयभाष्यम्। पुनर्द्विकाण्डे धर्ममीमांसाशास्त्रे पूर्वस्य तन्त्रकाण्डस्याचार्यशबरस्वामिनातिसंक्षेपेण संकर्षकाण्डं द्वितीयमुपेक्ष्य कृतं भाष्यम्। तथा च देवताकाण्डस्य संकर्षेण।

---

१. इस श्लोक का पाठान्तर देखें—संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १८८, टि० १, (संवत् २०३०)।

ब्रह्मकाण्डस्य भगवत्पादब्रह्मदत्तभास्करादिभिर्मतभेदेनापि कृतम् । तथा शाबरभाष्यं वाक्यार्थभेदमभ्युपगम्य भट्टप्रभाकराभ्यां द्विधा व्याख्यातम्—तत्र भावनापरत्वेन भट्टकुमारेण, नियोगपरतया प्रभाकारेण ।"

अर्थात्—बीस अध्यायनिबद्ध मीमांसाशास्त्र का 'कृतकोटि' नाम का भाष्य **बोधायन** ने लिखा था । उसके अति विस्तृत होने से **उपवर्ष** ने उसे कुछ संक्षिप्त किया । वह भी विस्तीर्ण होने से मन्दमतिवाले अध्येताओं के लिये दुष्कर होने से १६ अध्यायात्मक पूर्वमीमांसाशास्त्रमात्र का देवस्वामी ने अतिसंक्षिप्त भाष्य रचा । भवदास ने भी जैमिनीयशास्त्र का भाष्य लिखा । फिर दो विभागवाले धर्ममीमांसाशास्त्र में द्वितीय संकर्षकाण्ड की उपेक्षा करके पूर्वतन्त्रकाण्ड का शबरस्वामी ने अतिसंक्षेप से भाष्य किया । तथा देवताकाण्ड का संकर्ष ने भाष्य रचा । ब्रह्मकाण्ड का भगवान् ब्रह्मदत्त भास्कर आदि ने मतभेद से व्याख्यान किया । तथा शाबरभाष्य का वाक्यार्थ-भेद को स्वीकार करके भट्टकुमारिल और प्रभाकर ने दो प्रकार से व्याख्यान किया—भावनापरत्व को स्वीकार करके भट्टकुमारिल ने, तथा नियोगपरता से प्रभाकर ने ।

इस प्रकार पूर्वमीमांसा के बोधायन, उपवर्ष, देवस्वामी, भवदास और शबरस्वामी इन ५ प्राचीन व्याख्याकारों का प्रपञ्च-हृदयकार ने उल्लेख किया है । इनका हम क्रमशः संक्षिप्त परिचय नीचे दे रहे हैं—

१—बोधायन

बोधायन आर्षयुग के अन्तिम ग्रन्थकार हैं । इनकी श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र के प्रवचन की शैली ब्राह्मण-प्रवचन शैली के निकट है, और अन्य श्रौत तथा गृह्यसूत्रों की अपेक्षा विस्तृत भी है । बोधायन नाम का **बौधायन** पाठान्तर भी है । दोनों में बोध शब्द से नडादि(अष्टा० ४।१।९९) गण को आकृतिगण मानकर फक् होता है । यद्यपि पाणिनीय मतानुसार फक् प्रत्यय को मानकर नित्य वृद्धि प्राप्त होती है, तथापि शिष्ट प्रयुक्त अन्य कतिपय शब्दों में **संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः** नियम से नित्य वृद्धि का अभाव भी देखा जाता है । यथा—अग्निवेश+यञ्=**अग्निवेश्य, आग्निवेश्य** (तै० प्राति० ९।४) । पुष्करसत्+इञ्=**पुष्करसादि, पौष्करसादि** (द्र०—हि० के० गृह्य, अग्निवेश्य गृह्य, आप० धर्म०[1]) । और सेनापति+यक्=**सेनापत्यम्** (मनुस्मृति का प्राचीन पाठ), **सैनापत्यम्** । बोधायन और बौधायन नामों में ग्रन्थकार के रूप में बोधायन नाम ही अधिक प्रसिद्ध है । बोधायनप्रोक्त श्रौत गृह्य और धर्मसूत्रों के अतिरिक्त कतिपय अन्य ग्रन्थों के नाम भी उपलब्ध होते हैं ।

प्रपञ्च-हृदयकार के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भगवान् बोधायन ने २० अध्यायात्मक सम्पूर्ण मीमांसाशास्त्र पर **कृतकोटि** नाम की अति विस्तृत व्याख्या लिखी थी । आचार्य

---

१. द्र०—संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १०२, १०३ (संवत् २०३० संस्करण) । पौष्करसादिरेव पुष्करसादिः, वृद्ध्यभावश्छान्दसः । हरदत्त टीका, आप० धर्म० १।१९।७।।

रामानुज ने भी वेदान्तसूत्र की व्याख्या में बोधायन वृत्ति का उल्लेख किया है।[1] आचार्य वेदान्त-देशिक ने भी सेश्वरमीमांसा १।१।५ की व्याख्या के अन्त में बोधायनकृत मीमांसावृत्ति को स्मरण किया है।[2]

२—उपवर्ष

भगवान् उपवर्ष आचार्य पाणिनि के गुरु वर्ष के अनुज थे। यह भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। उपवर्ष आचार्य दर्शनशास्त्रीय वाङ्मय में **वृत्तिकार** नाम से प्रसिद्ध थे। भगवान् पाणिनि का प्रादुर्भाव विक्रम से लगभग २९०० वर्ष पूर्व आर्षयुग के अन्त में हुआ था। इस विषय में हमने पाश्चात्य मतों की आलोचनापूर्वक भारतीय वाङ्मय के बाह्य साक्ष्य और अष्टाध्यायी के अन्तः साक्ष्य के आधार पर 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १९०–२०५, संवत् २०३० संस्करण) में विस्तार से लिखा है। इस आधार पर उपवर्ष आचार्य का भी लगभग यही काल जानना चाहिये। प्रपञ्च-हृदयकार के लेखानुसार उपवर्ष ने बोधायन-भाष्य का ही संक्षेप किया था।

विचारणीय अंश—प्रपञ्च-हृदयकार ने **कृतकोटि** नाम बोधायनरचित मीमांसाभाष्य का लिखा है। परन्तु कोशकार 'कृतकोटि' उपवर्ष का नामान्तर दर्शाते हैं। त्रिकाण्डशेषकार तथा केशव ने लिखा है—

उपवर्षो हलभूतिः कृतकोटिरयाचितः।

वैजयन्तीकार ने लिखा है—

हलभूतिस्तूपवर्षः कृतकोटिः कविश्च सः। भूमिकाण्ड ब्राह्मणा० १५४।

दण्डी भी अवन्तिसुन्दरी-कथा पृष्ठ १८२ में लिखता है—

कृतकोटिशब्दमलभतोपवर्षः।

इन प्रमाणों से प्रपञ्च-हृदयकार का बोधायनकृत भाष्य का नाम **कृतकोटि** सन्दिग्ध हो जाता है। वैसे भी 'कृतकोटि' नाम ग्रन्थ का उपपन्न नहीं होता। बहुव्रीहिसमासानुसार उपवर्ष का सम्भव है। हमारे पास अवन्तिसुन्दरी-कथा नहीं है, परन्तु ऊपर जो दण्डी का उद्धरण दिया है, उससे ज्ञात होता है कि दण्डी ने कृतकोटि नाम का कुछ कारण भी लिखा था।

इतना ही नहीं, हमें बोधायन के भाष्यकार होने में भी सन्देह है। बोधायन का नाम रामानुज आचार्य और प्रपञ्च-हृदयकार के द्वारा ही स्मृत है। तीसरा आचार्य वेदान्तदेशिक है

---

१. भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः। तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते। श्रीभाष्य १।१।१॥

२. उभयाभिप्रायवादी भगवान् बोधायनो विंशतिलक्षणीं मीमांसां परस्परसंगमार्थं विस्तरेण व्याख्यद् इति वृद्धा विदामासुः। सेश्वरमीमांसा, पृष्ठ ४५॥

(द्र०—सेश्वरमीमांसा १।१।५, पृष्ठ ४५)। यह बोधायन और उपवर्ष को एक व्यक्ति मानता है, यह अनुपद लिख रहे हैं। इनसे अन्यत्र बोधायन का नाम नहीं मिलता। उधर वृत्तिकार उपवर्ष के नामनिर्देशपूर्वक मत शाबरभाष्य और शाङ्करभाष्य में बहुत्र उपलब्ध होते हैं। रामानुज आचार्य ने उपवर्ष का कहीं साक्षात् निर्देश नहीं किया। सम्भवतः इसी उलझन को सुलझाने के लिये आचार्य वेदान्तदेशिक ने **वृत्तिकारस्य बोधायनस्यैव उपवर्ष इति स्यान्नाम** लिखकर दोनों नाम एक आचार्य के मानने का सुझाव दिया है। परन्तु यह वैष्णव मतानुयायी प्रपञ्च-हृदयकार के लेख से ही कट जाता है। उसने बोधायन और उपवर्ष दोनों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है। हमारा विचार तो यही है कि बोधायन ने २० अध्यायात्मक पूर्वोत्तरमीमांसा पर कोई भाष्य नहीं लिखा। बोधायन के निर्देशक रामानुज और प्रपञ्च-हृदयकार दो वैष्णव-ग्रन्थकार ही हैं। प्रपञ्च-हृदयकार द्वारा वेदान्त पर शाङ्करभाष्य का संकेत न करना भी उसके मताग्रह का ही द्योतक है। और यदि बोधायन के भाष्य की सत्ता मान लें, तो भी कृतकोटि नाम तो निश्चय ही उपवर्ष का है, बोधायन के भाष्य का नहीं है, इतना तो मानना ही होगा।

उपवर्ष की वृत्ति के नामोल्लेखपूर्वक उद्धरण

(१) **देवस्वामी** ने संकर्षकाण्ड ४।२।१६ के भाष्य में वृत्तिकार का मत उद्धृत किया है—

वृत्तिकारोऽप्येतमर्थं वर्णयाञ्चकार 'विकारो देवतापनयः' इत्यत्र।

(२) **शाबरभाष्य** में उपवर्ष की वृत्ति के निम्न उद्धरण उपलब्ध होते हैं—

१—वृत्तिकारस्तु अन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयाञ्चकार—तस्य निमित्तपरीष्टिरित्येवमादिम्…। मीमांसाभाष्य १।१।५॥

२—अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः। १।१।५॥

३—तच्चैतद् वृत्तिकारेणोदाहरणोपदेशेनाख्यातम्। २।१।३२॥

४—वृत्तिकारस्तु शिष्यहितार्थं प्रपञ्चितवान्—इतिकार बहुलम् ··। २।१।३३॥

५ - वृत्तिकारवचनात् प्रतिज्ञां संशयं चावगच्छामः। अत्रभगवानाचार्यः इदमुदाहृत्य ··· ।२।१।१६॥

इत्यादि अनेकत्र शाबरभाष्य में वृत्तिकार उपवर्ष के मत उद्धृत हैं।

(३) **आचार्य शंकर** ने उपवर्षकृत वृत्ति के निम्न उद्धरण दिये हैं—

१—वर्णा एव तु शब्दा इति भगवान् उपवर्षः। १।३।२८॥

२—अतएवोपवर्षाचार्येण प्रथमतन्त्रे आत्माभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः। ३।३।५३॥

(४) **पार्थसारथि मिश्र** श्लोकवार्तिक के **वृत्तिकारेण लक्षणे** (प्रत्यक्षसूत्र १।१।४, श्लोक १३) की व्याख्या में लिखता है—

तथा च वक्ष्यति वृत्तिकारः—यदाभासं विज्ञानं तेन सम्प्रयोग इति । तत्त्वरत्नाकर, पृष्ठ १३६।

(५) सेश्वरमीमांसाकृत् वेदान्तदेशिक लिखता है—

यत्तूपवर्षवृत्तौ—तस्य निमित्तपरीष्टिर्न कर्तव्येति…। पृष्ठ २२।

(६) सायणाचार्य ने अथर्ववेदभाष्य की भूमिका में मीमांसा-कल्पाधिकरण (१।३।अधि० ७) में निर्दिष्ट उपवर्षाचार्य का वचन इस प्रकार उद्धृत किया है—

तदुक्तम् उपवर्षाचार्यैः कल्पसूत्राधिकरणे—

नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः[1] ।
तुर्य आङ्गिरसकल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः ॥

इत्यादि अनेक ग्रन्थों में वृत्तिकार उपवर्ष की विंशत्यध्यायात्मक मीमांसावृत्ति के उद्धरण उपलब्ध होते हैं।

३—देवस्वामी

प्रपञ्च-हृदय के पूर्वनिर्दिष्ट उद्धरण के अनुसार देवस्वामी ने जैमिनीय षोडशाध्यायी मीमांसा पर संक्षिप्त व्याख्या लिखी थी। सम्प्रति देवस्वामी की संकर्षकाण्ड पर ही व्याख्या मिलती है। मद्रास विश्वविद्यालय से सन् १९६५ में यह व्याख्या प्रकाशित हुई है।

वेदान्त-कल्पतरु-परिमल ३।३।४३ (पृष्ठ ८३९) में संकर्षकाण्ड २।२।३७ का **देवस्वामी** का भाष्य भवस्वामी के नाम से उद्धृत है। क्या परिमल में लेखक-दोष से देवस्वामी के स्थान पर भवस्वामी लिखा गया है ?

देवस्वामी ने आश्वलायन श्रौत गृह्य तथा बोधायन श्रौत की व्याख्याएं भी लिखी थीं। भवस्वामी के नाम से भी इन ग्रन्थों के व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यद्यपि हमने दोनों नामों से उपलब्ध व्याख्याओं का तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया, फिर भी कई कारणों से हमारी सम्भावना दृढ हो रही है कि देवस्वामी और भवस्वामी एक व्यक्ति के ही नाम थे। भवस्वामी ने तैत्तिरीय-संहिता की भी व्याख्या की थी।

शाकपूणिः—देवस्वामी ने संकर्षकाण्ड २।२।५ के भाष्य में आचार्य शाकपूणि का मत इस प्रकार उद्धृत किया है—देवतामिष्ट्वा अग्निरिति शाकपूणिः। पृष्ठ ७९।

वृत्तिकार—देवस्वामी ने संकर्षकाण्ड ४।२।१९ के भाष्य में वृत्तिकार का मत उद्धृत किया है - वृत्तिकारोऽप्येतमर्थं वर्णयाञ्चकार—'विकारो देवतापनयः' इत्यत्र (पृष्ठ १९३)। ['विकारो देवतापनयः' वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ। सम्भव है यहां पाठभ्रंश होवे।]

---

१. संहिताविधि-कल्प के विषय में उक्त श्लोक के अनन्तर इस प्रकार लिखा है—'तत्र सांकल्येन-संहितामन्त्राणां शान्तिपौष्टिकादिषु कर्मसु विनियोगविधानात् संहिताविधिर्नाम कौशिकं सूत्रम्'।

देवस्वामी भाष्य खण्डित—मद्रास विश्वविद्यालय से देवस्वामी का जो भाष्य छपा है, उसक ३।२।१ के भाष्य में लिखा है—

अस्मिन् पादे 'अपूर्वत्वात् तथा सोमे' (३।१।२९ के आगे, पृष्ठ १२७) **इत्यारम्य आपादसमाप्तेः भावदासमेव भाष्यम्।** पृष्ठ १३२।

इससे स्पष्ट है कि देवस्वामी के भाष्य में कुछ भाग त्रुटित हो गया था। मातृका लेखक ने भवदास कृत भाष्य को जोड़कर ग्रन्थ पूरा किया है।

४—भवदास

भवदासकृत षोडशाध्यायी मीमांसाभाष्य का निर्देश प्रपञ्च-हृदयकार के पूर्व उद्धृत वचन में मिलता है। भवदासकृत मीमांसाभाष्य के आरम्भ के कतिपय उद्धरण श्लोकवार्तिक की टीकाओं में उपलब्ध होने हैं। संकर्षकाण्ड का जो देवस्वामी का भाष्य मद्रास विश्वविद्यालय से छपा है, उसमें कुछ भाग पर भवदासकृत भाष्य मुद्रित है। यह पूर्व देवस्वामीकृत भाष्य के प्रसङ्ग में लिख चुके हैं।

श्लोकवार्तिक और उसकी टीकाओं से विदित होता है कि शबरस्वामी ने प्रकारान्तर से भवदासकृत भाष्य का खण्डन किया था। यथा—

(१) शबरस्वामी ने प्रथम पङ्क्ति में ही लिखा है—

लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि तानि सति सम्भवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्, न अध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषयितव्यो वा।

अर्थात्—लोक में जो पद जिन अर्थों में प्रसिद्ध हैं, उनको यथासम्भव सूत्रों में भी उन्हीं अर्थवाला जानना चाहिये। अध्याहारादि के द्वारा सूत्रपदों के अर्थ की परिकल्पना अथवा परिभाषा नहीं करनी चाहिये।

भट्ट कुमारिल ने शबरस्वामी के उक्त शब्दों में पूर्ववृत्तिकार भवदास के प्रति उपालम्भ मानकर लिखा है—

> **वृत्त्यन्तरेषु केषाञ्चिल्लौकिकार्थव्यतिक्रमः।**
> **शब्दानां दृश्यते तेषाम् उपालम्भोऽयमुच्यते॥** प्रतिज्ञासूत्र ३३॥

अर्थात् किन्हीं प्राचीन वृत्तियों में कुछ शब्दों के लौकिकार्थ का व्यतिक्रम देखा जाता है। उनके प्रति 'लोके येषु' से भाष्यकार उपालम्भ देते हैं।

इसकी टीका में सुचरित मिश्र ने लिखा है—

केषाञ्चिद् भवदासादीनां वृत्त्यन्तरेषु शब्दानाम् अलौकिकोऽर्थ उपवर्णितः। श्लोकवार्तिक-टीका, भाग १, पृष्ठ १३।

पुनः अगले श्लोक की व्याख्या में सुचरित मिश्र लिखता है—

क्व पुनर्भवदासेनालौकिकार्थग्रहणं कृतम्, यदेवमुपालभ्यते । अत आह–अथातः ।……भवदासेनोक्तम्–अथात इत्ययं शब्द आनन्तर्ये प्रयुज्यते इति । तेनास्य पदसमुदायस्य तादर्थ्यं नर्ते परिभाषादिभिः सिद्ध्यतीति । भाग १, पृष्ठ १३–१४ ॥

दोनों उद्धरणों का भाव यह है कि—

किन्हीं भवदास आदि की वृत्तियों में शब्दों का अलौकिक अर्थ स्वीकार किया है ।·· कहां पर भवदास ने अलौकिक अर्थ का ग्रहण किया है, जिसके कारण ऐसा उपालम्भ दिया है । अतः कहा—अथातः ।···भवदास ने 'अथातः यह शब्द [समुदाय] आनन्तर्य अर्थ में प्रयुक्त होता है' ऐसा लिखा है । बिना परिभाषादि के इस पदसमुदाय का आनन्तर्य अर्थ सम्भव नहीं है ।

(२) भट्टकुमारिल ने प्रतिज्ञासूत्र (१।१।१) के ६३ वें श्लोक में स्पष्ट भवदास का नाम लेकर लिखा है—

समुदायादवच्छिद्य भवदासेन कल्पितात् ।

अर्थात्—भवदास ने अथातः पदद्वय को आनन्तर्य अर्थवाला कल्पित किया है (द्र०—सुचरित मिश्र टीका, भाग १, पृष्ठ ३१) ।

पार्थसारथि मिश्र ने श्लोकवार्तिक प्रत्यक्षसूत्र १।१।४ श्लोक १ की उत्थानिका में लिखा है–

भवदासेनैतत् सूत्रं द्विधा कृत्वा 'सत्सम्प्रयोगे इत्येवमादि तत्प्रत्यक्षम् इत्येवमन्तं' प्रत्यक्षलक्षणपरम्, अनिमित्तमित्यादि च तस्य धर्मं प्रत्यक्षनिमित्तत्वपरं व्याख्यातम् । तदुपन्यस्य दूषयति–वर्ण्यते इति । पृष्ठ १३३, १३४ ॥

अर्थात्–भवदास ने[**सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भत्वात्**] इस सूत्र को दो विभागों में बांटकर '**सत्संप्रयोगे**' से लेकर '**तत्प्रत्यक्षम्**' तक को प्रत्यक्ष लक्षणपरक, और **अनिमित्तम्** इत्यादि को उस धर्म के प्रति अनिमित्तत्वपरक व्याख्यान किया है । उसको दूषित करते हैं ।

(३) धूर्तस्वामी ने आप० श्रौत ७।१२।१० के भाष्य में लिखा है—

[उपाकृतहोमा] लौकिकादाज्यादिति भवदासमतिः । तस्य यूपाञ्जने प्रकृतत्वात् ।

अर्थात्—उपाकृत होम लौकिक आज्य से करने चाहियें, यह भवदास का विचार है । क्योंकि प्रकृत में लौकिक आज्य का यूप के अञ्जनकार्य में निर्देश है । धूर्तस्वामी ने भवदास का यह मत उसके मीमांसाभाष्य से ही गृहीत किया होगा । क्योंकि किसी श्रौत पर उसके व्याख्यान का निर्देश नहीं मिलता ।

इस प्रकार भवदासकृत मीमांसाभाष्य के अनेक उद्धरण हमें उपलब्ध होते हैं, जिनसे उसके भाष्य का स्वरूप कुछ इङ्गित होता है ।

भवदास के अनुयायियों द्वारा शाबरभाष्य का खण्डन—श्लोकवार्तिक प्रतिज्ञासूत्र श्लोक ४० की सुचरित मिश्र की टीका से जाना जाता है कि भवदास के अनुयायियों ने शबरस्वामी पर आक्षेप किया था कि **'यह अभिनवभाष्यकार [शबरस्वामी सूत्र के] पदच्छेद आदि नहीं करता, इसलिये यह सूत्रार्थ को नहीं जानता**, ऐसा भवदासतन्त्र के अनुयायियों ने ही यह प्रत्याख्यान [सूत्रार्थ] जानने की इच्छावालों के उत्साह को नष्ट करने के लिये किया है'।[1]

इससे इतना ध्वनित होता है कि शबरस्वामी के पश्चात् कुछ काल तक उसके भाष्य पर भवदास-व्याख्या के माननेवालों की ओर से आक्षेप होते रहे। अब तो भवदास-व्याख्या ही कथा-मात्र रह गई। अस्तु।

प्रपञ्च-हृदय में अनुक्त तीन मीमांसा-व्याख्याता

इनके अतिरिक्त शबरस्वामी से पूर्व तीन मीमांसा-व्याख्याकारों का परिज्ञान और होता है। उनके नाम हैं—**कृष्णद्वैपायन व्यास, भर्तृमित्र और भर्तृहरि**।

५—कृष्णद्वैपायन व्यास

कृष्णद्वैपायन व्यास ने जैमिनीय पूर्वमीमांसा पर भाष्य लिखा था, ऐसा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ-प्रकाश प्रथम संस्करण (संवत् १९३२, सन् १८७५), तथा द्वितीय परिशोधित संस्करण दोनों में लिखा है। उन्होंने तृतीय समुल्लास में **पठनपाठन-विधि** के प्रसङ्ग में दर्शनशास्त्रों के प्रकरण में लिखा है—**पूर्वमीमांसा पर व्यासमुनिकृत व्याख्या पढ़ें-पढ़ावें**[2]।

इसी प्रकार संस्कार-विधि, वेदारम्भप्रकरण के अन्त में पठन-पाठन के प्रसङ्ग में लिखा है—**तत्पश्चात् जैमिनिकृत सूत्र पूर्वमीमांसा को व्यासमुनिकृत व्याख्यासहित... पढ़ लेवें**।[3]

व्यासमुनिकृत मीमांसा-भाष्य के सम्बन्ध में हमें अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है।

६—भर्तृमित्र

भर्तृमित्र ने सम्पूर्ण २० अध्यायात्मक मीमांसाशास्त्र **की व्याख्या की थी**। उत्तरमीमांसा पर व्याख्या लिखने का निर्देश यामुनाचार्य ने **'सिद्धि-त्रय'** के आरम्भ में किया है (विशेष द्रष्टव्य—वेदान्तदर्शन का इतिहास, पृष्ठ २१३—२३०)। पूर्वमीमांसा सम्बन्धी ग्रन्थ का संकेत भट्टकुमारिल ने श्लोकवार्तिक के उपोद्घात श्लोक १० में इस प्रकार किया है—

> **प्रायेण हि मीमांसा लोके लोकायती कृता।**
> **तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया॥**

---

१. यतः पदच्छेदादि न करोति, तस्मान्नायमभिनवो भाष्यकारः सूत्रार्थं विजानीत इति भवदासतन्त्रोपजीविभिरेवैतं प्रत्याख्यापित बुभुत्सुजनोत्साहमपहन्तुमिति। भाग १, पृष्ठ १६॥

२. सत्यार्थप्रकाश, शताब्दी-संस्करण २, रामलाल कपूर ट्रस्ट, पृष्ठ ११९।

३. संस्कारविधि, शताब्दी-संस्करण, रामलाल कपूर ट्रस्ट, पृष्ठ १३१॥

अर्थात्—पूर्व व्याख्याकारों ने मीमांसा को प्रायः लोकायतशास्त्र (=नास्तिक-शास्त्र)[१] बना दिया था। उसको आस्तिक-पथ पर लाने के लिये मैंने यह प्रयत्न किया है।

इसकी व्याख्या में पार्थसारथि मिश्र लिखता है—

मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायता एव सती लोकायती कृतानित्य[विहित]निषिद्धयोरिष्टानिष्टफलं नास्तीत्यादिबह्वपसिद्धान्तपरिग्रहेणेति। पृष्ठ ४॥

पार्थसारथि मिश्र से प्राचीन श्लोकवार्तिक के व्याख्याकार उम्वेक ने इस विषय पर इस प्रकार लिखा है—

ननु वेदार्थग्रहणाविस्मरणार्थमपि तत्तद् भर्तृमित्रविरचिततत्त्वशुद्ध्यादिलक्षणप्रकरणमस्त्येवेति गतार्थमिदं वाक्यमत आह—प्रायेणेति। ···सैवमात्मिका अलोकायता एव सती बाहुल्येन लोकायती कृता। सत्स्मृतिसदाचाराणां विना कारणेन धर्मत्वनिराकरणात् विधिनिषेधयोरिष्टानिष्ट फलानभ्युपगमाच्च ··। पृष्ठ ३॥

दोनों का भाव यह है कि भर्तृमित्र आदि ने तत्त्वशुद्धि आदि ग्रन्थों के द्वारा अलोकायत मीमांसा को लोकायती बना दिया, सत्स्मृति सदाचार आदि का बिना कारण धर्मत्व के निराकरण और विधिनिषेध के इष्ट-अनिष्ट फलों के अस्वीकार करने से।

श्लोकवार्तिक के टीकाकारों का उक्त कथन हमारी समझ में नहीं आता। कोई भी वेद-मतानुयायी मीमांसक ऐसा नहीं हो सकता, जो सत्स्मृति और सदाचार को धर्म से बाहर कर दे, और विधिनिषेध के इष्टानिष्ट फल को अस्वीकृत करे। अतः हम समझते हैं कि भर्तृमित्र के इस निर्देश में कोई गूढ़ अभिप्राय है, जिसको टीकाकारों ने आंखों से जान-बूझकर ओझल कर दिया है। उनकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

१. आज भी स्मृतिवचनों के चक्कर में पड़कर अनेक धर्माभिनेता **अष्टवर्षा भवेद् गौरी** आदि वचनों को प्रमाण मानकर कन्याओं के छोटी आयु में विवाह के पक्ष का पोषण करते हैं। और **स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्** को प्रमाण मानकर स्त्रीशूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं देते।

२. इसी प्रकार सदाचार के नाम पर कुछ समय से चली आ रही रूढ़ियों वा रीति-रिवाजों के परिपालन का आग्रह किया जाता है। यथा—स्ववर्णमात्र में परस्पर खान-पान न करना, दहेज आदि का देना-लेना।

३. विधि-निषेध की स्थिति भी ऐसी ही है। प्रत्येक यज्ञीय कर्म में विधि-निषेध की आड़ में पुण्य-पाप की भावना पर बल देना भी अनुचित है। यथा—'यज्ञ में अमुक पात्र अमुक स्थान पर रखना चाहिये' इस विधि से यह स्वीकार करना कि यथोचित स्थान में पात्र रखने से ही अदृष्ट होगा, और अन्य स्थान में रखने से पाप होगा आदि मानना व्यर्थ है (यज्ञीय विधि-निषेध के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिये आगे 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' प्रकरण देखें)। मीमांसाशास्त्र न्याय-

१. लोकायतं नाम नास्तिकानां तन्त्रम्। सुचरित मिश्र कृत टीका भाग १, पृष्ठ ४।

शास्त्र है। अतः वह न्याय्य कर्म की ही पुष्टि कर सकता है, अन्याय्य की पुष्टि वह कभी नहीं करेगा। इस दृष्टि से मीमांसा अ० १, पाद ३, सूत्र १–७ के **स्मृतिप्रामाण्याधिकरण, श्रुतिप्राबल्याधिकरण, दृष्टमूलकस्मृत्यप्रामाण्याधिकरण, पदार्थ-प्राबल्याधिकरण** विशेष महत्त्व के हैं। इनमें अनेक स्मृति वा सदाचाराभासों के धर्मत्व का निराकरण बड़ी प्रबलता से किया है। इसी प्रकार इसी प्रकरण के सूत्र ११–२३ तक **कल्पसूत्रों के स्वतः अप्रामाण्याधिकरण** आदि भी महत्त्वपूर्ण हैं।

इस दृष्टि से हमारा विचार है कि भर्तृमित्र ने उनके समय धर्म सदाचार वा श्रुति के नाम पर जो कदाचार देश जाति और समाज में व्याप्त था, सम्भवतः उसके उन्मूलन का प्रयत्न किया हो। उस समय की स्थिति को ध्यान में रखकर यह भी कहा जा सकता है कि भर्तृमित्र ने धर्म के नाम पर यज्ञीय पशु-हिंसा का विरोध किया हो।

इस प्रसङ्ग में हम शबरस्वामी द्वारा की गई ४८ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण-विषयक वाक्य की समीक्षा की ओर भी ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं—

प्रायः सभी गृह्य और धर्मसूत्रों में प्रतिवेद द्वादश वर्ष ब्रह्मचर्य, अर्थात् ४ वेदों के लिये ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य रखने का विधान उपलब्ध होता है। इतना ही नहीं, गोपथ-ब्राह्मण १।२।५ में स्पष्ट कहा है—

तस्मा एतत्प्रोवाच—अष्टाचत्वारिंशद् वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्यम्।

गोपथ-ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों के समान शबरस्वामी के लिये अपौरुषेय वेद है। फिर भी वह मीमांसा १।३।३ के भाष्य में लिखता है—

अष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यचरणं, जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्निनाऽऽधीत इत्यनेन विरुद्धम्।

अर्थात्–अड़तालीस वर्ष का ४ वेदों के लिये ब्रह्मचर्य धारण करना 'पुत्रवान् काले केशोंवाला अग्नियों का आधान करे' इस वचन से विरुद्ध है। क्योंकि ४८ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करके गृहस्थ होने, और पुत्र उत्पन्न होने तक वह कृष्ण केश नहीं रहेगा, सफेद बालोंवाला हो जायेगा।

४८ वर्षीय ब्रह्मचर्यधारण की प्रवृत्ति लोक में प्रचलित कैसे हुई, यह भी शबरस्वामी के शब्दों में सुनिये—

अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्तश्चाष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरितवन्तः, तत एषा स्मृतिः। शाबरभाष्य १।३।४॥

अर्थात्–किन्हीं ने अपनी नपुंसकता को छिपाते हुये ४८ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य का आचरण किया होगा। उससे यह ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य की स्मृति चल पड़ी।

यदि वर्तमान मीमांसक-सम्प्रदाय में प्रमाणभूत आचार्य शबरस्वामी, गोपथ-ब्राह्मण और

गृह्य वा धर्मसूत्रोक्त ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य की ऐसी अप्रामाणिक आलोचना कर सकता है, तो भर्तृमित्र ने यदि वैदिकधर्म में घुसी हुई किन्हीं अवैदिक रूढ़ियों की आलोचना की, तो उसने कोई पहाड़ नहीं ढा दिया। उसे तो उलटा मीमांसाशास्त्र को निर्मल एवं प्रमाणार्ह बनाने का श्रेय देना चाहिये।

हमारे विचार में भर्तृमित्र का कार्य उस समय वैसा ही महत्त्वपूर्ण रहा होगा, जैसे वर्तमान युग में वेद और आर्ष वाङ्मय के प्रति परम आस्थावान् स्वामी दयानन्द ने अवैदिक रूढियों के खण्डन का किया है। यदि भर्तृमित्र का मीमांसाभाष्य वा तत्त्वशुद्धि-प्रकरण का कुछ भी अंश उपलब्ध हो जाता, तो प्राचीन कर्मकाण्ड पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता।

भर्तृमित्र का एक उद्धरण जयन्त भट्ट ने शब्द-विषयक मीमांसकपक्ष के रूप में न्यायमञ्जरी पृष्ठ २१३, २२६ (मैडिकलहाल प्रेस, बनारस) पर दो स्थानों में उद्धृत किया है। यथा—

तथा च भर्तृमित्रः—पवनजनितसंस्कारपक्षो भवतु तथाऽपि नातिप्रसङ्गः, नियतदेशस्यैव तत्र संस्कारात्। पृष्ठ २१३॥

जयन्त भट्ट ने पुनः पृष्ठ २२६ पर इसी मत को ही उपस्थित करके इसका खण्डन किया है।

उम्बेक ने भर्तृमित्र के ग्रन्थ का नाम तत्त्वशुद्धि लिखा है, और उसे प्रकरण-ग्रन्थ कहा है। परन्तु जयन्त-उद्धृत वचन भर्तृमित्र के मीमांसा के शब्दनित्यता अधिकरण (१।१) भाष्यग्रन्थ से उद्धृत किया गया है। यह उद्धरण के प्रकार से ही स्पष्ट है। इस प्रकार भर्तृमित्र ने मीमांसा पर अपना भाष्य लिखा था, और यज्ञयाग सम्बन्धी कुछ विषयों के सम्बन्ध में **तत्त्वशुद्धि** ग्रन्थ में विचार किया होगा।

७—भर्तृहरि

विंशति अध्यायात्मक मीमांसा के उत्तर भाग ब्रह्ममीमांसा (वेदान्तदर्शन) पर भर्तृहरिकृत भाष्य का निर्देश यामुनाचार्य ने 'सिद्धि-त्रय' नामक ग्रन्थ में किया है (विशेष द्र०—वेदान्तदर्शन का इतिहास, पृष्ठ २६८–२८२)। पूर्वमीमांसा पर भर्तृहरिकृत भाष्य का साक्षात् उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु महाभाष्य-दीपिका में कुछ स्थलों पर मीमांसकों के विशेष मतों का उल्लेख मिलता है। भर्तृहरि के वचन इस प्रकार हैं—

१. सिद्धा द्यौः सिद्धा पृथिवी सिद्धमाकाशमिति। आर्हतानां मीमांसकानां[1] च नैवास्ति विनाश एषाम्। पृष्ठ २२, पूना संस्करण।

---

१. तुलना करो—येषां तावदियं नित्यैव लोकस्य विभागेन प्रवृत्तिः, नैव काचिद् युगमन्वन्तर-व्यवस्था, नापि ब्रह्मणोऽसाधारणः कश्चिदहोरात्रप्रविभागो विद्यत इति दर्शनम्। भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड १४५ कारिका की स्वोपज्ञटीका।

२. अन्ये वर्णयन्ति—यदुक्तं 'शब्दस्य परार्थत्वात्' (मी० १।१।१८) अपि प्रवृत्तत्वादिति। यदेव तेन भाष्येणोक्तमिति—कार्याणां वाग्विनियोगादप्यन्यद् दर्शनान्तरमस्ति। उत्पत्तिं प्रति तु अस्य यद्दर्शनं योपलब्धिः या निष्पत्तिः सा परार्थरूपा इव, नहि परार्थता शून्यः कालः क्वचिदस्ति। तस्मादेतत् प्रतिपत्तव्यम्—अवस्थित एवासौ प्रयोक्तृकरणादिसन्निपातेन अभिव्यज्यत इति। पृष्ठ २६, पूना संस्करण।

३. धर्मप्रयोजनो वेति मीमांसकदर्शनम्। अवस्थित एव धर्मः। स त्वग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते। तत्प्रेरितस्तु फलदो भवति। यथा स्वामी भृत्यैः प्रेर्यते। पृष्ठ ३८, पूना संस्करण।

४. श्रुतेरर्थाच्च पाठाच्च प्रवृत्तेश्च मनीषिणः।
स्थानान्मुख्याच्च धर्माणामाहुः क्रमविदः क्रमान्॥

श्रुतेः क्रममाहुः—हृदयस्याग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वाया अथ वक्षसः। अथ शब्द आनन्तर्यार्थस्य द्योतकः श्रूयते। तत्रेदं कृत्वा इदं कर्तव्यमिति क्रमप्रवृत्तिः। अर्थक्रमः–यदाप्येवमुच्यते–'देवदत्तं भोजय स्नापय अनुलेपयोद्वर्तय अभ्यञ्जय' इति। अर्थात् क्रमो नियम्यते—अभ्यञ्जनम् उद्वर्तनम् स्नापनम् अनुलेपनम् भोजनमिति। पाठक्रमो नियतानुपूर्वीकेषु वेदवाक्येषु अनेकार्थोपादाने उद्देशिनामनुदेशिनां च सकृदर्थित्वेन व्यवतिष्ठते। यथा स्मृतौ परिमार्जनप्रदाहनेक्षणनिर्णेजनानि तैजसमत्रिकद्वारवतामिति। पृष्ठ २७४, पूना संस्करण।

पूना संस्करण में अन्तिम वाक्य अशुद्ध छपा है। हमने उसे शुद्ध करके दिया है। (द्र०—संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३८६, संवत् २०३०)।

इन चार उद्धरणों में मीमांसाशास्त्र के कई विशेष मतों का उल्लेख है। यथा—

१—इस उद्धरण से स्पष्ट है कि मीमांसकों का जगत् को अनादि मानना सिद्धान्त भर्तृहरि से प्राचीनकाल से चला आ रहा है।

२—दूसरे उद्धरण में भर्तृहरि ने शब्दस्य परार्थत्वात् (१।१।१८) इस मीमांसासूत्र की किसी प्राचीन व्याख्या को उद्धृत किया है।

३—तृतीय उद्धरण में मीमांसाशास्त्र के चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (१।१।२) सूत्रप्रतिपादित धर्म के स्वरूप का वर्णन किया है। इसमें धर्म को नित्य अवस्थित तत्त्व माना है, और अग्निहोत्रादि कर्मों को उसका अभिव्यञ्जक कहा है। भर्तृहरि उक्त इस धर्मस्वरूप की तुलना जयन्तभट्ट के निम्न उद्धरण के साथ कीजिये—

वृद्धमीमांसका यागादिकर्मनिर्वर्त्यमपूर्वं नाम धर्ममभिवदन्ति। यागादिकर्मैव शाबरा ब्रुवते। न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २७६ (लाजरस प्रेस, संस्करण)।

जयन्त के वचनानुसार शबरस्वामी के अनुयायी यागादि को ही 'धर्म' मानते हैं, और वृद्ध-मीमांसक (=शबर से प्राचीन) यागादि कर्म से उत्पन्न होनेवाले अपूर्व को 'धर्म' कहते हैं। परन्तु भर्तृहरि उद्धृत मीमांसक मत के अनुसार धर्म निर्वर्त्य=उत्पाद्य नहीं है। वह अवस्थित है, नित्य

है। यागादिकर्मों से तो उसकी अभिव्यक्तिमात्र होती है। इस तुलना से स्पष्ट है कि भर्तृहरि-उद्धृत मीमांसक मत शबरस्वामी से प्राचीन वृद्ध मीमांसकों से भी पूर्वतन है। इस प्रकार निश्चय ही भर्तृहरि शबरस्वामी से बहुत पूर्ववर्ती है।

४—चतुर्थ उद्धरण में मीमांसा अ० ५, पाद १ में प्रतिपादित प्रवृत्तिक्रम का संक्षेप से वर्णन किया है।

ये उद्धरण तो भर्तृहरि के केवल महाभाष्यदीपिका से दिये हैं। उसके वाक्यपदीय तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्ति में मीमांसा के अनेक सिद्धान्तों का तलस्पर्शीय विवेचन मिलता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट है कि भर्तृहरि पूर्वमीमांसाशास्त्र का अद्भुत विद्वान् था।

मीमांसाभाष्य की उपलब्धि—श्री पं० भगवद्दत्त जी ने सन् १९३१ में 'वैदिक-वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थ के 'वेदों के भाष्यकार' नामक भाग में लिखा था—

'अभी-अभी अध्यापक रामकृष्ण कवि ने सूचना भेजी है कि **भर्तृहरि की मीमांसावृत्ति के कुछ भाग मिले हैं।** वे शबर से पहले हैं।' पृष्ठ २०६, (सन् १९३१), नया संस्करण, पृष्ठ २०१ (सन् १९७६)।

यह भर्तृहरिकृत मीमांसावृत्ति न श्री पं० भगवद्दत्त जी को देखने को मिली, और न हमें। इस का कारण श्री अध्यापक रामकृष्ण कवि का शीघ्र स्वर्गवास होना है। इस वृत्ति का यदि अन्वेषण किया जाये, तो अवश्य उपलब्ध हो सकती है।

भर्तृहरि ने उत्तरमीमांसा पर भी व्याख्या लिखी थी। यामुनाचार्य ने 'सिद्धि-त्रय' ग्रन्थ में अन्य उत्तरमीमांसा-व्याख्याकारों के साथ भर्तृहरि का उल्लेख भी किया है। इस विषय में विशेष देखें—वेदान्तदर्शन का इतिहास, पृष्ठ २६८–२८२।

भर्तृमित्र और भर्तृहरि का काल—इन दोनों के विषय में जो तथ्य विदित हुये हैं, उनसे जाना जाता है कि इन दोनों आचार्यों ने विंशत्यध्यायात्मक पूर्णमीमांसाशास्त्र का व्याख्यान किया था। देवस्वामी ने १६ अध्याय तक ही किया है, इससे प्रतीत होता है कि विंशत्यध्यायात्मक कृत्स्न मीमांसा के व्याख्याता ये दोनों आचार्य उपवर्ष के उत्तरवर्ती और देवस्वामी से पूर्ववर्ती रहे होंगे। पूर्व 'धर्मस्वरूप' के विषय में जो तुलना प्रस्तुत की है, उससे भी यही विदित होता है कि भर्तृहरि शबरस्वामी से बहुत पूर्ववर्ती हैं[1]। हमारा विचार है कि भर्तृमित्र और भर्तृहरि का काल विक्रम

---

१. भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड १४४वीं कारिका की स्वोपज्ञवृत्ति में लिखा है—**तत्र केचिदाचार्या मन्यन्ते—न प्रकृत्या किञ्चित् कर्म दृष्टमदृष्टं वा। इस में यदि भर्तृमित्र के 'नित्य[विहित]निषिद्धयोरिष्टानिष्टफलं नास्ति'** मत की ओर निर्देश हो (द्र०—पूर्व पृष्ठ ३० में पार्थसारथि मिश्र और उम्वेक के उद्धरण), तो मानना पड़ेगा कि भर्तृहरि भर्तृमित्र से उत्तरवर्ती है।

से न्यूनातिन्यून ६–७ शताब्दी पूर्व होना चाहिये, क्योंकि शबरस्वामी का काल विक्रम से लगभग ५ शताब्दी पूर्व है (यह आगे लिखेंगे)।

प्राचीन वैदिक-वाङ्मय के व्याख्याकारों में 'भर्तृ' पूर्वपदघटित भर्तृप्रपञ्च भर्तृयज्ञ भर्तृमित्र भर्तृहरि नामवाले आचार्य विक्रमकाल से पर्याप्त प्राचीन है, और सम्भवतः समकालिक से हैं।

८—अज्ञातनामा वृत्तिकार

भट्ट कुमारिल ने **सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्** (मी० १।४।२९) के तन्त्रवार्तिक में लिखा है—**वृत्त्यन्तरे त्वत्रैव मन्त्रवर्णोऽप्युदाहृतः। तत्र तु घृतेन किं करिष्यते**। इसकी न्यायसुधा-व्याख्या में भट्ट सोमेश्वर ने लिखा है—**वृत्त्यन्तरोदाहृतमन्त्रवर्णोपेक्षणे भाष्यकृतोऽभिप्रायं प्राह**। भाग १, पृष्ठ ५२९॥

इससे विदित होता है कि भट्ट कुमारिल ने जिस वृत्त्यन्तर का संकेत किया है, वह भाष्यकार शबरस्वामी से प्राचीन है।

यह वृत्तिकार पूर्वनिर्दिष्ट वृत्ति वा भाष्य-रचयिताओं में अन्यतम है वा अन्य है, यह अज्ञात है।

९—शबरस्वामी

शबरस्वामी ने संकर्षकाण्ड को छोड़कर शेष द्वादशाध्यायी मीमांसा पर भाष्य की रचना की है। इस भाष्य का परिमाण २४ सहस्र श्लोक हैं[1]। सम्प्रति मीमांसा-वाङ्मय में सब से प्राचीन उपलभ्यमान शबरस्वामी का भाष्य ही है। हां, संकर्षकाण्ड पर सम्प्रति उपलब्ध हुआ देवस्वामी का भाष्य शबरस्वामी से पर्याप्त प्राचीन है।

शबरस्वामी के इतिवृत्त के विषय में कतिपय किंवदन्तियों के अतिरिक्त कुछ भी प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता।

शबरस्वामी का काल—आद्य शंकराचार्य ने उत्तरमीमांसा ३।३।५३ के भाष्य में नाम-निर्देशपूर्वक शबरस्वामी को स्मरण किया है—**'इत एवाऽऽकृष्याऽऽचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्**। इससे स्पष्ट है कि आचार्य शबरस्वामी शङ्कराचार्य से प्राचीन थे। शबरस्वामी शङ्कराचार्य से कितने प्राचीन थे, यह हम नहीं कह सकते। पुनरपि एक-डेढ़ शती पूर्व तो माना ही जा सकता है। क्योंकि भट्ट कुमारिल ने शाबरभाष्य पर श्लोकवार्तिक तन्त्रवार्तिक और टुप् टीका लिखी है। भट्ट कुमारिल का अन्तिम अवस्था स्वदेहविमोक के समय शङ्कराचार्य के साथ समागम हुआ था। यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है, और शङ्करदिग्विजय में भी उल्लिखित है। भट्ट कुमारिल ने श्लोकवार्तिक प्रतिज्ञासूत्र श्लोक २६ में लिखा है—

---

१. पुनरप्यर्ग्रेण शबरस्वामिना पूर्वमीमांसाशास्त्रस्य चतुर्विंशतिसहस्रै रतिसंक्षेपेण कृतम्। प्रपञ्च-हृदय, पृष्ठ ३९ पाठान्तर टि० ७।

लोक इत्यादि भाष्यस्य षडर्थान् संप्रचक्षते ।
भाष्यकारानुसारेण प्रयुक्तस्यादितः पृथक् ॥

अर्थात्—पूर्वं व्याख्याता **लोके येष्वर्थेषु** इत्यादि शाबरभाष्य के छः प्रकार के अर्थ कहते हैं। इससे विदित होता है कि शबरस्वामी और भट्ट कुमारिल के मध्य पर्याप्त काल का अन्तर था ।

शंकराचार्य का काल—भारतीय इतिहास में शङ्कराचार्य का काल निश्चित है । आद्य-शङ्कराचार्य स्थापित शारदा पीठ और काञ्चीकामकोटि पीठ की वंशावलियों में प्रत्येक आचार्य का नाम और उनकी स्थिति का काल लिखा हुआ उपलब्ध होता है । इन दोनों में अन्तर केवल इतना है कि शारदापीठ की वंशावली में युधिष्ठिर संवत् का प्रयोग है, और काञ्चीकामकोटि पीठ की वंशावली में कलि संवत् का । दोनों में ३८ वर्ष का अन्तर है । यह ध्यान में रखने योग्य है। शारदापीठ वंशावली के अनुसार आद्यशङ्कराचार्य का जन्म २६३१ युधिष्ठिर संवत् अर्थात् विक्रम से ४५२ वर्ष पूर्व है, और काञ्चीकामकोटि पीठ की वंशावली के अनुसार कलि संवत् २५९३ अर्थात् विक्रम संवत् से वही ४५२ वर्ष पूर्व ।

इस काल की पुष्टि अन्य दिशा से भी होती है । हरिस्वामी ने कलि संवत् ३०४७ अर्थात् विक्रम सं० २ में अवन्तिनाथ विक्रमार्क (=विक्रमादित्य) भूपति के धर्माध्यक्ष पद पर रहते हुये शतपथ-ब्राह्मण के प्रथम काण्ड पर व्याख्या लिखी थी । उसका लेख इस प्रकार है—

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः ।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम् ॥
यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै ।
चत्वारिंशच्च समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

प्राचीन लेखकों ने श्लोकनिर्दिष्ट ३०४७ कलि संवत् को ३७४० मानकर, तथा डा० लक्ष्मणस्वरूप ने सप्त का षट् पाठान्तर करके ३६४० कलि संवत् मानकर जो काल निर्धारित किया था, वह नये अनुसन्धानों से खण्डित हो चुका है । अब तो ३७४० अथवा ३६४० कलि संवत् अर्थ **अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः** चलनेवाले ऐतिहासिक ही मानते हैं।

हरिस्वामी अवन्तिनाथ संवत्प्रवर्तक विक्रमादित्य के समकालिक थे, इसकी पुष्टि लगभग १५ वर्ष पूर्व उज्जैन में मिले शिलालेख से भी होती है । द्र०—साप्ताहिक हिन्दुस्तान २८ अक्टूबर १९६४ ।

कलि संवत् ३०४७=विक्रम सं० २ में हरिस्वामी शतपथ-भाष्य में भट्ट कुमारिल के शिष्य प्रभाकर के मतानुयायियों का उल्लेख करता है । यथा—**अथवा सूत्राणि यथाविध्युद्देश इति प्राभाकराः—अपः प्रणयतीति** (हमारा हस्तलेख, पृष्ठ ५) ।

प्रभाकर के मत (=गुरु मत) को भाट्ट मत के प्रतिपक्ष रूप में मान्यता मिलने में अवश्य पर्याप्त समय लगा होगा । इस प्रकार प्रभाकर और कुमारिल को हरिस्वामी से १०० वर्ष प्राचीन तो मानना ही पड़ेगा ।

हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी के निरुक्तटीका के सहयोगी महेश्वर ने निरुक्त ८।२ की टीका में कुमारिल का एकवचन उद्धृत किया है—

तथा चोक्तं भट्टारकेणापि—

पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादि वचः श्रुतौ ।
रात्रिभोजनविज्ञानम् श्रुतार्थापत्तिरिष्यते ॥

यह वचन भट्ट कुमारिल के श्लोकवार्तिक अर्थापत्ति परिच्छेद का ५१ वां श्लोक है (काशी संस्करण पृष्ठ ४६३)।

इनसे इतना तो स्पष्ट ही है कि जब प्रभाकर और भट्ट कुमारिल विक्रमादित्य से पर्याप्त प्राचीन हैं, तब शंकराचार्य को विक्रम की ८—९ वीं शती में घसीटना कहां की बुद्धिमत्ता है ?

शङ्कराचार्य के काल के विषय में पं० उदयवीर जी शास्त्री कृत 'वेदान्तदर्शन का इतिहास' ग्रन्थ देखें। उसमें पाश्चात्य विद्वानों की सभी आपत्तियों का सयुक्ति और सप्रमाण निराकरण किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने बौद्ध-दार्शनिकों का भी जो समय निर्धारित किया है, वह भी सर्वथा मिथ्या है। इस दिशा में किसी भारतीय को विशेष प्रयत्न करना होगा। तभी यह ग्रन्थि खुलेगी।

शबरस्वामी और सत्याषाढ़ श्रौत-भाष्य—संस्कार-रत्नमाला भाग १, पृष्ठ ४५२ पर सत्याषाढीय श्रौतसूत्र के एक सूत्र के विषय में लिखा है—

व्याख्यातं चैतच्छबरस्वामिभिः—द्व्यामुष्यायणप्रसंगेनानित्यानाह—दत्तकेति । 'तावदेव नोत्तरसंततौ । प्रथमेनैव संस्काराः परिगृहीत्रा चेदुत्तरस्य पूर्वत्वात् तेनैवोत्तरत्र, तथा पितृव्येण चैकार्षेयेण ये जातास्ते परिग्रहितुरेव । इति ।

इस पर संस्कार-रत्नमालाकार भट्ट गोपीनाथ दीक्षित ने **'अस्य भाष्यस्यायमर्थः'** लिखकर शबरस्वामी कृत भाष्य का स्पष्टीकरण किया है। इससे कुछ लोगों का यह कहना है कि शबरस्वामी ने सत्याषाढ श्रौत का भाष्य रचा था। परन्तु हमें यह नहीं जंचता, क्योंकि इसी प्रसङ्ग के अन्त में संस्कार-रत्नमालाकार ने लिखा है—

'यदि कहो कि साम्प्रतिक सत्याषाढ-श्रौत में यह सूत्र नहीं मिलता, तो इसका सत्याषाढीयत्व ही कैसे होगा ? इसका उत्तर दिया है—अति प्रामाणिक मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी ने इसे सत्याषाढीय सूत्र के रूप में उद्धृत करके व्याख्यान करने से, उसके अनुरोध से साम्प्रतिक सत्याषाढीय श्रौत पुस्तक में इस सूत्र का नाश जानना चाहिये'।[1]

---

१. न चेदानीन्तनसूत्रपुस्तक एतत्सूत्रस्यैवादर्शनात् कथमेतस्य सत्याषाढीयत्वमिति वाच्यम्? अतिप्रामाणिकेन मीमांसाभाष्यकृता शबरस्वामिना सत्याषाढीयत्वेन धृत्वैव व्याख्यातत्वेनैतदनुरोधेनेदानींतनसूत्रपुस्तक एतत्सूत्रस्योच्छिन्नताया एव कल्पनात् । संकर्षकाण्डमुच्छिन्नमित्यपि प्रवादोऽस्ति । पृष्ठ ४५३ ।

इससे स्पष्ट होता है कि शबरस्वामी ने सत्याषाढीय श्रौतसूत्र की मीमांसाभाष्य में व्याख्या की थी। हमें शाबरभाष्य में यह पाठ उपलब्ध नहीं हुआ।

लिङ्गानुशासन टीकाकार शबरस्वामी—हर्षवर्धन कृत लिङ्गानुशासन पर एक टीका दो स्थानों से छपी है। जर्मन संस्करण में टीकाकार का नाम इस प्रकार मुद्रित है—

भट्टदीप्तस्वामिसूनोर्बलवागीश्वरस्य शबरस्वामिनः कृतौ हर्षवर्धनकृतलिङ्गानुशासन-टीकायाम्…।

इसी टीका का एक संस्करण मद्रास विश्वविद्यालय से सन् १९३० में छपा है। उस के अन्त में पाठ इस प्रकार है—

इति भट्टभरद्वाजसूनोः पृथिवीश्वरस्य कृतौ हर्षवर्धनकृतलिङ्गानुशासनटीकायां सर्वलक्षणायां।

वन्द्यघटीय सर्वानन्द मनुष्यवर्ग ९१ कारिका की व्याख्या में लिखता है—

'सक्थ्यस्थिदधिसूक्थ्यक्षि' इत्यादिना इदन्तमपि शबरस्वामी पठति। द्र०—टीकासर्वस्व भाग २, पृष्ठ ३५२।

सर्वानन्द उद्धृत पाठ हर्षवर्धन की मूलकारिका का है। तथापि उसके मत में टीकाकार का नाम शबरस्वामी है, यह स्पष्ट है।

उज्ज्वल दत्त ने उणादिवृत्ति ४।११७ की टीका में शबरस्वामी का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

वितर्दिवेदिनन्द्य इति शबरस्वामी। पृष्ठ १०४, कलकत्ता संस्करण।

यह पाठ हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन की टीका पृष्ठ ८ पर पाठान्तर से मिलता है। टीका का पाठ है—**वेदिः वितर्दिः। नन्दिः पूर्वरङ्गः**। उज्ज्वलदत्तीय उणादिवृत्ति का पाठ बहुत अशुद्ध मुद्रित हुआ है। अतः यह स्वल्प पाठभेद विशेष महत्त्व नहीं रखता।

केशव ने नानार्थार्णवसंक्षेप भाग १, पृष्ठ १४९ पर शबरस्वामी को उद्धृत किया है। प्रकरणानुसार यह लिङ्गानुशासन टीकाकार ही विदित होता है।

इतना ही नहीं, प्रस्तुत सर्वार्थलक्षणा टीका का एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के संग्रह में है। उसके सूचीपत्र में टीकाकार का नाम शबरस्वामी दीपिस्वामि पुत्र लिखा है (पृष्ठ ४६)। भण्डारकर प्राच्य शोधसंस्थान पूना के संग्रह में हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन टीका के दो-तीन हस्तलेखों के अन्त में दीप्र (दीप्त) **स्वामिसूनोर्बलवागीश्वरस्य शबरस्वामिनः** पाठ मिलता है।

कुछ भी हो, लिङ्गानुशासन का टीकाकार शबरस्वामी मीमांसा-भाष्यकार शबरस्वामी नहीं है, यह स्पष्ट है।

शावरभाष्य के आलोचक—हम भवदास के प्रकरण में (पूर्व पृष्ठ २९ पर) लिख चुके हैं कि भवदास के अनुयायियों ने शावरभाष्य की कुछ आलोचना की थी। इसका उत्तर भट्ट कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में दिया है।

पातञ्जल महाभाष्य और शावरभाष्य

शावरभाष्य की वाक्य-रचना पर पतञ्जलिकृत महाभाष्य का प्रभाव सर्वत्र देखा जा सकता है। उसके अनेक स्थानों पर सादृश्य इतना अधिक है कि यदि दोनों के पौर्वापर्य-विषयक काल बाधक न हों, तो कौन किसका अनुकरण करता है, यह कहना भी कठिन होवे। यद्यपि शवरस्वामी ने महाभाष्य की शैली का अनुकरण भरसक किया है,तथापि महाभाष्य की शैली जितनी प्राञ्जल एवं स्पष्टार्थ है, उतनी प्राञ्जलता और स्पष्टता शावरभाष्य में नहीं है। अनेक स्थानों पर वाक्यरचना लड़खड़ाती है; अनेक स्थानों पर भाष्यकार क्या कहना चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं होता। कुछ अंश अन्तर्मुख ही रहता है। इस न्यूनता के होते हुये भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि शवरस्वामी ने प्राचीन आर्षरचनाशैली को जीवित रखने में भारी योगदान दिया है। शवरस्वामी से उत्तरवर्ती आचार्य शङ्कर की रचनाशैली प्राञ्जल होते हुये भी आर्षशैली से कुछ दूर है। शब्दों में क्लिष्टता एवं विषयप्रतिपादन में नवीनता प्रत्यक्ष देखी जा सकती है।

शावरभाष्य और शाङ्करभाष्य

आचार्य शङ्कर ने शबरस्वामी का अपने भाष्य में नामोल्लेखपूर्वक तो स्मरण किया ही है, इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने भाष्य में अनेक स्थानों पर शावरभाष्य की पंक्तियों को यथातथ रूप में वा कुछ परिवर्तितरूप में उद्धृत किया है। इसके साथ ही शाङ्करभाष्य की यदि शावरभाष्य के साथ तुलना की जाये, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शङ्कर ने वेदान्तभाष्य में अनेक स्थानों पर शावरभाष्य का अनुकरण किया है। हम यहां निदर्शनार्थ दोनों भाष्यों के प्रथम सूत्र की व्याख्या की ओर संकेत करते हैं—

शावरभाष्यम्—अयमथ शब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियार्थो दृष्टः।... भवितव्यं तु तेन, यस्मिन् सत्यनन्तरं धर्मजिज्ञासाऽवकल्पते। तत्तु वेदाध्यनम्।...अन्ययस्यापि कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता, प्रागपि च वेदाध्ययनात्। उच्यते, तादृशीं तु धर्मजिज्ञासामधिकृत्य अथ शब्दं प्रयुक्तवानाचार्यः, या वेदाध्ययनमन्तरेण न सम्भवति।...अतः शब्दो वृत्तव्यापदेशको हेत्वर्थः।... अधीतो वेदो धर्मजिज्ञासायां हेतुर्ज्ञातः, अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्यः।

धर्मः प्रसिद्धो वा स्यादप्रसिद्धो वा। स चेत् प्रसिद्धो, न जिज्ञासितव्यः। अथाप्रसिद्धो नतराम्।...धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः। केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचिदन्यम्। सोऽयमविचार्य प्रवर्तमानः कञ्चिदेवोपाददानो विहन्येत, अनर्थं चर्च्छेत्। तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्य इति। स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे। तदभिधीयते। मी० शावरभाष्य १।१।१॥

शाङ्करभाष्यम्—अयमथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते।...एवं ब्रह्मजिज्ञासाऽपि। यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते तद् वक्तव्यम्।...प्रागपि च धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च शक्यते, न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसम्पत्त्याऽनन्तर्यमुपदिश्यते। अतः शब्दो हेत्वर्थः। यस्माद् वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानां निष्फलतां दर्शयति तस्मादयथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या।

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुममिति।...एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः। तत्र यत्किञ्चित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्। तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपमुखेन निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते॥ वेदान्त शांकरभाष्य १।१।१॥

शाबरभाष्य के व्याख्याकार

१—अनेक अज्ञातनामा भाष्य-व्याख्याता

शबरस्वामी कृत मीमांसा-भाष्य पर भट्ट कुमारिल से पूर्व भी अनेक विद्वानों ने व्याख्याएं लिखीं थीं। इसका संकेत भट्टकुमारिल के निम्न वचनों में उपलब्ध होता है—

१. शाबरभाष्य के आरम्भ की पङ्क्ति 'लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि' आदि का प्राचीन व्याख्याकार छः प्रकार का अर्थ करते हैं। भट्ट कुमारिल ने लिखा है—

लोक इत्यादि भाष्यस्य षडर्थान् सम्प्रचक्षते। प्रतिज्ञासूत्र, श्लोक १६।

इससे स्पष्ट है कि भट्ट कुमारिल ने जिन छः अर्थों का संकेत उक्त श्लोक में किया है, वे व्याख्याएं भाष्य के विभिन्न व्याख्याकारों ने की थीं।

२. मीमांसा ३।४।९ सूत्र के आगे ६ सूत्रों की शबरस्वामी की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती है। इस विषय में भट्ट कुमारिल ने लिखा है—

अतः परं षट् सूत्राणि भाष्यकारेण न लिखितानि। तत्र व्याख्यातारो विवदन्ते। केचिदाहुः—विस्मृतानि, लिखितो ग्रन्थः प्रलीन इत्यपरे, फल्गुत्वादुपेक्षितानीत्यन्ये, अनार्षेयत्वादित्यपरे।.. वृत्त्यन्तरकारैः सर्वैर्व्याख्यातानि। तन्त्रवार्तिक।

अर्थात्—इस (=मी० ३।४।९ सूत्र) से आगे ६ सूत्र भाष्यकार ने नहीं लिखे। इस विषय में व्याख्याता लोग विविध कारण देते हैं। कोई कहते हैं—भाष्यकार को भाष्य लिखते समय विस्मृत हो गये; दूसरे कहते हैं—भाष्य लिखा था, पर नष्ट हो गया; अन्य कहते हैं—सारहीन होने से भाष्यकार ने इनकी उपेक्षा की; औरों का कहना है—ये सूत्र अनार्ष हैं, इसलिये व्याख्या नहीं की।...सब वृत्तिकारों ने इनकी व्याख्या की है।

इसके अतिरिक्त तन्त्रवार्तिक में वहुत्र भाष्य की प्राचीन व्याख्याओं को भट्ट कुमारिल ने उद्धृत करके उनका प्रत्याख्यान किया है। इससे स्पष्ट है कि भट्ट कुमारिल से पूर्व शावरभाष्य की अनेक व्याख्याएं लिखी जा चुकी थीं, पर उनमें से सम्प्रति एक भी व्याख्या उपलब्ध नहीं होती है। यदि एक भी प्राचीन व्याख्या उपलब्ध होती, तो शावरभाष्य पर अच्छा प्रकाश पड़ता।

अव हम शावरभाष्य के उन व्याख्याताओं का वर्णन करते हैं, जिनके ग्रन्थ पूर्ण वा खण्डित रूप में उपलब्ध होते हैं—

२—भट्ट कुमारिल

भट्ट कुमारिल का नाम भारतीय दार्शनिकों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विशेषकर वेदविरोधी बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने वेदों पर जो आक्षेप किये थे, उनका समुचित उत्तर देने का जो प्रयास भट्ट कुमारिल ने किया, वह अपने आप में महनीय कार्य था।

भट्ट कुमारिल का परिचय—मीमांसा-शावरभाष्य पर तीन प्रकार की महनीय टीकाएं लिखनेवाले भट्ट कुमारिल ने अपने परिचय के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। अतः उनका इतिवृत्त सर्वथा अज्ञात है।

अनुश्रुतियों के आधार पर—दार्शनिक जगत् में परम्परा से कुछ अनुश्रुतियां प्रसिद्ध हैं। कुछ संकेत शङ्करदिग्विजय से उपलब्ध होते हैं। उनके आधार पर जो वृत्त ज्ञात होता है, वह संक्षेप से इस प्रकार है—

भट्ट कुमारिल अत्यन्त भावुक प्रकृति के थे। बौद्ध और जैन दार्शनिकों के, विशेषकर बौद्ध विद्वानों के वेदों पर किये गये आक्षेपों से वे अत्यन्त क्षुब्ध थे। वे इनका प्रवल प्रतिकार करना चाहते थे। अतः उनके मन में विचार उठा कि जव तक बौद्धदर्शन के गूढ रहस्यों का परिज्ञान न हो जावे, तव तक उनका खण्डन करना कठिन है। उस समय वौद्ध-विद्यालयों में उच्चतम अध्ययन वौद्धों को ही कराया जाता था। अतः भट्ट कुमारिल अपने को बौद्ध-वटु घोषित करके उस समय के किसी महाविद्यालय में प्रविष्ट हो गये, और वौद्धदर्शन के गूढ़ रहस्यों का अध्ययन करने लगे। परन्तु उनके साथियों ने कुछ समय के भीतर ही यह भांप लिया कि कुमारिल बौद्धेतर हैं। यथातथा उनका अध्ययन चलता रहा। इस काल में सूक्ष्मदर्शी मेधावी कुमारिल ने बौद्धदर्शनों के रहस्यों को वहुत कुछ जान लिया। एक दिन बौद्ध साथियों ने कुमारिल के वौद्ध होने वा न होने के निश्चय के लिये वेदों पर तीक्ष्ण प्रहार किये। कुमारिल उन्हें न सह सके, उन्होंने उन आक्षेपों का मुंह-तोड़ उत्तर दिया। इस प्रकार कुमारिल का प्रच्छन्न बौद्धवेश में अध्ययन करना स्पष्ट हो गया। सहपाठियों के साथ विवाद में बौद्ध छात्रों ने कुमारिल से कहा कि—'वेद प्रमाण हैं' इसकी परीक्षा के लिये इस समीपस्थ पहाड़ी के शिखर से नीचे कूद कर दिखाओ। यदि तुम्हें कोई चोट आदि न आयेगी, तो हम जानेंगे कि वेद सच्चे हैं। कुमारिल भावावेश में आकर पहाड़ी के शिखर से **यदि वेदाः प्रमाणम्** आदि कहते हुये कूद पड़े। नीचे गिरने पर कुमारिल को हलकी-सी चोट आई। साथियों ने मखौल किया, देख ली वेद की प्रमाणता। कुमारिल ने कहा कि इस साधारण

चोट का कारण मेरी गलती है, वेद की प्रमाणता की नहीं। मैं **यदि वेदाः प्रमाणम्** आदि कहकर कूदा था। उस समय मेरे मन में किञ्चित् सन्देह उत्पन्न हो गया था, इसलिये मैंने **यदि** शब्द का उच्चारण किया था। उसका यह किञ्चित् दण्ड है। कुछ का कहना है कि कुमारिल को बौद्ध साथी किसी बहाने से पहाड़ी पर ले गये, और वहां से उन्होंने कुमारिल को मारने के लिये धक्का दे दिया। गिरते समय कुमारिल के मुख से निकला—**यदि वेदाः प्रमाणम्**।

इस घटना के पीछे उन्होंने बौद्ध-विद्यालय का परित्याग कर दिया। वे बौद्धों के प्रहारों से वेदों की रक्षा के उपायों के चिन्तन में लग गये। इसी बीच एक घटना घटी। जिस नगर में वे रहते थे, उसके राजा की वेदमतानुयायिनी षोडशी बाला बौद्धों के वेदविरोधी प्रचार से अत्यन्त दुःखी रहती थी। एक दिन प्रातः वह महल की छत पर खड़े होकर करुणामय स्वर में रो रही थी। उसके मुख से वार-वार उद्गार निकलता था—**को वेदान् उद्धरिष्यति**? (=ऐसे कठिन समय में वेदों का उद्धार कौन करेगा?)। उसी मार्ग से अचानक कुमारिल का निकलना हुआ। वे कन्या के करुणामय विलाप को सुनकर ठिठक गये। उनके कानों में उस षोडशी के करुणस्वर '**को वेदान् उद्धरिष्यति**' जैसे ही पड़े, उन्होंने ऊपर दृष्टि उठाकर देखा, तो ज्ञात हुआ कि ये करुण स्वर एक षोडशी बाला के मुख से प्रस्फुटित हो रहे हैं। उनके हृदय पर गहरी चोट लगी। उसके स्वरों ने कुमारिल के हृदय में बौद्धों के विरुद्ध दहकती अग्नि में घृताहुति का किया। वे अधीर हो उठे, और सान्त्वना भरे शब्दों में कहा—**मा रुदिहि वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले** (=हे श्रेष्ठ वाले! मत रोओ। वेद का उद्धार करने को मैं भट्टाचार्य अभी भूतल पर विद्यमान हूं)।

इसके पश्चात् भट्ट कुमारिल ने अपनी प्रखर मेधा और प्रवल तर्क से स्थान-स्थान पर बौद्ध विद्वानों को परास्त किया, और वेदों का पुनरुद्धार किया। इसके लिये उन्होंने शावरभाष्य की व्याख्या लिखी। सब कुछ करने पर भी उनके मन में यह भावना बनी रही कि मैंने बौद्ध गुरुओं से छल से विद्याध्ययन किया है, और उनका विरोध किया है। इसके प्रायश्चित्त के लिये उन्होंने प्रयाग में तुषाग्नि में अपने शरीर को भस्म कर दिया। शंकरदिग्विजय के अनुसार जिस समय भट्ट कुमारिल तुषाग्नि में जलकर गुरुद्रोह का प्रायश्चित्त कर रहे थे, उनसे शास्त्रार्थ के लिये आचार्य शङ्कर पहुंचे। भट्ट कुमारिल ने उन्हें प्रणाम किया, और कहा कि—यदि आप कुछ काल पूर्व आते, तो आप का मनोरथ पूर्ण करता। आप मेरे प्रधान शिष्य आचार्य मण्डन, जो माहिष्मती नगरी (=वर्तमान में महेश्वर, इन्दौर से दक्षिण पश्चिम में लगभग ७० मील) में रहते हैं, उनसे शास्त्रार्थ करें।

इस सम्पूर्ण कथानक में कितना सत्य है, यह तो निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता है, पर यदि इसे अतिशयोक्तिपूर्ण मानें, तब भी भट्ट कुमारिल ने बौद्धों के प्रहार से वेदों और वैदिक-धर्म की जो रक्षा की, उसका आभास तो मिलता ही है। आज तक वेदों की जो प्रतिष्ठा (=स्थिति) बनी हुई है, उसमें भट्ट कुमारिल ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी, इसे किसी प्रकार नकारा नहीं जा सकता है। चाहे हम भट्ट कुमारिल की मान्यताओं वा स्थापनाओं को मानें वा न मानें, उनके कार्य का महत्त्व कम नहीं किया जा सकता है। ऐसे वेदभक्त वेदोद्धारक भट्ट

कुमारिल के आगे हमारा मस्तक श्रद्धा से अनायास झुक जाता है। जिस जाति में ऐसे आत्मत्यागी वेदोद्धारक पैदा होवें, वह जाति भला कैसे समाप्त हो सकती है, और वेद कैसे लुप्त हो सकते हैं ?

भट्ट कुमारिल का काल—भट्ट कुमारिल आचार्य शङ्कर के समकालिक थे। आचार्य शङ्कर का काल भारतीय इतिहास में निर्विवाद है। शाङ्कर मठों में जो गुरु-परम्पराएं आज तक सुरक्षित हैं, उनके अनुसार शंकराचार्य का जन्म वि० सं० से ४५२ वर्ष पूर्व है, यह पूर्व (पृष्ठ ३६) लिख चुके हैं। अतः भट्ट कुमारिल का काल भी लगभग यही है। आधुनिक ऐतिहासिक शाङ्कर मठों की गुरु-परम्परा का प्रमाण न मानकर भट्ट कुमारिल और आचार्य शङ्कर का काल विक्रम की आठवीं शती में स्थापित करते हैं। इस काल-व्यवस्था में वे धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों, जिनके ग्रन्थों वा लेखों का भट्ट कुमारिल और आचार्य शङ्कर ने अपने ग्रन्थों में खण्डन किया है, के आधार को प्रमाण मानकर उनका काल व्यवस्थित करते हैं। परन्तु बौद्ध दार्शनिकों और बौद्धयात्रियों का काल भी तो इन्हीं ऐतिहासिकों द्वारा निर्धारित है। अतः इन का काल की दृष्टि से किया गया पौर्वापर्य-विचार इतरेतराश्रय दोष से दूषित है। इतना ही नहीं, भारतीय इतिहास की कालगणना का भी इन्होंने वलात् नियोजन किया है। और सेण्ड्राकोटस और पालिवोट्रा की असिद्ध समानता चन्द्रगुप्त मौर्य तथा पाटलिपुत्र से जोड़कर भारतीय इतिहास को वलात् १००० वर्ष अर्वाचीन वना दिया है। भारतीय कालगणना के सिद्ध प्रमाणभूत अंशों को, जो इनके नियोजन में वाधक वनते थे, झुठलाने का प्रयास किया है। भारतीय कालगणनानुसार महात्मा वुद्ध का प्रादुर्भाव लगभग १५०० वर्ष विक्रम पूर्व है। उसे वलात् ५०० विक्रम पूर्व रख दिया है। अस्तु।

आधुनिक ऐतिहासिकों के द्वारा निर्धारित कुमारिल प्रभृति मीमांसकों की कालगणना इस प्रकार है—

१—धर्मकीर्ति	सन् ६००–६७० तक
२—कुमारिल	„ ६५०–७१० „
३—प्रभाकर	„ ६६०–७२० „
४—मण्डनमिश्र	„ ६७०–७२० „
५—उम्बेक	„ ६८०–७४० „
६—शालिकनाथ	„ ७००–७५० „
७—शंकराचार्य	„ ७००–७४० „
८—सुरेश्वराचार्य	„ ६९०–७०० „

यह भारतीय दार्शनिकों का काल मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा १९३६ में प्रकाशित प्रभाकर मिश्र लिखित (शाबरभाष्य की) वृहती टीका के प्रास्ताविक में पृष्ठ ३१–३२ पर दिया गया है।

यह तिथिक्रम कितना कल्पित है, इसके लिये हम एक ही उदाहरण यहां देना पर्याप्त समझते हैं। पूर्व निर्दिष्ट हरिस्वामी के शतपथ-भाष्य में उल्लिखित—

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै ।
चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

वचन का अर्थ आधुनिक ऐतिहासिकों के मतानुसार कलि संवत् ३७४०=वि० ६९५=सन् ६३८) भी मान लें, तब भी एक आन्तरिक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि हरिस्वामी ने शतपथभाष्य (हमारा हस्तलेख पृष्ठ ५) में प्राभाकरों (=प्रभाकर के मतानुयायियों) का मत उद्धृत किया है[1]। प्रभाकर मत की प्रामाणिकता प्रख्यापित होने में कम-से-कम ५० वर्ष का समय तो लगेगा ही। प्रभाकर भट्ट कुमारिल का शिष्य था। अतः उसका काल उससे न्यूनातिन्यून २५-३० वर्ष पूर्व मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार हरिस्वामी का काल कलि संवत् ३७४० मानने पर भी कुमारिल का काल लगभग ८० वर्ष पूर्व अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थात् कुमारिल का काल वि० सं० ६००—६५०=ई० सन् ५५३—६०५ तक मानना पड़ेगा। इसी प्रकार हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी के सहयोगी निरुक्त टीकाकार महेश्वर ने निरुक्त टीका ८।२ में कुमारिल के श्लोक-वार्तिक का नामोलेखपूर्वक पीनो दिवा न भुङ्क्ते श्लोक उद्धृत किया है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ३७)। इस परम्परा के अनुसार भी भट्ट कुमारिल का काल वर्तमान में कल्पित काल से पूर्व ठहरता है। यदि निरुक्त के सम्पादक डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप का सुझाव सप्त त्रिंशत् के स्थान में षट् त्रिंशत् मानें, तो प्रस्तुत काल से भी १०० वर्ष पूर्व कुमारिल का काल होगा। फिर चाहे सप्तत्रिंशच्छतानि पाठ माने, चाहे षट्त्रिंशच्छतानि कलि संवत् ३७४० या ३६४० में उज्जयनी में कोई विक्रमार्क राजा था ही नहीं, जिसके धर्माध्यक्ष हरिस्वामी ने शतपथ-भाष्य रचा हो। अतः हरिस्वामी के कालबोधक श्लोक में 'सप्त' को पृथक् पद मानकर कलि संवत् ३०४७ अर्थ करना ही इतिहास की कसौटी पर खरा उतरता है (जिसका निर्देश हमने पूर्व पृष्ठ ३६) पर किया हैं। उस समय उज्जयनी में संवत्-प्रवर्तक विक्रमार्क=विक्रमादित्य का शासन इतिहाससिद्ध है।

इन हेतुओं से भट्ट कुमारिल का काल विक्रम संवत् ४५०=ई० सन् ५०७ के समीप मानना ही युक्त है। भट्ट कुमारिल के ग्रन्थों में उद्धृत धर्मकीर्ति आदि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिकों का काल भी भट्ट कुमारिल से पूर्व मानना पड़ेगा। पाश्चात्य विद्वानों और उनके अन्ध भक्त वर्तमान के भारतीय ऐतिहासिकों ने जो कालशृङ्खला घोषित की है, वह सर्वथा अप्रामाणिक है। भारतीय अनवछिन्न ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार इन दार्शनिकों के कालनिर्णय का पुनः निर्धारण करना अत्यन्त आवश्यक है।

तन्त्रवार्तिक में कालिदास के पद्य का निर्देश—भट्ट कुमारिल के तन्त्रवार्तिक (काशी सं० पृष्ठ १३२; पूना सं० भाग १, पृष्ठ २०७) में कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रसिद्ध पद्य **सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः** का जो निर्देश मिलता है, उसके सम्बन्ध में श्री पं० उदयवीर शास्त्री ने 'वेदान्त दर्शन का इतिहास' ग्रन्थ (पृष्ठ २७९–२८२) में विस्तार

---

१. अथवा सूत्राणि यथाविध्युद्देश इति प्राभाकराः—अपः प्रणयतीति। (पूर्व पृष्ठ ३६)।

से चर्चा की है। उन्होंने इस पद्यांश को प्रक्षिप्त दर्शाया है। हमारा विचार है कि यह पद्यांश सूक्ति के रूप में अति प्राचीन है। उसका कालिदास ने अपने प्रकरण में उपयोगमात्र किया है। **एवं च विद्वद्वचनाद् विनिर्मितं प्रसिद्धरूपं कविभिर्निरूपितम्** से ही स्पष्ट है। ऐसा ही एक पद्यांश महाभाष्य १।३।४८ में पठित है—**वरतनु संप्रवदन्ति कुक्कुटाः**। यह पद्यांश कवि कुमारदासकृत जानकी-हरण में उपलब्ध होता है। कवि कुमारदास का काल विक्रम की आठवीं शती है। तो क्या इस पद्यांश के महाभाष्य में उपलब्ध होने से महाभाष्यकार पतञ्जलि को कवि कुमारदास से उत्तर-कालीन माना जायेगा? इसी प्रकार प्रभाकर मिश्र विरचित 'बृहती' पृष्ठ २४२तथा३३४ में अविवेक की निन्दा में **अविवेकः परमापदां पदम्** पद्यगन्धि सूक्ति पठित है। यह भारवि के किरातार्जुनीय २।३० का एक चरण भी है।

साम्प्रतिक मीमांसक मत—हम भाष्यव्याख्या पृष्ठ २१ पर कह चुके हैं कि मीमांसकों में दो मत हैं—एक सेश्वर मीमांसक,और दूसरे निरीश्वरवादी,जो सृष्टि को अनादि और वेद को अपौरुषेय अर्थात् पुरुषविशेष अथवा उत्तम पुरुष ईश्वर द्वारा अनाविष्कृत=अप्रकाशित मानते हैं। मीमांसकों में निरीश्वरवादी मत कब से आरम्भ हुआ, इसका स्पष्ट उत्तर देना कठिन है, क्योंकि शाबरभाष्य से प्राचीन मीमांसा के व्याख्यान उपलब्ध नहीं होते। पुनरपि हमने भर्तृहरि का जो वचन पूर्व पृष्ठ ३२ (संख्या १) पर उद्धृत किया है, उससे विदित होता है कि भर्तृहरि की दृष्टि में भी मीमांसक निरीश्वरवादी थे। उन्होंने मीमांसकों के मत में सृष्टि के विनाश का प्रतिषेध किया है, अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति-विनाश-रहित अनादि सिद्ध है। शबरस्वामी ने यद्यपि ईश्वर का प्रत्यक्ष खण्डन नहीं किया, पुनरपि उसने वेद की अपौरुषेयता को जिस प्रकार स्थापित किया है, उसके अनुसार वेद के प्रादुर्भाव के लिये ईश्वर तत्त्व की अनावश्यकता स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसी प्रकार वे सृष्टि को भी अनादिसिद्ध मानते हैं।

भट्ट कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में किसी सर्वज्ञ ईश्वर आदि का प्रबलता से खण्डन किया है (द्र०—श्लोकवार्तिक, चोदनासूत्र १।१।२, श्लोक ११७, तथा आगे के श्लोक, तथा सम्बन्धाक्षेप-परिहार में श्लोक ४३–८४) इसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का भी प्रतिषेध किया है। कुमारिल भट्ट से उत्तरवर्ती जितने भी भाट्ट अथवा प्राभाकर मत के अनुयायी मीमांसा के व्याख्याता हुये, सभी ने प्रायः मीमांसा के निरीश्वरवादित्व मत का ही अवलम्बन किया है।[1] परन्तु **'प्रभाकर-विजय'** के सम्पादकद्वय श्री अनन्त कृष्ण शास्त्री तथा पं० रामनाथ शास्त्री ने अपनी अंग्रेजी वा संस्कृतभाषानिबद्ध भूमिकाओं में 'प्रभाकर-विजय' के वचन के अनुसार लिखा है कि कुमारिल भट्ट आदि ने ईश्वर का जो प्रत्याख्यान किया है, वह 'ईश्वर की सिद्धि में अन्य मतानुयायियों

---

१. सम्बन्धाक्षेप-प्रकरण में प्रभाकरकृत शाबरभाष्य की 'बृहती' व्याख्या की टीका में शालिकनाथ ने ईश्वर का निरासन किया है। द्र०—प्रभाकरविजय भूमिका (संस्कृत) पृष्ठ ४।

ने जो अनुमान प्रमाण का आश्रयण किया था' उसके खण्डन में है, ईश्वर के निरास में नहीं है।[1]

यह ठीक वैसा ही कथन है, जैसे शंकराचार्य द्वारा ब्रह्म से भिन्न जीव और जगत् का खण्डन करने पर भी उनके अनुयायियों द्वारा परामर्थतया जीव और प्रकृति का खण्डन, और व्यावहारिक दृष्टि से जीव और जगत् की सत्ता स्वीकार करना। इसका प्रधान कारण है, ईश्वर का निराकरण करने पर मीमांसाशास्त्र के नास्तिकपक्ष में प्रक्षेप से बचाने के लिये ईश्वर की सत्ता का कथंचित् स्वीकार करना। तथा शाङ्कर मतानुयायियों द्वारा जीव और जगत् की सत्ता को न मानने से लौकिक व्यवहारपक्ष की अनुपपत्ति के भय से इनकी व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करना है। सत्यपक्ष वस्तुतः वही होता है, जिसमें विपरीत पक्षद्वयता न हो। अन्यथा द्विजिह्वत्व दोष स्वीकार करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में **मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद्** न्याय उपस्थित होता है।

भट्ट कुमारिल सेश्वरवादी, और प्रभाकर निरीश्वरवादी – 'प्रभाकर-विजय' का जो पाठ हमने पूर्व उद्धृत किया है, उसके अनुसार कुमारिल और प्रभाकर दोनों का तात्पर्य अनुमान-प्रमाणसिद्ध ईश्वर के निराकरण में है, वस्तुतः ईश्वर के निराकरण में नहीं है, ऐसा माना है। कुतुहलवृत्तिकार वासुदेव दीक्षित ने लिखा है—'वैदिकशिरोमणि वार्तिककार ने "अचिन्त्य शक्ति-वाला परमेश्वर और उससे रचित सृष्टि और प्रलय आदि भी हैं" ऐसा प्रतिपादन किया है। अनीश्वरवादी प्रभाकर मतानुयायी वैदिकों के द्वारा अनादृत हैं'[2]। इसका तात्पर्य है कि कुमारिल ईश्वर और जगत् के सर्ग तथा प्रलय को मानता है। प्रभाकर और उसके अनुयायी अनीश्वरवादी एवं सृष्टि को अनादि सिद्ध मानते हैं। वार्तिककार ने स्वमत में अचिन्त्य शक्ति ईश्वर, और जगत् को सकर्तृक, एवं सर्ग वा प्रलय को कहां स्वीकार किया है, यह हमें ज्ञात नहीं है[3]। परन्तु भट्ट

---

१. एवं चेश्वरे परोक्तमनुमानं निरस्तं, नेश्वरो निरस्तः। प्रभाकरविजय, पृष्ठ ६६ (कलकत्ता संस्करण)। इसी की भूमिका पृष्ठ ६–७, तथा संस्कृतभाग, पृष्ठ २–४।

२. ततश्चाचिन्त्यशक्तिः परमेश्वरस्तत्कर्तृकसृष्टिप्रलयादिकमप्यस्तीति वार्तिककारैर्वैदशिरोमणिभिः प्रपञ्चितम्। अनीश्वरवादिनस्तु प्राभाकरादयो वैदिकैरनादृताः। कुतुहलवृत्ति १।२। १८; भाग १, पृष्ठ ३०॥

३. कुमारिल ने **गुणवादस्तु** (मी० १।२।६)के तन्त्रवार्तिक के अन्त में **प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्** वचन की संगति दर्शाते हुये लिखा है—**मन्त्रार्थवादेतिहासप्रामाण्यात् सृष्टिप्रलयौ इष्येते···प्रतिसृष्टि चतुर्लिङ्गन्यायेन तुल्यनामप्रभावव्यापारवस्तूत्पत्तेर्नानित्यताप्रसङ्गः इति।** यह अन्यदीयमतानुसार संगतिनिदर्शन है। यह अन्त में निर्दिष्ट प्रतीक अथवा उद्धरणनिदर्शक 'इति' शब्द से स्पष्ट है। सम्भवतः वासुदेव दीक्षित का **'वार्तिककारैर्वेदशिरोमणिभिः प्रपञ्चितम्'** इसी वचन की ओर संकेत है।

जयन्त ने न्यायमञ्जरी में कुमारिल के अनीश्वरवाद का सोद्धरण खण्डन किया है (द्र०—न्यायमञ्जरी, पृष्ठ १९०, २०३, मेडिकल हाल यन्त्रालय, काशी, सं० १९५१)। यदि भट्ट कुमारिल ने कहीं ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन किया होता, तो भट्ट जयन्त कुमारिल के अनीश्वरत्ववाद का सोद्धरण खण्डन न करता। भट्ट जयन्त एक प्रामाणिक ग्रन्थकार है, वह भट्ट कुमारिल पर अनीश्वरवादित्व का आरोपण करके खण्डन करनेवाले न थे।

इससे स्पष्ट है कि भट्ट कुमारिल और प्रभाकर दोनों के उत्तरवर्ती अनुयायियों ने अपनी मति के अनुसार इन्हें सेश्वरवादी सिद्ध करने की चेष्टा की है। हमारा विचार है कि भट्ट कुमारिल और प्रभाकर दोनों अनीश्वरवादी थे। शबरस्वामी भी अनीश्वरवादी ही थे। मीमांसकों में अनीश्वरवादित्व मत का उद्भव इनसे पूर्व हो चुका था। इन आचार्यों ने अनीश्वरवादी बौद्ध और जैन दार्शनिकों के ईश्वर वेद और सृष्टि के ईश्वरकर्तृत्व पर किये गये आक्षेपों का समाधान करने में असमर्थ होने से **सर्वनाशे समुत्पन्नेऽर्धं त्यजति पण्डितः** कहावत के अनुसार ईश्वर और उसके जगत्कर्तृत्व अंश को तिलाञ्जलि देकर वेद की रक्षा के निमित्त अनादि अनीश्वरकर्तृक सिद्ध करने का प्रयास किया है। सम्भवतः आचार्य शंकर ने ब्रह्म की सिद्धि के लिये ही अद्वैतमत का अवलम्बन किया हो। यह अद्वैतमत शङ्कर का स्वोपज्ञ नहीं था। यह शब्दाद्वैत के रूप में पूर्वतः भर्तृहरि आदि द्वारा प्रतिष्ठापित हो चुका था। शङ्कराचार्य ने तो शब्दाद्वैतवाद में से शब्द को हटाकर ब्रह्ममात्र की प्रतिष्ठा की। दोनों अद्वैतमतों में विवर्तवाद एवं जगत् का मिथ्यात्व प्रायः समान है।

भट्ट कुमारिल के तीन ग्रन्थ—भट्ट कुमारिल ने शावरभाष्य पर भागशः तीन प्रकार की टीकाएं लिखी हैं। प्रथमाध्याय के प्रथम पाद पर श्लोकात्मक **श्लोकवार्तिक**; प्रथमाध्याय के द्वितीय से लेकर तृतीय अध्याय के अन्त तक गद्यपद्यरूप **तन्त्रवार्तिक**, और चतुर्थ अध्याय के आरम्भ से बारहवें अध्याय के अन्त तक गद्यात्मक **टुप् टीका** नाम्नी अति संक्षिप्त टीका।

पांच ग्रन्थ—मद्रास के राजकीय हस्तलेख-संग्रह में **मीमांसानयकोश** ग्रन्थ है। उसके पृष्ठ १० पर लिखा है—**तत्र भट्टाचार्याणां पञ्च व्याख्यानानि भाष्यस्य। एका बृहट्टीका, द्वितीया मध्यम टीका, तृतीया टुप् टीका, चतुर्थी कारिका, पञ्चमं तन्त्रवार्तिकम् उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्तकम्। बृहन्मध्यटीके सम्प्रति न वर्तेते।**

इस वचन के अनुसार भट्ट कुमारिल ने पांच ग्रन्थ शाबरभाष्य पर लिखे थे—'**बृहट्टीका, मध्यटीका, टुप्टीका, कारिका, तन्त्रवार्तिक**। परन्तु बृहद् टीका और मध्य टीका सम्प्रति उपलब्ध नहीं होते।

इस लेख में कितनी सत्यता है, यह हम नहीं जानते। बृहट्टीका और मध्य टीका ग्रन्थ यदि लिखे भी गये थे, तो भी ये मीमांसानयकोशकार के पूर्व से ही दुर्लभ थे। आज तो उनकी सत्ता का अन्य प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है।

अन्य कुमारिल—एक भट्ट कुमारिल स्वामी **आश्वलायन गृह्य-कारिका** का रचयिता है।

इस कुमारिल ने गृह्यकारिका में जयन्त, जयन्तस्वामी, जयन्तके अनुयायियों, और प्रयोग-पारिजात को उद्धृत किया है। प्रयोगपारिजात का काल विक्रम की १४ वीं शती का उत्तरार्ध है। अतः यह कुमारिल विक्रम की १४ शती के अन्त अथवा उसके पश्चात् का है। जयन्त प्रयोग-पारिजात में उद्धृत होने से उससे पूर्वभावी है (द्र०—वैदिक-वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण-आरण्यक भाग, पृष्ठ २११, २१२, सन् १९७४)।

श्लोकवार्तिक के टीकाकार—श्लोकवार्तिक की तीन टीकाएं सम्प्रति उपलब्ध हैं। हम उनके कालक्रम के अनुसार उनका निर्देश करते हैं—

१—तात्पर्यटीका—इस टीका का रचयिता **भट्ट उम्बेक** है। उम्बेक नाम भवभूति का ही नामान्तर है। 'मालतीमाधव' के एक हस्तलेख में इसे कुमारिल का शिष्य भी कहा है। अन्य कोशों में भवभूति के गुरु का नाम **ज्ञाननिधि** लिखा है। द्र०—मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित उम्बेक की श्लोकवार्तिक की तात्पर्यटीका के आरम्भ में सम्पादकीय लेख, तथा हमारा संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४७४–४७५ (संवत् २०३०)। उम्बेक वा भवभूति का गुरु भट्ट कुमारिल नहीं हो सकता है, क्योंकि भवभूति महाराज यशोवर्धन का सभ्य था। यशोवर्धन का काल सं० ७८०–८०० तक है। परन्तु इतना सत्य अवश्य है कि उम्बेक भवभूति का ही नामान्तर था। मीमांसक-सम्प्रदाय में इसकी उम्बेक नाम से प्रसिद्धि है, और कविसम्प्रदाय में भवभूत के नाम से। मीमांसक-सम्प्रदाय में भट्ट उम्बेक श्लोकवार्तिक के मर्मज्ञ माने जाते हैं। गुणरत्न ने 'तर्करहस्यदीपिका' (पृष्ठ २०) में लिखा है—**उम्बेकः कारिकां वेत्ति**।

तात्पर्यटीका अधूरी—उम्बेक की श्लोकवार्तिक की टीका **स्फोटवाद** पर्यन्त है। सम्भव है कि उम्बेक स्फोटवादपर्यन्त ही व्याख्या लिख पाये हों। उसके आगे **आकृतिवाद** से जयमिश्र की शर्करिका नाम्नी व्याख्या मिलती है (द्र०—अगला सन्दर्भ)।

२—शर्करिका—इस टीका के रचयिता **जयमिश्र** हैं। यह टीका अधूरी उपलब्ध होती है। इसका जो संस्करण मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है, उसमें वह **आकृतिवाद** से लेकर **सम्बन्धाक्षेपपरिहार** के ३८ वें श्लोक तक छपी है। उसके आगे हस्तलेख खण्डित है। उम्बेक की टीका के स्फोटवाद पर समाप्त होने, और जयमिश्र की टीका का आरम्भ अगले **आकृतिवाद** से होने से प्रतीत होता है कि जयमिश्र ने उम्बेक रचित टीका पूर्ण करने के लिये अपनी टीका आकृतिवाद से आरम्भ की थी।

३—काशिका—इस टीका के रचयिता **सुचरित मिश्र** हैं। इसके दो भाग त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित हमारे संग्रह में हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण (दण्डनाथ टीका) के चौथे भाग के अन्त में प्रकाश्यमाण ग्रन्थों में चौथे भाग की सूचना छपी है। ग्रन्थ पूरा प्राप्त हुआ है वा अधूरा, इसकी सम्पादकीय से सूचना प्राप्त नहीं होती। यह व्याख्या अपने नाम के अन्वर्थ है। इसमें श्लोकवार्तिक की विस्तृत व्याख्या है।

सुचरित मिश्र का काल—इस काशिका टीका को वेङ्कटनाथ ने सेश्वरमीमांसा १।१।२६

की व्याख्या में उद्धृत किया है (द्र०—पृष्ठ ६४)। वेङ्कटनाथ का जीवनकाल संवत् १३०५–१४०७ (=सन् १२४८–१३५०) माना जाता है (द्र०—काशिका टीका, भाग १, सम्पादकीय निवेदना, पृष्ठ १)। श्लोकवार्तिक के **स्वरूपादिषु धर्मस्य** (श्लोकवार्तिक, प्रतिज्ञासूत्र, श्लोक १२६) की काशिका टीका के **त्रिपाद्यां तु···प्रमाणलक्षणमाख्यायते** (भाग१,पृष्ठ ५) को पार्थसारथि मिश्र ने शास्त्रदीपिका १.४।१ में उद्धृत करके इसका खण्डन किया है। इससे यह स्पष्ट है कि काशिका टीका शास्त्रदीपिका से प्राचीन है। पार्थसारथि मिश्र का काल वासुदेव अभ्यङ्कर ने ईस्वी सन् ९०० माना है (द्र०—सर्वदर्शन-संग्रह, पृष्ठ ५२७)। अतः सुचरित मिश्र का काल इससे कितना पूर्ववर्ती है, यह कहना अशक्य है। वासुदेव अभ्यङ्कर ने सर्वदर्शन-संग्रह पृष्ठ ५२७ पर सुचरित मिश्र का काल सन् १६०० लिखा है, वह सर्वथा अशुद्ध है।

४ – न्यायरत्नाकर – श्लोकवार्तिक की इस टीका के रचयिता शास्त्रदीपिकाकार **पार्थसारथि मिश्र** हैं। पार्थसारथि के पिता का नाम **यज्ञात्मा** था। पार्थसारथि का काल वि० ९५० (सन् ९००)के लगभग है। यह हम पूर्व लिख चुके हैं। श्लोकवार्तिक की टीकाओं में 'न्यायरत्नाकर' टीका पूर्ण छपी है।

अन्य ग्रन्थ—पार्थसारथि मिश्र ने कुमारिल की टुपटीका पर 'तन्त्ररत्न' नाम्नी टीका लिखी है। न्यायरत्नमाला में भाट्ट मतानुसार मीमांसाशास्त्र-सम्बन्धी अनेक न्यायों पर विचार किया गया है। शास्त्रदीपिका मीमांसाशास्त्र का अधिकरण-विवेचनात्मक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। तन्त्ररत्न हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

ग्रन्थों का पौर्वापर्य शास्त्रदीपिका में तन्त्ररत्न और न्यायरत्नमाला दोनों का उल्लेख होने से ये दोनों शास्त्रदीपिका से पूर्व लिखे गये। न्यायरत्नाकर पृष्ठ ६९ पर शास्त्रदीपिका का उल्लेख होने से ग्रन्थकार ने श्लोकवार्तिक की टीका 'न्यायरत्नाकर' सब से अन्त में लिखी है।

तन्त्रवार्तिक की टीका – तन्त्रवार्तिक जैसे विशाल ग्रन्थ पर **सोमेश्वर भट्ट** ने टीका लिखी है। इसका नाम **न्यायसुधा** है। यह **राणक** नाम से भी व्यवहृत होती है। यह बहुत विस्तृत टीका है। सोमेश्वर भट्ट का काल संवत् १५५० के लगभग है।

म० म० वासुदेव अभ्यङ्कर ने सर्वदर्शन की टीका के अन्त में पृष्ठ ५२७ पर तन्त्रवार्तिक के निम्न टीकाकारों का उल्लेख किया है—

१—मण्डन मिश्र (सं० ८८२, सन् ८२५) **३—कवीन्द्र**

२—कमलाकर भट्ट (सं० १५५७, सन् १५००) **४—पालभट्ट**

हम इनके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते।

टुप्टीका की टीका—पार्थसारथि मिश्र ने भट्ट कुमारिल की शाबरभाष्य अ० ४ से अ० १२ तक की टुप टीका पर **तन्त्ररत्न** नाम की टीका लिखी है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

२—प्रभाकर मिश्र

प्रभाकर मिश्र द्वारा उपपादित मत मीमांसा-सम्प्रदाय में **गुरु-मत** के नाम से भी व्यवहृत होता है। प्रभाकर मिश्र भट्ट कुमारिल के शिष्य थे। उनका मत **गुरु-मत** के नाम से क्यों व्यवहृत होता है, इस विषय में मीमांसकों में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है। जो इस प्रकार है—

एक बार भट्ट कुमारिल शिष्यों को पढ़ा रहे थे। पाठ में एक पङ्क्ति आ गई—**अत्रापि नोक्तम् तत्र तु नोक्तमिति द्विरुक्तम्** (=यहां भी नहीं कहा, वहां भी नहीं कहा, यह दो बार उक्त है। इस पङ्क्ति पर भट्ट कुमारिल सोचने लगे कि 'यहां भी नहीं कहा, वहां भी नहीं कहा, तो यह दो बार कथित कैसे हुआ' ? भट्ट कुमारिल ने पाठ यही समाप्त कर दिया, और कार्यान्तर से बाहर चले गये। उनके पीछे एक शिष्य इस पङ्क्ति के विषय में कागज पर **अत्र अपिना उक्तम्, तत्र तुना उक्तम्** (=यहां यह बात 'अपि' शब्द से कही है, और वहां 'तु' शब्द से। इस प्रकार एक ही अभिप्राय दो बार कहा गया है) लिखकर गुरु-पत्नी को देकर चला गया। घर पर लौटने पर उनकी पत्नी ने वह कागज भट्ट कुमारिल को दे दिया। भट्ट कुमारिल शिष्य की बुद्धिमता पर चकित हो गये। उन्होंने पत्नी से पूछा यह लेख कौन दे गया ? तब पत्नी ने कहा—प्रभाकर। तब भट्ट कुमारिल ने अत्यन्त सन्तुष्ट होकर अगले दिन पाठ के समय प्रभाकर से कहा—**त्वमेव गुरुः** (तुम ही गुरु हो)। ऐसा कहकर प्रभाकर के लिये 'गुरु' नाम ही व्यवहार में प्रयुक्त करने लगे[१]। इस किंवदन्ती से प्रभाकर की असाधारण प्रतिभा का ज्ञान होता है।

प्रभाकर का काल—यदि उक्त किंवदन्ती में कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य हो, तो मानना होगा कि जो काल भट्ट कुमारिल का था, वही भट्ट प्रभाकर का भी है। वर्तमान ऐतिहासिक भट्ट कुमारिल के समान भट्ट प्रभाकर का काल भी विक्रम की आठवीं शती का चतुर्थ चरण मानते हैं।

प्रभाकर के सम्बन्ध में नया विवाद—मीमांसाकोश के रचयिता केवलानन्द सरस्वती ने प्रथम भाग में **प्रस्तावः** प्रकरण के पृष्ठ १३ पर मण्डनाचार्य-विरचित 'विधिविवेक', उसकी वाचस्पति मिश्र लिखित 'न्यायकणिका' टीका, तथा प्रभाकरकृत बृहती के कतिपय वचनों को उद्धृत करके स्थापना की है कि गुरु, जरत्प्राभाकर, नवीनप्राभाकर भिन्न-भिन्न हैं, और बृहती व्याख्या नवीन प्राभाकर की है। हम उक्त स्वामी जी द्वारा निर्दिष्ट सभी वचनों को मूलग्रन्थ और उसके आगे-पीछे के प्रकरण को विचार कर इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि स्वामी केवलानन्द सरस्वती को उक्त वचनों से भ्रान्ति हुई है। इस भ्रान्ति के निम्न कारण हैं—

१—प्रभाकर द्वारा विरचित लघ्वी और बृहती दो टीकाओं का उल्लेख करते हुये भी

१. इस किंवदन्ती में कहीं-कहीं स्वल्प अन्तर भी मिलता है, परन्तु मुख्य तत्त्व 'प्रभाकर ने उक्त पङ्क्ति की संगति लगाई थी' सर्वत्र समान हैं। इस विषय में द्रष्टव्य—आनन्दाश्रम पूना मुद्रित शाबरभाष्य भाग १ (सन् १९२९) में प्रकाशक का आवेदन, पृष्ठ ३।

प्रभाकर के अन्यत्र उद्धृत, परन्तु बृहती में अनुपलब्ध पाठों की लघ्वी में सम्भावना को स्वीकार न करना प्रथम कारण है। पञ्चिकाकार शालिकनाथ ने प्रभाकर की दोनों व्याख्याओं पर दो पञ्चिकाएं लिखी थीं। शालिकनाथ ने स्वयं प्रकरणपञ्चिका (पृष्ठ ४६) में स्पष्ट लिखा है—**एतच्च पञ्चिकाद्वये प्रपञ्चितम्। अत्रापि चानुमानपरिच्छेदे वक्ष्यामः।** सम्प्रति लघ्वी व्याख्या अनुपलब्ध है।

प्रभाकर ने लघ्वी व्याख्या पहले लिखी थी, और बृहती पश्चात्। लघु और बृहत् पाठात्मक दो प्रकार के ग्रन्थों का प्रणयन पाणिनीय अष्टाध्यायी, यास्कीय निरुक्त, और भरत नाट्यशास्त्र आदि में प्रसिद्ध है।

२— वाचस्पति मिश्र ने **जरत्प्राभाकरों** और नवीनप्राभाकरों वा उनके मतों का निर्देश किया है, न कि जरत्प्रभाकर और नवीनप्रभाकर शब्दों का। स्वामी केवलानन्द सरस्वती ने इस प्रयोग पर ध्यान नहीं दिया। प्राभाकर शब्द से प्रभाकर के अनुयायी कहे जाते हैं। उनके द्विधाभाव का प्रतिपादन वाचस्पति मिश्र ने किया है, न कि दो प्रभाकरों का। समयभेद से एक ही आचार्य के शिष्य दो भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। पाणिनीय सम्प्रदाय ने भी **पूर्वपाणिनीयाः अपर पाणिनीयाः** दो प्रकार के पाणिनीय मतानुयायी प्रसिद्ध हैं। द्र०—काशिका ६।२।१०४। कालभेद से दोनों में अन्तर भी हो जाता है। पाणिनीय सम्प्रदाय में वार्तिककार कात्यायन, एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि **पूर्वपाणिनीयाः** के अन्तर्गत आते हैं। इन्होंने पाणिनि के जिस सूत्रपाठ पर लिखा है, वह अष्टाध्यायी का लघुपाठ है। काशिकाकार प्रभृति **अपरपाणिनीयाः** के अनुयायी हैं। इन्होंने अष्टाध्यायी के बृहत्पाठ पर व्याख्याएं लिखी हैं (द्र०—संस्कृत-व्याकरणशास्त्र इतिहास, भाग १, पृष्ठ २१९-२२०, संवत् २०३०)। इसी प्रकार यहां भी प्रभाकर के लघ्वी व्याख्या के अनुयायी जरत्प्राभाकर, और कालान्तर में लिखी गई बृहती व्याख्या के अनुयायी नवीनप्राभाकर कहाते हैं।

३—बृहती (काशी सं०) पृष्ठ १८१ में **तदिदमनुपासितगुरोश्चोद्यम्**, तथा १०३ में **किमनया अनुपासितगुरुकथया** प्रयोगों में स्वामी केवलानन्द सरस्वती ने 'गुरु' शब्द से शाबरभाष्य-व्याख्याता गुरु (=प्रभाकर) का ग्रहण समझा है। स्वामी जी ने पूर्वापर प्रसंग को किञ्चिन्मात्र भी नहीं देखा, और पूर्व भूल के कारण यहां भी भूल कर बैठे। **अनुपासितगुरु** तो एक मुहावरा है। जो भी किसी शास्त्र के तत्त्व को यथावत् नहीं समझता, उसे **अनुपासितगुरु** कहा जाता है। क्योंकि जो गुरु के चरणों में चिरकाल तक बैठकर शास्त्र का अध्ययन नहीं करता, वह शास्त्र के गम्भीर अभिप्राय को जानने में असमर्थ होता है।

इसके आगे पृष्ठ १५ पर **टीकाकारः** उपशीर्षक के अन्तर्गत लिखा है—

प्रमाणान्तरागोचरः शब्दमात्रावलम्बनः नियोक्तोऽस्मीति प्रत्यात्मवेदनीयः सुखादिवत् अपरामृष्टकालत्रयः लिङ्गादीनामर्थो विधिरिति (विधिविवेक तथा न्यायकणिका, पृष्ठ ४८)। यह पङ्क्ति बृहती के तर्कपाद में ध्यानपूर्वक देखने पर भी हमें उपलब्ध नहीं हुई। इसके विषय में हमारा कहना है कि प्रभाकर की लघ्वी व्याख्या जब तक उपलब्ध न हो जावे, और उसमें भी यह पङ्क्ति न मिले, तब तक कोई परिणाम निकालना प्रमाणकोटि में नहीं स्वीकार किया जा सकता

है । तथा यह भी अभी तक प्रमाणित नहीं हुआ है कि प्रभाकर ने बृहती व्याख्या तर्कपादान्त ही लिखी था । इस वाक्य से तर्कपाद के आगे भी सम्भावना हो सकती है । आगे पुनः लिखा है—

१—टीकाकारः प्रयोजनं दर्शयति–लोक इत्यादि भाष्यस्य । ऋजुविमला पृष्ठ १, काशी संस्करण ।

२—टीकाकारः पृच्छति किमनेनावधार्यते । ऋजु० पृष्ठ ३८, काशी संस्करण ।

३—'तदाह भगवान् वार्तिककारः' (प्राभाकरीयः) इत्युक्त्वा कानिचिद् वार्तिकानि विलिख्य 'तदेतट्टीकाकारो भगवान् न मृष्यति' इत्युक्त्वा 'यथागुरुदर्शनं किञ्चिदुच्यते' (ऋजु० पृष्ठ ९०, काशी संस्करण) इससे शालिकनाथ वार्तिककार टीकाकार और गुरु की भिन्नता दर्शाता है ।

ऋजुविमला में उद्धृत वार्तिककार प्रभाकर-मत का है, श्लोकवार्तिककार भट्ट कुमारिल नहीं है । इस के उपपादन के लिये लिखा है—

४—तदाहुः वार्तिककारमिश्राः - गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्टं प्रयोजनम् । शब्दान्तरैर्विभक्त्या वा धूमोऽयं ज्वलतीतिवत् ॥ ऋजु० पृष्ठ ७०, काशी संस्करण ।

५—तदाह वार्तिककारः—यावच्चाव्यतिरेकित्वं स ह्यंशेनापि शक्यते । विपक्षस्य कुतस्तावत् हेतोर्गमकता बलम् ॥ ऋजु० पृष्ठ ८४, काशी संस्करण ।

इन्हें उद्धृत करके लिखा है कि—ये श्लोक भाट्ट वार्तिक में उपलब्ध नहीं होते, इसलिये यह प्राभाकरीय वार्तिककार होगा ।

स्वामी केवलानन्द सरस्वती ने ऊपर जो कुछ लिखा है, वह अविचारित रमणीय है । हम क्रमशः उद्धृत इन पाठों के सम्बन्ध में क्रमशः ही विचार करते हैं—

१—जब शालिकनाथ स्पष्ट लिखता है कि **टीकाकारः प्रयोजनं दर्शयति–लोक इत्यादिभाष्यस्येत्यादिना**, तब टीकाकार बृहतीकार से भिन्न है, यह कल्पना ही नहीं हो सकती है, क्योंकि टीकाकार के नाम से जो पङ्क्ति उद्धृत की है, वह बृहती की प्रथम पङ्क्ति ही है ।

२—ऋजुविमला पृष्ठ ३८ के **तत्र टीकाकारः पृच्छति** में उक्त टीकाकार भी बृहतीकार ही है, क्योंकि **'किमनेनावधार्यते इति'** प्रतीकरूप से उद्धृत वचन बृहती का ही है ।

३—तृतीय उद्धरण **तदाह भगवान् वार्तिककारः** लिखकर जो वार्तिकश्लोक उद्धृत किये हैं, वे हमें श्लोकवार्तिक में उपलब्ध नहीं हुये । परन्तु इस विषय में दो बातें ध्यान में रखना आवश्यक हैं । एक—भट्ट कुमारिल ने श्लोकवार्तिक तन्त्रवार्तिक और टुप् टीका के अतिरिक्त दो ग्रन्थ एक बृहट्टीका तथा दूसरा कारिका भी लिखे थे, यह हम पूर्व अमुद्रित **मीमांसानयकोश** के प्रमाण से लिख चुके हैं (द्र०—पृष्ठ ४७) । बृहट्टीका और कारिका ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं । अतः श्लोकवार्तिक में अनुपलब्ध वार्तिककारीय वचन उसके इन ग्रन्थों से उद्धृत किये गये होंगे । दूसरा—मीमांसा के अतिरिक्त वेदान्त पर भी वार्तिक ग्रन्थ है । कुछ वार्तिक उसके भी हो सकते हैं । इसी उद्धरण में **यथागुरुदर्शनम्** में गुरु बृहतीकार ही है । पहले शालिकनाथ ने

भट्ट कुमारिल का मत उद्धृत किया है, उसके पश्चात् वह शाबरभाष्य की गुरुमत=प्रभाकर-मत के अनुसार व्याख्या करता है।

अब संख्या ४–५ के उद्धरणों के विषय में लिखते हैं—

४—ऋजुविमला पृष्ठ ७० पर **वार्तिककारमिश्राः** का संकेत करके जो श्लोक उद्धृत किया है, उसके सम्बन्ध में स्वामी केवलानन्द सरस्वती का यह लिखना कि यह श्लोक कुमारिल के श्लोकवार्तिक में नहीं मिलता, चिन्त्य है। सम्भव है स्वामी जी ने उक्त वचन के आद्य चरण से इसको श्लोकवार्तिक में ढूंढा होगा। परन्तु **गम्यमानस्य चार्थस्य** पूर्वभाग वाक्याधिकरण के ४३ वें श्लोक का उत्तरार्ध है, और **शब्दान्तरैर्विभक्त्या** अगले ४४ वें का पूर्वार्ध है। **गम्यमानस्य चार्थस्य** श्लोक का आदिचरण न होने से उन्हें श्लोक सूची में नहीं मिला, और झट से लिख दिया कि यह वचन श्लोकवार्तिक का नहीं है। यतः **गम्यमानस्य चार्थस्य** वचन श्लोकवार्तिक में उपलब्ध है, इसलिये यहां निर्दिष्ट **वार्तिककार मिश्र** निश्चय ही भट्ट कुमारिल हैं।

५—ऋजुविमला पृष्ठ ८४वां श्लोक भट्टीय श्लोकवार्तिक में नहीं है। उसके ग्रन्थान्तर से ऋजुविमलाकार ने संगृहीत किया होगा। इस अभिप्रायवाला श्लोकार्ध निरालम्बनवाद के २७ वें श्लोक में विद्यमान है।

विशेष—यहां यह ध्यान में रखने योग्य है कि शालिकनाथ ने बृहती की ऋजुविमला टीका में **वार्तिककार** का नामनिर्देशपूर्वक साढे आठ श्लोक (=१७ अर्ध) उद्धृत किये हैं, और बिना नामनिर्देश के भट्ट कुमारिल के श्लोकवार्तिक के पांच श्लोक (=१० अर्ध) उद्धृत किये हैं। इन साढे तेरह श्लोकों (२७ अर्धों) में से साढे छः श्लोक (=१३ अर्ध) श्लोकवार्तिक में मिलते हैं, सात श्लोक (१४ अर्ध) श्लोकवार्तिक में नहीं मिलते (द्रष्टव्य—मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'बृहती' ग्रन्थ)। इससे स्पष्ट है कि ऋजुविमला में निर्दिष्ट वार्तिककार भट्ट कुमारिल ही है। और जो उसके श्लोक श्लोकवार्तिक में नहीं मिलते, वे उसके अन्य ग्रन्थों से उद्धृत किये गये होंगे। ऋजुविमला के आरम्भ का जो उद्धरण (द्र०—सं० १) स्वामी केवलानन्द सरस्वती ने उद्धृत किया है, उसका पूरा पाठ इस प्रकार है—

लोक इत्यादिभाष्यं यत्नगौरवं प्रसज्येतेत्येवमन्तमर्थशब्ददूषणार्थमौचित्यानुभाषणपरमिति वार्तिककारेण व्याख्यातम्। तत्तु मन्दप्रयोजनमिति मत्त्वा टीकाकारः प्रयोजनं दर्शयति—लोक इत्यादि भाष्यस्येत्यादिना।

इस उद्धरण में स्मृत वार्तिककार भट्ट कुमारिल ही है। उन्होंने **लोक इत्यादि भाष्यस्य** (श्लोकवार्तिक प्रतिज्ञासूत्र श्लोक २६) कहकर जो व्याख्या की है, उसको ध्यान में रखकर बृहतीकार ने उसे मन्दप्रयोजन कहा है। वस्तुतः बृहती व्याख्या प्रभाकर ने भट्ट कुमारिल के मन्तव्य के खण्डन के लिये ही लिखी है। यह बात बृहती के अध्ययन से स्पष्ट है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि स्वामी केवलानन्द सरस्वती ने टीकाकार, वार्तिककार, गुरु वा जरत्प्राभाकर और नवीनप्राभाकर के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह शास्त्र का गम्भीर

ज्ञान न होने, और बिना पूर्वापर का चिन्तन किये होने से सर्वथा प्रमाणरहित है। मीमांसकों की वार्तिककार प्रभाकर टीकाकार वा गुरु के सम्बन्ध में जो प्रसिद्धि है, वह सर्वथा यथार्थ है।

प्रभाकर के व्याख्या ग्रन्थ—भट्ट प्रभाकर मिश्र अपर नाम 'गुरु' ने शाबरभाष्य पर लघ्वी और बृहती दो व्याख्याएं लिखी थीं। बृहती का **निबन्धन** और लघ्वी का **विवरण** भी नामान्तर है। बृहती का केवल प्रथम पाद ही दो स्थानों से मुद्रित हुआ है। एक काशी से, दूसरा मद्रास विश्वविद्यालय से। काशी-संस्करण की अपेक्षा मद्रास का संस्करण उत्कृष्ट है। इसमें परिशिष्ट में बृहती और ऋजुविमला दोनों में उद्धृत उद्धरणों के मूलस्थान (=आकर-ग्रन्थ) का निर्देश बहुत उपयोगी है। इसका दूसरा भाग भी छपा है, जिसमें बृहती का अन्य कोशानुसारी पाठ, तथा शालिकनाथ-विरचित मीमांसाभाष्य-परिशिष्ट के दो पाठ दिये हैं। बृहती व्याख्या पूर्ण शावरभाष्य पर लिखी गई थी, अथवा उपलब्ध अंश तक ही, इसका निश्चायक कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हुआ। लघ्वी तो नाममात्रावशेष हो गई है।

भट्ट प्रभाकर ने लघ्वी और बृहती व्याख्यायें भाट्ट मत के निरासन के लिये लिखी थीं। भाट्ट-मत और गुरु-मत में अनेक विषयों के मौलिक चिन्तन में मतभेद है।

बृहती और लघ्वी की व्याख्याएं—शालिकनाथ ने लघ्वी और बृहती दोनों पर **पञ्चिका** नाम्नी टीकाएं लिखी थीं। बृहती की पञ्चिका का नाम **ऋजुविमला** है। बृहती की तर्कपादान्त ऋजुविमला टीका बृहती के दोनों संस्करणों में छपी है। लघ्वी की पञ्चिका का **दीपशिखा** नाम था। शालिकनाथ ने मीमांसाभाष्य-परिशिष्ट भी लिखा था। यह बृहती के मद्रास-संस्करण के द्वितीय भाग में छपा है। प्रभाकर मत की विवेचना के लिये शालिकनाथ ने प्रकरणात्मक **प्रकरण-पञ्चिका** नाम का ग्रन्थ लिखा है। यह काशी से प्रकाशित हो चुका है। इनके अतिरिक्त शालिकनाथ ने **मीमांसा-जीवरक्षा** और **वाक्यार्थमातृकावृत्ति** ग्रन्थ भी लिखे हैं।

शालिकनाथ का परिचय—शालिकनाथ का कुछ भी परिचय उपलब्ध नहीं होता। कुछ लोगों का कहना है कि शालिकनाथ प्रभाकर के साक्षात् शिष्य थे। इसमें साधक कोई प्रमाण नहीं मिलता। सम्भवतः इस मान्यता में ऋजुविमला के आरम्भ में **प्रभाकरगुरोर्भावं मितगम्भीरभाषिणः** में प्रभाकर के साथ गुरु-प्रयोग कारण होगा। परन्तु यदि भट्ट कुमारिल के प्रकरण में उल्लिखित किंवदन्ती में कुछ सचाई होवे, तो प्रभाकर का गुरु अपरनाम ही यहां गृहीत हो सकता है।

गौडदेशीय—न्यायकुसुमाञ्जलि में गौडमीमांसक का मत उद्धृत है।[1] उस की बोधिनी टीका में **गौडो मीमांसकपञ्चिकाकारः** अभिप्राय व्यक्त किया है[1]। इससे पञ्चिकाकार शालिकनाथ के गौड(वंग)देशीय होने की प्रतीति होती है।

---

१. वेदानुकारेण पठ्यमानासु मन्वादिस्मृतिषु अपौरुषेयत्वाभिमानिनो गौड़मीमांसकस्यार्थनिश्चयः। न्यायकुसुमाञ्जलि, पृष्ठ ६९। बोधिनी—गौडो मीमांसकः पञ्चिकाकारः। गौडो हि वेदाध्ययनाभावाद् अवेदत्वं न जानातीति गौडमीमांसकस्येत्युक्तम्। पृष्ठ १२१॥ इन प्रमाणों के लिये देखिये—मद्रास से प्रकाशित बृहती, भाग २, प्रस्तावना, पृष्ठ ३४॥

काल शालिकनाथ के काल के विषय में किसी ने कुछ नहीं लिखा। प्रभाकर-विजय के कर्ता केरलदेशीय नन्दीश्वर ने ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है—**नाथद्वयात्तसारेऽस्मिन् शास्त्रे मम परिश्रमः।** इसमें स्मृत नाथद्वय हैं—'नयविवेक' का कर्ता भवनाथ, और पञ्चिका का कर्ता शालिकनाथ। इससे इतना ही विदित होता है कि शालिकनाथ प्रभाकरविजय के कर्ता नन्दीश्वर से प्राचीन हैं। स्वामी केवलानन्द सरस्वती ने मीमांसाकोश भाग १ के आरम्भ (पृष्ठ १६) में नन्दीश्वर के वर्णन के अनन्तर कोष्ठक में (सन् ५००—६००) लिखा है, पर इसमें उन्होंने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया।

नया प्रमाण - हम एक प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिससे इतना विदित होता है कि शालिकनाथ न्यायरत्नाकर के लेखक पार्थसारथि मिश्र से प्राचीन है। पार्थसारथि मिश्र ने श्लोक-वार्तिक उपमान-परिच्छेद के **प्रत्यक्षेऽपि यथादेशे** श्लोक (३६) की व्याख्या में शबरस्वामी के **गवयदर्शनं गोस्मरणस्य** (द्र०—मीमांसाभाष्य हिन्दीव्याख्या, उपमानप्रमाण, पृष्ठ ३०) अंश पर लिखा है—

केचित्तु गोस्मरणस्येति पुरुषपरं व्याचक्षते। तत्र नन्द्यादिषु स्मरतेः पाठो मृगयितव्यः। केचित्तु बहुव्रीहिमिच्छन्ति। तदपि वैयधिकरण्यादयुक्तम्। बहुव्रीहिः समानाधिकरणानामिति स्मृतेः। न्यायरत्नाकर पृष्ठ ४४५—४४६।

अर्थात्—कुछ व्याख्याता **गोस्मरणस्य** का पुरुषपरक (=**गोः स्मरणः=स्मरणकर्ता**) व्याख्यान करते हैं। इसमें **नन्द्यादि** (अष्टा० ३.१।१३४) सूत्रस्थ नन्द्यादिगण में स्मरति के पाठ का अन्वेषण करना चाहिये। अर्थात् नन्द्यादिगण में 'स्मृ' धातु का पाठ न होने से यह चिन्त्य है। कुछ व्याख्याता [गोस्मरण] में बहुव्रीहि मानते हैं, वह भी व्यधिकरणता के कारण अयुक्त है। 'बहुव्रीहि समानाधिकरणों का होता है' ऐसी स्मृति है।

न्यायरत्नाकर के इस पाठ की तुलना शालिकनाथ की ऋजुविमला के निम्न पाठ के साथ करिये—

गोस्मरणस्येति—गवि स्मरणं यस्येति बहुव्रीहिर्वा। गाः स्मरतीति वा कर्तरि 'नन्द्यादिभ्यो ल्युः' (द्र०—अष्टा० ३।१।१३४ सूत्र) **इति ल्युः स्मरणात्। गोः स्मरणः गोस्मरणः षष्ठीसमासः।** ऋजुविमला, काशी सं०, पृष्ठ ८३; मद्रास सं०, पृ० १०७।

अर्थात्—गोविषय में स्मरण है जिसका, बहुव्रीहिसमास। गौवों का स्मरण करता है, इस अर्थ में कर्ता में नन्द्यादिभ्यो ल्युः (द्र०—अष्टा० ३।१।१३४) से 'ल्यु' प्रत्यय के स्मरण से। गो का स्मरण (=स्मरणकर्ता)=गोस्मरण=षष्ठीसमास।

इन दोनों उद्धरणों की तुलना से व्यक्त है कि न्यायरत्नाकरकार पार्थसारथि मिश्र **केचित्** पद से ऋजुविमला के पाठ को ही उद्धृत कर रहे हैं। इसलिये शालिकनाथ पार्थसारथि मिश्र वि० सं० ९५० से प्राचीन हैं। कितने प्राचीन हैं, इसकी पूर्व सीमा हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि इसमें धर्म-कीर्ति और दिङ्नाग से भिन्न सभी ग्रन्थकार वा ग्रन्थ अतिप्राचीन हैं। धर्मकीर्ति और दिङ्नाग भी

अतिप्राचीन ग्रन्थकार हैं, यह हम भट्ट कुमारिल के प्रसङ्ग में (पृष्ठ ४३–४४) कह चुके हैं। आधुनिक ऐतिहासिकों द्वारा निर्धारित इनका काल सर्वथा मिथ्या है ।

३—मुरारि

भट्ट मुरारि ने भी शाबरभाष्य पर व्याख्या लिखी थी, परन्तु यह सम्प्रति उपलब्ध नहीं होती । भट्ट मुरारि की व्याख्या कुमारिल और प्रभाकर दोनों की व्याख्याओं से कुछ विषयों में भिन्न मत रखती थी । यह **मुरारेस्तृतीयः पन्थाः** इस आभाणक से विदित होता है ।

पं० बलदेव उपाध्याय ने अपने भारतीय-दर्शन पृष्ठ ३७९ (सन् १९४२) में लिखा है—'गङ्गेश उपाध्याय और उनके पुत्र वर्धमान उपाध्याय ने अपने ग्रन्थों में मुरारि मिश्र के मत का उल्लेख किया है । मुरारि ने भवनाथ के मत का खण्डन किया है । अत: इन का समय १२ शतक प्रतीत होता है । इनके दो छोटे अधिकरण-विवेचनात्मक ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुये हैं—'त्रिपादी-नीतिनयन और एकादशाध्यायाधिकरण' ।

मुरारि मिश्र का **अङ्गत्वनिरुक्ति** नाम का एक ग्रन्थ आनन्दाश्रम पूना से मुद्रित शावरभाष्य भाग ३ के अन्त में छपा है । उसमें **पार्थसारथि मिश्र** और **खण्डदेव** के वचनों को उद्धृत करके उनका प्रत्याख्यान उपलब्ध होता है । यथा—

१—तन्त्ररत्ने पार्थसारथिः । पृष्ठ ११५४ ।

२—एतेनेतिकर्तव्यतात्वेनान्वितं क्रत्वर्थत्वम्, तद्भिन्नत्वं पुरुषार्थत्वमिति शास्त्रदीपिकोक्त-मपि परास्तम् । पृष्ठ ११५५ । शास्त्रदीपिका पार्थसारथि मिश्र कृत ग्रन्थ है ।

३—केचित्तु स्वयंप्रार्थितवृत्त्युद्देश्यतानिरूपितविधेयताशालित्वं पुरुषार्थत्वम्, स्वयंप्रार्थित-भिन्नवृत्त्युद्देश्यतानिरूपितविधेयताशालित्वं क्रत्वर्थत्वम् । पृष्ठ ११५५ ।

४—फले पुरुषार्थत्वव्यवहारोऽङ्गत्वव्यवहारवद् भाक्त इत्याहुः । पृष्ठ ११५५ ।

तृतीय और चतुर्थ वचन खण्डदेवकृत भाट्टदीपिका से उद्धृत हैं । इनमें प्रथम स्वयं-प्रार्थित्व० वचन भाट्टदीपिका अ० १, पाद १, अधि० २ (कलकत्ता संस्करण, पृष्ठ २७२) का है । द्वितीय वचन अर्थत: अनूदित है । द्र०—भाट्टदीपिका ३।१।३ (कलकत्ता संस्करण, पृष्ठ १०२) ।

खण्डदेव का काल निश्चित है । शम्भु भट्ट ने भाट्टदीपिका की व्याख्या प्रभावली के अन्त में संवत् १७२२ में अपने गुरु खण्डदेव के स्वर्गवास का निर्देश किया है (विशेष खण्डदेव के प्रकरण में देखें) । इस कारण अङ्गत्वनिरुक्ति का लेखक यह मुरारि मिश्र शाबरभाष्य-व्याख्याता भट्ट मुरारि से भिन्न है । अन्यथा पं० बलदेव उपाध्याय का लेख 'गङ्गेश उपाध्याय और उनके पुत्र वर्धमान उपाध्याय ने अपने ग्रन्थों में मुरारि मिश्र के मत का उल्लेख किया है' अप्रमाण होगा ।

एक मुरारि 'अनर्घराघव' नाटक का रचयिता है। यह मौद्गल्य गोत्री 'वर्धमान' और 'तन्तुमती' का पुत्र है। यह मुरारि भवभूति अपरनाम उम्बेक से उत्तरवर्ती है। किसी कवि ने मुरारि के सम्बन्ध में कहा है—

मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररी कुरु॥

इस मुरारि कवि का काल विक्रम की नवम शताब्दी है। यदि यही मुरारि मीमांसाभाष्य-व्याख्याता हो, तो मीमांसक मुरारि का उपर्युक्त काल उपपन्न हो सकता है। पर दोनों (=कवि-मीमांसक) के एकत्व में विशिष्ट प्रमाण अभी अपेक्षित हैं।

सम्प्रदायप्रवर्तक त्रयी—मीमांसाशास्त्र के इतिहास में **भट्ट कुमारिल, गुरु-प्रभाकर** और **मुरारि मिश्र** ये तीन व्यक्ति नये सम्प्रदायों के प्रवर्तक हैं। इनमें भाट्ट सम्प्रदाय बहुजन-परिगृहीत है। मीमांसाशास्त्र पर लिखनेवालों में पिच्यानवें प्रतिशत विद्वान् भाट्ट सम्प्रदाय के हैं। गुरु वा प्रभाकर सम्प्रदाय के लेखकों की गणना अंगुलियों पर परिगणनीय है। मुरारि-सम्प्रदाय तो लुप्त ही हो चुका है। उसके तो ग्रन्थ भी दुर्लभ हो गये हैं।

४—गोविन्द स्वामी

गोविन्दस्वामी ने **'भाष्यविवरण'** नाम से शावरभाष्य की एक व्याख्या लिखी थी। इसके एकमात्र हस्तलेख की प्रतिलिपि सन् १९३२ में हिन्दू विश्वविद्यालय के लिये हमारे मीमांसाशास्त्र के परम गुरु स्व० म० म० चिन्नस्वामी जी ने मंगवाई थी। उन्होंने उसकी अपने लिये प्रतिलिपि करने के लिये मुझे दी थी। मैंने उसकी प्रतिलिपि करके पूज्य गुरुवर्य को दी थी। यह हस्तलेख मीमांसा १।२।१ से आरम्भ होकर संम्भवतः प्रथमाध्याय अथवा द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद तक का था। यह व्याख्या संक्षिप्त परन्तु अत्यन्त स्पष्ट है। इसके कुछ विशिष्ट पाठ मैंने प्रतिलिपि करते समय अपने शावरभाष्य के प्रान्त पर लिखे थे। उन्हें तत्तत्स्थान पर मैंने व्याख्या में उद्धृत किया है।

मीमांसाभाष्य की हिन्दी-व्याख्या लिखते समय मैंने इसे प्राप्त करने के लिये श्री पूज्य गुरुवर्य पं० पट्टाभिरामजी को लिखा। उनके पत्र से ज्ञात हुआ कि स्व० परम गुरु म० म० चिन्न स्वामी जी शास्त्री के संग्रह को उनके स्वर्गवास के पीछे दीमक ने चाट लिया। गुरुवर्य के संग्रह में अनेक प्राचीन दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थ थे। हिन्दू विश्वविद्यालय की जिस प्रति से मैंने प्रतिलिपि की थी, वह भी उनके संग्रह से किसी प्रकार नष्ट हो गई है। अतः चाहते हुये भी मैं इस उपयोगी व्याख्या से लाभ नहीं उठा सका।

गोविन्द स्वामी का परिचय—शावरभाष्य पर **'भाष्यविवरण'** नाम की व्याख्या लिखनेवाले गोविन्दस्वामी के विषय में हम साक्षात् कुछ नहीं जानते हैं। परन्तु गोविन्दस्वामी कृत ऐतरेय-ब्राह्मण-भाष्य और बौधायन-धर्मविवरण के व्याख्याता का नामसादृश्य, और व्याख्या के 'विवरण' नामसादृश्य से अनुमान होता है कि तीनों व्याख्याओं के लेखक एक ही गोविन्दस्वामी हैं। ऐतरेय-

ब्राह्मण-व्याख्या अमुद्रित है, हमने नहीं देखी, और शाबरभाष्य-विवरण भी इस समय हमारे पास नहीं है। अतः हम इनके एकत्व के विषय में इदमित्थं रूप से कुछ नहीं कह सकते। पं० भगवद्दत्त ने 'वैदिक-वाङ्मय का इतिहास' के 'ब्राह्मण-आरण्यक' भाग में पृष्ठ २११ (सन् १९७४) पर ऐतरेय-ब्राह्मण-भाष्य के आधार पर लिखा है कि गोविन्दस्वामी के पिता का नाम विष्णु संकर तथा माता का नाम अरविन्दा है—

आत्मजेनारविन्दाया विष्णोस्संस्कृतिजन्मना।
गोविन्देनैतरेयस्य व्याख्यानं क्रियतेऽधुना॥

काल—गोविन्दस्वामी का काल अज्ञात है। पं० भगवद्दत्त ने अनेक ग्रन्थों के पाठों और उद्धरणों के आधार पर लिखा है कि—'मेधातिथि का ध्यान गोविन्दस्वामी के [बौधायनधर्म-सूत्र] विवरण की ओर था, यदि यह बात सत्य निकले, तो गोविन्दस्वामी का काल नवम शताब्दी से पहले हो सकता है। वै० वा० इति०, ब्राह्मण-आरण्यक भाग, पृष्ठ २११ (सन् १९७४)।

गोविन्दस्वामी ने ऐतरेय-ब्राह्मण अ० २५ में भट्टाचार्य (=कुमारिल) को उद्धृत किया है। बौधायनधर्मसूत्र-विवरण १।२।५ में भट्ट कुमारिल और उसके तन्त्रवार्तिक को उद्धृत किया है (द्र०—काशी संस्करण, पृष्ठ ७)। और मीमांसाभाष्य-विवरण में भी वह प्रायः भट्ट कुमारिल का अनुसरण करता है। कई स्थानों पर तो वह भट्ट कुमारिल के संक्षेप से कहे गये विषय को विस्तार से लिखता है। मेरे पास इस व्याख्या की जो १०–१५ संक्षिप्त टिप्पणियां निर्दिष्ट हैं, उन में से दो के पाठों की तन्त्रवार्तिक के पाठों से तुलना उपस्थित करता हूं—

१—तन्त्रवार्तिक—स्वरेण रूपभेदं मन्यन्ते। लोक-वेदाधिकरण।

भाष्य-विवरण—नियतस्वरो वैदिकोऽग्निशब्दः, अनियतस्वरश्च लौकिकः। लोक-वेदाधिकरण।

२—तन्त्रवार्तिक—यत्तु भाष्यकारो विपरीतार्थे द्रव्यशब्देन तदाश्रयगुणलक्षणया नञस्चासमर्थसमासमङ्गीकृत्य न द्रव्याश्रयवचनशब्दो भवेद् आकृतिवादिन इत्याह, तदतिक्लिष्टं व्यधिकरणनिर्दिष्टगुणप्रयोगार्हं चेत्युपेक्षितव्यम्। तत्रापि चैवमक्षरार्थमात्रयोजना—'द्रव्याश्रयस्य गुणस्य यः शब्दोऽद्रव्यशब्दः स आकृतेर्निर्गुणत्वादेकवाक्यसम्बन्धं गोत्वं शुक्लमित्यादिवन्न प्रतिपद्यते।'
—तन्त्र० १।३।३१॥

इस पाठ के अन्तिम ' ' संकेतित अंश की भाष्य-विवरण के निम्न अंश से तुलना करें—

भाष्यविवरण—अद्रव्याश्रय इतिच्छेदः। अनेन सौत्रं पदमनूदितम्। तच्च गुणशब्द इति व्याख्यातम्—द्रव्याश्रयस्य शब्द इति। न च जातेरपि द्रव्याश्रयत्वात् कथं द्रव्याश्रयस्य शब्दो गुण शब्द एवेति वाच्यम्। द्रव्यत्वे नञा पर्युदस्ते तदन्यापेक्षायां द्रव्यमात्राश्रयत्वात् गुणशब्दः शीघ्रमुपतिष्ठते। जातिस्तु द्रव्यगुणकर्माश्रयत्वात् नेति गुण एव द्रव्याश्रयस्य शब्द इत्याशयः।
—मी० १।३।३१॥

इस तुलना से हमारा उपरिनिर्दिष्ट निष्कर्ष स्पष्ट हो जाता है।

पूर्वमीमांसा के अन्य ग्रन्थकार

मीमांसाशास्त्र के भाष्यकारों और उनके व्याख्याताओं का संक्षिप्त वर्णन करके अब हम इस शास्त्र से सम्बद्ध कतिपय अन्य ग्रन्थकारों का उद्देशमात्र से उल्लेख करते हैं। इन ग्रन्थों को तीन विभागों में बांट सकते हैं—

१—सूत्रवृत्ति ग्रन्थ २—अधिकरणप्रधान व्याख्या-ग्रन्थ ३—प्रकीर्ण ग्रन्थ

१. वृत्तिकार

द्वादशाध्यायी मीमांसाशास्त्र के सूत्रों के अनेक वृत्तिकार हुये हैं। उनमें से जिनकी वृत्तियां प्रकाश में आ चुकी हैं, उनके विषय में संक्षेप से वर्णन करते हैं—

१—वेङ्कटनाथ—वेङ्कटनाथ का दूसरा नाम वेदान्ताचार्य भी है। इसने मीमांसा पर एक वृत्ति लिखी है। इस वृत्ति का नाम **सेश्वर-मीमांसा** है। इस व्याख्या के केवल आरम्भ के दो पाद ही 'काञ्ची' से प्रकाशित हुये हैं। ग्रन्थकार ने इतने भाग पर ही वृत्ति लिखी थी, अथवा सम्पूर्ण पर, यह अज्ञात है। इस वृत्ति के सम्पादक प्रतिवादिभयङ्कर अनन्ताचार्य ने इस विषय में कुछ नहीं लिखा। वेङ्कटनाथ रामानुज सम्प्रदाय का प्रसिद्ध व्यक्ति है। इस का काल विक्रम संवत् १४०० वा इससे पूर्व है।

सेश्वर-मीमांसा की विशेषता—मीमांसकों में प्रमुख भाट्ट प्राभाकर सम्प्रदायवाले निरीश्वरवादी हैं। वे ईश्वर को नहीं मानते। वेङ्कटनाथ ने अपनी वृत्ति में वेद और जगत् का कर्ता ईश्वर को स्वीकार करते हुये निरीश्वरवादियों के मत का खण्डन किया है। और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भगवान् जैमिनि निरीश्वरवादी नहीं थे।

२—खण्डदेव—खण्डदेव ने मीमांसा के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से तृतीयाध्याय के तृतीय पाद के सातवें बलाबलाधिकरण-पर्यन्त **मीमांसा-कौस्तुभ** नाम से विस्तृत व्याख्या लिखी है। खण्डदेव ने इस व्याख्या में मीमांसाशास्त्र के प्रायः सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध ग्रन्थकारों के मतों का खण्डन-मण्डन किया है। यह मीमांसाशास्त्र का एक दुरूह गुरु-गम्य ग्रन्थ है।

खण्डदेव 'देव' कुलोत्पन्न दाक्षिणात्य है। ये काशी के प्रसिद्ध 'ब्रह्मनाल' महाल में रहते थे। इनका जीवनकाल विक्रम के १६५० से १७२२ तक रहा है। जन्म-समय अज्ञात है, परन्तु स्वर्गवास काल सं० १७२२ निश्चित है। खण्डदेव के शिष्य शम्भु भट्ट ने भाट्टदीपिका की प्रभावली टीका के अन्त में लिखा है—

यः खण्डदेवनामाऽऽसीत् श्री धीरेन्द्राभिधां गतः।
वर्षे नेत्रद्विसप्तद्विजपतिगणिते (संवत् १७२२) मासि···
वारे जैवे प्रभाते सकलपितृतिथौ प्रोष्ठपद्याः परस्याम्।
काश्यां श्री ब्रह्मनाले निरुपमचरितः खण्डदेवाभिधानः,
प्राप्तः श्रीब्रह्मभावं विविधवरगुरुर्ब्रह्मवर्यो यतीन्द्रः॥

इससे स्पष्ट है कि खण्डदेव काशी के ब्रह्मनाल मोहल्ले में रहते थे। चरम अवस्था में उन्होंने संन्यास ले लिया था। उनका संन्यासाश्रम का नाम श्रीधरेन्द्र यतीन्द्र था। खण्डदेव के पिता का नाम रुद्रदेव था। ये पूर्वोत्तरमीमांसा के विशिष्ट विद्वान् थे। ये भी काशी में ही रहते थे। खण्डदेव के गुरु दिनकरभट्ट के पुत्र गागाभट्ट अपरनाम विश्वेश्वर थे, ऐसी प्रसिद्धि है। पण्डितराज जगन्नाथ ने मीमांसाशास्त्र का अध्ययन खण्डदेव से ही किया था।[1]

खण्डदेव ने मीमांसा-कौस्तुभ के अतिरिक्त अधिकरण-व्याख्यारूप भाट्टदीपिका (सम्पूर्ण), और प्रकरणात्मक भाट्टरहस्य ग्रन्थ लिखे थे[2]।

३—वासुदेव दीक्षित—वासुदेव दीक्षित विरचित अध्वर-मीमांसा की कुतुहलवृत्ति अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। ग्रन्थकार क्लिष्ट से क्लिष्ट विषय को भी अति सरलरूप से कथन करने में सिद्धहस्त है। सिद्धान्त-कौमुदी पर इनकी लिखी बालमनोरमा टीका भी इसी प्रकार की है। इस ग्रन्थ का तृतीयाध्याय के चतुर्थपाद पर्यन्त भाग लगभग ३५ वर्ष पूर्व म० म० श्री कुप्पु स्वामी जी ने सम्पादित करके प्रकाशित किया था। अब इस ग्रन्थ को गुरुवर श्री पं० पट्टाभिरामजी शास्त्री से सम्पादित कराकर 'लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय-संस्कृत-विद्यापीठ, देहली' ने प्रकाशित किया है।

ग्रन्थकार के पिता का नाम महादेव वाजपेयी, माता का नाम अन्नपूर्णा, और अग्रज का नाम विश्वेश्वर वाजपेयी था। वासुदेव दीक्षित ने शास्त्रों का अध्ययन अपने अग्रज विश्वेश्वर वाजपेयी से किया था। यह चोल (तञ्जौर) देश के भोंसलवंशीय शाहजी, शरभ जी और तुक्को जी नामा तीन राजाओं के मन्त्री विद्वान् सार्वभौम आनन्दराय का अध्वर्यु था। वासुदेव दीक्षित का काल सं० १७४०–१८०० वि० के मध्य है (द्र०–संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ५३८, संवत् २०३०)।

मीमांसकों और याज्ञिकों में कई यज्ञीय कर्मकलापों में मतभेद है। मीमांसक न्यायसिद्ध कर्म के पक्षधर हैं, और याज्ञिक शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्रों के यथाश्रुत शब्दार्थ का आश्रय करके कर्म करते हैं। ऐसे मतभेदों में वासुदेव दीक्षित ने अपनी याज्ञिक-परम्परा का ही अनेक स्थानों में पोषण किया है, और न्यायसिद्ध मीमांसक-पक्ष का खण्डन वा उपेक्षा की है। कुतुहलवृत्तिकार ने अनेक सूत्रों की व्याख्या शाबरभाष्य की उपेक्षा करके भट्टकुमारिल के मतानुसार की है।

वासुदेव दीक्षित का यह ग्रन्थ मीमांसा-वाङ्मय में अप्रतिम है। इससे शास्त्र का तात्पर्य जिस सुगमता से जाना जाता है, उतनी सुगमता से अन्य किसी व्याख्या-ग्रन्थ से विदित नहीं होता।

४—रामेश्वर सूरि—रामेश्वर सूरि ने जैमिनीय सूत्रों की स्वल्पाक्षरा सुगमवृत्ति लिखी

---

१. देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे (काश्यां) शासनं जैमिनीयम्। रसगङ्गाधर। देवादेव-खण्डदेवादेवेति तत्प्रदीपे नागेशः।

२. खण्डदेव-विषयक परिचय पूज्य गुरुवर म० म० चिन्नस्वामी शास्त्री जी लिखित मीमांसा-कौस्तुभ की भूमिका (पृष्ठ २–५) के आधार पर लिखा है।

है। इसका नाम **सुबोधिनी** है। यह सन् १९२३ में मेडिकल हाल प्रेस, बनारस (वाराणसी) से प्रकाशित हो चुकी है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में प्रथम उपलब्ध हस्तलेख के अनुसार **क्षितिकण्ठकृता** लेख छपा है। परन्तु कुछ अंश छप जाने पर सम्पादक को इस ग्रन्थ का द्वितीय हस्तलेख प्राप्त हुआ। उसमें कुछ अध्यायों के अन्त में **राम, रामेश, रामेश्वर** नाम का उल्लेख मिलता है। परन्तु ग्रन्थ के सम्पादक नित्यानन्द पर्वतीय ने अपनी भूमिका में द्वितीय पुस्तक को आधार मानकर 'सुबोधिनी' का कर्ता रामेश्वर सूरि को माना है। द्वितीय कोष के १०–११–१२ अध्यायों के अन्त में ग्रन्थ-प्रणयन काल भी उपलब्ध होता है। उसके अनुसार क्रमशः १०–११–१२ अध्यायों की समाप्ति शालिवाहन शक १७५९, १७६०, १७६१ अर्थात् विक्रम संवत् १८९४, १८९५, १८९६ में हुई है।

अन्य वृत्तिकार—श्री वासुदेव अभ्यङ्कर ने 'सर्वदर्शन-संग्रह' की 'दर्शनाङ्कुर' टीका के अन्त में चौथे परिशिष्ट में मीमांसाशास्त्र पर ग्रन्थ लिखनेवाले आचार्यों की सूची दी है। उसके पृष्ठ ५२८ पर लगभग १८ सूत्र-वृत्तिकारों वा उनके ग्रन्थों के नाम कालनिर्देशपूर्वक लिखे है। हमें इन नामों में कई प्रकार की भ्रान्तियां प्रतीत होती हैं। अतः हमने उन्हें यहां नहीं लिखा है। जो पाठक इस विषय में विशेष देखना चाहें, उक्त ग्रन्थ में देखलें।

२. अधिकरण-प्रधान व्याख्या-ग्रन्थकार

जिस प्रकार पाणिनीय-व्याकरण के पठनपाठन में विक्रम की १२ वीं शती में परिवर्तन आरम्भ हुआ, और पाणिनीय सूत्रक्रम का परित्याग करके प्रक्रियाक्रम से अध्यनाध्यापन उत्तरोत्तर बढ़ता गया, उसी प्रकार मीमांसाशास्त्र में भी लगभग १० वीं ११ वीं शती से सूत्रक्रम से मीमांसा-शास्त्र का पठन-पाठन शिथिल होने लगा। उसके स्थान में एक प्रकरण=एक अधिकरण अर्थात् एक विषय के सूत्रों का आशय संगृहीत करके ग्रन्थ-निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हुई। और अध्येता वा अध्यापक सूत्रक्रमानुसारी शावरभाष्य आदि ग्रन्थों की उपेक्षा करके अधिकरण-प्रधान ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन करने-कराने लगे। इसके साथ ही भट्ट कुमारिल से विरासत में मिला खण्डन-मण्डन प्रधान हो गया। उसमें भी एक अन्तर आ गया। भट्ट कुमारिल ने तो अधिकतर खण्डन अन्य दार्शनिकों का, विशेषकर बौद्धों का किया था। अब इन लोगों ने स्वशास्त्रीय मतभेदों को ही प्रधानता देकर खण्डन-मण्डन आरम्भ किया। इससे जहां शास्त्र-तात्पर्य दुरूह हो गया, वहां अव्यवस्थित भी हो गया। कोई भी निपुणमति सम्प्रदायवित् यह कहने में असमर्थ है कि यह पदार्थ इसी रूप में है। क्योंकि जिस पदार्थ की एक लेखक स्थापना करता है, दूसरा लेखक उसी का खण्डन करता है। अब हम कतिपय अधिकरण-प्रधान व्याख्या-ग्रन्थों का वर्णन करेंगे—

१—पार्थसारथि मिश्र—मीमांसा-श्लोकवार्तिक के व्याख्याकार पार्थसारथि मिश्र ने **'शास्त्र-दीपिका'** नामक ग्रन्थ की रचना की। पार्थसारथि मिश्र का परिचय वा काल हम पूर्व (पृष्ठ ४९ में) लिख चुके हैं। 'शास्त्रदीपिका' मीमांसाशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। यह पर्याप्त कठिन है। इसका तर्कपाद (मी० अ० १, पाद १) विशेषरूप से कठिन है। क्योंकि

इसमें अन्य दार्शनिक मतों का खण्डन अधिक मात्रा में है। यदि हम इस भाग को श्लोकवार्तिक का सार कहें, तो अत्युक्ति न होगी। शास्त्रदीपिका पर अनेक मीमांसकों ने व्याख्याएं लिखीं हैं। यथा—

क—रामकृष्ण—रामकृष्ण ने 'शास्त्रदीपिका' पर सिद्धान्त-चन्द्रिका व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या का पूरा नाम **'युक्तिस्नेहपूरणी सिद्धान्त-चन्द्रिका'** है। रामकृष्ण ने इसके आरम्भ में अपने वंश वा स्थान आदि का विस्तृत परिचय दिया है। यह पाराशर गोत्रज **श्री माधव** और **प्रभावती** का पुत्र था। इसका अभिजन (पूर्वजों का स्थान) नर्मदा के उत्तर तीर पर वर्तमान माहिष्मती (साम्प्रतिक महेश्वर) और ओङ्कारेश्वर तीर्थों से युक्त मालवदेश था। रामकृष्ण के पिता मालवा से आकर काशी में बस गये थे। वहीं रामकृष्ण का जन्म हुआ। रामकृष्ण ने 'राज-राजा' उपनामक पं० गोपीनाथ से भाट्ट पद, और पं० बलभद्र गुरु से **पण्डितशिरोमणि** पद प्राप्त किया था। रामकृष्ण के लेखानुसार उससे पूर्व किसी अन्य ने शास्त्रदीपिका की व्याख्या नहीं लिखी थी[1]। इसने पूरे ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी अथवा वह अधूरी रही, यह हमें ज्ञात नहीं। इस व्याख्या का केवल तर्कपादमात्र निर्णयसागर बम्बई से प्रकाशित शास्त्रदीपिका में छपा है। इसने स्वीय 'सिद्धान्त-चन्द्रिका' पर स्वयं **'सिद्धान्त-चन्द्रिका-गूढार्थ विवरण'** भी लिखा था। यह भी तर्कपादान्त बम्बई के संस्करण में छपा है।

सम्भव है रामकृष्ण ने सम्पूर्ण शास्त्रदीपिका पर व्याख्या लिखी हो, और वह इस कारण नष्ट हो गई हो कि मीमांसकों में सोमनाथ की मयूखमालिका टीका को अधिक महत्त्व मिल गया हो। मयूखमालिका का आरम्भ प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से होता है। अतः सम्भव है रामकृष्ण ने केवल प्रथम पाद पर ही व्याख्या लिखी हो, और उसके आगे सोमनाथ ने मयूखमालिका लिखकर रामकृष्ण द्वारा आरब्ध टीका को समाप्त किया हो।

ख—सोमेश्वर—तन्त्रवार्तिक की 'न्यायसुधा' व्याख्या के लेखक सोमेश्वर भट्ट ने शास्त्रदीपिका पर कर्पूरवार्तिक के नाम से व्याख्या लिखी थी। सोमेश्वर का काल वि० संवत् १५५० है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ४९ पर) लिख चुके हैं।

ग—सोमनाथ—सर्वतोमुखयाजी सोमनाथ ने शास्त्रदीपिका के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से आरम्भ करके बारहवें अध्याय पर्यन्त **मयूखमालिका** नाम्नी टीका लिखी है। सोमनाथ के पिता का नाम महामहोपाध्याय सूरभट्ट है। सोमनाथ ने अपने अग्रज **वेङ्कटाद्रि यज्वा** से शास्त्राध्ययन किया था। सोमनाथ का काल सामान्यतया सं० १५९७ (सन् १५४०) माना जाता है। सोमनाथ के विषय में इससे अधिक वृत्त ज्ञात नहीं होता। सोमनाथ ने मयूखमालिका का आरम्भ प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से किया है, यह इसके आरम्भ में कृत मङ्गलाचरण से विदित होता है। सोमनाथ ने द्वितीय पाद से ही टीका लिखना क्यों आरम्भ किया, इसका कारण उसने नहीं लिखा। सम्भव है प्रथम पाद पर रामकृष्ण की व्याख्या होने से उसने उसके आगे से व्याख्या लिखी हो।

---

१. न शास्त्रदीपिकाटीका कृता केनापि सूरिणा। तदपूर्वाध्वसंचारी नोपहास्यः स्खलन्नपि॥

घ - सुदर्शनाचार्य—पञ्जाब प्रान्तीय सुदर्शनाचार्य नाम के आधुनिक विद्वान् ने शास्त्र-दीपिका के तर्कपाद पर प्रकाश नाम्नी सुन्दर सुबोध टीका लिखी है। सुदर्शनाचार्य शास्त्र के तात्पर्य को सरल शब्दों में उद्घाटित करने में सिद्धहस्त हैं। इन्होंने न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य पर भी एक विस्तृत सुबोध व्याख्या लिखी है। यह न्यायभाष्य के तात्पर्य-परिज्ञान में परम सहायक है।

इनके अतिरिक्त पं० वासुदेव अभ्यङ्कर ने सर्वदर्शन-संग्रह की टीका के चौथे परिशिष्ट में शास्त्रदीपिका के निम्न व्याख्याकारों, तथा उनकी व्याख्याओं के नाम और उनके काल का ईस्वी सन् में इस प्रकार उल्लेख किया है—

ङ—नारायण		सं० १६३७ (सन् १५८०)
च—कमलाकर	आलोक	सं० १६४७ (सन् १५९०)
छ—भट्ट दिनकर	भाट्ट दिनकर	सं० १६५७ (सन् १६००)
ज—शङ्करभट्ट	प्रकाश	सं० १७५७ (सन् १७००)
झ—बालम्भट्ट	प्रभा	सं० १८०७ (सन् १७५०)

२—माधवाचार्य—आचार्य माधव ने शास्त्रदीपिका के क्लिष्ट ग्रन्थ होने से सरलता से मीमांसाशास्त्र के अधिकरणस्थ विचार को हृदयंगम कराने के लिये उसके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष को संक्षेप से जैमिनीय न्यायमाला नाम से श्लोकबद्ध कर उन्होंने स्वयं उस पर परिमित शब्दों में 'स्फुट विस्तर' नाम्नी व्याख्या लिखी। इस प्रकार इस दो विभागोंवाले ग्रन्थ का नाम जैमिनीय न्यायमाला-विस्तर प्रसिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ के अभ्यास से जैमिनीयशास्त्र का सामान्य बोध सुगमता से हो जाता है। श्लोकात्मक भाग कण्ठस्थ कर लेने से मीमांसाशास्त्र का तात्पर्य सदा बुद्धिस्थ बना रहता है। हमने मीमांसाध्ययन के काल में इससे लाभ उठाया है। श्लोक भाग को पृथक् लिखकर स्मरण करने का प्रयत्न किया था। इस ग्रन्थ में लगभग १५०० श्लोक हैं।

न्यायमालाविस्तर की रचना विजयनगराधिप महाराज बुक्कण के काल में उनके अमात्य माधव ने की है। अतः इस ग्रन्थ की रचना का काल वि० सं० १४२१–१४३७ (सन् १३३४–१३८०) के मध्य हुई होगी।

३—खण्डदेव—'मीमांसा-कौस्तुभ' नामक सूत्र-व्याख्या के रचयिता खण्डदेव ने शास्त्र-दीपिका के अनुकरण पर भाट्टदीपिका नामक ग्रन्थ लिखा। खण्डदेव ने मीमांसा-कौस्तुभ के समान ही भाट्टदीपिका रचना भी प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से आरम्भ की। यह ग्रन्थ सम्प्रति समग्र उपलब्ध होता है। इसके दो संस्करण कलकत्ता और मैसूर से छपे हैं। इनमें कलकत्ता संस्करण नवम अध्याय के चतुर्थपाद के छठे अधिकरण तक ही है। इसका मुद्रण किसी कारण पूरा नहीं हो पाया। सातवां अधिकरण अधूरा ही है। मैसूर संस्करण चार भागों में प्रकाशित हुआ था। दोनों ही संस्करण चिरकाल से अप्राप्य हैं। मैसूर संस्करण में भाट्टदीपिका के नाम से प्रथम पाद की

व्याख्या भी छपी है, परन्तु यह खण्डदेव कृत नहीं है। इसकी रचना भास्करराय दीक्षित ने की है। वह स्व-विरचित संकर्षकाण्ड की भाट्टचन्द्रिका के अन्त में लिखता है—

> खण्डदेवकृतभाट्टदीपिका लक्षणैः कतिपयैरसम्भृता।
> इत्युदीक्ष्य बुधभास्कराग्निचित् भारती बरिभरांबभूव ताम्॥
> अद्यावधि कृतिरेषाऽऽद्यन्तविहीनेति दीपिकाख्याऽऽसीत्।
> षोडशकलाभिरधुना परिपूर्णा भाट्टचन्द्रिकात्वमगात्॥
> आसीत् षोडशलक्षणी श्रुतिपदा या धर्ममीमांसिका,
> संकर्षाख्यचतुर्थभागविधुरा कालेन साऽजायत।
> गायत्री त्रिपदात्मिकेव विबुधैरद्यापि या पठ्यते,
> तां पूर्णामतनोच्छ्रमेण महता गम्भीरजो भास्करः॥

इनका भाव यह है कि खण्डदेवकृत भाट्टदीपिका कुछ लक्षणों (सूत्रों) से अपूर्ण थी (आरम्भ में तर्कपाद की व्याख्या न होने से, तथा अन्त में संकर्षकाण्ड की व्याख्या न होने से)। यह देखकर भास्कर अग्निचित् ने उसे पूर्ण किया। आज तक भाट्टदीपिका नामक यह कृति आद्यन्त भाग से रहित थी। अब वह भाट्ट चन्द्रिका (=भाट्ट मत को प्रकाशित करनेवाली चन्द्र किरण) षोडश कलाओं (=सोलह अध्यायों) से परिपूर्णता का प्राप्त हुई। पूर्वकाल में श्रुतिपदों से युक्त धर्ममीमांसा सोलह अध्यायवाली थी। परन्तु चतुर्थभागरूप (चार अध्यायों) से वह कालान्तर में हीन हो गई। सम्प्रति तीन पादोंवाली गायत्री के रूपवाली (=४-४ अध्यायों का एकचरण, ४×३ चरण=१२ अध्यायरूप) सभी विद्वानों से पढ़ी जाती है। उसे भास्करराय ने महान् श्रम से पूर्ण किया है, अर्थात् ४ चरणवाली=१६ अध्यायवाली बना दिया है।

यद्यपि मैसूर संस्करण में प्रथमाध्याय के प्रथमपाद के आरम्भ में खण्डदेवीय मंगलाचरण तथा अन्त में 'खण्डदेवकृतायां भाट्टदीपिकायाम्' छपा है, पुनरपि भास्करराय के उपरि उद्धृत श्लोकों से स्पष्ट है कि मैसूर संस्करण में प्रकाशित प्रथमाध्याय के प्रथम पाद की भाट्टदीपिका भास्करराय दीक्षित विरचित है।

भाट्टदीपिका के व्याख्याता—खण्डदेव कृत भाट्टदीपिका पर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएं लिखी हैं। यथा—

क—शम्भु भट्ट—शम्भु भट्ट ने भाट्टदीपिका पर **प्रभावली** नाम्नी विस्तृत व्याख्या लिखी है। यह सम्पूर्ण उपलब्ध होती है, परन्तु अभी तक तृतीय अध्याय के तृतीयपाद पर्यन्त ही छपी है। शम्भु भट्ट खण्डदेव का साक्षात् शिष्य है। खण्डदेव का काल हम पूर्व (पृष्ठ ५९ पर) शम्भु भट्ट के वचन से ही निर्दिष्ट कर चुके हैं। अतः शम्भु भट्ट का काल सं० १६८०-१७५० तक माना जा सकता है।

शम्भु भट्ट ने अपनी व्याख्या में अपने गुरु खण्डदेव के मतों का भी कहीं-कहीं खण्डन किया है। इसका उल्लेख उसने इन शब्दों में किया है—

यद्यप्यत्र गुरोः कृतावपि मयाऽप्युद्भाव्यते काचना-
संभूतिस्तदपि प्रचारचतुरे नैषा पुरोभागिता।
किन्तु क्ष्मातिलकाः कुशाग्रधिषणाः सिद्धान्तबद्धादरा
मद्वाक्यं परिहृत्य तत्कृतिमलं कुर्वन्त्वियं मे मतिः ॥ आरम्भ में

इससे शम्भुभट्ट की विनम्रता और विचार-स्वातन्त्र्य में बद्धादरता स्पष्ट विदित होती है।

अन्य व्याख्याएं—भाट्टदीपिका पर कतिपय अन्य विद्वानों ने भी व्याख्याएं लिखी हैं। यथा—

ख—भास्करराय कृत	भाट्ट-कल्पतरु	घ—रामसुब्बा शास्त्री कृत	प्रभावली
ग—कुट्टि शास्त्री कृत	भाट्ट-चिन्तामणि	ङ—नारायण भट्ट कृत	नयोद्योत

प्रकरण ग्रन्थ

इनके अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने मीमांसाशास्त्र के विविध प्रकरणों को लेकर अनेक प्रकरण ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से कतिपय ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

१. शालिकनाथ	सं० ८४७ (सन् ७९०)	प्रकरण पञ्जिका
२. मण्डन मिश्र	सं० ८८२ (सन् ८२५)	मीमांसानुक्रमणी
"	" "	विधिविवेक
वाचस्पति मिश्र	सं० ९०७ (सन् ८५०)	विधिविवेकटीका—न्यायकणिका
३. भवनाथ		नयविवेक
४. नन्दीश्वर		प्रभाकर विजय
५. गागा भट्ट	सं० १६०७ (सन् १५५०)	भाट्ट-चिन्तामणि
६. राघवानन्द	सं० १६५७ (सन् १६००)	भाट्ट-संग्रह
७. अप्पय दीक्षित		विधिरसायन
८. आपदेव	सं० १६८७ (सन् १६३०)	मीमांसा-न्यायप्रकाश
अनन्तदेव	सं० १७२७ (सन् १६७०)	मीमांसान्यायप्रकाश-वृत्ति
९. लौगाक्षि भास्कर	सं० १६९७ (सन् १६४७)	अर्थसंग्रह
अर्जुनमिश्र	सं० १७२७ (सन् १६७०)	अर्थसंग्रह टीका
शिवयोगी	सं० १७३२ (सन् १६७५)	" "
१०. शंकर भट्ट	सं० १७५७ (सन् १७००)	मीमांसाबालप्रकाश
११. कृष्णयज्वा		मीमांसा-परिभाषा
१२. नारायण भट्ट		भाट्ट-भाषाप्रकाशिका
१३.…………		भाट्ट-भाषा-प्रकाश
१४. सत्यज्ञानानन्द	वि० १८ शती के अन्त में	वेदप्रकाश

इस प्रकरण में कुछ नाम वा कालनिर्देश म० म० वासुदेव अभ्यङ्कर विरचित सर्वदर्शन की टीका के चतुर्थ परिशिष्ट के अनुसार दिये हैं। सं० १, ३, ४ के व्यक्ति प्रभाकर-मत के अनुयायी हैं, शेष सभी भाट्टमतानुयायी हैं।

इस प्रकार जैमिनि मुनिकृत मीमांसाशास्त्र के १२ अध्यायों पर व्याख्यायें लिखनेवाले मीमांसकों, उनके व्याख्या ग्रन्थों तथा विविध टीकाएं लिखनेवालों का हमने अतिसंक्षिप्त निदर्शन कराया है। अब आगे जैमिनिकृत १३–१६ अध्याय, जो **संकर्षकाण्ड** वा **संकर्षणकाण्ड** के नाम से प्रसिद्ध है, उनके व्याख्याकारों का निदर्शन कराते हैं—

संकर्षकाण्ड (मीमांसा अ० १३-१६) के व्याख्याता

शबरस्वामी से पूर्व जिन आचार्यों ने विंशत्यध्यायात्मक पूर्वोत्तर-मीमांसा अथवा षोडशाध्यायात्मक पूर्वमीमांसा शास्त्र के भाष्य लिखे थे, उन्होंने संकर्षकाण्ड (मी० अ० १३–१६) पर भी भाष्य लिखे थे, यह स्वतः प्राप्त है। इनमें—

१—बोधायन (विंशत्यध्यायात्मक पूर्वोत्तरमीमांसा भाष्यकृत्)
२—उपवर्ष " " "
३—देवस्वामी (षोडशाध्यायात्मक पूर्वमीमांसा भाष्यकार)
४—भवदेव " " "

इन आचार्यों के विषय में हम पूर्व (पृष्ठ २३–२९ तक) मीमांसा के भाष्यकार प्रकरण में लिख चुके हैं। **देवस्वामी** का संकर्षकाण्ड का भाष्य मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। इसमें ही कुछ भाग पर (जिस पर देवस्वामी का भाष्य उपलब्ध नहीं था) **भवदेव** का भाष्य छपा है। यह भी हम पूर्व लिख चुके हैं।

संकर्षकाण्ड के इन भाष्यकारों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने इस भाग पर अधिकरण-विवेचन-प्रधान ग्रन्थ लिखे हैं। इनका निर्देश मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित संकर्षकाण्ड की श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री लिखित संस्कृत प्रस्तावना (पृष्ठ ६–७) के अनुसार कर रहे हैं।

१—गोविन्दोपाध्याय—गोविन्दोपाध्याय के द्वारा लिखित संकर्षकाण्ड की व्याख्या का निर्देश हेमाद्रि ग्रन्थ के परिशेष खण्ड में मिलता है—**संकर्षे गोविन्दोपाध्यायेनोक्तम्**। हेमाद्रि द्वारा गोविन्दोपाध्याय का स्मरण होने से इसका काल १३शती से पूर्व रहा होगा। कितना पूर्व रहा होगा, यह अज्ञात है। यदि यह गोविन्दोपाध्याय शाबर-भाष्यविवरणकार गोविन्दस्वामी ही होवे, तो इसका काल अधिक प्राचीन हो सकता है।

२—राजचूडामणि दीक्षित—राजचूडामणि दीक्षित ने अपने काव्यदर्पण में लिखा है—**नव्या संकर्षकाण्डस्य न्यायमुक्तावली तथा**। राजचूडामणि दीक्षित तञ्जौर के राजा रघुनाथ के सभ्य थे। अतः इनका काल विक्रम की १७वीं शती का अन्त (सन् १६३५) रहा होगा। इस विद्वान् ने विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

संकर्षकाण्ड की व्याख्यारूप ये दोनों ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं।

३—भास्करराय दीक्षित—भास्करराय दीक्षित ने खण्डदेव विरचित **भाट्टदीपिका** की पूर्ति के लिये उसी के अनुकरण पर संकर्षकाण्ड पर **भाट्ट-चन्द्रिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह मुद्रित हो चुकी है। इसके विषय में हम पूर्व खण्डदेव के प्रकरण में लिख चुके हैं।

इस प्रकार जैमिनीय षोडशाध्यायात्मक पूर्वमीमांसाशास्त्र के व्याख्याकारों का हमने संक्षेप से वर्णन किया है। शाबरभाष्य की प्रस्तुत हिन्दी-व्याख्या के मुद्रण के अनन्तर हम **जैमिनीय मीमांसाशास्त्र का इतिहास** नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का प्रयास करेंगे। उसमें मीमांसाशास्त्र के समस्त व्याख्याकारों का विस्तृत इतिवृत्त लिखा जायेगा। यहां हमें मीमांसाशास्त्र के प्रवक्ताओं और जैमिनीय मीमांसा के व्याख्याकारों वा उनके ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचयमात्र देना अभीष्ट है।

मीमांसाशास्त्र का शेष भाग (अ० १७—२०) जो **उत्तरमीमांसा, ब्रह्ममीमांसा** वा **वेदान्त-शास्त्र** के नाम से प्रसिद्ध है, के व्याख्याकारों का परिचय हमने नहीं दिया है। इसके दो कारण हैं। प्रथम—हमारी प्रस्तुत व्याख्या का सम्बन्ध जैमिनीय मीमांसा तक ही सीमित है। दूसरा—उत्तर-मीमांसा के इतिहास के विषय में **वेदान्तदर्शन का इतिहास** ग्रन्थ पं० उदयवीर शास्त्री विशेष ऊहापोहपूर्वक लिख चुके हैं।

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा)

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

--०—

वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा-मीमांसा

प्रस्तुत निबन्ध में हम वेद श्रुति और आम्नाय संज्ञा पर विचार करेंगे। मीमांसाशास्त्र में वेद श्रुति और आम्नाय पदों का बहुधा प्रयोग मिलता है। इन संज्ञाओं के सम्बन्ध में वैदिकों में अनेक मत प्रचलित हैं। इसलिये इनके विषय में यह विचार करना आवश्यक है कि इन संज्ञाओं का मुख्यार्थ क्या है ? पहले हम 'वेद' संज्ञा पर विचार करते हैं।

वेद-संज्ञा-मीमांसा

वेद शब्द के विविध अर्थों पर विचार करने से पूर्व इस शब्द के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है।

द्विविध वेद शब्द—वेद शब्द वैदिक-वाङ्मय में दो प्रकार का उपलब्ध होता है। एक—आद्युदात्त और दूसरा—अन्तोदात्त। आद्युदात्त वेद शब्द ज्ञान का पर्याय है, और अन्तोदात्त कुशाओं की मुष्टि से निर्मित यज्ञीय पदार्थ-विशेष का वाचक है। ऐसा वेदार्थ के जाननेवाले आचार्य कहते हैं।

आद्युदात्त वेदशब्द का निर्वचन हमें वैदिक-वाङ्मय में नहीं मिला। अन्तोदात्त का निर्वचन वैदिक-वाङ्मय में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दत तद्वेदस्य वेदत्वम्। तै० सं० १।७।४॥

तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दन्। तै० ब्रा० ३।३।९।६॥

तं (यज्ञं) वेदेनाविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। मै० सं० १।४।८॥

तां (वेदिं) वेदेनाविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। मै० सं० ४।१।१३॥

तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। का० सं० ३१।१२॥

तं (यज्ञं) वेदेनान्वविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। का० सं० ३२।६॥

तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। कपि० ४७।११॥

इन सभी उद्धरणों में दर्भमुष्टि से निर्मित यज्ञीय उपकरण के वाचक वेद शब्द का निर्वचन है, यह इन प्रकरणों के अनुशील से सर्वथा विस्पष्ट है। शुक्लयजुः की संहिताओं में भी वेदोऽसि (माध्य० २।२१; काण्व १।७।७५) मन्त्र में दो बार पठित अन्तोदात्त वेदशब्द भी याज्ञिक-प्रक्रिया में वेदसंज्ञक यज्ञीयोपकरण का ही वाचक है, यह कात्यायन-श्रौत (३।८।२) के पत्नी वेदं प्रमुञ्चति—वेदोऽसीति वचन द्वारा वेद-प्रमुञ्चन में उक्त मन्त्र के विनियोग दर्शाने से स्पष्ट है।

वेद शब्द की द्व्यर्थता और द्विस्वरता को ध्यान में रखकर भगवान् पाणिनि ने **उञ्छादि** (अष्टा० ६।१।१६०) गण के **वेगवेदवेष्टबन्धाः करणे** गणसूत्र में घञन्त करणवाची वेद शब्द को अन्तोदात्त कहा है। करण अभिधेय से अन्यत्र घञन्त वेद शब्द आद्युदात्त होता है। यह अभिप्राय अर्थापत्ति से स्वतः प्राप्त होता है। इसी प्रकार अच् प्रत्ययान्त कर्तृवाचक वेदशब्द को चित्-प्रत्ययान्त होने से **चितः** (अष्टा० ६।१।१६३) नियम से अन्तोदात्तत्व प्राप्त होता था, उसे हटाकर आद्युदात्तत्व का विधान करने के लिये पाणिनि ने **वृषादि गण** (अष्टा० ६।१।२०३) में वेदशब्द का पाठ किया है।

इस निबन्ध में मीमांस्यमान ज्ञानपर्याय आद्युदात्त **वेद शब्द** है। यही ज्ञानपर्याय वेद शब्द आधार और आधेय में अभेद के उपचार से[1] ज्ञान के आधारभूत ग्रन्थों में भी प्रयुक्त होता है। यद्यपि सामान्य यौगिक अर्थ की अपेक्षा से वेदशब्द का प्रयोग ग्रन्थमात्र में होना चाहिये, तथापि पङ्कज आदि शब्दों के समान श्रेष्ठतम आद्य ज्ञान के आधारभूत ऋगादि कतिपय ग्रन्थों में ही प्रयुक्त होता है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

वेद शब्द किन-किन ग्रन्थों का वाचक है, इस विषय में बहुत काल से विद्वानों में मतभेद चला आ रहा है।[2] यथा—

कुछ लोग **'मन्त्रसंहिताएं ही वेद पदवाच्य हैं'** ऐसा कहते हैं।[3]

दूसरे **'मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है'** ऐसा मानते हैं।[4]

अन्य **'आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों का भी वेद में समावेश'** स्वीकार करते हैं।[5]

---

१. जैसे **'मञ्चाः क्रोशन्ति'** वाक्य में मञ्च (=मचान) शब्द मञ्चस्थ (=मचान पर बैठे हुये) पुरुषों के लिये प्रयुक्त होता है।

२. वस्तुतः हमारी दृष्टि में उपर्युक्त मतों में कोई विरोध नहीं है, इनमें प्रथम अर्थ मुख्य हैं, और शेष तत्तद् ग्रन्थों के जो पारिभाषिक अर्थ है, वे उन्हीं ग्रन्थों में ग्राह्य हैं।

३. **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** आपस्तम्ब सूत्र की व्याख्या में हरदत्त और धूर्तस्वामी दोनों ने लिखा है—**कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम् (आख्यातम्)**। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी मन्त्रसंहिताओं की ही वेदसंज्ञा मानी है। द्र०—ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका वेदसंज्ञा-विचार प्रकरण।

४. **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** ऐसा वचन कृष्ण यजुर्वेद के सभी श्रौतसूत्रकारों ने पढ़ा है। इसी प्रकार **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदशब्दः'** कौषीतकि गृह्यसूत्र (३।१२।२३) का वचन है।

५. आचार्य सायण ने ऋग्वेदभाष्य की उपक्रमणिका में उपनिषद् पर्यन्त ग्रन्थों की वेदसंज्ञा मानी है।

कतिपय 'कल्पसूत्र और मीमांसासूत्रों का भी वेदत्व' मानते हैं।[1]

अन्य 'षडङ्गों (छह वेदाङ्गों) का भी वेद में अन्तर्भाव' चाहते हैं।[2]

इस प्रकार वेद शब्द के अनेक अर्थ भिन्न-भिन्न आचार्यों ने स्वीकार किये हैं, उनमें कौनसा अर्थ मुख्य है, और कौनसा गौण, यह विचार उत्पन्न होता है।

दो ही अर्थों की विचारार्हता

उक्त पांच अर्थों में आद्य दो अर्थ ही विचारने योग्य हैं। तृतीय पक्ष स्वीकार करनेवाले भी आरण्यक और उपनिषद् का ब्राह्मणग्रन्थों में अन्तर्भाव मानते हैं। अतः यह मत भी द्वितीय मत के अन्तर्गत आ जाता है। चतुर्थ पक्ष पारस्कर गृह्यसूत्र के किन्हीं व्याख्याताओं द्वारा ही स्वीकृत है। पञ्चम मत तो गृह्यकार ने स्वयं अन्य-मत के रूप में ही उपस्थित किया है। इस प्रकार आद्य दो ही पक्ष विचारणीय रहते हैं। अतः इन दोनों में वेद शब्द का कौनसा अर्थ मुख्य है, और कौनसा गौण है, यह विचार किया जाता है।

यत्परः शब्दः स शब्दार्थः—इस न्याय से शब्द का जो अर्थ अपरिभाषित (=विशेष वचन द्वारा अप्रकाशित) होने से स्वाभाविक होता है, वह मुख्य होता है। और जो किसी वचनविशेष द्वारा परिभाषित (कथित) होने से कृत्रिम होता है, यह गौण कहाता है। इसी प्रकार साहचर्यादि[3] निमित्तों से जो विशेषार्थ जाना जाता है, वह भी नैमित्तिक होने से गौण होता है। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

इस प्रकार प्रधान और गौण अर्थ के सर्वसम्मत लक्षण के अनुसार वेद शब्द के उक्त दो अर्थों में से कौनसा अपरिभाषित अर्थात् स्वाभाविक है और कौनसा किसी वचनविशेष द्वारा बोधित है, यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

ऋक्, यजुः और साम के मन्त्रों को पढ़ते हुये अध्येता वा श्रोता कहते हैं—**ऋग्वेद का अध्ययन किया जाता है, यजुर्वेद का अध्ययन किया जाता है, सामवेद का अध्ययन किया जाता है।** ऋक्, यजुः और साम संहिताओं की वेदसंज्ञा के लिये आज तक किसी ने भी प्रयत्न नहीं किया।

---

१. **विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः** (पार० गृह्य २।६।५) सूत्र के व्याख्यान में भर्तृयज्ञ ने 'तर्क' का अर्थ 'कल्पसूत्र' किया है। कल्पतरुकार ने 'मीमांसा' लिखा है (द्र०—गदाधरटीका)। विश्वनाथ ने न्यायसूत्र का भी वेदत्व माना है। वह उक्त सूत्र की व्याख्या में लिखता है—'तर्को न्यायमीमांसे'।

२. **विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः, षडङ्गमेके** (पार० गृह्य २।६।५, ६) इन सूत्रों की गदाधर की व्याख्या भी द्रष्टव्य है।

३. द्रष्टव्य न्यायदर्शन २।२।६१॥ यहां साहचर्यादि १० कारण उदाहरण सहित व्याख्यात हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों वा उपनिषद् ग्रन्थों के अध्ययन के लिये ब्राह्मण का अध्ययन किया जाता है, उपनिषद् का अध्ययन किया जाता है, इस प्रकार सामान्य रूप से अथवा ऐतरेय का अध्ययन किया जाता है, बृहदारण्यक का अध्ययन किया जाता है, इस प्रकार नामनिर्देशपुरःसर कथन किया जाता है। इनके लिये कोई भी यह नहीं कहता कि ऋग्वेद का अध्ययन करता हूं, यजुर्वेद का अध्ययन करता हूं। ब्राह्मणग्रन्थों के वेदत्व के ज्ञापन के लिये 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' ऐसे अनेक सूत्र प्राचीन ग्रन्थकारों ने बनाये हैं। इस प्रकार के सूत्रों का प्रयोजन विचारणीय है।

यदि यह कहा जाये कि 'ब्राह्मणों के साथ मन्त्रों का भी वेदत्व कहना इसका प्रयोजन है, केवल ब्राह्मणों का नहीं', यह सम्भव हो सकता है, परन्तु जहां इस परिभाषा की अथवा विशेष संज्ञा की प्रवृत्ति नहीं होती, वहां वेद शब्द से मन्त्रों का ही ग्रहण होने और ब्राह्मणों का ग्रहण न होने से जाना जाता है कि वेद पद का स्वाभाविक अर्थात् मुख्य अर्थ मन्त्र ही है, न कि ब्राह्मण भी। इसमें निम्न कारण हैं—

मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा कल्प-सूत्रकारों ने कही है। कल्प-सूत्रकारोक्त वेद संज्ञा को ब्राह्मणग्रन्थों में प्रवृत्त नहीं कर सकते, क्योंकि दोनों में काल की भिन्नता और स्थिति की भिन्नता है।[1] इसलिये ब्राह्मण-ग्रन्थों में जहां कहीं वेद शब्द उपलब्ध होता है, वहां यह विचारणीय हो जाता है कि उसका क्या अर्थ है, अर्थात् ब्राह्मण-ग्रन्थों में पठित 'वेद' शब्द केवल मन्त्र का ही बोधक है, अथवा मन्त्र-ब्राह्मण दोनों का। इसके निश्चय के लिये हम कतिपय-ब्राह्मण वचन उद्धृत करते हैं—

तानि ज्योतींष्यभ्यतपन् तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्……स ऋचैव हौत्रमकरोद् यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथम् इति।
—ऐ० ब्रा० ५।३२॥

यहां उपक्रम में वेद शब्द का प्रयोग है और उपसंहार में ऋक् यजुः और साम शब्दों का। ऋक् यजुः साम मन्त्रों के ही वाचक हैं,[2] यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। उपक्रम और उपसंहार में एक वाक्यता होनी चाहिये। इसलिये उपक्रम में प्रयुक्त वेदरूपी विशिष्ट शब्द भी मन्त्रों के ही

---

१. पाश्चात्य मतानुसार ब्राह्मण-ग्रन्थों और कल्पसूत्रों के प्रवचनकाल में भेद है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रवचन पौर्वकालिक है और कल्पसूत्रों का आपरकालिक। उत्तरकाल में विरचित नियम पूर्वकाल के ग्रन्थों में व्यवहृत नहीं हो सकते। अतः ब्राह्मण-वचनों में जहां-जहां वेद शब्द आया है, वहां-वहां वेद के अन्तर्गत ब्राह्मणों का समावेश नहीं हो सकता। जो मध्यकालीन भारतीय वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी मन्त्रों के समान अपौरुषेय मानते हैं, उनके मत में ब्राह्मण-ग्रन्थों और कल्प-सूत्रों में काल-वैषम्य और स्थिति-वैषम्य दोनों हैं। क्योंकि कल्पसूत्र पौरुषेय हैं, यह मीमांसाशास्त्र प्रतिपादित सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

२. द्रष्टव्य—यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु समाख्या, शेषे यजुःशब्दः। मीमांसा २।१।३५, ३६, ३८॥

वाचक हो सकते हैं। ब्राह्मणों का भी उनमें अन्तर्भाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यहां यह भी ध्यान रहे कि यज्ञों में मन्त्रों का ही प्रयोग होता है, ब्राह्मण वचनों का प्रयोग नहीं होता।[1] अतः **स ऋचैव हौत्रमकरोत्** इत्यादि ऋक् यजु साम का अभिप्राय तत्तत्संज्ञक मन्त्रों से ही है, न कि ब्राह्मण वचनों से भी।

इसी अर्थ को सुदृढ़ करने के लिये मीमांसा-भाष्यकार शबरस्वामी द्वारा उद्धृत निम्न ब्राह्मण वचन भी द्रष्टव्य है—

तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेद……। उच्चैर्ऋचा क्रियत उच्चैः साम्नोपांशु यजुषा इति। द्र०—शाबर भाष्य मी० ३।३।२।।

यहां पर भी उपक्रम में वेद विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हैं और उपसंहार में केवल ऋक् यजुः और साम शब्द। परन्तु यहां पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ऋक् यजुः और साम का जो उच्चैस्त्व और उपांशुत्व धर्म बताया है, वह उन-उन वेदों में पठित मन्त्रों का ही है, न कि उन वेदों के ब्राह्मण वचनों का भी, यह सर्वसम्मत राद्धान्त है। इसलिये इस प्रकार के वचनों में, ब्राह्मण-ग्रन्थों का वेदत्व स्वीकार करनेवाले याज्ञिक भी यहां वेदशब्द का प्रयोग होने पर भी ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं मानते।[2]

इस प्रकार ब्राह्मणवचनों में श्रूयमाण वेद शब्द मन्त्रों का ही वाचक है, यह सिद्ध होता है। मन्त्रों की वेदसंज्ञा का विधायक कोई भी वचन ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि वेदशब्द का मुख्य अर्थ मन्त्र ही है, न कि ब्राह्मण भी। कल्पसूत्रकारों ने अपने-अपने शास्त्रों के कार्य के निर्वाहार्थ जैसे अन्य अनेक विशिष्ट पारिभाषिक संज्ञाएं बनाई हैं, वैसे ही उनकी यह 'वेद' संज्ञा भी पारिभाषिक है। **पारिभाषिक अर्थ कभी मुख्य (=स्वाभाविक) नहीं माना**

---

१. **'विनियोजकं ब्राह्मणं भवति'** (द्र०—तै० सं० भट्टभास्कर-भाष्य, भाग १, पृष्ठ ३, मैसूर सं०) इस याज्ञिकलक्षणानुसार ब्राह्मण मन्त्रों के तत्तत्कर्मों में विनियोगमात्र दर्शाते हैं। विनियोग से शेष ब्राह्मणवचन अर्थवाद कहाते हैं। अर्थवाद स्तुति आदि के द्वारा विधिवाक्य से ही सम्बद्ध होते हैं। यह मीमांसकों का सिद्धान्त है।

२. यद्यपि 'उपसंहार के अनुरोध से उपक्रम में अर्थ का संकोच किया जाता है, ऐसा कोई कह सकते हैं, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में प्रयुक्त वेद शब्द से ब्राह्मण-ग्रन्थों का भी ग्रहण होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ऐसी अवस्था में अर्थसंकोच की कथा ही उत्पन्न नहीं होती (इस प्रकार के वचनों से 'ब्राह्मणग्रन्थ भी अपौरुषेय हैं' यह मत भी ठीक नहीं ठहरता)। यदि दुर्जनसन्तोष-न्याय से उपक्रम में प्रयुक्त ऋग्वेदादि पदों में उपसंहार के अनुरोध से अर्थसंकोच माना जाये, तो उपक्रम में प्रयुक्त ऋग्वेदादि पदों से मन्त्ररूप अर्थ के ही ग्रहण होने पर मन्त्रों की अग्नि आदि से उत्पत्ति अथवा प्रकाशन कहा जायेगा, न कि ब्राह्मणों का भी। इस प्रकार इन प्रमाणों से ब्राह्मणग्रन्थों का अपौरुषेयत्व भी उपपन्न नहीं होता।

जाता, क्योंकि स्वाभाविक होने पर परिभाषा करना व्यर्थ होता है। इस प्रकार मन्त्रों की ही मुख्य वेदसंज्ञा है, ब्राह्मणों की नहीं, यह अर्थ सिद्ध है।

अब हम उक्त मत अर्थात् ब्राह्मण-ग्रन्थान्तर्गत वेदशब्द मन्त्र का ही वाचक है, के विषय में आचार्य शङ्कर का वचन उद्धृत करते हैं। आचार्य शङ्कर ने—**'एवं वाऽरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्'** आदि बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।१० की व्याख्या करते हुये लिखा है—**'यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसश्चतुर्विधं मन्त्रजातम्** ।'

यहां आचार्य शङ्कर ने वेद-पद-घटित ऋग्वेदादि का अर्थ 'चतुर्विधं मन्त्रजातम्' लिखकर स्पष्ट कर दिया कि ब्राह्मणगत वेदविशिष्ट ऋगादि पदों का अर्थ केवल मन्त्र है। वहां ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं होता। अब इसी मत की दृढ़ता के लिये **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** इस सूत्र की विशेष विवेचना करते हैं—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'—सूत्र पर विचार

जो वैदिक विद्वान् मन्त्रों के समान ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद मानते हैं, उनका प्रधान आधार श्रौतकारों का **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** यह प्रसिद्ध सूत्र है। इसलिये इसी सूत्र को आधार बनाकर विचार किया जायेगा, कि क्या इस सूत्र से मन्त्रों के समान ब्राह्मणग्रन्थों की भी मुख्य वेदसंज्ञा सिद्ध हो सकती है, वा नहीं। इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** यह विचार्यमाण सूत्र किन-किन आचार्यों ने अपने श्रौतसूत्रों में पढ़ा है, और किन-किन ने नहीं पढ़ा। तथा जिन्होंने उक्त सूत्र पढ़ा है, उनके पढ़ने का क्या अभिप्राय है?

केवल कृष्ण याजुष श्रौतसूत्रों में—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह सूत्र केवल कृष्णयजुः[1] शाखाओं के आपस्तम्ब सत्याषाढ बौधायनादि श्रौतसूत्रों में ही उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के शाङ्खायन और आश्वलायन, शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन[2], तथा सामवेद के द्राह्यायण और

---

१. यजुर्वेद की विभिन्न शाखाएं शुक्ल और कृष्ण नाम से क्यों व्यवहृत होती हैं, इस विषय के लिये देखें—**'यजुषां शौक्ल्यकार्ष्ण्यविवेकः'** निबन्ध। द्र०—हमारी **'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा'** पृष्ठ २३१–२३६; हिन्दी में—पृष्ठ २३७–२४०।

२. **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** सूत्र कात्यायनीय श्रौतसूत्र में तो नहीं मिलता, परन्तु कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध **प्रतिज्ञा-परिशिष्ट** में उपलब्ध होता है। कात्यायन के नाम से दो **प्रतिज्ञा-परिशिष्ट** हैं। एक—श्रौतसूत्र से सम्बद्ध, और दूसरा—प्रातिशाख्य से सम्बद्ध। उनमें से **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** सूत्र **प्रातिशाख्य-संबद्ध प्रतिज्ञा-परिशिष्ट** में मिलता है, न कि श्रौतसूत्र से सम्बद्ध में। यहां यह भी ध्यान रहे कि कृष्ण यजुओं के सभी श्रौतसूत्रों में यह सूत्र मिलता है। यदि यह कात्यायन-सम्मत सूत्र होता, तो उसके श्रौतसूत्र में अथवा श्रौतसूत्र-सम्बद्ध प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में होता, न कि प्रातिशाख्य सम्बद्ध में। यह विषमता भी ध्यान देने योग्य है। हमारा विचार है कि यह परिशिष्ट अर्वाचीन ग्रन्थ है, कात्यायन मुनि प्रणीत नहीं है।

लाट्यायन श्रौतसूत्रों में उक्त सूत्र या इस अर्थ का वचनान्तर नहीं मिलता। इससे सन्देह होता है कि क्या कारण है कि उक्त सूत्र कृष्णयजुः शाखाओं के श्रौतसूत्रों में ही मिलता है, ऋग्वेद शुक्ल-यजुः तथा सामवेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों में उपलब्ध नहीं होता? इस विषमता का कोई कारण अवश्य होना चाहिये।

विषमता का कारण—हमारी समझ में उक्त विषमता का कारण यह है कि ऋक् शुक्ल-यजुः[1] और साम की संहिताओं में केवल मन्त्र ही हैं, ब्राह्मण नहीं है। इसके विपरीत कृष्णयजुः की समस्त शाखाओं में मन्त्रों के साथ-साथ ब्राह्मण-वचन भी पठित हैं।

इससे स्पष्ट है कि जिन संहिताओं में केवल मन्त्र ही पढ़े गये हैं, उनका वेदत्व लोक में प्रसिद्ध था। इसलिये उनके श्रौतसूत्रकारों ने उक्त सूत्र अपने ग्रन्थ में नहीं पढ़ा। और जिन शाखाओं में ब्राह्मण का भी पाठ था, उनका वेदत्व लोकप्रसिद्ध न होने से अपनी शाखाओं का भी वेदत्व-प्रतिपादनार्थ अथवा अपने स्वशास्त्रीय कार्य की सिद्धि के लिये उनके श्रौतसूत्रकारों ने उक्त सूत्र पढ़ा। ऐसी स्थिति में यह मानना ही पड़ेगा कि **मन्त्रों की ही मुख्य रूप से वेदसंज्ञा है, ब्राह्मणों की नहीं।**

चिरकाल तक आचार्यों ने ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा नहीं मानी—कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रकारों द्वारा मन्त्र और ब्राह्मण की वेदसंज्ञा कर देने पर भी चिरकाल तक अनेक प्राचीन आचार्यों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों का वेदत्व स्वीकार नहीं किया। इसी बात को ध्यान में रखकर **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** इस आपस्तम्बीय सूत्र की व्याख्या में हरदत्त ने कहा है—**'कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्'** अर्थात् किन्हीं आचार्यों ने केवल मन्त्रों को ही वेद माना है। यही बात हरदत्त से पूर्ववर्ती धूर्तस्वामी ने भी इस सूत्र की व्याख्या में लिखी है। इससे भी सिद्ध होता है कि **प्राचीन आचार्यों को मन्त्रों की ही वेदसंज्ञा अभिप्रेत थी, ब्राह्मणों की नहीं।**

परिभाषा-प्रकरण में पाठ—एक बात और ध्यान देने योग्य है, जिन-जिन श्रौतसूत्रों में **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** सूत्र पढ़ा है, उनमें भी वह उनके परिभाषा-प्रकरण में ही पढ़ा गया है। पारिभाषिक संज्ञाएं तभी रखी जाती हैं, जब कि वे लोकप्रसिद्ध न हों, वा शास्त्रान्तरों में अन्यार्थ में प्रसिद्ध हों। जैसे पाणिनि की **सर्वनामस्थान संज्ञा** अलौकिक, और **गुण संज्ञा** न्याय वैशेषिक में अन्यार्थक है। पारिभाषिक संज्ञाएं अपने-अपने शास्त्र में ही स्वीकार की जाती हैं अन्यत्र नहीं, यह भी लोकप्रसिद्ध है। इसलिये जैसे पाणिनि की गुण संज्ञा उसी के शास्त्र में प्रमाण मानी जाती है, अन्यत्र लोक या न्याय वैशेषिक में गुण का पाणिनीय अर्थ 'अ, ए, ओ' स्वीकार नहीं किया जाता, उसी प्रकार **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** सूत्र जिन-जिन श्रौतसूत्रों में पढ़ा है,

१. शुक्ल यजुर्वेद का कात्यायन के नाम से एक जाली सर्वानुक्रमणी-ग्रन्थ प्रसिद्ध है। उसमें शुक्ल यजुः के अनेक पाठों को ब्राह्मण माना है। परन्तु यह समस्त प्राचीन परम्परा के विपरीत है। इसकी सप्रमाण विस्तृत मीमांसा हमने 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' के अन्तर्गत छपे मूल-यजुर्वेद नामक निबन्ध में की है। द्र०—पृष्ठ २४५—२४९।

उन्हीं में 'वेद' शब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण होगा, अन्यत्र नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि मन्त्रों की ही वेदसंज्ञा सर्वसम्मत है, ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं।

तीन वेदों के श्रौतसूत्रों में 'वेद' संज्ञा के अविधान का कारण—ऋग्वेद शुक्लयजुः तथा सामवेद की संहिताओं में मन्त्रों का ही पाठ होने, तथा उनके ब्राह्मणग्रन्थों की सत्ता संहिता से पृथक् होने के कारण **वहां सन्देह ही नहीं होता कि कौन-सा मन्त्र है, और कौनसा ब्राह्मण**। इसलिये इन वेदों के श्रौतसूत्रकारों को **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सदृश सूत्र बनाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

कृष्णयाजुष शाखाओं में मन्त्र-ब्राह्मण-भेदक लक्षण—कृष्णयजुः शाखाओं में मन्त्र और ब्राह्मण का साथ-साथ पाठ होने के कारण यह नहीं जाना जाता कि कितना भाग मन्त्र है और कितना ब्राह्मण, इसलिये कृष्णयजुर्वेदीय याज्ञिकों को मन्त्र तथा ब्राह्मण का भेदबोधक लक्षण बनाना पड़ा—

"अनुष्ठीयमानकर्मस्मारकत्वं मन्त्रत्वं, विनियोजकं च ब्राह्मणम्।"

अर्थात्—'अनुष्ठान किये जा रहे कार्यों का स्मरण करनेवाला मन्त्र, तथा यज्ञ में द्रव्यदेवता आदि का विनियोग दर्शानेवाला ब्राह्मण होता है।

मन्त्र-ब्राह्मण के उक्त लक्षण में अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोष—याज्ञिकों द्वारा पूर्वनिर्दशित मन्त्र और ब्राह्मण का भेदबोधक लक्षण अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोषों से दूषित है। यथा—

अव्याप्ति दोष—याज्ञिकशिरोमणि मीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी ने २४वें अध्याय के अन्तर्गत **'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते'** वचन पर विचार करते हुये मन्त्रलक्षण अधिकरण (मी० २।१।३२, अधि० ७) में लिखा है—

"कथंलक्षणको मन्त्र इति? तच्चोदकेषु मन्त्राख्या। अभिधानस्य चोदकेष्वेवंजातीयकेष्व-भियुक्ता उपदिशन्ति—मन्त्रानधीमहे, मन्त्रानध्यापयामः, मन्त्रा वर्तन्त इति। प्रायिकमिदं लक्षणम्। अनभिधायका अपि केचिन्मन्त्रा इत्युच्यन्ते। यथा 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (यजुः २४।२०) **इति।"**

"प्र०—मन्त्र किसको कहते हैं? उ०—जो वचन यज्ञ में अनुष्ठीयमान कर्म को कहनेवाले हैं, उन्हीं में अभियुक्त=प्रामाणिक पुरुष 'मन्त्रों को पढ़ते हैं, मन्त्र पढ़े जा रहे हैं' आदि व्यवहार करते हैं। वस्तुतः मन्त्र का यह [सूत्रोक्त] लक्षण प्रायिक है [अर्थात् सर्वत्र नहीं घटता]। कुछ ऐसे भी वचन हैं, जो यज्ञ में अनुष्ठीयमान कर्म को कहनेवाले नहीं, परन्तु मन्त्र कहे जाते हैं। यथा—**'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते'** (यजुः २४।२०)।

शबरस्वामी के इस मत को मानकर समस्त अर्वाचीन मीमांसकों ने **"जिन वचनों को प्रामाणिक पुरुष मन्त्र कहें, वह मन्त्र हैं"** ऐसा सिद्धान्त स्थिर किया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन तथा अर्वाचीन समस्त मीमांसकों के मत में न केवल **"वसन्ताय कपिञ्जलानालभते"** इसी वाक्य की

मन्त्र संज्ञा है, अपितु इसी प्रकार के २४वें अध्याय में पठित समस्त द्रव्यदेवता-विधायक वाक्य मन्त्र हैं।

मीमांसकों के अनुसार 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' वाक्य मन्त्रसंज्ञक है, यह शबरस्वामी के उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट है। याज्ञिकों के उक्त लक्षणानुसार इस वाक्य में मन्त्रत्व प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यह वाक्य यज्ञ में क्रियमाण किसी कर्म का स्मारक नहीं है। अतः इस अंश में अव्याप्ति दोष है।

अतिव्याप्ति दोष—ब्राह्मण-बोधक **विनियोजकं ब्राह्मणम्** लक्षण के अनुसार द्रव्यदेवता का विधायक होने से मीमांसकों द्वारा मन्त्ररूप से स्वीकृत 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' में ब्राह्मणत्व की प्राप्ति होती है। अत: इस अंश में अतिव्याप्ति दोष है। इसलिये याज्ञिकों के मन्त्र और ब्राह्मण के भेदबोधक उक्त लक्षण अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोषों से दूषित हैं, यह स्पष्ट है।

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सूत्र-मीमांसा का सार—हमने इस सूत्र पर विविध पहलुओं से जो विचार किया है, तदनुसार ब्राह्मण-ग्रन्थों की वेद संज्ञा न होने में निम्न हेतु हैं—

मन्त्र-ब्राह्मण की वेद-संज्ञा विषय का उपसंहार—हमने **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र पर जो विचार किया है, उससे स्पष्ट है कि प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों के मत में ब्राह्मण-वचनों की वेद संज्ञा नहीं है। इस विषय में निम्न हेतु हैं—

१—मन्त्रात्मक शाकल, वाजसनेय तथा कौथुमादि संहिताओं के श्रौतसूत्रकारों द्वारा "**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**" वचन का निर्देश न होने से।

२—मन्त्र-ब्राह्मण से सम्मिश्रित कृष्णयजुर्वेद की शाखाओं के आपस्तम्बादि श्रौतसूत्रकारों द्वारा ही इस सूत्र की रचना होने से।

३—उन-उन श्रौतसूत्रों में भी उक्त वचन का निर्देश **परिभाषा-प्रकरण में ही होने से**।

४—उक्त सूत्र की व्याख्या में हरदत्त तथा धूर्तस्वामी द्वारा स्पष्ट शब्दों में **'केचिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम् (आश्रितम्)'** अर्थात्—'किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने केवल मन्त्र को ही वेद माना है' लिखा होने से **प्राचीन प्रमाणभूत आचार्यों के मत में मन्त्रों का ही मुख्य वेदत्व है, ब्राह्मणों का नहीं, यह सुनिश्चित हो जाता है।**

कृष्णयजुर्वेद के श्रौतसूत्रकारों ने परिभाषा-प्रकरण में ब्राह्मणग्रन्थों की जो पारिभाषिक वेद-संज्ञा कही है, उसका यही प्रयोजन है कि उनके शास्त्र में वेद शब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण समझा जावे। जैसे पाणिनीय कृत्रिम गुणादि संज्ञाएं उनके शास्त्र में प्रमाण नहीं मानी जातीं। यह पक्ष हमें भी स्वीकार है। अर्थात् हम भी यह मानते हैं कि जिन श्रौतसूत्रों में **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र पढ़ा है, उनमें 'वेद' शब्द से ब्राह्मणवचनों का भी ग्रहण करना चाहिये।

अन्वय-व्यतिरेक हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों का अवेदत्व—अन्वय-व्यतिरेक हेतु से भी ब्राह्मणग्रन्थों

का वेदत्व सिद्ध नहीं होता। यदि आपस्तम्बादि श्रौतसूत्रों के रचनाकाल में ब्राह्मण-ग्रन्थों का भी वेदत्व लोकप्रसिद्ध होता, तो कृष्णयजुः के आपस्तम्बादि श्रौतसूत्र रचयिता भी ऋग्वेद शुक्ल-यजुर्वेद तथा सामवेद के श्रौतसूत्रकारों के समान उक्त वचन न पढ़ते। अथवा मन्त्रों के समान ब्राह्मण का वेदत्व प्रसिद्ध होने पर भी जैसे कृष्णयजुर्वेद के श्रौतसूत्रकारों ने लोकप्रसिद्धि की पुष्टि के लिये उक्त सूत्र रचा, तद्वत् ऋग्वेद शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद के श्रौतसूत्रकार भी उक्त सूत्र का निर्देश करते। परन्तु ऐसा नहीं दीखता (अर्थात् मन्त्रब्राह्मण-संमिश्रित कृष्णयजुः के श्रौतसूत्रकारों ने ही उक्त सूत्र पढ़ा है, केवल मन्त्रात्मक ऋग्वेद शुक्लयजुर्वेद और सामवेद के श्रौतसूत्रकारों ने इस प्रकार का कोई वचन नहीं बनाया)। इससे भी विस्पष्ट है कि मन्त्रों का ही वेदत्व प्राचीन आचार्यों को भी अभिप्रेत है। ब्राह्मणों उनके शेषभूत आरण्यकों तथा तदन्तर्गत उपनिषदों का मुख्य वेदत्व उन्हें इष्ट नहीं है।

उक्त सिद्धान्त के निश्चित हो जाने पर स्पष्ट है कि श्रौतसूत्रादि याज्ञिक ग्रन्थों से भिन्न अयाज्ञिक ग्रन्थों में जो वेद शब्द से ब्राह्मणग्रन्थों का निर्देश मिलता है, वह उन ग्रन्थकारों ने उक्त याज्ञिक मत को स्वीकार करके किया होगा। अथवा मन्त्रव्याख्याभूत ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्याख्येय ग्रन्थ (=वेद) का औपचारिक (=गौण) रूप से प्रयोग किया होगा। व्याख्यान-ग्रन्थों में व्याख्येय ग्रन्थ का उपचार प्रायः लोक में देखा जाता है।

अब हम वेद संज्ञा-विषयक एक अन्य लक्षण पर विचार करते हैं—

वेद-संज्ञा-विषयक एक अन्य लक्षण पर विचार

नवम्बर सन् १९६४ की १२ से १८ तिथियों में अमृतसर नगर में स्वामी करपात्री जी के तत्त्वावधान, और पुरी के शांकर पीठ के आचार्य स्वामी निरञ्जन देव जी के सभापतित्व में **सर्ववेदशाखा-सम्मेलन** का आयोजन हुआ था। उसमें ता० १६–१७–१८ तक 'वेद में विज्ञान है वा नहीं', तथा 'ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा है वा नहीं', इन दो विषयों पर शास्त्रचर्चा हुई थी। इसमें सनातनधर्मावलम्वी विद्वानों और महात्माओं का पक्ष था—"वेद में विज्ञान नहीं, और ब्राह्मणग्रन्थों की भी वेदसंज्ञा है।" इसके विरोध में मेरा पक्ष था—"वेद में विज्ञान का ही प्राधान्येन प्रतिपादन है, और मन्त्रसंहिताओं की ही वेदसंज्ञा है, ब्राह्मण-ग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं है।" इस शास्त्रचर्चा में **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र पर तो विचार हुआ ही था, पर मेरे आक्षेपों का उत्तर न दे सकने पर वेदसंज्ञा-विषयक एक नया लक्षण प्रस्तुत किया गया। उसे भी हम यहां उद्धृत करके उसकी मीमांसा करते हैं—

कुछ विद्वान् ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा सिद्ध करने के लिये वेद का निम्न लक्षण उपस्थित करते हैं—

'सम्प्रदायाविच्छिन्नत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृत्वं वेदत्वम् इति।'

अर्थात्—पठनपाठनरूप गुरुशिष्य-सम्प्रदाय के विच्छिन्न न होने पर भी जिसके रचयिता का ज्ञान न हो, वह 'वेद' कहाता है।

इस लक्षण के अनुसार वादी ब्राह्मणग्रन्थों की भी वेदसंज्ञा मानता है। क्योंकि जैसे मन्त्र-संहिताओं के पठनपाठन-सम्प्रदाय के विच्छेद न होने पर भी उनके रचयिता का ज्ञान नहीं, उसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों के पठनपाठन-रूप-सम्प्रदाय के विच्छेद न होने पर भी उनके रचयिता का नाम अज्ञात है। यदि कोई कहे कि ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों के रचयिताओं के ऐतरेय याज्ञवल्क्य आदि नाम ज्ञात हैं, तो वादी कहाता है कि ये रचयिताओं के नाम नहीं हैं, अपितु प्रवक्ताओं के नाम हैं। जैसे ऋग्वेदसंहिता का शाकल-संहिता नाम शाकल्य आचार्य के प्रवचन के कारण पड़ा, न कि रचयिता होने के कारण। इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों के नामों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

उक्त लक्षण का खण्डन

वस्तुतः उक्त वेदलक्षण से भी ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि उक्त लक्षण अतिव्याप्ति-अव्याप्ति दोष से दूषित है। यथा—

अतिव्याप्तिदोष—वैदिक-वाङ्मय में ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जिनके पठनपाठन का उच्छेद तो नहीं हुआ, पुनरपि उनके रचयिताओं का नाम ज्ञात नहीं है। यथा माध्यन्दिन संहिता का पदपाठ। इस लक्षण के अनुसार ऐसे अज्ञातनामवाले पौरुषेय पद-ग्रन्थ की भी अपौरुषेयत्वरूप वेद-संज्ञा प्राप्त होती है, जो कि इष्ट नहीं। समस्त पदपाठ-संज्ञक ग्रन्थ पौरुषेय हैं, इसमें सभी प्रामाणिक आचार्य एकमत है। पुनरपि पदपाठ के पौरुषेत्व-ज्ञापन के लिये तीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—वा इति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यद्, असुसमाप्तश्चार्थः। निरुक्त ६।२८॥

निरुक्तकार यास्क ने वनेनवायोन्यधायि० (ऋ० १०।२९।१) मन्त्र में पठित 'वायः' को एक पद मानकर व्याख्या करके लिखा है कि—शाकल्य ने वायः में वा यः ऐसा दो पदरूप विभाग किया है, वह अयुक्त है। क्योंकि यः पद का प्रयोग होने पर अधायि क्रिया को उदात्त होना चाहिये। क्योंकि यत् शब्द के योग में पद से परे भी क्रियापद अनुदात्त नहीं होता। द्रष्टव्य—यद्वृत्तान्नित्यम् (अष्टा० ८।१।६६) स्वर-लक्षण।

यहां यास्क ने स्पष्टरूप में ऋग्वेद के पदपाठ को शाकल्य कृत अर्थात् पौरुषेय कहा है, और उसमें दोष दर्शाया है।

२—न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। महाभाष्य ३, १, १०९; ६, १, २०७; ८, २, १६।

अर्थात्—लक्षणों (व्याकरण के नियमों) को पदकारों का अनुवर्तन नहीं करना चाहिये (उनके पीछे नहीं चलना चाहिये), अपितु पदकारों को लक्षणों (व्याकरण के नियमों) का अनुसरण करना चाहिये।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने यह वचन ऐसे तीन स्थानों पर पढ़ा है, जहां पाणिनीय लक्षणों और पदकारों के पदविच्छेद में विरोध उपस्थित होता है। इस वचन से महाभाष्यकार के मत में पदपाठ पौरुषेय हैं, यह स्पष्ट है।

३—महाभाष्यकार के उक्त वचन की व्याख्या करता हुआ आचार्य कैयट (३।१।१०९ में) स्पष्ट लिखता है—

न लक्षणेनेति—संहिताया एव नित्यत्वं, पदच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम् इति।

अर्थात्—मन्त्रसंहिता ही नित्य अपौरुषेय है, पदपाठ पौरुषेय अर्थात् अनित्य है।

अव्याप्तिदोष—उक्त वेदलक्षण में अव्याप्ति दोष भी है। जिन ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों की वादी इस लक्षण से वेदसंज्ञा सिद्ध करना चाहता है, उनमें से अनेक ब्राह्मणग्रन्थों की उक्त लक्षणानुसार वेदसंज्ञा सिद्ध नहीं होती। इसका कारण यह है कि ऐतरेय आदि अनेक ब्राह्मणग्रन्थों के सम्प्रदाय का विच्छेद हो चुका है। इसमें प्रमाण यह है कि ऐतरेय आदि अनेक ब्राह्मणग्रन्थों में सम्प्रति स्वरचिह्न उपलब्ध नहीं होते। प्राचीनकाल में सभी ब्राह्मणग्रन्थ सस्वर थे। ऐसी अवस्था में सस्वर ब्राह्मणग्रन्थों से स्वरों का नाश पठनपाठन-सम्प्रदाय के विच्छिन्न होने पर ही उपपन्न हो सकता है। अन्यथा स्वरनाश का और कोई कारण नहीं माना जा सकता। यतः ऐतरेय आदि कतिपय-ब्राह्मणों में स्वरचिह्न उपलब्ध नहीं होते, अतः इनके पठन-पाठनरूप सम्प्रदाय का उच्छेद हुआ है, यह स्पष्ट है। पठनपाठनसम्प्रदाय के उच्छेद होने पर स्वररहित ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा (=जो वादी को अभिमत है) उक्त लक्षणानुसार उपपन्न नहीं हो सकती।

ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थ पुराकाल में सस्वर थे। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—पाणिनीय व्याकरण से ज्ञात होता है कि पुराकाल में वैदिकी वाक् के समान लौकिक भाषा भी सस्वर व्यवहृत होती थी। इसमें हम केवल दो प्रमाण उपस्थित करते हैं—

क—दत्त और गुप्तसंज्ञक व्यक्तियों द्वारा व्यास नदी के उत्तर तट पर बनाये कूपों के लिये दात्त गौप्त शब्दों में आद्युदात्त स्वर का प्रयोग बतलाने के लिये पाणिनि ने **उदक् च विपाशः** (४।२।७३) सूत्र द्वारा अञ् प्रत्यय का विधान किया है। इसी विशेष विधान से व्यास के दक्षिण किनारे पर दत्त गुप्त द्वारा निर्मित कूपों के लिये अन्तोदात्त दात्त गौप्त पद प्रयुक्त होते थे, यह ज्ञापित होता है। इसी दृष्टि से काशिकाकार ने लिखा है—

'उदगिति किम्—दक्षिणतो विपाशः कूपेष्वणेव दात्तः गौप्तः, स्वरे विशेषः। महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य॥'

अर्थात्—विपाशा के दक्षिण कूपों के लिये व्यवहृत दात्त गौप्त शब्दों में अण् प्रत्यय ही होगा। दोनों में स्वर का भेद है। सूत्रकार पाणिनि की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म है, उसने स्वरभेद की भी उपेक्षा नहीं की।

ख—**पञ्चभिः सप्तभिः** आदि पदों में वेद में विभक्ति से पूर्ववर्त्ती स्वर (अच्) उदात्त होता है। परन्तु लौकिक भाषा में कभी विभक्ति में भी उदात्तत्व देखा जाता है, तो कभी उससे पूर्ववर्ती अच् में। अतः पाणिनि ने लौकिक भाषा में उपलब्ध होनेवाले स्वरभेद को दर्शाने के लिये **विभाषा भाषायाम्** (६।१।१८१) यह विशेष सूत्र बनाया।

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में लोकभाषा भी वैदिकी वाक् के समान सस्वर थी। अनेक लौकिक भाषा के ग्रन्थ मनुस्मृति वा यास्कीय निरुक्त के सस्वर होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।[1] जब लौकिक भाषा और लौकिक ग्रन्थ भी सस्वर थे, तब ब्राह्मणग्रन्थों के सस्वर होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का स्वरविरहित प्रवचन नहीं हो सकता था।

२—मीमांसासूत्रकार जैमिनि ने कल्पसूत्राधिकरण में 'कल्पसूत्र' आम्नाय के समान प्रमाण नहीं है, इसके लिये हेतु दिया है—नासन्नियमात् (१।३।१२)। अर्थात् कल्पसूत्रों की रचना आम्नाय के समान निबद्ध नहीं है। शबरस्वामी ने असन्नियमात् हेतु का अर्थ करते हुये लिखा है—'नैतत् सम्यङ् निबन्धनम्, स्वराभावात्।' अर्थात् कल्पसूत्रों की रचना सम्यक् निबद्ध नहीं है, क्योंकि उसमें स्वरनिर्देश नही है। समस्त सूत्रग्रन्थ एकश्रुतिरूप से पढ़े गये हैं, यह समस्त प्राचीन आचार्यों का मत है[2]।

जैमिनि के इस सूत्र से भी स्पष्ट है कि ऐतरेयादि सभी ब्राह्मण पुराकाल में सस्वर थे। अतः वर्तमान में अधिकांश ब्राह्मणों में स्वर का अभाव होना, उनके सम्प्रदाय-विच्छेद का ही द्योतक है।

इतने पर भी यदि कोई यही हठ करे कि ऐतरेय आदि ब्राह्मण आदिकाल से स्वररहित ही थे, उस अवस्था में जैमिनि के उक्त सूत्र के अनुसार स्वररहित कल्पसूत्रों का जैसे आम्नायवत् प्रामाण्य नहीं, उसी प्रकार स्वररहित ब्राह्मणग्रन्थों का भी प्रामाण्य नहीं होगा। दोनों में से एक बात अवश्य स्वीकार करनी होगी। दोनों में से किसी भी एक बात को स्वीकार करने पर वादी के मतानुसार स्वररहित ब्राह्मणों का वेदत्व, अथवा तद्वत्प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता।

एक ब्राह्मण-वचन पर विशेष विचार

ब्राह्मणग्रन्थों में जहां 'वेद' शब्द का व्यवहार मिलता है, वहां 'वेद' शब्द से ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण नहीं होता है। इसकी सिद्धि के लिये हम गोपथब्राह्मण पूर्वार्ध २।१० के निम्न वचन पर भी विचार करना आवश्यक समझते हैं—

'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सपुराणाः...॥'

इस ब्राह्मणवचन में वेदों को कल्प, रहस्य (=आरण्यक), ब्राह्मण, उपनिषत्, इतिहास और पुराण से स्पष्ट रूप से पृथक् कहा गया है।

---

१. द्रष्टव्य—वैदिक-स्वर-मीमांसा, पृष्ठ ४७—४८ (द्वि० सं०)।

२. तान एवाङ्गोपाङ्गानाम्। प्रतिज्ञा-परिशिष्ट (यजुःप्रातिशाख्य सम्बद्ध) ३।२८॥

ब्राह्मणग्रन्थों को वेद माननेवाले विद्वान् ऐसे वचनों की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों के वेदान्तर्गत होने पर भी इनका पृथक् निर्देश ब्राह्मणन्थों के मुख्यत्व के ज्ञापन के लिये है। जैसे **ब्राह्मणा आयाताः, वसिष्ठोऽप्यायातः** वाक्य में वसिष्ठ के ब्राह्मण होने पर भी पृथक् निर्देश करना अन्य ब्राह्मणों से वसिष्ठ का वैशिष्ट्य दर्शाने के लिये है। इस न्याय को **ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्याय** कहा जाता है। वस्तुतः यहां ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्याय का लगाना, और ब्राह्मणों का मन्त्रों से वैशिष्ट्य दर्शाना दोनों ही बातें अयुक्त हैं। कारण—

१—'ब्राह्मणवसिष्ठ' न्याय की प्रवृत्ति वहां होती है, जहां वक्ता के समान श्रोता को भी यह ज्ञात हो कि यहां स्मर्यमाण वसिष्ठ नामक व्यक्ति भी ब्राह्मण है। यदि श्रोता को यह ज्ञात ही नहीं कि वसिष्ठ ब्राह्मण है, तब वह ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्याय की प्रवृत्ति ही नहीं कर सकता। और उसके अभाव में वसिष्ठ का श्रेष्ठत्व भी नहीं समझ सकता। इतना ही नहीं, यदि उक्त वाक्य में स्मर्यमाण वसिष्ठ नामक व्यक्ति ब्राह्मणेतर हो, और यह बात श्रोता को भी ज्ञात हो, तब भी इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती।

इस नियम की प्रवृत्ति तभी होगी, जब पहले से यह ज्ञात हो कि ब्राह्मणग्रन्थ भी वेदरूप से स्वीकृत हैं। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि ब्राह्मणग्रन्थ भी वेद हैं। श्रौतसूत्रों द्वारा की गई मन्त्रब्राह्मण की वेदसंज्ञा की ब्राह्मणग्रन्थों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह हम इसी लेख के आरम्भ (पृष्ठ ७४) में कह चुके हैं। इसलिये गोपथ के उक्त वचन में जब ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्याय की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, तब उसके आधार पर मन्त्रों से ब्राह्मणग्रन्थों के वैशिष्ट्य का ज्ञापन भला कैसे हो सकता है?

२—उक्त वचन में **सकल्पाः सरहस्याः** आदि पदों के साथ में जो **स** पद श्रुत है, वह वस्तुतः वेद की अपेक्षा ब्राह्मणग्रन्थों की हीनता का बोधक है। इस बात को समझने के लिये इन शब्दों के विग्रह पर ध्यान देना चाहिये। **सकल्पाः** आदि पद उक्त वाक्य में **वेदाः** के विशेषण हैं। जैसे—**सच्छात्रो गुरुरागतः, सपुत्रः पिता** आदि में **सच्छात्रः** और **सपुत्रः** समस्तपद क्रमशः गुरु और पिता के विशेषण हैं। अतः इनका विग्रह **'छात्रेण सह गुरुः' 'पुत्रेण सह पिता'** के समान **'कल्पैः सह सकल्पाः, रहस्यैः सह सरहस्याः, ब्राह्मणैः सह सब्राह्मणाः'** ही होगा। ऐसी अवस्था में **'सहयुक्तेऽप्रधाने'** (अष्टा० २।३।१९) इस तृतीयाविधायक सूत्र से कल्प रहस्य ब्राह्मणादि का वेद की अपेक्षा अप्राधान्य ही व्यक्त होता है, न कि वैशिष्ट्य। इस नियम से भी ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व मन्त्रों की अपेक्षा अल्प ही सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में मन्त्र और ब्राह्मण समान नहीं हैं, यह इस ब्राह्मण-वचन से भी स्पष्ट हो जाता है।

३—इसके साथ ही उक्त वचन में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह है—**'सकल्पाः सेतिहासाः सपुराणाः'** पदों में कल्पसूत्र इतिहास और पुराणग्रन्थों का निर्देश। इन्हें वादी भी पौरुषेय मानता है। उस मत में ब्राह्मणग्रन्थ अपौरुषेय हैं। तब भला अपौरुषेय ब्राह्मणवाक्य में इन पौरुषेय ग्रन्थों का निर्देश कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं, यदि वादी के मतानुसार ब्राह्मण-

वसिष्ठ-न्याय का उक्त वचन में प्रयोग करें, तो ब्राह्मणग्रन्थों के समान पौरुषेय कल्पसूत्र इतिहास और पुराण ग्रन्थों की भी भी मन्त्रों से अधिक महत्ता सिद्ध होगी, जो कि किसी भी समझदार आस्तिक को स्वीकृत नहीं हो सकती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना से सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद नहीं है। मीमांसा-शास्त्र के वेदापौरुषेयत्व-प्रकरण में वेद शब्द केवल मन्त्रसंहिता में ही भगवान् जैमिनि ने प्रयुक्त किया है, न कि मन्त्रब्राह्मणात्मक-समुदाय में। इसकी विस्तृत मीमांसा हमने शावरभाष्य के वेदा-पौरुषेयत्व-प्रकरण के अन्त में पृष्ठ १०२ से १२७ तक की है। पाठक इस प्रकरण पर गम्भीरता से विचार करें। इस प्रकरण में मीमांसाशास्त्र में जिन-जिन सूत्रों में वेद शब्द का प्रयोग मिलता है, उन सब सूत्रों की भी विवेचना की है।

श्रुति-संज्ञा-विचार

अब हम श्रुति शब्द पर विचार करते हैं। 'श्रुति' शब्द भी वेद शब्द के समान विवादास्पद है। इसके साथ ही जैसे ब्राह्मणग्रन्थों के लिये पारिभाषिक वेदसंज्ञा का विधान उपलब्ध होता है, उस प्रकार श्रुतिसंज्ञा की कोई पारिभाषिक-संज्ञा उपलब्ध नहीं होती है।

श्रुति शब्द अनेकार्थक—श्रुति शब्द **श्रु श्रवणे** धातु से भाव कर्म और करण कारक में **स्त्रियां क्तिन्** (अष्टा० ३।३।९४) से **क्तिन्** प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। तदनुसार **श्रवणं श्रुतिः** का अर्थ है—सुनना। **श्रूयत इति श्रुतिः** का अर्थ है—जो कान से सुना जाये, अर्थात्—ध्वनि। **श्रूयतेऽनया सा श्रुतिः** का अर्थ है—जिससे अर्थ को सुना जाये, अर्थात् जाना जाये। इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द वाक्य वा ग्रन्थमात्र अर्थ साधारणतः जाना जाता है। परन्तु वैदिक-वाङ्मय में यह शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। तदनुसार मन्त्र और ब्राह्मण-वचन दोनों का ही 'श्रुति' शब्द से व्यवहार देखा जाता है। मनुस्मृति में प्रयुक्त निम्न प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

१—श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥२।१५॥

२—श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ॥२।१०॥

३—श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन्॥११।३३॥

४—धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥२।१३॥

५—विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥६।२९॥

मनुस्मृति के इन उद्धरणों में 'श्रुति' शब्द निस्सन्देह मन्त्र और ब्राह्मण के लिये प्रयुक्त हुआ है। ५वें प्रमाण में उपनिषद् सम्बन्धी श्रुतियों का निर्देश है। उपनिषदों का समावेश भी ब्राह्मण-

ग्रन्थों में ही होता है। तृतीय प्रमाण में उद्धृत अथर्वाङ्गिरसी श्रुति अथर्ववेद से सम्बन्ध रखती है। सम्भव है यहां अथर्ववेद-सम्बद्ध ब्राह्मण का भी ग्रहण होवे।

मनुस्मृति के प्रमाणों पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह धर्मशास्त्र है। धर्मशास्त्र कल्पसूत्रों के अन्तर्गत आते हैं।[1] अतः मनुस्मृति में बहुधा श्रुत 'श्रुति' शब्द से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होता है।

पूर्वमीमांसा शास्त्र के **श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्** (३।३।१४) सूत्र में श्रुति का उदाहरण समस्त मीमांसक **ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते** (मै० सं० ३।२।४) उदाहरण देते हैं, और गार्हपत्यम् शब्द-श्रवण को श्रुति मानते हैं। मीमांसकों के मतानुसार 'श्रुति' शब्द का अर्थ साक्षात् शब्द श्रवण होने पर भी हमारा विचार है कि 'श्रुति' शब्द का अर्थ **श्रूयते सम्बन्धो येन**=जिससे सम्बन्धविशेष का परिज्ञान होवे, वह ब्राह्मण-वाक्य श्रुति कहाता है। वह सम्बन्ध चाहे द्रव्यदेवता का हो, चाहे मन्त्र और कर्म का हो। इस प्रकार 'श्रुति' शब्द विनियोग का पर्याय है।

कर्मकाण्डीय शाखा-ब्राह्मण-सूत्र ग्रन्थों में विनियोजक पदसमुदाय, चाहे वह मन्त्र होवे चाहे ब्राह्मणवचन, सभी 'श्रुति' कहाते हैं। इस अर्थ में हम कतिपय ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं,जिनमें 'श्रुति' शब्द का यह अर्थ स्पष्ट है। यथा—

१. माध्यन्दिन-संहिता का भाष्यकार उव्वट अ० २४ के आरम्भ में लिखता है—

इत उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्यदेवतासम्बन्धस्याभिधायिनः।

---

१. कल्पसूत्र के तीन विभाग हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। पाश्चात्य विद्वान् सूत्ररचना का काल पूर्व मानते हैं, और श्लोकरचना का पश्चात्। अतः उन का कथन है कि मनुस्मृति पहले सूत्रबद्ध थी, पीछे से यह श्लोकबद्ध हुई। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों को यह ज्ञात ही नहीं है कि शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना पहले श्लोकों में ही होती थी। उन्हें भी सूत्र ही कहते थे। गद्यरूप सूत्रों की रचना उत्तरकाल में आरम्भ हुई। इसका मूल प्रयोजन सूत्रों का संक्षेपीकरण था। पाणिनीय अष्टाध्यायी जैसे सूत्रग्रन्थ, जिन्हें पाश्चात्य विद्वान् सूत्ररचना का आदर्श मानते हैं, में भी पद्यबद्ध सूत्र-सूत्रांश विद्यमान हैं। द्र०—संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, (संवत् २०३० का संस्करण)। वाल्मीकि को आदि कवि कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उससे पूर्व कोई पद्य रचे ही नहीं गये। उसका तात्पर्य केवल यह है कि अनुष्टुप् श्लोक पहले शास्त्रीय ग्रन्थों में ही प्रयुक्त होते थे। काव्यों में इनका प्रयोग नहीं होता था। सब से प्रथम काव्य में वाल्मीकि ने अनुष्टुप् श्लोकों का व्यवहार किया। अतः अनुष्टुप्-श्लोकबद्ध काव्यकारों में वह आदि कवि है। यह क्रौंचवध-कथा के सूक्ष्म निरीक्षण से विदित हो जाता है। पूर्वकाल में श्लोक शब्द अनुष्टुप्छन्दस्क श्लोकों के लिये ही व्यवहृत होता था।

अर्थात्—यहां से आगे श्रुतिरूप (श्रुतिसमान) मन्त्र हैं, जो अश्वमेध के पशुओं के द्रव्य और देवता सम्बन्ध को कहनेवाले हैं।

२. शुक्ल यजुर्वेद के प्रकाण्ड पण्डित एवं महायाज्ञिक पं० श्रीधरशास्त्री[1] वारे (नासिक निवासी) ने **ऋग्यजुः परिशिष्ट**[2] की व्याख्या में लिखा है—

ऋग्यजुः परिशिष्ट— **देव सवितरिति तिस्रः प्राक्प्रैषेभ्यो ब्राह्मणपाठेभ्यः**। पृष्ठ ८८।

श्रीधर शास्त्री की टीका—**प्राक्प्रैषेभ्यो निगदेभ्यो ब्राह्मणपाठेभ्यः श्रुतिरूपेभ्यो यजुषः प्राक्।**

अर्थात्—प्रैष-संज्ञक निगद-संज्ञक श्रुतिरूप ब्राह्मणपाठ से पूर्व **देव सवितः** तीन ऋचाएं हैं।

इन दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण का **विनियोजकं ब्राह्मणम्**[3] लक्षण जिन मन्त्रों में घटित होता है, उन मन्त्रों को ब्राह्मण वा श्रुति शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि याज्ञिक-ग्रन्थों में वेद-संज्ञा के समान श्रुति-संज्ञा की परिभाषा न देने पर भी **याज्ञिकों के मत में श्रुति-संज्ञा भी विनियोजक वाक्य की पारिभाषिक-संज्ञा ही है।**

हमारे विचार में 'श्रुति' शब्द का प्रधान अर्थ गुरु-परम्परा से नियमतः अधीयमान मन्त्रों का ही है। परन्तु व्याख्येय-व्याख्यासम्बन्धरूप लक्षणा से इसका प्रयोग ब्राह्मणवचनों के लिये भी होता है।

अब हम मीमांसाशास्त्र में प्रयुक्त महत्त्वपूर्ण **आम्नाय** शब्द के विषय में विचार करते हैं—

आम्नाय-संज्ञा-विचार

'आम्नाय' एक सामान्य संज्ञा है। इसका मन्त्रसंहिता से लेकर मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय, तथा आयुर्वेद धर्मशास्त्र नाट्यशास्त्र आदि विषयों के मूलभूत शास्त्र के लिये प्रयोग मिलता है। आम्नाय शब्द से 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'समाम्नाय' शब्द का भी मन्त्रसंहिताओं से लेकर वेदाङ्गों के मूलभूत भाग के लिये प्रयोग देखा जाता है। जैसे—निघण्टु के लिये **समाम्नायः समाम्नातः** (निरुक्त १।१), तथा प्रत्याहारसूत्रों के लिये **अक्षरसमाम्नाय** आदि। अब हम **आम्नाय** शब्द के विविध ग्रन्थों के लिये कतिपय प्रयोग दिखाते हैं—

---

१. ये अब भूलोक में केवल यशःकायशेष (=स्वर्गत हो चुके) हैं। आपके साथ हमारा बहुत मधुर सम्बन्ध था।

२. यह परिशिष्ट नासिक से प्रकाशित सटीक **दश परिशिष्ट** नामक संग्रह में छपा है।

३. द्र०—तै० सं० भट्टभास्कर-भाष्य, भाग १, पृष्ठ ३, मैसूर संस्करण।

१—मन्त्रब्राह्मण के लिये—जिस प्रकार कृष्णयजुः के श्रौतसूत्रकारों ने ब्राह्मण की वेदसंज्ञा के लिये **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** यह परिभाषासूत्र बनाया, उसी प्रकार कौशिकसूत्र (१।३) में मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय की 'आम्नाय' संज्ञा के लिये एक सूत्र पढ़ा गया—**आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च** ।

२—आयुर्वेद के मूल आगम के लिये—आयुर्वैदिक चरक-संहिता के सूत्रस्थान अ० ३०, खण्ड ६७ के **पृच्छातन्त्राद् यथाम्नायविधिना प्रश्न उच्यते** वचन में 'आम्नाय' शब्द का प्रयोग आयुर्वेदविषयक मूल आगम के लिये हुआ है ।

२—धर्मशास्त्र के मूल आगम के लिये—गौतमधर्मसूत्र में निम्न वचन उपलब्ध होते हैं—

यत्र चाम्नायो विदध्यात् ॥१।५१॥ **आम्नायैरविरुद्धाः** ॥१०।२२॥

यहां धर्मशास्त्र के मूल आगम मानवधर्मशास्त्र के लिये 'आम्नाय' शब्द का व्यवहार किया गया है ।

३—नाट्यशास्त्र के मूल आगम के लिये—पाणिनि के **छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः** (४।३।१२९) सूत्र में धर्म और आम्नाय शब्द का सम्बन्ध सर्वसम्मत है । इसलिये यहां 'नट' शब्द मे भी 'ञ्य' प्रत्यय धर्म और आम्नाय अर्थ में ही होता है । तदनुसार 'नाट्य' शब्द से नटों का धर्म और नटों का आगम शास्त्र (नाट्यवेद=भरतप्रोक्त नाट्यशास्त्र) का ही व्यवहार होता है । (द्र०—**नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव** । काशिका ४।३।१२९) ।

मीमांसाशास्त्र में आम्नाय का प्रयोग—भगवान् जैमिनि ने अपने मीमांसाशास्त्र में 'आम्नाय' शब्द का बहुत्र प्रयोग किया है । परन्तु इस शब्द के ऐसे किसी विशिष्ट अर्थ का शास्त्र में संकेत नहीं किया है, जिससे उनका अभिप्राय स्पष्ट जाना जाये ।

मीमांसाशास्त्र के प्रथम अध्याय का अन्तिम अधिकरण (शावरमतानुसार) **वेदापौरुषेयत्वाधिकरण** है । इसके प्रथम सूत्र **वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या** (१।१।२७) में वेद शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है । उससे अव्यवहित उत्तर (द्वितीय पाद का प्रथम) **अर्थवादप्रामाण्याधिकरण** है । इसका प्रथम सूत्र है—**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्** (मी० १।२।१) सूत्र में **आम्नाय** शब्द का प्रयोग किया है । इस सूत्र में आम्नाय के क्रियार्थ उपदेश होने से, और उसके 'जो अंश क्रियार्थ नहीं है, उनके आनर्थक्य' का आक्षेप उपस्थित करने से स्पष्ट है कि यहां **आम्नाय शब्द मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लिये प्रयुक्त है** ।

इतना ही नहीं, वेदापौरुषेयत्वाधिकरण में **अनित्यदर्शनाच्च** (मी० १।१।२८) में अनित्य-दर्शन हेतु दिया है, और उत्तर अर्थवादप्रामाण्याधिकरण में भी **अनित्यसंयोगात्** (मी० १।२।६) हेतु उपस्थित किया है । इस पुनरुक्ति से भी स्पष्ट है कि पहले जिस **वेद** में **अनित्यदर्शन** हेतु दिया

था, उससे यह आम्नाय पृथक् है। और यहां आम्नाय की अनित्यता=अप्रमाणता में हेतु दिया है।

इसी कारण हमने शाबरभाष्य की अपनी प्रस्तुत हिन्दी-व्याख्या में (पृष्ठ १६४—१६६) आम्नाय-अन्तर्गत शाखापाठों के अनित्य संयोग और उनका समाधान दर्शाया है। पाठक इस विषय को शाबरभाष्य की व्याख्या में पृष्ठ १६४—१६६ तक देखें।

मन्त्राधिकरण (मी० १।२।३९) में मन्त्रों के आनर्थक्य पक्ष की दृढ़ता के लिये वेदापौरुषेयत्वाधिकरणवाले दोष को उठाना, और उस दोष का पूर्वोक्त ही समाधान करना युक्त है।

इस संक्षिप्त विवेचना से स्पष्ट है कि 'वेद' शब्द मुख्यतया मन्त्रों का ही वाचक है। जहां कहीं व्याख्या-व्याख्येयादि हेतु से लक्षणा में अथवा पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हो, वहां 'वेद' शब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण होता है। परन्तु यह अर्थ गौण=अप्रधान=लाक्षणिक है।।

--०—

श्रौत-यज्ञ-मीमांसा

श्रौत यज्ञों पर विचार करने से पूर्व 'यज्ञ' शब्द पर विचार करना ग्रावश्यक है। इससे 'यज्ञ' के श्रौतकर्म से अतिरिक्त उस विस्तृत क्षेत्र का बोध होगा, जिसमें यज्ञ शब्द प्रयुक्त होता है, अथवा प्रयोग न होते हुये भी उसके क्षेत्र में ग्राता है।

यज्ञ शब्द का अर्थ—'यज्ञ' शब्द **यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु** (धातुपाठ १।७२८) इस धातु से **यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्** (अष्टा० ३।३।९०) इस पाणिनीय वचनानुसार भाव में नङ् (=न) प्रत्यय होकर बनता है। 'यज' धातु के देव-पूजा सङ्गतिकरण और दान ये तीन अर्थ हैं। देवपूजा में 'देव' शब्द **दिवु क्रीडा-विजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु** (धातु ४।१) इस पाणिनीय निर्देश के अनुसार वह्वर्थक है। और पूजा का अर्थ है—सत्कार=यथायोग्य व्यवहार। इसलिये 'देव' चाहे जड़ प्राकृतिक तत्त्व वा शक्तियां हों चाहे चेतन, सभी के साथ यथायोग्य व्यवहार करना देवपूजा कहाती है। प्राकृतिक पदार्थ अग्नि जल वायु आदि का प्राणिमात्र के कल्याण के लिये उचित उप-योग देवपूजा है। और उन के द्वारा किसी के घर को जलाना, किसी क्षेत्र के जलप्रवाह को रोककर अन्य क्षेत्र में सूखा डालना, वायु में प्रदूषण उत्पन्न करके प्राणियों के जीवन को संकट में डालना, आदि देव-अपूजा है। **संगतिकरण** का तात्पर्य है—किन्हीं पदार्थों का यथोचित मात्रा में संयोग करना, जिससे प्राणियों का कल्याण एवं उत्कर्ष हो, श्रेष्ठ धर्मात्मा विद्वानों का सत्संग करना आदि। इस संगतिकरण के द्वारा शिल्पविज्ञान भी 'यज्ञ' है। **दान** का तात्पर्य है—स्वयमुपार्जित धन-सम्पति-विद्या आदि को प्राणिमात्र के कल्याण के लिये प्रयुक्त करना। इस प्रकार 'यज्ञ' शब्द का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हैं। इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद १।२ के भाष्य में लिखा है—

'धात्वर्थ के योग से यज्ञ का अर्थ तीन प्रकार का होता है। एक—देवपूजा=विद्या ज्ञान और धर्म के अनुष्ठान से वृद्ध देव=विद्वानों का ऐहिक और पारलौकिक सुख के सम्पादन के लिये सत्कार करना। दूसरा—अच्छे प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल-विरोध-ज्ञान की संगति से शिल्पादि विद्या का प्रत्यक्षीकरण, तथा नित्य विद्वानों के समागम (=संगति) का अनुष्ठान। तीसरा—विद्या सुख धर्मादि शुभगुणों का नित्य दान करना।'[1]

---

१. धात्वर्थाद् यज्ञार्थस्त्रिविधो भवति—विद्या-ज्ञान-धर्मानुष्ठान-वृद्धानां देवानां विदुषाम् ऐहिकपारलौकिक-सुख-सम्पादनाय सत्करणम्, सम्यक् पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं नित्यविद्वत्समागमानुष्ठानं [च], विद्यासुखधर्मादिशुभगुणानां नित्यं दानकरणम्॥ यजुर्भाष्य १।२॥ अत्र 'शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानाम्' इति मुद्रितेऽपपाठः।

यजुर्भिर्यजन्ति (निरुक्त १३।७) इस वचन के अनुसार यजुः से जिस यज्ञ का निरूपण किया है, उसका निर्देश यजुर्वेद के उपक्रम में **श्रेष्ठतमाय कर्मणे** (१।१) से श्रेष्ठतम कर्म के रूप में किया है, और उपसंहार में **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** (४०।२) के रूप में निष्काम कर्म का संकेत किया है। इस प्रकार संसार के समस्त शुभ कर्म, जो व्यक्तिभेद से अथवा देश-काल-भेद से अपने और प्राणिमात्र के कल्याण के लिये कर्तव्य हैं, उन यज्ञरूप कर्मों का ही यजुर्वेद में वर्णन है। यह यजुर्वेद के उपक्रम और उपसंहार से जाना जाता है। शतपथ-ब्राह्मण में श्रेष्ठतम कर्म की व्याख्या **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** द्वारा द्रव्ययज्ञ तक सीमित कर दी है।[1] इसको यदि शतपथ-ब्राह्मण के द्रव्ययज्ञपरक व्याख्यान की दृष्टि से देखा जाय, तो शतपथकार की व्याख्या एकांश में ठीक है।

सम्भवतः 'यज्ञ' शब्द के धात्वर्थानुसारी अर्थ की व्यापकता को ध्यान में रखकर ही भगवद् गीता ४।२८ में यज्ञों के **द्रव्ययज्ञ तपोयज्ञ योगयज्ञ स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ** रूप विविध भेद दर्शाये हैं। इस दृष्टि से गीता अ० ४ के श्लोक २९—३३ तक विशेष द्रष्टव्य हैं। अत एव लोक में अनेक प्रकार के लोकोपकारक कार्यों के साथ भी यज्ञ शब्द का संयोग देखा जाता है।

इस प्रकार वेदश्रुत 'यज्ञ' शब्द के व्यापक अर्थ को इङ्गित करके अब प्रतिपाद्य श्रौतयज्ञों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

द्रव्य-यज्ञ का लक्षण और उसके भेद

इस यज्ञ का लक्षण कात्यायन श्रौतसूत्र में **द्रव्यं देवता त्यागः** (१।२।२) किया है। इसका तात्पर्य है—'जिस कर्म में द्रव्य देवता और त्याग[2] तीनों का सहभाव होता है, वह यज्ञ कहाता है'। याज्ञिकों के शब्दों में **देवतोद्देशेन द्रव्यस्य त्यागो यज्ञः** (=देवता को उद्दिष्ट करके किसी द्रव्य का त्याग करना 'यज्ञ' कहाता है)। यतः ये यज्ञ किसी न किसी द्रव्य से किये जाते हैं, अतः गीता ४।२८ में इन्हें **द्रव्य-यज्ञ** कहा है। हम भी इस प्रकरण में इन का निर्देश 'द्रव्ययज्ञ' शब्द से ही करेंगे।

---

१. अनेक व्यक्ति शतपथ के **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** का अर्थ 'यज्ञ नाम श्रेष्ठतम कर्म का है' करते हैं, यह चिन्त्य है। यहां **'श्रेष्ठतमाय कर्मणे'** अंश व्याख्येय है, और **'यज्ञः'** उस की व्याख्या है। यह प्रकरण से स्पष्ट है। अतः ब्राह्मण-वचनों का अर्थ समझने के लिये 'व्याख्येय' अंश पर विशेष ध्यान देना चाहिये। अन्यथा अभिप्राय उलटा हो जाता है।

२. त्याग का अर्थ है—बुद्धिपूर्वक किसी को कोई वस्तु समर्पित करते हुये, उस वस्तु से स्व स्वत्व की निवृत्ति करना। और जिसे वस्तु दी जा रही है, उसका उस वस्तु पर स्वत्व प्राप्त कराना'। **'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादानं त्यागः'**। इस अभिप्राय के अनुसार—'**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्** (यजुः० ४०।१) का अर्थ होगा—'उस चराचर के ईश द्वारा जो भोज्य पदार्थ प्रदत्त हैं, उन्हीं का भोग करो। अन्य के धन=भोग्य पदार्थों की आकांक्षा मत करो।

यज्ञों में देवतोद्देश से हव्य द्रव्य का त्याग प्रायः अग्नि में किया जाता है। परन्तु यज्ञ की उक्त परिभाषा में त्याग-स्थान का विशिष्ट निर्देश न करने से **'देवतोद्देश से द्रव्य का त्याग'** इतना ही यज्ञ का तात्पर्य समझना चाहिये। इसीलिये सोमयागों के अन्त में अवभृथ-होम जल में किया जाता है—**अप्सु जुहोति** (का० श्रौत १०।८।२६), और सोमक्रय के लिये सोमक्रयणी (=जिसे देकर सोम खरीदना होता है) गौ को सोमविक्रयी के समीप ले जाते समय गौ का सातवां पैर जहां भूमि पर पड़ता है, उस स्थान में घृताहुति दी जाती है—**सप्तमे पदे जुहोति** (तै० सं० ६।१।८)। इसी प्रकार वृषोत्सर्ग यज्ञ में वृष (=सांड) का प्रजापति (=प्रजननकर्त्ता) देवता के लिये वृषभ पर विशेष चिह्न अङ्कित करके त्याग=उत्सर्जनमात्र होता है।

द्रव्य-यज्ञों के भेद

यज्ञों के श्रौत स्मार्त दो भेद—संहिता ब्राह्मण और कल्पसूत्रों (=श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्रों) में जितने प्रकार के यज्ञों का विधान उपलब्ध होता है, वे यज्ञ श्रौत स्मार्त भेद से दो प्रकार के हैं। **श्रौत-यज्ञ** वे कहाते हैं, जिनका विधान साक्षात् श्रुति (=संहिता-ब्राह्मण[1]) में पठित किसी वचन से होता है। **स्मार्त-यज्ञ** उनको कहते हैं, जिनका विधान गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में मिलता है। गृह्यसूत्रों में प्रधानतया संस्कार और गृहस्थ उपयोगी कर्मों का विधान किया है, और धर्मसूत्रों में मानवसमाज के विभाग एवं विभागशः विशिष्ट कर्तव्यों का निरूपण किया है। यतः गृह्य और धर्मशास्त्रोक्त कर्मों का श्रुति में साक्षात् विधान नहीं मिलता, अतः ऋषियों ने श्रुति के अन्यार्थपरक वचनों से इन कर्मों का संकेत उपलब्ध करके इनका विधान=स्मरण किया है।[2] इसलिये ये गृह्य और धर्मसूत्र **'स्मृति'** कहाते हैं। श्रुति और स्मृति का कदाचित् विरोध होने पर श्रुति का प्रमाण माना जाता है, स्मृति प्रमाणार्ह नहीं मानी जाती है—**विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्** (मीमांसा १।३।२)।

यज्ञों के पुनः तीन भेद (=नित्य नैमित्तिक और काम्य)—श्रौत और स्मार्त दो भागों में विभक्त यज्ञों के पुनः प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं—नित्य नैमित्तिक और काम्य। **नित्य यज्ञ** वे कहाते हैं, जिनके यथाकाल नियमतः करने का विधान है। याज्ञिकों के मतानुसार इनके करने से कोई फल नहीं होता, परन्तु न करने से प्रत्यवाय (=पाप) होता है। हमारा विचार है कि नैत्यक कर्म निष्कामभाव=केवल कर्तव्य बुद्धि से क्रियमाण होने से इनका फल आत्मशुद्धि-पूर्वक

---

१. जैसे याज्ञिकों की मन्त्र और ब्राह्मण की **'वेदसंज्ञा'** और **'आम्नाय-संज्ञा'** पारिभाषिक है (द्र०—वेदसंज्ञा-मीमांसा, पूर्व पृष्ठ ७२, ८५), उसी प्रकार उनके मत में श्रुतिसंज्ञा भी विनियोग-विधायक मन्त्र-ब्राह्मण की पारिभाषिक है—**इत उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्य-देवता-सम्बन्धस्याभिधायिनः**...। यजु० अ० २४ के आरम्भ में उव्वट भाष्य।

२. द्र०—'वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च' लेख, वैदिक-सिद्धान्त-मीमासा, पृष्ठ १५–१६; हिन्दी में वही ग्रन्थ, पृष्ठ ४५–४७।

मोक्षप्राप्ति है। दूसरे नैमित्तिक कर्म वे हैं—जो गृहादि-दाह होने, भीषण भूकम्प आने, अतिवृष्टि आदि निमित्त होने पर किये जाते हैं। काम्य कर्म वे हैं—जो ग्रामप्राप्ति पशुप्राप्ति धनप्राप्ति यशः-प्राप्ति आदि की कामना से किये जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न कामनाओं के लिये भिन्न-भिन्न पचासों यज्ञ शाखा ब्राह्मण और श्रौत गृह्य एवं धर्मसूत्रादि में कहे गये हैं। इन विविध कर्मों का त्रेता युग में विस्तार हुआ—'तानि त्रेतायां बहुधा संततानि' (मुण्डक उप० १।२।१)।

पुनः तीन भेद—उक्त तीनों प्रकार के श्रौतयज्ञों के पुनः तीन भेद होते हैं। ये तीन भेद यज्ञीय पदार्थों के भेद के कारण होते हैं। इनमें प्रथम वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य मानव के भोज्य पदार्थ हैं। यथा—यव व्रीहि तिल गोधूम दुग्ध दही घृत आदि। इन्हें **पाकयज्ञ** कहते हैं। क्योंकि इनके हव्य द्रव्य पुरोडाश चरु आदि को अग्नि पर पकाया जाता है। दूसरे वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य सोम अथवा तत्स्थानीय पूतिका (=तृणविशेष) होता है। इन्हें **सोमयाग** कहते हैं। तीसरे वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य अज आदि पशु होता है। इनको पशुयज्ञ न कह कर **पशुबन्ध** कहा जाता है। इनके पशुबन्ध नामकरण में जो रहस्य है, वह आगे यथास्थान स्पष्ट होगा।

तीनों के सात-सात भेद—गोपथ-ब्राह्मण १।१।१२ में पैप्पलाद संहिता ५।२८।१ के **अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्** मन्त्रांश को उद्धृत करके लिखा है—

अथाप्येष प्राक्रीडितः श्लोकः प्रत्यभिवदति—सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञा इति।

अर्थात्—यज्ञ के त्रिवृत् सात तन्तुओं (=३×७) अर्थात् इक्कीस भेदों को यह 'प्रक्रीडित' आचार्य का श्लोक कहता है—**सप्त सुत्याः**····।

गोपथ में यहां श्लोक के तीन चरणों का पाठ टूट गया है। प्रकृत में ७ सोमयागों और ७ पाकयज्ञों का ही उल्लेख है। सौभाग्य से यही श्लोक गोपथ १।५।२५ में पूरा उपलब्ध हो जाता है। वहां श्लोक का पूरा पाठ इस प्रकार है—

सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः।
सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतना यानृषयो सृजन्ति च सृष्टाः पुराणैः॥

अर्थात्—सात सोमयज्ञ, सात पाकयज्ञ और सात हविर्यज्ञ ये इक्कीस [मन्त्रोक्त यज्ञ] हैं। ये सब यज्ञ अङ्गिरसों को भी प्राप्त होते हैं। नये ऋषि जिन यज्ञों का सर्जन करते हैं, और जो पुराने ऋषियों से सृष्ट हैं।

उक्त सप्त सोमयज्ञ, सप्त पाकयज्ञ और सप्त हविर्यज्ञों के नामों का निर्देश गोपथ-ब्राह्मण १।५।२३ में इस प्रकार किया है—

'सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः। बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः'॥

अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये। नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तम इत्येते हविर्यज्ञाः॥

अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यषोडशिमांस्ततः। वाजपेयोऽतिरात्राप्तोर्यामात्र सप्तम इत्येते सुत्याः॥

अर्थात्—प्रातःहोम, सायंहोम, स्थालीपाक, वलिवैश्व देव, पितृयज्ञ, अष्टका और पशु ये सात पाकयज्ञ हैं। अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, नवसस्येष्टि, चातुर्मास्य और पशुवन्ध ये सात हविर्यज्ञ हैं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम ये सात सोमयज्ञ हैं।

इनमें प्रथम सात पाकयज्ञों का सम्वन्ध गृह्यसूत्रों के साथ है। अतः ये पाकयज्ञ स्मार्त यज्ञ हैं। इनका मन्त्रब्राह्मण के साथ साक्षात् सम्वन्ध नहीं है। शेष सात हविर्यज्ञ और सात सोमयज्ञों का सम्बन्ध मन्त्र-ब्राह्मण वा श्रौतसूत्रों के साथ है। अतः ये श्रौत='श्रुतिप्रतिपादित[1] यज्ञ कहाते हैं। ग्रन्थान्तरों में उक्त तीनों संस्थाओं के (७×३=) २१ नामों में कुछ भेद भी उपलब्ध होता है। इन २१ यज्ञों में 'पशुयज्ञों' का भी निर्देश है। उसके सम्वन्ध में आगे यथास्थान विचार किया जायेगा।

वस्तुतः गोपथ-ब्राह्मणोक्त गणना पैप्पलाद-संहिता (५।२८।१) के पूर्व उद्धृत **अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सप्त तन्तुम्** मन्त्रांश की दृष्टि से की गई है। उक्त सात पाकयज्ञों के अतिरिक्त भी अनेक यज्ञों का गृह्यसूत्रों में उल्लेख मिलता है। हविर्यज्ञ और सोमयज्ञों के अनेक भेद शाखाओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जहां भी यज्ञों के विषय में लिखा है, वहां सर्वत्र **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त** शब्दों का प्रयोग किया है[2]। इनमें अग्निहोत्र प्रतिदिन सायं-प्रातः क्रियमाण सब से लघु यज्ञ है। **अश्वमेधान्त** लिखने के दो तात्पर्य हो सकते हैं। एक—अश्वमेध एक वर्ष साध्य महान् यज्ञ है (अहोरात्र कालगणना की छोटी इकाई है, और वर्ष बड़ी इकाई)। दूसरा—शतपथ-ब्राह्मण और कात्यायन श्रौत में अश्वमेध का वर्णन सब से अन्त में उपलब्ध होता है। वस्तुतः यज्ञों का विस्तार अग्निहोत्र से लेकर सहस्र-संवत्सरसाध्य ऋतुपर्यन्त है। वेद की शाखाओं ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इन्हीं अग्निहोत्र से लेकर सहस्र-संवत्सर-साध्य पर्यन्त यज्ञों का उल्लेख मिलता है। हम उदाहरण के लिये कात्यायन श्रौतसूत्र में उक्त प्रमुख यज्ञों का निर्देश करते हैं—

---

१. 'श्रुति' का लक्षण देखें—पूर्व पृष्ठ ८२–८४ में।

२. यथा—"परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते.........। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय (ऋग्वेदभाष्य भाग १, पृष्ठ ३६०, रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस मुद्रित)। 'जो **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त**...'। आर्योद्देश्यरत्नमाला, रत्न २७ (दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह, पृष्ठ ५७६, रा० ला० क० ट्र० सं०।

कात्यायन श्रौतसूत्र में निर्दिष्ट श्रौत-याग

कात्यायन श्रौतसूत्र में निम्न प्रमुख यागों का उल्लेख है—

१—अग्न्याधान (अ० ४)
२—अग्निहोत्र (अ० ४)
३—दर्शपौर्णमास (अ० २–३–४)
४—दाक्षायण यज्ञ (अ० ४)
५—आग्रयणेष्टि (अ० ४)
६—दर्विहोम, क्रौंडिनीयेष्टि, आदित्येष्टि, मित्रविन्देष्टि (अ० ५)
७—चातुर्मास्य (अ० ५)
८—निरूढ, पशुबन्ध (अ० ६)
९—सोमयाग (अ० ७–८–९–१०–११)
१०—एकाह (अ० १२, २२)
११—द्वादशाह (१२)
१२—सत्र [द्वादशाह] (१२)
१३—गवामयन (अ० १३)
१४—वाजपेय (अ० १४)
१५—राजसूय (अ० १५)
१६—अग्निचयन (अ० १६-१७, १८)
१७—सौत्रामणि (अ० १९)
१८—अश्वमेध (अ० २०)
१९—पुरुषमेध (अ० २१)
२०—अभिचार याग (अ० २२)
२१—अहीन-अतिरात्र (अ० २३)
२२—सत्र [द्वादशाह से सहस्र संवत्सरान्त] (अ० २४)
२३—प्रवर्ग्य (अ० २६)

अन्य श्रौतसूत्रों में कुछ न्यूनाधिक यागों का वर्णन मिलता है ।

श्रौत-यज्ञों का प्रकृति-विकृति भेद

ये समस्त श्रौतयज्ञ प्रक्रियांश की दृष्टि से निम्न तीन विभागों में विभक्त किये जाते हैं—

१—प्रकृतियाग २—विकृतियाग ३—प्रकृति-विकृतियाग

प्रकृतियाग का लक्षण—प्रकृति याग के तीन लक्षण याज्ञिकों वा मीमांसकों द्वारा किये जाते हैं—

प्रथम—जहां कर्म के लिये उपयोगी सम्पूर्ण क्रिया-कलाप पढ़े जाते हैं, वह प्रकृतियाग कहाता है—**यत्र कृत्स्नं क्रियाकलापमुच्यते सा प्रकृतिः**[1] । यथा—**दर्शपौर्णमास** ।

द्वितीय—जहां से विकृतियाग अपनी परिपूर्णता के लिये अनुक्त कर्मों का ग्रहण करते हैं, वह प्रकृतियाग कहाता है—**यतो विकृतिरङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिः** । यथा—**दर्शपौर्णमास** ।

---

१. प्रकर्षेण अङ्गोपदेशो यत्र क्रियते सा प्रकृतिः । सायण, तै० सं० भाष्यभूमिका (वेदभाष्यभूमिका-संग्रह, पृष्ठ ६, काशी) ।

तृतीय—जहां 'प्रकृति के समान विकृति करनी चाहिये' इस चोदक-वचन से अङ्गों की प्राप्ति नहीं होती है, वह प्रकृतियाग कहाता है—**चोदकाद् यत्र नाङ्गप्राप्तिः सा प्रकृतिः।**

प्रथम दो लक्षण प्राचीन मीमांसकों के हैं[1]। इनसे प्रथम लक्षण के अनुसार **गृहमेधीयेष्टि** और **दर्विहोम** प्रकृतियाग के अन्तर्गत गृहीत होते हैं, क्योंकि ये यावदुक्त कर्म हैं। अर्थात् जितना कर्म इनके प्रसङ्ग में कहा है, उतना ही कर्म होता है। द्वितीय लक्षण के अनुसार गृहमेधीयेष्टि और दर्विहोम से कोई विकृति अङ्गों को ग्रहण नहीं करती हैं। अतः यह प्रकृति के अन्तर्गत नहीं आती है।[2] तृतीय लक्षण के अनुसार भी गृहमेधीयेष्टि और दर्विहोम प्रकृति कर्म हैं।

इन लक्षणों में प्रथम लक्षण सुगम एवं दोषशून्य है। नवीन मीमांसकों ने द्वितीय लक्षण के अनुसार गृहमेधीयेष्टि में पर्णता (=जुहू की पलाशमयता) का निवेश प्राप्त न होने से तृतीय लक्षण बनाया है। यह न केवल क्लिष्ट है, अपितु लक्षणपरिगृहीत प्रकृति-विकृति के अन्योन्याश्रय होने से अन्योन्याश्रित दोषदुष्ट भी है। प्रकृति का लक्षण विना जाने विकृति का ज्ञान नहीं हो सकता। फिर उस के विना जाने **चोदकाद् यत्र प्राप्तिर्न** यह नहीं कहा जा सकता है। यह दोष द्वितीय लक्षण में भी हैं। प्रकृति के लक्षण में विकृतिपद का निवेश है—**यतो विकृतिरङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिः।**

विकृतियाग का लक्षण—जिन कर्मों में कर्मोपयोगी समस्त क्रियाकलाप पठित नहीं है, और कर्म की पूर्ति के लिये जिन्हें प्रकृतियागों से उपयुक्त कर्मकलापों का ग्रहण करना होता है, वे विकृतियाग कहाते हैं। यथा—**दाक्षायणेष्टि, मित्रविन्देष्टि।**

प्रकृति-विकृतियाग का लक्षण—जिन यागों के अपने प्रमुख भाग का सम्पूर्ण क्रियाकलाप

---

१. मीमांसा-सूत्रकार के **विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्दर्शनात् पुनः श्रुतिरनर्थिका स्यात्** (१०।७।२४) अर्थात् 'विकृति में प्राकृत धर्म (=चोदक वाक्य से प्राप्त धर्म) का निर्देश देखा जाने से [चोदक वचन से] पुनः प्राप्ति अनर्थक होवेगी, इस न्याय से गृहमेधीयेष्टि में यावदुक्त कर्मता मानी जाती है। दूसरे शब्दों में यह विकृति याग है। परन्तु कुछ प्रकृतियाग से प्राप्त धर्मों का निर्देश श्रुति में उपलब्ध होने से यहां उतने ही धर्म परिगृहीत होते हैं, जो वहां उपदिष्ट हैं। सूत्रकार के उक्त कथन से प्रथमलक्षणानुसार गृहमेधीयेष्टि प्रकृति कर्म के अन्तर्गत परिगृहीत होती है।

२. किसी कर्मविशेष के प्रकरण में अपठित (=अनारभ्याधीत) विधियों का प्रकृति में निवेश होता है, ऐसा मीमांसकों का सिद्धान्त है—**अनारभ्याधीतानां प्रकृतिगामित्वम्** **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति** इत्यादि कतिपय विधियां अनारभ्याधीत हैं। यदि इनका प्रकृति में ही निवेश माना जावे, तो गृहमेधीयेष्टि के द्वितीय लक्षण के अनुसार प्रकृति कर्म न होने से इसमें गृहमेधीयेष्टि की जुहू में पलाशमयता धर्म की प्राप्ति नहीं होगी। विशेष द्रष्टव्य—मीमांसा न्याय-प्रकाश, पृष्ठ ४४ (चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारस, सन् १९२५), मीमांसा-सुबोधिनी वृत्ति ३।६।२ टिप्पणी।

पढ़ा हो, परन्तु कुछ भाग के क्रियाकलाप की पूर्ति के लिये अन्य प्रकृतियाग की अपेक्षा करें। ऐसे याग **प्रकृति-विकृतियाग** कहाते हैं। यथा—**अग्निष्टोम**। अग्निष्टोम में सोमयाग-सम्वन्धि समस्त क्रियाकलाप का उपदेश है। परन्तु उसके एकदेश उपसदिष्टि दीक्षणीयेष्टि आतिथ्येष्टिरूप अवान्तर हविर्याग अपने क्रियाकलाप को दर्शपौर्णमास से ग्रहण करते हैं। इस प्रकार अग्निष्टोम सोमयाग के रूप में प्रकृतिरूप है, परन्तु अपने अवान्तर इष्टियों के रूप में विकृतिरूप भी है।

प्रकृति-विकृति-लक्षणरहित—प्रकृति का जो द्वितीय लक्षण है, उसके अनुसार गृहमेधीयेष्टि और दर्विहोम ऐसे कर्म हैं, जो न तो कहीं से क्रियाकलाप को ग्रहण करते हैं, और न उनसे कोई कर्मान्तर क्रियाकलाप का ग्रहण करते हैं। अतः ये न प्रकृति हैं, और न विकृति।

१. **हविर्यज्ञों की प्रकृति**—समस्त हविर्यज्ञों की प्रकृति **दर्शपौर्णमास** है।

२. **सोमयागों की प्रकृति**—समस्त सोमयागों की प्रकृति **अग्निष्टोम** है।

३. **पशुबन्धों की प्रकृति**—संहिता और ब्राह्मण के अनुसार समस्त पशुयागों की प्रकृति अग्निष्टोम-अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशुयाग है। क्योंकि पशु-सम्बन्धी सभी क्रियाकलाप उसी प्रकरण में पठित हैं। परन्तु श्रौतसूत्रकारों ने पशु-सम्बन्धी समस्त क्रियाकलाप निरूढपशुबन्ध के प्रकरण में पढ़े हैं। अतः श्रौतसूत्रकारों के मतानुसार पशुयागों की प्रकृति निरूढपशुबन्ध हैं।

उक्त द्रव्यमय श्रौतयज्ञों की प्रकल्पना क्यों की गई, इनका प्रादुर्भाव कब हुआ, और इनमें कैसे वृद्धि तथा परिवर्तन हुये, इनका हम क्रमशः संक्षेप से वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

द्रव्ययज्ञों की कल्पना का प्रयोजन

सृष्टि के आरम्भ में सत्त्वगुणविशिष्ट योगज-शक्ति-सम्पन्न परावरज्ञ ऋषि लोग अपनी दिव्य मानसिक शक्ति से इस चराचर जगत् के परमाणु से लेकर परम महत् तत्त्व पर्यन्त समस्त पदार्थों का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर लेते थे। उनके लिये कोई भी पदार्थ अप्रत्यक्ष नहीं था[1]। उत्तरोत्तर सत्त्वगुण की न्यूनता, एवं रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण काम क्रोध लोभ और मोह आदि उत्पन्न हुए[2]। उनके वशीभूत होकर मानवी प्रजा ने सुखविशेष की इच्छा से

---

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। निरुक्त १।२०॥ पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभावीर्य-…धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः॥ पराशरकृत ज्योतिष संहिता का वचन, उत्पलकृत बृहत्-संहिता की टीका में पृष्ठ १५ पर उद्धृत।

२. (क) तेषां क्रमादपचीयमानसत्त्वानाम् उपचीयमानरजस्तमस्कानां तेजोऽन्तर्दधे॥ पराशरकृत ज्योतिषसंहिता वचन, उत्पल द्वारा बृहत्संहिता टीका, पृष्ठ १५ पर उद्धृत।

(ख) 'भ्रश्यति तु कृतयुगे…लोभः प्रादुरासीत्॥२८॥ ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहाद् अनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः' ॥२९॥ चरकसंहिता विमानस्थान अ० ३॥

प्राजापत्य शाश्वत नियमों का उल्लंघन करके कृत्रिम जीवनयापन करना प्रारम्भ किया।[1] ज्यों-ज्यों आवश्यकताएं बढ़ती गईं, त्यों-त्यों जीवनयापन के साधनों में भी कृत्रिमता बढ़ने लगी। इसके साथ ही साथ मानव की मानसिक दिव्य शक्तियों का भी ह्रास होने लगा।[2] उनके ह्रास के कारण सूक्ष्म दूरस्थ और व्यवहित पदार्थ अज्ञेय बन गये। अतः ब्रह्माण्ड और पिण्ड (=अध्यात्म=शरीर) की रचना कैसी है, यह जानना सर्वसाधारण के लिये जटिल समस्या बन गई। इस कारण आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ भी दुरूह हो गया। ऐसे काल में तात्कालिक साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ ऋषियों ने **ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्म की रचना का ज्ञान कराने, और आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्राचीन वेदार्थ को सुरक्षित करने-कराने के लिये यज्ञ-रूपी रूपकों की कल्पना की।** यज्ञ का मूल प्रयोजन दैवत और अध्यात्म का ज्ञान कराना ही है, इस बात की ओर आचार्य यास्क ने निरुक्त १।१९ में संकेत किया है—**याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।**

यास्क के मतानुसार यज्ञ और देवता का ज्ञान क्रमशः पुष्प और फलस्थानीय है, अर्थात् जैसे पुष्प फल की निष्पत्ति में कारण होता है, वैसे ही याज्ञिक-प्रक्रिया का ज्ञान दैवत (=ब्रह्माण्ड) के ज्ञान में कारण होता है। जब दैवतज्ञान हो जाता है, तब वह दैवतज्ञान याज्ञिकप्रक्रिया की दृष्टि से फलस्थानीय होता हुआ भी अध्यात्मज्ञान की दृष्टि से पुष्पस्थानीय होता है, अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान में दैवतज्ञान कारण बनता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञिक प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अनेक स्थानों में **'इत्यधियज्ञम्'** कहकर **'अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्'** के निर्देश द्वारा तीनों की परस्पर समानता दर्शाई है। अनुश्रुति के अनुसार मीमांसाशास्त्र के भी तीन विभाग हैं। प्रारम्भिक भाग **कर्ममीमांसा** कहाता है, मध्य भाग **दैवतमीमांसा**, और अन्त्य भाग **ब्रह्ममीमांसा**[3]। इससे भी यही ध्वनित होता है कि यज्ञ देवता और अध्यात्म का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उपर्युक्त निर्देशों से यह सुव्यक्त हो जाता है कि यज्ञ की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का बोध कराने के लिये ही की गई है। यज्ञकर्म में थोड़ा-सा भी हेर-फेर होने पर, यहां तक कि पात्रों के यथास्थान न रखने पर भी कर्म के दुष्ट होने अर्थात् यथावत् फलदायक न

---

१. ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात्। नैव देवा अतिक्रामन्ति न पितरो न पशवः। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति। शत० २।४।२।५-६॥

२. द्र०—गत पृष्ठ ९४ की टि० २ (क) में पराशर संहिता का वचन।

३. मीमांसाशास्त्र में ये तीनों विभाग पुराकाल में रहे होंगे। वर्तमान विंशति-अध्यायात्मक मीमांसाशास्त्र में दैवतकाण्ड अपने यथावत् रूप में नहीं है। वर्तमान मीमांसाशास्त्र के अ० १३–१६ तक के चार अध्याय, जिन्हें संकर्षकाण्ड भी कहा जाता है, के लिये दैवतकाण्ड नाम का भी व्यवहार होता है। परन्तु इनमें पूर्व १२ अध्यायों में निर्दिष्ट कर्मकाण्ड के अवशिष्ट कतिपय-विषयों पर ही विचार किया गया है। इस प्रकार ये चार अध्याय पूर्वशास्त्र के परिशिष्टमात्र हैं।

होने की कल्पना की गई है। इसे आप सुगमता से इस प्रकार समझ सकते हैं कि पृथिवी वा आकाशस्थ पदार्थों की स्थिति समझाने के लिये जो भूगोल और खगोल के मानचित्र बनाये जाते हैं, उनमें यदि प्रमादवश नामाङ्कन में थोड़ी-सी भी भूल हो जावे, तो वे मानचित्र बेकार हो जाते हैं। क्योंकि उन अशुद्ध नामाङ्कनवाले मानचित्रों से भूगोल और खगोल के तत्तत् नामवाले स्थानों की यथावत् स्थिति का बोध नहीं हो सकता। अर्थात् वे जिस प्रयोजन के लिये बनाये गये, उस प्रयोजन के साधक होना तो दूर रहा, उलटा अज्ञान-वर्धक होते हैं। इस दृष्टि से ही यज्ञीय प्रत्येक कर्म को यथाशास्त्र करने का याज्ञिकों का आग्रह है। उत्तरकाल में कार्यकर्त्ताओं के विशेष प्रबुद्ध न होने पर अदृष्ट उत्पन्न न होने अथवा पाप लगने की विभीषिका प्रचलित कर दी गई, जिससे कार्यकर्त्ता सावधान होकर कर्म करें।

इस प्रकार भूगोल-खगोल के मानचित्रों के समान श्रौतयज्ञ आधिदैविक जगत् एवं अध्यात्म जगत् के जानने के साधनमात्र हैं, स्वयं साध्य नहीं हैं।

द्रव्ययज्ञों की कल्पना का आधार

विराट् पुरुष (=ब्रह्म) ने अपने सखा[1] शारीर पुरुष (=जीव के शरीर की रचना में अपने ही विराट् शरीर (=ब्रह्माण्ड) की रचना का पूरा-पूरा अनुकरण किया है, अर्थात् यह मानव शरीर इस ब्रह्माण्ड की ही एक लघु प्रतिकृति है। अत एव आयुर्वेद की चरकसंहिता के पुरुषविचय नामक अध्याय (शारीर० अ० २५) **पुरुषोऽयं लोकसम्मितः** ऐसा निर्देश करके पुरुष और लोक की विस्तार से तुलना दर्शाई है। परावरज्ञ ऋषियों ने अपनी दिव्य योगजशक्ति से ब्रह्माण्ड और पिण्ड के रचना-साम्य का अनुभव करके उसी के आधार पर दोनों के प्रतिनिधिरूप यज्ञों की कल्पना की। अत एव ब्राह्मणग्रन्थों में बहुधा उक्त **इत्यधिदैवतम् अथाधिदैवतम् अथाध्यात्मम्** कहकर एक-दूसरे का तुलनात्मक व्याख्यान करना उपपन्न होता है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि **जिस प्रकार भूमण्डल और नक्षत्रमण्डल के विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिये उनके मानचित्रों की; तथा प्राचीन काल की किसी परोक्ष घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिये नाटक की कल्पना की जाती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना का ज्ञान कराने के लिये यज्ञों की कल्पना की गई।** अर्थात् यज्ञों की कल्पना भी भूगोल आदि के मानचित्रों के समान सत्य वैज्ञानिक आधार पर ही हुई है। अत एव जिस प्रकार नगर जिला प्रान्त देश और महादेश आदि के क्रम से भूगोल का क्रमिक ज्ञान कराने के लिये विभिन्न छोटे-बड़े प्रदेशों के मानचित्र तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की स्थूल वा सूक्ष्म रचना का क्रमशः ज्ञान कराने के लिये **अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य** आदि विभिन्न छोटे-मोटे यज्ञों की कल्पना की गई। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का एक नाम कल्प

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया। ऋ० १।१६४।२०॥

भी है—कल्पनात् कल्पः। अतएव यज्ञों के व्याख्यान[1] करनेवाले सूत्रग्रन्थ कल्पसूत्र कहाते हैं। यज्ञों की प्रकल्पना सृष्टियज्ञ का ज्ञान कराने के लिये हुई थी, इस बात को हृदयंगम कराने के लिये द्रव्यमय यज्ञ और सृष्टियज्ञ की कुछ तुलना उपस्थित करते हैं।

द्रव्ययज्ञों की अधिदैवत सृष्टियज्ञों से तुलना

द्रव्ययज्ञों और सृष्टियज्ञों की तुलना के लिये हम नीचे कुछ विशेष प्रकरण उपस्थित करते हैं—

१—वेदि-निर्माण और पृथिवी-सर्ग

सब से प्रथम हम श्रौतयज्ञों के आधारभूत वेदि-निर्माण और अग्न्याधान की प्रक्रिया, जिसका शाखाओं ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं श्रौतसूत्रों में विस्तार से वर्णन किया है, का संक्षेप से वर्णन करते हैं—

वेदि-निर्माण—सब से पूर्व वेदिनिर्माणार्थ यज्ञोपयोगी भूमि का निरीक्षण किया जाता है। तत्पश्चात् उस भूमि पर वेदि की रचना के लिये भूमि के ऊपर की कुछ मिट्टी खोदकर हटाई जाती है, जिससे अशुद्ध मिट्टी वा घास-फूंस की जड़ें निकल जायें। तत्पश्चात् उस स्थान में निम्न क्रियाएं क्रमशः की जाती हैं—

१—जल का सिञ्चन किया जाता है। तत्पश्चात्

२—वराह-विहत (=सूअर से खोदी गई) मिट्टी बिछाई जाती है। तत्पश्चात्

३—दीमक की बांबी की मिट्टी बिछाई जाती है। तत्पश्चात्

४—ऊसर भूमि की मिट्टी (=रेह—पंजाबी में) फैलाई जाती है। तत्पश्चात्

५—सिकता (=बालू) बिछाई जाती है। तत्पश्चात्

६—शर्करा (=रोड़ी) बिछाते हैं। तत्पश्चात्

७—ईंटें बिछाई जाती हैं। तत्पश्चात्

८—सुवर्ण रखा जाता है।[2] तत्पश्चात्

९—समिधाएं रखी जाती हैं। तत्पश्चात्

१०—अश्वत्थ (=पीपल) की अरणियों (=दो काष्ठों) को मथकर (=रगड़कर) अग्नि उत्पन्न करके समिधाओं पर धरते हैं—

---

१. यज्ञं व्याख्यास्यामः। का० श्रौ० १।२।१॥

२. हिरण्यं निधाय चेतव्यम् (मीमांसा शाबरभाष्य १।२।१८ में उद्धृत), रुक्ममुपदधाति (मै० सं० ३।२।६)। यह विधि अग्निचयन प्रकरण की है।

पृथिवी-सृजन-प्रक्रिया और वेदिनिर्माण-विधि की समानता

अग्न्याधान में वेदिनिर्माण की जो उक्त क्रियाएं की जाती हैं, वे हिरण्यगर्भाख्य महदण्ड से पृथिव्यादि के पृथक् होने के पश्चात् पृथिवी की जो सलिलमयी स्थिति थी, उस अवस्था से लेकर पृथिवी के पृष्ठ पर जब अग्नि की प्रथम उत्पत्ति हुई तब तक की पृथिवी की विविध परिवर्तित स्थितियों का बोध कराती हैं। पृथिवी और वेदि का साम्य वेद स्वयं दर्शाता है—**'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः'** (यजु० २३।६२)। शतपथ-ब्राह्मण में इस काल को ९ विभागों में विभक्त करके नौ प्रकार के सर्ग (=सृष्टि) का वर्णन किया है। यथा—

'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत।...स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषं सिकतं शर्करा अश्मानम् अयोहिरण्यम् ओषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्' ॥ शत० ६।१।१।१३॥

यहां जो नौ प्रकार की सृष्टि कही है, उनमें फेन के आपःप्रधान होने से वेदि-निर्माण की उपर्युक्त प्रक्रिया में उसको सम्मिलित नहीं किया है। अब हम वैदिक-ग्रन्थों के आधार पर वेदि-निर्माण और पृथिवी के विविध सर्गों का वर्णन करते हैं, जिससे हमारे उक्त विचार स्पष्ट हो जायेंगे।

१—आरम्भ में पृथिवी सलिलमयी थी—**'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास'** (शतपथ ११।६।१।६)। इस स्थिति को दर्शाने के लिये वेदि के स्थान में जलसिंचन किया जाता है।

२—अग्नि के संयोग से सलिलों में फेन उत्पन्न हुआ, जैसे दूध गरम करने पर उबाल के समय उत्पन्न होते हैं। वही फेन वायु के संयोग से घनत्व को प्राप्त होकर मृद्भाव को प्राप्त होता है। जैसे दूध पर मलाई जमती है (पर दूध को ढक देने से वायु का संयोग न होने से मलाई नहीं जमती)। इसके लिये शतपथ ६।१।३।३ में कहा है—**'स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति'**।

मृद् की उत्पत्ति में सूर्य की किरणों का विशेष महत्त्व होता है। ये सूर्य की अङ्गिरस नामक किरणें वराह भी कहाती हैं[1]। उस समय पृथिवी का रूप वराह के मुख के सदृश छोटा-सा होता है। अत एव वेदि-निर्माण में वराह (=सूअर) द्वारा खोदी गई बारीक मिट्टी बिछाई जाती है। इसलिये मैत्रायणी-संहिता १।६।३ में कहा है—**'यावद् वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्।**

---

१. पुराणों में अनुश्रुति है कि विष्णु ने वराह का रूप धारण करके जल से पृथिवी को निकाला। सभी पौराणिक अवतार विष्णु के अंश हैं। वेद में विष्णु सूर्य का नाम है, उसकी अङ्गिरस नामक किरणें वराह हैं—**अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते** (निरुक्त ५।४)। इन्हें जातिरूप से एकवचन में एमूष वराह भी कहते हैं। शतपथ १४।१।२।११ में कहा है—**'तामेमूष इति वराह उज्जघान'**। एमूष वराह का वर्णन ऋग्वेद के **'वराहमिन्द्र एमूषम्'** (८।७७।१०) मन्त्र में भी आता है। एमूष का अर्थ है—**आ**=सब ओर से, **ईम्**=जलों को (=ईम् उदकनाम, निघण्टु १।१२), **ऊष**=तपानेवाला।

यद् वराहविहतमुपास्याग्निमाधत्ते'। अर्थात् आरम्भ में पृथिवी उतनी ही थी, जितना वराह के मुख का अग्रभाग होता है। वराहस्य चषालम् पृथिवी-भाग की अल्पता का उपलक्षक है।

३—जब वही मृत् सूर्य की किरणों से सूख जाती है, तब उसे शुष्काप (=सूख गये हैं जल जिसके) कहते हैं। उसके नीचे जल होता है। यह सूखी हुई पपड़ीरूपी मृत् मसलने पर भुरमुरी हो जाती है। इसी शुष्कापरूप अवस्था का बोध कराने के लिये दीमक की वाम्बी की मिट्टी बिछाई जाती है। दीमक पृथिवी के अन्दर से गीली मिट्टी लाती है[1]। और वह हवा तथा धूप से सूख जाने पर मलने में भुरभुरी होती है। इसीलिये मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—'यद् वल्मीकवपामुत्कीर्याग्निमाधत्ते'।

४—वही शुष्काप सूर्य की किरणों से तपकर ऊष (=जलानेवाले क्षारत्व) भाव को प्राप्त होते है। इसीलिये वेदि में ऊसर भूमि की मिट्टी 'रेह' बिछाई जाती है। मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—'यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते'।

५—वही ऊष=क्षार मिट्टी पुनः सूर्य-किरणों से, तथा पृथिवी गर्भस्थ अग्नि से तप्त होकर सिकता=वालू का रूप धारण करती हैं[2]। इसीलिये वेदि में भी सिकता बिछाई जाती है—'यत्सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते' (मै० सं० १।६।३)। इस अवस्था तक पृथिवी शिथिल=ढीली=पिलपिली थी। शु० यजु: २०।१२ में कहा है—'अविरासीत् पिलिप्पिला'।

६—वही अन्त:स्थित सिकता भूगर्भस्थ अग्नि से तपकर शर्करा=रोड़ी[3] बन जाती है। पृथिवी के इस अन्त:परिवर्तन का बोध कराने के लिये वेदि में शर्करा=रोड़ी बिछाई जाती है। इसीलिये मै० सं० १।६।३ में कहा है—'यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते'।

पृथिवी-गर्भ में शर्करा की उत्पत्ति से भूमि में दृढ़त्व आता है। इस तथ्य को वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार दर्शाया है—'शिथिरा वा इयमग्र आसीत्। तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत' (मै० सं० १।६।३)।

इसी अग्निरूप क[4]=प्रजापति के कर्म का वर्णन ऋग्वेद १०।१२१।५ में किया है—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'।

---

१. दीमक की वाम्बी के नीचे जल अवश्य होता है। इसीलिये राजस्थान में जलगवेषक दीमक की वाम्बी के स्थान में कुंआ खोदने को कहते हैं।

२. सिकता पृथिवी के ऊपर भी उपलब्ध होती है, जैसे राजस्थान में। और पृथिवी के अन्दर भी बनती है। आज भी कच्चे पहाड़ों में उपलब्ध कच्चे पत्थरों को मसलने पर बालू के कण पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। ३. छोटे-छोटे पत्थर=कंकड़।

४. ब्रह्माण्ड में यह 'क' अग्निरूप प्रजापति है। शरीर में 'क' अग्निरूप जीवात्मा प्रजापति है।

७—वही शर्करा अन्तस्ताप से संतप्त होकर पाषाणरूप को धारण करती है । इसीलिये अग्निचयनसंज्ञक याग में वेदि में पाषाण के स्थान में प्रतिनिधिरूप ईंटें[1] बिछाई जाती हैं । तैत्तिरीय संहिता ५।२।८ में कहा है—'इष्टका उपदधाति' ।

८—वही पाषाण भूगर्भस्थ अग्नि से संतप्त होकर लोह से सुवर्ण पर्यन्त धातुरूप में परिणत होता है ।[2] उसी धातूत्पत्ति-कालिक पृथिवी की स्थिति का वर्णन करने के लिये अग्निचयन-संज्ञक कर्म में कहा है—'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' (द्र०—मीमांसाभाष्य १।२।१८); तथा 'रुक्ममुपदधाति' (मै० सं० ३।२।६) ।

९—पृथिवी-गर्भ में अयः (=लोह) से हिरण्य-पर्यन्त धातु-निर्माण हो जाने तक पृथिवी कूर्म-पृष्ठ (=कछुए की पीठ) के समान लोमरहित थी । उसके अनन्तर पृथिवी पर ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई । पृथिवी की इस स्थिति को बताने के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है—

'इयं वाऽलोमिकेवाग्र आसीत्' । ऐ० ब्रा० २४।२२॥

'ओषधिवनस्पतयो वा लोमानि' । जै० ब्रा० २।५४॥

'इयं तर्ह्यूक्षाऽऽसीद् अलोमिका । तेऽब्रुवन् तस्मै कामायालभामहै, यथाऽस्यामोषधयो वनस्पतयश्च जायन्त इति' । मै० सं० २।५।२॥

इसीलिये वेदि में हिरण्य रखकर समिधाएं अथवा तत्स्थानीय आरण्य उपले (=कण्डे) रखे जाते हैं ।

वनस्पतिरूप बड़े-बड़े वृक्षों के उत्पन्न होने पर वायु के वेग से वृक्ष-शाखाओं की रगड़ से पृथिवी पर सब से प्रथम अग्नि की उत्पत्ति हुई ।[4] अत एव वेद में कहा है—'तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे' (यजु० ३।५) ।

पृथिवी के पृष्ठ पर प्रथम अग्नि के प्रादुर्भाव का बोधन कराने के लिये वेदि में जिस अग्नि का आधान किया जाता है, उसे पीपल के काष्ठ से निर्मित्त दो अरणियों को मथकर ही उत्पन्न किया जाता है ।

२—चयन-याग में पुष्कर-पर्ण-विधि का रहस्य

पूर्व संख्या ३ में शुष्कापरूप जिस पार्थिव स्थिति का वर्णन किया है, उस समय पार्थिव

---

१. नियत अग्निचयन कर्म में श्येन आकारवाली वेदी में विभिन्न आकारवाली ईंटें बिछाई जाती हैं । विभिन्न इष्ट आकारों में पत्थरों को घड़ना कष्टसाध्य है । इसलिये यहां प्रतिनिधिरूप में ईंटें बिछाने का निर्देश किया गया है ।

२. द्र०—'अश्मनो लोहसमुत्थितम्' । महा० उद्योग० । रसार्णवतन्त्र ८।९९ में लोह-संकरज सुवर्ण का वर्णन मिलता है ।　　३. शाबरभाष्य १।२।१८ में उद्धृत श्रुति ।

४. महावनों में वृक्ष-शाखाओं की रगड़ से दावाग्नि की उत्पत्ति प्रायः होती रहती है ।

भाग जल पर वायु के वेग से पुष्करपर्ण (=कमल के पत्ते) के समान इधर-उधर डोलता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है—'सा हेयं पृथिव्यलेलायत यथा पुष्करपर्णम्' (शत० २।१।१।८)। इसी का वर्णन वायुरूपी इन्द्र के कर्म के रूप में किया है— 'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा' (ऋ० १०।११९।९) अर्थात् इन्द्र=वायु कहता है कि मैं इतना बलशाली हूं कि मैं जहां चाहूं इस पृथिवी को रख दूं।

इस पुष्करपर्णवत् स्थिति का निदर्शन चयन-याग में पुष्करपर्ण को रखकर कराया है— 'तस्मिन् पुष्करपर्णम अपां पृष्ठम् इति' (का० श्रौत० १६।२।२५)। मत्स्य पुराण (१८६।१६ 'मोर' संस्क०) में इस विषय में लिखा है—

एतस्मात् कारणात् तज्ज्ञैः पुराज्ञैः परमर्षिभिः।
यज्ञियैर्वेददृष्टान्तैर्यज्ञे पद्मविधिः स्मृतः॥

अर्थात्—इसी कारण प्राचीन ऋषियों ने वेदनिर्दिष्ट दृष्टान्त से यज्ञ में पद्मविधि= पुष्करपर्ण के निधान का निर्देश किया है।

३ - सृष्टि-यज्ञ के देवता और द्रव्ययज्ञ के देवताओं का साम्य

नैरुक्त सम्प्रदाय के आचार्य वेद के मन्त्रों की आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार व्याख्या करते हैं। अर्थात् नैरुक्त सम्प्रदाय में विज्ञात देवता आधिदैविक जगत् अर्थात् सृष्टियज्ञ के विशिष्ट कार्यकारी भौतिक तत्त्व हैं, यह निरुक्त के अध्ययन से सुस्पष्ट है। परन्तु आधिदैविक प्रक्रियानुसार देवताओं की व्याख्या करनेवाले यास्क मुनि ने अनादिष्ट देवताक (=जिन मन्त्रों का देवता मन्त्र में साक्षात् निर्दिष्ट नहीं है, उन) मन्त्रों के देवता-परिज्ञान के लिये जो उपाय दर्शाये हैं, उनमें सब से प्रथम निर्दिष्ट है—'यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति' (निरुक्त ७।४)। इसका भाव यह है कि—अनादिष्ट देवतावाले मन्त्रों के देवता के परिज्ञान के लिये सब से प्रथम यह देखना चाहिये कि वह अनादिष्ट देवतावाला मन्त्र किस यज्ञ वा यज्ञाङ्ग में विनियुक्त है। तदनुसार उस यज्ञ वा यज्ञाङ्ग का जो देवता माना गया है, वही उस अनादिष्ट देवतावाले मन्त्र का जानना चाहिये।

इस निर्देश से स्पष्ट है कि आधिदैविक जगत् और द्रव्यमय यज्ञ का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत्यन्त साम्य है। अन्यथा आधिदैविक प्रक्रियानुसार देवताओं का व्याख्याता यास्कमुनि अनादिष्टदेवतावाले मन्त्रों के देवता के परिज्ञान के लिये द्रव्यमय यज्ञों वा उनके यज्ञाङ्गों का आश्रय लेने का उपदेश न देते।

४—तीनों लोकों का यज्ञों से साम्य

यास्कमुनि ने अनादिष्टदेवतावाले मन्त्रों की देवता-परीक्षा के प्रकरण का उपसंहार करते हुये पुनः लिखा है—

'अथैतान्यग्निभक्तीनि — अयं लोकः, प्रातःसवनं, वसन्तः ·····। अथैतानीन्द्रभक्तीनि— अन्तरिक्षलोकः, माध्यन्दिनं सवनं, ग्रीष्मः ·····। अथैतान्यादित्यभक्तीनि—असौ लोकः, तृतीयं सवनं, वर्षाः ·····।' निरुक्त ७।८-११॥

इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि इन्द्र और आदित्य जो तीन नैरुक्त प्रधान देवता हैं, उनका जिनके साथ भाग का साहचर्य देखा जाता है, उनका वर्णन किया है। इस प्रकार अग्निदेवता—इस पृथिवीलोक, माध्यन्दिन सवन, और ग्रीष्म ऋतु आदि के साथ; इन्द्रदेवता—अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिन सवन, और ग्रीष्म ऋतु आदि के साथ; तथा आदित्यदेवता—द्युलोक, तृतीय सवन, और वर्षा ऋतु के साथ सम्बन्ध रखता है। इससे स्पष्ट है कि नैरुक्त देवता और याज्ञिक देवता समान हैं। और तीनों लोकों का यज्ञगत तीनों सवनों से साम्य है।

निरुक्तकार यास्क ने तीनों लोकों और यज्ञगत तीनों सवनों के साम्य का निर्देश निम्न वचन में भी दर्शाया है—

'अथासावादित्यः (वैश्वानरः) इति पूर्वे याज्ञिकाः। एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः। रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः। तामनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते' (निरुक्त ७।२३)।

अर्थात्—प्राचीन याज्ञिक आदित्य को वैश्वानर मानते थे। इन [पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यु] लोकों के आरोह (=चढ़ाई) के समान प्रातः-सवन माध्यन्दिन-सवन और तृतीय-सवन का आरोह कहा गया है। अर्थात् प्रातः-सवन में यजमान पृथिवीस्थानीय होता है, माध्यन्दिन-सवन में अन्तरिक्ष-स्थानीय, एवं तृतीय-सवन में द्युस्थानीय हो जाता है। द्युलोक में पहुंचे हुए यजमान को यज्ञ की समाप्ति से पूर्व पृथिवी पर लाना आवश्यक है। वापस उतार की अनुकृति (=अनुकरण) को होता वैश्वानरीय आदित्य-देवताक सूक्त से आरम्भ करता है।

वेदि-निर्माण, अग्न्याधान, पुष्करपर्ण-निधान और सवनों के आरोहादि की सृष्टियज्ञ से जो तुलना ब्राह्मणादि ग्रन्थों में दर्शाई है, उससे स्पष्ट है कि श्रौतयज्ञ सृष्टियज्ञ के ही रूपक हैं। तथा सृष्टियज्ञ अर्थात् आधिदैविक जगत् का अध्यात्म के साथ सम्बन्ध है। आधिदैविक जगत् के ज्ञान से अध्यात्म का अर्थात् शारीर यज्ञ का परिज्ञान होता है। इसीलिये निरुक्तकार यास्क ने **देवताऽध्यात्मे वा [पुष्पफले]** (निरुक्त १।१९) कहकर आधिदैविक ज्ञान को अध्यात्म ज्ञान में कारण बताया है। यही अभिप्राय लोकप्रसिद्ध **यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे** लोकोक्ति से भी प्रकट होता है।

यद्यपि इस प्रकार के वैज्ञानिक आधार पर प्रकल्पित श्रौतयज्ञों की समस्त क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ क्या सादृश्य है, इसका साक्षात् विस्तृत उल्लेख वर्तमान में उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता, तथापि ब्राह्मण-ग्रन्थों में याज्ञिक क्रियाओं तथा तद्गत पदार्थों के निर्देश के साथ-साथ यत्र-तत्र उल्लिखित **'इत्यधिदैवतम्'** तथा **'इत्यध्यात्मम्'** आदि निर्देशों से उक्त सादृश्य का अनुमान बड़ी सरलता से किया जा सकता है।

सौभाग्यवश दर्शपौर्णमास की सभी मुख्य-मुख्य क्रियाओं और पदार्थों की आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ दर्शाई गई तुलना शतपथ-ब्राह्मण काण्ड ११, अ० १–२ में सुरक्षित है। उसके अनुशीलन से भी ऊपर दर्शाई गई यज्ञों की कल्पना के मूलभूत आधार का ज्ञान भले प्रकार हो जाता है।

उपर्युक्त साम्य के आधार पर प्रारम्भ में जब यज्ञों की कल्पना की गई, उस समय यज्ञ की प्रत्येक क्रिया और पदार्थ आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं और पदार्थों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते थे। इसी नियम पर प्रारम्भ में प्रकल्पित अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि कतिपय यज्ञों में उत्तरोत्तर बहुत कुछ परिवर्तन होने पर भी इनकी क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं और पदार्थों से अत्यधिक सादृश्य उपलब्ध होता है।

यज्ञों के प्रादुर्भाव का काल

भारतीय इतिहास के अनुसार सर्ग के आरम्भ में मानवों को वैदिक ज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर भी जैसे वेदों में वर्णित वर्णाश्रम-व्यवस्था राज्य-व्यवस्था आदि व्यवहारों का प्रचलन सर्ग के आरम्भ में ही नहीं हो गया था, तद्वत् ही द्रव्यमय यज्ञों का प्रचलन भी आरम्भ में नहीं हुआ था। क्योंकि उस समय सभी मानव सत्त्वगुण-सम्पन्न साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ परम मेधावी थे[1]। महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों के अनुसार उस समय सारा जगत् ब्राह्ममय था।[2] यज्ञों के विषय में शांखायन आरण्यक (४।५, पृष्ठ १५) में स्पष्ट लिखा है—

'तद्ध स्मैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं च जुह्वांचक्रुः।'

ब्राह्मणग्रन्थों में भी अनेकत्र 'य उ चैनं वेद' कहकर यज्ञ करने और उसको तत्त्वतः जानने का समान फल दर्शाया है। यही बात स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी विक्रम संवत् १९३२ में प्रकाशित संस्कार-विधि (प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११८) के गृहस्थाश्रम प्रकरण में लिखी है— "उपासना अर्थात् योगाभ्यास करनेवाला, ज्ञानी=सब पदार्थों का जाननेवाला, ये दोनों होमादि बाह्य क्रिया न करें।"

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उक्त बात गृहस्थाश्रम प्रकरण में लिखी है। संन्यासी अर्थात् ज्ञानी को बाह्य होमादि न करने का जो विधान सभी शास्त्रों में विद्यमान है, उसका भी मूल कारण यही है।

अन्य सभी सामाजिक व्यवस्थाओं के समान याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रादुर्भाव कृतयुग और

---

१. द्रष्टव्य—पृष्ठ ९४, टि० १।

२. सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। महा० शान्ति० १८८।१०॥

त्रेता युग के सन्धि-काल में हुआ। इसीलिये कहीं पर यज्ञों की उत्पत्ति कृतयुग के अन्त में, और कहीं पर त्रेता युग के आरम्भ में कही है।[1]

यज्ञों का क्रमिक विकास

यज्ञों के विकास का जो क्रम उपलब्ध होता है, उसमें अग्नि के एकत्व त्रित्व और पञ्चत्व के साथ-साथ यज्ञों के लिये एक वेद दो वेद और तीन वेद के विनियोजन का क्रम भी देखा जाता है। तदनुसार प्रारम्भ में एक अग्नि[2] के होने से एकाग्निसाध्य यजुर्वेदमात्र से सम्पन्न होनेवाले अग्निहोत्र आदि होमों का ही प्रचलन हुआ। तदनन्तर महाराज पुरुरवा ऐल द्वारा अग्नि के त्रेधा विभाजन[3] होने पर त्रेताग्निसाध्य (=तीन अग्नियों में किये जानेवाले) दो वेदों (=यजुः

---

१. इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्न तदन्यथा ॥' महा० शान्ति० ३४०।८२॥

इस श्लोक में कृतयुग में यज्ञों की विद्यमानता कही है।

'त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।' महा० शान्ति० २३८।१४॥
'त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे।' महा० शान्ति० २३२।३२॥
'यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम्।' वायु० ५७।८९॥
'तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि।'
मुण्डक उप० १।२।१॥

इत्यादि प्रमाणों की पारस्परिक संगति से उपर्युक्त परिणाम ही निकलता है।

मत्स्य पुराण १३४।४२ में स्वायम्भुव मन्वन्तर में यज्ञ-प्रवर्तन का उल्लेख मिलता है—
'यज्ञप्रवर्तनमेवासीत् स्वायम्भुवेऽन्तरे।'

यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि मनु के जलप्लावन के पीछे पुरानी परम्परा को सुरक्षित रखने के लिये जो मन्वन्तरादि कल्पना की गई, उसके अनुसार कृतयुग में स्वायंभुव मन्वन्तर समाप्त होता है, और त्रेता से वैवस्वत मन्वन्तर आरम्भ होता है। द्रष्टव्य—भरत नाट्यशास्त्र १।८॥ महाभारत शान्तिपर्व ३४८।५१ में भी लिखा है—'त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ।' यह मनु वैवस्वत मनु ही है। इस सारी भारतीय ऐतिहासिक कालगणना का गम्भीर अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है। इसको विना समझे भारतीय इतिहास की गुत्थियां सुलझाना असम्भव है।

२. 'अङ्गिरसां वा एकोऽग्निः।' ऐ० ब्रा० ६।२४॥ तथा अगली टिप्पणी के उद्धरण।

३. 'गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा त्रेताग्निं समकल्पयत्।
एकोऽग्निः पूर्वमासीद् ऐलस्त्रेतामकल्पयत् ॥' हरिवंश १।१२६।४७॥
'......... त्रेतायां स महारथः (ऐलः)।
एकोऽग्निः पूर्वमासीद्वै ऐलस्त्रींस्तानकल्पयत् ॥' वायु पुराण ९१।४८॥

ऋक्) से किये जानेवाले दर्शपौर्णमासादि, तथा तीन वेदों (=यजुः ऋक् साम) से किये जानेवाले ज्योतिष्टोमादि[1] यज्ञों की, और तत्पश्चात् पञ्चाग्निसाध्य विविध क्रियाकलाप की प्रकल्पना हुई।

प्रारम्भिक यज्ञ

यतः प्रारम्भ में यज्ञों की कल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर की गई थी, अतः प्रारम्भ में कल्पित यज्ञों का आधिदैविक जगत् के साथ साक्षात् सम्बन्ध था। यथा — अग्निहोत्र का अहोरात्र के साथ, दर्शपौर्णमास का कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष के साथ, तथा चातुर्मास्य का तीनों ऋतुओं के साथ। अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास की आधिदैविक व्याख्या शतपथ के ११ वें काण्ड में मिलती है। चातुर्मास्य के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है—

'भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते।' कौषीतकि ब्रा० ५।१॥

इसी प्रकार गोपथ ब्रा० उत्तरार्ध १।१९ में भी कहा है।

महाभारत शान्तिपर्व २६९।२० में अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य इन तीन यज्ञों को ही प्राचीन यज्ञ कहा है। यथा—

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः॥

प्रारम्भिक यज्ञों में सादगी तथा सात्त्विकता

प्रारम्भ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई, वे यज्ञ अत्यन्त सादे तथा सात्त्विक थे। उनमें बाह्य आडम्बर (=दिखावा), अवैदिक विचारों का मिश्रण, तथा मांस आदि तामसिक पदार्थों का किञ्चिन्मात्र सम्बन्ध नहीं था। इसके निदर्शन के लिये हम केवल दो प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—'यज्ञो हि वा अनः। तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति, न कोष्ठस्य, न कुम्भ्यै। भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति। तद् वृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुः। तान्येर्तांह प्राकृतानि।' शत० १।१।२।७॥

अर्थात् अन्न से भरे शकट (=गाड़ी) से ही दर्शपौर्णमासादि की हवि का ग्रहण करे।

'गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा'—क्या ये गन्धर्व 'गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु' याजुष मन्त्र (२।३) में उक्त दैवी शक्तियां हैं? वायु पुराण अ० ९१, श्लोक ४८ से ५१ भी द्रष्टव्य हैं। तीन अग्नियों के नाम शतपथ १।३।३।१७ में इस प्रकार लिखे हैं—'एतानि वै तेषां नामानि— यद् भुवस्पतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिः।'

१. 'यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञं वितेनिरे। अथर्चाऽथ साम्ना, तदिदमप्येर्तांह यजुषा एवाग्रे यज्ञमतन्वत, अथर्चाऽथ साम्ना।' शतपथ ४।६।७।१३॥

शकट ही यज्ञ है। इसलिये हविग्रहण के याजुष मन्त्र शकट-सम्बन्धी ही हैं। कोष्ठ (=अन्न रखने का कोठा=कुसूल) या भस्त्रा (=वस्त्र वा चमड़े की थैली, जैसी आटा आदि रखने के लिये पहाड़ी वर्तते हैं) सम्बन्धी नहीं हैं। पुराने ऋषि भस्त्रा से हवि का ग्रहण करते थे। उन ऋषियों के लिये ये ही हविग्रहण के याजुष मन्त्र भस्त्रा-सम्बन्धी थे। इसलिये ये याजुष मन्त्र सामान्य हैं (कहीं पर भी इनका विनियोग हो सकता है)।

इस उद्धरण से दो बातें स्पष्ट हैं। एक—याज्ञिक क्रियाओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन हुआ है। निरुक्त ७।२३ में भी—"असावादित्य (वैश्वानरः) इति पूर्वे याज्ञिकाः" लिखकर अगले खण्ड (२४) में पूर्व याज्ञिकों की क्रिया का उल्लेख किया है। यहां 'पूर्व' विशेषण से स्पष्ट है कि निरुक्त में दर्शाई याज्ञिक क्रिया यास्क के समय उस रूप में नहीं होती थी। द्वितीय—पुराकाल में यज्ञों में बाह्याडम्बर नहीं था, उत्तरोत्तर रजस्तम की वृद्धि से लोभ, परिग्रह, सम्पन्नता, और उसके दिखावे की वृद्धि होने[1] से यज्ञों में भी आडम्बर की वृद्धि हुई।

पौर्णमासेष्टि में तीन प्रधानाहुतियों के लिये केवल १२ मुठी जौ या व्रीहि (=धान) की आवश्यकता होती है।[2] इतने थोड़े से अन्न के ग्रहण के लिये यज्ञस्थान में गाड़ी भरकर अन्न लाने का क्या प्रयोजन ? इसे बाह्य आडम्बर (=अपनी सम्पन्नता का दिखावा) ही तो कहा जायेगा। इसीलिये प्राचीन ऋषि अपनी अनाज रखने की कपड़े वा चमड़े की थैली, अथवा घड़े से ही हविग्रहण करते थे। उत्तरकाल में शकट से हविग्रहण का विधान स्वीकृत होने पर भी साधारण याज्ञिकों द्वारा शकट भर अन्न लाना असम्भव होने से शकट से हविग्रहण का प्रयोजन केवल अदृष्ट की उत्पत्ति मानकर एक वितस्ति (=बिलांत) भर प्रमाण की गाड़ी बनाकर उससे हविर्द्रव्य का स्पर्शमात्र करके कार्य चलाने लगे। इसी प्रकार सोमयाग के समय सम्पन्न किये जानेवाले हविर्धान-मण्डप का निर्माण पहले ही कर लेते हैं। यागकाल में उसका स्पर्शमात्र करके कार्य चलाते हैं।[3]

२—प्राचीन यज्ञ अवैदिक तत्त्वों से सर्वथा रहित थे। परन्तु उत्तरकाल में दर्शपौर्णमास सदृश विशुद्ध यागों में भी अवैदिक विचारों का सम्मिश्रण हो गया। इसका हम एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

वैदिक मन्तव्य के अनुसार पुत्र और पुत्री में किसी प्रकार का भेदभाव=पुत्र के प्रति उत्कृष्ट भावना, वा पुत्री के प्रति हीन भावना नहीं है। यास्क मुनि ने निरुक्त ३।४ में अङ्गादङ्गात् संभवसि मन्त्र और अविशेषेण पुत्राणां दायः मानव श्लोक को उद्धृत करके इस मत की पुष्टि की

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ६४, टि० २।

२. प्रत्येक आहुति के लिये चतुर्मुष्टि अन्न की आवश्यकता होती है—'चतुरो मुष्टीन् निर्वपति।' तुलना करो—चतुरो मुष्टीन् निरूप्य। आप० श्रौत १।१८।२॥

३. 'अद्यत्वे तु पूर्वकृतस्य मण्डपस्य यागकाले स्पर्शमात्रं क्रियते।' का०श्रौ० ८।३।२४ टीका॥

है[1]। परन्तु श्रौतयज्ञों में पुत्री के प्रति हीन भावना के निदर्शक वचन पठित हैं, जिन्हें यजमान प्रयाजसंज्ञक याग के पश्चात् आशीः के रूप में पढ़ता है। यथा—

प्रथम प्रयाज के पश्चात्—एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः (शत० ब्रा० १।५।४।१२; का० श्रौत ३।३।३; आप० श्रौत ४।६।४)।

अर्थात् मेरे एक पुत्र होवे, और जो मुझ से द्वेष करता है वा मैं जिससे द्वेष करता हूं, उस के एक पुत्री होवे।

इस प्रकार अपने लिये पुत्र की, और द्वेषी के यहां पुत्री होने की कामना उत्तरोत्तर द्वितीय तृतीय चतुर्थ प्रयाजों के आशीःवचनों में क्रमशः दो-तीन-चार रूप में बढ़ती जाती है। और पञ्चम प्रयाज के अन्त में अपने लिये ५ पुत्रों की कामना, और शत्रु के लिये न तस्य किंचन (=कुछ न होवे) की आशीः चाहता है।

वस्तुतः इस प्रकार के पुत्र-पुत्री के भेद का प्रादुर्भाव वहुत उत्तरकाल में हुआ था। इस भेदभाव की परिणति उत्तरकाल में सद्यः उत्पन्न पुत्री की हत्या में हुई।

३—'आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकाले मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः।' चरक चिकित्सा० १६।४।।

अर्थात्—आदि काल में यज्ञों में पशु स्पर्शनीय होते थे। अर्थात् पर्यग्निकरणान्त कार्य करके स्पर्श करके उन को छोड़ दिया जाता था। उनका वध नहीं होता था। तत्पश्चात् मनु के नाभाग इक्ष्वाकु प्रभृति पुत्रों के यज्ञों में 'यज्ञ में पशुओं का मारना अभिप्रेत है' यह मानकर यज्ञों में पशुओं का आलम्भन आरम्भ हुआ।

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि आदिकाल में यज्ञों में पशुओं का वध नहीं होता था। यज्ञ में पशुओं के मारने की प्रथा उत्तरकाल में आरम्भ हुई। इसकी पुष्टि महाभारत शान्तिपर्व अ० ३३७ अनु० ६।३४, ११६।५६—५८; तथा वायुपुराण ५७।६१—१२५ में उल्लिखित उपरिचर वसु की कथा से भी होती है।

यज्ञों में पशुवध कैसे आरम्भ हुआ, इसका निर्देश शान्तिपर्व २६३।६ में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

---

१. अविशेषेण मिथुना पुत्रा दायादाः इति। तदेतद् ऋक्श्लोकाभ्यामुक्तम्—

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्।।
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।। इति।

'लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः संप्रवर्त्तितम् । वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥'

इस वचन में लोभी धनैषणावाले नास्तिकों द्वारा वेदवाद (=वेद के कथन) को न जानकर पशुहिंसा-प्रवर्तन का उल्लेख किया है। इस श्लोक के आगे का प्रसंग भी द्रष्टव्य है।

वेदवाद को न जानकर यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई। इसकी पुष्टि आयुर्वेदीय चरक-संहिता के पूर्वोक्त उद्धरण के उत्तरार्ध में निर्दिष्ट 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञात् पशवः प्रोक्षणमापुः' (=यज्ञ में पशु के वध का निर्देश है, यह स्वीकार करके पशुओं का वध आरम्भ हुआ) वचन से भी होती है।

इसके साथ ही बौद्ध त्रिपिटक के ब्राह्मण धम्मिय सुत १८, १९ के वचन से भी इसकी पुष्टि होती है। इसमें कहा है—'भोगों से लुब्ध ब्राह्मणों ने झूठे मन्त्र[1] बनाकर इक्ष्वाकु के पास जाकर उसे पशुयाग कराने के लिये उत्साहित किया।[2]

पशुयज्ञ क्या हैं, उनमें पशुओं का वध होता है वा नहीं, इसकी मीमांसा आगे पशुयज्ञों के विवेचन में की जायेगी। यहां इसके निर्देश का इतना ही प्रयोजन है कि यज्ञों में उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ उनमें साधारण से लेकर भयङ्कर परिवर्तन भी हुये।

स्वामी दयानन्द और याज्ञिक प्रक्रिया

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ कारण और भी हैं, जिनके कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शाखा ब्राह्मण और श्रौतसूत्रोक्त श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया को प्रमाण मानते[3] हुए भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञा-विषय में लिखा है—'इसलिये युक्ति से सिद्ध वेदादिप्रमाणों के अनुकूल और मन्त्रार्थ का अनुसरण करनेवाला उन (=शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्र-पूर्वमीमांसा) में कहा गया विनियोग ग्रहण करने योग्य है'।[4]

---

१. यज्ञों के लिये काल्पनिक मन्त्रों की रचना भी हुई, इसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

२. ते तत्थ मन्ते गन्थे त्वा ओक्कासं तदुपागमुम्।
पहूत धन धञ्ञोऽसि यजस्सु बहु ते धनम्॥

यहां ओक्कास=इक्ष्वाकु का निर्देश किया है। चरक के चिकित्सास्थान १९।४ के उपर्युक्त वचन से भी यही प्रमाणित होता है कि मनुपुत्र नाभाग इक्ष्वाकु आदि के यज्ञों में प्रथम बार यज्ञ में पशुओं का वध हुआ था।

३. 'एतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र (= वेदभाष्ये) विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मानुष्ठानस्यैतरेय-शतपथ-ब्राह्मण-पूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्।' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञा-विषय पृष्ठ ३८८ (द्र०—ऋग्वेदभाष्य, रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस मुद्रित, भाग १)।

४. 'तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिविषयप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो गृहीतुं योग्योऽस्ति।' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ३८८ (वही संस्करण)।

इससे स्पष्ट है कि वे शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्र और पूर्वमीमांसा में कहे गये युक्ति-विरुद्ध, वेदादिप्रमाणों के प्रतिकूल, और मन्त्रार्थ के विपरीत, वा मन्त्रार्थ का अनुसरण न करनेवाले विनियोग को स्वामी दयानन्द सरस्वती अप्रमाण मानते हैं। यथा—

१—युक्ति-विरुद्ध—अश्वमेध में अश्व के साथ राजमहिषी का समागम, यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि का स्त्रियों और कन्याओं से अश्लील सम्भाषण। द्र०—शतपथ-ब्राह्मण (अध्रिगोः परिशिष्ट) १३।५।२; कात्यायन श्रौत २०।६।१२–२०॥

२—वेदादिप्रमाणों के प्रतिकूल—वेद में गौ अश्व अवि पुरुष आदि की न केवल हिंसा का प्रतिषेध ही किया है, अपितु इनको मारनेवालों को गोली से उड़ा देने का आदेश दिया है। यथा –

गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। यजुः १३।४३॥

मा गामनागामदितिं वधिष्ट। ऋ० ८।१०१।१५॥

अश्वं जज्ञानं·····मा हिंसीः परमे व्योमन्। यजुः १३।४२॥

अविं जज्ञानां·····मा हिंसीः परमे व्योमन्। यजुः १३।४४॥

इमं मा हिंसी द्विपादं पशुम् (=पुरुषम्)। यजुः १३।४७॥

यदि नो गां हिंसीः यद्यश्वं यदि पूरुषम्।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ अथर्व० १।१६।४॥

इन प्रमाणों के विषय में यदि यह कहा जाये कि ये वचन यज्ञ से अन्यत्र गौ आदि के वध के निषेधक हैं, यज्ञ में इनकी हिंसा-अहिंसा है, तो यह भी याज्ञिकों के मतानुसार ठीक नहीं है। क्योंकि उनके मत में तो सम्पूर्ण वेद यज्ञ के विधान के लिये ही हैं—**वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः** (=वेदाङ्ग-ज्योतिष के अन्त में); तथा **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्** (मी० १।२।१)। अतः ये मन्त्र भी यज्ञों में प्रवृत्त हिंसा के प्रतिषेधक हैं, न कि यज्ञ से अन्यत्र। क्योंकि यज्ञ से भिन्न कर्म का विधान याज्ञिक लोग मानते ही नहीं। तब यज्ञ से अन्यत्र हिंसा-निषेध उपपन्न ही नहीं हो सकता है।

३—मन्त्रार्थ के विपरीत यथा—स्वधिते मैनं हिंसीः (यजुः ६।१५) कहकर पशु के अङ्गों को काटना (कात्या० श्रौत ६।६।८)।

४—मन्त्रार्थ से अननुसृत (=जिस विनियोग का मन्त्रार्थ के साथ सम्बन्ध न होवे)—यथा—दधिक्राव्णो अकारिष इत्याग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य (आश्व० श्रौत ६।१३)।

मन्त्रगत दधिक्रावन् शब्द अश्ववाचक है (द्र०—निरुक्त २।२८)। इसके एकदेश दधि शब्द का दही वाचक दधि के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

इसी प्रकार नवग्रह पूजा में विनियुक्त मन्त्रों में नवग्रहों के साथ शब्दतः भी निर्देश नहीं है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के इस मन्तव्य का आधार शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्र और पूर्व-मीमांसा आदि समस्त वैदिक-वाङ्मय को परतःप्रमाण (=वेदानुकूल होने पर ही प्रमाण) स्वीकार करना है[1]। वे केवल मन्त्र-संहिताओं को ही स्वतःप्रमाण मानते हैं।

याज्ञिक-प्रक्रिया में परिवर्तन तथा नये-नये यज्ञों की कल्पना

संसार का नियम है कि जिस विषय में जनसाधारण की रुचि अधिक हो जाती है, व्यवहारकुशल समझे जानेवाले व्यक्ति उस जनरुचि का सदा अनुचित लाभ उठाया करते हैं। उनकी सदा यही चेष्टा रहती है कि जनसाधारण की वह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाये, जिससे उन का काम बनता रहे। इस नियम के अनुसार जब जनसाधारण की रुचि यज्ञों के प्रति बढ़ने लगी, तब लोभ आदि के वशीभूत[2] होकर याज्ञिक लोगों ने भी यज्ञों की रोचकता बढ़ाने के लिये उनमें उत्तरोत्तर बाह्य आडम्बर की वृद्धि की, और शुभ या अशुभ प्रत्येक अवसर पर करने योग्य विविध नये-नये यज्ञ-होम आदि की सृष्टि की। **अधिकतर काम्य और नैमित्तिक यज्ञों के विकास का यही मूल आधार है।** आज भी जनता की यज्ञकर्म के प्रति श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाने के लिये दुर्गासप्तशती एवं तुलसी रामायण आदि से यज्ञ कराने की परिपाटी विकसित हो रही है। इस दुष्प्रवृत्ति का प्रभाव अन्धश्रद्धा को दूर करके वैदिक कर्मकाण्ड को प्रचलित करने का उद्घोष करने-वाले आर्यसमाज में भी दिखाई देने लगा है। आर्यसमाज में भी कुछ काल से स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा उद्घोषित **'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त'** वैदिकयज्ञों के स्थान में वेद-पारायण, गायत्री-महायज्ञ, स्वस्ति-याग, शान्ति-याग जैसे अवैदिक यज्ञों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है।

इस प्रकार यज्ञों में उत्तरोत्तर सादगी और सात्त्विकता की हानि, तथा बाह्याडम्वर की वृद्धि हुई। नये यज्ञों की कल्पना से अन्त में याज्ञिक-कल्पना की प्रारम्भिक वैज्ञानिक दृष्टि आखों से सर्वथा ओझल हो गई। अतः इस काल में कल्पित अधिकांश यज्ञों की क्रियाओं तथा पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहा।

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ-प्रकाश और संस्कार-विधि में ब्रह्मचर्याश्रम में शिक्षा से लेकर वेद के सार्थ अध्ययनपर्यन्त जो पाठ-विधि लिखी है, उसमें सभी विषयों में प्राचीन ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है (स्व-कृत एक ग्रन्थ का भी निर्देश नहीं किया)। इससे स्पष्ट है कि वे समस्त आर्ष-ग्रन्थों को प्रमाण तो मानते हैं, परन्तु उन्हें आधुनिक विद्वानों के समान स्वतःप्रमाण नहीं मानते। इसीलिये संस्कार-विधि में निर्दिष्ट पाठ-विधि में ब्राह्मण-श्रौत-सूत्र और गृह्यसूत्रों सहित वेद के अध्ययन के प्रसंग में टिप्पणी दी है—**'जो ब्राह्मण वा सूत्र वेद-विरुद्ध हिंसापरक हों, उनको प्रमाण न करना।'** संस्कार-विधि, पृष्ठ १३१ (रा० ला० कपूर ट्रस्ट, शताब्दी-संस्करण)।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ १०८, टि० १, २।

याज्ञिक-प्रक्रिया और वेदार्थ

भारतीय इतिहास से स्पष्ट है कि वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि अर्थात् कृतयुग के प्रारम्भ में हुआ; और द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना का उदय कृतयुग और त्रेतायुग के सन्धिकाल में हुआ[1]। इस ऐतिहासिक तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों की प्रवृत्ति से पूर्व प्रादुर्भूत वेद-मन्त्रों में द्रव्यमय यज्ञों का साक्षात् विधान अथवा उनकी प्रक्रिया का साक्षात् निर्देश निहित नहीं है। वेदमन्त्रों में श्रौत द्रव्यमय यज्ञों के कुछ नाम, उनके साधनभूत कतिपय पात्रों के नाम, और कतिपय क्रियाओं का निर्देश उपलब्ध होता है।[2] उनसे यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि वेदमन्त्रों में श्रौत द्रव्यमय यज्ञों, उनके पात्रों, एवं क्रियाओं के नाम निर्दिष्ट हैं। वेद मन्त्रस्थ समस्त यज्ञ, उनके पात्र, और क्रियाएं सृष्टियज्ञों उनके पात्रों एवं कर्मों के ही बोधक हैं। वेद में द्रव्यमय यज्ञों के वर्णन का भ्रम इस कारण होता है कि इन द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना आधिदैविक जगत् (=सृष्टियज्ञ) और आध्यात्मिक जगत् की समता के आधार पर की गई है। द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना आधिदैविक जगत् और आध्यात्मिक जगत् की परोक्ष स्थिति को समझाने के लिये की गई थी, यह हम पूर्व सोदाहरण विस्तार से दर्शा चुके हैं। इसलिये आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं एवं पदार्थों का वर्णन करनेवाले मन्त्रों का गूढ अभिप्राय प्रत्यक्षरूप से समझाने के लिये उन-उन मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञ की तदर्थभूत तत्-तत् क्रियाओं के साथ किया गया। इसीलिये किस यज्ञकर्म को करते हुये किस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये, इस सम्बन्ध का बोध करानेवाले वाक्य को **विनियोग** कहते हैं। विनियोग का अभिप्राय होता है **विनियुज्यतेऽनेन**=जिससे सम्बद्ध किया जाये।

इस तात्पर्य को सरलता से समझाने के लिये हम एक उदाहरण देते हैं। रामायण में जो चरित्र वर्णन हैं, उनका साक्षात् सम्बन्ध दशरथ राम सीता भरत लक्ष्मण आदि के साथ है। उनके आधार पर रचे गये नाटकों में दशरथ राम सीता भरत लक्ष्मण आदि का जो संवाद निबद्ध किया जाता है, उसका सम्बन्ध भी मूल व्यक्तियों से ही होता है। परन्तु रामचरित्र की परोक्ष घटना को प्रत्यक्षरूप से दर्शाने के लिये जब उस नाटक का अभिनय किया जाता है, तब उसमें राम सीता भरत आदि के संवाद को जो व्यक्ति प्रस्तुत करते हैं, उन व्यक्तियों के साथ उस संवाद का सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। राम का अभिनय यह व्यक्ति करे और सीता का यह, इस प्रकार उस-उस संवाद के साथ उन-उन व्यक्तियों को विनियुक्त किया जाता है। अत: जिस प्रकार नाटक करनेवाले व्यक्ति किसी पूर्वकालीन ऐतिहासिक घटना का प्रदर्शन करते हुए उन-उन ऐतिहासिक

---

१. द्र० —पूर्व पृष्ठ १०४, टि० १।

२. मन्त्रों में यज्ञों, उनके पात्रों, वा क्रियाओं के जो-जो नाम उपलब्ध होते हैं, उनका निर्देश हमने श्रौतयज्ञों की वैदिकता निबन्ध में किया है। द्र०—वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, पृष्ठ ३४२-३५३।

व्यक्तियों के मध्य हुए संवाद का मात्र अनुकरण करते हैं, उस संवाद के साथ उन नाटक के पात्रों[1] का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, ठीक उसी प्रकार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का वर्णन करनेवाले वेदमन्त्रों का उन-उन की प्रतिनिधिभूत याज्ञिक क्रियाओं तथा पदार्थों के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। दूसरे शब्दों में, याज्ञिकप्रक्रियानुसार किया गया वेदार्थ वेद का मुख्य अर्थ नहीं है। वह तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक वेदार्थ को समझाने का 'निमित्तमात्र' है।

यज्ञों के प्रादुर्भाव का वेदार्थ पर उत्तरकाल में प्रभाव

यज्ञों के आरम्भिक काल में याज्ञिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की वही स्थिति थी, जिसका हमने ऊपर संकेत किया है। इसलिये उस समय याज्ञिक क्रियाकलापों में वे ही मन्त्र विनियुक्त किये जाते थे, जो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ के साथ-साथ उनकी प्रतिनिधिरूप याज्ञिक-क्रियाओं का भी शब्दशः वर्णन करने में समर्थ थे।[2] उत्तरकाल में जैसे-जैसे यज्ञों की प्रधानता होती गई, वैसे-वैसे वेद का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी मुख्यार्थ गौण बनता गया, और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की प्रधानता बढ़ती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा वेदार्थ याज्ञिक प्रक्रिया तक ही सीमित हो गया। अर्थात् "यज्ञार्थं वेदाः प्रवृत्ताः"[3] का वाद प्रवृत्त हो गया। और इसकी अन्त्य परिणति मन्त्रानर्थक्य-वाद[4] में हुई।

काल्पनिक विनियोग

उत्तरकाल में जब देश में यज्ञों का मान तथा प्रभाव बढ़ा, और प्रत्येक कामना की सिद्धि

---

१. नाटकों की पात्र संज्ञा इस बात का संकेत करती है कि लौकिक नाटकों की उत्पत्ति यज्ञीय नाटकों वा रूपकों के पश्चात् उनके अनुकरण पर हुई। क्योंकि द्रव्यमय यज्ञों में प्रयुज्यमान आज्यस्थाली, पाकस्थाली, जुहू, उपभृत्, स्रुव आदि पात्रों में पात्रता वैसी ही है, जैसे लौकिक भोजनक्रिया में प्रयुज्यमान पात्रों में है। अर्थात् उन में पाति रक्षति स्वगतं द्रव्यं यत् तत् पात्रम् (=अपने भीतर स्थापित वस्तु की रक्षा करना, उसे बाहर न गिरने देना) लक्षण विद्यमान है। परन्तु नाटकों में जो पात्र नाम से व्यवहृत होते हैं, उनमें पात्र का उक्त लक्षण घटित नहीं होता है। अतः वे पात्र पात्रमिव पात्रम् रूप औपमिक हैं। अर्थात् जैसे यज्ञीय पात्र यज्ञ के साधन होते हैं, उसी प्रकार नाटकों के पात्र भी नाटकों के साधन हैं।

२. 'एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति।' गोपथ२।२।६॥ तुलना करो—ऐ० ब्रा० १।४॥

३. 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' (वेदाङ्गज्योतिष के अन्त में)।
'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्……।' मीमांसा १।२।१॥

४. इस वाद के विषय में हम आगे लिखेंगे।

के लिये यज्ञों की सृष्टि हुई, तब उन समस्त यज्ञों की विविध क्रियाओं के अनुरूप वेदमन्त्र उपलब्ध न होने पर मन्त्रार्थ की उपेक्षा करके याज्ञिक क्रियाओं के साथ उनका बलात् सम्बन्ध जोड़ना, अर्थात् मन्त्रार्थ के विपरीत विनियोग का आरम्भ हुआ। ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इस प्रकार के अनेक काल्पनिक विनियोग उपलब्ध होते हैं। यथा—

१. मैत्रायणी संहिता ३।२।४ में लिखा है—

'निवेशनः संगमनो वसूनाम् इत्यैन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते।'

अर्थात्—अग्निचयन में **'निवेशनः संगमनो वसूनाम्'** (मै० सं० २।७।१२—मन्त्रसंख्या १५१) इस इन्द्रदेवतावाली ऋचा से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान करे।[1]

याज्ञिकों के मत में जब इन्द्र से विशेषण-विशिष्ट महेन्द्र, वृत्रहा इन्द्र, पुरन्दर इन्द्र आदि भी भिन्न-भिन्न देवता हैं[2], तब इन्द्र और अग्नि के भिन्न-भिन्न देवता होने में कोई सन्देह ही नहीं रहता। ऐसी अवस्था में इन्द्र-देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान भला अभिधावृत्ति से कैसे हो सकता है? यहां निश्चय ही इन्द्र शब्द के मुख्यार्थ का त्याग करके इन्द्र=ऐश्वर्यवान् अथवा प्रदीप्त अर्थरूप गौणी कल्पना करनी पड़ेगी।[3] इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के विनियोग **'यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति'** रूपी विनियोग की परिभाषा की दृष्टि से मुख्य विनियोग नहीं हो सकते। इस विनियोग में कल्पना का कुछ प्रवेश स्पष्ट है।

---

१. मीमांसा ३।३।१४ के समस्त व्याख्याग्रन्थों में श्रुति और लिङ्ग के विप्रतिषेध में **'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** वचन उद्धृत है। और ऐन्द्री ऋचा से अभिप्राय **'कदाचन स्तरीरसि'** (ऋ० ८।५१।७) मन्त्र से है, यह व्यक्त किया है। **'कदाचन स्तरीरसि'** इस ऐन्द्र मन्त्र से गार्हपत्य का उपस्थान करना चाहिये, ऐसा साक्षात् वचन हमें उपलब्ध संहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं नहीं मिला। तैत्तिरीय संहिता १।५।६ के सायणभाष्य में यह मन्त्र आहवनीयाग्नि के उपस्थान में विनियुक्त है। तैत्तिरीय संहिता के इस अनुवाक में निर्दिष्ट मन्त्रों के विनियोग के विषय में सायण और भट्टभास्कर में पर्याप्त मतभेद है, वह भी द्रष्टव्य है।

२. तुलना करो—**'तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः।'** शाबरभाष्य मीमांसा २।१।१६॥ **'अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुचे।** निरुक्त ७।१३॥

३. मीमांसा ३।२।४ सूत्रस्थ शाबरभाष्य में इसी वचन पर विचार करते हुए लिखा है—**'गुणसंयोगाद् गौणमिदमभिधानं भविष्यति। भवति हि गुणादप्यभिधानम्। यथा सिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवक इति। एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्रशब्दो भविष्यति।'** यही अभिप्राय सायणाचार्य ने अथर्व १।१।१ के भाष्य में इस प्रकार लिखा है—**'बलीयस्या श्रुत्या लिङ्गं बाधित्वा गुणकल्पनयापि विनियोगसम्भवात्। तत्र हि ऐन्द्रमन्त्रे इन्द्रशब्दस्य गौणीं वृत्तिमाश्रित्य गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः कृतः।'**

२. अब हम गौणी अर्थ-कल्पना से भी अधिक काल्पनिक विनियोगों का एक उदाहरण देते हैं—

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इति वा संबुभूषन् दधिभक्षम् ।' शांख्या० श्रौत ४।१३।२॥

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इति आग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य[१] ।' आश्व० श्रौत ६।१३॥

अर्थात्—'दधिक्राव्णो अकारिषम्' से दही का भक्षण करे। मन्त्रगत 'दधिक्रावा' पद अश्व का वाचक है (देखो—निघण्टु १।१४)। 'दधिक्रावा' पदान्तर्गत 'दधि' अवयव का 'दही' वाचक 'दधि' शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएवं यास्क ने दधिक्रावासदृश तथा समानार्थक 'दधिक्राः' पद का निर्वचन 'दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधद् आकारी भवतीति वा' (निरुक्त २।२९) दर्शाया है। तदनुसार 'दधिक्राव्णः' पद का पूर्वपद 'दधि' शब्द कर्तृवाचक 'कि' या 'किन्' (अष्टा० ३।२।१७१) प्रत्ययान्त है। औत्तरकालिक याज्ञिकों ने न केवल 'दधिक्रावा' पद के, अपि तु सम्पूर्ण मन्त्र के अर्थ की उपेक्षा करके दहीवाचक 'दधि' शब्द के साथ सादृश्यमात्र के आधार पर इस मन्त्र का 'दधिप्राशन' में विनियोग कर दिया[२]। ऐसे काल्पनिक विनियोग श्रौतसूत्रों में बहुधा उपलब्ध होते हैं।

३. निरुक्त ७।२० में भी लिखा है—"ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में 'जातवेदाः' देवता-वाला एक ही 'गायत्र तृच' है। यज्ञों में 'जातवेदाः' देवतावाली अनेक गायत्रीछन्दस्क ऋचाओं की आवश्यकता होती है। इसलिये 'जातवेदाः' देवतावाली ऋचाओं के स्थान में जो कोई 'अग्नि' देवता-वाली गायत्रीछन्दस्क ऋचाएं होती हैं, वे विनियुक्त हो जाती हैं[३]।"

ऐसा ही निर्देश निरुक्त १२।४० में पुनः मिलता है—"ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में 'विश्वेदेव' देवतावाला एक ही 'गायत्र तृच' उपलब्ध होता है। अतः उनके स्थान में जो कोई 'बहुदेवता'वाली गायत्र ऋचाएं हैं, वे विनियुक्त होती हैं। शाकपूणि 'विश्वेदेव' देवतावाली ऋचाओं के स्थान में 'विश्व' पद-घटित ऋचाओं का विनियोग मानता है।"[४]

---

१. तुलना करो—'दधिक्राव्णो प्राङ्मुखो दधि प्राश्य ।' काश्यप (आयुर्वेदीय) संहिता, पृष्ठ ३९।

२. इसी काल्पनिक विनियोग को आधार बनाकर पाश्चात्य विद्वानों ने इस मन्त्र के आधार पर दो कल्पनाएं की हैं—(क) आर्य लोग पहले दूध-दही के लिए घोड़ियां पालते थे। (ख) घोड़ियों के लिये उपयुक्त लम्बी-लम्बी घास के मैदान मध्य एशिया के आसपास हैं। अतः पहले आर्य लोग वहीं निवास करते थे। गौ का परिज्ञान तथा उस का ग्रामीकरण बहुत उत्तरकाल में हुआ।

३. 'तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते, यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने विनियुज्यते ।'

४. 'तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किञ्चिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने विनियुज्यते । यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः ।'

निरुक्त के इन उद्धरणों से '**काल्पनिक विनियोग क्यों प्रारम्भ हुए**' इस विषय पर भले प्रकार प्रकाश पड़ता है।[1]

उपलब्ध ब्राह्मणों में ऐतरेय-ब्राह्मण सब से प्राचीन है।[2] उसमें यज्ञ में क्रियमाण तत्तत् क्रियाकलाप को साक्षात् कहनेवाले मन्त्र-विनियोग को यज्ञ की समृद्धि (=श्रेष्ठता) कहा है।[3] **इससे स्पष्ट है कि उसके काल में तत्तत् यज्ञीय क्रियाकलाप को साक्षात् या परम्परा से कथंचित् भी प्रतिपादन न करनेवाले मन्त्रों का पद या अक्षरवर्ण के सादृश्य से विनियोग[4] करने की परिपाटी आरम्भ हो चुकी थी। और ऐसा असम्बद्ध विनियोग प्रामाणिक भी माना जाने लग गया था। अतएव ऐतरेय-ब्राह्मणकार उसे स्पष्ट शब्दों में अयुक्त घोषित न कर सके।**

भारतीय कालगणना के अनुसार महीदास ऐतरेय का काल याज्ञिक-प्रक्रिया के उद्भव के ३५०० वर्ष पश्चात्, और भारतयुद्ध से लगभग १५०० वर्ष पूर्व है।[5] अतः पद अक्षर वर्णमात्र के सादृश्य से काल्पनिक विनियोगों का आरम्भ निश्चय ही भारतयुद्ध से २००० वर्ष पूर्व हो चुका था। परन्तु उस काल तक उनका आधिक्य नहीं था, यह भी ऐतरेय के वचन से स्पष्ट है।

काल्पनिक मन्त्रों की रचना

जब विभिन्न प्रकार के यज्ञों की मात्रा बहुत बढ़ी, तब उन सब यज्ञों में क्रियमाण विविध

---

१. यज्ञकर्मों में केवल देवता-विषय में ही काल्पनिक विनियोग नहीं किया गया, अपि तु छन्दों के विषय में भी काल्पनिक छन्दों की सृष्टि रचकर मन्त्रों का विनियोग किया गया। ऐसे बहुधा अयथार्थछन्दस्क विनियोग ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में उपलब्ध होते हैं। इस विषय के लिये हमारे '**वैदिक-छन्दोमीमांसा**' ग्रन्थ का अन्तिम अठारहवां अध्याय देखना चाहिये।

२. इस विषय का प्रतिपादन हमने 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास,' भाग १, पृष्ठ २४६–२५२ (संवत् २०३० संस्करण) में विस्तार से किया है।

३. 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।' ऐ० ब्रा० १।४, १३, १६ इत्यादि।

४. पदसादृश्य से, यथा—'दधिक्राव्णो अकारिषमिति ·······दधिभक्षम्' (शां० श्रौत ४।१३।२); अक्षरवर्णसादृश्य से, यथा—'शन्नो देवी' का शनैश्चर की पूजा में, 'उद्बुध्यस्व' का बुध की पूजा में। अग्निवेश्य गृह्य अ० ५; वैखानस गृह्य अ० ४, खण्ड १३, १४; बौधायन गृह्यशेष अ० १६, १७ में नवग्रह पूजा के मन्त्र। अक्षरवर्ण-सादृश्य से किये गये विनियोग विनियोग-शास्त्र के शास्त्रत्व को ही नष्ट कर देते हैं।

५. यह हमारी कालगणना के अनुसार है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि ऐतरेयब्राह्मण कृष्णद्वैपायन के शिष्य-प्रशिष्यों के शाखा-प्रवचन से पूर्व का है। द्र०—'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २५०–२५२ (संवत् २०३० संस्करण)।

क्रिया-कलाप के अनुरूप (=जो अर्थतः उस क्रिया को कह सकते हों) मन्त्रों के उपलब्ध न होने पर मन्त्रकल्पना का आरम्भ हुआ[1]। इस प्रकार के अनेक काल्पनिक मन्त्र ब्राह्मण आरण्यक और श्रौतसूत्र आदि में उपलब्ध होते हैं। गृह्यसूत्रों में तो इस प्रकार के काल्पनिक मन्त्रों की बहुतायत है (उत्तरकाल में ऐसे काल्पनिक मन्त्रों को लुप्त शाखाओं में पठित समझा जाने लगा)।

हमारे विचारानुसार काल्पनिक मन्त्रों की रचना का आरम्भ भारतयुद्ध से लगभग दो-ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था[2]। इस काल्पनिक मन्त्र-रचना के अनेक चरण हैं। यथा—

प्रथम—आरम्भ में वेदमन्त्रों को अपने-अपने कर्मों के अनुरूप बनाने के लिये उनमें साधारण परिवर्तन किया गया।[3]

द्वितीय—तत्पश्चात् मन्त्रों के विभिन्न स्थानों के विभिन्न वाक्य जोड़कर मन्त्रों की रचना की गई[4]।

तृतीय—तदनन्तर वैदिक-ग्रन्थों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का सन्निवेशमात्र करके (जिससे वे वैदिक मन्त्रवत् प्रतीत हों) मन्त्र रचे गये[5]।

---

१. द्र०—ब्राह्मण धम्मिय सुत्त १९ का पूर्व पृष्ठ १०८, टि० २ में उद्धृत वचन। निरुक्त ७।३ में लिखा है—'तदेतद् बहुलम् आध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।' अर्थात् आशीः से रहित स्तुतिमात्र का प्रयोग आध्वर्यव=यजुर्वेद में और यज्ञप्रयोजनवाले मन्त्रों में बहुतायत से मिलता है। यहां याज्ञेषु का अर्थ है—यज्ञ एव प्रयोजनं येषां मन्त्राणां तेषु=अर्थात् यज्ञार्थ सृष्ट मन्त्रों में।

२. यज्ञों की अत्यधिक कल्पना द्वापर में हुई—"संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे" (महा० शा० २३८।१४)। यज्ञों की विविध कल्पना होने पर ही मन्त्रों की कल्पना करने की आवश्यकता हुई। अतः मन्त्रकल्पना का आरम्भ द्वापर के प्रारम्भ में या उससे पूर्व मानना होगा।

३. तुलना करो—राजसूयप्रकरण के 'एष वो अमी राजा' (माध्य० संहिता ९।४०; १०।१८) के सामान्यवाचक 'अमी' पद के साथ 'एष वो भरता राजा' (तै० सं० १।८। १०।१२); 'एष वः कुरवो राजा, एष पञ्चाला राजा' (मैत्रा० सं० २।६।९; काठक सं० १५। १७) मन्त्रों में आये भरत कुरु पञ्चाल आदि विशिष्टवाचक पदों की।

४. इसके लिये ऋग्वेद के खिलपाठ के मन्त्रों का अनुशीलन करना चाहिये।

५. यथा— सावित्री मन्त्र के 'धियो यो नः प्रचोदयात्' के 'नः प्रचोदयात्' पदों का सन्निवेश करके रचे गये कल्पित ११ मन्त्र मैत्रायणी संहिता २।९।१ में उपलब्ध होते हैं। यथा—'तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्॥' इसी प्रकार के नारायण गरुड़ दन्ती दुर्गा आदि के ११ मन्त्र तै० आर० १०।१ में भी मिलते हैं। 'वीरमित्रोदय भक्तिप्रकाश' पृष्ठ १०६ पर एक राम-गायत्री उद्धृत है—'दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि। तन्नो रामः प्रचोदयात्॥ इति रामगायत्र्या पुष्पाञ्जलिर्देया।

चतुर्थ—अन्त में यही मन्त्र-कल्पना 'नमो भगवते वासुदेवाय' सदृश साम्प्रदायिक; तथा 'ओं ह्रीं ह्रूं फट् स्वाहा' आदि सर्वथा अर्थरहित तान्त्रिक मन्त्रों की रचना में परिणत हुई।

याज्ञिकवाद की मन्त्रानर्थक्य-वाद में परिणति

याज्ञिक-काल में जब वेद के उपयोग का एकमात्र केन्द्र यज्ञ बन गये[1], तब कर्मकाण्ड में साक्षात् अविनियुक्त वेदभाग निष्प्रयोजन न माना जावे[2], इसलिये वेद के समस्त मन्त्रों का कर्मकाण्ड के साथ येन-केन प्रकारेण बलात् सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया गया।[3] मन्त्रों की मुख्यता समाप्त होकर विनियोजक ब्राह्मणग्रन्थ ही मुख्य बन गये। ब्राह्मणग्रन्थों की मुख्यता यहां तक बढ़ी कि 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रों में विद्यमान साक्षात् विधायक **लोट् लिङ् और लेट्** लकारों को विधायक न मानकर ब्राह्मणग्रन्थों के 'प्रथयति' आदि पदों को ही विधि-अर्थवाला (=विधायक) माना गया।[4] अर्थात् प्रारम्भ में मन्त्र के किसी पदविशेष के मुख्य अर्थ की उपेक्षा की गई, परन्तु उत्तरकाल में पूरे मन्त्र को ही अनर्थक मानकर उसके पदमात्र के सादृश्य से विनियोग की कल्पना की गई। 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' तथा 'वक्ष्यन्ति वेदागनीगन्ति कर्णम्' आदि मन्त्रों का कर्णवेध-संस्कार में किया गया विनियोग[5] ऐसा ही है। इन मन्त्रों में कोई भी ऐसा पद नहीं है, जो

---

१. 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः'। वेदाङ्गज्योतिष के अन्त में ॥
'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् ......'। मीमांसा १।२।१॥

२. देखो –'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मीमांसा १।२।१) पूर्वपक्षोपस्थापन।

३. 'आश्विने सम्पत्स्यमाने सूर्यो नोदेयाद् अपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्' (द्र०—आप० श्रौत १४।१।२)। तथा—'सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे पारिप्लवे शंसति' (सायण ऋग्भाष्योपोद्घात में उद्धृत)। यद्यपि इन वचनों का तात्पर्य आश्विन शस्त्र की समाप्ति और सूर्योदय के मध्य के काल में मानुषी वाक् के व्यवहार के प्रतिषेध में है, तथापि याज्ञिक लोग इन्हीं वचनों के आधार पर यज्ञकर्म में साक्षात् अविनियुक्त मन्त्रों का यज्ञ में विनियोग का विधान मानते हैं।

४. 'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्' (मीमांसा २।१।३१)। अर्थात् प्रयोग=ब्राह्मणवचन के सामर्थ्य से (ब्राह्मणवचन अनर्थक न हो जावे, इसलिये) मन्त्र के विध्यर्थक लोट् लेट् लिङ् आदि लकार अभिधानवाची=यज्ञ में क्रियमाण कर्म के स्मरणमात्र करानेवाले होते हैं, विधायक नहीं होते। अर्थात् विधायकत्व ब्राह्मणवचनों में ही है, मन्त्रों में नहीं है।

५. देखो—कात्यायन गृह्य, कर्णवेध संस्कार (पारस्कर गृह्य की टीका में उद्धृत)। तथा संस्कारभास्कर बम्बई संस्करण पत्रा १४१ ख। संस्कारभास्कर के रचयिता ने इसी गृह्य के अनुसार यह विनियोग लिखा है।

कर्ण के वेधन करने का वाचक हो। मन्त्रों में पठित कर्ण पदमात्र को देखकर आंख मीचकर कर्ण-वेध में इनका विनियोग कर दिया गया। उत्तरकाल में **पदैकदेशमात्र के सादृश्य से** विनियोग होने लगा। यथा—'**दधिक्राव्णो अकारिषम्**' का दधिभक्षण में।[1] तत्पश्चात् अक्षरमात्र के सादृश्य से विनियोगों की कल्पना हुई। यथा '**शन्नो देवी**' का शनैश्चर की, और '**उद्बुध्यस्व**' का बुध की पूजा में।[2]

इस प्रकार उत्तरोत्तर काल्पनिक विनियोगों के आधिक्य से प्रभावित होकर कौत्स जैसे महायाज्ञिक ने स्पष्ट घोषणा कर दी—"**मन्त्र अनर्थक हैं।**"[3] अर्थात् मन्त्रों का यज्ञों में क्रियमाण कर्मों के साथ कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं है। उनका यज्ञान्तर्गत किसी भी कर्मविशेष में प्रयोग होने से अदृष्ट (=धर्मविशेष) उत्पन्न होता है।

इस प्रकार याज्ञिकों द्वारा उद्भावित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रभाव वेदों की तात्कालिक शाखाओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्ट लक्षित होता है। यही कारण है कि इन शाखाओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में (शतपथ को छोड़कर) विनियोग (=इस मन्त्र से यज्ञ का अमुक कर्म करे) का ही उल्लेख प्रधानता से मिलता है। इतना ही नहीं, ब्राह्मण शब्द का **ब्रह्मणां मन्त्राणां व्याख्यानं ब्राह्मणम्** इस मूल अर्थ को तिरोहित करके ब्राह्मण का लक्षण—**कर्मचोदका ब्राह्मणानि**;[4] '**विनियोजकं ब्राह्मणम्**'[5]

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ११४ पर शांख्यायन श्रौत ४।१३।२; तथा आश्व० श्रौत ६।१३ के वचन।

२. द्रष्टव्य—अग्निवेश्य गृह्य ५; वैखानस गृह्य अ० ४, खण्ड १३, १४; बौधायन गृह्य-शेष अ० १६, १७ में नवग्रह पूजा के मन्त्र।

नवग्रह-पूजा में विनियुक्त मन्त्रों के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (संवत् १९३२, सन् १८७५) के पृष्ठ ३३३ में इस प्रकार लिखा है—"शन्नो देवी ..., उद्बुध्यास्वाग्ने इत्यादि मन्त्रों में कहीं शनैश्चर मंगल और बुधादि ग्रहों के नाम भी नहीं हैं, परन्तु विद्याहीन होने से आजीविका के लोभ से ब्राह्मणों ने जाल रच रखा है—ए ग्रह की काण्डी (=कण्डिका) है। सो किसी ने ऐसा विचारा कि ग्रहों का मन्त्र पृथक् निकालना चाहिये सो मन्त्रों का अर्थ तो नहीं जानता, किन्तु अठकल से उसने युक्ति रची कि शनैश्चर शब्द के आदि में तालव्य शकार है, इससे यही शनैश्चर का मन्त्र है। देखना चाहिये कि 'शं' सुख का नाम है (मूल में यह वाक्य आगे-पीछे है), तथा **पृथिव्या अयम्** इससे परमेश्वर का ग्रहण होता है। इस शब्द से मंगल को ले लिया, **उद्बुध्यस्व** क्रिया से बुध को ले लिया। **उद्बुध्यस्व** 'बुध अवगमने' धातु की क्रिया है।"

३. 'यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनाय, अनर्थकं भवतीति कौत्सः, अनर्थका हि मन्त्राः। तदेतेनोपेक्षितव्यम्।' निरुक्त १।१५।

४. आपस्तम्ब परिभाषा कं० १।

५. तै० सं० भाष्य, भट्टभास्कर, भाग १, पृष्ठ ३; तथा 'कर्मचोदका ब्राह्मणानि'। आप० श्रौत परि० १।३४।

मात्र याज्ञिकों ने स्वीकार कर लिया। शतपथ अतिरिक्त अन्य उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों में जहां-कहीं मन्त्रों के अर्थ उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः आनुषङ्गिक हैं। अर्थात् मन्त्रार्थ के परिज्ञान के लिये ब्राह्मणग्रन्थों की रचना नहीं हुई। अतः इन ब्राह्मणग्रन्थों (शतपथ को छोड़कर) से वेद के याज्ञिक अर्थ का भी बोध नहीं होता। केवल ब्राह्मण-प्रदर्शित विनियोग के आधार पर याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की कल्पना की जाती है।

इस विस्तृत विवेचना से स्पष्ट है कि याज्ञिक प्रक्रियाओं में हुये उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन का वेदार्थ पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। **और जो याज्ञिक प्रक्रिया प्रारम्भ में वेद के आधिदैविक वा आध्यात्मिक मुख्यार्थ का ज्ञान कराने के लिये कल्पित की गई थी, उसने अन्त में वेदों को भी अर्थरहित (=निरर्थक) बना दिया।** यास्क जैमिनि और याज्ञवल्क्य के प्रभाव से मन्त्रानर्थक्यवाद का यद्यपि कुछ प्रतिवाद हुआ, तथापि उससे प्राचीन या तत्समकालीन ग्रन्थों में मन्त्रार्थ से असम्बद्ध जो याज्ञिक मन्त्रविनियोग हो चुका था, उसका परिमार्जन न हुआ, अर्थात् उसका खण्डन नहीं किया गया। अतः याज्ञिक लोग उसी प्रकार मन्त्रार्थ से असम्बद्ध नये-नये विनियोग उत्तरकाल में भी करते रहे। हमारा विचार है कि—यदि यास्क जैमिनि और याज्ञवल्क्य आदि मन्त्रार्थक्यवाद का प्रबल खण्डन न करते, तो जो कुछ याज्ञिकप्रक्रियानुसारी टूटा-फूटा वेदार्थ उपलब्ध होता है, वह भी न मिलता। और वेदमन्त्र सर्वथा तान्त्रिक मन्त्रों के समान निरर्थक समझे जाते। अस्तु।

इस प्रकार हम ने श्रौतयज्ञों के सम्बन्ध में निम्न विषयों पर संक्षेप से प्रकाश डाला है—

१ यज्ञ-शब्द का अर्थ।

२—श्रौत-यज्ञ (=द्रव्य-यज्ञ) का लक्षण।

३—श्रौत-यज्ञों के भेद-प्रभेद।

४—द्रव्ययज्ञों की कल्पना का प्रयोजन।

५—द्रव्ययज्ञों की आधिदैवत=सृष्टियज्ञों से तुलना।

६—द्रव्ययज्ञों के प्रादुर्भाव का काल।

७—प्रारम्भिक यज्ञ।

८—प्रारम्भिक यज्ञों में सादगी और सात्त्विकता।

९—याज्ञिक प्रक्रिया में परिवर्तन तथा नये यज्ञों की कल्पना।

१०—याज्ञिक-प्रक्रिया और वेदार्थ।

११—यज्ञों के प्रादुर्भाव का वेदार्थ पर उत्तरकाल में प्रभाव।

१२—काल्पनिक विनियोग।

१३—काल्पनिक मन्त्रों की रचना ।

१४—याज्ञिकवाद की मन्त्रानर्थक्यवाद में परिणति ।

यज्ञों के नित्य नैमित्तिक और काम्य भेदों में से नित्यत्वेन विहित अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त यज्ञों में यद्यपि उत्तरकाल में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है, तथापि इन में अनावश्यक रूप से उत्तरकाल में परिवर्धित हुए बाह्य आडम्बरों, वैदिक भावना से प्रतिकूल अंशों, और मन्त्रार्थ के अननुसरित और मन्त्रार्थविपरीत विनियोगों का परिज्ञान हो जाने से इनका परित्याग सुकर है । उत्तरकाल में हुए परिवर्तनों तथा परिवर्धनों के त्याग के पश्चात् ये नित्य श्रौतयज्ञ अपने शुद्धरूप में उपस्थित हो जाते हैं । परन्तु इन्हीं श्रौतयज्ञों में विहित अजमेध अश्वमेध गोमेध और पुरुषमेध, तथा इनके विकृतिरूप अन्य पशुयागों की समस्या बहुत ही विकट है । अतः अब हम सामान्यरूप से श्रौत-पशुयागों की मीमांसा करते हैं—

श्रौत-पशुयाग-मीमांसा

वेद की उपलब्ध शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में स्वतन्त्ररूप से, और अन्य यज्ञों के अवयवरूप पशुयज्ञों का बहुधा उल्लेख मिलता है । पशुयज्ञों पर विचार करने से पूर्व पशुयज्ञों में विहित पशुओं के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है ।

ऐतरेय-ब्राह्मण २।८ तथा शतपथ-ब्राह्मण १।२।३।६–७ में पुरुष अश्व गौ अवि और अज पशुओं का निर्देश मिलता है ।[1] इन्हें 'मेध्य' माना जाता है । विचारणीय यह है कि क्या ये पशु लौकिक पशु हैं, अथवा यज्ञ में ये किन्हीं अन्य पशुओं के प्रतीकभूत हैं ।

हम पूर्व (पृष्ठ ९४-१०३) लिख चुके हैं कि श्रौत-द्रव्यमय यज्ञ स्वयं आधिदैविक सृष्टियज्ञ के प्रतीकात्मक अथवा रूपक वा नाटकरूप व्याख्यान हैं । और द्रव्यमय यज्ञों में प्रयुक्त सभी पात्र वा द्रव्य भी सृष्टियज्ञ गत विविध आधिदैविक तत्त्वों के प्रतीक हैं । इस दृष्टि से पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध अविमेध और अजमेध नामक यज्ञ, और उनके द्रव्यरूप पुरुष आदि पशु भी प्रतीकात्मक ही हैं ।

वेद-प्रतिपादित पशुयज्ञ सृष्टियज्ञ हैं

उदाहरण के लिये हम सब से पूर्व **'पुरुषमेध'** को उपस्थित करते हैं । पुरुषमेध में यजुर्वेद का ३१वां अध्याय, तथा ऋग्वेद का १०।९० पुरुषसूक्त विनियुक्त है । इस सूक्त में श्लेषालङ्कार से प्राकृतिक विराट् पुरुष (=महद् अण्ड=हिरण्यगर्भ) का, और त्रिगुणातीत परम विराट् पुरुष ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है । हम इस प्रकरण के कुछ मन्त्र उपस्थित करते हैं, जिनसे स्पष्ट हो

१. तुलना करो—'[अग्निः] एतान् पञ्च पशून् अपश्यत्—पुरुषमश्वं गामविमजम् । यदपश्यत् तस्मादेते पशवः ।' शत० ब्रा० ६।२।१।२॥

जायेगा कि श्रौत पुरुषमेध में विनियुक्त मन्त्रों में किस पुरुष का उल्लेख है, और उसका मेध क्या है ? यजुर्वेद अ० ३१ का पांचवां मन्त्र है—

ततो विराड् अजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चात् भूमिमथो पुरः ॥

प्रथम चार मन्त्रों में विराट् पुरुष की महिमा का वर्णन किया है । प्रस्तुत मन्त्र में सर्ग की प्रक्रिया का अतिसंक्षिप्त वर्णन है । इसकी व्याख्या सांख्यदर्शन और वेद के अन्यत्र निर्दिष्ट प्रकरण के आधार पर करनी चाहिये ।

मन्त्रार्थ—उस [प्रारम्भिक अजायमान सत्त्वरजतम की साम्यावस्थारूप प्रकृति] से विराट् उत्पन्न हुआ, विराट् से पुरुष उत्पन्न हुआ । उससे उत्पन्न हुआ पुरुष अत्यरिच्यत=अतिरिक्त=खाली हुआ । उसने भूमि तथा अन्य पुरों=लोकों को प्रकट किया ।

यह मन्त्र का शाब्दिक अर्थ है । इसमें प्रकृति के सर्गोन्मुख होने के पश्चात् उत्पन्न दो प्रधान विकारों का उल्लेख किया है । विराट् शब्द से यहां सांख्यकथित महान्, अहंकार और उससे उत्पन्न पञ्चतन्मात्रों (१+१+५=७) की उत्पत्ति पर्यन्त प्रथम सर्ग=प्रथम देवयुग का निर्देश है । और पुरुष शब्द से हिरण्यगर्भ प्रजापति आदि विविध नामों से स्मृत 'महदण्ड' का ।

ऋग्वेद १०।७२ के अदिति सूक्त में कहा है—अदिति (=देवों की माता[1] प्रकृति) के आठ पुत्र[2] उत्पन्न हुये । उनमें सात पूर्व युग में हुये, और आठवां मार्ताण्ड[3] (=मृत=मरणधर्मा नाशवान् अण्ड=महदण्ड) दूसरे युग में हुआ । मन्त्र इस प्रकार है—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ।
देवाँ उप प्रैत सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत ॥८॥

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत पूर्व्यं युगम् ।
प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥९॥

यह वैदिक मार्ताण्ड ही महदण्डरूप पुरुष [4]प्रजापति है । इसकी उत्पत्ति महत् अहंकार और

---

१. अदितिरदीना देवमाता । निरुक्त ४।२२।।

२. लौकिक कश्यप ऋषि की पत्नी अदिति के १२ पुत्र थे । अतः स्पष्ट है कि लौकिक देवों की माता अदिति और आधिदैविक देवों की माता अदिति दोनों भिन्न-भिन्न हैं । मन्त्र में आधिदैविक देवों की माता अदिति का निर्देश है ।

३. मृत+अण्ड (=मरणधर्मा अण्ड=मृताण्ड, 'मृताण्ड एव मार्ताण्डः', प्रज्ञादित्वात् (अ० ५।४।३८) स्वार्थेऽण् । सूर्यवाचक मार्त्तण्ड शब्द इससे भिन्न है ।

४. ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् । स प्रजापतिः । शत० ११।१।६।२॥

पञ्चतन्मात्रों से होती है।[1] जैसे अण्डज प्राणियों के अण्डों के भीतर उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनते रहते है, वैसे ही महदण्ड के भीतर लोक-लोकान्तरों का निर्माण होता है। इसी को वेद में **यज्ञ**[2] और **विश्वकर्मा भौवन**[3] (=भुवनों का उत्पन्न करनेवाला) भी कहा है। जब मार्तण्ड (=महदण्ड) के अन्तःताप से तदन्तर्गत भुवनों का निर्माण समाप्त होने को होता है, तब यह मार्तण्ड **सहस्रांशु समप्रभ** (द्र०—मनु १।९)=हिरण्य के समान प्रदीप्त होने से **'हिरण्यगर्भ'** कहाता है। इसी अवस्था युक्त महदण्ड का वर्णन ऋग्वेद (मं० १०, सूक्त १२१) के हिरण्यगर्भसूक्त में इस प्रकार किया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

मन्त्रार्थ—वह हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ आरम्भ में वर्तमान था। वही उत्पन्न हुए लोकों का पति=स्वामी था। उसी ने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया था। उस 'क'=प्रजापति= हिरण्यगर्भ देव के लिये हम [देव=अन्तःवर्तमान प्राणरूप भूतगण] अपने हव्य अंश से **विधेम**[4]= निर्माण-कार्य करते हैं।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः। यजुः ३१।५॥

स जातः=जब विराट् पुरुष=महद् अण्ड परिपक्व हो गया, हिरण्यवत् चमकने लगा, तब वह **अत्यरिच्यत**=अतिरेचित हुआ=रिक्त हुआ[5]। अर्थात् उसके ऊपर के आवरण के भेदन से भीतर निर्मित ग्रह उपग्रह बाहर आये। उस अतिरेक के समय पहले भूमि और पश्चात् अन्य पुर =ग्रहोपग्रह अपनी स्थिति को प्राप्त हुये।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ यजुः ३१।६॥

उस यज्ञ=संगतिकरण से निर्मित विराट् पुरुषरूप यज्ञ जो **सर्वहुत्**[6], अर्थात् जिसके भीतर

---

१. पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च।
महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै ॥ वायु पुराण ४।७४॥
पुरुष=ब्रह्म, अव्यक्त=प्रकृति, विशेष=पञ्चतन्मात्र।

२. द्रष्टव्य—तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः (यजुः ३१।६)।

३. द्रष्टव्य—ऋ० मं० १०, सूक्त ८१।

४. विपूर्वो धाञ् करोत्यर्थे प्रयुज्यत इति वैयाकरणा आहुः।

५. स(=प्रजापतिः)सर्वाणि भूतानि सृष्ट्वा रिरिचान इव मेने। शत० ब्रा० १०।४।२।२॥

६. द्रष्टव्य—निरुक्त १०।२६—विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। ...विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् (ऋ० १०।८१।६) इति ॥

वर्तमान प्रकृत्यंश सब हुत हो गये थे, अर्थात् कार्यरूप में परिणत हो गये थे, उससे पृषदाज्य[1]=कहीं अन्धकार और कहीं प्रकाश संभृत=धारित हुआ। और उसी सर्वहुत् यज्ञ ने वायव्य=वायु में विचरण करनेवाले जो ग्राम्य और आरण्य पशु, अर्थात् स्वरूप से दिखाई पड़नेवाले जो लोक-लोकान्तर थे, उनको उत्पन्न किया।

ये वायु में विचरनेवाले ग्राम्य पशु समूहरूप से एक स्थान पर स्थित सूर्यरूपी यूप=खूंटे में उसकी रश्मियों अथवा आकर्षणरूप रस्सी से बन्धे हुए नियमित कक्षा में भ्रमण करनेवाले बुध शुक्र आदि ग्रह, और आरण्य पशु स्वतन्त्र विचरण करनेवाले धूमकेतु आदि हैं[2], भूलोकवासी पशु-पक्षी यहां अभिप्रेत नहीं हैं। अगले ८वें मन्त्र में कहे उभयादत्(=दोनों ओर दांतवाले=भक्षण सामर्थ्यवाले) अश्व और एकदत्=एक ओर दांतवाले गौ अज अवि आदि भी लौकिक पशु नहीं हैं। विस्तारभय से हम इस विषय पर नहीं लिख रहे हैं (अवि पशु का वर्णन इस निबन्ध में आगे आयेगा)। उससे आगे १४वें मन्त्र में कहा है—'जिस सर्वहुत् पुरुष से देवों(=भौतिक शक्तियों) ने यज्ञ का विस्तार किया है, उसका आज्य (=व्यक्ति वा कान्ति का साधन) वसन्त था, इध्म (=प्रदीपक) ग्रीष्म, और हव्य शरद् ऋतु थी।'

इस वर्णन से भी यह स्पष्ट है कि यह यज्ञ भौतिक यज्ञ नहीं है। इस यज्ञ (=पुरुषाध्यायोक्त सृष्टियज्ञ) का द्रष्टा (=दर्शक) यजमान[3] नारायण[4] है। नारा नाम आपः=मूल प्रकृति का है। उसमें जिसका अयन=व्याप्ति है, उस परमपुरुष का नाम नारायण है।[5]

आधिदैविक पदार्थों के लिये 'पशु' शब्द का व्यवहार

आधिदैविक जगत् के अग्नि वायु सूर्य आदि पदार्थों के लिये वेद में न केवल 'पशु' शब्द का

---

१. यज्ञकर्मणि दधिसहितमाज्यं पृषदाज्यमित्युच्यते (=दहीसहित आज्य पृषदाज्य कहाता है)। पृषदाज्य में दही के अंश पृषत्=श्वेत धब्बे के समान घृत से पृथक् गृहीत होते हैं। इसी साम्य से उक्त मन्त्र में पृषदाज्य का अर्थ 'कहीं अन्धकार और कहीं प्रकाश' किया है।

२. असौ वा आदित्यो यूपः। द्र०—ऐ०ब्रा० ५।२८॥ पशवो वै यूपमच्छ्रयन्ति। शत० ३।७।२।४॥ सोमयाग के पशु प्राणी यूप के खड़े करने में निमित्त होते है। इस दृष्टि से सृष्टियज्ञ में आदित्यरूपी यूप के साथ सम्बद्ध ग्राम्य पशु विविध ग्रहोपग्रह हैं।

३. यज्ञों में यजमान केवल द्रष्टा होता है, और अपने से प्रेरित ऋत्विजों के द्वारा क्रियमाण कर्म के फल से निर्मुक्त रहने के लिये प्रत्येक आहुति के पश्चात् 'इदं न मम' का ही संकल्प दोहराता रहता है।

४. यजुर्वेद अ० ३१, और ऋ० १०।९० का द्रष्टा 'नारायण' ही है। द्र०—सर्वानुक्रमणी।

५. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ मनु० १।१०॥

व्यवहार ही मिलता है, अपि तु उनके आलभन और उनसे यजन का भी निर्देश उपलब्ध होता है। अश्वमेध के प्रकरण में एक मन्त्र है—

अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त । वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त । सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त ॥ शुक्लयजुः २३।१७; तै० सं० ५।७।२६।।

अग्नि वायु और सूर्यरूपी पशु से यजन लौकिक द्रव्यमय यज्ञों में तो सम्भव है ही नहीं। अतः स्पष्ट ही ये सृष्टियज्ञ के साधनभूत पशु हैं। यही तत्त्व निरुक्तकार यास्क ने पुरुषाध्याय वा पुरुषसूक्त में पठित एक मन्त्र का व्याख्यान करते हुए स्पष्ट किया है । मन्त्र और उसकी यास्कीय व्याख्या इस प्रकार है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः= अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः । अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम् । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त । यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः । द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः । पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम् ॥ निरुक्त १२।४१॥

अर्थात्—यज्ञ से यज्ञ का देवों ने यजन किया=अग्नि से अग्नि का देवों ने यजन किया। 'अग्नि पशु था, उसका आलभन किया, और उससे यजन किया' यह ब्राह्मण का कथन है । वे ही मुख्य कर्म थे । उन महिमासम्पन्न देवगणों ने नाक=द्युलोक का सेवन किया=द्युलोक को प्राप्त किया। जहां पर पूर्वकालीन साध्य=साधनभूत देव विद्यमान थे । नैरुक्तों का मत है कि ये साध्य देव द्युस्थानीय देवगण हैं। आख्यानविदों का मत है कि यह पूर्व देवयुग का कथन है ।

इस मन्त्र का लगभग ऐसा ही व्याख्यान ऐतरेय-ब्राह्मण १।१६ में मिलता है । यास्क ने द्युस्थानो देवगणः लिखकर साध्य देवों को आदित्य की रश्मियां कहा है । महीदास ऐतरेय ने छन्दांसि वै साध्या देवाः कहकर उसी ओर संकेत किया है । ऐ० ब्रा० २।१८ में छन्दों को प्रजापति आदित्य का अङ्ग कहा है[1]। पुराणों में छन्दों का आदित्य के अश्वरूप में बहुधा वर्णन मिलता है।[2]

निरुक्त की इस व्याख्या से दो बातें स्पष्ट हैं कि अग्नि आदि आधिदैविक तत्त्व भी पशु

---

१. प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छन्दांसि । ऐ० ब्रा० २।१८।।

२. छन्दोभिरश्वरूपैः । वायु पु० ५२।४५।। छन्दोरूपैश्च तैरश्वैः । मत्स्य पु० १२५।४२।। छन्दोभिर्वाजिनरूपैस्तु । वायु ५१।५७; मत्स्य १२४।४।। हयाश्च सप्त छन्दांसि । विष्णु पु० २।८।७।। इस विषय में विशेष देखिये—हमारा 'वैदिक-छन्दो-मीमांसा' ग्रन्थ, पृष्ठ ६-७ (प्रथम-संस्करण)।

कहाते हैं। दूसरा किन्हीं वेदार्थविदों के मत में प्रकृत मन्त्र और उसके सहपठित पुरुषाध्याय (यजु० ३१) वा पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०) के मन्त्रों में पूर्व देवयुग का अर्थात् सर्ग के आदि काल का वर्णन है[1]।

इसी प्रसङ्ग में हम एक महत्त्वपूर्ण निर्देश कर देना आवश्यक समझते हैं कि वेद की शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों में जहां भी पशुयाग का वर्णन है, वहां प्रायः उससे पूर्व वा पश्चात् शाखा वा ब्राह्मण के प्रवक्ता पुराकल्प[2] के रूप में अर्थवाद का निर्देश करते हैं। पुराकल्परूप अर्थवाद में कल्प=सर्ग की पुरा=प्राचीन कल्प=सर्गकालीन घटनाओं का वर्णन किया जाता है। यथा—

१—तै० सं० २।१।१ में 'प्रजा वा पशु कामनावाले के लिये प्राजापत्य तूपर अज के आलभन' की विधि[3] से पूर्व पुराकल्प अर्थवाद इस प्रकार पढ़ा है—

"प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। सोऽकामयत प्रजाः पशून् सृजेयेति। स आत्मनो वपामुदक्खिदत्। तामग्नौ प्रागृह्णात्। ततोऽजस्तूपरः समभवत्। तं स्वायै देवताया आलभत, ततो वै स प्रजाः पशून् असृजत्।"

अर्थात्—प्रजापति अकेला था। उसने कामना की कि प्रजाओं पशुओं को उत्पन्न करूं। उसने अपनी वपा को निकाला। उसको अग्नि में छोड़ा। उससे तूपर (=शृङ्ग-रहित) अज उत्पन्न हुआ। उसे अपनी देवता के लिये आलभन किया। उस से प्रजा और पशुओं को उत्पन्न किया।

इस पुराकल्प में उक्त प्रजापति, उसकी वपा, उसका अग्नि में छोड़ना, उससे तूपर अज का होना, और उसे देवता के लिये आलभन करके प्रजा पशुओं को उत्पन्न करना रूप सारा कथानक सर्गकाल का है। आचार्य शबरस्वामी ने भी इस प्रकरण की सृष्टितत्त्व परक ही व्याख्या की है। द्रष्टव्य—मीमांसा १।२।१० भाष्य, पृष्ठ १४९, १५०। हमने भी इसी शाबर-भाष्य की व्याख्या में विवरण के अन्तर्गत इस प्रकरण की विशिष्ट व्याख्यान किया है (द्र०—पृष्ठ १५०—१५३)।

२—तै० सं० २।१।२ में 'वरुणगृहीत पुरुष वरुणदेवतावाले एकशितिपाद् (=एक श्वेत पैरवाले)[4] कृष्ण अज का आलभन करे', इस विधि[4] के पूर्व और अनन्तर विस्तृत पुराकल्परूप अर्थवाद पढ़ा है। इस विषय का स्पष्टीकरण हम आगे 'सूर्य पशु का आलभन और उससे यज्ञ' प्रकरण में करेंगे, पाठक वहां देखें।

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १२१ में निर्दिष्ट पूर्व्यं युगम् मन्त्रांश।

२. 'पुराकल्प' का अर्थ न्याय-वात्स्यायन-भाष्य २।१।६४ में अन्यथा दर्शाया है। इस पर हमने भाष्यव्याख्या (१।२।१०) पृष्ठ १४९ पर विशेष विचार किया है।

३. यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात्, स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत। तै० सं० २।१।१॥

४. यो वरुणगृहीतः स्यात् स एत वारुणं कृष्णमेकशितिपादमालभेत। तै० २।१।२॥

ये दो प्रकरण हमने निदर्शनमात्र के लिये उपस्थित किये हैं।

उक्त दृष्टि से पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध अविमेध अजमेध के लौकिक पशु सृष्टियज्ञ के सर्गकालीन, अथवा वर्तमानकालीन आधिदैविक पदार्थों के प्रतिनिधिमात्र हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। द्रव्यमय पुरुषमेध आदि सृष्टिगत किस यज्ञ के प्रतिनिधि हैं? और इन यज्ञों में पुरुष आदि को पुराकाल में मारा जाता था वा नहीं, इसकी मीमांसा हम यथास्थान करेंगे।

अब हम पशुयज्ञों की मीमांसा से पूर्व दो विषयों पर और प्रकाश डालना चाहते हैं। उनमें एक है—द्रव्यमय यज्ञों के मानवों तक पहुंचने का इतिहास, और दूसरा—आलभते का अर्थ तथा आलभन और आलम्भन क्रिया का भेद।

यज्ञ-सम्बन्धी कथानक

यज्ञों के सम्बन्ध में जो कथानक वैदिक-वाङ्मय में मिलता है, वह दो प्रकार का है। एक सृष्टिगत आसुर और दैव यज्ञों के सम्बन्ध में, और दूसरा श्रौत-सूत्रोक्त मानुष द्रव्ययज्ञों के सम्बन्ध में। दोनों के वर्णन में स्थान-स्थान पर देव और असुर शब्दों का प्रयोग मिलता है। अतः इन वचनों के विषय-विभाग में बड़ी कठिनाई होती है। हम अपनी बुद्धि के अनुसार दोनों वचनों का विभाग करके लिखते हैं।

प्रस्तुत आसुर यज्ञों पर विचार करने से पूर्व यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि भारतीय दर्शन के अनुसार सृष्टि और प्रलय का चक्र सदा चलता ही रहता है। परन्तु जब वर्तमान सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ लिखना होता है, तो भारतीय ग्रन्थकार वर्तमान सृष्टि से पूर्व जो प्रलयावस्था रही थी, उस का पहले संक्षेप से वर्णन करते हैं, पश्चात् सृष्टि के सर्जन का।

हमारे सौरमण्डल की स्थिति और प्रलय का काल ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष का है। इसमें ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष दिन, अर्थात् सृष्टि का स्थितिकाल, और ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष रात्रि अर्थात् प्रलयकाल होता है। प्रलयकाल के आरम्भ से आसुर=ध्वंसनात्मक प्रवृत्तियां उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती हैं। और प्रलय के मध्य में पूर्णता को प्राप्त होने के पश्चात् दैवी प्रवृत्तियों का उत्तरोत्तर विकास होता है, और आसुर प्रवृत्तियां घटती जाती हैं[1]। इस कारण वर्तमान सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में आसुर प्रवृत्तियों के कारण ध्वंसनात्मक यज्ञ हो रहे थे। अर्थात् प्रलयात्मक यज्ञ आसुर शक्तिज्ञों के पास था। इसी का निर्देश तैत्तिरीय-संहिता ६।३।७ में किया है—

'असुरेषु वै यज्ञ आसीत्, तं देवा तूष्णीं होमेनापवृञ्जन्'।

---

१. इसी तत्त्व का निरूपण गायत्र्यादि आसुर और दैव छन्दों की अक्षरसंख्या के माध्यम से छन्दःशास्त्रों में किया है। द्र०—हमारी वैदिक-छन्दोमीमांसा पृष्ठ११५-१२० प्र० सं०। आसुर यज्ञों में विघटन की प्रवृत्ति की अधिकता और सर्जन प्रवृत्ति का ह्रास आसुर छन्दों की ह्रसीयमान अक्षर-संख्या के माध्यम से और दैव यज्ञों में सर्जन प्रवृत्ति का वर्धन दैव छन्दों की विवर्धमान अक्षर संख्या के माध्यम से दर्शाया है।

अर्थात्- पहले निश्चय ही यज्ञ असुरों में था। देवों ने उसे तूष्णीम् होम से काट लिया= छीन लिया। अभिप्राय स्पष्ट है कि जब प्रलयकाल में आसुरी शक्तियां प्रबल हो रहीं थी, तब सर्गोन्मुखकाल में दैवी शक्तियों ने तूष्णीं=चुपचाप=शनैः-शनैः अपना कार्य=सर्जनरूप यज्ञ आरम्भ किया। और शनैः-शनैः सर्जन-प्रक्रिया बढ़ती गई। इस प्रकार यज्ञ असुरों से देवों के हाथ में आ गया।

सर्गोन्मुख काल में दैवी प्रवृत्तियां छोटी थीं, आसुरी प्रवृत्तियां बड़ी थीं। इसको श्लेष से शतपथ में कहा है—'कानीयसा एव देवाः, ज्यायसाः असुराः' (श० १४।४।१।१)।

मानुष सर्ग के आरम्भ में प्रजापति कश्यप की भी असुर और देवसंज्ञक संततियां थीं। इनमें भी वयः की दृष्टि से असुर बड़े थे और देव छोटे। 'असुर' शब्द का अर्थ है—'असु+र' (मत्वर्थीय)=प्राणोंवाला अर्थात् बलवान्।

असुर पृथिवी के प्रथम शासक

कश्यप-पुत्र असुर ही ज्येष्ठ होने से इस पृथिवी के प्रथम शासक हुये। तैत्तिरीय संहिता ६।२।४ में लिखा है—

'असुराणां वा इयमग्र आस। यावदासीनः परा पश्यति तावद्देवानाम्। ते देवा अब्रुवन् अस्त्वेव नोऽस्याम्॥'

अर्थात्—यह पृथिवी पहले असुरों की थी। जितना बैठा हुआ व्यक्ति पीछे की ओर देख सकता है, उतनी अर्थात् अत्यल्प देवों की थी। देवों ने असुरों से कहा कि इस पृथिवी में हमारा भी भाग होवे[1]।

इसी तथ्य का निर्देश मैत्रायणी संहिता ३।८।३; ४।१।१० में भी मिलता है।

यह वर्णन उस समय का है, जब पृथिवी की सलिलावस्था के पश्चात् संसार का उन्नततम भाग त्रिविष्टप (=तिब्बत) जल से बाहर प्रकट होकर प्राणियों के उत्पन्न होने योग्य हुआ था। देव और असुर यहीं के शासक थे।

असुरों द्वारा वर्णाश्रम-मर्यादा वा यज्ञों का प्रवर्तन

असुरों के प्रथम शासक होने से वर्णाश्रम-मर्यादा का व्यवस्थापन इन्हीं के द्वारा हुआ, और द्रव्यमय यज्ञों का प्रवर्तन भी इन्हीं ने किया।

---

१. दायभाग के असमान बटवारे और देवों के मांगने पर भी असुरों द्वारा उनके भाग को न देने के कारण कौरव-पाण्डवों के समान देवों और असुरों में १२ अत्यन्त भयङ्कर युद्ध हुए। इन युद्धों की भयङ्करता की प्रतीति युद्ध की भयङ्करता का बोध कराने के लिए उपमारूप से रामायण महाभारत में बहुधा प्रयुक्त देवासुर-संग्राम के निर्देशों से होती है। यह संग्राम न्यूनातिन्यून ३०० वर्ष तक चला।

वर्णाश्रम-विभाग—प्रह्लादपुत्र कपिल असुर द्वारा वर्णाश्रम के विभाग का उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र २।१२।३० में मिलता है। वहां लिखा है—'तत्रोदाहरन्ति प्राह्लादिर्वै कपिलो नामासुर आस। स एतान् भेदान् चकार देवैः सह स्पर्धमानः।' इसी कारण असुरों में भी वर्णाश्रम-मर्यादा थी। मैत्रायणी-संहिता २।३।७ में लिखा है—

'देवाः पराजिग्यमाना असुराणां वैश्यमुपायन्।'

अर्थात्—देव लोग पराजित होते हुए असुरों के वैश्यों के पास पहुंचे। [सम्भवतः देवों का असुरों के वैश्यों के पास जाने का प्रयोजन असुरों की सम्पत्ति पर अधिकार करके उन्हें निर्बल करना था।]

यज्ञों का प्रवर्त्तन—यज्ञों का आरम्भ भी असुरों में ही हुआ। तैत्तिरीय संहिता ३।३।७ में लिखा है—

'प्रजापतिर्देवासुरानसृजत। तदनु यज्ञोऽसृज्यत, यज्ञं छन्दांसि। ते विश्वञ्चो व्यक्रामन्। सोऽसुरान् अनु यज्ञोऽपाक्रामत। यज्ञं छन्दांसि॥'

इससे इतना स्पष्ट है कि यज्ञ पहले असुरों के पास थे।

सौत्रायणी[1] यज्ञ के विषय में शतपथ १२।६।३।७ में स्पष्ट लिखा है—

'असुरेषु वा एषोऽग्रे यज्ञ आसीत् सौत्रामणी। स देवान् उपप्रैत।'

यज्ञ असुरों से देवों के पास पहुंचा—शतपथ-ब्राह्मण १२।६।३।७ के पूर्वोक्त वचन के अनुसार सौत्रामणी पहले असुरों के पास था, फिर वह देवों के पास पहुंचा[2]। इसी प्रकार पूर्व (पृष्ठ १२६) उद्धृत तैत्तिरीय संहिता ६।३।७ के वचन में श्लेष मानें, तो उससे भी यही ज्ञात होता है कि यज्ञ असुरों से देवों को प्राप्त हुए। कुछ काल पश्चात् देव लोग यज्ञ-विद्या में असुरों से बहुत आगे बढ़ गये। अन्ततः ऐसी स्थिति आई कि असुर यज्ञों के विषय में देवों का अनुकरण करने लगे—**'देवा वै यद् यज्ञे अकुर्वत तदसुरा अकुर्वत।'** तै० सं० ६।४।६॥

यज्ञ देवों से मनुष्यों के पास पहुंचा—कुछ काल पश्चात् यज्ञ देवों से मनुष्यों के पास पहुंचा। महाराज ऐल ने गन्धर्वों (=देव-जातिस्थों) से अग्नि-विद्या का रहस्य जानकर यज्ञ की एक अग्नि को तीन अग्नियों में विभक्त किया[3]। ऋषियों ने यज्ञ के विविध क्रिया-कलापों की सूक्ष्मता वा विविधता की पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया।

---

१. सौत्रामणी यज्ञ के विषय में प्रसिद्ध है कि उसमें सुरापन (=मद्यपान) का विधान है, वस्तुतः यह झूठ है। उसमें वर्णित सुरा होशहवास खोनेवाली मदिरा नहीं है। वह तो 'कांजी' से भी हलका तीन दिनमात्र में सिद्ध होनेवाला पेय है। विशेष द्रष्टव्य—हमारी महाभाष्य अ० १, पाद १, आह्निक १, (भाग १), पृष्ठ २१ की हिन्दी-व्याख्या।

२. सायणाचार्य को प्राचीन इतिहास का सम्यक् बोध न होने से उसने तै० सं० ३।३।७ के भाष्य में अशुद्ध व्याख्यान किया है।

३. द्र०—पूर्व पृष्ठ १०४, टि० ३।

मनुष्यों में यज्ञ का आरम्भ त्रेता युग के आरम्भ में हुआ था, परन्तु असुरों और देवों में कृतयुग के उत्तरार्ध में आरम्भ हो चुका था। अतः पूर्व पृष्ठ १०४, टि० १ पर निर्दिष्ट यज्ञ-प्रवर्तन के कृतयुग-निदर्शक और त्रेतायुग-निदर्शक दोनों प्रकार के वचन युक्त हैं, उनमें कोई विरोध नहीं है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये असुर कौन थे ? प्रश्न का कारण है असुरों के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा। जिसके अनुसार 'असुर' शब्द सुनते ही राक्षस पिशाच आदि वैदिक मर्यादा-विहीन जनों का बोध होता है। अतः हम प्रसंगवश उन असुरों के विषय में भी प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

भारतीय इतिहास के अनुसार असुर देव और मनुष्य ये पुरुष जाति के तीन कुल थे। आरम्भ में प्रजापति कश्यप से दिति अदिति दनू आदि पत्नियों से जो सन्तानें हुईं, वे माता के नामों पर दैत्य आदित्य दानव आदि कहलाये। दैत्य ही भारतीय इतिहास में असुर कहे गये हैं। पीछे से दानव आदि भी असुरों के सहयोगी बन गये। अदिति के १२ पुत्र आदित्य देव कहे गये हैं। इन्हीं से असुरों और देवों के कुलों का आरम्भ होता है।

असुर आरम्भ में श्रेष्ठ चरित्रवान् थे। प्रजापति कश्यप ने इनकी श्रेष्ठता और ज्येष्ठता के कारण पृथिवी का शासन इन्हें दिया। इन्हीं असुरों ने वेद के अनुसार वर्णाश्रम-विभाग और यज्ञों का प्रवर्तन किया, यह हम पूर्व (पृष्ठ १२७) लिख चुके हैं। शासन अथवा विशेषाधिकार मिल जाने पर यदि उस पर अंकुश न रखा जाय, तो मनुष्य की मति धीरे-धीरे विकृत होने लगती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार असुरों में गिरावट आई। असुर शब्द, जो पहले श्रेष्ठ अर्थ (असु+र=प्राणों से युक्त=बलवान्) का वाचक था[1], वह उनके निकृष्ट आचरण से निकृष्ट अर्थ का बोधक बन गया। असुर लोग पहले श्रेष्ठ आचार-विचारवाले थे, इस अर्थ को प्रदर्शित करनेवाला और उनके पूर्व इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला एक शब्द है—'पूर्वे देवाः'। यह अमरकोश आदि में असुरों के पर्यायवाची नामों में उपलब्ध होता है।

यहां प्रसङ्गवश यह और लिख देना उचित समझते हैं कि निरङ्कुश राज्यसत्ता पाकर जो दशा असुरों की हुई, वही दशा उत्तरकाल में देवों के हाथ में निरङ्कुश राज्यसत्ता आने पर देवों की भी हुई। इन्द्र के अनेक मर्यादाविहीन कर्मों का वर्णन इतिहास-पुराणों में मिलता है। यज्ञों में पश्वालम्भन का आरम्भ भी इन्द्र ने ही किया था, यह आगे लिखा जायेगा।

हमें ऋषियों का परम आभारी होना चाहिये कि उन्होंने असुरों और देवों के निरङ्कुश

---

१. उत्तरकाल में जब देवों ने असुरों को पराजित करके देवभूमि त्रिविष्टप (तिब्बत) से निकाल दिया, तब ये तिब्बत के पश्चिम-दक्षिण प्रदेशों में बस गये। पुराने ईरानी इन्हीं असुरों की सन्तान थे। अतः उनकी भाषा में असुर शब्द श्रेष्ठ बलवान् अर्थ में ही प्रयुक्त होता था। वही उत्तरकाल में अहुर रूप में परिणत हो गया। इसी कारण जेन्दावस्ता में अहुर शब्द श्रेष्ठ देव का वाचक है।

शासन से शिक्षा लेकर मानव राजाओं की रक्षा के लिये मानवीय राजनीति में ऐसा विशिष्ट प्रावधान किया, जिससे राजा सर्वथा निरङ्कुश न रहे। वह था राजा के लिये पुरोहित का प्रावधान करना। यह पुरोहित साधारण यज्ञकर्त्ता ऋत्विक् नहीं था। वह राजा की भावी आपदाओं से पहले से ही रक्षा का प्रावधान करने में समर्थ सर्वश्रेष्ठ परम तेजस्वी ब्राह्मण होता था। यही सर्वप्रधान मन्त्री होता था। रघुकुल के राजाओं का पुरोहित वा प्रधानमन्त्री वसिष्ठ ऐसा ही समर्थ व्यक्ति था। दूर जाने की आवश्यकता नही, मध्यकाल के प्रधान राजनीतिशास्त्रज्ञ आचार्य कौटिल्य ने भी लिखा है—"तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तेत" (अधिकरण १, अ० ६)। एक स्थान पर तो आचार्य चाणक्य ने यहां तक लिखा है कि प्रमाद करते हुए राजा को एकान्त में आचार्य वा अमात्य कोड़े तक लगावे—

"मर्यादां स्थापयेद् आचार्यान् अमात्यान् वा। य एनं अपायस्थानेभ्यो वारयेयुः। छाया-नालिकया प्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः।" (अधि० १, अ० ७)।

आलभते, आलभेत पदों पर विचार

अब हम कर्मकाण्ड में अत्यन्त विवादास्पद आलभते पद पर विचार करते हैं। प्रायः समस्त पशुयागों के प्रकरण में आलभते वा आलभेत पदों का ही प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है—प्राप्त करना अथवा स्पर्श करना (आ+डुलभष् प्राप्तौ, धातु १।७०२)। उपनयन वा विवाहादि संस्कारों में जहां भी हृदयमालभते[1] आदि प्रयोगों में आलभते का प्रयोग मिलता है, वहाँ सर्वत्र 'स्पर्श करता है' अर्थ ही सर्ववादी-अभिमत है। परन्तु याज्ञिक वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः (तै० सं० २।१।१) प्रभृति पशुयाग-विधायक वाक्यों में आलभेत का अर्थ आलम्भनं कुर्यात् (=पशु को मारे) ऐसा करते हैं। किन्तु जिन आरण्यक पशुओं पक्षियों एवं पुरुषों के द्रव्यदेवता-विधायक वचनों में आलभते का प्रयोग मिलता है, वहां समस्त याज्ञिक आलभते विधि होने पर भी इन्हें मारते नहीं हैं, अपि तु इनका पर्यग्निकरण संस्कार करके उत्सर्जन कर देते हैं, इन्हें छोड़ देते हैं। यथा—

अश्वमेध में—'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते, प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते' (यजुः २४।२०, २९) आदि आरण्य पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में लिखा है—कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्नि-

---

१. अथास्य दक्षिणांसमधि हृदयमालभते। पार० गृह्य १।८।८; २।२।१५।। इसी प्रकार अन्य गृह्यसूत्रों में भी वचन उपलब्ध होते हैं।

इसी प्रकार अङ्गान्यालभ्य जपति (पार० गृह्य २।४ के अन्त में बहुटीकाकार-सम्मत पाठ) में भी आलभ्य का अर्थ स्पृष्ट्वा ही है। शबरस्वामी ने भी मीमांसा-भाष्य १।२।१० में उपयुज्य अर्थ किया है। शाबरभाष्य के विवरणकार गोविन्दस्वामी ने लिखा है—आलभ्येत्यस्य व्याख्यानमुपयुज्येति प्राप्येत्यर्थः, अर्थात् आलभ्य का अर्थ प्राप्त करके है।

कृतान् (कात्या० श्रौत २०।६।९) । वेद के सभी याज्ञिक भाष्यकारों ने लिखा है—तेष्वारण्याः सर्वे उत्स्रष्टव्याः, न तु हिंस्याः (द्र०—यजुः २४।४० उव्वट-महीधर-भाष्य) ।

पुरुषमेध में—यजुर्वेद अ० ३०, कं० ५ से २२ तक 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम् [आलभते]' इत्यादि से निर्दिष्ट पुरुषों को भी पर्यग्निकरण के पश्चात् छोड़ दिया जाता है—'कपिञ्जलादिवत् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्' (कात्या० श्रौत २१।१।१२) । इसी प्रकरण में ३०।२२ के व्याख्यान में याज्ञिक भाष्यकार भी लिखते हैं—'पर्यग्निकरणानन्तरम् इदं ब्रह्मणे इदं क्षत्रायेत्येवं सर्वेषां यथास्वं देवतोद्देशेन त्यागः । ततः सर्वान् ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विमुच्योत्सृजति' (महीधरभाष्य) ।

इन निर्देशों से यह स्पष्ट है कि आरण्य पशु-पक्षियों और पुरुषों को यज्ञ में मारा नहीं जाता है, अपि तु देवतोद्देश से उनका त्याग किया जाता है । इस कारण यहां आलभते का अर्थ आलम्भन=हिंसा नहीं है, अपितु इनको स्पर्श करके तत्तद्देवतोद्देश से त्याग करना अर्थ ही इष्ट है ।

उपर्युक्त विवरण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि आलभते वा आलभेत इत्यादि का याज्ञिकों को सर्वत्र आलम्भन=मारना अर्थ अभिप्रेत नहीं है ।

आ-लभ, आ-लम्भ दो धातुएं

अब हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि 'आ+लभ' और 'आ+लम्भ' दो स्वतन्त्र धातुएं हैं । इनमें 'आलभ' का अर्थ प्राप्त करना और स्पर्श करना ही है, और आलम्भ का अर्थ मारना है । अर्थभेद से धातुद्वय के निरूपण के लिये हम आयुर्वेदीय चरक-संहिता का एक वचन उद्धृत करते हैं—

"आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः,नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म । ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः ।" चिकित्सास्थान १९।४॥

इस उद्धरण में समालभनीयाः और आलम्भाय दो पृथक् पदों का प्रयोग किया है । पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'श' भिन्न अजादि प्रत्ययों के परे लभेश्च (अष्टा० ७।१।६४) से सम्-आङ्पूर्वक लभ धातु को 'अनीयर्' प्रत्यय के परे नुम् होकर समालम्भनीय प्रयोग उपपन्न होता है । आलम्भाय में भी उक्त पाणिनीय नियम से आङ्पूर्वक लभ से घञ् (=अ) में नुम् होता है । चरकसंहिता के उक्त नुम्‌रहित समालभनीयाः और नुम्‌सहित आलम्भाय प्रयोगों से जाना जाता कि ये दोनों प्रयोग लभ और लभि=लम्भ दो स्वतन्त्र धातुओं के हैं । उत्तरकाल में जब लम्भ के अधिकांश प्रयोग नष्ट हो गये, तो पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने लम्भ धातु से निष्पन्न भाषा में अल्पावशिष्ट प्रयोगों का लभ धातु में नुम् का आगम करके अन्वाख्यान कर दिया । इसी धात्वैक्यकल्पना के कारण आलम्भ धातु का जो अर्थ था, वह आलभ धातु का समझा जाने लगा । और इसी कारण उत्तरकाल में आलभते आलभेत पदों का अर्थ आलम्भनं कुर्यात् किया जाने लगा ।

वैयाकरणों के आगम आदेश विधान से प्रकृत्यन्तर की कल्पना

वैयाकरणों ने अल्प प्रयोग के कारण जिन शब्दों का प्रतिपादन धातु वा प्रातिपदिक में आगम आदेश विपर्यास आदि की कल्पना करके किया है, वह कल्पनामात्र है। वस्तुतः पुराकाल में ऐसे अल्प प्रयोगावशिष्ट शब्दों की मूलभूत धातु वा प्रातिपदिकरूप प्रकृति स्वतन्त्र थी। इस विषय का प्रतिपादन हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में विस्तार से किया है। प्रकृत में हमारा यही कहना है कि जिन **आलम्भ आलम्भनीय आलम्भ्या** आदि शब्दों का सम्बन्ध पाणिनि ने **लभेश्च; आङो यि** (अष्टा० ७।१।६४, ६५) सूत्रों के द्वारा **लभ** धातु में नुम् का आगम करके दर्शाया है, उन प्रयोगों की मूलभूत प्रकृति **लभि=लम्भ** स्वतन्त्र धातु थी। इस प्रकार की लुप्त प्रकृतियों के जानने की एक कसौटी महाभाष्यकार ने **न धातुलोप आर्धधातुके** (अष्टा० १।१।४) सूत्र के भाष्य में प्रदान की है। तदनुसार—

"वैयाकरणों ने जिन शब्दों में जिन निमित्तों में आगम आदेशादि का विधान किया है, वे कार्य उन निमित्तों के होने पर भी किन्हीं शब्दों में उपलब्ध न होवें, और जहां उक्त निमित्त न हों, वहां भी देखे जायें। **वहां प्रकृत्यन्तर जानना चाहिये**"। यथा—

'वृंहेरच्यनिटि। वृंहेरच्यनिटि उपसंख्यानं कर्तव्यम्। निवर्हयति, निवर्हकः। अचि इति किमर्थम्? निवृंह्यते। अनिटि इति किमर्थम्? निवृंहिता, निवृंहितुम्। तत्तर्ह्युपसंख्यानं कर्त्तव्यम्? न कर्तव्यम्। वृहिः प्रकृत्यन्तरम्। कथं ज्ञायते? अचीति लोप उच्यते, अनजादावपि दृश्यते—निवृंह्यते। अनिटीत्युच्यते, इडादावपि दृश्यते—निर्वर्हिता, निर्वर्हितुम्। अजादावित्युच्यतेऽजादावपि न दृश्यते—निवृंहयति, निवृंहकः' ॥ महाभाष्य १।१।४॥

अर्थात्—इड्भिन्न अजादि प्रत्यय परे रहने पर 'बृंह' के अनुनासिक का लोप होता है। यथा—निबर्हयति, निबर्हकः। 'अचि' क्यों कहा? **'निबृंह्यते'** यहां 'यक्' परे लोप न हो। **'इड्भिन्न के परे'**—क्यों कहा? 'निबृंहिता, निबृंहितुम्' यहां इट् परे लोप न हो। तो यह वार्तिक बनाना चाहिये? नहीं बनाना चाहिये। क्योंकि **'बृह' प्रकृत्यन्तर=धात्वन्तर** है [उससे ये रूप बन जायेंगे]। कैसे जाना जाता है [कि बृह धात्वन्तर है]? वार्तिक में अच् परे रहने पर लोप कहा है, परन्तु अनजादि (=अजादिभिन्न हलादि) प्रत्यय के परे रहते भी अनुनासिकलोप देखा जाता है। यथा—**'निबृह्यते'**। इट् परे रहने पर अनुनासिक का लोप नहीं होता ऐसा कहा है, परन्तु इडादि में भी लोप देखा जाता है। यथा—**'निर्बर्हिता, निर्बर्हितुम्'**। अजादि में अनुनासिक का लोप कहा है, परन्तु अजादि में भी लोप नहीं देखा जाता। यथा—**'निबृंहयति, निबृंहकः'**।

महाभाष्य के इस उद्धरण से **प्रकृत्यन्तर=धात्वन्तर कल्पना करने का नियम** अत्यन्त स्पष्ट है[1]। इसी नियम के अनुसार हम वैयाकरणों द्वारा **लभ** धातु से सम्बद्ध प्रयोगों के नियमों की परीक्षा करेंगे।

---

१. महाभाष्य में लोप आगम आदेश के द्वारा अनेक स्थानों में **प्रकृत्यन्तर-विधान** का निर्देश

पाणिनि ने दो सूत्र रचे हैं—**लभेश्च; आङो यि** ॥ ७।१।६४, ६५॥

अर्थात्—लभ धातु को शप् और लिट् भिन्न अजादि प्रत्यय के परे रहने पर नुम् का आगम होता है। यथा—**लम्भयति, लम्भकः**। तथा आङ् से उत्तर लभ धातु को यकारादि प्रत्यय परे रहने पर भी नुम् का आगम होता है। यथा—**आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या वडवा** ॥

प्रथम नियम के अनुसार लभ धातु से '**अनीयर्**' प्रत्यय के परे रहने पर नुम् होकर '**लम्भनीय**' प्रयोग होना चाहिये, परन्तु चरकसंहिता (१६।४) के पूर्वोद्धृत (पृष्ठ १३१) पाठ में '**समालभनीयाः**' प्रयोग में नुम् का अभाव देखा जाता है। दूसरे नियम के अनुसार '**यत्**' वा '**ण्यत्**'[1] प्रत्यय में '**आलम्भ्या**' प्रयोग होना चाहिये, परन्तु '**अग्निष्टोम आलभ्यः**' (काशिका १।१। ७५ में उद्धृत) प्रयोग में नुम् का अभाव उपलब्ध होता है।

इस व्यत्यास से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूलतः **लभ** और **लम्भ** धातु पृथक्-पृथक् हैं। पाणिनीय व्याकरण से प्राचीन **काशकृत्स्न धातुपाठ** में **डुलभष् प्राप्तौ** (१।५६४), और **लभि धारणे** (१।३६२) दोनों स्वतन्त्र धातुएं पढ़ी हैं[2]। और इनके रूप भी क्रमशः **लभते लभनम्**, तथा **लम्भति लम्भनम्** पृथक्-पृथक् दर्शाये हैं।

लभ और लम्भ के भिन्न अर्थ

यतः '**लभ**' और '**लम्भ**' दोनों स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् धातुएं हैं, अतः इनके अर्थ में भी कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिये। इस अन्तर की पुष्टि '**चरक**' के पूर्वोद्धृत (पृष्ठ १३१ में) '**आदिकाले यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म**' इस वाक्य से भी होती है। यदि दोनों का एक ही अर्थ होता, तो दो क्रियाओं का पृथक्-पृथक् निर्देश न होता। **काशकृत्स्न धातुपाठ** में **लभ** और **लभि = लम्भ** के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं, यह हम ऊपर दर्शा चुके हैं।

मिलता है। यथा महाभाष्य १।१।४; ३।१।३४; ३।१।७८; ३।२।१३५; ४।१।३५; ४।१।६७; ४।२।२; ४।३।२२; ५।२।२९; ६।१।६०; ६।३।३५; ६।४।२४; ७।३।८७॥

१. वैदिक ग्रन्थों में '**आलम्भ्या**' अन्तस्वरित है। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर (द्र०—अष्टा० ६।२।१३९) से ण्यत् प्रत्यय का स्वर होता है। नुम् होने से पूर्व '**लभ्**' अदुपध होने से **पोरदुपधात्** (अष्टा० ३।१।९८) से यत् प्रत्यय होना चाहिये। यत्प्रत्यय में स्वर होगा आलम्भ्या। अतः ण्यत् प्रत्यय करने के लिये काशिकाकार ने क्लिष्ट कल्पना करके प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व नुम् करके अदुपधत्व का व्याघात मानकर **ऋहलोर्ण्यत्** (अष्टा० ३।१।१२४) से ण्यत् की कल्पना की है। आलम्भ्यः यत्प्रत्ययान्त है। '**लम्भ**' को स्वतन्त्र धातु मानने पर क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रहती। लभि = लम्भ धातु में अदुपधत्व न होने से ण्यत् ही स्वतः प्राप्त होता है।

२. द्र०—हमारे द्वारा संस्कृत-रूपान्तरित '**काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्**' पृष्ठ ६४, ५८॥

लभ के अर्थ—१. प्राप्ति अर्थ—(क) 'लभ' धातु का अर्थ पाणिनीय तथा काशकृत्स्नीय दोनों धातुपाठों में 'प्राप्ति' लिखा है—'डुलभष् प्राप्तौ'।

(ख) काशिका ७।१।६५ में उद्धृत 'अग्निष्टोम आलभ्यः' वाक्य में भी 'आलभ' का अर्थ प्राप्त करना ही है।

२. स्पर्श अर्थ—(क) उपनयन तथा विवाह-प्रकरण में श्रूयमाण—'दक्षिणांसमधि हृदयमालभते' (पारस्कर गृह्य) वाक्य में 'आलभते' का स्पष्ट अर्थ 'स्पर्श' ही है।

(ख) सुश्रुत कल्पस्थान अ० १, श्लोक १६ के—'आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान्' में 'आलभेत' का अर्थ स्पर्श ही है।

३. नियोजन अर्थ—महीधर ने यजुर्वेद २४।२० के भाष्य में आलभ का अर्थ नियोजन किया है—'आलभते नियुनक्ति'।

लम्भ के अर्थ—१. हिंसा अर्थ—चरक के पूर्व (पृष्ठ १३१ में) निर्दिष्ट वाक्य 'नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म' में 'आलम्भ' का अर्थ हिंसा है, यह पूर्वनिर्दिष्ट 'समालभनीयाः' पद के प्रतिद्वन्द्वीरूप में प्रयुक्त होने से स्पष्ट है।

२. स्पर्श अर्थ—कहीं-कहीं 'आलम्भ' का प्रयोग स्पर्श अर्थ में भी देखा जाता है। यथा—

कुमारं जातं···पुरा अन्यैरालम्भात् ॥ आश्व० गृह्य ॥

स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम् ॥ गौतम धर्म० २।२२॥

इन उदाहरणों में 'आलम्भ' का अर्थ 'स्पर्श' के अतिरिक्त और कुछ सम्भव ही नहीं है।

३. प्राप्ति अर्थ—निरुक्त १।१४—'नामधेयप्रतिलम्भमेकेषाम्'; तथा कठोपनिषद् १।१।२५-'नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः' में लम्भ का प्राप्ति अर्थ देखा जाता है।

४. धारण अर्थ—काशकृत्स्न-धातुव्याख्यान १।३६२ में लभि='लम्भ' का धारण अर्थ कहा है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

इन प्रयोगों से इतना स्पष्ट है कि आलभ और आलम्भ दोनों स्पर्श अर्थ में समानार्थक हैं। परन्तु आलभ का कहीं भी हिंसा अर्थ नहीं है। 'आलम्भ्या गौः' इत्यादि प्रयोगों में 'आलम्भ्या' का अर्थ स्पर्श हो सकता है। अथवा यह भी सम्भव है कि इन वचनों में 'आलम्भ्या' का अर्थ हिंसन ही हो, और यह वचन उत्तरकालीन हो। जो कुछ भी हो, इस प्रकरण से यह तो पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि वेद तथा ब्राह्मणों में जहां-कहीं भी (=आङ्‌पूर्वक लभ धातु) का प्रयोग है, वहां सर्वत्र इसका मूल प्राचीन अर्थ 'प्राप्ति' अथवा 'स्पर्श' ही है। उत्तरकालीन व्याख्यानकारों ने अथवा लेखकों ने आलभ और आलम्भ को समानार्थक समझकर 'आलभते' वा 'आलभेत' का जो हिंसन अर्थ किया है, वह सर्वथा अप्रामाणिक है।

इन लभ लम्भ को दो स्वतन्त्र धातु मानने पर यह विशेषरूप से स्पष्ट हो जाता है कि वेद शाखा और ब्राह्मण आदि में पशुयाग के प्रकरण में सर्वत्र आलभते आलभेत का ही प्रयोग क्यों उपलब्ध होता है, हिंसार्थक लम्भ का प्रयोग क्यों नहीं मिलता ? अतः हम प्रकृत लेख में लभ और लम्भ धातुओं को स्वतन्त्र मानकर सर्वत्र वैदिक वाङ्मयोक्त लभ धातु के आलभन शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

अब हम पशुयज्ञों के सम्बन्ध में विचार करते हैं। प्रमुख पशुयज्ञ हैं– पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध अविमेध और अजमेध। इन पर विचार करने से पूर्व साक्षात् मन्त्रोक्त अग्नि वायु और सूर्य पशुओं से क्रियमाण यज्ञ पर कुछ लिखना उचित समझते हैं—

अग्नि-पशु का आलभन और उससे यज्ञ

यजु॰ २३।१७ में कहा है—अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। अर्थात् अग्नि पशु था, उससे देवों ने यजन किया। इसी मन्त्र के भाव को स्पष्ट करनेवाला एक ब्राह्मणवचन यास्क मुनि ने निरुक्त १२।२४ में उद्धृत किया है—'अग्निः पशुरासीत्, तमलभन्त, तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्'।

इस अग्निरूप पशु का देवों ने आलभन करके कैसे यज्ञ किया, इस का वर्णन ऋग्वेद (१०।१२१।७-८) में इस प्रकार मिलता है—

> आपो ह यद् बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
> ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
> यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
> यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋ॰ १०।१२१।७,८॥

इन मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि सर्ग के आरम्भ में जब प्रकृति के विकारभूत बृहती आपः (=वृद्धिगुणवाली पञ्चतन्मात्रों) ने गर्भ को धारण करते हुए (=महद् अण्ड के रूप में संघटित होते हुए) अग्नि को उत्पन्न किया। उसके पश्चात् देवों का एक असु (=गतिशील[1]) महद् अण्ड उत्पन्न हुआ। जिन आपः (=पञ्चतन्मात्रों) ने अपनी महिमा से दक्ष (=अग्नि[2]) को

---

१. असु क्षेपणे (=दिवादिगण-पठित) धातु से औणादिक् 'उ' प्रत्यय। यहां क्षेपण से गतिमात्र अभिप्रेत है।

२. द्र॰—उद्धृत मन्त्रों के 'गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्' और 'दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्' चरणों में प्रथम में अग्नि को गर्भरूप में धारण करने का उल्लेख है, और दूसरे में उसी गर्भस्थ अग्नि को 'दक्ष' कहा है। दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च (धातु॰ १।४०३); दक्ष गतिहिंसनयोः (धातु॰ १।५२१); दक्षतेरुत्साहकर्मणः तथा दक्षतेः समर्धयति कर्मणः (निरुक्त १।७)।

धारण करते हुए और यज्ञ[1] (=महदण्ड) को उत्पन्न करते हुए देखा[2]। जो देवों[3] में अधिदेव (=महादेव) था, उस क (=प्रजापति[4]) के लिये हम (=महदण्ड के अन्तः वर्तमान प्राणरूप देवगण=भूतगण) हविप्रदान रूप कर्म से, अर्थात् अपने सहयोग से महदण्ड के कार्य को सम्पन्न करते हैं।

आपः से संघटित महद् अण्ड में प्रथम पञ्चतन्मात्रस्थ अग्नितन्मात्र से अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ। और उसके साथ अवशिष्ट तन्त्रमात्रों और उन से उत्पन्न भूतों ने सहयोग किया। उस सहयोग से महद् अण्ड के भीतर ग्रहोपग्रहों का निर्माण हुआ। इसी तत्त्व का प्रतिपादन **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः** (यजुः ३१।१६, ऋ० १०।९०।१६) मन्त्र करता है। यह यज्ञनामक महदण्ड सर्वहुत था—**तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः** (यजुः ३१।६, ऋ० १०।९०।८)। इसे ही वेद में **विश्वकर्मा**[5] कहा है (द्र०—ऋ० मं० १०, सूक्त ८१)।

महदण्ड में ग्रहोपग्रहों के निर्माणकाल में दैवी शक्तियों ने पूर्वतः विद्यमान अग्नि का पुनः आलभन किया। उसे मुख्यरूप से द्यु अन्तरिक्ष और पृथिवीस्थानों में स्थापित किया। उसका वर्णन भी ऋग्वेद (१०।८८।१०) में इस प्रकार मिलता है—

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभिः रोदसिप्राम्।
तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः॥

अर्थात्—भौतिक देवों ने अपने सामर्थ्य से द्युलोक और पृथिवीलोक[6] में पूर्ण (=व्यापक)

---

१. 'यज्ञ' पद से यहां 'प्रजापति हिरण्यगर्भ' आदि विविध नामों से स्मृत 'महद् अण्ड' अभिप्रेत है।

२. यहां **पर्यपश्यत्**=देखा का भाव अपने आप को कारण से कार्यरूप में परिणत होने मात्र से है। चेतनवद् उपचार से दर्शन का प्रयोग जानना चाहिये।

३. महद् अण्ड की उत्पत्ति से पूर्व पञ्चतन्मात्ररूप पञ्च महाभूतों के सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न हो चुके थे। द्र०—प्रशस्तपाद-भाष्य, सर्गवर्णन-प्रकरण। **'महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै।'** वायुपुराण ४।७४॥

४. **प्रजाजतिर्वै कः**। ऐ० ब्रा० २।३८; कौ० ब्रा० ५।४॥

५. विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुह्वाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुह्वाञ्चकार।...विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् (ऋ० १०,८१।६)। निरुक्त १०।२६॥

६. 'पृथिवी' पद महद्-अण्ड में विकसित होनेवाले स्वयं प्रकाशित न होनेवाले ग्रहोपग्रहों का उपलक्षक है। ऋ० १०।१९०।३ के **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता...दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।'** मन्त्र के पूर्वार्ध में सूर्य स्वयंप्रकाशक ग्रहों का, और चन्द्र उपग्रहों का उपलक्षक है। उत्तरार्ध का द्यु सूर्य के चारों ओर की वाह्य परिधि का, पृथिवी स्वयं प्रकाशित न होनेवाले ग्रहों का, अन्तरिक्ष दो ग्रहों के मध्य अन्तकाश का, और स्वः गतिशील उल्कापिण्डों का उपलक्षक है।

होनेवाले जिस अग्नि को द्युलोक (=महद् अण्ड के) उपरि भाग में (अग्नि के अन्य तत्त्वों से सूक्ष्म होने से ऊर्ध्व भाग में) उत्पन्न किया। उस कल्याणकारी अग्नि को तीन भागों में विभक्त किया[१]। वह विश्वरूप=विविध रूपवाली ओषधियों (=ओष=अग्नि को धारण करनेवाले महद् अण्ड के अवयवरूप ग्रहोपग्रहों) को पकाता है, समर्थ बनाता है।

इस अग्नि के प्रादुर्भाव से महद्-अण्डस्थ ग्रहोपग्रह पक गये (=निर्मित हो गये), और इससे यह महद् अण्ड सहस्रांशु=सहस्र सूर्य के समान चमकने लगा (=हिरण्यमय हुआ)। यह अग्नि-तत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति में महत्त्वपूर्ण प्रमुख भूमिका निभाता है। सारे देव इसी से अनुप्राणित होते हैं। इसीलिये ऋग्वेद १।१।२ के मन्त्र में कहा है—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥

अर्थात्—[अग्नि से] पूर्व उत्पन्न ऋषि=प्राणस्वरूप भौतिक शक्तियां, और नूतन (=पश्चात्) उत्पन्न ऋषि इसी अग्नि की स्तुति करते हैं, उसके अनुकूल आचरण करते हैं। वही सब देवों=भौतिक तत्त्वों को सर्ग के लिये यथास्थान प्राप्त कराता है।

वायु-पशु का आलभन और उससे यज्ञ

यजुर्वेद २३।१७ के उपरि निर्दिष्ट मन्त्र में सृष्टियज्ञ में वायु पशु से यजन का भी वर्णन है। इस वायु-पशु का प्रथम आलभन महद् अण्ड में हुआ। सौरमण्डल के अङ्ग-प्रत्यङ्गरूप भागों के निर्माण के लिये इसे यथास्थान स्थापित किया गया। जैसे इस शरीर में गर्भावस्था में एक ही प्राण वायु दशधा विभक्त होकर शरीरावयवों के निर्माण में सहयोग देता है, वैसे ही महदण्डस्थ ग्रहोपग्रहों के निर्माण में एक ही वायुतत्त्व अनेकधा विभक्त होकर सहायक होता है। ऋग्वेद १।२।१ में लिखा है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधि हवम्॥

जगत् के निर्माण में प्रवृत्त भौतिक शक्तियां कहती हैं—हे दर्शत! जगत् को दर्शनीय बनानेवाले वायो! तुम आओ। तुम्हारे लिये ये सोम=उत्पादक तत्त्व अलंकृत हैं, तैयार हैं। इनका पान करो, अर्थात् इनको अपने भीतर समेट लो। और हमारे हव=हवनीय=यजनीय आकाङ्क्षा को सुनो, और सुनकर पूर्ण करो।

वायु-पशु का पुनरालभन—जगत् के सर्ग और स्थितिकाल में पशुयज्ञ होते ही रहते हैं, यह पूर्व कह चुके हैं। वायु का सर्गोत्पत्ति के पश्चात् एक वार पुनः आलभन हुआ। हमारी पृथिवी और सूर्य के मध्य जो वायु विद्यमान था, उसके कार्यभेद वा स्थानभेद (सप्त परिवह=सात आकाश) के कारण सात विभाग हुये, और एक-एक विभाग (=परिवह) में स्थित वायु के

---

१. तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। निरुक्त ७।२८॥

भी सात-सात विभाग किये गये । ये ४९ विभागों में विभक्त वायुतत्त्व सप्त-सप्त (७×७=४९) मरुतों के नाम से वैदिक-वाङ्मय में प्रसिद्ध हैं ।

सूर्य (=आदित्य) पशु का आलभन और उससे यज्ञ

यजुर्वेद २३।१७ के उपर्युक्त मन्त्र में सूर्य पशु से किये गये याग का भी वर्णन है । सूर्य नाम आदित्य का है । महद् अण्ड के विभक्त होने पर ग्रहोपग्रह जब उससे बाहर आये, तब ये सब लोक पास-पास थे । धीरे-धीरे ये सब एक-दूसरे से दूर हुए । पृथिवी और आदित्य की समीपता का वर्णन मन्त्रों और ब्राह्मणों में बहुत्र मिलता है ।[1] कुछ काल के पश्चात् आदित्य अग्नि और प्रबल वात के कारण झटके के साथ पृथिवी से दूर हुआ । परन्तु स्व-स्थान से विचलित सूर्य दोले (=झूले) के समान एक स्थान पर स्थिर नहीं हुआ । कई बार पृथिवी के समीप आया और दूर हुआ । तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वह न्यूनातिन्यून दो-तीन बार पृथिवी से दूर होने के पश्चात् अपने स्थान पर स्थिर हुआ ।[2] आदित्य की इस सरण=दूर होने की क्रिया के कारण ही आदित्य का सूर्य नाम हुआ—'सूर्यः सरतेर्वा' (निरुक्त १२।१४) ।

इस प्रकार जब सूर्य स्वस्थान में टिक गया, उसके पश्चात् सूर्य के जाज्वल्यमान भाग पर, जैसे पिघले हुए लोहे पर कुछ क्षण पश्चात् मैल जम जाता है, वैसे ही मैल जम गया । उससे सूर्य का प्रकाश अवरुद्ध हो गया । इसे तैत्तिरीय संहिता में स्वर्भानु[3] आसुर के द्वारा सूर्य का तम से बींधना कहा है—'स्वर्भानुरासुरः सूर्यं तमसाऽविध्यत्' (तै० सं० २।१।२) । सूर्य के इस दोष को दैवी शक्तियों ने चार चरणों में दूर किया । इसका वर्णन तैत्तिरीय संहिता के इसी प्रकरण(२।१।२) में इस प्रकार किया है—

'तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन् । तस्य यत् प्रथमं तमोऽपाघ्नन् सा कृष्णाऽविरभवत्, यद् द्वितीयं सा फल्गुनी, यत् तृतीयं सा बलक्षी, यदध्यस्थाद् अपाकृन्तन् साऽविर्वशा समभवत्' ।

ऐसा ही पाठ मैत्रायणी संहिता २।५।२, तथा काठक संहिता १२।१३ में भी मिलता है ।

---

१. 'जामी सयोनी मिथुना समोकसा' ऋ० १।१५९।४।। 'द्यावापृथिवी सहास्ताम्' । तै० सं० ५।२।३; तै० ब्रा० १।१।३।२।। 'सह हैवेमावग्रे लोका आसतुः' । शत० ७।१।२।२३।।

२. आदित्या वा अस्माल्लोकादमुं लोकमायन्, तेऽमुष्मिल्लोके व्यतृष्यन्त, इमं लोकं पुनरेत्य ·· सुवर्गलोकमायन् । तै० सं० १।५।४।। आदित्यो वा अस्माल्लोकादमुं लोकमैत्, सोऽमुं लोकं गत्वा पुनरिमं लोकमभ्यध्यायत् ·· सोऽग्निमस्तौत् । स एनं स्तुतः सुवर्गं लोकमगमयत् । तै० सं० १।५।९।। अग्नि की स्तुति से सूर्य के स्वर्गमन वा दूर गमन के लिये देखिये—तै० सं० २।५।८; ५।१।५।। शत० ब्रा० १४।१।१।२२।।

३. स्वः सूर्यस्य भां प्रकाशं नुदति अपसारयति इति स्वर्भानुः । असुर एवासुरः प्रज्ञादित्वाद् (अ० ५।४।३८) अण् । द्र०—सायणभाष्य तै० सं० २।१।२।।

अर्थात्—देवों ने स्वर्भानु असुर के द्वारा सूर्य पर उत्पन्न किये गये तम के आवरणरूप दोष की प्रायश्चित्ति (=दोषनिवृत्ति) चाही। उन्होंने जो तम को प्रथम वार हटाया यह कृष्णवर्ण अवि[1] हुई, अर्थात् अत्यन्त कृष्णवर्ण आवरण हुए। जो दूसरी वार तम को हटाया, वह लालवर्ण[2] (=गहरे लाल वर्णवाली) अवि हुई। जो तीसरी वार तम को हटाया, वह श्वेत वर्ण (=भूरे रङ्गवाली) अवि हुई। और जो अस्थि के ऊपर,[3] अर्थात् सूर्य के अन्तःभाग से तम को काटा= हटाया, वह वशा अवि हुई।

प्रकृत में स्वर्भानु द्वारा सूर्य पर तम के आरोप और उसके अपाकरण, और अपाकरण से कृष्णवर्णा, लोहिनी, भूरी और वशाधर्मा अवियों के उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। इतना अंश यहां आलङ्कारिक है, शेष भाग पूर्णतया सर्गावस्था के सूर्य पर वार-वार आये आवरण और उसके अपाकरण का वास्तविक निर्देशक है। सूर्य में अभी भी कृष्णवर्ण धब्बे विद्यमान हैं। साम्प्रतिक कृष्ण धब्बे भी नियत समय पर प्राकृतिक घटनाचक्रानुसार जब दूर होते हैं तब सूर्य में अत्यधिक ऊंची-ऊंची लपटें उत्पन्न होती हैं। उनसे सारा रेडियो क्रम नष्टसा हो जाता है। यह आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है।

चार वार क्रमशः जो सूर्य का आवरण हटा, उसके हटने पर अवि (=विशिष्ट अवस्था-पन्न) पृथिवी की जो स्थिति दृश्यरूप में आई, उसी का वर्णन उक्त वचन में आलङ्कारिक रूप में किया है। 'अवि' पृथिवीमात्र का वाचक नहीं है, अपितु 'अवि' शब्द से अवि (=भेड़) के समान पिलपिली=नरम स्थितिवाली पृथिवी का नाम है। यह आगे **'अविमेघ'** में स्पष्ट करेंगे। यहां आलङ्कारिक भाषा में सूर्य के चार बार क्रमशः उतारे गये आवरण से चार रंग वा प्रकार की अवियों (=भेड़ों) वा पृथिवी की विशिष्ट स्थितियों का परिज्ञान कराया है।

प्रथम वार सूर्य का जो घना आवरक पदार्थ हटा, वह अत्यन्त कृष्णवर्ण था। जब सूर्य पर घना आवरण था, तब प्रकाश का सर्वथा अभाव होने से पृथिवी आदि लोक दृश्य अवस्था में नहीं थे, अन्धकार में डूबे हुए थे। जब प्रथम बार घना आवरण हटा, तब पृथिवी आदि पर अति क्षीण प्रकाश पहुंचने से वे लोक कृष्णवर्ण से दिखाई दिये[4]। जब दूसरी वार आवरण हटा, तब सूर्य का प्रकाश कुछ अधिक स्फुट हुआ। लालवर्ण सा प्रकाश निकला, उससे पृथिवी आदि लोक लालवर्ण से दिखाई दिये। जब तृतीय बार आवरण हटा, प्रकाश की मात्रा अधिक बढ़ी, पृथिवी आदि मटैले से श्वेत वर्ण वाले दिखाई दिये। जब चौथी बार आवरण हटा, तब पृथिवी आदि लोक अपने वास्तविक स्वरूप में दिखाई दिये। वह पृथिवी का स्वरूप था, **'वशा अवि'** रूप।

---

१. **'समभवत्'** क्रिया यहां प्राकट्य अर्थ में प्रयुक्त है।

२. भट्टभास्कर ने **'फल्गुनी'** का अर्थ **'नील-वर्णा'** किया है। सायण ने **'लालवर्णी'** किया है। मै० सं० २।५।२ में **'लोहिनी'** पाठ होने से सायण का अर्थ उचित प्रतीत होता है।

३. मैत्रायणी सं० २।५।२ में **'अध्यस्तात्'** पाठ है। क्या उसका अर्थ 'निम्न भाग से' है?

४. द्र०—इसी पृष्ठ की टिप्पणी १।

यद्यपि इस काल में प्राणीजगत् था ही नहीं।' अतः पृथिवी की विभिन्न स्थितियों का द्रष्टा भी नहीं था। इसलिये पृथिवी आदि लोकों की उपलब्धिविशेषों की जो स्थिति कही है, उसे तादृश उपलब्धिशक्त्यवच्छिन्न पदार्थस्वरूप का वर्णन जानना चाहिये।

स्वर्भानु असुर के द्वारा सूर्य के तम से आवृत होने तथा तम को दूर करने का वर्णन ऋग्वेद ५।४० के ५-९ चार मन्त्रों में मिलता है। वहां छठे मन्त्र में इन्द्र के द्वारा तीन वार[1] तम को हटाने को वर्णन है, और चौथी बार अत्रि द्वारा। ८वें मन्त्र में अत्रि के द्वारा सूर्य में चक्षु (=प्रकाशक तेज) के आधान और स्वर्भानु की माया को दूर करने का उल्लेख है। मन्त्र इस प्रकार है—

अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अघुक्षत्।

जैमिनि ब्राह्मण १।८० में लिखा है—'सूर्य को स्वर्भानु असुर ने तम से आच्छादित कर दिया था। देवों ने और ऋषियों ने उसकी चिकित्सा की। देवों ने अत्रि ऋषि[2] से कहा कि तुम इस तम को दूर करो'।[3]

ऋग्वेद और जैमिनि ब्राह्मण में कथित अत्रि क्या भौम=भूमि का पुत्र अग्नि अभिप्रेत है? क्या सूर्य के तम के निवारण में भौम अग्नि का भी सहयोग था? यह विवेचनीय है।

तैत्तिरीय संहिता २।१।२, ४; २।१.८; २।२।१० में भी लिखा है—'आदित्यो न व्यरोचत' (=आदित्य प्रकाशित नहीं हो रहा था)। ऐसा निर्देश करके उसे प्रकाशित करने के कई निर्देश मिलते हैं। सातण ने लिखा है—'आदित्य के विषय में उक्त विविध प्रायश्चित्तियां कल्प वा युग के भेद से व्यवस्थित जाननी चाहियें'। अर्थात्—सर्गावस्था में सूर्य पर कई वार तम का आक्रमण हुआ, और उसका निराकरण हुआ[4]। स्वर्भानु द्वारा तम का आक्रमण वर्तमान समय में भी होता है, और उसका यह आक्रमण नियत समय पर होता रहता है, यह पूर्व संकेत कर चुके हैं। सूर्य ग्रहण के समय चन्द्रमा के द्वारा सूर्य-प्रकाश के अवरोधन को भी आलङ्कारिक भाषा में स्वर्भानु असुर के द्वारा सूर्य को निगलना कहा जाता है।

---

१. मन्त्र में साक्षात् 'तीन बार' का उल्लेख नहीं है, परन्तु 'तुरीयेण ब्रह्मणाविन्दवत्रिः' (ऋ० ५।४०।६) में 'तुरीय' पद से पूर्व तीन बार तम हटाने की प्रतीति स्पष्टरूप से होती है।

२. ऋष गतौ। तम का अपनोदन=दूरीकरण क्रिया के कारण दैवी तत्त्व विशेष को ही यहां ऋषि कहा है।

३. 'स्वर्भानुरासुर आदित्यं तमसाऽविध्यत्। तद्देवाश्चर्षयश्चाभिषज्यन्। तेऽत्रिमब्रुवन्नपे त्वमिदमपजहीति'। जै० ब्रा० १।८०॥

४. 'आदित्यविषये बहवः प्रायश्चित्तयः कल्पयुगादिभेदेन व्यवस्थापनीयाः'। तै० सं० भाष्य २।१।८॥

'वशा अवि' या आलभन

यद्यपि प्रस्तूयमाण 'वशा अवि का आलभन' विषय पर विचार पुरुषमेधादि पांच पशु यागों के अन्तर्गत करना चाहिये, तथापि जिस 'वशा अवि' के आलभन का हम वर्णन कर रहे हैं, उसका वेद-प्रतिपादित अग्नि वायु और सूर्य पशु के समान आधिदैविक स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट होने से क्रम-भंग करके हम यहां 'वशा अवि' के आलभन का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं—

अवि नाम लोक में भेड़ का है। अविमेध का भी वर्णन वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। 'मेध' यज्ञ का नाम है। 'मेध' शब्द 'मेधृ सङ्गमे हिंसायां च' धातु से बनता है। इसके सङ्गम=मिलना और हिंसन दोनों अर्थ हैं। यही मेध शब्द **गोमेध अजमेध अश्वमेध पुरुषमेध** आदि यज्ञविशेषों के नामों में भी प्रयुक्त हुआ है। वैदिक यज्ञों में मेध शब्द के यथायोग्य (=जहां जो सम्भव है) अर्थ गृहीत होते हैं।

स्वर्भानु के द्वारा आदित्य को तम से आवृत करने और उस तम के निराकरण के सम्बन्ध में पूर्व (पृष्ठ १३८) तैत्तिरीय संहिता का जो वचन उद्धृत किया था, उसमें अस्थि के ऊपर के तम को हटाने से वशा अवि का प्राकट्य कहा है। उसके आगे संहिता का पाठ इस प्रकार है—

साविर्वशाऽभवत्। ते देवा अब्रुवन् देवपशुर्वा अयं समभूत्। कस्मा इममालप्स्यामहा इति। अथ वै तर्ह्यल्पा पृथिव्यासीत्। अजाता ओषधयः। तामविं वशामादित्येभ्यः कामायालभन्त, ततो वा अप्रथत पृथिवी, अजायन्त ओषधयः। तै० सं० २।१।२॥

अर्थात्—वशा अवि प्रकट हुई। वे देव बोले—यह देवपशु प्राप्त हुआ है। इसे किसके लिये आलभन करें। उस समय यह पृथिवी अल्प थी, ओषधियों से रहित थी। उस वशा (=वन्ध्या) अवि को आदित्यों की कामना के लिये आलभन किया। उससे पृथिवी फैली, उस पर ओषधियां उत्पन्न हुईं।

मैत्रायणी संहिता २।५।२ में इस प्रकार कहा है -

अथवा इयं तर्ह्यृक्षाऽऽसीद् अलोमिका। ते अब्रुवन् तस्मै कामायालभामहै, यथाऽस्यामोषधयो वनस्पतयश्च जायन्त इति॥

इस पाठ में ऋक्षा पृथिवी को अलोमिका कहा है। और उस पर वनस्पतियों को ओषधियों के रूप में लोम उत्पन्न करने की कामना की है।

यद्यपि ये दोनों पाठ समान से प्रतीत होते हैं, पर सूक्ष्मता से देखने पर इन दोनों में अन्तर है। ये अन्तर **वशा** और **ऋक्षा** तथा **ओषधि** और **वनस्पति** शब्दों से प्रकट होता है। तैत्तिरीय संहिता में वशा कहा है, जिस का अभिप्राय है कि उस समय पृथिवी पर घास तृण कुछ भी पैदा नहीं हुए थे। तदनन्तर जब घास तृण उत्पन्न हो गये, तो वह लोमिका=रोमोंवाली हो

गई। ओषधि का अर्थ है—'ओषध्यः फलपाकान्ताः' अर्थात् जो फल पक जाने पर स्वयं नष्ट हो जावें। अर्थात् घास तृण आदि। इनसे जब पृथिवी भर गई, तब वह ऋक्षा हुई। लोक में ऋक्ष नाम भालू का है। उसके समस्त अङ्गों पर लम्बे-लम्बे रोम होते हैं। इस समय अभी वनस्पति=पुष्प-फलवाले वृक्ष उत्पन्न नहीं हुए थे। अतः ऋक्षा पृथिवी पर वनस्पतियां=बड़े-बड़े वृक्ष उत्पन्न हुए। पृथिवी की इन दो दशाओं में से तैत्तिरीय संहिता में प्रथम दशा का वर्णन किया है, और मैत्रायणी संहिता के पाठ में द्वितीय दशा का। जैमिनि ब्राह्मण २।५४ में दोनों अवस्थाओं को एक बनाकर भी कहा है—'औषधिवनस्पतयो वा लोमानि'।

अनेक बार अवि का आलभन

उक्त दोनों पाठों में वशा अवि तथा ऋक्षा अवि का दो बार आलभन कहा है। इन दोनों अवस्थाओं में पृथिवी अविरूप थी, अर्थात् अवि के समान पिलपिली=नरम थी। इसे ही यजुर्वेद (२०।१२) में 'अविरासीत् पिलिप्पिला' शब्दों से कहा है। ऋक्षा अवि को यजुर्वेद (१३।५०) में ऊर्णायु कहा है। क्योंकि उस पर ऊनके समान ओषधिरूप लोम उत्पन्न हो गये थे। मैत्रायणी संहिता २।५।२ के उपर्युक्त वचन में वनस्पतियों को भी लोम कहा है। यहां लोम से अभिप्राय केशों से है, जो रोमों की अपेक्षा लम्बे होते हैं।

इस अविरूप पृथिवी का अनेक बार आलभन हुआ। यजुर्वेद १३।१७ में भू भूमि अदिति विश्वधा पृथिवी शब्दों के द्वारा पृथिवी की भिन्न-भिन्न पांच अवस्थाएं कही हैं। 'पृथिवी' अवस्था के अनन्तर उसमें दृंहण होता है—'पृथिवीं दृंह' (यजु १३।१८)। यह दृंहण पृथिवी में शर्करा=रोड़ों की उत्पत्ति से होता है। वैदिक ग्रन्थों में कहा है—

'शिथिरा वा इयमग्र आसीत् तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत्।' मै० सं० १।६।३॥

'आर्द्रेव हीयमासीत् तां देवा शर्कराभिरदृंहन् तेजोऽग्नावदधुः'। काठक सं० ८।२॥

सलिलरूपा भू का सुवर्णोत्पत्ति पर्यन्त नौ वार आलभन हुआ। उस की प्रक्रिया भी वैदिक वाङ्मय में वेदिनिर्माण के प्रसङ्ग में बताई है। इसके लिये देखिये पूर्व पृष्ठ ९७–१०१।

प्रसिद्ध पशुयाग

वैदिक-वाङ्मय में पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध अविमेध और अजमेध नाम के पांच प्रसिद्ध पशुयाग हैं। अब इन पशुयागों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है कि ये पशु याग क्या हैं? पुरुष आदि शब्दों से प्राणियों का ग्रहण अभीष्ट है अथवा पुरुष आदि प्राणी भी आधिदैविक सृष्टियज्ञ के किन्हीं आधिदैविक तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं? तथा क्या पुरुष आदि की द्रव्यमय यज्ञों में हिंसा होती है?

इन विषयों पर क्रमशः विचार करने से पूर्व हम पुरुष आदि प्राणियों के सम्बन्ध में वेद में क्या लिखा है? इसका संक्षेप से निर्देश करा देना उचित समझते हैं।

अथर्ववेद १।१६।४ में पुरुष अश्व और गौ के सम्बन्ध में लिखा है—

यदि नो गां हिंसीः यद्यश्वं यदि वा पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो वीरहाः ॥

अर्थात्—कोई हमारी गाय को मारता है, यदि अश्व को, यदि पुरुष को, तो हम उसे सीसे (=सीसे की गोली) से वींध दें। जिससे वह वीरहा हमारे मध्य न रहे।

यजुर्वेद अ० १३ में पुरुष अश्व गौ और अवि (=भेड़) पशुओं की हिंसा न करने का साक्षात् उल्लेख है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि यजुर्वेद का यह अध्याय याज्ञिकों के मत में अग्निचयन में विनियुक्त है। पुरुषादि की हिंसा के प्रतिषेधक मन्त्र इस प्रकार हैं—

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः। यजुः १३।४७॥

अर्थात्—इस सहस्राक्ष द्विपाद् (=पुरुषरूप) पशु की हिंसा मत कर।

अश्वं जज्ञानं सरिरस्य मध्ये। —अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। यजुः १३।४२॥

अर्थात्—सलिल के मध्य उत्पन्न अश्व की हे अग्ने! हिंसा मत कर।

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। यजुः १३।४८॥

अर्थात्—वलवानों में वलवान् हिनहिनानेवाले एक शफ (=एक खुरवाले) इस पशु को मत मार।

गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। यजुः १३।४३॥

अर्थात्—अदिति=अखण्डनीया अथवा अहिंस्या, विराट्=पय आदि विविध पदार्थों के देने से प्रकाशमान गौ की हिंसा मत कर।

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं…। घृतं दुहानामदितिं जनाय मा हिंसीः परमे व्योमन्॥ यजुः १२।४६॥

अर्थात्—इस सहस्रधनार्ह=अत्यन्त मूल्यवान् सैंकड़ों धाराओंवाले कूप के समान, मानव के लिये दूध देनेवाली अदिति=अहिंसनीया गौ पशु को मत मार।

अविं जज्ञानां…अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥१३।४४॥

अर्थात्—उत्पन्न हुई अवि भेड़ की हे अग्ने! हिंसा मत कर।

**इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥ यजुः १३।५०॥**

अर्थात्—इस ऊर्णायु=अवि को जो वरुण की नाभि है, द्विपाद् और चतुष्पाद् पशुओं की [ऊन को देकर] त्वचा के समान शीत से रक्षक हैं, और त्वष्टा=उत्पन्न करनेवाले की प्रजाओं में जो प्रथम उत्पन्न हुई है। उसकी हे अग्ने! हिंसा मत कर।

इन मन्त्रों के पाठमात्र से ही यह व्यक्त हो जाता है कि वेद में पुरुष अश्व गो और अवि की हिंसा वर्जित की है।

अब हम उक्त पुरुषमेध आदि यागों पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे।

पुरुषमेध का पुरुष और उसका आलभन

शुक्ल यजुर्वेद का ३० वां और ३१ वां अध्याय पुरुषमेध में विनियुक्त है। ३० वें अध्याय के आरम्भ में चार सविता देवतावाले मन्त्र हैं। उनमें से प्रथम ३ मन्त्रों से ३ आहुतियों का विधान है। इसके पश्चात् ५वीं कण्डिका से २२वीं कण्डिका तक विभिन्न प्रकार के कार्य करनेवाले और विभिन्न आकार-प्रकार के पुरुषों का वर्णन है। कं० ५ से २१ तक ब्राह्मण राजन्य आदि पुरुष विशेषों का द्वितीया विभक्ति से तथा देवता का **ब्रह्मणे क्षत्राय** आदि का चतुर्थ्यन्त विभक्ति से निर्देश मिलता है। **आलभते** क्रिया का २२वीं काण्डिका में निर्देश है। उसका प्रत्येक वाक्य के साथ सम्बन्ध[1] होकर **ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते, क्षत्राय राजन्यमालभते** आदि वाक्य बनता है। याज्ञिकों के मतानुसार अर्थ होता है—'ब्रह्म देवता के लिये ब्राह्मण का आलभन करे'[2], 'क्षत्र देवता के लिये राजन्य का आलभन करे'[2]। श्रौतसूत्रों में इन ब्राह्मण आदि १८४ पुरुष पशुओं को यूप में बांधने का निर्देश मिलता है।

यूप में नियुक्त १८४ पुरुष पशुओं की ब्रह्मा **सहस्रशीर्षा** अनुवाक (यजुः अ० ३१।१-१६) से स्तुति करके अश्वमेध में जैसे कपिञ्जल आदि आरण्य पशु-पक्षियों का उत्सर्जन कहा है (कात्या० श्रौत० २०।६।१९) वैसे ब्राह्मणादिकों को छोड़ दिया जाता है—

> **नियुक्तान् ब्रह्माभिष्टौति होतृवदनुवाकेन सहस्रशीर्षेति।**
> **कपिञ्जलादिवद् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्**[3]॥ कात्या० श्रौत २१।१।११–१२॥

ब्राह्मणादि पुरुषों के उत्सर्ग के पश्चात् जिस पुरुष का जो देवता था, उसके लिये सकृद् गृहीत आज्य से **ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा** मन्त्रों से आहुति दी जाती है। इन आज्याहुतियों

---

१. तै० ब्रा० ३।४।१-१९ तक यह प्रकरण पठित है। उसमें **आलभते** क्रिया प्रथम वाक्य में ही पठित है—**ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते**…। उसके अनुसार उत्तर वाक्यों में सर्वत्र **आलभते** का अनुपङ्ग होता है।

२. **चतुर्थ्यन्ता देवताः, द्वितीयान्ताः पशवः**। द्र०—भट्टभास्कर-भाष्य तै० ब्रा० ३।४।१ के आरम्भ में।

३. द्र०—शत० ब्रा० १३।६।२।१३॥

से ही देवता तृप्त हो जाते हैं।[१] ये आहुतियां ११ अनुवन्ध्या (=वन्ध्या) गौवों से यजन[२] करके स्विष्टकृत् आहुति से पूर्व दी जाती हैं (द्र०—कात्या० श्रौत २१।१।१६)।

पुरुषमेध के ३१ वें अध्याय में निर्दिष्ट विराट पुरुष अधिदैवत (=सृष्टियज्ञ) में महद् अण्ड है, और अध्यात्म में परम पुरुष (=परमात्मा) है।

पुरुषमेध के सम्बन्ध में यहां कुछ विचारणीय बातें उपस्थित करते है—

पुरुषमेध का प्रयोजन—कात्यायन श्रौतसूत्र २१।१।१ में लिखा है कि 'पुरुषमेध सब भूतों का अतिक्रमण करके सब से ऊपर स्थित होने की कामना से किया जाता है'—**पुरुषमेधस्त्रयोविंशति-दीक्षोऽतिष्ठा कामस्य**[३]।

पुरुषमेध के अनन्तर अरण्यव्रजन—पुरुषमेध के अनन्तर कात्यायन श्रौतसूत्र (२१।१। १७-१८) में दो पक्ष कहे हैं—आत्मा में अग्नियों का समारोपण और सूर्य का उपस्थान करके अरण्य में चला जाये=संन्यास ले लेवे; दूसरा घर में निवास करे।[४] इस में संन्यासपक्ष प्रधान है।[५]

यहां यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि पुरुषमेध के आरम्भ में भी सूर्यदेवताक होम है, और अन्त में भी सूर्योपस्थान का विधान है (द्र०—कात्या० श्रौत २१।१।६, १७)।

पुरुषमेध में विनियुक्त ३०-३१ अध्यायों का ऋषि-देवता—यजुर्वेद अ० ३०-३१ का नारायण ऋषि है। अ० ३० के आद्य १-४ मन्त्रों का देवता सविता है। उव्वट के अनुसार अ० ३१ का नारायण[६] ऋषि, पुरुष देवता, १-२१ अनुष्टुप् छन्द, २२ त्रिष्टुप् छन्द, और मोक्ष में विनि-योग है—**पुरुषसूक्तस्य नारायण ऋषिः पुरुषो देवताऽनुष्टुप् छन्दः अन्त्या त्रिष्टुप् मोक्षे विनियोगः।** इसके आगे उव्वट ने लिखा है कि इस अध्याय का भाष्य शौनक ऋषि ने किया था, और उसने

---

१. तान् पर्यग्निकृतान् एवोदसृजत्, तद्देवत्या आहुतिरजुहोत्, ताभिस्ता देवता अप्रीणात्। ता एनं प्रीता अपृणन् सर्वैः कामैः। शत० ब्रा० १३।६।२।१३॥

२. द्र०—शत० ब्रा० १३।६।२।१६॥ ३. द्र०—शत० ब्रा० १३।६।१।१॥

४. द्र०—शत० ब्रा० १३।६।२।२०॥

५. तत्पुरुषमेधानन्तरं संन्यास एव। महीधर-भाष्य यजुः ३०।२२॥

६. पुरुषो ह नारायणोऽकामयत……स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत् १ शत० ब्रा० १३।६।१।१॥ यह नारायण अधिदेव में आदित्य वा वायु है, और अध्यात्म में परमपुरुष अथवा शारीर पुरुष आत्मा है।

यह जनक के लिये मोक्षार्थ कहा था—अस्य भाष्यं शौनको नार्माषिरकरोत् । ... सर्वमेतज्जनकाय मोक्षार्थं कथयामास[1] ।

पुरुषमेध का निर्वचन—शतपथ १३।६।२।१ में पुरुषमेध का निर्वचन इस प्रकार दर्शाया है—

'इमे वै लोकाः पूः, अयमेव पुरुषो योऽयं पवते । सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः । यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्यान्नं मेधः । तद्यदस्यैतदन्नं मेधस्तस्मात् पुरुषमेधः । अथो यदस्मिन् मेध्यान् पुरुषानालभते तस्मादेव पुरुषमेधः ।'

अर्थात्—अधिदैवत पक्ष में—ये लोक ही पूः (=शरीर) हैं । यही पुरुष है जो यह पवित्र करता है (=आदित्य) । वह इस पुर में सोता है, इस से पुरुष है । जो इन लोकों में अन्न (=अदन योग्य=भक्षण योग्य रस) है, वह उसका अन्न (=अदनीय=भक्षणयोग्य) मेघ (=सार) है । जो इसका अन्न मेघ है, इससे यह पुरुष मेघ है ।[2] (अधियज्ञ पक्ष में) जो इस [यज्ञ] में मेध्य पुरुषों का आलभन किया जाता है । उससे ही यह पुरुषमेघ है ।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुषमेध में पुरुषों की हिंसा नहीं होती है । कर्म-समाप्ति से पूर्व उन्हें छोड़ दिया जाता है । यतः पुरुषमेघ सर्वोत्कर्ष की प्राप्ति के लिये किया जाता है, अतः इस यज्ञ में उन सभी पुरुषों को एकत्रित किया जाता है, जो जिस कार्य के लिये लोक में प्रसिद्ध हैं । पुरुषमेघ का यजमान अपने आप को लौकिक पुरुषों से ऊँचा उठावे, इस भावना से वह तुलना अथवा विविध चरित्र विज्ञान के लिये १८४ प्रकार के पुरुषों को इकट्ठा करता है, और पुरुषमेध के पश्चात् उनसे ऊपर उठने के लिये वह अरण्य में जाकर तप करता है, अथवा संन्यास ले लेता है । यदि शारीरिक स्थिति के कारण वह अपने को अरण्यवास अथवा संन्यास के योग्य नहीं समझता, तो वह ग्राम में रहता हुआ ही तपश्चर्या के द्वारा अपने को ऊंचा उठाने का प्रयत्न करता है । इसी का एक प्रकार वेद-संन्यास है । जिसमें ब्राह्मण संन्यास लेकर अपने पुत्र के आश्रय में रहता हुआ तपश्चर्या और वेद का अभ्यास करता है । इस विषय में मनुस्मृति का वचन इस प्रकार है—

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषान् अपानुदन् ।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ।। मनु० ६।९५।।

---

१. उव्वट-भाष्य का यह पाठ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई के संस्करण में है ।

२. पुरुषमेघ का सम्बन्ध आधिदैविक पक्ष में आदित्य के साथ है । इसीलिये पुरुषमेध याग के आरम्भ में सूर्यदेवताक होम और अन्त में सूर्योपस्थान का विधान किया गया है (द्र०—कात्यायन श्रौत २१।१।६-१७।।

पुरुषमेध में अनुवन्ध्या (=वन्ध्या) गौ का आलभन कहा है। यह है अफला अपुष्पा वाक् का आलभन। ऋ० १०।७१।५ में कहा है—

'अन्धेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।'

इसका व्याख्यान निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार किया है—

"अन्धेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया। नास्मै कामान् दुग्धे वाग्दोह्यान् देव-मनुष्यस्थानेषु। यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामिति। अफलास्मा अपुष्पा वाग्भवतीति। निरुक्त १।२०॥

अर्थात्—वेदवाणी को न जानकर जो वाक्प्रतिरूपक वाणी से व्यवहार करता है, उसे वेदवाक् वेदवाणी से प्राप्त होनेवाले देव और मनुष्यसम्बन्धी फलों को प्राप्त नहीं कराती। वेद-वाक् के फल यास्क ने यज्ञ दैवत और अध्यात्मज्ञान बताया है (निरुक्त १।२०)। ऋग्वेद का मन्त्र भी यही कहता है कि जो वेद को पढ़ा हुआ तो है, परन्तु सर्वव्यापक ब्रह्म को नहीं जानता, तो उसका वेद पढ़ना निष्फल है—

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ऋ० १।१६४।३९॥

शतपथ-ब्राह्मण १४।७।२।२३ में भी कहा है—'नानुध्यायान् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्'। इसका भाव सायण ने इस प्रकार प्रकट किया है—यदप्यसौ काव्यनाटकं शृणोति तथापि निरर्थकमेव तच्छ्रवणम्, तेन सुकृत्मार्गज्ञानाभावात्।[1] अर्थात् काव्य नाटक आदि का पढ़ना निरर्थक है, क्योंकि उससे सुकृत् मार्ग का ज्ञान नहीं होता।

आधिदैविक पक्ष में—गौ सूर्य, सूर्य की रश्मियां, पृथिवी (=स्वयं अप्रकाशित लोक) आदि अनेक पदार्थों के नाम हैं। याज्ञिक ग्रन्थों में सर्वत्र वशा (=बन्ध्या) गौ के आलभन का निर्देश है। यह एक रहस्यमय संकेत है। बन्ध्या गौ सन्तान और दूध आदि नहीं देती। वह अनुप-योगी-सी होती है। अतः आधिदैविक पक्ष में भी स्वर्भानु असुर (=प्रकाशावरोधक मल) से युक्त आदित्य (द्र०—पृष्ठ १३८) वशा गौ है। सर्गारम्भ में उसका आलभन करके दैवी शक्तियों ने सूर्य को प्रकाशमान किया था। सूर्य की किरणें भी जब वर्षाकाल में मेघ से आच्छादित होती हैं, तब वे वशा गौ होती हैं। अन्तरिक्षस्थ देवगण बन्ध्यात्व दोष के निमित्त मेघों का छेदन करके उन्हें पृथिवी तक पहुंचा कर ओषधि वनस्पतियों के उगाने और पकानेरूप कर्मयोग्य बनाते हैं। ऊषर भूमि वशा गौ है। उसमें धान्यादि उत्पन्न नहीं होते। कृषक जन खाद आदि देकर ऊषररूप वन्ध्यात्व कारण का निवारण करते हैं। इस प्रकार यज्ञ में जहां वशा गौ (=पशु) के आलभन

---

१. सायणीय ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका, वेदभाष्य-भूमिका-संग्रह पृष्ठ ३९, काशी, संवत् १९९१।

का निर्देश है, वहां चिकित्सा द्वारा गौवों के वशात्व धर्म की निवृत्ति प्रयोजन होना चाहिये, जो कि सम्प्रति लुप्त है।

वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का विधान इसीलिये किया गया है कि मनुष्य ने ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम में जो कुछ पढ़ा है, कर्म किया है, अनुभव किया है, उसका निदिध्यासनपूर्वक साक्षात्कार करे। आत्मसाक्षात्कार मनुष्यजीवन का अन्त्य सोपान है, जिस पर चढ़कर मानव जीवन कृतकृत्य हो जाता है। यही पुरुषमेध यज्ञ का लक्ष्य है। और इसीलिये पुरुषाध्याय का विनियोग आचार्य शौनक ने मोक्ष में कहा है (द्र०—पृष्ठ १४५–१४६ उव्वट-भाष्य)।

पुरुषमेध में अजों (=बकरों) का भी आलभन होता है, उसके विषय में आगे अजमेध में निरूपण करेंगे।

शतपथकार और पुरुषमेध—शतपथकार ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य ने पुरुषमेध प्रकरण के आरम्भ (श० १३।६।१–११) में पुरुषमेध के आधिदैविक और आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण किया है, तत्पश्चात् याज्ञिक-प्रक्रिया का। तदनुसार पुरुषमेध यज्ञ का आधिदैविक जगत् और अध्यात्म के व्याख्यान में तात्पर्य है, यह स्पष्ट जाना जाता है। पुरुषमेध के पश्चात् अरण्यवास का निर्देश (शत० १३।६।२।२०) इसी का सम्पोषक है।

अधिदैवत वा सृष्टियज्ञ—अधिदैवत पक्ष में नारायण=आदित्य पुरुष है, और ये लोक ही उसका मेध हैं (शत० १३।६।१।६)। समस्त पशुयज्ञों में पशुओं को बांधने के लिये यूप होता है। पुरुषमेध में भी पुरुष-पशुओं के लिये यूप का निर्देश मिलता है। अश्वादि पशुओं को तो यूप में बांधना उचित है,जिससे वे यज्ञशाला से भाग न जावें। परन्तु पुरुष तो निर्देश के अनुसार कार्य करनेवाले होते हैं,अतः उनको यूप में अन्य पशुओं के समान रस्सी से बांधना उचित नहीं है। पुरुषमेध के आधिदैविक स्वरूप में पुरुष=नारायण आदित्य हैं, लोक-लोकान्तर मेध=अन्न हैं। सृष्टियज्ञ में आदित्यरूप यूप में रश्मिरूपी रस्सी से लोक-लोकान्तर बन्धे हुए हैं। अतः पुरुषमेध के याज्ञिक स्वरूप में यूप की आवश्यकता है, और लोकरूप पुरुष के बन्धन की भी। परन्तु यह अन्य पशुओं के समान बन्धन नहीं हैं, सांकेतिक बन्धन है। लोक में बहिन राखी के दिन भाई के हाथ में राखीरूप प्रेमसूत्र बांधकर उसे जैसे बांधती है, वैसा ही पुरुषमेध में पुरुषों का बन्धन=यूप का निर्देश करके समीप बैठानामात्र जानना चाहिये। क्योंकि अश्वमेध में कपिञ्जल आदि आरण्य पशुओं का यूपों के अन्तराल (=मध्य) में नियोजन का विधान है—**कपिञ्जलादीन् पृषतान्तांस्त्रयोदश त्रयोदश यूपान्तरेषु** का० श्रौ० २०।६।६)। इस पर महीधर ने लिखा है—'मानव श्रौत में इनके बन्धन का उपाय इस प्रकार कहा है—'नाडी में प्लुषि-मशकादि को, करण्ड=पिटारे में सर्पों को,कटहरे में मृग-व्याघ्रादि को, जलयुक्त घड़ों में मत्स्यादि को, जाल में पक्षिओं को, कारागार में हाथियों को, और नौका में उदकोत्पन्नों को रखे।' (महीधर-भाष्य यजुः २४।२०)।

अश्वमेध का अश्व और उसका आलभन

पुरुषमेध के पश्चात् अश्वमेध नामक क्रतु है। इसमें याज्ञिक सम्प्रदाय याज्ञिक प्रक्रियानुसार यज्ञीय अश्व को मारकर उसके अङ्गों से आहुति देने का विधान मानता है। अतः अश्वमेध क्या है, और उसका अश्व क्या है? इस पर विचार करना आवश्यक है। प्रथम हम अश्वमेध यज्ञ के कतिपय मुख्य अंशों का निर्देश करते हैं—

अश्वमेध लगभग एक संवत्सरसाध्य कर्म है। इस कर्म का अधिकारी अभिषिक्त सार्वभौम राजा होता है। फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी अथवा नवमी को इसको आरम्भ किया जाता है (कात्या० श्रौत २०।१।२)। अश्वमेध के लिये जिस अश्व का चुनाव किया जाता है, उसका पूर्व अर्ध भाग काला, पश्चात् अर्ध भाग श्वेत, और ललाट पर शकटाकार श्वेत चिह्न होना चाहिये (द्र०—शत० ब्रा० १३।४।२।४)। अश्वमेध के अश्व की १२ द्वादश अथवा १३ त्रयोदश अरत्नि (=२२ अङ्गुल की एक अरत्नि-प्रमाण) लम्बी रशना होती है, उसे घृत से चुपड़ा जाता है। राजा की आभरणादि से अलङ्कृत चार पत्नियां महिषी, वल्लभा, अवल्लभा, दूतपुत्री अपनी-अपनी सौ-सौ(=४००)दासियों के साथ यजमान के समीप आती हैं। वल्लभा के ऊरु के मध्य शिर रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ राजा रात में शयन करता है (का० श्रौ० २०।१।१२, १७)। अश्वमेधीय अश्व को ईशान दिशा में छोड़ता है। उसके साथ शस्त्रास्त्र कवच धारण किये १०० राजपुत्र, १०० क्षत्रियपुत्र, १०० सूतपुत्र (=सारथिपुत्र), १०० क्षता=४०० (का० श्रौ० २०।२।१०–११)। अश्व को वडवा, स्नानार्ह उदक से बचाने का आदेश दिया जाता है (का० श्रौ० २०।२।१२–१३)। एक संवत्सर पर्यन्त अश्व को भ्रमण करके लौटाया जाता है। मार्ग में शस्त्रास्त्रधारी क्षत्रिय रक्षा करते हैं। इस काल में यदि कोई राजा अपने राज्य में भ्रमण करते हुए अश्व को रोकता है, तो उससे युद्ध करके उसे अपना अनुयायी बनाया जाता है। इस प्रकार अश्वमेध का अश्व जिस-जिस राज्य में भ्रमण करता है, उसके राजा लोग अश्वमेध में भेंट लेकर उपस्थित होते हैं। संवत्सर-पर्यन्त भ्रमण करके अश्व के लौटने पर अश्वमेध का अन्य कर्म होता है। अश्वमेध के अश्व के पूरे शरीर को रस्सी से लपेटा जाता है। रस्सी के तत्तत्स्थानीय छोरों=किनारों से भिन्न-भिन्न देवतावाले अज अवि आदि पशुओं को बांधा जाता है (द्र०—का० श्रौ० भूमिका, पृष्ठ ६६, विद्याधर टीका)। अश्वमेध में ३२७ ग्राम्य पशु और २६० आरण्य पशु, २२ एकादशिनी पशु=६०९ पशु (उव्वट महीधर यजुः २४।४०. भाष्य) होते हैं। आरण्य पशुओं का उत्सर्ग होता है (का० श्रौ० २०।६। ९)। शेष ग्राम्य पशुओं का आलम्भन किया जाता है।

अश्वमेध पर विशेष विचार—अब अश्वमेध यज्ञ के सम्बन्ध में विशेष विचार किया जाता है। अश्वमेध कर्म का जो प्रमुख अंश ऊपर दर्शाया है, उससे स्पष्ट है कि यह अश्वमेध आधिदैविक जगत् के किसी यज्ञ का प्रतिरूपक है। अब हम इसको स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं—

सार्वभौम राजा—लौकिक अश्वमेध में सार्वभौम राजा पृथक् है, अश्व पृथक् है। परन्तु

अश्व राजा के तेज का प्रतीक होने से दोनों परस्पर संबद्ध हैं । आधिदैविक अश्वमेध में सूर्य ही सार्वभौम राजा है, और वही अश्व है । अश्वमेध-सम्बन्धी (ऋ० १।१६२–१६३-१६४ सूक्तों में कहीं-कहीं अश्व तथा तत्पर्यायवाची शब्द से सत्साहचर्य अथवा तत्प्रसूत होने से सूर्यरश्मियों का भी निर्देश है ।

अश्व—अश्वमेध के अश्व के जो लक्षण दिये गये हैं, वे आधिदैविक जगत् के सूर्य के ही हैं। सूर्योदय से डेढ़ घण्टा पूर्व रात्रि का तम होता है । पूर्व दिशा में शकटाकार खड़ी आकाश में व्याप्त उषा की किरणें दिखाई देती हैं । यह अश्व के पूर्व कृष्णभाग में ललाट पर श्वेत चिह्न है । उषा काल के पश्चात् सूर्योदय होने पर प्रकाश होता है । यह अश्व का पश्चात् अर्धश्वेत भाग है । आगे आगे उषाकाल युक्त रात्रि होती है, उसके पीछे-पीछे सूर्य का प्रकाश चलता है ।

अश्व की रशना—अश्व की रशना का परिमाण १२ या १३ अरत्नि कहा है । अरत्नि नापविशेष का नाम है । सूर्य की एक परिक्रमा में १२ मास होते हैं, और तृतीय वर्ष मलमास अथवा अधिक मास के होने से १३ मास होते हैं ।[1] इसी १२ वा १३ मास लम्बी रशना से बन्धा हुआ सूर्य होता है । अश्व की रशना को घृत से चिकना किया जाता है । घृतदीपक=तेजस्वी पदार्थ का उपलक्षक है (=घृ क्षरणदीप्त्योः) । सूर्य की यह रशना प्रकाश से दीप्त तेजस्वी होती है ।

राजा की चार पत्नियां—राजा की चार पत्नियां हैं—पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण चार दिशाएं । पूर्व दिशा महिषी पटरानी है । इसी के साथ सूर्य का अभिषेक प्रसव होता है । पश्चिम दिशा वल्लभा है । सूर्य इसी दिशा में डूबता है=विश्राम करता है । इसी का रूपक कहा है-राजा वल्लभा के ऊरुओं के मध्य शिर रखकर सोवे । उस काल में ब्रह्मचर्य का विधान किया है । इस का कारण स्पष्ट है । हमारी दृष्टि में सूर्य वल्लभा पश्चिम दिशा में अस्त हो रहा है, परन्तु उस भाग की प्रजाओं की दृष्टि से सूर्य उदय हो रहा है । इस प्रकार हमारी पश्चिम दिशा तद्देशस्थ मनुष्यों की पूर्व दिशा हो रही है, अर्थात् वल्लभा पश्चिम दिशा में सूर्य के अस्त होने पर भी उसके साथ सम्बन्ध नहीं कर रहा है । इसी प्रकार अवल्लभा और दूतपुत्री पत्नियां उत्तर दक्षिण दिशाएं हैं, जिनके साथ सूर्य का उत्तरायण और दक्षिणायन में ही संयोग होता है, सर्वदा नहीं होता ।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि एक पत्नीव्रतपरायण दाशरथि राम आदि राजाओं ने भी पुरुषमेध किया था । ऐसी अवस्था में याज्ञिक प्रक्रिया, जिसमें राजा की न्यूनतम चार पत्नियों के कर्मों का विधान है, कैसे सम्पन्न किया गया होगा ? हमारे मत में आधिदैविक अश्वमेध

---

१. ऋग्वेद १।२५।८ में बारह मास के साथ कदाचित् (=तृतीय वर्ष में) उपजायमान तेरहवें अधिक मास का निर्देश मिलता है—**वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः । वेदा य उपजायते॥** सौर और चान्द्र वर्ष में प्रति वर्ष होनेवाले लगभग १० दिन के अन्तर को दूर करने के लिये प्रति तीसरे वर्ष चान्द्र वर्ष में अधिक मास की गणना की जाती है ।

के सम्पूर्ण कर्म का यज्ञीय अश्वमेध में वहीं तक अनुकरण करना उचित है, जहां तक वह सम्भव हो ।

अश्व का एक वर्ष परिभ्रमण—यह भी सूर्य की वार्षिक गति का ही उपलक्षक है ।

कवची रक्षक—अश्व की रक्षा के लिये, बाधा को दूर करनेवाले ४०० शस्त्रास्त्रसम्पन्न कवची राजपुत्रादि को भेजने का विधान भी सूर्य की किरणों का निदर्शक है । ऋग्वेद ६।४७।१८ में सूर्य की सहस्रविध किरणों का उल्लेख है—**युक्ता ह्यस्य हरयश्शतादश** । इन १०००विध रश्मियों के तीन भेद वायु पुराण ५३।१९–२३; ब्रह्माण्ड पूर्वभाग २४।२६–३० तथा मत्स्य पुराण १२८।१८–२२ में दर्शाये हैं (द्र०—वेदविद्या निदर्शन, पृष्ठ २१३) । इनमें चित्रमूर्त्तिनामा ४०० रश्मियां वर्षा कराती हैं । वर्षाकाल में मेघों की रुकावट के कारण सूर्य की किरणों वा प्रकाश का पृथिवीपर्यन्त प्रसार नहीं होता । अश्व के विचरण से शत्रुरूपी रुकावट को दूर करने के लिये ४०० शस्त्रास्त्रधारी कवची सैनिक साथ रहते हैं । सृष्टियज्ञ में सूर्य के अबाध प्रसारण में मेघ बाधक होते हैं, उनको नष्ट करके वर्षा करानेवाली ४०० चित्रमूर्त्ति नामक रश्मियां[1] होती हैं । ऋ० १।३५।६—**आणि न रथ्यममृताधितस्थुः** में सृष्टिसर्जना रश्मियों को अमृता कहा है ।

अश्व के सर्वावयवों को रस्सी से बांधना—अश्वमेध में अश्व के पूरे शरीर को रस्सी से बांधते हैं । और तत्तत् स्थानीय रस्सी के छोरों से कुछ अन्य पशु बांधे जाते हैं । यह कर्म भी सृष्टि-यज्ञ को ही संकेत करता है । सूर्यमण्डल से सब ओर सूर्यरश्मियां प्रसृत होती हैं । इनसे सूर्य-मण्डल पूर्णरूप से बंधा है, अर्थात् आच्छादित है । इन्हीं सूर्यरश्मियों के दूसरे छोर के साथ सौर-मण्डल के पृथिवी आदि ग्रहोपग्रह बंधे हुए हैं ।

विजित राजाओं से भेंट ग्रहण करना—यह भी सृष्टियज्ञ की घटना का ही स्मारक है । सूर्य का जिस-जिस क्षेत्र के साथ संयोग होता है, उस-उस प्रदेश से वह अपने तेज के द्वारा रसों=जलों को ग्रहण करता है ।

इस प्रकार हमने स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्ययज्ञरूप अश्वमेध का सम्बन्ध सृष्टियज्ञ के अश्वमेध के साथ है । इसके साथ ही लौकिक अश्वमेध का एक **राष्ट्रिय रूप** भी है । उसकी व्याख्या शतपथ तथा तैत्तिरीय-ब्राह्मण में में विस्तार से की है ।

लौकिक अश्वमेध में ग्राम्य पशुओं की हिंसा का जो विधान है, उसके विषय में हम कुछ पूर्व लिख चुके हैं, और कुछ पांचों मेधों के पश्चात् लिखेंगे ।

ऋग्वेदीय अश्व सूक्त—ऋग्वेद के मं० १ के सूक्त १६२–१६३–१६४ अश्वमेध में विनियुक्त हैं । हम इन सूक्तों के विषय पर संकेतरूप में संक्षेप से लिखते हैं—

---

१. तस्य रश्मिसहस्रं तु वर्षशीतोष्णनिस्रवम् । तासां चतुःशता नाड्यो वर्षन्ते चित्र-मूर्तयः । द्र०—वायुपुराण ५३।१९; मत्स्य पुराण १२८।२८; ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वभाग २४।२६॥

सूक्त १६३ के प्रथम मन्त्र में अश्व की उत्पत्ति समुद्र और पुरीष से कही है। दूसरे मन्त्र में इस अश्व को यम से दिया हुआ त्रित से युक्त किया हुआ कहकर इन्द्र इस पर प्रथम सवार हुआ, गन्धर्व ने इस की लगाम पकड़ी, वसवों ने सूर से अश्व को छीलकर वनाया, ऐसा निर्देश है। चौथे मन्त्र में इस अश्व के द्युलोक अपों और समुद्र में तीन-तीन वन्धन कहे हैं। छठे मन्त्र में पतङ्ग (=गतिशील अश्व) को द्युलोक में गति करते हुए कहा है। दसवें **ईर्मान्तासः** मन्त्र की व्याख्या निरुक्तकार ने सूर्यरश्मिपरक की है (द्र०—निरुक्त ४।१३)। ११वें मन्त्र में अश्व के जर्भुराण देदीप्यमान शृङ्गों का अरण्य में विचरण कहा है। लौकिक अश्व के शृङ्ग ही नहीं होते, फिर उनके देदीप्यमान शृङ्गों का अरण्य में विचरण कैसे उपपन्न हो सकता है?

इन संकेतों से स्पष्ट है कि अश्वमेघ के १६३ वें सूक्त में उक्त **अश्व सूर्य** ही है।

सूक्त १६४ का आरम्भ **अस्य वामस्य पलितस्य** से होता है। आदि में **अस्य** सर्वनाम पद है। सर्वनाम पूर्वनिर्दिष्ट के स्मारक अथवा अभिधायक होते हैं। इस दृष्टि से पूर्व सूक्त १६२-१६३ में जिस अश्व का वर्णन है, उसी का **अस्य** से स्मरण कराकर उसके विषय में विशेप वर्णन किया है। इस **अस्यवामीय** सूक्त (१।१६४) में सूर्य और उसकी रश्मियों का ही वर्णन है। और यह वर्णन इतना स्पष्ट है कि इस प्रकरण में सूर्य और उसकी रश्मियों के और किसी का वर्णन माना ही नहीं जा सकता है। निरुक्तकार यास्क ने इस सूक्त के अनेक मन्त्रों की निरुक्त में सूर्यपरक ही व्याख्या की है।

अब केवल १६२ वें सूक्त की समस्या शेष रहती है। यद्यपि इस सूक्त में अनेक ऐसे मन्त्र और पदसमूह हैं, जो आपाततः अश्वमेघ यज्ञ सम्वन्धी ही प्रतीत होते हैं। परन्तु दोनों सूक्तों के प्रकाश में उनका भी आधिदैविक अर्थ करना चाहिये। वृहदारण्यक उपनिषद् के आरम्भ में ऋ० १।१६२ सूक्त में निर्दिष्ट अश्वाङ्गों की आधिदैविक व्याख्या द्रष्टव्य है। इस विषय में डा० देवप्रकाश पातञ्जल का 'ए क्रिटिकल स्टेडी आफ ऋग्वेद' (१।१३७—१६३) ग्रन्थ भी देखना चाहिये।

गोमेध की गौ और उसका आलभन

जैसे याज्ञिक ग्रन्थों में साक्षात् पुरुषमेघ और अश्वमेघ नामों का निर्देश मिलता है, तद्वत् गोमेघ नामक कर्म का सम्पूर्ण याज्ञिक वाङ्मय में साक्षात् निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। एक गवामयन नाम का संवत्सरसाध्य सत्र विहित है। इसमें गो-पशु के आलभन का विधान नहीं है। ऐतरेय-ब्राह्मण ४।१७ में गवामयन सत्र का विधान है। इसके आरम्भ में ही कहा है—

"गवामयनेन यन्ति। गावो वा आदित्याः। आदित्यानामेव तदयनेन यन्ति। गावो वै सत्रमासत।"

इस सत्र की गौवें आदित्य हैं। आदित्य के एक होते हुए भी काल और कर्मभेद से १२

भेद माने जाते हैं। अयन नाम गति का है। आदित्यों की गति गवामयन है। आदित्य की दक्षिणायन और उत्तरायण गति लोकप्रसिद्ध हैं। इसी ६–६ मास की गति का अनुकरण गवामयन सत्र है। इस प्रकार गवामयन सत्र मूलतः आधिदैविक ही है।

इसके अतिरिक्त कुछ कर्मों के अङ्गरूप में अथवा काम्य कर्म के रूप में गौ का आलभन मिलता है। यथा पुरुषमेघ के अङ्गरूप में अनूबन्ध्या याग। महाभाष्य (१।१।आ० १) में उद्धृत स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेत कर्म काम्य है। हम पूर्व (पृष्ठ १४७) पुरुषमेघ के प्रकरण में लिख चुके हैं कि जहां भी गौ के आलभन का उल्लेख मिलता है, वहां अनूबन्ध्या और वशा शब्द से निर्देश किया है। इन दोनों शब्दों का अर्थ है—बन्ध्या गौ। महाभाष्योद्धृत पाठ में अनड्वाही का कथन है। अनड्वान् (=गाड़ी को वहन करनेवाला) बैल होता है। स्त्रीलिङ्ग अनड्वाही शब्द से वह गौ कहाती है, जिसे गाड़ी में जोता जाता है। गौ को गाड़ी में जोतने का धर्मशास्त्र में सामान्य निषेध किया है, परन्तु वन्ध्या गौ को गाड़ी में जोतने का अपवादरूप विधान स्वीकार किया है। अतः अनड्वाही का अर्थ भी वन्ध्या गौ ही है।

इस वशा गौ और उसके आलभन के विषय में हम पूर्व (पृष्ठ १४७) लिख चुके हैं।

यहां यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि पाराशर स्मृति के नाम से एक श्लोक प्रसिद्ध है—

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥[1]

इसके अनुसार कलियुग में अश्वमेघ और गोमेध में अश्व और गौ की हिंसा का निषेध किया है।

आयुर्वेदीय चरकसंहिता चिकित्सा-स्थान १९।४ में अतिसार रोग की उत्पत्ति के विषय में लिखा है—

"आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामभावात् गवालम्भः प्रवर्तितः···अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।"

अर्थात्—आदिकाल (=कृतयुग) में निश्चय से यज्ञों में पशुओं का समालभन (=स्पर्श) किया जाता था। वे आलम्भन (=हिंसन) के लिये प्रकृत नहीं किये जाते थे। तत्पश्चात् दक्षयज्ञ के अनन्तर (त्रेता के प्रारम्भ में) मनु के नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु और शर्याति आदि पुत्रों के यज्ञों में '[वेद में] पशुओं [के आलम्भन] की ही अनुज्ञा है', ऐसा समझकर पशु प्रोक्षण अर्थात् आलम्भन को प्राप्त हुए। और इसके अनन्तर दीर्घकालीन यज्ञ करते हुए पृषध्र ने पशुओं

१. यह वचन हमें पराशर स्मृति के लघु और बृहत् दोनों पाठों में कहीं नहीं मिला।

के अभाव के कारण गौ का आलम्भन (=हिंसन) प्रवृत्त किया…। उससे अतिसार पूर्व उत्पन्न हुआ पृषध्र के यज्ञ में।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि आदिकाल में यज्ञ में किसी भी पशु की हिंसा नहीं होती थी। गवालम्भन तो अन्य पशुओं के आलम्भन के अनन्तर सब से अन्त में प्रवृत्त हुआ।

अविमेध की अवि और उसका आलभन

अविमेध नाम का भी कोई स्वतन्त्र कर्म याज्ञिक सम्प्रदाय में निर्दिष्ट नहीं है। हां, किन्हीं कर्मों में अवि के आलभन का विधान मिलता है। हम पूर्व (पृष्ठ १४१-१४२) वशा अवि का आलभन प्रकरण में अवि क्या है, उसका वशापन (=वन्ध्यात्व) क्या है, उसका देवों ने कैसे आलभन किया? यह दर्शा चुके हैं। अतः कर्मकाण्डीय ग्रन्थों में जहां भी अवि के आलभन का विधान है, उस सब का मूल पूर्व-निर्दशित आधिदैविक अवि ही है।

अविमेध के सम्बन्ध में एक प्रसंग ध्यान देने योग्य है—चातुर्मास्य अन्तर्गत वरुण-प्रघास संज्ञक द्वितीय पर्व में निस्तुष जौ के आटे से **मेष और मेषी** के निर्माण का आदेश है (शत० ब्रा० ५।५।२।१५–१६)। उसकी शरीराकृति पर एडक पशु भिन्न पशु के लोम चिपकाये जाते हैं (का० श्रौ० ५।३।७)। यज्ञकाल में मारुती पयस्या में मेषाकृति को और वारुणी पयस्या में मेषी की आकृति को रखते हैं (का० श्रौ० ५।५।२–३)। और पयस्या की आहुति के समय पयस्या के साथ मेष और मेषी की आकृति का भी होम करते हैं (का० श्रौ० ५।५।१६–१९)। समस्त वैष्णव सम्प्रदाय तत्तत् पशुयागों में साक्षात् पश्ववयवों की आहुति के स्थान पर जौ के आटे की उस-उस पशु की आकृति बनाकर उसके अवयवों से पशुयाग करते हैं। इसे **पिष्ट पशु** कहा जाता है। सम्भव है इसका मूल वरुण-प्रघासस्थ पिष्टमय मेष-मेषी का होम हो।

अजमेध का अज और उसका आलभन

अजमेध नाम का भी कोई स्वतन्त्र कर्म नहीं है। याज्ञिक कर्मकाण्ड में अधिकतर पशुयागों में अज का आलम्भन होता है। अतः **अज** शब्द पर विचार करना आवश्यक है।

वेद की शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार समस्त पशुयागों की प्रकृति सोमयागस्थ अग्निषोमीय अज-पशु का याग है। श्रौतसूत्रों के प्रवक्ताओं ने शाखा और ब्राह्मण में अग्निषोमीय पशुयाग में विहित समस्त धर्मों का **निरूढ पशुबन्ध** में निर्देश किया है। अतः श्रौतसूत्रों के अनुसार निरूढ पशुबन्ध पशुयागों की प्रकृति है। प्रकृतिभूत अग्निषोमीय पशुयाग की प्रकृति दर्शेष्टिस्थ सान्नाय्य (=दधि-पयः)याग है, और उसमें भी पयोयाग प्रकृति है (द्र०—का० श्रौत ४।३।१४–१६)।

अज शब्दार्थ—अज शब्द के व्युत्पत्तिभेद से दो अर्थ सम्भव हैं। एक—**अजति सातत्येन गच्छति इत्यजः**=संतत गतिमान् पदार्थ। दूसरा—**न जायत इत्यजः**=जो उत्पन्न नहीं होता

नित्य वर्तमान है। यथा--आत्मा परमात्मा और प्रकृति। इनके लिये 'अज' शब्द का प्रयोग वैदिक वाङ्मय में बहुधा मिलता है। दोनों ही अर्थवाले अज शब्द का स्वर वैदिक वाङ्मय में समानरूप से अन्तोदात्त ही उपलब्ध होता है।

पशुयागों के विधायक वचनों में बहुधा पुराकल्पसंज्ञक अर्थवाद-वचनों का निर्देश मिलता है (द्र० - पूर्व पृष्ठ १२५)। पुराकल्प अर्थवादों में जगत् के सर्ग का निर्देश होता है। अतः सम्पूर्ण पशुयाग के पशु भी प्राकृतिक तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं। इस दृष्टि से सम्पूर्ण पशुयागों की प्रकृति अग्नीषोमीय याग का पशु अज सूर्य के चारों ओर सतत भ्रमण करनेहारा पृथिवीलोक है। जैसे अवि पृथिवी की पिलपिली अदृढ अवस्था का वाचक है (द्र०—पृष्ठ ६६), वैसे ही अग्नीषोमीय अज भी अग्नीषोम गुणवाली प्रारम्भिक अकृष्टपच्या पृथिवी का वाचक है। वर्तमान में कृषियोग्य अनूसर भूमि भी न्यूनाधिक रूप में अग्नीषोमीय अज है। मूलतः अज पशु अग्निप्रधान है। उसका दुग्धादि भी अग्नितत्त्व-प्रधान है। उसी के अनुसार 'अज' नाम ऊषर भूमि का है। गोमय आदि सोमप्रधान द्रव्यों के योग से ऊसर भूमि को अग्नीषोमीय धर्मवाली कृषि-योग्य बनाना अग्नीषोमीय पशु का आलभन है। वसन्त ऋतु, जिसमें अग्नीषोमीय पशुयाग का विधान है, स्वयं अग्नीषोम उभयप्रधान है। उस काल में पतझड़ से वीरान हुई ओषधि-वनस्पतियों में पुनः नये पल्लव आते हैं।

महाभारत, वायु-मत्स्य पुराण, पञ्चतन्त्र और स्याद्वादमञ्जरी के वचनों (इनके वचन आगे उद्धृत करेंगे) से यह प्रतीत होता है कि 'अज' नाम प्रजनशक्तिरहित तीन से सात वर्ष पुराने अन्नों का है, और इन्हीं 'अज' संज्ञक अन्नों से यज्ञ करने का वेद में विधान है।

पशुयज्ञ-सम्बन्धी एक अर्थवाद पर विचार

ऐतरेय-ब्राह्मण २।८, ६ में पशुयज्ञ-सम्बन्धी एक लम्बा-अर्थवाद पठित है। जो इस प्रकार है—

"पुरुषं ह वै देवाः पशुमालभन्त। तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत्। सोऽश्वं प्राविशत्। तस्मादश्वो मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स किंपुरुषोऽभवत्। तेऽश्वमालभन्त। सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत्। स गां प्राविशत्। तस्माद् गौ मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स गौरमृगोऽभवत्। ते गामालभन्त। स गोरालब्धादुदक्रामत्। सोऽविं प्राविशत्। तेनाविर्मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स गवयोऽभवत्। तेऽविमालभन्त। सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्। सोऽजं प्राविशत्। तस्मादजो मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स उष्ट्रोऽभवत्। सोऽजे ज्योक्तमामिवारमत। तस्मादेष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः। तेऽजमालभन्त। सोऽजादालब्धादुदक्रामत्। स इमां प्राविशत्। तस्मादियं मेध्याऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स शरभोऽभवत्। त उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवः। तस्मादेतेषां नाश्नीयात्। तमस्यामन्वगच्छन्त सोऽनुगतो व्रीहिरभवत्। तद्यत् पशौ पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति समेधेन नः पशुनेष्टमसत्...॥८॥ स वा एष पशुरेवालभ्यते यत्पुरोडाशः॥"

अर्थात्—"देवों ने पुरुष पशु का आलभन किया। उस आलब्ध पुरुष से मेध निकल गया। वह मेध अश्व में प्रविष्ट हुआ। उससे अश्व मेध्य हुआ। उस उत्क्रान्तमेध पुरुष को देवों ने वर्जित कर दिया। वह किंपुरुष=किन्नर हो गया। देवों ने अश्व का आलभन किया, उस आलब्ध अश्व से मेध निकल गया। वह मेध गौ में प्रविष्ट हुआ। वह गौ मेध्य हुई। उस उत्क्रान्तमेध गौ को देवों ने वर्जित कर दिया। वह गौरमृग हुआ। देवों ने गौ का आलभन किया, वह मेध गौ से निकल गया। वह मेध अवि (=भेड़) में प्रविष्ट हुआ। उससे अवि मेध्य हुई। उस उत्क्रान्तमेध गौ को देवों ने वर्जित किया। वह गवय (=नील गौ) हुआ। देवों ने अवि का आलभन किया। उससे मेध निकल गया। वह मेध अज (=बकरे) में प्रविष्ट हुआ। उससे अज मेध्य हुआ। उस उत्क्रान्तमेध अवि को देवों ने छोड़ दिया, वह उष्ट्र हुआ। वह मेध अज में चिरकाल तक रहा। इसलिये यह अज पशुओं में प्रयुक्ततम (=अधिक प्रयुक्त) है। देवों ने अज का आलभन किया। उस आलब्ध अज से मेध निकल गया। वह मेध इस पृथिवी में प्रविष्ट हुआ। उससे यह पृथिवी मेध्य हुई। उस उत्क्रान्तमेध अज को देवों ने वर्जित कर दिया। वह शरभ (=पशुविशेष) हो गया। इसलिये ये उत्क्रान्तमेधवाले पशु हैं, इनको न खावे।

देवों ने उस मेध को इस पृथिवी में प्रविष्ट जाना। वह मेध देवों से अनुगत (=चारों ओर से घिरा) होने से उत्क्रमण में अशक्त होकर व्रीहि (=तण्डुल=धान) हो गया। जो पशुयाग में पुरोडाश का अनुनिर्वाप करते हैं (=पुरोडाश याग करते हैं) उससे समेध (=मेध युक्त) पशु से इष्ट यज्ञ होता है।

वह यह पशु का ही आलभन होता है, जो यह पुरोडाश है। ......सब पशुओं के मेध से यजन करता है, जो पुरोडाश से यजन करता है।"

इस सारे पुराकल्प अर्थवाद का प्रयोजन याज्ञिकों के मत में पशुयाग के पश्चात् क्रियमाण पशु-पुरोडाश की प्रशंसा करना है। परन्तु इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि **पुरुष अश्व गौ अवि और अज मेध्य=मेध=यज्ञ के योग्य नहीं हैं, पुरोडाश ही यज्ञीय है।**

पशुयागों में पशु-पुरोडाश का विधान

प्रत्येक पशुयाग में पश्वाहुति के पश्चात् **यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः** नियम से पशु-देवता के लिये ही पुरोडाश का विधान भी किया है। याज्ञिक जन इस पशु-पुरोडाश को छिद्र-अपिधान (=काटे गये अङ्गों के छिद्र को ढकने=पूर्ण करने) के लिये मानते हैं। उनका कहना है कि जब यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग में जीवित होता है, तब उस पशु के शरीर से जो निकाले गये अङ्गों के छिद्र हैं, उनकी पूर्ति इस पशु-पुरोडाश से होती है। वस्तुतः यह कल्पनामात्र है। क्योंकि यदि यज्ञ में हुत पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो क्या उसी के प्रभाव से वह सर्वाङ्गपूर्ण न हो जायेगा? तथा इसमें यह भी विचारणीय है कि यज्ञ-हुत पशु को स्वर्ग में भी यदि पशु-योनि

ही प्राप्त होती हैं, तो वह तो उसे यहां भी प्राप्त ही है, फिर विशेषता क्या हुई ? साथ ही यह भी चिन्त्य है कि क्या स्वर्ग में पशु भी होते हैं ?

पश्वालम्भन के अभाव में यज्ञ-पूर्ति

पूर्व (पृष्ठ १५३) पर चरक का जो प्रमाण दिया है, और आगे महाभारत आदि के जो प्रमाण उपस्थित करेंगे, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि आदिकाल में यज्ञों में पशुओं का आलम्भन (=वध) नहीं होता था, आलभन=स्पर्श होता था। उस-उस देवता का निर्देश करके पशु का स्पर्श वा निर्देश करने के पश्चात् यज्ञीय पशुओं का उत्सर्जन हो जाता था। हमने वेद की शाखा और ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार स्पष्ट कर दिया है कि यज्ञीय पशु भी सृष्टियज्ञ के अग्नि वायु सूर्य पृथिवी आदि विशिष्ट पदार्थ ही हैं। उनका सृष्टियज्ञ में आलम्भन=वध=नाश नहीं हुआ, अपितु भौतिक देवों के स्पर्श=सहयोग से इनमें गुणाधान (=नये गुणों का स्थापन) हुआ। अतः सृष्टि-यज्ञ के अनुकृतिरूप पशुयागों में भला लौकिक पशुओं का आलम्भन कैसे हो सकता है ?

वस्तुतः जैसे पुरुषमेध में पुरुष-पशु का और अश्वमेध में आरण्य पशुओं का तत्तद्देवता का निर्देशपूर्वक उत्सर्जन होता है, वैसे ही आदिकाल में अन्य पशुओं का भी उत्सर्ग ही होता था। किसी भी आरम्भ किये गये कार्य को मध्य में छोड़ना अनुचित होता है। इसलिये पशुयाग के पशुओं के उत्सर्ग के पश्चात् यज्ञकर्म को पूरा करने के लिये ही यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः से पुरोडाश का विधान है। इसे उसी प्रकार समझना चाहिये, जैसे पुरुषमेध में पुरुषों के उत्सर्जन के पश्चात् तत्तत्पुरुषदेवता के लिये घृताहुतियां दी जाती हैं[1]। इस प्रक्रिया में पुरोडाश की छिद्रपिधानता भी सम्यक् उपपन्न होती है। यज्ञकर्म में जो व्यवधान=छिद्र=असमाप्ति दोष उत्पन्न हो गया था, उसका पिधान=पूर्ति पुरोडाश से होती है।

जब उत्तरकाल में यज्ञ में पशुओं का आलभन आरम्भ हो गया, तब भी पौर्वकालिक (=उस काल का जब पश्वङ्गों से आहुतियां नहीं दी जाती थीं) पुरोडाश-विधान भी जुड़ा रह गया।

हमने ऊपर ऐतरेय-ब्राह्मण का जो लम्बा अर्थवादवचन लिखा है, उससे भी यही ध्वनित होता है कि पुरुष अश्व आदि के अंगों से यज्ञ नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे उत्क्रान्तमेध हैं। उनका मेध पृथिवी में प्रविष्ट होकर यव के रूप में प्रकट हुआ है। इसलिये व्रीहि ही यज्ञीय मुख्य द्रव्य है। इतने पर भी यदि पुरुष अश्व आदि से यज्ञ किया जाता है, तो उत्क्रान्तमेध अर्थात् अमेध्य पदार्थ से यज्ञ करना मानना होगा। इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि देवों से पुरुष

---

१. 'स्विष्टकृद् वनस्पत्यन्तरे पुरुषदेवताभ्यो जुहोति। कात्या० श्रौत २१।१।१३।। पुरुषाणां या ब्रह्मादयो देवताः···ताभ्यः प्रत्येकं सकृद् गृहीतमाज्यं ब्रह्मणे स्वाहा क्षत्राय स्वाहा इत्येवं देवता-पदं चतुर्थ्यन्तमुच्चार्य स्वाहाकारेण जुहुयात्।' विद्याधर गौड़ की वृत्ति।

आदि के आलभन पर जब पुरुष आदि पशु उत्क्रान्तमेध हो गये, तब इनमें पुनः मेध्यत्व कैसे उत्पन्न हुआ ? यह वैदिक वाङ्मय के किसी भी ग्रन्थ में नहीं बताया है।

वस्तुतः ऐतरेय-ब्राह्मण का पूर्वोक्त अर्थवाद भी पुराकल्परूप है। और इसके पुरुष अश्व गौ अवि और अज भी सृष्टिगत विभिन्न लोक-लोकान्तर हैं। इनसे मेध=शक्ति का उत्सर्जन होता रहता है, और वह उत्सर्जन रश्मियों वा वर्षा आदि के द्वारा इस भूमि में प्रविष्ट होता रहता है। उसी से व्रीहि यव आदि ओषधि-वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं। द्रव्यमय यज्ञ के ये ही मेध्य पदार्थ हैं।

शास्त्रकारों का कथन है कि—**यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः**[1] अर्थात् जिस अन्नवाला यजमान पुरुष होता है, उसका देवता भी उसी अन्नवाला होता है। ऐसी अवस्था में निरामिषभोजी ऋषि लोगों का तथा ब्राह्मणवर्णस्थ यजमानों का देवता भी निरामिष ही होगा, तब भला उसे पश्वङ्गों की आहुति किस प्रकार दी जा सकती है ?

अभ्युपगम-सिद्धान्त से पशुयागों पर विचार

यदि अभ्युपगम-सिद्धान्त अथवा दुर्जनसंतोष न्याय से भी पशुयागों पर विचार किया जाये, तो भी यह स्वीकार करना होगा कि यज्ञों में पशुहिंसा वर्जित है। समस्त द्रव्यमय यज्ञ आधिदैविक सृष्टियज्ञ को प्रत्यक्षवत् समझने के लिये रूपक वा नाटक हैं। यह सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का सार है। इस विषय में हम आरम्भ में विस्तार से लिख चुके हैं। इसलिये सृष्टियज्ञ में किन्हीं पशुओं=द्रव्यों का आलम्भन=हिंसन होता है, और उनका वर्णन मन्त्रों में उपलब्ध भी होता है वस्तुतः सृष्टियज्ञबोधक मन्त्रों में पशुओं का आलम्भन=हिंसा का निर्देश नहीं है, तो भी जब हम सृष्टियज्ञ की परोक्ष प्रक्रिया को प्रत्यक्षरूप से समझने के लिये उसे द्रव्यमय यज्ञरूप नाटक के रूप में प्रस्तुत करते हैं, तब नाट्य सम्प्रदाय का यथावत् पालन करना आवश्यक होता है।

काव्य दो प्रकार के होते हैं—श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य। श्रव्यकाव्य यथा—रामायण महाभारत आदि; और दृश्यकाव्य यथा—विक्रमोर्वशी, अभिज्ञानशाकुन्तल आदि। श्रव्यकाव्य रामायण महाभारत आदि में राम-रावण और कौरव-पाण्डवों के युद्ध का यथावत् वर्णन किया गया हैं। उसमें घात-प्रत्याघात आदि का ऐसा सजीव वर्णन है, जिसे पढ़ते हुए सहृदय पाठक के सन्मुख युद्ध की घात-प्रत्याघातरूप घटनाएं आंखों के सामने उपस्थित हो जाती हैं। परन्तु जब इन्हीं प्रसङ्गों के आधार पर नाटकों की रचना होती है, तब उन में घात-प्रत्याघात का न तो वर्णन ही किया जाता है, नाही रंग-मञ्च पर उन्हें दिखाया जाता है। ठीक इसी नाट्य धर्म का यज्ञीय नाटकों में भी पालन आवश्यक है। यहां भी पशुओं की साक्षात् हिंसा का निदर्शन नहीं हो सकता है। पशुओं का कर्म के मध्य में ही उत्सर्जन करके अवशिष्ट नाटक की पूर्ति पुरोडाशाहुति से की जाती है।

१. द्र०—यदन्नः पुरुषस्तदन्ना स्याद्देवता। निदानसूत्र १०।९।

वैष्णव सम्प्रदाय और पशुयाग

वैष्णव सम्प्रदाय पूर्णतः निरामिषभोजी है। वह वेद को अन्य सम्प्रदायों के समान स्वतः-प्रमाण मानता है। उसके सन्मुख जब यज्ञ में पशुवध की समस्या उत्पन्न हुई, तो उसने पशुहिंसा से बचने के लिये एक मार्ग निकाला, जिसे पिष्ट-पशुयाग कहा जाता है। माध्व सम्प्रदाय के आचार्यों ने पिष्ट पशु की सिद्धि के लिये बहुत प्रयत्न किया है। माध्व सम्प्रदाय के आचार्य और पाणिनीय अष्टाध्यायी सम्प्रदाय के हमारे सुहृद् श्री पण्डितप्रवर वी० एच० पद्मनाभ राव जी (आत्मकूर-आन्ध्र) से हमने माध्व-सम्प्रदायानुसार पशु-यज्ञों के विषय में पूछा। आपने इस विषय में उपलभ्यमान सन्दर्भों को लिखकर तथा कुछ ग्रन्थान्तर में द्रष्टव्य के रूप में सूचित किया। इसके लिये मैं विद्वर श्री० पं० पद्मनाभ राव जी का अनुगृहीत हूं। मैंने आपके द्वारा प्रेषित एवं संकेतित उद्धरणों का अवलोकन किया, उनसे मुझे विशेष सन्तुष्टि नहीं हुई। पशु के स्थान में प्रतिनिधि रूप में पिष्ट-पशु का विधान भी याज्ञिक-परम्परा के अनुरूप नहीं है। प्रतिनिधि द्रव्य का ग्रहण सर्वत्र प्रधानरूप से उपदिष्ट द्रव्य के नष्ट हो जाने अथवा अप्राप्ति में उपदिष्ट है। पिष्ट-पशु-ग्रहण वादियों के लिये हम एक ऐसे वचन को उद्धृत करते हैं, जो सम्भवतः उन्हें अज्ञात-सा होगा।

चातुर्मास्य के वरुण-प्रघास कर्म में यव के पिष्ट से मेष-मेषी का विधान शतपथ-ब्राह्मण २।५।२।१६ में किया है—

"तदचन्मेषश्च मेषी च भवतः। एष वै प्रत्यक्षं वरुणस्य पशुर्यन्मेषः। तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति। यवमयौ भवतः।"

वैष्णव सम्प्रदाय-पक्ष में एक प्रमाण वह भी दिया जा सकता है, जिसे हमने पूर्व (पृष्ठ १५५) उद्धृत किया है। ऐ० ब्रा० २।८ के अनुसार पुरुष अश्व आदि से मेध उत्क्रान्त होकर पृथिवी में प्रविष्ट होकर व्रीहिरूप में प्रकट हुआ। पशुओं से मेध के उत्क्रान्त हो जाने से वे अमेध्य हो गये। अमेध्य पदार्थ मेध=यज्ञ में अप्रयोगार्ह होता है। अतः पशु साक्षात् अप्रयोगार्ह हैं। उनके स्थान पर पशु-पुरोडाश ही प्रयोगार्ह है। इस पुरोडाश को वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य पश्वाकृति देकर पिष्टपशुपक्ष का स्थापन कर सकते हैं।

इस प्रकार पशुयज्ञों के विषय में हमने ऊपर जो लिखा है, उसका संक्षेप इस प्रकार है—

१—वेद-प्रतिपादित पशु-यज्ञ सृष्टियज्ञ के भाग हैं (पृष्ठ १२०)।
२—आधिदैविक पदार्थों के लिये 'पशु' शब्द का व्यवहार (पृष्ठ १२३)।
३—'आलभते' और 'आलभेत' पदों पर विचार (पृष्ठ १३०)।
४ आलभ-आलम्भ दो स्वतन्त्र धातुएं (पृष्ठ १३१)।
५—लभ और लम्भ के भिन्न अर्थ (पृष्ठ १३३)।
६—अग्नि-पशु का आलभन और उससे यज्ञ (पृष्ठ १३५)।

यज्ञों में पशुओं की हिंसा पहले नहीं होती थी। इसका आरम्भ उत्तरकाल में हुआ, यह हम ऊपर निर्दशित कर चुके हैं। यज्ञों में पशु-हिंसा कब और क्यों हुई, इसका निदर्शन कराने के लिये इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है कि आदि मानव निरामिष-भोजी था अथवा मांसाहारी। साम्प्रतिक वैज्ञानिक कहलानेवाले मानव-शरीर-विज्ञान एवं मानव-मानस-विज्ञान की अवहेलना करके कहते हैं कि मानव आदि में जंगली पशुओं का शिकार करके उनके मांस से अपनी क्षुधा को शान्त करता था। फलमूल पर निर्वाह करना और कृषि के द्वारा अन्न उत्पन्न करना उसने बहुत काल पीछे सीखा।

कल्पना की अपेक्षा इतिहास का प्रमाण अधिक है। इसलिये यह देखना चाहिये कि इस सम्बन्ध में इतिहास क्या कहता है? साथ ही मानव-शरीर-रचना पर भी ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है।

आदि मानव निरामिष-भोजी

न केवल भारतीय ग्रन्थ इस तथ्य को प्रकट करते हैं, अपि तु संसार के सभी धर्मग्रन्थ इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में मानव कन्दमूल फलों और स्वयं उत्पन्न अन्नों पर

निर्वाह करता था।[1] बाइबल और कुरान जैसे मांसाहारियों के धर्मग्रन्थ में लिखित आदम और हव्वा की कथा भी तो यही प्रकट करती है कि खुदा ने इन आदि मानवों को अदन के बाग में रखा था, और एक फल को छोड़कर सभी फलों को खाने का आदेश दिया था।

विकास मतानुयायी वृथा अनुमान के आधार पर आदि मानव को असभ्य एवं शिकार पर जीनेवाला मानते हैं। इसके प्रमाण में उत्खनन में उपलब्ध होनेवाले पाषाणों के कल्पित हथियार भी विकासवादियों के मतानुसार पांच-सात सहस्र वर्ष से प्राचीन नहीं हैं, जबकि भारतीय इतिहास के ग्रन्थों तथा अन्य देशों के ग्रन्थों से व्यक्त होनेवाला मानव-इतिहास बहुत पुराना है। भारतीय इतिहास तो न्यूनातिन्यून अठारह बीस सहस्र वर्ष का क्रमबद्ध इतिहास है। अतः सत्य इतिहास के विद्यमान होते हुए वृथा अनुमान का उदय ही नहीं होता। भारतीय इतिहास के अनुसार तो आदि मानव कन्दमूल फल एवं अकृष्टपच्य अन्नों का ही सेवन करता था। मानव-समाज में मांसाहार का प्रचलन बहुत काल पश्चात् हुआ (इस विषय में आगे लिखेंगे)। संसार की सब से प्राचीन धर्मपुस्तक ऋग्वेद ५।८३।१० में स्पष्ट कहा है—'अजीजन ओषधीर्भोजनाय' अर्थात् मनुष्यों के खाने के लिये ओषधियां उत्पन्न की गई हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद ६।१४०।२ में दांतों को उद्देश करके कहा है—

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय ···॥

इस मन्त्र में स्पष्टरूप से दांतों का भाग वा भोजन व्रीहि यव माष तिल बताया है।

शरीर-विज्ञान की साक्षी—सभी चिकित्सक चाहे वे भारतीय हों चाहे पाश्चात्य, एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि मनुष्य के दांतों और उदर की आंतड़ियों की बनावट मांसाहारी जीवों के समान नहीं है। इसके विपरीत इनकी बनावट फल मूल कन्द पर जीनेवाले वानरों के समान है। इसलिये अब अनेक पाश्चात्य चिकित्सक भी नीरोग जीवन के लिये मांसाहार का त्याग आवश्यक मानते हैं।

इतना ही नहीं, जितने घास तृण फल मूल का भक्षण करनेवाले पशु हैं, वे चाहे भूखे मर जायें, परन्तु वे कभी मांस नहीं खाते। क्या वानरों को वा हिरण आदि पशुओं को किसी ने आज तक मांस खाते देखा है? मानव भी स्वभावतः निरामिषभोजी प्राणी है। अतः वह आदिकाल में मांसाहार में स्वभावतः प्रवृत्त नहीं हो सकता।

मांसाहार का आरम्भ

हम पूर्व लिख चुके हैं कि कश्यप प्रजापति के दिति से उत्पन्न दैत्य=असुर इस पृथिवी

१. इसके विस्तार के लिये देखिये—पं० भगवद्दत्त कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ २१०–२१२, द्वि० सं०।

के प्रथम अधिष्ठाता थे[1], ये अत्यन्त बलवान् थे। अतः एव इन्हें असुर=(असु =प्राण+र[2]=युक्त) कहा गया है[3]। इन दैत्यों का आचार प्रारम्भ में अत्यन्त श्रेष्ठ था। इसलिये पहले इन्हें 'देव' कहा जाता था। उत्तरकाल में इन असुरों के आचारभ्रष्ट होने पर अदिति-सुत देवों से इनका भेद दर्शाने के लिये इन्हें 'पूर्वदेव' कहा जाने लगा[4]। यूनानी ग्रन्थों में उल्लिखित देवों की तीन श्रेणियों[5] में प्रथम श्रेणी के देव ये असुर ही हैं (हरक्यूलिस=सुरकुलेश=विष्णु को द्वितीय श्रेणी का देव कहा है, और बेक्कस=विप्रचित्ति दानव को तृतीय श्रेणी का)। दैत्यों का पृथिवी पर निष्कण्टक आधिपत्य होने से उनमें शनैः-शनैः मद अहंकार उत्पन्न हुआ, और उससे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का प्रादुर्भाव हुआ, और शनैः-शनैः उनमें सुरापान और मांसाहार की प्रवृत्ति हुई। अब उनका धर्म केवल शरीरपोषण रह गया[6]। ऐसी अवस्था में असुर शब्द 'असुषु रमते' (=प्राणों में रमनेवाला) व्युत्पत्ति के अनुसार निन्दित अर्थान्तर का वाचक हुआ। इन्द्रादि अदिति-सुत असुरों से छोटे थे। असुरों ने उन्हें पृथिवी का भाग नहीं दिया[7]। दायभाग(=पृथिवी के बंटवारे) के निमित्त असुरों और देवों में विरोध उत्पन्न हुआ। तद्धेतुक १२ महान् संग्राम हुए[8]। अन्त में देवों ने असुरों को पराजित करके उन्हें स्वर्ग से खदेड़ दिया।[9] तदनन्तर महान् विजय और ऐश्वर्य के मद से देवों में भी शनैः-शनैः तामसी प्रवृत्ति बढ़ने लगी। वे भी आचार में

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १२७, तथा इसी पृष्ठ की टि० संख्या ५।

२. 'र' मत्वर्थीय। यथा पाण्डुर पांसुर नगर।

३. तस्य वा असुरेवाजीवत्, तेनासुना सुरान् असृजत, तदसुराणामसुरत्वम्। मै० सं० ४।२।१॥

४. अमर कोश १।१।१२॥ स पूर्वदेव-चरितम् ···· महा० सभा० १।१७॥ पूर्वदेवो वृषपर्वा दानवः (नीलकण्ठ)। देवान् यज्ञमुषश्चान्यान् असृजत्। महा० वनपर्व २२०।१०॥ यहां 'देवान्' का विशेषण 'यज्ञमुष्' प्रयुक्त होने से देव शब्द से पूर्वदेव=असुरों का निर्देश किया है। द्र०—असुरसृष्टिमाह—देवान्। नीलकण्ठी टीका।

५. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग १, पृष्ठ २१३, २१४, २१५। (द्वि० सं०)।

६. छान्दोग्य उप० ८।८।२-५॥

७. असुराणां वा इयं पृथिव्यासीत्, ते देवा अब्रुवन् दत्त नोऽस्याः पृथिव्याः। मैत्रा० सं० ४।१।१०॥ तुलना करो—का० सं० ३१।८॥

८. तेषां दायनिमित्तं वै संग्रामा बहवोऽभवन्। वराहेऽस्मिन् दश द्वौ च षण्डामर्कान्तगाः स्मृताः। वायु० ९७।७२॥

९. ततो वै देवा इमामसुराणामविन्दत, ततो देवा असुरान् एभ्यो लोकेभ्यो निरभजन्। मै० सं० ४।१।१०॥ तुलना—का० सं० ३१।८॥

उच्छृङ्खल हुये। उनमें भी मांसाहार की प्रवृत्ति हुई। परन्तु देवों में विष्णु इस दोष से बचा रहा[1]। स्कन्द तथा अन्य निवृत्ति-मार्गानुयायी देव भी इन व्यसनों से दूर रहे।

त्रेता के आरम्भ तक ऋषियों की महती अनुकम्पा से आर्यों का आचार-स्तर सर्वथा पवित्र और उच्च रहा। तदनन्तर [दूषित] देवों के विशेष संसर्ग से आर्य राजाओं में भी मांसाहार की प्रवृत्ति हुई, और उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इतना होने पर भी ऋषि-मुनि उस प्रवृत्ति को सीमित रखने के लिये समय-समय पर 'वृथा मांसं नाश्नीयात्' आदि प्रतिबन्ध लगाते रहे। इससे उच्च वर्णों और कुलों में मांसाहार की प्रवृत्ति अत्यल्प हुई।

यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति

हम पूर्व लिख चुके हैं कि यज्ञों का प्रादुर्भाव सब से प्रथम असुरों में हुआ। तत्पश्चात् वह देवों के पास पहुंचा[2]। इन्द्र ने सौ महाक्रतु करके शतक्रतु नाम पाया। तदनन्तर यज्ञों का प्रसार मानवों में हुआ। मानवों में यज्ञों की प्रवृत्ति त्रेता के प्रारम्भ में अथवा कृतयुग के अन्त में हुई[3]। शनैः-शनैः मानवों में यज्ञ की प्रवृत्ति बढ़ी, और शतशः काम्य तथा नैमित्तिक यज्ञों की सृष्टि हुई।

कृतयुग में यज्ञों की प्रवृत्ति देवों में ही थी। इस युग में यज्ञों में कभी भी पशुओं की हिंसा नहीं हुई। उत्तरकाल में जब देवों में मांसाहार की प्रवृत्ति हुई, तब त्रेता के प्रारम्भ अथवा दोनों के सन्धिकाल में प्रथम बार इन्द्र ने पशुहिंसा प्रारम्भ की। ऋषियों ने इस अनर्थकारी कर्म का भारी विरोध किया। परन्तु इन्द्रादि देवों ने अपने अहङ्कार के मद में ऋषियों का कथन न माना। इस प्रकार यज्ञ में पशुहिंसा की प्रवृत्ति भी देवों से आरम्भ हुई।

अब हम इस विषय पर प्रकाश डालनेवाले प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) महाभारत आश्वमेधिक-पर्व अ० ९१; शान्ति-पर्व अ० ३३७; अनुशासन-पर्व अ० ११५; मत्स्य पुराण अ० १४३; और वायु पुराण अ० ५७ में उपरिचर वसु की कथा विस्तार से लिखी है। उसका भाव इस प्रकार है—

"इन्द्र ने सर्वप्रथम अश्वमेध में पशुओं का आलम्भन (=हिंसन) किया। दीर्घदर्शी ऋषि लोग इस नए अनर्थ को देखकर घबरा उठे। उन्होंने इन्द्र को समझाया कि वेद में पशुहिंसा की विधि नहीं है। यदि आगमस्थ विधि से यज्ञ करना है, तो तीन वर्ष से अधिक पुराने अप्ररोही (=

---

१. यही कारण है कि समस्त वैष्णव मतानुयायी निरामिष-भोजी हैं, और यज्ञ में भी पशु-हिंसा न तो मानते हैं और नाही करते हैं। लोक में तो आजतक वैष्णव भोजनालय का अर्थ निरामिषभोजी ढाबा समझा जाता है।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ १२७। ३. द्र०—पूर्व पृष्ठ १०४, टिप्पणी १।

अज=जो उगने के अयोग्य हो गये हों ऐसे,) बीजों से यज्ञ करो। इन्द्र के मान (=मद) और मोह के वशीभूत होकर ऋषियों का कथन न माना। दोनों ने निर्णयार्थ उत्तानपाद के पुत्र उपरिचर वसु[1] को मध्यस्थ बनाया। उसने देवों और ऋषियों का बलाबल विचारकर देवों के पक्ष में अपना निर्णय दिया। ऋषियों ने पक्षपात से मिथ्या निर्णय देने के कारण उपरिचर वसु को शाप दिया।"

(२) अग्निवेश कृत (विक्रम से ५००० वर्ष पूर्व) और वैशम्पायन चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत (विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व) चरकसंहिता के चिकित्सा-स्थान अ० १६।४ का महत्त्वपूर्ण वचन हम पूर्व (पृष्ठ १३१) लिख चुके हैं। उस वचन से निम्न ५ पांच बातें स्पष्ट होती हैं—

क—आदिकाल (=कृतयुग) में यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी।

ख—[मानवों में] सर्वप्रथम मनु के पुत्रों के यज्ञों में पशुओं का आलम्भन हुआ।

ग—'वेद में पशुओं के आलम्भन की आज्ञा है'। इस मिथ्या ज्ञान के कारण ही यज्ञ में पशुहिंसारूप निन्दनीय प्रवृत्ति आरम्भ हुई।

घ—आङ्पूर्वक लभ और लम्भ ये मूलतः दो पृथक् धातु हैं[2]। 'आलभ' का मूल अर्थ है—प्राप्त वा स्पर्श करना, और 'आलम्भ' का अर्थ है—हिंसा।

ङ—गवालम्भ की प्रवृत्ति पृषध्र (यह मनुपुत्र पृषध्र से उत्तरकालिक पुरुरवा का पौत्र है) के काल में हुई।

(३) चरक के कथन की पुष्टि 'वसिष्ठ-धर्मसूत्र' २१।१२ से भी होती है। उसमें लिखा है—

त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा।
पृषध्रस्तनयं हत्वा अष्टानवतिमाहरेत्॥

यहां उत्तरार्ध का पाठ भ्रष्ट है। शुद्ध पाठ 'पृषध्रस्त्वघ्नियां हत्वा अष्टानवतिमाहरत्' होना चाहिये (देखो—अगला उद्ध्रियमाण वचन)।

वसिष्ठ-धर्मसूत्र का भाव है—पहले [मानवों में] केवल तीन रोग थे—ईर्ष्या, क्षुधा और बुढ़ापा। पृषध्र ने गौ का हनन करके ९८ नये रोग उत्पन्न कर दिये।

---

१. यह पृषध्र मनुपुत्र नहीं है, यह चरक के उक्त वचन से स्पष्ट है। क्योंकि चरक के वचन में मनु-पुत्रों से उत्तरकाल में पृषध्र का उल्लेख किया है। हमारे विचार में यह पृषध्र पुरुरवा का पौत्र नहुष है। यह अगले प्रकरण से स्पष्ट होगा। यह कुछ समय के लिये इन्द्र-पद पर भी अधिष्ठित किया गया था। २. द्र०—पूर्व पृष्ठ १३१।

(४) वसिष्ठ-धर्मसूत्र २१।२३ का जो वचन हमने ऊपर उद्धृत किया है, उसकी ठीक प्रतिच्छाया ब्राह्मण धम्मिय सुत्त २८ में मिलती है। वहां लिखा है—

तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनशनं जरा।
पसूनं च समारम्भा अट्ठनावुतिमाण गमुं॥

(५) जैन आचार्य उग्रादित्यविरचित 'कल्याणकारण' वैद्यक-ग्रन्थ पृष्ठ ७२४ में भी इसी प्रसङ्ग का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

अवन्तिषु तथोपेन्द्रः पृषध्रो नाम भूपतिः।
विनये समतिक्रम्य गोश्चकार वृथा वधम्॥

अर्थात्—अवन्ति (उज्जैन) में उपेन्द्र पृषध्र[1] नामक भूपति ने विनय का उलङ्घन करके गौ का वृथा वध किया।

(६) महाभारत शान्तिपर्व अ० २६५ में भी गवालम्भ से १०१ रोगों की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। यथा—

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः॥४७॥

ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन्।
गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम्॥४८॥

अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामहे त्वत्कृते व्यथाम्।
शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन्॥४९॥

ऋषयस्ते महाभागाः प्रजास्वेव हि जाजले।
भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः॥५०॥

इन श्लोकों का भाव यह है—अघ्न्या (=न मारने योग्य) यह गौ का नाम है, इनको मारने में कौन समर्थ है? महान् हानिकारक कर्म किया, जो गौ और बैल का आलम्भन किया। ऋषियों ने नहुष से कहा—गौ माता और वृषभ प्रजापति का जो तुमने वध किया, तुम्हारे इस अकार्य कर्म से हम दुःख को प्राप्त होंगे। इससे सब भूतों में १०१ रोग प्रवृत्त होंगे। ऋषियों ने प्रजाओं के मध्य ही नहुष को भ्रूणहा कहा, और हम तेरा यज्ञ नहीं कराएंगे, ऐसा निर्णय किया।

---

१. मनु-पुत्र पृषध्र और पुरुरवा का पौत्र पृषध्र दोनों का सम्बन्ध अवन्ति अर्थात् उज्जैन के साथ नहीं था। जैन आचार्य उग्रादित्य के लेख में अवन्ति का निर्देश कैसे हुआ, यह विचारणीय है।

महाभारत शान्तिपर्व अ० २६८ में भी नहुष को प्रथम गवालम्भक लिखा है। महाभारत के इन प्रसङ्गों की पूर्वलिखित संख्या २—४ के वचनों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि नहुष और पृषध्र एक ही व्यक्ति के नाम हैं। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने पूर्वोद्धृत ४७वें श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठान्तर 'पृषध्रो गा लभन्निव" लिखा है। उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है (नीलकण्ठ की इस पाठान्तर की व्याख्या ठीक नहीं है)। महाभारत में १०१ रोगों का उत्पादक नहुष को लिखा है, जबकि वसिष्ठ-धर्मसूत्र में ९८ रोगों का प्रवर्तयिता पृषध्र को कहा है[1]। महाभारतोक्त १०१ रोगों में सम्भवतः वसिष्ठधर्म-सूत्रोक्त ईर्ष्या क्षुधा और जरा इन तीन प्राचीन रोगों की संख्या भी सम्मिलित कर ली गई है। चरक-संहिता चिकित्सास्थान १९।४ के अनुसार ९८ नये रोगों में एक महान् रोग अतिसार था।

यह पृषध्र नाम किस नहुष का था ?

एक पृषध्र मनु का पुत्र, नाभाग इक्ष्वाकु शर्याति आदि का भ्राता था। वह पृषध्र गवालम्भ का प्रवर्तयिता नहीं हो सकता। क्योंकि चरक में गवालम्भ-प्रवर्तयिता पृषध्र को मनुपुत्र नाभाग इक्ष्वाकु शर्याति आदि से अवरकाल का लिखा है। गवालम्भ के प्रसङ्ग में पृषध्र नहुष का पर्याय है, यह ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट है। इतिहास में नहुष नाम के दो व्यक्ति उपलब्ध होते हैं। एक चन्द्रवंश और दूसरा सूर्यवंश में (वाल्मीकीय रामायणानुसार)। महाभारत के **'नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्'** (शान्ति० २६८।६) श्लोक में श्रुत **'त्वष्टा'** द्वादश आदित्यों में एकतम है। अतः उसके साथ श्रुत **नहुष चन्द्रवंश का नहुष (पुरुरवा का पौत्र)** ही सम्भव हो सकता है। सूर्यवंश का नहुष बहुत उत्तरकालिक है, वह त्वष्टा का समकालिक नहीं हो सकता। इस विचार की पुष्टि उग्रादित्य के उपरिनिर्दिष्ट (संख्या ४) श्लोक से भी होती है। उसमें नहुष का विशेषण उपेन्द्र लिखा है। महाभारत उद्योगपर्व में लिखा है कि ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र के छिप जाने पर देवों ने पुरुरवा के पौत्र नहुष को इन्द्र के स्थान पर अधिष्ठित किया (अ० ११)। इस सम्मान के मद से हतबुद्धि नहुष ने इन्द्राणी को अपनी भार्या बनाने की चेष्टा की (अ० ११।१७—१९), और ऋषियों से अपनी पालकी उठवाई (अ० १७।२५)। ऐसे हतबुद्धि व्यक्ति का गवालम्भ का प्रवर्तन करना अधिक सम्भव है।

अब हम यज्ञ में पश्वालम्भ के आरम्भ होने के कारणों पर विचार करते हैं—

यज्ञ में पश्वालम्भ-विधायक भ्रम के दो प्रधान कारण

प्रथम कारण—'वेद में पशुहिंसा का विधान है' इस भ्रम के कारण ही यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई। यह चरक के पूर्वोद्धृत **'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्'** वचन से, तथा उपरिचर वसु के

---

१. ब्राह्मण धम्मसुत्त २७—२८ में इक्ष्वाकु को पशुयज्ञप्रवर्तक और गवालम्भ-प्रवर्तक लिखा है। और इसी गोघात से ९८ रोग उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। हमारे विचार में यहां 'इक्ष्वाकु' के निर्देश में किसी कारण से भूल हुई है।

'संहितामन्त्रा हिंसालिङ्गाः' (वायु० ५७।१०७) कथन से स्पष्ट है। इस भ्रम के दो प्रधान कारण हैं। एक—अज आदि शब्दों के विभिन्न अर्थों का होना। और दूसरा—आलभ तथा आलम्भ क्रियाओं का सांकर्य होना।

'अज' शब्द के अर्थ में भ्रम

'अज' शब्द के दो अर्थ हैं—एक 'छाग'=बकरा; और दूसरा—'न उत्पन्न होनेवाला'। प्राचीन आगम-ग्रन्थों में निर्दिष्ट अजैर्यष्टव्यम्' आदि वाक्यों में 'अज' शब्द बकरे का वाचक है, अथवा 'न उत्पन्न होनेवाले' अर्थ का, इसकी मीमांसा न करके 'योगाद् रूढिर्बलीयसी' न्याय के अनुसार 'अज' शब्द का अर्थ छाग समझने से यज्ञ में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई। इस भ्रम पर निम्न प्रमाण विशेष प्रकाश डालते हैं—

क—महाभारत शान्तिपर्व अ० ३३७ में देवों और ऋषियों का एक संवाद उपलब्ध होता है। उसमें कहा है—

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्।
स च छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः॥

ऋषयः ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै बध्यते पशुः॥

अर्थात्—देवों ने कहा—'अज' से यज्ञ करना चाहिये, ऐसा विधान है। और वह अज भी छाग अर्थात् बकरा जानना चाहिये, अन्य पशु नहीं॥

ऋषियों ने कहा—बीजों से यज्ञ करना चाहिये, यही वैदिकी श्रुति है। अज बीजों की संज्ञा है, इसलिये छाग का वध नहीं करना चाहिये। जहां पशु का वध होता है, वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है॥

ख—यद्यपि इस प्रकरण में 'अजसंज्ञक' बीज कौनसे हैं, इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता, तथापि वायुपुराणान्तर्गत उपरिचर कथा में कहा है—

'यज्ञबीजैः[1] सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते।
त्रिवर्षपरमं कालमुषितैरप्ररोहिभिः॥५७।१००, १०१॥

१. वायु तथा मत्स्य पुराण में 'यज्ञबीजैः' ही पाठ है। यहां 'यज बीजैः' पाठ होना चाहिए, अन्यथा क्रिया के अभाव में वाक्य अधूरा रहता है। तुलना करो—'बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम्' महाभारत का उपरिनिर्दिष्ट श्लोक।

अर्थात्—हे सुरश्रेष्ठ ! उन बीजों से यज्ञ करो, जिनमें हिंसा नहीं है। जो तीन वर्ष से अधिक पुराने, और [खेत में] उगने में असमर्थ हों ॥

वायुपुराण के इस श्लोक में 'अज' का अर्थ 'अप्ररोही' शब्द से दर्शाया है। इस वचन से यह भी ध्वनित होता है कि खेत में उगने योग्य धान्यों से भी यज्ञ करना अनुचित है। कहां अहिंसा-प्रिय ऋषियों का उगने में समर्थ बीजों से भी यज्ञ न करने का निर्देश, और कहां आर्षग्रन्थों में यज्ञ में पशुहिंसा का वर्णन ? क्या आर्षग्रन्थों में पशु-हिंसापरक वचनों का उत्तरकाल में प्रक्षेप हुआ है ?

ग—मत्स्य पुराण में इसी कथा के प्रसङ्ग में कहा है—

यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिमोषितैः ॥१४३।१४॥

यहां 'त्रिवर्षपरमोषितैः' पाठ होना चाहिये।

घ—महाभारत और पुराणों में प्रतिपादित 'अज' शब्द के तात्त्विक अर्थ का निर्देश जैनग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। स्याद्वादमञ्जरी में भी लिखा है—

"तथाहि किल वेदे 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकं व्याचक्षते। सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि, पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि, सप्तवार्षिकं कङ्गु-सर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसायन्ति।" श्लोक २३ की व्याख्या, पृष्ठ १०७, १०८।

अर्थात्—वेद के 'अजों से यज्ञ करना चाहिये' इत्यादि वाक्यों में मिथ्यादृश (=अज्ञानी) अज शब्द को पशुवाचक कहते हैं। सम्यग्दृश (=ज्ञानी) जन्म के अयोग्य तीन वर्ष के जौ व्रीहि आदि, पांच वर्ष के तिल मसूर आदि, सात वर्ष के कङ्कु सर्षप आदि धान्य के पर्यायरूप में परिणत करते हैं ॥

ङ—इसी की प्रतिध्वनि पञ्चतन्त्र में भी उपलब्ध होती है। वहां लिखा है—

"एतेऽपि याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति, ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किलैतदुक्तम्—'अजैर्यष्टव्यम्'। अजा व्रीहयः सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषः ॥"

अर्थात्—ये याज्ञिक भी यज्ञकर्म में पशुओं को मारते हैं, वे मूर्ख वेदवचन के ठीक अर्थ को नहीं जानते। वेद में कहा है—'अजों से यज्ञ करना चाहिये'। अज सात वर्ष पुराने व्रीहि कहे जाते हैं, न कि पशुविशेष (बकरा) ॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जिन प्राचीन यज्ञागमों में '**अजैर्यष्टव्यम्**' ऐसा विधान था, वहां भी 'अज' का अभिप्राय खेत में उगने के अयोग्य पुराने धान्यों से था, बकरों से नहीं। परन्तु उत्तर-काल में जब भ्रान्ति से इस वचन में 'अज' का अर्थ बकरा समझा गया, तब उस भ्रान्ति से यज्ञ में पशु की हिंसा प्रारम्भ हुई।

पुरुष अश्व गौ अवि शब्दों के अर्थों में भी भ्रान्ति

जिस प्रकार 'अज' शब्द के अर्थ में भ्रान्ति होने से यज्ञ में बकरे की हिंसा प्रवृत्त हुई, उसी प्रकार पुरुष अश्व गौ और अवि शब्दों के वास्तविक अर्थों का ज्ञान न होने से भी यज्ञों में पुरुष अश्व गौ और अवि पशु की हिंसा आरम्भ हुई। वैदिक यज्ञप्रकरण में शब्दों का क्या तात्पर्य है, यह पूर्व विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं। अतः यहां पुनः पिष्टपेषण नहीं करते।

दूसरा कारण यज्ञ में पश्वालम्भन की प्रवृत्ति का है—

आलभ और आलम्भ क्रियाओं का सांकर्य

पाणिनि तथा सम्भवतः उससे कुछ पूर्वकाल में शुद्ध लम्भ धातु के तिङन्त के प्रयोग संस्कृत-भाषा में उच्छिन्न हो चुके थे। अतः उस काल के वैयाकरणों ने लम्भ धातु का संग्रह धातुपाठ में नहीं किया, और लम्भ से निष्पन्न शब्दों का सम्बन्ध लभ धातु से ही जोड़ दिया। इस कारण आलभ और आलम्भ ये समानार्थक हैं, ऐसी मिथ्या धारणा प्रचलित हो गई। और उसी के आधार पर पशुहिंसा आरम्भ हुई।

लभ और लम्भ दो स्वतन्त्र धातुएं हैं, इस विषय पर हम पूर्व (पृष्ठ १३१) विस्तार से लिख चुके हैं।

उपसंहार

हमने 'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा' प्रकरण में श्रौतयज्ञ-सम्बन्धी अनेक विषयों पर विचार किया है। उसका सार इस प्रकार है—

१—मन्त्रों में प्रयुक्त 'यज्ञ' शब्द का साक्षात् द्रव्यमय यज्ञों के साथ सम्बन्ध नहीं है।

२—मन्त्रों में निर्दिष्ट सभी यज्ञ आधिदैविक सृष्टियज्ञ हैं।

३—परोक्षभूत आधिदैविक सृष्टियज्ञों की व्याख्या करने के लिये मूलभूत द्रव्यमय श्रौतयज्ञों की कल्पना ऋषियों ने की है, जैसे भूगोल-खगोल का ज्ञान कराने के लिये मानचित्र कल्पित किये जाते हैं, और उनके वर्णन करनेवाले ग्रन्थ लिखे जाते हैं; अथवा परोक्षभूत लौकिक घटनाओं के प्रत्यक्षीकरण के लिये नाटक लिखे जाते हैं, और उनका मञ्च पर अभिनय किया जाता है, उसी प्रकार सृष्टियज्ञ का ज्ञान कराने के लिये यज्ञवेदि पर यज्ञीय अभिनय किया जाता है।

४—श्रौतयज्ञों का आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् की सूक्ष्म तथा परोक्ष घटनाओं वा क्रियाकलाप का वोध कराना प्रमुख उद्देश्य है, और इनका आनुषङ्गिक फल जलवायु आदि की शुद्धता के साथ त्यागमय जीवनयापन का उपदेश भी है।

५—सृष्टि के आरम्भ में द्रव्यमय यज्ञ प्रचलित नहीं थे। वेद के आधार पर यज्ञों का प्रचलन पहले असुरों में हुआ, तत्पश्चात् देवों में, और तत्पश्चात् मानवों में हुआ।

६—असुर आरम्भ में वैदिक मर्यादानुसार शुद्ध सात्त्विक जीवन यापन करते थे, वे लोक में पूज्य थे। कालान्तर में काम क्रोध एवं राजमद के कारण भ्रष्ट हुये, और लोक में निन्दा के पात्र बने। तत्पश्चात् देव भी अधिकार पाकर कालान्तर में वैदिक पथ से भ्रष्ट हुए। इन्द्र के दुश्चरित्र की कथाएं इतिहास पुराण में प्रसिद्ध हैं। भारतीय अनेक राजाओं ने देवासुर संग्रामों में देवों का साथ दिया था, और देवों को विजयी बनाया था। इसके फलस्वरूप अनेक भारतीय नरेश इन्द्र के अर्ध सिंहासन के अधिकारी भी बने। इस प्रकार भारतीय राजाओं का पतनोन्मुख देवों के साथ सम्बन्ध होने से भारतीय राजाओं में भी मर्यादाक्षय आरम्भ हुआ। भारतीय ऋषि-मुनियों ने चिरकाल तक भारतीय मानवों के वैदिक-चरित्र-रक्षण में महनीय प्रयास किया। किन्तु उत्तरकाल में ब्राह्मणों में भी कामक्रोध लोभ के उदय होने से मर्यादा-रक्षण शिथिल होने लगा, और यज्ञों में पशुहिंसा के रूप में मांसाहार प्रवृत्त हुआ।

७—श्रौतयज्ञों में उत्तरोत्तर परिवर्तन-परिवर्धन हुए। काम्य यज्ञों का प्रचलन आरम्भ हुआ। यज्ञों में बाह्याडम्बर का विस्तार एवं वैदिक भावना के प्रतिकूल अंशों का सम्मिश्रण हुआ। यज्ञों में पशुहिंसा प्रचलित हुई।

८—नये-नये यज्ञों के उपक्रम के कारण विनियोग के अनुरूप मन्त्र उपलब्ध न होने पर पद अक्षर वर्णमात्र के सादृश्य से विनियोग करने की प्रथा आरम्भ हुई, और नये कर्मकाण्डीय मन्त्र बनाये गये।

९—यज्ञ के अदृष्टवाद ने मन्त्रानर्थक्यवाद को जन्म दिया।

१०—सृष्टियज्ञ-गत पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध आदि में कहीं किसी पशु-तत्त्व की हिंसा नहीं हुई है। दैवी-शक्तियों के आलभन=स्पर्श=सहयोग से गुणों का आधान ही हुआ है और होता है।

११—सृष्टियज्ञान्तर्गत पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध आदि में प्रतिनिधिरूप से पुरुष अश्व गौ आदि उपस्थापित किये जाते हैं। पर्यग्निकरण के पश्चात् तत्तद्देवतानिर्देशपूर्वक स्पर्श करके उनका उत्सर्जन हो जाता है।

१२—पशुयागों में विहित पशु-पुरोडाश का विधान मूलतः यज्ञीय पशु के उत्सर्ग के पश्चात् आरप्स्यमान कर्म की पूर्ति के लिये ही किया गया था।

१३—आलभते वा आलभेत पदों का अर्थ आलम्भन=हिंसा करना नहीं है। मूलतः लभ और लम्भ दो स्वतन्त्र धातुएं हैं, और अर्थ भी इनका भिन्न-भिन्न है। धात्वैक्य के व्यामोह से आलभते का अर्थ मारना किया जाता है।

१४—मानव आदिकाल में निरामिष-भोजी था। इसकी शरीर-रचना भी आमिष-भोजियों से भिन्न है, और फल मूल घासादि खानेवाले प्राणियों के समान है।

१५—यज्ञीय अज का अर्थ छाग (=बकरा) नहीं है, अपि तु प्ररोहण (=उगने) में असमर्थ ३ से ७ वर्ष पर्यन्त पुराने धान्यवीजों का 'अज' नाम है।

इन प्रमुख विषयों के अतिरिक्त प्रसक्तानुप्रसक्त अनेक यज्ञीय विषयों पर हमने प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

मूलतः प्राचीन द्रव्यमय यज्ञों में पशुहिंसा न होने पर भी वर्तमान में उपलब्ध वेद की शाखाओं ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इनका विधान पाया जाता है। हमारे विचार में यह भाग उत्तरकाल में याज्ञिकों द्वारा जोड़ा गया है (द्र०—मीमांसाभाष्य-व्याख्या पृष्ठ३०४-३०५), अथवा इसे वेद और आद्य यज्ञभावना के विपरीत होने से **विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्**(मी० १।३।३; पृष्ठ२३०पर विशेष विचार) इस जैमिनीय न्याय के अनुसार त्याज्य मानना चाहिये। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिंसापरक वचनों के सम्बन्ध में 'उत्तरकाल में ग्रन्थ में जोड़ना अथवा प्रक्षेप करना' में प्रबल हेतु न होने से जैमिनीय-न्याय का अनुसरण करते हुए लिखा है—

'जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो, उसका प्रमाण न करना।' संस्कार-विधि, वेदारम्भसंस्कार के अन्त में (द्र०—रा० ला० कपूर ट्रस्ट, विशिष्ट संस्क०, पृष्ठ १३१, संवत् २०३१)।

॥ नमो यज्ञकर्म-प्रवर्तृभ्यः, नमो यज्ञानुष्ठातृभ्यः ॥

—:o:—

श्रौतयज्ञाधिकार-विषयक विशेष-सूचना

मीमांसाभाष्य-व्याख्या पृष्ठ १९१ पर हमने लिखा है—**शूद्र यजमान के अवहनन कर्म में 'हविष्कृदाधाव' मन्त्र के निर्देश का अभिप्राय 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा में यज्ञकर्माधिकार-प्रकरण में देखें'।** यह यज्ञकर्माधिकार-प्रकरण इस भाग में हम नहीं लिख सके। पाठकों से क्षमा चाहते हुए यह सूचना देते हैं कि **यह प्रकरण हम अगले भाग में देंगे॥**

—:o:—

संशोधन-परिवर्तन-परिवर्धन

पृष्ठ ५, टि० १ के अन्त में बढ़ावें—वेदमधीत्य स्नास्यन्। आप० गृह्य ५।११।११; बोधा० गृह्य २।६।१।।

पृष्ठ २८, पं० १—न प्रत्यक्षम् पर टिप्पणी की १ संख्या देवें।

पृष्ठ ३२, पं० ५—लोकं याति पर टिप्पणी—'तुलना करो—स एष यज्ञायुधी यजमानः स्वर्गं लोकमेतीति ब्राह्मणम्। निदानसूत्र २।६।। इस वचन से पूर्व मृत शरीर पर पात्र रखने का विधान भी है।'

पृष्ठ ४०, पं० २८ आकृतिस्तु शब्दार्थः के स्थान में आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् पाठ होना चाहिये।

पृष्ठ १८१, पं० ३—[मन्त्राधिकरणम् ।।४] के स्थान में [मन्त्राधिकरणम्, मन्त्रलिङ्गाधिकरणं वा ।।४।।] पाठ होना चाहिये।

पृष्ठ २१५, पं० ७—विस्मरणमप्यु······विस्मरणस्य पंक्ति में अशुद्ध विरामचिह्न इस प्रकार शोधें—विस्मरणमप्युपपद्यते इति। तदुपपन्नत्वात् पूर्वविज्ञानस्य त्रैवर्णिकानां स्मरतां विस्मरणस्य।

पृष्ठ २१५, पं० २१—त्रैवर्णिकों का स्मरण उपपन्न होने से [स्मार्त धर्ममूलक] के स्थान में त्रैवर्णिकों का उस स्मरण के उपपन्न होने से तथा विस्मरण के उपपन्न होने से [स्मार्त धर्ममूलक] इस प्रकार पाठ शोधें।

पृष्ठ २१६, पं० ४—'किया है। भट्ट कुमारिल' के स्थान में 'किया है। दूसरा श्रुतिनाश—भट्टकुमारिल' इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ २१६, पं० १६—प्रामाण्यबोधन में प्रमाण हो के स्थान पर प्रामाण्य का बोधक हो इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ २३२, पं० १७—स्मृतियां प्रमाण होवें के स्थान में स्मृतियां (अविरुद्धम्) अविरुद्ध प्रमाण होवें (इति चेत्) ऐसा मानें तो इस प्रकार संशोधन करें।

पृष्ठ २३६, टि० ५—'तु०' शब्द से पूर्व मै० सं० १।६।३।। बढ़ावें।

पृष्ठ ३०२—'मीमांसा-शाबर-भाष्ये' के नीचे [श्येनादिशब्दानां यागनामधेयताधिकरणम्, तद्व्यपदेशाधिकरणं वा।।४।।] ऐसी अधिकरण नाम की पङ्क्ति बढ़ावें।

पृष्ठ ३०६—'मीमांसा-शाबर-भाष्ये' के नीचे [वाजपेयादिशब्दानां नामधेयताधिकरणम्, वाजपेयाधिकरणं वा] इस प्रकार अधिकरण नाम की पङ्क्ति बढ़ावें।

पृष्ठ ३१४, पं० २२—उपशय कहते हैं। इसके आगे बढ़ावें—'सायणाचार्य ने शत० ३।७।२।१ पर लिखा है—'उपशयः—यूपानां समीपे शेत इत्युपशयः····। स च वितष्टः—विशेषेणोपरप्रदेशेऽपि तष्टः'। 'वितष्टम्—अतष्टम्' इति विद्याधरः (का० श्रौ० ८।८।२२)। 'वितष्टम्-अनष्टाश्रीकृतमिति पितृभूतिः' इति का० श्रौ० ८।८।२२ कर्कभाष्ये टिप्पण्यामुक्तम्।

पृष्ठ ३२६, पं० २—'वैश्वदेवशब्दामांम्' के स्थान में 'वैश्वदेवशब्दस्य' पाठ शोधें।

मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या की विषय-सूची

प्रथमाध्याये प्रथमः पादः

---

१. यह अधिकरण-नाम वाराणसी मुद्रित शाबरभाष्य के अनुसार है। मीमांसा-सम्बन्धी ग्रन्थों में कहीं-कहीं अधिकरण-नाम में भिन्नता भी मिलती है। हमने उनका भी संकलन साथ में कर दिया है। २. विषय-निर्देश से आगे दी गई संख्या तत्तत्-पृष्ठों की है।

३. [ ] कोष्ठक में निर्दिष्ट विषय हमारी व्याख्या में विवरण के अन्तर्गत है।

प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः

॥ इति प्रथमाध्याय-विषयसूची समाप्ता ॥

मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

[हिन्दी-व्याख्या-सहितम्]

प्रस्तुत व्याख्या के सम्बन्ध में

१. मीमांसा शास्त्र के उपलब्ध व्याख्याग्रन्थों में आचार्य शबरस्वामी-कृत भाष्य ही सब से प्राचीन है। इस कारण मीमांसा शास्त्र के तत्त्वज्ञान में हमारे लिये यही एकमात्र सहारा है। इसी दृष्टि से शबरस्वामी-कृत मीमांसा-भाष्य की हिन्दी-व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

२. मीमांसा शास्त्र का, विशेषकर सम्पूर्ण शावर-भाष्य का, मैंने भट्टकुमारिल-कल्प स्व०म० म० श्री चिन्नस्वामी जी शास्त्री तथा पूज्य श्री पं० पट्टाभिराम जी शास्त्री की महती अनुकम्पा से यथासम्प्रदाय अध्ययन किया है। परन्तु इस व्याख्या में भट्टकुमारिल और प्रभाकर प्रभृति व्याख्याकारों द्वारा प्रदर्शित विविध मतभेदों की उपेक्षा करके शाबर-भाष्य के पदार्थ को ही यथाशास्त्र विवरित करने का प्रयास किया है।

३. यतः प्राचीन मतानुसार २० अध्यायात्मक पूर्वोत्तर मीमांसा एक शास्त्र है। इसीलिये इनके मूलभूत सिद्धान्त, यथा ब्रह्म का जगत्कर्तृत्व एवं वेदोपदेष्टृत्व, जीव और जगत् के उपादान कारण प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व आदि, दोनों तन्त्रों में समानरूप से स्वीकृत हैं। केवल प्रधान प्रतिपाद्य-विषय कर्म और ब्रह्म भिन्न हैं। दोनों तन्त्रों के व्याख्याकारों ने जो मतभेद की सृष्टि रची है, वह सर्वथा काल्पनिक है।

४. जहां हमें शाबर-भाष्य द्वारा प्रतिपाद्य तत्त्व शास्त्र-विपरीत प्रतीत हुआ (यथा—अश्वप्रतिग्रह में अश्वप्रदाता के लिये प्रायश्चित्तीयेष्टि का विधान, मीमांसा ३।४।३६-३७), वहां हमने उसकी आलोचना करके भिन्न व्याख्या दर्शाई है।

५. शाबर-भाष्य से सूत्र के प्रतिपद अर्थ के ज्ञान में कठिनाई होती है, इसलिये हमने भाष्य-व्याख्या से पूर्व प्रत्येक सूत्र का अर्थ भी भाष्यानुसार लिखा है।

६. भाष्य में विचार्यमाण वैदिक वचनों को प्रकरण-निर्देशपूर्वक स्पष्ट करने का, और यथासम्भव उनके मूल स्थान के निर्देश का प्रयास किया है।

७. वेद-शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्र-मीमांसा आदि श्रौत यज्ञों के मूल स्वरूप; उनमें उत्तरोत्तर हुये विकास वा परिवर्तन आदि को समझने के लिये इस भाग में मुद्रित 'श्रौत-यज्ञमीमांसा' का अध्ययन लाभदायक होगा।

८. हमारा प्रयास मीमांसा शास्त्र वा श्रौत यज्ञों के लोकायतीकरण का नहीं है, परन्तु जहां यज्ञकर्म की लौकिक व्याख्या वा उसका प्रयोजन यथाशास्त्र प्रस्तुत किया जा सकता है, उसे प्रस्तुत करने का प्रयास वैदिकयज्ञों की महिमा बढ़ाने के लिये किया है।

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

ओम्

मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

[हिन्दी-व्याख्या-सहितम्]

प्रथमाध्याये प्रथमः पादः

[धर्मजिज्ञासाधिकरणम् ॥ १ ॥]

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥१॥

लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि तानि सति संभवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्; नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषितव्यो वा। एवं वेदवाक्यान्येवैभिर्व्याख्यायन्ते, इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि स्वपदार्थाश्च व्याख्येया इति प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत।

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥१॥

सूत्रार्थः[1]—[वेदाध्ययन के] (अथ) अनन्तर [यतः वेदाध्ययन कर लिया है] (अतः) इसलिये (धर्मजिज्ञासा) धर्म की जिज्ञासा=जानने की इच्छा [करनी चाहिये] ॥

व्याख्या—लोक में [जो] पद जिन अर्थों में प्रसिद्ध हैं, उनको सम्भव (=लौकिकार्थ उपपन्न) होने पर सूत्रों में उन्हीं अर्थोंवाला जानना चाहिये; अध्याहार के द्वारा इनका अर्थ कल्पित नहीं करना चाहिये, और नाही पारिभाषिक (=शास्त्रविशेष में स्वीकृत विशेष) अर्थ का कथन करना चाहिये। इसी प्रकार (=लौकिकार्थ में प्रयोग मानकर) इन [सूत्रपदों] के द्वारा वैदिक वाक्यों का व्याख्यान किया जा सकता है, अन्यथा वेद के वाक्य भी व्याख्येय होंगे, और स्व (=सूत्रस्थ) पदों के अर्थ भी व्याख्येय होंगे। इस प्रकार प्रयत्न में गौरव होगा [अर्थात् वेद-वाक्यों की व्याख्या और सूत्रपदों की व्याख्यारूप दो प्रयत्न करने होंगे]।

---

१. शाबर-भाष्य से सूत्रों का प्रतिपद अर्थ सरलता से ज्ञात नहीं होता है। इसलिये हमने व्याख्या से पूर्व भाष्य के अनुसार सूत्रार्थ देने का प्रयास किया है।

तत्र लोकेऽयम् 'अथ' शब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियार्थो दृष्टः। न चेह किंचिद् वृत्तमुपलभ्यते; भवितव्यं तु तेन, यस्मिन् सत्यनन्तरं धर्मजिज्ञासाऽवकल्पते। तथाहि प्रसिद्धपदार्थकः स कल्पितो भवति। तत्तु वेदाध्ययनम्। तस्मिन् हि सति साऽवकल्पते।

विवरण—भाष्यकार शबरस्वामी ने **'लोके येषु ·· परिभाषितव्यो वा'** वाक्यसमूह से प्राचीन वृत्तिकारों के प्रति उपालम्भ दिया है, ऐसा भट्ट कुमारिल का मत है। इसकी व्याख्या में सुचरित मिश्र ने लिखा है—'यह उपालम्भ **भवदास** के प्रति है। उसने **अथातः** इन दो पदों का आनन्तर्यमात्र अर्थ किया है।' ऐसा ही पार्थसारथि मिश्र ने भी लिखा है। भवदास की वृत्ति सम्प्रति उपलब्ध नहीं होती है। सुचरित मिश्र ने उसका पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—**'अथात इत्ययं शब्द आनन्तर्ये प्रयुज्यते।'** इस पर भवदास का खण्डन करते हुये सुचरित मिश्र ने लिखा है—**'अथातः शेषलक्षणम्** (मी० ३।१।१) तथा **अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनानुयजति** वाक्यों में यद्यपि दोनों पदों का संसर्ग देखा जाता है, फिर भी यहां आनन्तर्य अर्थ केवल **अतः** शब्द का है।' सुचरित मिश्र ने उक्त उद्धरणों में **अतः** का ही केवल आनन्तर्य अर्थ माना है, तो क्या उसके मत में अथ पद व्यर्थ है ? हमारा विचार है कि सूत्र में **अथ** शब्द अधिकारार्थ है, और **अतः** पद आनन्तर्यार्थक है। भवदास ने अथ पद को प्रसिद्धार्थक मानकर उसका अर्थ नहीं किया, केवल **अतः** का आनन्तर्य अर्थ लिखा है। सूत्र का अर्थ होना चाहिये—'यहां से धर्मजिज्ञासा नामक शास्त्र अधिकृत होता है, ऐसा जानना चाहिये'। तुलना करो—**अथ शब्दानुशासनम्** (पाणिनीय सूत्र)। **अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्** (महाभाष्य १।१ आ० १)।

वेदवाक्यानि—मीमांसा शास्त्र में कर्मकाण्डपरक प्रायः ब्राह्मण-वचनों का व्याख्यान किया है। जैमिनि आचार्य मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय के लिये **आम्नाय** संज्ञा का प्रयोग करते हैं— **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्** (१।२।१)। वेद शब्द का प्रयोग मीमांसा सूत्रों में प्रायः मन्त्र-संहिता के लिये ही प्रयुक्त होता है (इसकी विवेचना आगे **'वेदापौरुषेयत्वाधिकरण'** में करेंगे)। भाष्यकार शबरस्वामी ने यहां कृष्ण यजुर्वेदीय श्रौतसूत्रों के परिभाषा-प्रकरण में पठित **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**[1] परिभाषा के अनुसार ब्राह्मण के लिये भी वेद शब्द का प्रयोग किया है।।

व्याख्या—लोक में यह **'अथ'** शब्द **वृत्त** (=समाप्त हुये) के **अनन्तर** के **प्रक्रिया** (=आरम्भ करने योग्य) अर्थवाला देखा जाता है। यहां [इस सूत्र से पूर्व] कुछ भी समाप्त हुआ उपलब्ध नहीं होता; परन्तु [अथ शब्द के प्रयोग से] कोई ऐसा वृत्त (= पूर्व समाप्त कार्य) होना तो चाहियें, जिसके अनन्तर धर्म की जिज्ञासा समर्थ (=सम्भव) हो। ऐसा मानने पर ही वह 'अथ' शब्द प्रसिद्ध अर्थवाला प्रयोगार्ह हो सकता है। वह [वृत्त अर्थ यहां] वेदाध्ययन [अभिप्रेत] है। उसके निष्पन्न होने पर ही वह [शास्त्र में अधिकृत धर्मजिज्ञासा] उपपन्न हो सकती है।

---

१. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस सूत्र के, और जैमिनीय आम्नाय संज्ञा के विषय में विशेष विचार के लिये देखें—'वेद-संज्ञा-मीमांसा' निबन्ध (द्र०—इस भाग के आरम्भ में)।

नैतदेवम्, अन्यस्यापि कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता, प्रागपि च वेदाध्ययनात्। उच्यते—तादृशीं तु धर्मजिज्ञासामधिकृत्याथशब्दं प्रयुक्तवानाचार्यः,या वेदाध्ययनमन्तरेण न संभवति। कथम् ? वेदवाक्यानामनेकविधो विचार इह वर्तिष्यते।

अपि च, नैव वयमिह वेदाध्ययनात् पूर्वं धर्मजिज्ञासायाः प्रतिषेधं शिष्मः, परस्ताच्चाऽऽनन्तर्यम्। नह्येतदेकं वाक्यं पुरस्ताच्च वेदाध्ययनात् धर्मजिज्ञासां प्रतिषेधिष्यति, परस्ताच्चाऽऽनन्तर्यं प्रकरिष्यति। भिद्येत हि तथा वाक्यम्। अन्या हि वचनव्यक्तिरस्य पुरस्ताद् वेदाध्ययनाद्धर्मजिज्ञासां प्रतिषेधति, अन्या च परस्तादानन्तर्य्यमुपदिशति। 'वेदानधीत्य'[1] इत्येकस्यां विधीयतेऽनूद्याऽऽनन्तर्यं, विपरीतमन्यस्याम्, अर्थैकत्वाच्चैकवाक्यतां वक्ष्यति[2]। किं त्वधीते वेदे द्वयमापतति। गुरुकुलाच्च समावर्तितव्यं, वेदवाक्यानि च विचारयितव्यानि। तत्र 'गुरुकुलान्मा समावर्त्तिष्ट' कथं नु वेदवाक्यानि विचारयेदित्येवमर्थोऽयमुपदेशः।

(आक्षेप) ऐसा नहीं है, [वेदाध्ययन के अतिरिक्त] अन्य कर्म के अनन्तर भी धर्म की जिज्ञासा युक्त है, और वेदाध्ययन के पूर्व भी। (समाधान) आचार्य [जैमिनि] ने उस प्रकार की धर्म-जिज्ञासा का अधिकार करके 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है, जो वेदाध्ययन के विना सम्भव नहीं है। किस प्रकार ? यहां [शास्त्र में] वेदवाक्यों का अनेकविध विचार किया जायेगा। [वह विचार उस समय तक सम्भव नहीं, जब तक उन वाक्यों के पूर्वापर का ज्ञान और तद्बोधित सामान्य अर्थ वा प्रक्रिया का परिज्ञान न हो। इस कारण धर्म-जिज्ञासा से पूर्व वेद का अध्ययन आवश्यक है।]

और भी, हम यहां [इस वाक्य द्वारा] वेदाध्ययन से पूर्व धर्मजिज्ञासा का प्रतिषेध नहीं करते, और न हीं वेदाध्ययन से पश्चात् आनन्तर्य का विधान करते हैं। यह [सूत्ररूप] एक वाक्य न वेदाध्ययन से पूर्व धर्मजिज्ञासा का प्रतिषेध करेगा, और न ही उसके पश्चात् आनन्तर्य का विधान करेगा। [इस प्रकार दो कार्यों का विधान करने पर] वाक्य का भेद होगा। एक वाक्य वेदाध्ययन से पूर्व धर्मजिज्ञासा का प्रतिषेध करता है, और दूसरा वेदाध्ययन के पश्चात् आनन्तर्य का विधान करता है। एक वाक्य में वेदानधीत्य[1] का अनुवाद करके आनन्तर्य का विधान होगा, और दूसरे वाक्य में उसके विपरीत (=वेदाध्ययन से पूर्व धर्मजिज्ञासा का) प्रतिषेध होगा। सूत्रकार अर्थैकत्व के हेतु से एकवाक्यता का विधान करेंगे[2] (द्र०—मी० २।१।४६)। और भी, वेद के अध्ययन करने के पश्चात् दो कार्य उपस्थित होते हैं—(१) गुरुकुल से समावृत्त होना (=घर लौटना) चाहिये, और (२) वेदवाक्यों का विचार करना चाहिये। उस अवस्था में 'गुरुकुल से समावृत्त न होवे'। [गुरुकुल छोड़कर घर चले जाने पर] वेदवाक्यों का कैसे विचार करेगा, इसके लिये यह उपदेश है।

---

१. 'वेदानधीत्य वेदौ वा'। मनु० ३।२॥

२. 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्'। मी० २।१।४६॥

यद्येवम्, न तर्हि वेदाध्ययनं पूर्वं गम्यते। एवं हि समामनन्ति 'वेदमधीत्य स्नायात्' इति। इह च वेदमधीत्य स्नास्यन् धर्मं जिज्ञासमान इममाम्नायमतिक्रामेत्। न चाऽऽम्नायो नामातिक्रमितव्यः। तदुच्यते—अतिक्रमिष्याम इममाम्नायम्, अनतिक्रामन्तो वेदमर्थवन्तं सन्तमनर्थकमवकल्पयेम। दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम[1]। न च तस्याध्ययनमात्रात् तत्रभवन्तो याज्ञिकाः फलं समामनन्ति। यदपि च समामनन्तीव[2], तत्रापि "द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्" (जै० सू० ४।३।१) इत्यर्थवादतां वक्ष्यति।

न च 'अधीतवेदस्य स्नानानन्तर्यमेतद् विधीयते'। नह्यत्राऽऽनन्तर्यस्य वक्ता कश्चिच्छब्दोऽस्ति। पूर्वकालतायां क्त्वा स्मर्यते[3], नाऽऽनन्तर्ये। दृष्टार्थता [4]चाऽध्ययन-

---

(आक्षेप) यदि ऐसा है (=वेदाध्ययन के पश्चात् समावर्तन का निषेध करता सूत्रकार को इष्ट है) तो वेदाध्ययन की पूर्वता नहीं जानी जाती। इस प्रकार से समाम्नान करते (=पढ़ते) हैं – वेदमधीत्य स्नायात्=वेद का अध्ययन करके स्नान करे (=स्नातक बनकर घर लौटे)। और यहां (आपके द्वारा उपदिष्ट मत में) वेद का अध्ययन करके स्नान करनेवाला धर्म की जिज्ञासा करता हुआ [वेदमधीत्य स्नायात्] इस आम्नायवचन (=शास्त्रवचन) का अतिक्रमण करेगा, परन्तु आम्नाय का अतिक्रमण योग्य नहीं है। (समाधान) हम इस आम्नायवचन का अतिक्रमण करेंगे, [उक्त वचन का] अतिक्रमण न करते हुये हम अर्थवान् वेद को अनर्थक बना देंगे। वेद का अर्थ अथवा प्रयोजन [क्रियमाण] कर्म का बोधन कराना देखा जाता है[1], अर्थात् वेद कर्मों का बोधन कराते हैं, यह प्रत्यक्ष है। याज्ञिक लोग वेद के अध्ययनमात्र से फल का कथन नहीं करते। [अर्थात् वेद के अध्ययन से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है, ऐसा कहीं नहीं कहा गया।] और जहां अध्ययनमात्र का फल कहा हुआ-सा प्रतीत होता है[2], वहां भी आचार्य कहेंगे – द्रव्य और संस्कारकर्म-विषयक फलश्रुति द्रव्य और संस्कारकर्म के परार्थ (=प्रधान याग के लिये) होने से अर्थवाद होती है' [अर्थात् उसका स्वतन्त्र फल नहीं होता]।

और भी—'वेदमधीत्य स्नायात्' यह वचन 'अधीतवेद को अध्ययन-समाप्ति के उत्तर क्षण स्नान कर लेना चाहिये, ऐसा आनन्तर्य का विधान नहीं करता'। इस वाक्य में आनन्तर्य को कहनेवाला कोई शब्द नहीं है। पूर्वकालतामात्र में 'क्त्वा' का विधान किया जाता है[3], आनन्तर्य

---

१. द्रष्टव्य—'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्मक्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति'। गोपथ ब्रा० उ० २।६॥ 'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्'। मीमांसा २।१।३१॥

२. यथा—'तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति'—तै० आर० २।१५॥ अर्थ—इसलिये स्वाध्याय करना चाहिये। जिस-जिस क्रतु का अध्ययन करता है उस-उससे उसका इष्ट सिद्ध होता है, अर्थात् उस-उससे वह उस-उस यज्ञ के फल को प्राप्त होता है।

३. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले। अष्टा० ३।४।२१॥

४. 'वा' पाठे समुच्चयार्थको वा शब्दो द्रष्टव्यः।

स्याऽऽनन्तर्ये व्याहन्येत। लक्षणया त्वेषोऽर्थः स्यात्। न च इदं स्नानमदृष्टार्थं विधीयते, किं तु लक्षणयाऽस्नानादिनियमस्य पर्यवसानं वेदाध्ययनसमकालमाहुः—'वेदमधीत्य स्नायात्'='गुरुकुलान्मा समावर्त्तिष्ट' इत्यदृष्टार्थतापरिहारायैव। तस्माद्वेदाध्ययनमेव पूर्वमभिनिर्वर्त्यानन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इत्यथशब्दस्य सामर्थ्यम्। न च ब्रूमोऽन्यस्य कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा न कर्तव्येति। किं तु वेदमधीत्य त्वरितेन न स्नातव्यम्, अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इत्यथशब्दस्यार्थः॥

अर्थ में ('क्त्वा' का विधान) नहीं किया जाता है। आनन्तर्य अर्थ स्वीकार करने पर वेदाध्ययन की दृष्टार्थता नष्ट होती है। लक्षणा से (पूर्वकाल का) आनन्तर्य अर्थ होगा। और इस स्नान का विधान अदृष्ट के लिये भी नहीं है [जिससे अध्ययन-समाप्ति के उत्तर क्षण स्नान करने से कोई अदृष्ट होता हो], किन्तु 'स्नायात्' पद से लक्षणा द्वारा वेदाध्ययन की समाप्ति के समकाल में [वेदाध्ययनकाल में विहित] अस्नान[1] आदि नियमों की समाप्ति का विधान आचार्य करते हैं—'वेद का अध्ययन करके स्नान करे' का अर्थ है—'गुरुकुल से समावृत्त न होवे'। यह अर्थ अदृष्टता के परिहार के लिये ही है। इसलिये 'वेद का अध्ययन पहले करके अनन्तर धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये', यह 'अथ' शब्द का सामर्थ्य है। हम यह भी नहीं कहते कि अन्य कर्म के पश्चात् धर्म की जिज्ञासा न करे, किन्तु वेद का अध्ययन करके त्वरा (=शीघ्रता) युक्त होकर स्नान नहीं करना चाहिये, [वेदाध्ययन के] पश्चात् धर्म की जिज्ञासा करनी युक्त है, यह 'अथ' शब्द का प्रयोजन है॥

विवरण—शबरस्वामीकृत **वेदमधीत्य स्नायात्** वाक्य की विशेष व्याख्या से प्रतीत होता है कि शबरस्वामी के काल में छात्र वेदाध्ययन (पाठमात्र) के पश्चात् विवाह कर लेते थे।[2] इस प्रकार वे मीमांसा शास्त्र के अध्ययन से वञ्चित रहने के कारण वेदार्थज्ञान से भी वञ्चित रहते थे। इस परिपाटी के कारण मीमांसा शास्त्र का अध्ययन लुप्त हो रहा था। इस स्थिति से निपटने के लिये ही शबरस्वामी ने **वेदमधीत्य स्नायात्** का विशेष व्याख्यान किया है। मीमांसा शास्त्र के ज्ञान से रहित याज्ञिक वैदिक वचनों का सामान्य आपाततः प्रतीयमान अभिप्राय स्वीकार करके यज्ञ-यागादि करने लग पड़े थे। स्कन्द स्वामी ने निरुक्त (७।५) की टीका में इस प्रकार के

---

१. ब्रह्मचारी के लिये शरीरालंकरण की दृष्टि से किये जानेवाले स्नान आदि कुछ कार्यों का निषेध किया है। उनकी ओर इस पद से संकेत किया है। शरीरशुद्ध्यर्थं स्नानादि का निषेध शास्त्रकारों ने नहीं किया।

२. तुलना करो—'पुराकल्प एतदासीत्—संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिका शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरितं वक्तारो भवन्ति—वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः। अनर्थकं व्याकरणम्।' महाभाष्य १।१। आ० १॥ (द्र०—हिन्दी-व्याख्या भाग १; पृष्ठ ३६)।

अतः शब्दो वृत्तस्यापदेशको हेत्वर्थः । यथा क्षेमसुभिक्षोऽयमतोऽहमस्मिन् देशे प्रतिवसामीति । एवमधीतो वेदो धर्मजिज्ञासायां हेतुर्ज्ञातः । अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इति, 'अतः' शब्दस्य सामर्थ्यम् । धर्माय हि वेदवाक्यानि विचारयितुमनधीतवेदो न शक्नुयात् । अत एतस्मात् कारणादनन्तरं धर्मं जिज्ञासितुमिच्छेदित्यतः शब्दस्यार्थः ॥

धर्माय जिज्ञासा **धर्मजिज्ञासा** । सा हि तस्य ज्ञातुमिच्छा । स कथं जिज्ञासितव्यः ? को धर्मः कथंलक्षणः कान्यस्य साधनानि कानि साधनाभासानि किंपरश्चेति । तत्र को धर्मः कथंलक्षण इत्येकेनैव सूत्रेण व्याख्यातम्—**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** (१।१।२) इति ।

याज्ञिकों को शुद्ध याज्ञिक[1] (=मूर्ख याज्ञिक) नाम से स्मरण किया है । और मीमांसा-शास्त्र-सिद्ध वेदार्थ को स्वीकार करनेवाले याज्ञिकों का 'याज्ञिक' नाम से उल्लेख किया है ।।[2]

व्याख्या—अतः शब्द पूर्व कहे अर्थ को हेतुरूप से उपस्थित करनेवाला है । जैसे—'सुख और सुभिक्षावाला यह [देश है], अतः मैं इस देश में निवास करता हूं[3] । इसी प्रकार अध्ययन किया गया वेद धर्म की जिज्ञासा में हेतु जाना गया है, तो [इस कारण वेद के अध्ययन के] अनन्तर धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये, यह 'अतः' शब्द का सामर्थ्य है । धर्म [के ज्ञान] के लिये वेद के वाक्यों के विचार में अनधीतवेद (=जिसने वेद नहीं पढ़ा, वह) समर्थ नहीं हो सकता । अतः=इस कारण [वेदाध्ययन के] पश्चात् धर्म को जानने की इच्छा करे, यह 'अतः' शब्द का प्रयोजन है ।।

धर्म के लिये जिज्ञासा धर्म-जिज्ञासा [कहाती है] । वह जिज्ञासा निश्चय से उसके जानने की इच्छा है । उस धर्म को जानने की इच्छा कैसे करे ? धर्म क्या है ? उसका लक्षण क्या है ? उसके साधन क्या हैं ? उसके साधनाभास (=जो साधन न होते हुये भी साधन जैसे प्रतीत होते हैं) क्या हैं ? और किंपर=कहां [पुरुष वा क्रतु में] कौन प्रधान है ? इत्यादि [रूप से धर्म को जानने की इच्छा करनी चाहिये] । इनमें से 'धर्म क्या है, और उसका लक्षण क्या है ?' [ये दोनों विषय] चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (१।१।२) [=क्रिया में प्रवर्तक

---

१. शुद्धयाज्ञिकास्तु शब्दव्यतिरिक्तामितिहासपुराणप्रसिद्धां 'तुविग्रीव०' (ऋ० ५।२।१२) इत्यादि मन्त्रप्रत्यायितरूपां [देवतां] प्रतिजानते ध्यायन्ति वेति । नि० टीका ७।५।।

२. याज्ञिका अपि दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यादिवाक्यस्य दर्शपूर्णमाससंज्ञकेन यागेन स्वर्गं भावयेदित्यर्थस्य प्रपञ्चनप्रतिपादनाद् यागस्य फलं न देवताया इति निश्चितम् । .. सा च यागनिर्वृत्तिश्चोदनालक्षणे अग्न्यादौ शब्दमात्रे देवतायां सिद्धेति वस्तुसदसद्भावाकारविचारः कर्मणि मन्दोपयोग इति कृत्वा शब्दव्यतिरिक्तां देवतां न पश्यन्ति न शृण्वन्ति । नि० टीका ७।५।।

शब्द व्यतिरिक्ता विग्रहवती काचिद् देवता नास्तीति विचारो मीमांसाया अ० ६, पा० १, सू० ६ भाष्ये प्रपञ्चितः ।

३. यहां पूर्वनिर्दिष्ट देश का 'सुख और सुभिक्षावाला होना' उस देश विषयक निवास में कारण कहा गया है ।

कान्यस्य साधनानि कानि साधनाभासानि किंपरश्चेति शेषलक्षणेन व्याख्यातम् । क्व पुरुषपरत्वं क्व वा पुरुषो गुणभूत इत्येतासां प्रतिज्ञानां पिण्डस्यैतत्सूत्रम्—"**अथातो धर्मजिज्ञासा**" इति ।

धर्मः प्रसिद्धो वा स्यादप्रसिद्धो वा ? स चेत्प्रसिद्धो, न जिज्ञासितव्यः । अथाप्रसिद्धो नतराम् । तदेतदनर्थकं धर्मजिज्ञासाप्रकरणम् । अथवाऽर्थवत् । धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः, केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचिदन्यम् । सोऽयमविचार्य प्रवर्तमानः कंचिदेवोपाददानो विहन्येत, अनर्थं च ऋच्छेत् । तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्य इति ॥१॥

इति धर्मजिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥

वाक्य ही जिसका लक्षण है, और जो निःश्रेयस से युक्त करनेवाला है, वह धर्म है] इस एक सूत्र से ही कह दिये गये हैं । इसके साधन क्या हैं और साधनाभास क्या है ? कहां कौन प्रधान है, इसका शेष लक्षण (=द्वादशाध्यायी ग्रन्थ) में व्याख्यान किया गया है । कहां पुरुष प्रधान है, और कहां पुरुष गौण है, अर्थात् पुरुष की अपेक्षा क्रतु प्रधान है, इन सब प्रतिज्ञाओं का पिण्डीभूत यह सूत्र है—'अथातो धर्मजिज्ञासा' ।

विवरण—भाष्य में '**धर्माय जिज्ञासा**' निर्देश सूत्रगत **धर्मजिज्ञासा** का विग्रह नहीं है । क्योंकि वैयाकरणों के मतानुसार '**विकृतिः प्रकृत्येति वक्तव्यम्**' नियमानुसार विकृतिवाची चतुर्थ्यन्त पद प्रकृतिवाची सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है । यथा—यूपाय दारु यूपदारु । यहां 'यूप' दारु (=लकड़ी) का विकार है, और दारु यूप की प्रकृति है । तद्वत् **धर्माय जिज्ञासा** में विकृति-प्रकृतिभाव नहीं है । अतः यहां षष्ठी समास जानना चाहिये । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी वार्तिकस्थ **धर्मनियमः** और **वृत्तिसमवायार्थः** पदों के अर्थों का निर्देश इसी प्रकार किया है—**धर्माय नियमः=धर्मनियमः, वृत्तये समवायः=वृत्तिसमवायः** (महाभाष्य १।१।आ० १) । महाभाष्य के व्याख्याकारों ने **धर्माय नियमः, वृत्तये समवायः** को अर्थप्रदर्शन माना है, और समास षष्ठी-तत्पुरुष स्वीकार किया है । इसी शैली का अनुकरण शबर स्वामी ने भी किया है ॥

व्याख्या—(आक्षेप) **धर्म प्रसिद्ध (=ज्ञात) है, अथवा अप्रसिद्ध (=अज्ञात)? यदि वह प्रसिद्ध (=ज्ञात) है, तो जिज्ञासा के योग्य नहीं है [क्योंकि वह पहले ही ज्ञात है] । और यदि अप्रसिद्ध (=अज्ञात) है, तो सर्वथा जानने योग्य नहीं है [क्योंकि अज्ञात पदार्थ के विषय में जिज्ञासा हो ही नहीं सकती] । इसलिये यह धर्मजिज्ञासा-प्रकरण अनर्थक है ।** (समाधान) **अथवा [पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है] धर्मजिज्ञासा-प्रकरण अर्थवान् है । [क्योंकि] धर्म के प्रति बहुविद् (=विशिष्ट विद्वान्) भी विप्रतिपन्न (=विरुद्ध मति-वाले) हैं । कोई किसी को धर्म कहते हैं, और कोई किसी को । [इस प्रकार कथ्यमान बहुविध धर्म के विषय में] बिना विचारे प्रवृत्त हुआ पुरुष किसी को ही [धर्मरूप से] ग्रहण करता हुआ नष्ट (=निःश्रेयस से रहित) हो जायेगा, और अनर्थ को प्राप्त होवेगा । इसलिये धर्म [के स्वरूप] के जानने की इच्छा करनी चाहिये ॥१॥**

[धर्मलक्षणाधिकरणम् ॥२॥]

स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे । तदभिधीयते—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥

चोदना इति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमाहुः । 'आचार्य्यचोदितः करोमि' इति हि दृश्यते । लक्ष्यते येन तल्लक्षणम् । 'धूमो लक्षणमग्नेः' इति हि वदन्ति । तया यो लक्ष्यते, सोऽर्थः पुरुषं निःश्रेयसेन सँय्युनक्तीति प्रतिजानीमहे । चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवञ्जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम् ।

विवरण—श्लोकवार्तिक के टीकाकार सुचरितमिश्र एवं शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र आदि का मत है कि अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्र में धर्म शब्द को अधर्म का भी उपलक्षण मानना चाहिये । अथवा सूत्र में अकार का प्रश्लेष मानना चाहिये—अथातोऽधर्मजिज्ञासा । क्योंकि अनिष्ट फल से बचने के लिये अधर्म के स्वरूप को भी जानना आवश्यक है । हमारे विचार में अकार प्रश्लेष मानने की अपेक्षा धर्म पद को अधर्म का भी उपलक्षण मानना युक्त है । इसी प्रकार उत्तर सूत्र के भाष्य में 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः' में भी प्रवर्तक शब्द को निवर्तक का भी उपलक्षण मानना चाहिये ॥१॥

व्याख्या—वह [धर्म] ही पुरुष को निःश्रेयस से अच्छे प्रकार युक्त करता है, यह प्रतिज्ञा करते हैं । [वह धर्म क्या है ?] सो कहते हैं—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥

सूत्रार्थ—(चोदनालक्षणः) चोदना=क्रिया में प्रेरक वचन से लक्षित होनेवाला (अर्थः) निःश्रेयस-प्रापक अर्थ (धर्मः) धर्म कहाता है ।

व्याख्या—'चोदना' क्रिया के प्रवर्तक वचन को कहते हैं । 'आचार्य से चोदित (प्रवर्तित =प्रेरित) हुआ करता हूं' ऐसा [लोक में व्यवहार] देखा जाता है । जिससे [कोई अर्थ] लक्षित होता है, उसे लक्षण कहते हैं । 'धूम अग्नि का लक्षण (=बोधन करानेवाला) है' ऐसा [लोक में] कहते हैं । उस चोदना से जो अर्थ लक्षित (=बोधित) होता है, वह पुरुष को निःश्रेयस से संयुक्त करता है, यह प्रतिज्ञा करते हैं । चोदना निश्चय से भूत, वर्तमान, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित और दूर आदि सभी प्रकार के अर्थ को बोधित कराने में समर्थ है, अन्य कोई इन्द्रिय [उक्त प्रकार के अर्थ को जताने में समर्थ] नहीं है ।

विवरण—भाष्यकार के क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम् में प्रवर्तक पद को निवर्तक का भी उप-

नन्वथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना। यथा यत्किञ्चन लौकिकं वचनम्—'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इति। तत् तथ्यमपि भवति, वितथमपि भवतीति। उच्यते—विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते—ब्रवीति वितथञ्चेति। ब्रवीति इति—उच्यतेऽवबोधयति, बुध्यमानस्य निमित्तं भवतीति। यस्मिँश्च निमित्तभूते सति अवबुध्यते, सोऽवबोधयति। यदि च चोदनायां सत्यामग्निहोत्रात् स्वर्गो भवतीति गम्यते, कथमुच्यते न तथा भवतीति? अथ न तथा भवतीति कथमवबुध्यते? असन्तमर्थमवबुध्यते इति विप्रति-

---

लक्षण जानना चाहिये।[1] यथा—नानृतं वदेत्, न मांसमश्नीयात् (तै० सं० २।५।५); नास्या (=मलवद्वाससः) अन्नमश्नीयात् (तै० सं० २।५।१)। यहां झूठ न बोलने, मांस न खाने और रजस्वला से सम्भोग न करने की चोदना प्रेरणा है। नास्या अन्नमश्नीयात् वचन में अन्न शब्द उपगमन (=सम्भोग) का वाचक है। यह अभिप्राय मीमांसा अ० ३, पाद ४, सूत्र १९ के भाष्य में निर्णीत किया है॥

व्याख्या—(आक्षेप) चोदना अतथाभूत (=जो उस प्रकार का नहीं है, जिस प्रकार का चोदना-वाक्य से जाना जाता है, उस) अर्थ को भी कह सकती है। जैसे कोई लौकिक-वचन [कहता है]—'नदी के किनारे फल हैं'। वह लौकिक वचन सत्य भी हो सकता है, और झूठ भी। (समाधान) [इस विषय में] कहते हैं। यह परस्पर विरुद्ध कहा जाता है—[उक्त अर्थ को वचन] कहता है, और झूठ भी होता है। ब्रवीति का अर्थ है—कहता है, ज्ञान कराता है, जाननेवाले [के ज्ञान] का निमित्त होता है। जिस वचन के निमित्त होने पर जाना जाता है, वह बोध कराता है। [इस प्रकार वचन 'नदी के किनारे फल हैं' अर्थ का बोध कराने में निमित्त है। 'नदी के किनारे फल नहीं हैं', इसका उक्त वचन बोध नहीं कराता है।][2] यदि [अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः[3] ऐसी] चोदना होने पर 'अग्निहोत्र से स्वर्ग होता है' यह अर्थ जाना जाता है, तो आप कैसे कहते हैं कि उस प्रकार (=जैसा चोदना ने कहा है) नहीं होता? यदि 'उस प्रकार (=स्वर्ग) नहीं होता', यह कैसे जानते हैं? 'असद् (=वाक्य से न कहे जानेवाले) अर्थ को जानता है' यह परस्पर विरुद्ध है। अर्थात् जो अर्थ है ही

---

१. द्र०—प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा या शब्दश्रवणेन धीः। सा चोदनेति सामान्यं लक्षणं हृदये स्थितम्॥ भट्ट कुमारिल श्लोकवार्तिक, चोदना सूत्र, श्लोक २१०-२११॥

२. मीमांसक प्रमाणों का स्वतःप्रामाण्य मानते हैं, और उनका अप्रामाण्य परतः=अन्य कारण से स्वीकार करते हैं। अतः 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' वाक्य 'नदी के किनारे फल हैं' इसी अर्थ को कहता है। 'नदी के किनारे फल नहीं हैं' यह ज्ञान उक्त वाक्य से नहीं होता।

३. शबर स्वामी आदि मीमांसकों द्वारा परम्परा से उद्ध्रियमाण बहुत से वचन लुप्तावशिष्ट कतिपय वैदिकग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। जो वचन साक्षात् अथवा अर्थ तथा अक्षरवर्ण साम्य से उपलभ्यमान वैदिक साहित्य में हमें मिल सके, उनका निर्देश हम यथास्थान करेंगे।

षिद्धम् । न च, 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यतो वचनात् सन्दिग्धमवगम्यते---भवति वा स्वर्गो, न वा भवतीति । न च निश्चितमवगम्यमानमिदं मिथ्या स्यात् । यो हि जनित्वा प्रध्वंसते, नैतदेवमिति, स मिथ्या प्रत्ययः । न चैष कालान्तरे पुरुषान्तरे ऽवस्थान्तरे देशान्तरे वा विपर्य्येति, तस्मादवितथः । यत्तु लौकिकं वचनं, तच्चेत् प्रत्ययितात् पुरुषात् इन्द्रियविषयं वा, अवितथमेव तत् । अथाऽप्रत्ययितात् अनिन्द्रियविषयं वा, तावत् पुरुषबुद्धिप्रभवमप्रमाणम् । अशक्यं हि तत् पुरुषेण ज्ञातुम् ऋते वचनात्। अपरस्मात् पौरुषेयाद् वचनात् तदवगतमिति चेत्, तदपि तेनैव तुल्यम् । नैवञ्जातीयकेष्वर्थेषु पुरुषवचनं प्रामाण्यमुपैति, जात्यन्धानामिव वचनं रूपविशेषेषु ।

नन्वविदुषामुपदेशो नाऽवकल्प्यते; उपदिष्टवन्तश्च मन्वादयः, तस्मात् पुरुषात् सन्तो विदितवन्तश्च । यथा चक्षुषा रूपमुपलभ्यते, इति दर्शनादेवावगतम् । उच्यते--

---

नहीं, वह कैसे जाना जायेगा ? और स्वर्गकामो यजेत[1] [=स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करे[2]) इस वचन से सन्दिग्ध ज्ञान नहीं होता--'स्वर्ग होता है, अथवा नहीं होता ।' तथा निश्चितरूप से गम्यमान अर्थ मिथ्या नहीं हो सकता । जो ज्ञान उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, अर्थात् जिस विषय में 'इस प्रकार नहीं है' प्रतीति कारणान्तर से हो जाती है, वह मिथ्या ज्ञान कहाता है । और यह (=चोदना से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान) कालान्तर, पुरुषान्तर, अवस्थान्तर वा देशान्तर में विपरीत भी नहीं होता । इससे सत्य है । और जो लौकिक वचन है, वह यदि आप्त पुरुष से उच्चरित है, अथवा इन्द्रिय विषयवाला (=जिसे इन्द्रियों से जान सकें, इस प्रकार का) है, तो वह सत्य ही होता है। और यदि अनाप्त (=झूठे) पुरुष से कहा गया है, अथवा अनिन्द्रिय-विषयवाला (=जिसे इन्द्रियों से नहीं जान सकें, इस प्रकार का) है, तो वह पुरुष की बुद्धि से उच्चरित होने से अप्रमाण है । वह [इन्द्रिय के विषय से रहित] धर्म पुरुष से जाना नहीं जा सकता, बिना [वेद के] वचन के । [वह धर्म] अन्य पुरुष के वचन से ज्ञात होवे, अर्थात् वक्ता ने अन्य पुरुष से जानकर कहा है, ऐसा मानें, तो वह भी उसी के समान (=पुरुष की बुद्धि से उत्पन्न) है । [इसलिये] इस प्रकार के [अनिन्द्रिय-विषयक] अर्थों में पुरुषवचन प्रमाणभाव को प्राप्त नहीं होता । जैसे जन्म से अन्धपुरुषों का रूप-विशेषों के सम्बन्ध में कहा गया वचन प्रमाण नहीं होता ।

(आक्षेप) अच्छा तो न जाननेवालों का उपदेश करना उपपन्न नहीं होता; मन्वादि ने [धर्म का] उपदेश किया है, इससे [जाना जाता है कि] पुरुष होते हुये [मन्वादि धर्म को] जानने वाले थे । जैसे--'आंख से रूप जाना जाता है' यह दर्शन से ही जान लिया जाता है,

---

१. द्रष्टव्य--दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (शा० भा० ४।४।३४ में उद्धृत), दाक्षायणयज्ञेन सुस्वर्गकामो यजेत (तै० सं० २।५।५) ।

२. मीमांसक 'स्वर्गकामो यजेत' का अर्थ करते हैं--'यागेन स्वर्गं भावयेत्'=याग से स्वर्ग को प्राप्त करे ।

उपदेशा हि व्यामोहादपि भवन्ति। असति व्यामोहे वेदादपि भवन्ति। अपि च पौरुषेयाद् वचनाद 'एवमयं पुरुषो वेद' इति भवति प्रत्ययः, 'नैवमयमर्थः' इति। विप्लवते हि खल्वपि कश्चित् पुरुषकृताद् वचनात् प्रत्ययः। न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति।

ननु सामान्यतो दृष्टं पौरुषेयं वचनं वितथमुपलभ्य वचनसाम्यादिदमपि वितथमवगम्यते। न, अन्यत्वात्। न ह्यन्यस्य वितथभावेऽन्यस्य वैतथ्यं भवितुमर्हति, अन्यत्वादेव। न हि देवदत्तस्य श्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि श्यामत्वं भवितुमर्हति। अपि च पुरुषवचनसाधर्म्याद् वेदवचनं वितथमिति अनुमानव्यपदेशादवगम्यते। प्रत्यक्षस्तु वेदवचनेन प्रत्ययः। न चानुमानं प्रत्यक्षविरोधि प्रमाणं भवति। तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थः श्रेयस्करः।

एवं तर्हि श्रेयस्करो जिज्ञासितव्यः, किं धर्मजिज्ञासया? उच्यते—य एव श्रेयस्करः, स एव धर्मशब्देनोच्यते। कथमवगम्यताम्? यो हि यागमनुतिष्ठति, तं 'धार्मिकः' इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्त्ता स तेन व्यपदिश्यते। यथा—पाचको

अर्थात् प्रमाणित हो जाता है। (समाधान) उपदेश व्यामोह (=अज्ञान) से भी होते हैं। और व्यामोह न होने पर वेद से (=वेदज्ञानपूर्वक) भी होते हैं। और भी—पुरुषोच्चरित वचन से 'यह पुरुष इस प्रकार जानता है' ऐसा ज्ञान होता है, 'यह अर्थ ऐसा ही है' इसका ज्ञान नहीं होता। कोई ज्ञान पुरुष द्वारा उच्चरित वचन से विपरीत भी होता है, अर्थात् जैसा पुरुष कहता है, वैसा उपलब्ध नहीं होता। परन्तु वेदवचन में मिथ्या होने में कोई प्रमाण नहीं है।

(आक्षेप) अच्छा तो [वेदवचन से गम्यमान अर्थ के मिथ्या होने में] सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। पौरुषेय-वचन का मिथ्यात्व जानकर वचन-साम्य से यह (=वेद का वचन) भी असत्य है, ऐसा जाना जाता है। (समाधान) यह ठीक नहीं, [पौरुषेय वचन से वेदवचन के] भिन्न होने से। अन्य के मिथ्या होने पर अन्य का मिथ्यात्व नहीं हो सकता, अन्य होने से ही। देवदत्त के श्यामवर्ण होने से यज्ञदत्त का श्यामपना नहीं हो सकता। और भी—'पुरुषवचन के साधर्म्य से वेदवचन भी मिथ्या है' यह अनुमान से जाना जाता है। वेदवचन से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्षविरोधी अनुमान प्रमाण नहीं होता। इससे चोदना से लक्षित अर्थ श्रेयस्कर है।

(आक्षेप) अच्छा तो यही श्रेयस्कर अर्थ जिज्ञासा के योग्य होवे। धर्म की जिज्ञासा से क्या प्रयोजन? (समाधान) जो ही अर्थ श्रेयस्कर है, वही धर्म शब्द से कहा जाता है। कैसे जाना जाये? जो याग का अनुष्ठान करता है, उसे [लोक में] धार्मिक कहते हैं। जो जिसका करनेवाला होता है, वह उससे व्यपदिष्ट (=विशेषित) होता है। जैसे—पाचकः (=पकाने

लावकः इति । तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति, स धर्मशब्देनोच्यते । न केवलं लोके, वेदेऽपि **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'** (ऋ० १०।९०।१६) इति यजतिशब्दवाच्यमेव धर्मं समामनन्ति ।

वाला), लावकः (=काटनेवाला) । इसलिये जो पुरुष को निःश्रेयस से संयुक्त करता है, वह धर्म शब्द से कहा जाता है । न केवल लोक में [ही उसे धर्म कहा जाता, अपितु] वेद में भी—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋ० १०।९०।१६)= 'यज्ञ से यज्ञ को किया देवों ने, वे धर्म मुख्य हुये ।' इस [वेदवचन] में 'यज' धातु के वाच्य अर्थ को ही धर्म कहा है ।

विवरण—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' सूत्र में धर्म पद वाच्य क्या है, इस विषय में व्याख्याकारों का बहुत मतभेद है । यथा—

१. भर्तृहरि का मत है—धर्म अवस्थित (स्थिर=नित्य) वस्तु है । उसकी अग्निहोत्रादि से अभिव्यक्ति होती है । और उस (=अभिव्यक्ति) से प्रेरित हुआ [धर्म] फल को देनेवाला होता है । जैसे—स्वामी भृत्यों से सेवा में प्रेरित किया जाता है ।[1]

२. जयन्तभट्ट के लेखानुसार—वृद्ध मीमांसकों का मत है कि यागादि कर्मों से निर्वर्त्य (=उत्पन्न होनेवाला) अपूर्व ही धर्मपद वाच्य है ।[2]

३. शबरस्वामी का मत है—यागादि कर्म ही धर्म है (शाबर भाष्य) ।

४. प्रभाकर के अनुयायी कहते हैं—नियोगरूप चोदना वाक्यार्थ ही अपूर्व शब्द वाच्य है। वही धर्म शब्द से कहा जाता है ।[3]

५. जयन्त भट्ट का कहना है—'यागदान आदि से धर्म होता है' इत्यादि जो लौकिक प्रयोग हैं, वे संस्कार पक्ष के साक्षी हैं । अर्थात् धर्म अधर्म संस्काररूप आत्मा के गुण हैं । इस प्रकार **यज्ञेन यज्ञमयजन्त** वचन का भी याग दान आदि से उत्पद्यमान संस्काररूप धर्मपरक व्याख्यान करना चाहिये। संस्कार आत्मा का गुण स्थायी है, इसलिये धर्म भी स्थित है। उससे फल की निष्पत्ति होती है । इसलिये [**चित्रया यजेत पशुकामः** (तै० सं० २।४।६) इत्यादि

---

१. मीमांसकदर्शनम्—अवस्थित एव धर्मः । स त्वग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते । तत्प्रेरितस्तु फलप्रदो भवति । यथा स्वामी भृत्यैः सेवायां प्रेर्यते । महाभाष्यदीपिका पृष्ठ ३०, ३१ (पूना संस्करण) ।

२. वृद्धमीमांसका यागादिकर्मनिर्वर्त्यमपूर्वं नाम धर्ममभिवदन्ति । न्यायमञ्जरी, भाग १, पृष्ठ ७९ ।

३. वाक्यार्थ एव नियोगात्माऽपूर्वशब्दवाच्यः, धर्मशब्देन स एवोच्यत इति प्राभाकराः। न्यायमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७९ ।

उभयमिह चोदनया लक्ष्यते, अर्थोऽनर्थश्चेति। कोऽर्थः ? यो निःश्रेयसाय, ज्योतिष्टोमादिः। कोऽनर्थः ? य प्रत्यवायाय, श्येनो वज्रः इषु इत्येवमादिः। तत्र, अनर्थो धर्म उक्तो मा भूदिति अर्थग्रहणम्। कथं पुनरसावनर्थः ? हिंसा हि सा। हिंसा च प्रतिषिद्धेति। कथं पुनरनर्थः कर्त्तव्यतयोपदिश्यते ? उच्यते, नैव श्येनादयः कर्त्तव्या विज्ञा-

---

बोधित] चित्रादि याग झूठे नहीं हैं[1]। भर्तृहरि का मत जयन्तभट्ट के मत से पर्याप्त मिलता है।

६. वैयाकरणों का मत है कि—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋ० १०।९०।१६) में श्रूयमाण नपुंसक लिङ्ग धर्म शब्द धर्मसाधन यागादि का वाचक है।[2]

शबरस्वामी ने यद्यपि यागादि को धर्म कहा है, परन्तु यागादि के प्रध्वंसी (=विनाशी) होने से कालान्तर में फल की उत्पत्ति के लिये उन्होंने अपूर्व को स्वीकार किया है (द्र०—मीमांसा २।१।५, अधि० २)। यह अपूर्व आत्मनिष्ठ रहता है। नैयायिकों के मत में भी यह अपूर्व संस्कार-रूप आत्मा का गुण है॥

व्याख्या—चोदना से यहां दोनों लक्षित होते हैं—अर्थ और अनर्थ। अर्थ क्या है ? जो निःश्रेयस के लिये है। जैसे—ज्योतिष्टोम आदि। अनर्थ क्या है ? जो प्रत्यवाय=पाप=दुःख के लिये है। जैसे—श्येन वज्र इषु आदि [नामवाले कर्म]। [अर्थ-अनर्थ दोनों के चोदना से बोधित होने पर] अनर्थ धर्म न कहा जाये, इसलिये सूत्र में अर्थ पद का ग्रहण है। [ये श्येन आदि] अनर्थ कैसे हैं ? वह [क्रिया] हिंसारूप है, हिंसा [वेद में] प्रतिषिद्ध है। तो फिर [वेद में] अनर्थ कर्तव्यरूप से क्यों उपदिष्ट है ? श्येन आदि कर्तव्यरूप से नहीं जाने जाते हैं, अर्थात् नहीं कहे गये हैं। जो [पुरुष अपने शत्रु को] मारना चाहे, उसका यह उपाय है। इस रूप में उन [श्येनादि] का [वेद में] उपदेश है। श्येनेनाभिचरन् यजेत (षड्विंश ब्रा० ३।८)= 'अभिचार (=हिंसा) करता हुआ श्येन नामक याग से यजन करे' इस प्रकार कहा है, अभिचार करना चाहिये, ऐसा नहीं कहा। अर्थात् अभिचाररूप हिंसा करने का विधान वेद में नहीं किया है।

---

१. यागदानादिना धर्मो भवतीत्यपि लौकिकाः।
प्रयोगाः सन्ति ते चामी संस्क्रियापक्षसाक्षिणः॥

एवं 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (ऋ० १०।९०।१६) इति वैदिकोऽपि प्रयोगो तद्विषय एव व्याख्येयः। तस्य स्थायित्वेन कालान्तरे फलदानयोग्यतापत्तेः।

संस्कारो नृगुणः स्थायी तस्माद्धर्म इति स्थितम्।
तस्माच्च फलनिष्पत्तेर्न चित्रादौ मृषार्थता॥ न्यायमञ्जरी, भाग १, पृष्ठ ७९,८०॥

२. वैयाकरणास्तु 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (ऋ० १०।९०।१६) इत्यृचि श्रूयमाणं नपुंसकलिङ्गं धर्मशब्दं धर्मसाधनयागादिवाचकमाहुः [द्र०—हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन की टीका, पृष्ठ ३४; वामनीय लिङ्गानुशासन, पृष्ठ ११॥

यन्ते। यो हि हिंसितुमिच्छेत्, तस्यायमभ्युपाय इति हि तेषामुपदेशः । श्येनेनाऽभिचरन् यजेत् (षड्विंश ब्रा० ३।८) इति हि समामनन्ति, न अभिचरितव्यमिति ।

अपितु जो हिंसा करना चाहता है, उसके जहां अनेक [लौकिक] उपाय हैं, उनमें से एक श्येन कर्म भी उपाय है, इतना ही कहने में वेद का तात्पर्य है ।

विवरण—शबरस्वामी ने श्येनेनाभिचरन् यजेत में शतृप्रत्ययान्त अभिचरन् पद को प्रस्तुत करके श्येन वज्र इषु प्रभृति आभिचारिक यागों का विधायकत्व स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि इन अभिचार कर्मों में हिंसा होती है, और हिंसा अनर्थ है । इस प्रकार शबरस्वामी ने श्येनादि यागों का ब्राह्मणग्रन्थ में विधान होने पर भी इनमें हिंसा होने से उसने इन्हें दर्शपौर्णमास के समान धर्म नहीं माना है, अपितु अधर्म कहा है । उत्तरकालीन मीमांसकों ने शबरस्वामी के इस कथन की कड़ी आलोचना की है। मीमांसा शास्त्र को लोकायित मत से छुटकारा दिलाकर आस्तिक पथ पर लाने का निर्देश करनेवाले[1] भट्ट कुमारिल ने प्रकृत शावर भाष्य के व्याख्यानरूप श्लोकवार्तिक में शबर स्वामी के कथन का खण्डन करते हुये बड़े विस्तार (श्लोक २०४-२७४) से श्येनादियागों का धर्मत्व स्थापित किया है। इसी प्रसङ्ग में श्लोक २२९ की व्याख्या करता हुआ भट्ट उम्बेक लिखता है—'श्येनादि यागों का न साक्षात्, न उपचार से, और ना ही उसके फल का अनर्थत्व है, इसलिये उसके अनर्थत्व का प्रतिपादन करनेहारा 'श्येनो वज्र इषुः' इत्यादि भाष्य उपेक्षणीय है । कहा भी है—दुष्कर्म में लिप्त, कार्य-अकार्य को न जाननेहारे, तथा मार्गभ्रष्ट हुए गुरु के भी त्याग का शास्त्र में विधान किया है ।[2]

श्लोकवार्तिक के आरम्भ में भट्ट कुमारिल ने लिखा है कि—'प्राचीन व्याख्याकारों ने मीमांसा शास्त्र को लोकायतों (=नास्तिक मतानुयायियों) का शास्त्र बना दिया था । मैंने उसे पुनः आस्तिक मार्ग पर लाने के लिये यह प्रयत्न किया है' ।[3] इस श्लोक की व्याख्या में पार्थसारथि मिश्र और भट्ट उम्बेक ने लिखा है—'भर्तृमित्र प्रभृति व्याख्याकारों ने नित्य (विहित) और निषिद्ध कर्मों का इष्ट-अनिष्ट फल नहीं होता है[4]', ऐसा लिखा है । हमारे विचार में कोई भी

---

१. प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायती कृता ।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया ।। प्रस्तावना श्लोक १० ।।

२. श्येनादीनां तु न साक्षान्नाप्युपचारान्नापि तत्फलस्यानर्थत्वमिति तस्यानर्थत्वप्रतिपादनपरं 'श्येनो वज्र इषुः' इत्यादिभाष्यमुपेक्षणीयम् । तदुक्तम्—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथाप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ।। उम्बेकीय टीका, पृष्ठ १०८ ।।

३. इसी पृष्ठ की टि० १ पर निर्दिष्ट भट्ट कुमारिल का वचन ।

४. 'मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायतैव सती लोकायती कृता, नित्य[विहित]निषिद्धयोरिष्टानिष्टफलं नास्तीत्यादि बह्वपसिद्धान्तपरिग्रहेणेति' । न्यायरत्नाकराख्य टीका पृष्ठ ४ । इसी प्रकार भट्ट उम्बेक ने भी तात्पर्य टीका, पृष्ठ ३ पर लिखा है ।

नन्वशक्तमिदं सूत्रमिमावर्थावभिवदितुम्—चोदनालक्षणो धर्मः, न इन्द्रियादिलक्षणः; अर्थश्च धर्मः, न अनर्थ इति। एकं हीदं वाक्यं, तदेवं सति भिद्येत। उच्यते, यत्र वाक्यादर्थोऽवगम्यते, तत्रैवम्। तत्तु वैदिकेषु, न सूत्रेषु। अन्यतोऽवगतेऽर्थे सूत्रम्, एवमर्थमिदमित्यवगम्यते। तेन च एकदेशः सूत्र्यत इति सूत्रम्। तत्र भिन्नयोरेव

आस्तिक यह नहीं कह सकता कि विहित और निषिद्ध कर्मों का इष्ट-अनिष्ट फल नहीं होता। सम्भव है शबरस्वामी के श्येनादि हिंसाप्रधान यागों के अनर्थत्व के समान ही भर्तृमित्र प्रभृति ने कतिपय यज्ञीय क्रिया-कलापों का एकमात्र इष्ट-अनिष्ट अदृष्ट फल न मानकर दृष्ट इष्ट-अनिष्ट फल भी स्वीकार किया होगा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी श्रौत यज्ञों का यथावत् विधान स्वीकार करते हुये[1] इनका अदृष्ट फल के साथ दृष्ट फल वायु वृष्टि-जल आदि की शुद्धि भी माना है[2]। हम श्रौत नित्य यज्ञों के दृष्टफलत्व का उपपादन अन्य प्रकार से करते हैं। उसके लिये भाष्य के आरम्भ में मुद्रित श्रौत-यज्ञ-मीमांसा प्रकरण देखें। उसी में हमने समस्त वैदिक वाङ्मय के साक्ष्य से यह प्रतिपादन किया है कि श्रौत 'पशुबन्ध' यज्ञों में पशुओं की हिंसा विहित नहीं है, और ना ही वैष्णव मतानुयायियों के अनुसार पिष्ट-पशु से यज्ञ करने का विधान है। वास्तविकता यह है कि श्रौत पशुबन्ध यज्ञों में पशुओं का पर्यग्निकरण संस्कार करके उनको छोड़ देते हैं।[3] कर्म की पूर्ति यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पुरोडाश से की जाती है। हमने इस प्राचीन वैदिक पशुबन्ध यज्ञों की प्रक्रिया के निदर्शन में न कहीं कल्पना की है, और नाही बलात् व्याख्यान किया है। पशुबन्ध यज्ञों में पशुओं की हिंसा का विधान उत्तरकालीन याज्ञिकों द्वारा प्रवृत्त हुआ है, इसे वहीं सप्रमाण प्रस्तुत किया है॥

व्याख्या—(आक्षेप) यह सूत्र इन दो अर्थों को कहने में असमर्थ है—(१) चोदना से लक्षित होनेवाला धर्म है, इन्द्रियादि से लक्षित होनेवाला नहीं; तथा (२) अर्थ ही धर्म है, अनर्थ नहीं। [चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः] यह एक ही वाक्य है, इस प्रकार होने पर अर्थात् दो कार्यों का कथन करने पर वाक्यभेद हो जायेगा। (समाधान) जहां वाक्य से अर्थ जाना जाता है, वहां इस प्रकार [वाक्यभेद] दोष होता है। यह दोष वैदिक वाक्यों में होता है, सूत्रों में नहीं। अन्य प्रकार से अवगत अर्थ को कहने के लिये सूत्र होता है, इसलिये यह [सूत्र] है, यह जाना जाता है। और इस कारण [भिन्न-भिन्न वाक्यों के] एक-

१. 'एतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र (=वेदभाष्ये) न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्।' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय के आरम्भ में।

२. 'स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते। स तद्द्वारा सर्वजगत् सुखकार्येव भवति'। द्र०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषय-विचार में कर्मकाण्ड प्रकरण।

३. 'पशुयज्ञ' के नाम से प्रसिद्ध यज्ञों का वैदिक नाम 'पशुबन्ध' है, पशुयाग नहीं है।

वाक्ययोरिमावेकदेशावित्यवगन्तव्यम् । अथवा अर्थस्य सतश्चोदनालक्षणस्य धर्मत्व-मुच्यत इत्येकार्थमेवेति ॥२॥ इति धर्मलक्षणाऽधिकरणम् ॥२॥

[धर्मप्रामाण्यपरीक्षाऽधिकरणम् ॥३॥]

तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥३॥

उक्तमस्माभिः—'चोदनानिमित्तं धर्मस्य ज्ञानम्' इति । तत् प्रतिज्ञामात्रेणोक्तम् । इदानीं तस्य निमित्तं परीक्षिष्यामहे—किं चोदनैवेति, अन्यदपीति ? तस्मान्न तावन्निश्चीयते चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति ॥३॥ इति धर्मप्रामाण्यपरीक्षाऽधिकरणम् ॥३॥

[धर्मे प्रत्यक्षस्याऽप्रामाण्याऽधिकरणम् ॥४॥]

तदुच्यते—

देश के सूत्रण (=सूत के समान वेष्टन) से सूत्र कहाता है । वहां [उक्त अभिप्राय के अनुसार] दो भिन्न-भिन्न वाक्यों (=चोदनालक्षण एव धर्मः, न इन्द्रियादिलक्षणः; अर्थ एव धर्मः, नानर्थः) के ये एकदेश हैं, ऐसा जानना चाहिये । अथवा अर्थ होते हुये जिसका चोदनालक्षण होवे, उसको धर्म कहा जाता है । इस प्रकार [यह सूत्र] एकार्थक ही है ॥२॥

तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥३॥

सूत्रार्थ—(तस्य) उस [चोदनालक्षणवाले धर्म] के (निमित्तपरीष्टिः) निमित्त की परीक्षा करते हैं ।

व्याख्या—हम कह चुके हैं कि—'धर्म का ज्ञान चोदना से होता है' । यह प्रतिज्ञामात्र से कहा है । इस समय इस [धर्म] के निमित्त की परीक्षा करेंगे कि—क्या चोदना ही [धर्म का निमित्त है, अथवा] अन्य भी ? इस कारण निश्चय नहीं होता कि चोदना से लक्षित होनेवाला अर्थ ही धर्म है ॥३॥

विवरण—यह सूत्र वक्ष्यमाण परीक्षाऽधिकरण का प्रतिज्ञारूप है । अतः इसकी उत्तर अधिकरण के उपोद्घातरूप में संगति जाननी चाहिये । शबरस्वामी से प्राचीन वृत्तिकार उपवर्ष ने सूत्र ३, ४, ५ की अन्य प्रकार से व्याख्या की थी । उसका निर्देश शबरस्वामी ने ५ पांचवें सूत्र के व्याख्यान में किया है । वृत्तिकार ने इस सूत्र में 'न' का अध्याहार करके अर्थ किया है—'धर्म के निमित्त की परीक्षा नहीं करनी चाहिये । प्रत्यक्षादि प्रमाण लोक प्रसिद्ध हैं । उन्हीं में शब्द प्रमाण (=चोदना) भी है । द्र०—पृष्ठ २२ ॥३॥

व्याख्या—उसे (=धर्म के निमित्त को परीक्षा को] कहते हैं—

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्, अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।।४।।

इदं परीक्ष्यते—प्रत्यक्षं तावदनिमित्तम् । किं कारणम् ? एवंलक्षणकं हि तत्—**सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म, तत् प्रत्यक्षम्** । सति इन्द्रियार्थसम्बन्धे या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते, तत् प्रत्यक्षम् । भविष्यँश्च एषोऽर्थो, न ज्ञानकालेऽस्तीति । सतश्चैतदुपलम्भनं, नासतः । अतः प्रत्यक्षमनिमित्तम् । बुद्धिर्वा जन्म वा सन्निकर्षो वेति, नैषां कस्यचिदवधारणार्थमेतत् सूत्रम् । सति इन्द्रियाऽर्थसम्प्रयोगे, नासति इत्येतावदवधार्यते । अनेकस्मिन्नवधार्यमाणे भिद्येत वाक्यम् । प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकारणत्वमिति ।।४।। **इति धर्मे प्रत्यक्षस्याऽप्रामाण्याऽधिकरणम् ।।४।।**

सत्सम्प्रयोगे ···विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।।४।।

सूत्रार्थ—(इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों के (सत्संप्रयोगे) [अर्थ के साथ] सम्बन्ध होने पर (पुरुषस्य) पुरुष की [जो] (बुद्धिजन्म) बुद्धि की उत्पत्ति होती है, (तत् प्रत्यक्षम्) वह 'प्रत्यक्ष' कहाता है । [वह प्रत्यक्ष] (विद्यमानोपलम्भनत्वात्) विद्यमान [वस्तु] का उपलम्भक (=ज्ञान करानेवाला) होने से [धर्म के ज्ञान में] (अनिमित्तम्) निमित्त नहीं हो सकता [क्योंकि धर्म भविष्यद्-विषयक है] ।

व्याख्या—यह परीक्षा की जाती है—प्रत्यक्ष [धर्म में] निमित्त नहीं है। क्या कारण है ? वह [प्रत्यक्ष] इस लक्षणवाला है—'सत्संप्रयोगे··· प्रत्यक्षम्' । इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर पुरुष की जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह प्रत्यक्ष [कहाता] है। यह [धर्मरूप] अर्थ भविष्य-विषयक है, [प्रत्यक्ष] ज्ञान के समय विद्यमान नहीं है । यह [प्रत्यक्ष] सत् (=विद्यमान=वर्तमानकाल-विषयक) का ज्ञान करानेवाला है, असत् (=अविद्यमान) का [ज्ञान करानेवाला] नहीं है। इस कारण प्रत्यक्ष [धर्म के ज्ञान में] निमित्त नहीं है। बुद्धि (=ज्ञान), अथवा बुद्धिजन्य हानोपादान बुद्धि, अथवा [इन्द्रिय और अर्थ का] सन्निकर्ष इनमें से किसी एक का नाम प्रत्यक्ष है, इसके अवधारण (=निश्चय) के लिये यह सूत्र नहीं है। [इस सूत्र से तो] इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध होने पर ही प्रत्यक्ष होता है, [इन्द्रिय-अर्थ का सम्बन्ध] नहीं होने पर नहीं होता, इतना ही निश्चित किया है । अनेक विषयों के निर्धारण करने पर वाक्यभेद होता है ।[अनुमानादि अन्य प्रमाणों के]प्रत्यक्षपूर्वक होने से अनुमान उपमान अर्थापत्ति का भी धर्म में अकारणत्व जानना चाहिये [अर्थात् प्रत्यक्ष के धर्मज्ञान में कारण न होने पर प्रत्यक्षाश्रित अनुमानादि भी धर्म में प्रमाण नहीं हो सकते] ।।४।।

विवरण—इस सूत्र की व्याख्या वृत्तिकार ने सूत्रस्थ 'सत्' 'तत्' पदों का स्थान बदलकर की है। देखें—पृष्ठ २२-२४ ।।४।।

[धर्मे वेदप्रामाण्याऽधिकरणम् ॥५॥]

अभावोऽपि नास्ति । यतः—

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥५॥

औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः । उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया । अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धः, नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः । औत्पत्तिकः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य अग्निहोत्रादिलक्षणस्य धर्मस्य निमित्तं प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्य । कथम्? उपदेशो हि भवति । उपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्य उच्चारणम् । अव्यतिरेकश्च ज्ञानस्य । न हि तदुत्पन्नं ज्ञानं विपर्येति । यच्च नाम ज्ञानं न विपर्येति । न तच्छक्यते

व्याख्या—[प्रत्यक्षादि प्रमाणों के धर्म में निमित्त न होने से धर्म के अभाव की प्राप्ति में कहते हैं कि प्रमाण का] अभाव भी नहीं है । जिस कारण—

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः ·····अनपेक्षत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थ—(शब्दस्यार्थेन) शब्द का अर्थ के साथ (सम्बन्धः) सम्बन्ध (औत्पत्तिकः) स्वाभाविक है । (तस्य) उस धर्म का [निमित्त] (ज्ञानम्) ज्ञानसाधन[1] (उपदेशः) उपदेश है । [उस ज्ञान का] (अव्यतिरेकः) व्यतिरेक=विपर्यय नहीं होता है । [इस कारण] (तत्) वह चोदना (अनुपलब्धेऽर्थे) अनुपलब्ध अर्थ में भी (प्रमाणम्) प्रमाण है। (बादरायणस्य) बादरायण आचार्य के मत में, (अनपेक्षत्वात्) अपेक्षा से रहित अर्थात् स्वतःप्रमाण होने से ।

व्याख्या—'औत्पत्तिक' यह शब्द नित्य (=स्वाभाविक) का वाचक है, ऐसा हम कहते हैं[2] । उत्पत्ति शब्द लक्षणा से भाव (=सत्ता) को कहता है । शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अवियुक्त (= वियुक्त न होनेवाला) अर्थात् नित्य=स्वाभाविक है, उत्पन्न हुये शब्द और अर्थ का पीछे से जोड़ा गया सम्बन्ध नहीं है । शब्द का अर्थ के साथ औत्पत्तिक=नित्य=स्वाभाविक सम्बन्ध उस प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अज्ञात अग्निहोत्रादिलक्षण धर्म का निमित्त है । किस प्रकार ? उपदेश होता है । उपदेश का अर्थ है विशिष्ट शब्द का उच्चारण । [चोदना-वचन का उपदेश धर्म में प्रमाण है, क्योंकि चोदना-वचन से ज्ञायमान] ज्ञान का व्यतिरेक नहीं होता, वह उत्पन्न ज्ञान विपर्यय (=मिथ्यात्व) को प्राप्त नहीं होता । जो ज्ञान है, वह कभी विपर्यास को

---

१. ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्, करणे ल्युट् । तेनोपदेशस्य विशेषणं ज्ञेयम् ।

२. शबरस्वामी का 'ब्रूमः' लिखना यह बताता है कि यहां व्याख्याकार ने पूर्व प्रतिज्ञात लौकिकार्थग्रहण का परित्याग करके विशेषार्थ स्वीकार किया है । ऐसा ही निर्देश मी० भा० २।१।१५ में किया है—'चोदनेत्यपूर्वं ब्रूमः ।'

वक्तुं न एतदेवमिति । यथा भवति=यथा विज्ञायते, न तथा भवति । यथैतन्न विज्ञायते, तथैतदिति । अन्यदस्य हृदये अन्यद्वाचि स्यात् । एवं वदतो विरुद्धमिदं गम्यते—अस्ति नास्ति वेति । तस्मात् तत् प्रमाणम्, अनपेक्षत्वात् । न ह्येवं सति प्रत्ययाऽन्तरमपेक्षितव्यं, पुरुषान्तरं वापि । अयं प्रत्ययो ह्यसौ । बादरायणग्रहणं बादरायणस्येदं मतं कीर्त्यते बादरायणं पूजयितुं, नाऽऽत्मीयं मतं पर्युदसितुम् ॥

प्राप्त नहीं होता । [उस ज्ञान के सम्बन्ध में] यह नहीं कह सकते कि वह वैसा नहीं है । जैसा [ज्ञान] होता है=जैसा जाना जाता है, वैसा नहीं होता । जैसा यह नहीं जाना जाता, वैसा होता है । [ऐसा मानने पर] इस के हृदय में अन्य होवे और वाणी में अन्य होवे । ऐसा कहनेवाले का कथन विरुद्ध जाना जाता है—'है और नहीं है' [अर्थात् जो कहता है—'चोदना से जैसा अर्थ जाना है, वैसा नहीं है' इस कथन में 'अर्थ ज्ञात होता है और वैसा नहीं है' यह परस्पर विरुद्ध है] । इस कारण वह (=चोदना का उपदेश) प्रमाण है, अनपेक्ष (=प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने से, अर्थात् स्वतःप्रमाण) होने से । ऐसा (=स्वतःप्रामाण्य) होने पर न प्रत्ययान्तर (=ज्ञानान्तर=प्रमाणान्तर) की अपेक्षा है, और नाही पुरुषान्तर की । यह प्रत्यय (=ज्ञान) निश्चय ही 'वह है' [=इस रूप का होता है] । बादरायण का ग्रहण 'बादरायण' का यह मत कहा जाता है, बादरायण की पूजा के लिये, अपने स्वमत के परित्याग के लिये नहीं है ।

विवरण—शबरस्वामी और उसके अनुयायी इस सूत्र से केवल शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता (=स्वाभाविकता) का प्रतिपादन करते हैं । ये लोग वेद का प्रकाशक और जगत् का निर्माता किसी पुरुषविशेष ईश्वर, महाभूत, अपरनाम ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार नहीं करते । ये लोग वेद को अपौरुषेय अनादिसिद्ध और जगत् को भी अनादिसिद्ध मानते हैं ।[1] इसी प्रकार की मीमांसा शास्त्र की व्याख्या के कारण मीमांसा शास्त्र लोक में निरीश्वरवादी के रूप में प्रसिद्ध हो गया है । इस दोष से बचाने के लिये वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य श्री वेङ्कटनाथाचार्य अपरनाम वेदान्ताचार्य ने सेश्वरमीमांसा के नाम से मीमांसा-भाष्य की रचना की । यह केवल प्रथमाध्याय के आरम्भिक दो पादों पर ही उपलब्ध होता है । प्रस्तुत सूत्र में आचार्य जैमिनि ने शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता में बादरायण के मत को स्ववचन में पुष्टि के लिये उद्धृत किया है, भगवान् बादरायण ब्रह्मसूत्र के रचयिता हैं । वे शास्त्र (=वेद) की योनि कारण ब्रह्म को मानते हैं ।[2] अतः सूत्रकार जैमिनि को शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता वेद को ईश्वरीय उपदेश मानकर ही दर्शाना अभीष्ट है, यह इस सूत्र में बादरायण आचार्य के निर्देश से निःसन्देह कहा जा सकता है । इस सूत्र का बादरायण और जैमिनि आचार्यों का जो अभिमत अर्थ हमने समझा है, उसे हम प्रकृत-भाष्य की व्याख्या की समाप्ति के अनन्तर लिखेंगे ॥

---

१. जैन मतानुयायी भी जगत् को अनादिसिद्ध, कर्म को फल का प्रदाता, और जगत् कर्तृरूप से तथा कर्मफलप्रदातृरूप से ईश्वर को नहीं मानते । इन तीन अंशों में शबरादि नवीन मीमांसकों का जैन मत से साम्य है ।

२. शास्त्रयोनित्वात् । वेदान्त १।१।३॥

वृत्तिकारस्तु—अन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयाञ्चकार '**तस्य निमित्तपरीष्टिः**' इत्येवमादिम्। "न परीक्षितव्यं निमित्तं, प्रत्यक्षादीनि हि प्रसिद्धानि प्रमाणानि । तदन्तर्गतं च शास्त्रम्, अतस्तदपि न परीक्षितव्यम्।

अत्रोच्यते—व्यभिचारात् परीक्षितव्यम्। शुक्तिका हि रजतवत् प्रकाशते यतः, तेन प्रत्यक्षं व्यभिचरति। तन्मूलत्वाच्चानुमानादीन्यपि । तत्रापरीक्ष्य प्रवर्त्तमानोऽर्थाद् विहन्येत, अनर्थं चाऽऽप्नुयात् कदाचित्।

नैतदेवम्। यत् प्रत्यक्षं न तद् व्यभिचरति, यद् व्यभिचरति न तत् प्रत्यक्षम्। किं तर्हि प्रत्यक्षम्?

तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम् । यद्विषयं ज्ञानं, तेनैव संप्रयोगे इन्द्रियाणां पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्। यदन्यविषयज्ञानमन्यसंप्रयोगे भवति, न तत् प्रत्यक्षम्।

व्याख्या—**वृत्तिकार**[1] ने तस्य निमित्तपरीष्टिः इत्यादि (१।१।३-५) ग्रन्थ (=सूत्र सन्दर्भ) की व्याख्या अन्य ढंग से की है—

[2][धर्म के] निमित्त की परीक्षा नहीं[3] करनी चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रसिद्ध ही हैं। उन्हीं के अन्तर्गत शास्त्र (=शब्दप्रमाण) भी है, इस कारण उसकी भी परीक्षा नहीं करनी चाहिये [सूत्र ३]।

(आक्षेप) इस विषय में कहते हैं कि [प्रत्यक्षादि में] व्यभिचार होने से [उनकी] परीक्षा करनी चाहिये। जिस कारण सीप चांदी के समान प्रकाशित=प्रतीत होती है, इससे प्रत्यक्ष व्यभिचरित होता है। प्रत्यक्षमूलक होने से अनुमानादि भी [व्यभिचरित होते हैं]। इन [प्रत्यक्षादि के विषय] में बिना परीक्षा किये प्रवृत्त हुआ [पुरुष] अर्थ (=निःश्रेयस) से भटक जायेगा, और कभी अनर्थ (=दुःखादि) को प्राप्त करेगा। (समाधान) यह [कथन] ठीक नहीं है। जो प्रत्यक्ष है, वह कभी व्यभिचरित नहीं होता, और जो व्यभिचरित होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है। तो प्रत्यक्ष क्या है?

तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म [4]सत्प्रत्यक्षम्। जिस विषयवाला ज्ञान है, उसी विषय के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर पुरुष की बुद्धि (=ज्ञान) का उत्पन्न होना सत्प्रत्यक्ष है। जो अन्यविषयक ज्ञान अन्य विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर

---

१. इन वृत्तिकार का नाम उपवर्ष था। यह निर्देश शबर स्वामी इसी सूत्र की व्याख्या में आगे करेंगे। २. प्रकरणानुरोध से इस पद का हमने अध्याहार किया है।

३. वृत्तिकार उपवर्ष ने इस सूत्र में 'न' पद का अध्याहार करके व्याख्या की है।

४. वृत्तिकार ने इस सूत्र के 'तत्' और 'सत्' शब्दों का स्थान परिवर्तन करके प्रत्यक्ष-लक्षण को दोषरहित बनाया है।

कथं पुनरिदमवगम्यते—इदं तत्संप्रयोगे, इदमन्यसंप्रयोगे इति? यद् न अन्य-संप्रयोगे तत् तत्संप्रयोगे। एतद्विपरीतमन्यसंप्रयोगे इति। कथं ज्ञेयं यच्छुक्तिकायामपि रजतं मन्यमानो रजतसंनिकृष्टं मे चक्षुरिति मन्यते? बाधकं हि यत्र ज्ञानमुत्पद्यते—नैतदेवं, मिथ्याज्ञानमिति, तत् अन्यसंप्रयोगे। विपरीतं तत्संप्रयोगे इति। प्राग्बाधक-ज्ञानोत्पत्तेः कथमवगम्यते, यदा न तत्काले सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्य वा कश्चिद् विशेषः? यदा हि चक्षुरादिभिरुपहतं मनो भवति, इन्द्रियं वा तिमिरादिभिः, सौक्ष्म्यादि-

---

होता है, वह प्रत्यक्ष नहीं है। [इस से सीप के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर जो चांदी का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष नहीं है।]

विवरण—वृत्तिकारस्तु—इन वृत्तिकार का नाम आचार्य उपवर्ष है। इनके सम्बन्ध में विशेष विवरण आरम्भ में मुद्रित शास्त्रावतार प्रकरण में देखें। **तस्य निमित्तपरीष्टिरित्येवमादिम्**—भाष्यकार ने यहां से आरम्भ करके कहां तक वृत्तिकार के पाठ का निदर्शन कराया है, यह अस्पष्ट है। इस प्रकरण में सूत्र ३—५ की की गई नई व्याख्या वृत्तिकार की है, इतना स्पष्ट है। परन्तु इन सूत्रों के अर्थों के साथ जो आक्षेप-समाधानरूप भाष्य है, वह भी वृत्तिकार से ही सम्बद्ध है, अथवा शबरस्वामी ने प्रकरण-संगति के लिये इसकी योजना की है, यह अज्ञात है। निरालम्बवाद और शून्यवाद का खण्डन तो शबरस्वामी कृत ही है, क्योंकि सूत्रकार जैमिनि और वृत्तिकार उपवर्ष के बहुत पश्चात् गौतमबुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था। और उनके भी कई सौ वर्ष पश्चात् बौद्धों ने दार्शनिक सिद्धान्तों की व्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत की थी।

न परीक्षितव्यम्—इस व्याख्या के अनुसार 'न' पद का अध्याहार करना होता है।

तत्सम्प्रयोगे सत्प्रत्यक्षम्—वृत्तिकार ने सूत्रकार-प्रयुक्त 'सत्' और 'तत्' पदों का स्थान परिवर्तन करके प्रत्यक्ष के लक्षण में उपस्थित होनेवाले दोष का निराकरण किया है॥

व्याख्या—(आक्षेप) यह कैसे जाना जाता है कि—'यह [ज्ञान] उसी विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने से हुआ है, और यह अन्य विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर हुआ है? (समाधान) जो ज्ञान अन्य विषय के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर नहीं हुआ, वह उसी विषय के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर हुआ है। इस से विपरीत [ज्ञान] अन्य विषय के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध होने पर हुआ है। (आक्षेप) यह कैसे जाना जाये कि [यह ज्ञान उस विषय के साथ ही इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर हुआ है, क्योंकि] सीप में भी चांदी को मानता हुआ पुरुष चांदी के साथ ही मेरी आंख सन्निकृष्ट है, ऐसा मानता है? (समाधान) जहां पर बाधक ज्ञान उत्पन्न होता है—'यह ऐसा नहीं है' [जैसा जाना था,] मिथ्या ज्ञान है, वह अन्य विषय के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर हुआ है। [इससे] विपरीत [जहां बाधक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, वह] उस विषय के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर हुआ है, [ऐसा जानना चाहिये]। (आक्षेप) बाधक ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व कैसे जाना जाये, जब कि उस काल में सम्यक्ज्ञान वा मिथ्याज्ञान में कोई अन्तर ही नहीं है? (समाधान) जब चक्षु आदि इन्द्रियों से मन उपहत (=दूषित) होता है, अथवा तिमिर आदि रोग से इन्द्रिय उपहत होती

भिर्बाह्यो वा विषयः, ततो मिथ्याज्ञानम् । अनुपहतेषु हि सम्यग्ज्ञानम् । इन्द्रियमनोऽर्थसंनिकर्षो हि सम्यग्ज्ञानस्य हेतुः । असति तस्मिन्मिथ्याज्ञानम् । तदुभयगतो दोषो मिथ्याज्ञानस्य हेतुः । दुष्टेषु हि ज्ञानं मिथ्या भवति । कथमवगम्यते? दोषापगमे संप्रतिपत्तिदर्शनात् । कथं दुष्टादुष्टावगम इति चेत्, प्रयत्नेनान्विच्छन्तो न चेद्दोषमवगच्छेमहि, प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि । तस्माद् यस्य च दुष्टं करणं, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययो, नान्य इति ।।

हैं, अथवा सौक्ष्म्य आदि कारणों से बाह्य-विषय उपहत होता है, तब मिथ्या ज्ञान होता है । [मन इन्द्रिय और बाह्य-विषयों के] अनुपहत (=दूषित न) होने पर सम्यक्ज्ञान होता है । इन्द्रिय मन और अर्थ का सन्निकर्ष ही सम्यक्ज्ञान का हेतु होता है । और उस (=इन्द्रिय मन और अर्थ के सन्निकर्ष) के न होने पर मिथ्याज्ञान होता है । उन दोनों (=इन्द्रिय-मनरूप करण और बाह्य-विषय) को प्राप्त दोष ही मिथ्याज्ञान का हेतु होता है । [इन्द्रिय मन और बाह्य-विषयों के] दूषित होने पर ही [उत्पन्न] ज्ञान मिथ्या होता है । कैसे जाना जाता है ? [इन्द्रिय मन और बाह्य-विषयों के] दोषों के दूर हो जाने पर सम्यक् ज्ञान होने से । [जैसे पीलिया रोगवाले को सभी वस्तुएं पीली दीखती हैं, परन्तु रोग निवृत्त हो जाने पर वे वस्तुएं अपने रूपवाली ही दिखाई देती हैं।] 'दुष्ट और अदुष्ट का ज्ञान कैसे होवे' यह पूछा जाये, तो प्रयत्न से ढूंढते हुये भी यदि किसी दोष का ज्ञान न होवे, तो प्रमाण के अभाव में [उत्पन्न ज्ञान] अदुष्ट है, ऐसा मानते हैं । इसलिये जिसका करण (=इन्द्रिय-मन) दुष्ट है, और जहां 'मिथ्या' ऐसी प्रतीति होती है, वही मिथ्या ज्ञान है, अन्य नहीं ।

विवरण—चक्षुरादिभिरुपहतं मनः— जब इन्द्रियान्तर से सम्बद्ध मन अन्य इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करता है, तब वह चक्षु इन्द्रिय आदि से उपहत होता है । **सौक्ष्म्यादिभिर्बाह्यो वा विषयः—** भाष्यकार ने 'आदि' शब्द से किन कारणों का ग्रहण किया है, जिनसे विद्यमान वस्तु का भी ग्रहण नहीं होता, यह विचारणीय है । चरक सूत्रस्थान अ० ११, खण्ड ८ में विद्यमान रूपवाले द्रव्यों की जिन कारणों से प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि होती है, उन्हें इस प्रकार गिनाया है—अतिसन्निकर्ष (=अतिनिकटता), अतिविप्रकर्ष (=अतिदूरता), [द्रव्यान्तर का] आवरण, इन्द्रियों की दुर्बलता, मन की चञ्चलता, समान रूपवाला होना, अभिभव (=तिरस्कृत=दब जाना) और अतिसूक्ष्म होना ।[1] ये ही आठ कारण सांख्यकारिका (सं० ७) में भी लिखे हैं।[2] महाभाष्य ४।१।३ में पतञ्जलि ने लिखा है—छः कारणों से विद्यमान वस्तुओं की भी उपलब्धि नहीं होती—अतिसन्निकर्ष, अतिविप्रकर्ष, मूर्त्यन्तर से व्यवधान, तम से छिपा रहना, इन्द्रियों की दुर्बलता

---

१. सतां च रूपाणाम् अतिसन्निकर्षाद् अतिविप्रकर्षाद् आवरणात् करणदौर्बल्यात् मनोऽनवस्थानात् समानाभिव्याहाराद् अभिभवाद् अतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः । चरक, सूत्र० ११।८।।

२. अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिव्याहाराच्च ।। सांख्यकारिका ७।।

ननु सर्व एव निरालम्बनः स्वप्नवत् प्रत्ययः । प्रत्ययस्य हि निरालम्बनतास्वभाव उपलक्षितः स्वप्ने । जाग्रतोऽपि स्तम्भ इति वा कुडच इति वा प्रत्यय एव भवति, तस्मात् सोऽपि निरालम्बनः । उच्यते – स्तम्भ इति जाग्रतो बुद्धिः सुपरिनिश्चिता, कथं विपर्यसिष्यतीति ? स्वप्नेऽप्येवमेव सुपरिनिश्चिताऽऽसीत् । प्राक् प्रबोधनाद् न तत्र कश्चिद्विशेष इति । न, स्वप्ने विपर्ययदर्शनात्, अविपर्ययाच्च इतरस्मिन् । तत्सामान्यादितरत्रापि भविष्यतीति चेत्, यदि प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययस्य मिथ्याभावः, जाग्रत्-

---

और अतिप्रमाद ।[1] सांख्यदर्शन अ० १, सूत्र १०८, १०९ में विद्यमान विषय के भी इन्द्रियों का विषय न होने के पांच कारण लिखे हैं—अतिदूर, आदि शब्द से अतिसमीप, इन्द्रिय का हान (=हानि=दुर्बलता), इन्द्रिय और मन के मध्य अन्य वस्तु का उपादान, और अतिसूक्ष्मता ॥[2]

[निरालम्बनवाद का खण्डन]

विशेष—प्रत्यक्ष-प्रकरण के अनुरोध से अब भाष्यकार निरालम्बनवाद और शून्यवाद का खण्डन करते हैं—

व्याख्या—(आक्षेप) सारा ही ज्ञान स्वप्न के समान निरालम्बन (=आधार-रहित) है। ज्ञान का निरालम्बनता (=आधारशून्यता)-स्वभाव स्वप्न में देखा गया है। [अर्थात् स्वप्न में जो भी ज्ञान होता है, उसका कोई बाह्य वस्तु आधार नहीं होती।] जागरित पुरुष को भी स्तम्भ (=खम्बा) वा कुडच (=दीवार) इस प्रकार का ज्ञान ही होता है, इसलिये वह (=जागरित अवस्था का ज्ञान) भी निरालम्बन है। (समाधान) जागरित पुरुष को "स्तम्भ" रूप जो ज्ञान होता है, वह अच्छे प्रकार निश्चित होता है, वह विपर्यसित (=उलटा=मिथ्या) कैसे होगा ? (आक्षेप) स्वप्नकाल में भी [जो ज्ञान हुआ था,] वह भी इसी प्रकार सुनिश्चित था। जागने से पूर्व तक[3] उस (=स्वप्नज्ञान) में कुछ विशेष नहीं है। (समाधान) ऐसा नहीं है, स्वप्नकाल के ज्ञान में [जागने पर] विपर्यास देखा जाता है, तथा दूसरे (=जागरित अवस्था के ज्ञान) में विपर्यास नहीं देखा जाने से [भेद है]। ज्ञानसामान्य से दूसरे (=जागरित काल के ज्ञान) में भी [ज्ञान वैसा ही मिथ्या] होगा, ऐसा यदि कहा जाये, तो [यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि] यदि ज्ञानत्वमात्र से स्वप्नज्ञान का मिथ्यात्व माना जाये, तो

---

१. षड्भिः प्रकारैः सतां भावानामनुपलब्धिर्भवति—अतिसन्निकर्षाद् अतिविप्रकर्षान्मूर्त्यन्तरव्यवधानात् तमसावृतत्वाद् इन्द्रियदौर्बल्याद् अतिप्रमादाच्च ॥ महाभाष्य ४।१।३॥

२. विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य; सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ॥ सांख्य सूत्र १।१०८,१०९ ॥

३. प्राक्प्रबोधनात् को पूर्वान्वयी, अर्थात् 'सुनिश्चिताऽऽसीत् प्राक्प्रबोधनात्' मानने पर अर्थ इस प्रकार होगा—'स्वप्न में भी [जो ज्ञान हुआ था,] वह भी जागने से पूर्व तक इसी प्रकार सुनिश्चित था। इस प्रकार वहां (=जाग्रत् अवस्था के ज्ञान में) कुछ विशेष नहीं है।

प्रत्ययस्यापि तथा भवितुमर्हति । अथ प्रतीतिस्तथाभावस्य हेतुः, न शक्यते प्रत्ययत्वाद् अयमन्य[1] इति वक्तुम् । अन्यतस्तु स्वप्नप्रत्ययस्य मिथ्याभावो विपर्ययादवगतः । कुत इति चेत् ? सनिद्रस्य मनसो दौर्बल्यान्निद्रा मिथ्याभावस्य हेतुः स्वप्नादौ स्वप्नान्ते च । सुषुप्तस्याभाव एव । अचेतयन्नेव हि सुषुप्त इत्युच्यते । तस्माज्जाग्रतः प्रत्ययो न मिथ्येति । ननु जाग्रतोऽपि करणदोषः स्यात् । यदि स्याद्, अवगम्येत । स्वप्नदर्शनकालेऽपि नावगम्यते इति चेत्, तन्न, प्रबुद्धो ह्यवगच्छति निद्राक्रान्तं मे मन आसीदिति ॥

शून्यस्तु । कथम् ? अर्थज्ञानयोराकारभेदं नोपलभामहे । प्रत्यक्षा च नो बुद्धिः ।

जागरित अवस्था के ज्ञान का भी मिथ्यात्व माना जा सकता है । और यदि [जागरित काल की] प्रतीति स्वप्नज्ञान के तथाभाव (=मिथ्यात्व) में हेतु होवे, तो ज्ञानमात्र होने से यह [स्वप्न-ज्ञान से] अन्य (=जागरित अवस्था का ज्ञान) [भी वैसा ही होवे] यह नहीं कह सकते। अन्य कारण से स्वप्नज्ञान का मिथ्याभाव [है, और वह] विपर्यास (=वैसा, जैसा कि स्वप्न में देखा था, न होने] से जाना जाता है । कैसे ? निद्रासहित पुरुष के मन की दुर्बलता से स्वप्न के आरम्भ से अन्त तक होनेवाले ज्ञान में निद्रा मिथ्यात्व का कारण है । अच्छे प्रकार सोये हुये को [वैसे ज्ञान का] अभाव ही होता है । [अर्थात् गाढ़निद्रा में स्वप्नज्ञान होता ही नहीं।] ज्ञान की उपलब्धि न करता हुआ ही 'सुषुप्त' कहा जाता है । इसलिये जागते हुये पुरुष का ज्ञान मिथ्या नहीं होता । (आक्षेप) जागते हुये पुरुष का भी करणदोष (=इन्द्रिय वा मन का दौर्बल्य) होवे । [और उससे जागरित अवस्था का ज्ञान भी मिथ्या होवे ।] (समाधान) यदि [जाग्रत् पुरुष का करणदोष] होवे, तो [वह] जाना जाये । यदि कहो कि स्वप्नकाल में भी [करण-दोष] नहीं जाना जाता है, तो यह ठीक नहीं, जागने पर पुरुष जानता है कि [स्वप्नदर्शन काल में] मेरा मन निद्रा से आक्रान्त (=अभिभूत) था ।

विवरण—निरालम्बवादी बाह्य पदार्थ की सत्ता का साक्षात् प्रतिषेध नहीं करता, तथापि वह जागरित अवस्था में होनेवाले ज्ञान में बाह्य पदार्थों का आलम्बन (=आधार) स्वीकार नहीं करता । वह जैसे स्वप्न में पदार्थों के न होने पर भी उनका ज्ञान होता है, उसी प्रकार जागरित अवस्था में भी प्रत्ययत्वसामान्य से ज्ञान को निरालम्ब कहता है । शून्यवादी बाह्य-पदार्थ की सत्ता भी स्वीकार नहीं करता । इसलिये वह भी जागरित अवस्था में जो ज्ञान होता है, उस का कोई आधार नहीं मानता । इस रूप में दोनों मतों में कुछ साम्य है । अथवा पूर्व सन्दर्भ और उत्तर सन्दर्भ को एक भी माना जा सकता है । उस अवस्था में निरालम्बवादी ही जागरित अवस्था के ज्ञान के निरालम्बनत्व में शून्यत्व हेतु उपस्थित करता है ।।

[शून्यवाद का खण्डन]

व्याख्या—(आक्षेप) [बाह्य-पदार्थ] तो शून्य है । [अर्थात् बाह्य-पदार्थ का सद्भाव ही नहीं है, इससे ज्ञान निरालम्बन ही होता है ।] कैसे ? अर्थ और ज्ञान के आकार के भेद को हम उपलब्ध नहीं करते ।[अर्थात् 'गौ' शब्द के श्रवण होने पर 'गौ यह ज्ञान' और 'गौ यह द्रव्य' ऐसा भेद

---

१. अन्यस्तथेति भावः ।

अतस्तद्भिन्नमर्थरूपं नाम न किञ्चिदस्तीति पश्यामः। स्यादेतदेवं, यद्यर्थाकारा बुद्धिः स्यात्। निराकारा तु नो बुद्धिः, आकारवान् बाह्योऽर्थः। स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते। अर्थविषया हि प्रत्यक्षबुद्धिः, न बुद्ध्यन्तरविषया। क्षणिका हि सा, न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थास्यत इति। 'उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते, ज्ञापयति च अर्थान्तरं, प्रदीपवद्' इति यद् उच्यते, तन्न, न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति। तत्र यौगपद्यमनुपपन्नम्। ननूत्पन्नायामेव बुद्धौ ज्ञातोऽर्थ इत्युच्यते, नानुत्पन्नायाम्। अतः पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, पश्चाज्ज्ञातोऽर्थः। सत्यम्, पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, न तु पूर्वं ज्ञायते। भवति हि कदाचिदेतद् यज्ज्ञातोऽप्यर्थः सन् 'अज्ञातः' इत्युच्यते। न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धेः रूपोपलम्भनम्। तस्मान्न व्यपदेश्या बुद्धिः, अव्यपदेश्यं च

प्रतीत नहीं होता।] हमारी बुद्धि (=ज्ञान)[1] प्रत्यक्ष है [सब से गृहीत होती है]। इस कारण बुद्धि से भिन्न अर्थरूप कोई पदार्थ नहीं है, यह हम मानते हैं। (समाधान) ऐसा स्वीकार किया जा सकता है, यदि हमारी बुद्धि अर्थ के आकारवाली अर्थात् साकार होवे। परन्तु हमारी बुद्धि तो निराकार है, और बाह्य-पदार्थ आकारवाला है। वह (=पदार्थ) बहिर्देश (=बुद्धि-स्थान से बाहर) से सम्बद्ध प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है। अर्थ-विषयक ही बुद्धि प्रत्यक्ष है, बुद्ध्यन्तरविषयक नहीं[2]। वह (=बुद्धि) निश्चय ही क्षणिक (=क्षणमात्र रहनेवाली) है, अन्य बुद्धि के उत्पन्न होने तक नहीं ठहरती। 'यदि ऐसा कहते हो कि प्रदीप के समान यह बुद्धि उत्पन्न होती हुई ज्ञात होती है, और अर्थान्तर को ज्ञापित करती है', तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञात अर्थ में (=अर्थ के उपलब्ध न होने पर) कोई बुद्धि को उपलब्ध नहीं करता, [अर्थ के] ज्ञात होने पर तो अनुमान से जानते हैं। [अर्थात् इस द्रव्यविषयक मेरा ज्ञान है।] इसलिये इस विषय में यौगपद्य (=एक काल में होना) उपपन्न नहीं होता। [अर्थात् जिस काल में बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी काल में पदार्थ को ग्रहण करती है।] (आक्षेप) बुद्धि के उत्पन्न होने पर ही 'अर्थ ज्ञात हुआ' ऐसा कहा जाता है, [बुद्धि के] उत्पन्न नहीं होने पर नहीं [कहा जाता है]। इसलिये पहले बुद्धि उत्पन्न (=उपलब्ध) होती है, पीछे अर्थ ज्ञात होता है। [इस प्रकार 'पदार्थ के अज्ञात होने पर बुद्धि उपलब्ध नहीं होती, अर्थ के ज्ञात होने पर ही उसे अनुमान से जानते हैं' यह कहना ठीक नहीं है।] (समाधान) यह सत्य है, पहले बुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु पहले वह ज्ञात (=उपलब्ध) नहीं होती। कभी-कभी यह भी होता है कि ज्ञात हुआ अर्थ भी 'अज्ञात' कहा जाता है। अर्थ के व्यपदेश (=नाम के व्यवहार) के विना बुद्धि के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। [अर्थात् बुद्धि=ज्ञान का व्यपदेश घटविषयकं मे ज्ञानम् इत्यादि प्रकार से ही होता है। विना अर्थव्यपदेश के ज्ञान किंविषयक है, यह ज्ञात नहीं होता।] इस कारण बुद्धि [अर्थसम्बन्ध से शून्य] व्यपदेश के योग्य नहीं होती, और अव्यपदेश्यु (=

---

१. इस प्रकरण में सर्वत्र बुद्धि का यही अर्थ अभिप्रेत है।

२. बुद्धि (=ज्ञान) पदार्थ-विषयक है, यह प्रत्यक्ष है। यदि बाह्य-पदार्थ न होवे, तो बुद्धि का विषय बुद्ध्यन्तर को मानना पड़ेगा। बुद्धि का विषय बुद्ध्यन्तर नहीं हो सकता। इसका स्पष्टीकरण आगे किया है।

न प्रत्यक्षम् । तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः । अपि च, काममेकरूपत्वे बुद्धेरेवाभावः, नार्थस्य प्रत्यक्षस्य सतः । न च ऐकरूप्यम् । अनाकारामेव हि बुद्धिमनुमिमीमहे, साकारं चार्थं प्रत्यक्षमेवावगच्छामः । तस्मादर्थालम्बनः प्रत्ययः । अपि च, नियतनिमित्तस्तन्तुष्वेवोपादीयमानेषु पटप्रत्ययः । इतरथा तन्त्वादानेऽपि कदाचिद् घटबुद्धिरविकलेन्द्रियस्य स्यात् । न चैवमस्ति । अतो न निरालम्बनः प्रत्ययः । अतो न व्यभिचरति प्रत्यक्षम् ॥

अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः । तत्तु

जिसे कहा न जा सके, ऐसा) प्रत्यक्ष नहीं होता[1] । इसलिये बुद्धि अप्रत्यक्ष है । और भी, [अर्थ और बुद्धि की] एकरूपता स्वीकार करने पर बुद्धि का ही अभाव होगा, प्रत्यक्ष दृश्यमान अर्थ का अभाव नहीं हो सकता । और [अर्थ और बुद्धि की] एकरूपता भी नहीं है । आकार से रहित ही बुद्धि का अनुमान करते हैं, और साकार अर्थ को प्रत्यक्ष ही उपलब्ध करते हैं । इस कारण ज्ञान अर्थ पर आश्रित है । और भी, नियतनिमित्तवाले (=नियत ढंग से बुने हुये) तन्तुओं के ग्रहण होने पर ही वस्त्र का ज्ञान होता है । अन्यथा [नियतनिमित्तवाले] तन्तुओं के ग्रहण करने पर भी निर्दोष इन्द्रियवाले पुरुष को कदाचित् 'घट' का ज्ञान सम्भव होवे । पर ऐसा कभी नहीं होता । इस कारण ज्ञान निरालम्बन नहीं होता । इस कारण प्रत्यक्ष व्यभिचरित नहीं होता।

विवरण—भाष्यकार ने जिस निरालम्बन और शून्यवाद का प्रत्याख्यान किया है, यह बौद्धों के दार्शनिक सिद्धान्त हैं । वृत्तिकार उपवर्ष भगवान् बुद्ध से बहुत प्राचीन आचार्य हैं । अतः बौद्धों के इन सिद्धान्तों का खण्डन वृत्तिकार उपवर्षकृत नहीं है, अपितु भाष्यकार शबरस्वामीकृत है, ऐसा जानना चाहिये । भाष्यकारों द्वारा दर्शाये गये बौद्ध मतों के खण्डनों के साथ सूत्रकारों का कोई सम्बन्ध नहीं जानना चाहिये । हां, इतना तो अवश्य है कि उत्तरकालीन बौद्ध आदि मतानुयायियों द्वारा स्वीकृत कतिपय सिद्धान्त प्राचीन वैदिक वाङ्मय में भी उसी रूप में अथवा कुछ भेद से उपलब्ध होते हैं, अतः उन प्राचीन कतिपय सिद्धान्तों का खण्डन तो सूत्रों में हो सकता है ॥

[अन्य प्रमाणों की उपपत्ति]

विशेष—सूत्रकार ने केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में ही विचार किया है । भाष्यकार अथवा वृत्तिकार उपवर्ष प्रत्यक्षाश्रित अन्य प्रमाणों का भी निर्देश करते हैं—

व्याख्या—[अनुमान] ज्ञात हैं [लिङ्ग-लिङ्गी का व्याप्तिरूप] सम्बन्ध जिसका, उसके एकदेश (=व्याप्ति-सम्बन्ध से गृहीत लिङ्ग-लिङ्गी में से एक लिङ्ग) के दर्शन से असन्निकृष्ट (=इन्द्रियसन्निकर्ष से रहित) एकदेशान्तर (=लिङ्ग से भिन्न लिङ्गी) रूप अर्थ

---

१. इसका तात्पर्य प्रत्यक्ष की व्यपदेशयोग्यता दर्शाने में है । इसलिये न्यायदर्शन के 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' (१।१।४) प्रत्यक्ष-लक्षण के साथ विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिये ।

द्विविधं–प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धं, सामान्यतोदृष्टसम्बन्धं च । प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धं यथा—धूमाकृतिदर्शनादग्न्याकृतिविज्ञानम् । सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं यथा—देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यादित्यगतिस्मरणम् ॥

में जो ज्ञान होता है, वह अनुमान कहाता है । वह अनुमान दो प्रकार का होता है ।एक—जिनका [व्याप्ति] सम्बन्ध प्रत्यक्ष से दृष्ट (=ज्ञात) है; और दूसरा—जिनका [व्याप्ति] सम्बन्ध सामान्यरूप से दृष्ट है । प्रत्यक्ष से दृष्टसम्बन्ध यथा—धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होना । सामान्यरूप से दृष्टसम्बन्ध यथा—देवदत्त की गतिपूर्वक देशान्तर-प्राप्ति को जानकर आदित्य की गति का ज्ञान होना ।

विवरण ज्ञातसम्बन्धस्य—का तात्पर्य लिङ्ग-लिङ्गी के अविनाभावरूप व्याप्ति-सम्बन्ध का ज्ञान होना है । यथा किसी व्यक्ति ने महानस (=पाकशाला) में धूम और अग्नि के साथ-साथ रहने के, अर्थात् जहां धूम होता है, वहां अग्नि भी होती है, इस प्रकार के सम्बन्ध को जान लिया है, वह जब अरण्य में दूर स्थान पर धूम को देखता है, तब उसे महानस में विज्ञात धूम और अग्नि के सम्बन्ध से चक्षु इन्द्रिय से असम्बद्ध अग्नि का ज्ञान हो जाता है । उसे धूमदर्शन से निश्चय हो जाता है कि वहां अग्नि है । यह प्रत्यक्षतोदृष्ट अनुमान कहाता है । यहां धूम और वह्नि के सम्बन्ध को प्रत्यक्षतः जानकर धूम के प्रत्यक्ष दर्शन से ही अदृष्ट वह्नि का ज्ञान होता है । सामान्यतोदृष्ट अनुमान में भी गतिपूर्वक स्थानान्तर की प्राप्ति तो दृष्ट (=ज्ञात) होती है, परन्तु आदित्य की गति और देशान्तरप्राप्ति प्रत्यक्षतः ज्ञात नहीं होती । अतः यहां सामान्यरूप से विज्ञात अर्थ 'देशान्तरप्राप्ति गतिपूर्वक ही होती है' के आधार पर द्रष्टा सूर्य की स्थानान्तर प्राप्ति से सूर्य की गति को जानता है ।

आदित्यगतिस्मरणम्— यद्यपि अनेक शास्त्रों में आदित्य की गति का निर्देश उपलब्ध होता है, परन्तु वह गति उसकी अपनी है, अथवा अन्य की गति का उसमें आरोप है, अथवा लोकसाधारण के सामान्यज्ञान के अनुसार गति का कथन है, यह विचारणीय होता है । क्योंकि लोक में सभी प्रकार का प्रयोग होता है । यथा—**देवदत्तो ग्रामं गच्छति** में देवदत्तस्थ गति को ही कहते हैं । **ग्रामो गतः, ग्राम आगतः** यहां देवदत्त अथवा यान के गमन वा आगमन का ग्राम में आरोप होता है । तीव्र गतिवाले यान में बैठे व्यक्ति को यान से बाहर की वस्तुएं उलटी दिशा में दौड़ती हुई दिखाई पड़ती हैं । उनके लिये भी 'वृक्ष दौड़ रहे हैं' ऐसा व्यवहार होता है । ऐसी स्थिति में यदि कोई मनुष्य किसी में आरोपित अथवा साधारणतः दृष्ट गति को उसकी ही गति मान ले, तो विद्वान् जन उसे अपरीक्षितकारक कहेंगे, उसके ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहेंगे । इसी प्रकार सामान्य लोकविज्ञात आदित्य की गति पर भी विचार करना चाहिये कि क्या स्थानान्तर-दर्शन से प्रतीयमान गति आदित्य की स्वगति है, अथवा अन्य की गति से आदित्य में स्थानान्तरत्व की प्रतीति होती है ? इस विषय में समस्त वैदिक वाङ्मय तथा ज्योतिषशास्त्र इस बात को कहता है कि आदित्य में प्रतीयमान गति पृथिवी की गति के कारण प्रतीत होती है । इस विषय में जो महानुभाव अधिक देखना चाहें, वे आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासुकृत यजुर्वेदभाष्य ३।६ का

शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम् ।

उपमानमपि सादृश्यम्, असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति । यथा—गवयदर्शनं गोस्मरणस्य ।

अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना । यथा—जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना ।

अभावोऽपि प्रमाणाभावः । नास्तीत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य । तस्मात् प्रसिद्धत्वान्न परीक्षितव्यं निमित्तम् ॥

विवरण पृष्ठ २४८–२५६ (द्वि० सं०) देखें । वहां पृथिवी की गति के विषय में वैदिक-साहित्य में उपलब्ध होनेवाले प्रायः सभी प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं । अतः जहां-कहीं भी सूर्य की गति का उल्लेख मिलता है, उसे अध्यारोपित गति के रूप में अथवा सामान्यजन-ज्ञान के अनुसार जानना चाहिये । शास्त्रकार अनेक स्थानों पर यादृगेव ददृशे तादृग् उच्यते (ऋ० ५।४४। ६) 'जैसा दिखाई देता है, वैसा कहा जाता है' के रूप में भी इसका निर्देश करते हैं ॥

व्याख्या—[शब्द] [चोदनारूप] शब्द के ज्ञान से [चक्षु आदि से] असन्निकृष्ट अर्थ में ज्ञान होना शास्त्रप्रमाण (=शब्दप्रमाण) कहाता है ।

उपमान भी सादृश्य है, [वह दृश्यमान सादृश्य] असन्निकृष्ट अर्थ में ज्ञान को उत्पन्न करता है । यथा—[गौ और गवय (=नीलगाय) का सादृश्य ज्ञान होने पर अरण्य में] गवय का दर्शन गौ के स्मरण का कारण होता है । [अर्थात् गौ और गवय की समानता को जानने-वाला जब गवय को देखता है, तब वह गवयदर्शन सादृश्य से गौ को स्मरण कराता है कि यह गवय गौ सदृश है ।]

अर्थापत्ति भी दृष्ट वा श्रुत अर्थ [इसके बिना] और रूप से उपपन्न नहीं होता, ऐसे अर्थ की कल्पना का नाम है । यथा—देवदत्त के जीते हुये (=देवदत्त के जीवित होने का ज्ञान होते हुये) गृह में उसके अभावदर्शन से [उसके] अदृष्ट बहिर्भाव (=बाहर होने) की कल्पना होती है ।

अभाव भी [प्रत्यक्षादि]प्रमाण का अभाव (=अनुपलब्धि) रूप है । [यथा—घर में घड़ा] नहीं है, यह [कथन घटरूप] अर्थ की असन्निकृष्टता का [बोधक होता है]। इस कारण [प्रत्यक्षादि प्रमाणों के] प्रसिद्ध होने से, अर्थात् प्रमाणों के स्वतःप्रमाण होने से इन की धर्म में निमित्तता की परीक्षा नहीं करनी चाहिये ।

विवरण—उपमान का स्वरूप न्यायदर्शन (१।१।६) में अन्य प्रकार से दर्शाया है । यथा—प्रसिद्धसाधर्म्य=समानधर्मता से साध्य को सिद्ध करना 'उपमान' कहाता है । जो व्यक्ति 'गवय' को नहीं जानता, उसने पूछा 'गवय' कैसा होता है ? उत्तर देनेवाले ने कहा—जैसी गौ वैसा ही गवय होता है । इससे प्रष्टा गौ और गवय के समान धर्म को जान लेता है । तदनन्तर

ननु प्रत्यक्षादीन्यन्यानि भवन्तु नाम प्रमाणानि, शब्दस्तु न प्रमाणम् । कुतः ? 'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' । अनिमित्तम् अप्रमाणं शब्दः । यो ह्युपलम्भनविषयो नोपलभ्यते, स नास्ति । यथा शशस्य विषाणम्। उपलम्भकानि चेन्द्रियाणि पश्वादीनाम्। न च 'पशुकामेष्टयनन्तरं पशव उपलभ्यन्ते । अतो नेष्टिः पशुफला । कर्मकाले च फलेन भवितव्यम् । यत्कालं हि मर्द्दनं, तत्कालं मर्द्दनसुखम् । 'कालान्तरे फलं दास्यति' इति चेन्न, न कालान्तरे फलमिष्टेः—इत्यवगच्छामः । कुतः ? यदा तावदसौ विद्यमानाऽऽसीत् तदा फलं न दत्तवती । यदा फलमुत्पद्यते, तदाऽसौ नास्ति । असती कथं

जब वह जङ्गल में गौ के सदृश किसी प्राणी को देखता है, तो वह प्रज्ञात सामान्यधर्म से प्रज्ञापनीय गवय को जान लेता है कि यह प्राणी 'गवय' नामवाला है । इस प्रकार नैयायिकों के मत में संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध का प्रतिपादन उपमान का प्रयोजन है ।

अर्थापत्ति के भाष्यकार ने दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्तिरूप भेद तो दो कहे हैं, परन्तु उदाहरण दृष्टार्थापत्ति का ही दिया है । श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण भट्ट कुमारिल ने प्रकृत भाष्य-व्याख्यान में इस प्रकार दिया है—

पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादि वचः श्रुतौ ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरिष्यते ॥ श्लोकवार्तिक अर्थापत्ति परिच्छेद ५१॥

अर्थात्—कोई कहे कि मोटा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता, तो इस वचन के श्रवण से 'रात में खाता है' यह अर्थ ज्ञात होता है । क्योंकि विना भोजन के पीनत्व=स्थौल्य=मोटापन उपपन्न नहीं हो सकता ॥

[शब्द-प्रामाण्य-विचार]

व्याख्या—(आक्षेप) चाहे प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण होवें, शब्द तो प्रमाण (=शब्दोक्त अर्थ का प्रमापक) नहीं हो सकता । किस कारण ? अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् । शब्द अनिमित्त अप्रमाण है । जो पदार्थ उपलब्धि का विषय होता हुआ [उपलब्ध] नहीं होता, वह नहीं है । जैसे—खरगोश के सींग । इन्द्रियां पशु आदि अर्थों की उपलम्भक (=उपलब्धि करानेवाली) हैं । [चित्रया यजेत पशुकामः (तै० सं० २।४।६) इत्यादि बोधित चित्रा नाम की] पशुकामेष्टि के अनन्तर पशु उपलब्ध नहीं होते । इस कारण [चित्रा] इष्टि पशुरूप फल को देनेवाली नहीं है । कर्म (=याग) के समय ही फल को होना चाहिये । जिस काल में मर्दन (=दबाना या मलना) होता है, उसी समय मर्दन का सुख होता है । 'कालान्तर में [इष्टि] फल देगी' ऐसा कहा जाये, तो ठीक नहीं, 'कालान्तर में [प्राप्त पशु] इष्टि का फल है' यह हम नहीं जानते (=मानते) । किस कारण से ? जब यह इष्टि विद्यमान (=हो रही) थी, तब उसने फल नहीं दिया । और जब फल प्राप्त होता है, तब वह नहीं है । [विद्यमान] न होते हुये [इष्टि]

---

१. चित्रया यजेत पशुकामः (तै० सं० २।४।६) इत्यादिशास्त्रबोधिताया इष्टया अनन्तरमिति भावः ।

दास्यति ? अपिच, तत्काल एव फलं श्रूयते । यागः करणमिति वाक्यादवगम्यते। कारणं चेदुत्पन्नं, कार्येण भवितव्यमिति । प्रत्यक्षं च फलकारणमन्यदुपलभामहे । न च दृष्टे कारणे सत्यदृष्टं कल्पयितुं शक्यते, प्रमाणाभावात् । एवं दृष्टापचारस्य वेदस्य स्वर्गाद्यपि फलं न भवतीति मन्यामहे । दृष्टविरुद्धमपि भवति किञ्चिद्वचनम् । पात्रचयनं विधायाह—'**स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति**' इति प्रत्यक्षं शरीरकं व्यपदिशति । न च तत् स्वर्गं लोकं यातीति, प्रत्यक्षं हि तद्दह्यते । न चैष 'याति' इति विधिशब्दः । एवञ्जातीयकं प्रमाणविरुद्धं वचनमप्रमाणम् । 'अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्ते' इति यथा । तत्सामान्यादग्निहोत्रादिचोदनास्वप्यनाश्वासः । तस्मान्न **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** (१।१।२) ॥

कैसे फल देगी ? और भी, उसी काल (=जब इष्टि हो रही है) में फल सुना जाता है। याग [फल की प्राप्ति में] करण (=साधन) है, यह [चित्रया यजेत पशुकामः] वाक्य से जाना जाता है[1] । यदि कारण उत्पन्न हो गया, तो कार्य होना चाहिये । और फल का प्रत्यक्ष कारण अन्य [दानादि] देखते हैं । दृष्ट कारण [दानादि] के होने पर प्रमाण के अभाव में अदृष्ट [कारण] की कल्पना नहीं कर सकते । इस प्रकार [दृष्टफल-विषयक] व्यभिचार जिसका देखा जाता है, उस वेद का अदृष्टविषयक स्वर्गादि भी फल नहीं होता, यह हम मानते हैं । कोई वचन दृष्टविरुद्ध भी होता है । [मृत यजमान के शरीर पर यज्ञीय] पात्रों को रखने का विधान करके कहा है—'वह यह यज्ञायुधी (=यज्ञपात्र ही जिसके शस्त्र हैं, वह) यजमान शीघ्र स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है ।' [इस वचन में] प्रत्यक्ष मृत कुत्सित शरीर का निर्देश किया है । वह [मृत शरीर] स्वर्गलोक को प्राप्त नहीं होता, वह प्रत्यक्ष ही जला दिया जाता है। और यह 'याति' पद विधि शब्द (=विधायक लिङ् आदि का रूप) भी नहीं है, [वर्तमानकाल को कहनेवाला क्रियाशब्द है] । इस प्रकार के प्रमाणविरुद्ध [वेद के] वचन अप्रमाण हैं। जैसे—'जल में तूंबे डूब जाते हैं, और पत्थर तैरते हैं' वचन । उस [दृष्टफल-विषयक वचन] की समानता से अग्निहोत्रादि-विषयक [अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः आदि] चोदना-वाक्यों में भी विश्वास नहीं होता । इस कारण चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (मी० १।१।२) [सूत्रोक्त धर्मलक्षण] ठीक नहीं है ।

विवरण—'पशुकामेष्टयनन्तरम्'—यह पशुकामेष्टि का सामान्य निर्देश है । शास्त्रों में अनेक पशुकामेष्टियां कही हैं । यथा—चित्रया यजेत पशुकामः (तै० सं० २।४।६) । यहां 'चित्रा' इष्टि-विशेष का नाम है, यह 'यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसंबन्धः' (मी० १।४।३) में कहेंगे। अतः इस वैदिक वचन का अर्थ होता है—'पशु की कामनावाला चित्रा नाम के याग से पशुरूप फल को प्राप्त करे ।'

---

१. मीमांसकों के मतानुसार 'यजेत' पदगत यज=याग का भावना में करणरूप से अन्वय होता है—यजेत=यागेन भावयेत । चित्रायागेन पशुरूपं फलं भावयेदित्यर्थः ।

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानम्' । तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः । तस्याग्निहोत्रादिलक्षणस्यार्थस्य ज्ञानं[1] प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानस्य । तथा च चोदनालक्षणः सम्यक् संप्रत्यय इति। पौरुषेये हि शब्दे यः प्रत्ययः, तस्य मिथ्याभाव आशङ्क्येत, परप्रत्ययो हि तदा स्यात् । अथ शब्दे ब्रुवति कथं मिथ्येति ? न हि तदानीमन्यतः पुरुषाद् अवगतिमिच्छामः । ब्रवीतीत्युच्यते, बोधयति बुद्ध्यमानस्य निमित्तं भवतीति । शब्दे च निमित्ते स्वयं बुद्ध्यते । कथं विप्रलब्धं

पात्रचयनं विधाय—आहिताग्निक दम्पती में से जब किसी की मृत्यु होती है, तब उसके यज्ञों के पात्र मृत व्यक्ति के शरीर पर रखकर अग्निप्रदान करते हैं। मृतक के किस अङ्ग पर कौन-सा पात्र रखें, इसका विधान शतपथ ब्रा० १२।५।२।७ में, तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र ४।३।१-१८ में किया है। **'स एष यज्ञायुधी'** यह वचन इसी रूप में, प्राप्त नहीं होता । निदानसूत्र में पतञ्जलि ने इसे इस प्रकार उद्धृत किया है—**'स एष यज्ञायुधी यजमानः स्वर्गं लोकमेतीति ब्राह्मणम्'** (निदानसूत्र २।६) । यज्ञ के आयुध=यज्ञायुध, यज्ञायुध हैं जिसके वह आहिताग्नि यजमान । यहां आयुध शब्द सादृश्यलक्षणा से यज्ञीय पात्रों का वाचक है । जैसे आयुध संग्राम के साधन हैं, वैसे ही पात्र यज्ञकर्म के साधन हैं । **शरीरकम्**—यहां कुत्सित अर्थ में शरीर शब्द से कन् प्रत्यय हुआ है (द्र०—कुत्सिते । अष्टा० ५।३।७४) । अतः यहां 'शरीरक' शब्द से निन्दित शरीर=मृत शरीर का निर्देश जानना चाहिये ॥

[शब्दार्थ-सम्बन्ध-विचार]

व्याख्या—(समाधान) 'औत्पत्तिकस्तु···ज्ञानम्'। [सूत्र में] 'तु' शब्द पूर्वपक्ष को हटाता है । शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध अपौरुषेय है । उस प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात न होनेवाले अग्निहोत्रादि से लक्षित [स्वर्गादि] अर्थ के ज्ञान का साधन होता है । इस प्रकार (=शब्दार्थसम्बन्ध के अपौरुषेय होने से) चोदना ही लक्षण है जिस का, वह ज्ञान सम्यक् होता है । पुरुष द्वारा उच्चरित शब्द से जो ज्ञान होता है. उस के मिथ्यात्व की आशङ्का हो सकती है, क्योंकि उस अवस्था में वह दूसरे [वक्ता] का ही ज्ञान होता है । [अपौरुषेय] शब्द के कहने पर [उस से ज्ञात ज्ञान] कैसे मिथ्या हो सकता है ? क्योंकि उस समय [जबकि हम अपौरुषेय वचन से किसी अर्थ को जानते हैं, तब] अन्य पुरुष से [उस प्रकार के अर्थ के] ज्ञान की हम इच्छा नहीं करते । [अर्थात् पौरुषेय शब्द से उच्चरित ज्ञान की यथार्थता के लिये जैसे वक्ता के आप्तत्व की अपेक्षा रखते हैं, वैसे अपौरुषेय वचन से विज्ञायमान अर्थ की सत्यता के लिये किसी पुरुषान्तर की अपेक्षा नहीं होती ।] आप (=पूर्वपक्षी) भी ब्रवीति 'अर्थ को कहता है' ऐसा कहते हैं, अर्थात् बुध्यमान=जाननेवाले व्यक्ति के ज्ञान का निमित्त होता है । और शब्द के निमित्त होने पर स्वयं जानता है ।

---

१. ज्ञानं ज्ञानसाधनमित्यर्थः । २. द्र०—शतपथ १२।५।२।८—'स एष यज्ञायुधी यजमानः···योऽस्य स्वर्गे लोको जितो भवति तमभ्यत्येति ।'

ब्रूयाद्, नैतदेवमिति । न चास्य चोदना 'स्याद्वा न वेति' सांशयिकं प्रत्ययमुत्पादयति। न च मिथ्यैतदिति कालान्तरे देशान्तरेऽवस्थान्तरे पुरुषान्तरे वा पुनरव्यपदेश्यप्रत्ययो भवति । योऽप्यस्य प्रत्ययविपर्यासं दृष्ट्वाऽत्रापि विपर्यंसिष्यतीत्यानुमानिकः प्रत्यय उत्पद्यते, सोऽप्यनेन प्रत्यक्षेण प्रत्ययेन विरुद्धचमानो बाध्यते । तस्माच्चोदनालक्षण एव धर्मः ।

स्यादेतदेवं, नैव शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः । कुतोऽस्य पौरुषेयता अपौरुषेयता वेति ? कथम् ? स्याच्चेदर्थेन सम्बन्धः, क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम्। यदि संश्लेषलक्षणं सम्बन्धमभिप्रेत्योच्यते, कार्यकारणनिमित्तनैमित्तिकाऽऽश्रयाश्रयिभावादयस्तु सम्बन्धाः शब्दस्यानुपपन्ना एवेति ।

[वह अपौरुषेय शब्द] कैसे मिथ्या कहेगा, [जिससे] यह ऐसा नहीं है, ऐसा जाना जाये ? [क्योंकि ज्ञान के मिथ्यात्व में जो कारण हो सकता है, वह अपौरुषेय शब्द में विद्यमान नहीं है ।] इस बोद्धा के प्रति चोदनावाक्य 'यह अर्थ इस प्रकार का होगा, वा नहीं होगा' ऐसे सांशयिक ज्ञान को भी उत्पन्न नहीं करता । यह [चोदनावाक्य से ज्ञात अर्थ] कालान्तर में, देशान्तर में, अवस्थान्तर में अथवा पुरुषान्तर में 'मिथ्या है' ऐसा अव्यपदेश्य (=न कहने योग्य =बाधित) ज्ञान नहीं होता । और जो भी इस (=लौकिक शब्द) के ज्ञान का मिथ्यात्व देखकर यहां (=वैदिक शब्द में) भी 'मिथ्या होगा' ऐसा आनुमानिक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी इस [वैदिक शब्द से उत्पद्यमान] प्रत्यक्ष ज्ञान से विरुद्ध होता हुआ बाधित होता है । [अर्थात् प्रत्यक्ष-विरुद्ध अनुमान का उदय ही नहीं होता ।] इसलिये चोदनावाक्य से लक्षित अर्थ ही धर्म है ।

(आक्षेप) यह इस प्रकार हो सकता है [यदि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होवे], परन्तु शब्द का अर्थ के साथ [नित्य[1]] सम्बन्ध है ही नहीं । फिर [शब्दार्थ-सम्बन्ध की] पौरुषेयता वा अपौरुषेयता [का अवकाश ही] कहां है ? कैसे ? यदि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होवे, तो छुरा और लड्डू शब्दों के उच्चारण होने पर मुख का कटना और भरना हो जावे[2] । यदि [शब्द और अर्थ के] संश्लेष (=संयोग) सम्बन्ध को मानकर कहा जाये, तो कार्य-कारण, निमित्त-नैमित्तिक, आश्रय-आश्रयिभाव आदि सम्बन्ध शब्द के उपपन्न ही नहीं होते ।

---

१. इस प्रसङ्ग में भाष्य में जहां भी 'सम्बन्ध' का निर्देश है, वहां सर्वत्र नित्य सम्बन्ध अभिप्रेत है ।

२. शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानने पर न्यायदर्शन २।१।५३ में लिखा है— पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः । अर्थात् लड्डू शब्द के उच्चारण से मुख का भरना, अग्नि शब्द के उच्चारण से मुख का जलना, और छुरी शब्द के उच्चारण से मुख का कटना नहीं देखा जाता है, अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नहीं है ।

उच्यते—यो ह्यत्र व्यपदेश्यः सम्बन्धस्तमेकं न व्यपदिशति भवान्—प्रत्याय्यस्य प्रत्यायकस्य च यः सञ्ज्ञासञ्ज्ञिलक्षण इति । आह—यदि प्रत्यायकः शब्दः, प्रथमश्रुतः किं न प्रत्याययति ? उच्यते—सर्वत्र नो दर्शनं प्रमाणम् । प्रत्यायक इति हि प्रत्ययं दृष्ट्वाऽवगच्छामः, न प्रथमश्रुत इति । प्रथमश्रवणे प्रत्ययमदृष्ट्वा, यावत्कृत्वः श्रुतेन 'इयं संज्ञा अयं संज्ञी' इत्यवधारितं भवति, तावत्कृत्वः श्रुतादर्थावगम इति । यथा चक्षुर्द्रष्टृ न वाह्येन प्रकाशेन बिना प्रकाशयतीत्यद्रष्टृ न भवति । यदि प्रथमश्रुतो न प्रत्याययति, कृतकस्तर्हि शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः । कुतः ? स्वभावतो ह्यसम्बन्धावेतौ शब्दार्थौ, मुखे हि शब्दमुपलभामहे, भूमावर्थम् । शब्दोऽयं न त्वर्थः, अर्थोऽयं न शब्द इति च व्यपदिशन्ति । रूपभेदोऽपि भवति—'गौः' इतीमं शब्दमुच्चारयन्ति, सास्नादिमन्तमर्थमवबुध्यन्ते इति । पृथग्भूतयोश्च यः सम्बन्धः, स कृतको दृष्टः । यथा रज्जुघटयोरिति ॥

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? । गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः । श्रोत्रग्रहणे ह्यर्थे लोके शब्दशब्दः प्रसिद्धः । ते च श्रोत्रग्रहणाः । यद्येवम्, अर्थप्रत्ययो

(समाधान) आक्षेप का उत्तर देते हैं—यहां जो कहने योग्य सम्बन्ध है, उस एक को आप कहते ही नहीं—ज्ञेय और ज्ञापक का जो संज्ञा-संज्ञीरूप [सम्बन्ध] है । (आक्षेप) यदि शब्द [अर्थ का] ज्ञान करानेवाला है, तो वह पहली बार सुना हुआ [अर्थ का] ज्ञान क्यों नहीं कराता ? (समाधान) हमारे लिये सर्वत्र दर्शन (=लोकव्यवहार) प्रमाण है । [शब्द अर्थ का] बोधक है, यह [शब्द द्वारा] ज्ञान [की उपलब्धि] को देखकर हम जानते हैं, प्रथम श्रुत शब्द [अर्थ का प्रत्यायक होता है, यह नहीं मानते] । प्रथम श्रवण होने पर अर्थ के ज्ञान की उपलब्धि न देखकर, जितनी बार सुनने से 'यह इसकी संज्ञा है, और यह इसका संज्ञी है' यह निश्चित होता है, उतनी बार सुने हुये शब्द से अर्थ का ज्ञान स्वीकार करते हैं । जैसे देखनेवाली आंख बिना बाह्य प्रकाश के [अर्थ को] प्रकाशित नहीं करती, इतने से वह 'न देखनेवाली' नहीं हो जाती है । (आक्षेप) यदि प्रथम श्रुत अर्थ का ज्ञान नहीं कराता, तो शब्द अर्थ का सम्बन्ध कृतक (=अनित्य) है । किस कारण ? ये शब्द और अर्थ स्वभाव से असम्बद्ध हैं । मुख में शब्द और भूमि पर अर्थ है । यह शब्द है अर्थ नहीं, और यह अर्थ है शब्द नहीं, ऐसा कहते हैं । [दोनों में] रूप का भेद भी होता है—'गौ' इस शब्द को उच्चारित करते हैं, और सास्ना (=गलकम्बल) आदि अवयवों से सम्बद्ध अर्थ को जानते हैं । पृथक्‌रूप से वर्तमान दो का जो सम्बन्ध होता है, वह कृत्रिम देखा जाता है । जैसे [पानी निकालने के लिये] रस्सी और घट का ॥

विवरण—पूर्वपक्षी ने शब्दार्थसम्बन्ध के विषय में जो आक्षेप किया है, उसके समाधान के लिये शब्द के स्वरूप पर पहले विचार करना आवश्यक है । इसलिये भाष्यकार शब्दार्थसम्बन्ध पर किये गये आक्षेप का समाधान देने से पहले शब्द के स्वरूप पर विचार करते हैं—

व्याख्या—अच्छा तो 'गौः' यहां कौन शब्द है ? गकार औकार और विसर्जनीय ये शब्द हैं, ऐसा भगवान् उपवर्ष कहते हैं । श्रोत्र से जिसका ग्रहण होता है, उस अर्थ में ही 'शब्द' शब्द का लोक में व्यवहार प्रसिद्ध है । वे [गकार औकार और विसर्ग] श्रोत्र से ग्रहण होनेवाले हैं। (आक्षेप)

नोपपद्यते। कथम् ? एकैकाक्षरविज्ञानेऽर्थो नोपलभ्यते । न चाक्षरव्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चिदस्ति समुदायो नाम, यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् । यदा गकारो न तदा औकार-विसर्जनीयौ, यदौकारविसर्जनीयौ न तदा गकारः । अतो गकारादिव्यतिरिक्तोऽन्यो गोशब्दोऽस्ति, यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् । अन्तर्हिते शब्दे स्मरणादर्थप्रतिपत्तिश्चेत्, न, स्मृतेरपि क्षणिकत्वादक्षरैस्तुल्यता । पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायक इत्यदोषः ॥

यदि ऐसा है [अर्थात् गकार औकार और विसर्जनीय ही शब्द हैं], तो अर्थ का ज्ञान नहीं होगा। कैसे ? एक-एक अक्षर के जानने पर अर्थ गृहीत नहीं होता । और अक्षरों से व्यतिरिक्त (=अन्य) समुदायरूप कोई शब्द नहीं है, जिससे अर्थ की प्रतीति होवे । जब गकार [गृहीत] होता है, तब औकार और विसर्जनीय [गृहीत] नहीं होते, जब औकार और विसर्जनीय [गृहीत] होते है, तब गकार [गृहीत] नहीं होता। इससे जाना जाता है कि गकार आदि से भिन्न कोई 'गौः' शब्द है, जिससे अर्थ को प्रतीति होती है। [गकारादि] शब्द के अन्तर्हित (=लुप्त) हो जाने पर उनके स्मरण से अर्थ की प्रतीति होती है, ऐसा यदि कहो, तो यह भी उपपन्न नहीं होता, [क्योंकि] स्मृति के भी क्षणिक होने से उसका भी अक्षरों के साथ तुल्यभाव है । [अर्थात् एक-एक वर्ण की स्मृति के भी क्षणिक होने से 'गौः' ऐसी एकाकार स्मृति नहीं होगी] (समाधान) पूर्व पूर्व वर्ण [के श्रवण] से उत्पन्न संस्कारसहित अन्त्य वर्ण प्रत्यायक (=अर्थ का बोधक) होता है। [अर्थात् गकार वर्ण के श्रवण से उत्पन्न जो संस्कार, उसके सहित जो औकार का श्रवण, तद-नन्तर पूर्ववर्णश्रवणजनित संस्कार के साथ औकार श्रवण से उत्पन्न जो संस्कार, उसके सहित अर्थात् गकार औकार श्रवण से उत्पन्न जो संयुक्त संस्कार, उसके सहित जो अन्त्य वर्ण विसर्ग, उसके श्रवण से अर्थ की प्रतीति होती है।] इस प्रकार [शब्द के प्रत्यायकत्व में] कोई दोष नहीं है।

विवरण— शब्द के स्वरूप के विषय में शास्त्रों में कुछ मतभेद उपलब्ध होता है। नैयायिक ध्वनि को शब्द मानते हैं। वैयाकरण स्फोट को शब्द मानते हैं। उनके मत में स्फोट द्रव्य है, और ध्वनि उसका गुण है स्फोटः शब्दो ध्वनिः शब्दगुणः महाभाष्य १।१।६९)। शवरस्वामी ने प्रकृत भाष्य में भगवान् उपवर्ष का निर्देश करके ध्वनिरूप शब्द को प्रमाणित किया है । आचार्य शंकर ने भी ब्रह्मसूत्र १।३।२८ के भाष्य में 'वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः' इस रूप से उपस्थित किया है। भगवान् उपवर्ष ने पूर्वोत्तर दोनों मीमांसाओं पर भाष्य लिखा था। अतः उन्होंने शब्द-विषयक मत का विवेचन पूर्वमीमांसा १।१।५ के भाष्य में किया था, अथवा उत्तरमीमांसा १।३। २८ के भाष्य में यह विचारणीय है। ऐसा ही एक आत्मसद्भाव का प्रकरण मीमांसा १।१।५ तथा वेदान्त ३।३।५३, ५४ में मिलता है। वहां आचार्य शंकर ने लिखा है—शवर स्वामी ने यहीं (वेदान्त ३।३।५३) से आत्मास्तित्व का आकर्षण करके मीमांसा १।१।५ में लिखा है। उप-वर्षाचार्य ने, पूर्वमीमांसा में आत्मास्तित्वसाधन की प्रसक्ति होने पर शारीरक में कहेंगे ऐसा निर्देश किया है। 'न चाक्षरव्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चिदस्ति समुदायो नाम' से वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत

नन्वेवं 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इति लौकिकं वचनमनुपपन्नं स्यात् । उच्यते—यदि नोपपद्यते, अनुपपन्नं नाम । न हि लौकिकं वचनमनुपपन्नमित्येतावता प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्नोत्युपगन्तुम् । लौकिकानि वचनान्युपपन्नार्थान्यनुपपन्नार्थानि च दृश्यन्ते । यथा—'देवदत्त ! गामभ्याज' इत्येवमादीनि, 'दश दाडिमानि षडपूपाः' इत्येवमादीनि च ॥

स्फोटात्मक शब्द का निर्देश किया है । इस विषय में यह भी जानना चाहिये कि मीमांसक वर्ण के अतिरिक्त पदादि को शब्द नहीं मानते । नैयायिक वर्ण के साथ पद की भी सत्ता स्वीकार करते हैं । वैयाकरण ध्वनि को शब्द न मानते हुये भी वर्णस्फोट पदस्फोट वाक्यस्फोट आदि अनेक प्रकार के स्फोटों की सत्ता स्वीकार करते हैं । यदा गकारः इत्यादि से भाष्यकार ने 'वाणी के द्वारा क्रमशः एक-एक वर्ण का उच्चारण होता है' का निर्देश किया है । तुलना करो—एकैकवर्णवर्तिनी वाक् न द्वौ युगपदुच्चारयति । 'गौः' इति यावद् गकारे वाग्वर्तते, नौकारे न विसर्जनीये । यावदौकारे, न गकारे न विसर्जनीये । यावद् विसर्जनीये, न गकारे नौकारे (महाभाष्य १।४।१०८) । पूर्वपूर्व वर्ण जनित०—नैयायिक भी इसी प्रकार शब्द से अर्थ की प्रतीति मानते हैं ॥

व्याख्या— (आक्षेप) यदि ऐसा है, तो 'शब्द से हम अर्थ को जानते हैं' यह लौकिक वचन उपपन्न नहीं होगा । (समाधान) यदि [लौकिक वचन] उपपन्न नहीं होता, तो उपपन्न न होवे । लौकिक वचन उपपन्न नहीं होता, इतने मात्र से [वह] प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अनवगम्यमान (=ज्ञात न होनेवाला) अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता । लौकिक वचन उपपन्न अर्थवाले (=सार्थक) और अनुपपन्न अर्थवाले (=निरर्थक) दोनों प्रकार के देखें जाते हैं । जैसे—'देवदत्त गौ को लेजा' इत्यादि [सार्थक], और 'दस अनार, छः पूवे' आदि [अनर्थक] हैं ॥

विवरण—शबरस्वामी ने यहां लौकिक वाक्यों के सार्थक और अनर्थक भेद और उनके जो उदाहरण दिये हैं, उन का आधार महाभाष्य है । इस की पुष्टि अनर्थक वाक्य दश दाडिमानि षडपूपा के प्रतीक-निर्देश से होती है । महाभाष्य का पाठ इस प्रकार है—लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते । अर्थवन्ति तावत्—देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन, देवदत्त गामभ्याज कृष्णामिति । अनर्थकानि दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः अधरोरुकमेतत् कुमार्याः स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीन इति । महाभाष्य १।१।१।। अनर्थक वाक्य का यही उदाहरण महाभाष्य १।२।४५ में, तथा न्यायवात्स्यायनभाष्य ५।२।१० में भी उपलब्ध होता है (वात्स्यायनभाष्य का पाठ कुछ भ्रष्ट है) । दश दाडिमानि आदि का पृथक् पृथक् अर्थ इस प्रकार है—दस अनार, छः पूवे, कुण्ड, बकरे का चर्म, मांसपिण्ड, इस कुमारी के अधोभाग का वस्त्र (पेटीकोट, घाघरा आदि), स्फ्यकृत का लड़का स्फैयकृत का पिता, ठण्डा (=धीरे काम करनेहारा) । ये पृथक् पृथक् रूप में तो सार्थक हैं, परन्तु समुदाय अनर्थक है । यही बात महाभाष्यकार ने १।२।४५ के भाष्य में इन वाक्यों को पढ़कर लिखा है—समुदायोऽत्रानर्थकः । अर्थात् यहां समुदाय अनर्थक है । न्यायदर्शन के जिस सूत्र के भाष्य में उक्त उदाहरण दिया है,

ननु च शास्त्रकारा अप्येवमाहुः—'पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचति इत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्य्यन्तम्' [नि० १।१] इति यथा। न शास्त्रकारवचनमप्यलमिममर्थमप्रमाणकमुपपादयितुम्। अपिच, नैवैतद् अनुपपन्नार्थम्। अक्षरेभ्यः संस्काराः, संस्कारादर्थप्रतिपत्तिरिति सम्भवत्यर्थप्रतिपत्तावक्षराणि निमित्तम्। गौण एवार्थप्रतिपत्तौ शब्द इति चेद्, न गौणोऽक्षरेषु निमित्तभावः। तद्भावे भावात्, तदभावे चाऽभावात्। अथापि गौणः स्यात्, न गौणः शब्दो मा भूदिति प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्यः परिकल्पयितुम्। न हि 'अग्निर्माणवक' इत्युक्ते 'अग्निशब्दो गौणो मा भूद्' इति 'ज्वलन एव माणवकः' इत्यध्यवसीयते। न च प्रत्यक्षो गकारादिभ्योऽन्यो गोशब्द इति, भेददर्शनाभावात्, अभेददर्शनाच्च। गकारादीनि हि प्रत्यक्षाणि। तस्माद् 'गौः' इति गकारादिविसर्जनीयान्तं पदम् अक्षराण्येव। अतो न तेभ्यो व्यतिरिक्तमन्यत् पदं नामेति।

वह सूत्र इस प्रकार है—पौर्वापर्यायोगाद् प्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् (५।२।१०) अर्थात् जिस में पूर्वापर का संबन्ध न होने से असंबद्ध अर्थवाला हो, वह अपार्थक दोषवाला होता है॥

ऊपर आक्षेप्ता ने शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे इस लौकिक वचन से शब्द से सीधी अर्थ की प्रतीति कही थी, उसका भाष्यकार ने समाधान किया है। अब वही आक्षेप्ता शास्त्रकारों का वचन उद्धृत करके कहना चाहता है कि शास्त्रकार भी शब्द से ही सीधी अर्थ की प्रतीति का अन्वाख्यान करते हैं—

व्याख्या - (आक्षेप) अच्छा तो शास्त्रकार लोग भी तो इस प्रकार कहते हैं—जैसे पूर्वापरीभूत भाव (=क्रिया) को आख्यात (=तिङन्त क्रिया) पद से कहते हैं, व्रजति पचति से आरम्भ से लेकर समाप्तिपर्यन्त अर्थ को कहते हैं (निरुक्त १।१)। (समाधान) शास्त्रकार का वचन भी [शब्द से अर्थ जाना जाता है] इस प्रमाणरहित अर्थ को कहने में समर्थ नहीं है। और भी, यह [शास्त्रकार का वचन] अनुपपन्न अर्थवाला (=निरर्थक वा सदोष) नहीं है। अक्षरों [के श्रवण] से संस्कार, और संस्कार से अर्थ का ज्ञान होता है, इस प्रकार अर्थ के ज्ञान में अक्षर निमित्त होते हैं। अर्थ के ज्ञान में शब्द गौण ही है, ऐसा कहा जाये, तो [यह ठीक नहीं, अर्थज्ञान में] अक्षरों में निमित्तभाव गौण नहीं है। उन [अक्षरों] के होने पर [अर्थ का ज्ञान] होने से, और उनके न होने पर [अर्थ का ज्ञान] न होने से। यदि [अर्थज्ञान में शब्द] गौण भी होवे, तो भी शब्द [का निमित्तत्व अर्थज्ञान में] गौण न हो जावे, इतने मात्र से प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुपलभ्यमान [अक्षरों से भिन्न शब्दरूप] अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। 'बालक अग्नि है' ऐसा कहने पर 'अग्नि शब्द गौण न हो जावे', इतने मात्र से 'माणवक आग है' यह नहीं जाना जाता। गकार आदि से भिन्न कोई प्रत्यक्ष 'गौ' शब्द नहीं है, भेदज्ञान के न होने से और अभेदज्ञान के होने से। गकारादि [अक्षर] ही प्रत्यक्ष हैं। इसलिये 'गौः' यह गकार से लेकर विसर्गान्त पद अक्षर ही हैं। इस कारण [गकार औकार और विसर्जनीय अक्षरों] से भिन्न पदनामवाला अन्य नहीं है।

ननु 'संस्कारकल्पनायामप्यदृष्टकल्पना'। उच्यते—शब्दकल्पनायां सा च शब्दकल्पना च। तस्मादक्षराण्येव पदम् ॥

अथ 'गौः' इत्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः? सास्नादिविशिष्टाऽऽकृतिरिति ब्रूमः। नन्वाकृतिः साध्याऽस्ति वा न वा इति। न प्रत्यक्षा सती साध्या भवितुमर्हति। रुचकः स्वस्तिको वर्द्धमानक इति हि प्रत्यक्षं दृश्यते। व्यामोह इति चेत्, नासति प्रत्ययविपर्यासे व्यामोह इति शक्यते वक्तुम्। असत्यप्यर्थान्तरे एवञ्जातीयको भवति प्रत्ययः—पंक्ति यूथं वनमिति यथेति चेत् न, असम्बद्धमिदं वचनमुपन्यस्तम्। किम्? 'असति वने वनप्रत्ययो भवतीति'। प्रत्यक्षमेवाऽऽक्षिप्यते, वृक्षा अपि न सन्तीति। यद्येवं, प्रत्युक्तः स माहायानिकः पक्षः। अथ किमाकृतिसद्भाववादी उपालभ्यते, सिद्धान्तान्तरं ते दुष्यति इति, वनेऽसत्यपि वनप्रत्ययः प्राप्नोतीति। एवमपि, प्रकृतं दूषयितुमशक्नुवत-

---

(आक्षेप) संस्कार की कल्पना में भी तो अदृष्ट की कल्पना है। (समाधान) [गकारादि अक्षरों से भिन्न] शब्द की कल्पना में उस (=संस्कार) की, तथा शब्द की [अर्थात् दो की कल्पना करनी पड़ती है]। इस कारण अक्षर ही पद हैं॥

[शब्दार्थ-विचार]

व्याख्या—(आक्षेप) 'गौः' इस शब्द का क्या अर्थ है? (समाधान) सास्ना (=गलकम्बल=गले में लटका हुआ झोल) आदि से विशिष्ट आकृति (=जाति[1]) है, ऐसा हम कहते हैं। (आक्षेप) आकृति तो साध्य है, है अथवा नहीं। (समाधान) प्रत्यक्ष होती हुई [आकृति] साध्य नहीं हो सकती। रुचक स्वस्तिक वर्धमानक [आभूषणविशेष] ये प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। यह (=प्रत्यक्ष प्रतीति) व्यामोह (=मिथ्याज्ञान) है, ऐसा कहो तो ठीक नहीं है, क्योंकि [उक्त पदार्थों के] ज्ञान का विपर्यास (=उलटापन) न होने से उसे 'व्यामोह है' ऐसा नहीं कह सकते। अर्थान्तर (=भिन्न पदार्थ) [का सद्भाव] न होने पर भी इस प्रकार (=अर्थान्तर) का ज्ञान होता है। जैसे पङ्क्ति यूथ वन [प्रतीयमान अर्थविशेष का सद्भाव न होने पर भी पङ्क्ति यूथ वन रूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है], ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि यह [आपने] असम्बद्धवचन कहा है। क्या? 'वन के न होने पर भी वन का ज्ञान होता है' यह। [इस प्रकार तो] प्रत्यक्ष पर ही आक्षेप करते हो कि—'वृक्ष भी नहीं हैं'। यदि ऐसा है, तो यह महायान मतानुयायियों का पक्ष [पहले ही निरालम्बन-शून्यवाद के प्रकरण में] खण्डित किया जा चुका है। और यदि आकृति के सद्भाव को माननेंवाले के प्रति उपालम्भ देते हो, कि तुम्हारा अन्य सिद्धान्त (=अर्थावलम्बन पक्ष) दूषित होता है—वन के न होने पर भी वन का ज्ञान होता है। इस प्रकार भी प्रकृत [आकृति] पक्ष को दूषित करने की शक्ति न रखते हुये उसके अन्य सिद्धान्त

---

१. नैयायिक आकृति से जाति को पृथक् मानते हैं—व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः (न्याय २।२।६५)। मीमांसक और वैयाकरण आकृति शब्द से जाति का ही निर्देश करते हैं।

स्तत्सिद्धान्तान्तरदूषणे निग्रहस्थानमापद्यते । असाधकत्वात् । स हि वक्ष्यति—दुष्यतु यदि दुष्यति । किं तेन दुष्टेन अदुष्टेन वा प्रकृतं त्वया साधितं भवति, मदीयो वा पक्षो दूषितो भवतीति ? न च वृक्षव्यतिरिक्तं वनं यस्मान्नोपलभ्यते, अतो वनं नास्तीत्यवगम्यते । यदि वने अन्येन हेतुना सद्भावविपरीतः प्रत्यय उत्पद्यते, मिथ्यैव वनप्रत्यय इति । ततो वनं नास्तीत्यवगच्छामः । न च गवादिषु प्रत्ययो विपर्येति । अतो वैषम्यम् । अथ वनादिषु नैव विपर्येति, न ते न सन्तीति । तस्मात् असम्बद्धः पंक्तिवनोपन्यासः । अत उपपन्नं जैमिनिवचनम्—आकृतिः शब्दार्थं इति । यथा च आकृतिः शब्दार्थस्तथोपरिष्टान्निपुणतरमुपपादयिष्याम (द्र०–१।३। अधि० ६) इति ।।

अथ सम्बन्धः क इति ? यच्छब्दे विज्ञातेऽर्थो विज्ञायते । स तु कृतक इति पूर्वमुप-

---

के दूषण में आप निग्रहस्थान (=पराजय की स्थिति) को प्राप्त होते हैं । [क्योंकि अर्थावलम्बनरूप अन्य सिद्धान्त का दूषण आकृतिपक्ष के निराकरण में] साधक नहीं होता । वह [आकृतिवादी उत्तर में] कहेगा कि—[मेरा अर्थावलम्बनरूप सिद्धान्तान्तर] यदि दूषित होता है तो दूषित होवे। उसके दूषित होने वा न होने से तुम्हारा क्या प्रकृत (=आकृति का खण्डन) सिद्ध होता है, अथवा मेरा [आकृति] पक्ष दूषित होता है ? यतः वृक्षों के अतिरिक्त वन उपलब्ध नहीं होता, इससे 'वन नहीं है' ऐसा नहीं है । किन्तु यदि वन के विषय में किसी अन्य हेतु से उसकी सत्ता के विपरीत ज्ञान होता है, तो वनज्ञान मिथ्या ही है । इस कारण 'वन नहीं है' ऐसा हम जानते हैं । गौ आदि में [आकृतिरूप] ज्ञान विपरीत (=मिथ्या) नहीं होता । इससे [वन-ज्ञान और आकृतिज्ञान में] विषमता है । [अभ्युपगम सिद्धान्त से वादी कहता है—] यदि वनादि में [वनादिज्ञान] विपर्यय (=मिथ्यात्व) को प्राप्त नहीं होता है, तो 'वनादि नहीं हैं' यह नहीं होगा, अर्थात् वनादि की सत्ता को मान लेंगे । [इससे हमारे आकृतिपक्ष में कोई दोष नहीं आता है ।] इसलिये [आकृतिपक्ष के खण्डन के लिये] पङ्क्ति यूथ वन का प्रस्तुतीकरण असम्बद्ध है । इससे जैमिनि आचार्य का वचन—'आकृति शब्द का अर्थ है' यह उपपन्न होता है । और आकृति शब्द का अर्थ कैसे है, इसका आगे (द्र०–१।३। अधि० ६) भले प्रकार उपपादन करेंगे।

विवरण—सिद्धान्तान्तर-दूषण निग्रहस्थान—प्रकृत अर्थ के साथ असम्बद्ध वचन (जिससे प्रकृत अर्थ की सिद्धि में सहायता न मिले) का प्रयोग अर्थान्तर नाम का निग्रहस्थान माना गया है—प्रकृतादर्थाद् अप्रतिसंबद्धार्थम् अर्थान्तरम् (न्याय ५।२।७) । निग्रहस्थान पराजय के कारण होने हैं—निग्रहस्थानानि पराजयवस्तूनि । वात्स्यायन भाष्य ५।२।१ की उत्थानिका ।

आकृतिः शब्दार्थः—द्र०—मीमांसा १।३।३३—आकृतिस्तु शब्दार्थः सूत्र । उपपादयिष्यामः—'आकृति (=जाति) शब्द का अर्थ है' यह सिद्धान्त मीमांसा के आकृतिशक्त्यधिकरण (अ० १, पा० ३, अधि० ६, सूत्र ३०–३५) में विशद रूप से निरूपित किया गया है ।।

[शब्दार्थ-सम्बन्ध-विचार]

व्याख्या—(आक्षेप) [शब्द और अर्थ का परस्पर] कौनसा सम्बन्ध है ? (समाधान) जो शब्द के ज्ञात होने पर ही अर्थ जाना जाता है । [अर्थात् जिस प्रकार के सम्बन्ध से शब्द के

पादितम् । तस्मान्मन्यामहे—केनापि पुरुषेण शब्दानामर्थैः सह सम्बन्धं कृत्वा संव्यवहर्त्तुं वेदाः प्रणीता इति । तदिदानीमुच्यते—अपौरुषेयत्वात् सम्बन्धस्य सिद्धमिति । कथं पुनरिदमवगम्यते, अपौरुषेय एष सम्बन्ध इति ? पुरुषस्य सम्बन्धुरभावात् । कथं सम्बन्धा नास्ति ? प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात्, तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषाम् । ननु चिरवृत्तत्वात् प्रत्यक्षस्याविषयो भवेदिदानीन्तनानाम् । न हि चिरवृत्तः सन् न स्मर्य्येत । न च हिमवदादिषु कूपारामादिवदस्मरणं भवितुमर्हति । पुरुषवियोगो हि तेषु भवति, देशोत्सादेन कुलोत्सादेन वा । न च शब्दाऽर्थव्यवहारवियोगः पुरुषाणामस्ति ॥

उच्चारण होने पर अर्थ का ज्ञान होता है, उस प्रकार का संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध है ।] (आक्षेप) वह [शब्द अर्थ का सम्बन्ध] तो कृतक (=कृत्रिम) है, यह पूर्व दर्शा चुके हैं । इसलिये हम मानते हैं कि किसी पुरुष ने शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध जोड़कर व्यवहार के लिये वेद बनाये हैं । (समाधान) इस विषय में अब कहते हैं—[शब्द और अर्थ के] सम्बन्ध के अपौरुषेय होने से [वेद का अपौरुषेयत्व] सिद्ध है । (आक्षेप) यह कैसे जाना जाता है कि यह [शब्द और अर्थ का] सम्बन्ध अपौरुषेय है ? (समाधान) [शब्द और अर्थ का] सम्बन्ध जोड़नेवाले पुरुष का अभाव होने से । (आक्षेप) [शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को] सम्बद्ध करनेवाला क्यों नहीं है ? (समाधान) प्रत्यक्ष प्रमाण के न होने से, और अन्य प्रमाणों के प्रत्यक्षपूर्वक होने से। [अर्थात् जब शब्दार्थ-सम्बन्ध जोड़नेवाले व्यक्ति के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं है, तो प्रत्यक्षपूर्वक प्रवृत्त होनेवाले अन्य प्रमाण भी नहीं हैं ।] (आक्षेप) [शब्दार्थ-सम्बन्ध को जोड़नेवाले के] बहुत पुराना होने से आजकल के हम लोगों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता । (समाधान) बहुत पुराना होता हुये भी [शब्दार्थ-सम्बन्ध को जोड़नेवाला] स्मरण न किया जाये, ऐसा नहीं हो सकता । अत्यन्त बर्फीले स्थान आदि में बनाये गये कुए वा बगीचे के बनानेवाले के अस्मरण (=नाम का ज्ञान न होने) के समान यह अस्मरण नहीं हो सकता । उन प्रदेशों में देश के नाश से अथवा कुल के नाश से पुरुष का वियोग हो जाता है । [अर्थात् परम्परा टूट जाने से बर्फीले स्थानों में कूप आदि के निर्माता का नाम स्मरण नहीं रहता ।] [परन्तु] पुरुषों के शब्दार्थ-व्यवहार का वियोग नहीं है । [अर्थात् पुरुषों का शब्दार्थव्यवहार अटूट परम्परा से चला आ रहा है । अतः शब्दार्थ-सम्बन्ध के करनेवाले पुरुषों का अस्मरण उपपन्न नहीं हो सकता ।]

विवरण—शबरस्वामी ने शब्दार्थ-सम्बन्ध को अपौरुषेय सिद्ध करने में जो हेतु दिये हैं, उनका सम्बन्ध पुरुषशरीरधारी जीव से है, तो ठीक है । परन्तु शबरस्वामी आदि मीमांसक ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते । इसलिये उनके मत में अपौरुषेय का अभिप्राय शब्दार्थ-सम्बन्ध के अनादित्व से है । जो मीमांसक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं, उनके मत में वेद और शब्दार्थ-सम्बन्ध के अपौरुषेय कहने का तात्पर्य शरीरधारी पुरुष के निषेध में है । वैयाकरण भी शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य मानते हैं, परन्तु उन्होंने उसका अपौरुषेयत्वरूप से उपपादन नहीं किया । नैयायिक शब्दार्थ-सम्बन्ध को कृतक मानते हैं । परन्तु इस शब्द का इस अर्थ के साथ सम्बन्ध है, इसको ईश्वर-संकेतित स्वीकार करते हैं । उत्तर मीमांसा में ब्रह्म को शास्त्र

स्यादेतत्—सम्बन्धमात्रव्यवहारिणो निष्प्रयोजनं कर्त्तृस्मरणमनाद्रियमाणा विस्मरेयुरिति। तन्न, यदि हि पुरुषः कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारयेत्, व्यवहारकाले अवश्यं स्मर्त्तव्यो भवति। संप्रतिपत्तौ हि कर्त्तृव्यवहर्त्रोरर्थः सिद्धयति, न विप्रतिपत्तौ। न हि वृद्धिशब्देनापाणिनेर्व्यवहारत आदैचः प्रतीयेरन्, पाणिनिकृतिमननुमन्यमानस्य वा।

(=वेद) का योनि (=उत्पत्तिस्थान) माना है—शास्त्रयोनित्वात् (वेदान्त १।१।३)। अतः उनके मत में वेद का प्रादुर्भाव ब्रह्म से हुआ है। ब्रह्म के नित्य होने से वेद और उसका शब्दार्थसम्बन्ध भी नित्य है। ब्रह्म ईश्वर हम जैसे पुरुषों से भिन्न पुरुषविशेष=पुरुषोत्तम है। मीमांसाकार जैमिनि ने भी यहां शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्वबोधक प्रकृत (१।१।५) सूत्र में बादरायण (वेदान्तकृत्) का नामनिर्देशपूर्वक मत प्रकट किया है। अतः जैमिनि की दृष्टि में वेद और शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता वेदान्त के शास्त्रयोनित्वात् सूत्र के अनुरूप ही है। इसी लिये सेश्वर-मीमांसकों ने 'वेद का प्रादुर्भाव परमेश्वर से हुआ' ऐसा स्पष्टरूप से लिखा है। अतः उनके मत में वेद के अपौरुषेयत्व का अभिप्राय है कि वेद अस्मदादि किसी पुरुष से उत्पन्न नहीं हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शब्द और उसके अर्थसम्बन्ध के नित्यत्व और अनित्यत्व के विषय में इस प्रकार लिखा है—

'शब्दो द्विविधः, नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसंबन्धाः सन्ति, ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्तन्ते, ते तु कार्याश्च। कुतः? यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः, तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति। तद्विद्यामयत्वाद् वेदानामनित्यत्वं नैव घटते'। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, 'वेदनित्यत्वविचार' के आरम्भ में।

अर्थात्—नित्य और कार्य (=अनित्य) भेद से शब्द दो प्रकार का है। परमात्मा के ज्ञान में जिनका शब्द-अर्थ-सम्बन्ध विद्यमान है, वे नित्य होने योग्य हैं। और जो हम लोगों के व्यवहार में आते हैं, वे कार्य। और 'च' शब्द से जो वैदिक शब्द हमारे व्यवहार में आते हैं, वे नित्य हैं। किस कारण? जिसकी ज्ञान और क्रिया नित्य स्वभावसिद्ध अनादि हैं, उसका सारा सामर्थ्य भी नित्य ही होना चाहिये। इसलिये वेद के उसके विद्यामय होने से वेद का अनित्य नहीं घटता॥

व्याख्या—(आक्षेप) यह हो सकता है कि शब्दार्थसम्बन्धमात्र का व्यवहार करनेवाले निष्प्रयोजन [शब्दार्थ-सम्बन्ध के] कर्ता के स्मरण का आदर न करते हुए [उसे] भूल जायें। (समाधान) यह ठीक नहीं, यदि निश्चय से पुरुष शब्दार्थ-सम्बन्ध को जोड़कर [अपने अनुगतों से] व्यवहार कराये, तो वह [शब्दार्थसम्बन्ध करनेवाला] व्यवहारकाल में अवश्य स्मरणीय होता है। [सम्बन्धकर्ता और व्यवहारकर्ता का] समान ज्ञान होने पर ही सम्बन्धकर्ता और व्यवहारकर्ता का प्रयोजन सिद्ध होता है। विरुद्ध ज्ञान होने पर [व्यवहार का] प्रयोजन नहीं होता। 'वृद्धि' शब्द से अपाणिनि (=पाणिनि के व्यवहार को न जाननेवाले पुरुष) के व्यवहार से आदैच् (=आ ऐ औ) ज्ञात नहीं होते, अथवा पाणिनि की कृति (=संज्ञासंज्ञी सम्बन्ध) को न माननेवाले को [आदैच् अर्थ की प्रतीति नहीं होती]। इसी प्रकार 'म' शब्द से पिङ्गल के व्यवहार को

तथा मकारेणापिङ्गलस्य न सर्वगुरुस्त्रिकः[1] प्रतीयेत, पिङ्गलकृतिमननुमन्यमानस्य वा। तेन कर्तृव्यवहर्त्तारौ संप्रतिपद्येते। तेन वेदे व्यवहरद्भिरवश्यं स्मरणीयः सम्बन्धस्य कर्त्ता स्यात् व्यवहारस्य च। न हि विस्मृते, वृद्धिरादैच् (अष्टा० १।१।१) इत्यस्य सूत्रस्य कर्त्तरि, वृद्धिर्यस्याचामादिः० (अष्टा० १।१।७२) इति किञ्चित् प्रतीयेत। तस्मात् कारणादवगच्छामो न कृत्वा संबन्धं व्यवहारार्थं केनचिद् वेदाः प्रणीता इति। यद्यपि च विस्मरणमुपपद्येत, तथापि न प्रमाणमन्तरेण संबन्धारं प्रतिपद्येमहि। यथा विद्यमानस्याप्यनुपलम्भनं भवतीति, नैतावता विना प्रमाणेन शशविषाणं प्रतिपद्यामहे। तस्मादपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध इति॥

नन्वर्थापत्त्या सम्बन्धारं प्रतिपद्येमहि। न ह्यकृतसम्बन्धाच्छब्दादर्थं प्रतिपद्य-

---

न जाननेवाले को सभी गुरु वर्ण हैं जिस में ऐसे त्रिक'का ज्ञान नहीं होता, अथवा पिङ्गल की कृति (=मकार और सर्वगुरु त्रिक के सम्बन्ध) को न माननेवाले को [सर्वगुरु त्रिकरूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती]।इस[संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध के परिज्ञान] से कर्त्ता और व्यवहर्त्ता[एक-दूसरे के अभिप्राय को] जानते हैं। इससे वेद में व्यवहार करनेवालों(=वेदार्थप्रवक्ताओं) के द्वारा[शब्दार्थ-]सम्बन्ध का कर्ता और उसके व्यवहार का कर्ता अवश्य स्मरणीय होवे। वृद्धिरादैच् (अष्टा० १।१।१)इस सूत्र के कर्ता के विस्मरण होने पर, वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् (अष्टा० १।१।७२) सूत्र में (वृद्धि शब्द से)कुछ भी प्रतीत नही होगा। इस कारण से हम जानते है कि[शब्दार्थ के]संबन्ध को करके किसी ने व्यवहार के लिये वेदों को नहीं बनाया। और भी, यद्यपि [शब्दार्थसंबन्ध के कर्ता का] विस्मरण हो सकता है, फिर भी प्रमाण के बिना[शब्दार्थं]संबन्ध के कर्त्ता को हम नहीं जान सकते। जैसे [कभी-कभी] विद्यमान वस्तु की भी उपलब्धि नहीं होती, इतने मात्र से बिना प्रमाण के खरगोश के सींग को हम स्वीकार नहीं कर सकते। इस कारण शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अपौरुषेय है [यह निश्चित होता है]।

विवरण—मकारेण · सर्वगुरुस्त्रिकः—पिङ्गलाचार्य ने अपने छन्दःशास्त्र के संज्ञाविधायक प्रथमाध्याय में धी श्री स्त्री म् (१।१) सूत्र से 'तीन गुरु अक्षरों की मकार संज्ञा की है। अतः जो पिङ्गल के इस संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध को नहीं जानता, उसे उसके तीन गुरु वर्णवाले त्रिक का बोध नहीं हो सकता। वृद्धिरादैच्(अष्टा० १।१।१) सूत्र का अर्थ है—'आदैच्=आ ऐ औ वर्णों की वृद्धि संज्ञा होती है।' वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् (अष्टा० १।१।७२) इसका अर्थ है—'जिस शब्द के अचों (=स्वरों में) आदि अच् (=स्वर) वृद्धि-संज्ञक है, उसकी वृद्ध-संज्ञा होती है। जो व्यक्ति वृद्धिरादैच् सूत्र में विहित वृद्धि-संज्ञा को नहीं जानता, उसे वृद्धिर्यस्य० सूत्र का अभिप्राय ज्ञात नहीं हो सकता॥

व्याख्या—(आक्षेप) अच्छा तो अर्थापत्ति से शब्दार्थसंबन्ध के जोड़नेवाले को हम जान लेंगे। बिना संबन्ध किये गये शब्द से अर्थ को जाननेवालों को हम उपलब्ध नहीं करते(=लोक में

---

१. धी श्री स्त्री म्। छन्दः सूत्र १।१॥

मानान् उपलभामहे। प्रतिपद्येरँश्चेत्, प्रथमश्रवणेऽपि प्रतिपद्येरन्। तदनुपलम्भनादवश्यं भवितव्यं सम्बन्ध्रा। इति चेन्न, सिद्धवदुपदेशात्। यदि सम्बन्धुरभावाद् नियोगतो नार्था उपलभ्येरन्, ततोऽर्थापत्त्या सम्बन्धारमवगच्छामः। अस्ति तु अन्यः प्रकारः—वृद्धानां स्वार्थेन संव्यवहरमाणानामुपशृण्वन्तो बालाः प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते। तेऽपि वृद्धा यदा बाला आसन्, तदाऽन्येभ्यो वृद्धेभ्यः, तेऽप्यन्येभ्य इति, नास्त्यादिरित्येवं वा भवेत्। अथवा न कश्चिदेकोऽपि शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध आसीत्, अथ केनचित् सम्बन्धाः प्रवर्त्तिता इति। अत्र वृद्धव्यवहारे सति नार्थादापद्येत सम्बन्धस्य कर्त्ता। अपि च व्यवहारवादिनः प्रत्यक्षमुपदिशन्ति, कल्पयन्ति इतरे सम्बन्धारम्। न च प्रत्यक्षे प्रत्यर्थिनि कल्पना साध्वी। तस्मात् सम्बन्धुरभावः॥

नहीं देखते)। और यदि [बिना शब्दार्थसम्बन्ध को जाने अर्थ को] जानलें, तो [शब्द के] प्रथम श्रवण में भी [अर्थ को] समझ जायें। ऐसा (=शब्द के प्रथम श्रवण में अर्थज्ञान के) दिखाई न पड़ने से (=उपलब्ध न होने से) शब्दार्थसम्बन्ध का जोड़नेवाला अवश्य होना चाहिये। (समाधान) ऐसा कहना ठीक नहीं, सिद्ध (=पूर्वतः=विद्यमान पदार्थ) के समान शब्द का उपदेश (=कथन) करने से। [अर्थात् शब्दार्थसम्बन्ध का कथन ही होता है, शब्दार्थसम्बन्ध जोड़ा नहीं जाता।] यदि शब्दार्थसम्बन्ध के जोड़नेवाले के अभाव में नियमतः अर्थ उपलब्ध न होवें, तो शब्दार्थसम्बन्ध के जोड़नेवाले को हम अर्थापत्ति से जान लेंगे। [शब्दार्थ की प्रतीति का] तो अन्य प्रकार है—अपने प्रयोजन से व्यवहार करनेवाले वृद्धों (=बड़ी अवस्थावालों) के [शब्द-व्यवहार को] सुनते हुये बालक प्रत्यक्ष ही अर्थ को ग्रहण करते हुये देखे जाते हैं। वे वृद्ध भी जब बालक थे, तब उन्होंने अन्य वृद्धों से, उन्होंने भी अन्य वृद्धों से, [इस परम्परा का] आदि नहीं है, इस प्रकार [शब्दार्थसम्बन्ध का ज्ञान] हो सकता है। अथवा [जब] किसी एक शब्द का भी अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं था, [तब] पीछे से किसी ने शब्दार्थसम्बन्ध प्रवर्तित किये। [यह नहीं हो सकता, क्योंकि किसी शब्द का किसी अर्थ के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिये पूर्वतः ज्ञात अर्थवाले शब्दान्तर की अपेक्षा होती है। यदि किसी शब्द का भी पहले कोई सम्बन्ध नहीं था, तो शब्द अर्थ का सम्बन्ध कैसे जोड़ा गया?] इस विषय में वृद्धव्यवहार के होने पर (=स्वीकार करने पर) सम्बन्ध का कर्त्ता अर्थापत्ति से नहीं जाना जाता है। और भी, व्यवहारवादी प्रत्यक्ष [अपने व्यवहार से बालकों को शब्दार्थसम्बन्ध का] उपदेश करते हैं, और अन्य (=शब्दार्थ-सम्बन्ध को कृतक माननेवाले) सम्बन्ध करनेवाले की कल्पना करते हैं। प्रत्यक्ष होने पर उसकी विरोधी कल्पना ठीक नहीं होती। इस कारण [शब्दार्थसम्बन्ध के] जोड़नेवाले का अभाव जानना चाहिये।

विवरण—सिद्धवदुपदेशात्—इसका इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है—सिद्धवतः उपदेशात्=सिद्ध है अर्थसम्बन्ध जिसका ऐसे शब्द का उपदेश=कथन=व्यवहार होने से। यदि महाभाष्यकार पतञ्जलि के शब्दों में कहें, तो [1]'नहि कश्चित् प्रयुयुक्षमाणः शब्दार्थयोः सम्बन्ध

---

१. तुलना करो—'तद्यथा घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटम्, कार्य-

अव्यतिरेकश्च—यथा अस्मिन् देशे सास्नादिमति गोशब्दः, एवं सर्वेषु दुर्गमेष्वपि। बहवः सम्बन्धारः कथं संगंस्यन्ते ? एको न शक्नुयात् । अतो नास्ति सम्बन्धस्य कर्त्ता। अपर आह——**अव्यतिरेकश्च**——न हि सम्बन्धव्यतिरिक्तः कश्चित् कालोऽस्ति, यस्मिन् न कश्चिदपि शब्दः केनचिदर्थेन सम्बद्ध आसीत् । कथम् ? सम्बन्धक्रियैव हि नोपपद्यते। अवश्यमनेन सम्बन्धं कुर्वता केनचिच्छब्देन कर्त्तव्यः। येन क्रियेत, तस्य केन कृतः ? अथान्येन केनचित् कृतः, तस्य केनेति, तस्य केनेति ? नैवावतिष्ठते । तस्मादवश्यमनेन सम्बन्धं कुर्वता अकृतसम्बन्धाः केचन शब्दा वृद्धव्यवहारसिद्धा अभ्यु-

---

कुलं (=कोषकारकुलं) गत्वाह—अस्य शब्दस्यानेनार्थेन सह सम्बन्धं कुरु, प्रयोक्ष्ये ऽहम् । तावत्ये-वार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुङ्क्ते ।

अर्थात्—कोई शब्द के अर्थविशेष में प्रयोग करने की इच्छावाला किसी शब्द-अर्थ के सम्बन्ध करनेवाले कोषकार के घर में जाकर नहीं कहता कि इस शब्द का इस अर्थ के साथ सम्बन्ध कर दो, मैं प्रयोग करूंगा। वह तो चटपट अर्थ का ग्रहण कर शब्द का प्रयोग कर देता है। इससे शब्द-अर्थ का सम्बन्ध अकृतक है, ऐसा जानना चाहिये।

अत्र वृद्धव्यवहारे—यहां 'अत्र' के स्थान में 'अथ' पाठान्तर है ॥

व्याख्या—'अव्यतिरेकश्च'—अव्यतिरेक भी है [देश का, अर्थात् शब्दार्थसम्बन्ध से रहित कोई देश नहीं]। जैसे इस देश में सास्नादियुक्त प्राणी में गो शब्द [प्रयुक्त होता है,] उसी प्रकार सब दुर्गम स्थानों में भी। [इन देश-देशान्तरों में शब्दार्थसम्बन्ध को] जोड़नेवाले बहुत व्यक्ति किस प्रकार एक मतिवाले होंगे ? [अर्थात् अनेक शब्दार्थ-सम्बद्धा एक सास्नादिमत् अर्थ में ही गो शब्द का सम्बन्ध कैसे जोड़ेंगे ? विमति होने से क्या उन में अर्थसम्बन्ध में मतभेद नहीं होगा ? यदि कहो कि एक ही व्यक्ति शब्दार्थसम्बन्ध को जोड़नेवाला है, तो यह सम्भव नहीं।] एक असहाय व्यक्ति [सब देश-प्रदेशों में शब्दार्थ-संबन्ध को जोड़ने में] समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये शब्दार्थसम्बन्ध को जोड़नेवाला कोई नहीं है। अपर आह—दूसरे आचार्य कहते हैं—[शब्दार्थ]सम्बन्ध से रहित कोई काल नहीं है, जिसमें कोई भी शब्द किसी अर्थ से सम्बद्ध नहीं था। कैसे ? सम्बन्ध की क्रिया ही उपपन्न नहीं होती। अवश्य ही इस [शब्दार्थ]सम्बन्ध करनेवाले को किसी शब्द के द्वारा ही [सम्बन्ध] करना पड़ेगा। जिस शब्द से [अन्य शब्द का अर्थ के साथ] सम्बन्ध किया जायगा, उस शब्द का [अर्थसम्बन्ध] किस शब्द से किया ? यदि किसी अन्य शब्द से किया, तो उसका [अर्थसम्बन्ध] किस से किया, उसका किससे ? यह [अर्थसम्बन्ध परम्परा कहीं] नहीं ठहरती (=रुकती)। इसलिये इस [शब्दार्थ के] सम्बन्ध के करनेवाले को अवश्य ही कुछ अकृतसम्बन्ध (=स्वाभाविक सम्बन्धवाले) शब्द वृद्ध-व्यवहार से सिद्ध स्वीकार करने पड़ेंगे। यदि व्यवहार की सिद्धि है, तो नियमतः [शब्दार्थ

मनेन करिष्यामि। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान्, प्रयोक्ष्ये इति। स तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुङ्क्ते'। महाभाष्य १।१।१, हिन्दी व्याख्या, पृष्ठ ५२।

पगन्तव्याः। अस्ति चेत् व्यवहारसिद्धिः, न नियोगतः सम्बन्धा भवितव्यमिति अर्थापत्तिरपि नास्ति। स्यादेतत्, अप्रसिद्धसम्बन्धा बालाः कथं वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यन्ते इति? नास्ति दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। दृष्टा हि बाला वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यमानाः न। च प्रतिपन्नसम्बन्धाः सम्बन्धस्य कर्तुः। तस्माद्वैषम्यम्॥

अर्थेऽनुपलब्धे—अनुपलब्धे च देवदत्तादावर्थेऽनर्थकं संज्ञाकरणम्, अशक्यं च। विशेषान् प्रतिपत्तुं हि संज्ञाः क्रियन्ते, विशेषाँश्चोद्दिश्य। तद्विशेषेष्वज्ञायमानेषूभयमप्यनवक्लृप्तम्। तस्माद् अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः। अतश्च तत् प्रमाणमनपेक्षत्वात्। न चैवं सति पुरुषान्तरं प्रत्ययान्तरञ्चापेक्ष्यते। तस्माच्चोदनालक्षण एव धर्मो, नान्यलक्षणः। बादरायणग्रहणमुक्तम्॥

सम्बन्ध को] जोड़नेवाले को नहीं होना चाहिये, यह अर्थापत्ति भी उपपन्न नहीं होती। [क्योंकि जैसे कुछ शब्द वृद्धव्यवहारसिद्ध मान लिये, उसी प्रकार शेष शब्द भी वृद्धव्यवहारसिद्ध माने जा सकते हैं, शब्दार्थसम्बन्ध जोड़नेवाले की क्या आवश्यकता है?] (आक्षेप) यह होवे [अर्थात् उक्त वृद्धव्यवहार से शब्दार्थसम्बन्ध का उपदेश मान लें], तो भी जिन को शब्दार्थसम्बन्ध ज्ञात नहीं हैं, ऐसे बालक वृद्धजनों [के व्यवहार] से कैसे शब्दार्थसम्बन्ध को ग्रहण करते हैं? (समाधान) देखे गये अर्थात् लोकविज्ञात अर्थ में अनुपपन्नता नहीं होती। वृद्ध जनों से [शब्दार्थसम्बन्ध को] सीखते हुये बालक देखे जाते हैं। परन्तु शब्दार्थसम्बन्ध को प्राप्त हुये शब्दार्थसम्बन्ध के करनेवाले को नहीं जानते। इसलिये विषमता है। [अर्थात् शब्दार्थसम्बन्ध के कर्त्ता के विना ज्ञान के भी बालक वृद्धजनों से शब्दार्थसम्बन्ध को ग्रहण करते हैं, और शब्दार्थसम्बन्ध को जाननेवाले वृद्धजन भी शब्दार्थसम्बन्ध के करनेवाले को नहीं जानते।]

विवरण—'अपर आह' के निर्देश से जाना जाता है कि यह व्याख्यान अन्य आचार्य कृत है। पूर्व व्याख्यान में सब देशों में शब्दव्यवहार का अव्यतिरेक कहा है। और द्वितीय व्याख्यान में काल का। 'शब्दार्थसम्बन्धरहित कोई काल नहीं है' इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शबरस्वामी आदि महाप्रलय नहीं मानते। **प्रतिपन्नसम्बन्धाः**—पूना संस्करण में प्रतिपन्नाः सम्बन्धाः पाठ छपा है, वह असम्बद्ध-सा है॥

व्याख्या—अर्थेऽनुपलब्धे—देवदत्तादि अर्थ के अनुपलब्ध होने पर संज्ञाकरण (=नाम रखना) अनर्थक है, और अशक्य भी है। विशेष अर्थों को जानने के लिये ही संज्ञाएं की जाती हैं, और विशेष अर्थों का उद्देश्य करके [संज्ञाएं की जाती हैं]। उन विशेष अर्थों के ज्ञात न होने पर दोनों ही (= विशेष अर्थों को जानने के लिये संज्ञा करना, तथा विशेष अर्थों को उद्देश्य करके (संज्ञा करना) उपपन्न (=समर्थ) नहीं होते। इसलिये शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध अपौरुषेय है। इस हेतु से तत् प्रमाणमनपेक्षत्वात् = वह शब्द प्रमाण है, अपेक्षा न रखता हुआ। इस प्रकार शब्द पुरुषान्तर अथवा ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिये चोदनालक्षणवाला ही धर्म है, अन्य लक्षणवाला नहीं। बादरायण नाम के ग्रहण में प्रयोजन कह दिया॥

अथ यदुक्तम्—'अनिमित्तं शब्दः, कर्मकाले फलादर्शनात्, कालान्तरे च कर्माभावात् प्रमाणं नास्तीति'। तदुच्यते—न स्यात् प्रमाणं, यदि पञ्चैव प्रमाणान्यभविष्यन्। येन येन हि प्रमीयते, तत्तत् प्रमाणम्। शब्देनापि प्रमीयते, ततः शब्दोऽपि प्रमाणम्, यथैव प्रत्यक्षम्। न च प्रमाणेनावगतं प्रमाणन्तरेणानवगतमित्येतावता अनवगतं भवति। न चैवं श्रूयते—'कृते कर्मणि तावतैव फलं भवति', किन्तु 'कर्मणः फलं प्राप्यते' इति। यच्च—कालान्तरे फलस्यान्यत् प्रत्यक्षं कारणमस्तीति। नैष दोषः, तच्चैव हि तत्र कारणं, शब्दश्चेति। यत्तु प्रत्यक्षविरुद्धं वचनमुपन्यस्तम्—'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' इति प्रत्यक्षं शरीरकं व्यपदिशतीति। तदुच्यते—शरीरसम्बन्धात्, यस्य तच्छरीरं सोऽपि तैर्यज्ञायुधैर्यज्ञायुधीत्युच्यते॥

[चित्राक्षेप-परिहार]

व्याख्या—जो यह कहा है कि 'शब्द [धर्म के ज्ञान का] निमित्त नहीं है, याग के समय में फल का दर्शन न होने से, और कालान्तर में [जब फल मिलेगा, उस समय] कर्म=याग का अभाव होने से [अतः यागरूप कर्म का यह फल है, इसमें] प्रमाण नहीं है। इत्यादि (पूर्व पृष्ठ ३२)। उसके विषय में कहते हैं—यदि पांच[1] (=प्रत्यक्ष अनुमान उपमान अर्थापत्ति अभाव[1]) ही प्रमाण होते, तो [चोदना धर्म में] प्रमाण न होती। जिस-जिस से भी प्रमेय का ज्ञान किया जाता है, वह-वह प्रमाण होता है। शब्द से भी प्रमेय का ज्ञान होता है, इसलिये शब्द भी प्रमाण है, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो किसी प्रमाण से जाना जाये, और प्रमाणान्तर से न जाना जाये, इतने मात्र से वह अज्ञात नहीं होता है। [चित्रया यजेत पशुकामः (तै० सं० २।४।६) वचन से] यह नहीं सुना जाता है कि कर्म कर लेने पर उतने से ही फल होता है, किन्तु कर्म से फल प्राप्त होता है [यह जाना जाता है]। और जो कहा कि—'कालान्तर में [जब कोई फल मिलेगा, तब] फल का अन्य [दान आदि] कारण प्रत्यक्ष है' (द्र०—पूर्व पृष्ठ ३२)। यह भी दोष नहीं है, उस फल में वह [दानादि] भी कारण है, और शब्द (=शब्दबोधित याग) भी। और जो प्रत्यक्षविरुद्ध वचन उद्धृत किया है—'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोक याति' (=वह यज्ञायुधी यजमान सरलता से स्वर्गलोक को प्राप्त होता है), यह वचन ['स एष' निर्देश द्वारा] प्रत्यक्षरूप से निन्दित[2] (=मृत) शरीर का कथन करता है। (द्र०—पूर्व पृष्ठ ३२)। [वह मृत शरीर यहीं भस्म हो जाता है, फिर भला वह स्वर्ग को कैसे जायेगा?] इस विषय में कहते हैं—शरीर के सम्बन्ध से, जिसका वह शरीर है, वह (=आत्मा) भी उन यज्ञायुधों से यज्ञायुधी कहा जाता है। [अर्थात् यज्ञायुधी आत्मारूप यजमान स्वर्ग को प्राप्त होता है, यह उक्त वचन का तात्पर्य है।]

१. इस वचन से स्पष्ट है कि भाष्यकार अभाव को प्रमाण मानते हैं। भट्ट मतानुयायी भाष्यकार के समान ही अभाव सहित छः प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मतानुयायी अभाव को प्रमाण नहीं मानते, उनके मत में ५ ही प्रमाण हैं।

२. कुत्सितं निन्दितं शरीरं शरीरकम्। कुत्सिते (अष्टा० ५।३।७३) से 'क' प्रत्यय।

आह कोऽसावन्यः, नैनमुपलभामहे ? प्राणाऽऽदिभिरेनमुपलभामहे—योऽसौ प्राणिति, अपानिति, उच्छ्वसिति, निमिषति, इत्यादि चेष्टितवान्, सोऽत्र शरीरे यज्ञायुधी इति। ननु शरीरमेव प्राणिति अपानिति च। न, प्राणादयः शरीरगुणविधर्माणः, अयावच्छरीरभावित्वात्। यावच्छरीरं तावदस्य गुणा रूपादयः। प्राणादयस्तु सत्यपि शरीरे न भवन्ति। सुखादयश्च स्वयमुपलभ्यन्ते, न रूपादय इव शरीरगुणाः परेणापीति। तस्माच्छरीरगुणवैधर्म्यादन्यः शरीराद् यज्ञायुधीति॥

आह, कुत एष संप्रत्ययः, सुखादिभ्योऽन्यस्तद्वानस्तीति ? न हि सुखादिप्रत्या-

---

विवरण—भट्ट जयन्त ने न्यायमञ्जरी में प्रसङ्गवश मीमांसाशास्त्र के अनेक प्रकरणों पर विचार किया है (द्र०—न्यायमञ्जरी पृष्ठ २६०—२६०, मेडिकल हाल प्रेस, काशी)। शाबर-भाष्य के प्रकृत प्रसङ्ग का निर्देशपूर्वक किया गया विचार (पृष्ठ २७२—२७४) दर्शनीय है। इस प्रसङ्ग में जयन्त भट्ट ने काम्येष्टियों के फल की संप्राप्ति को प्रमाणित करते हुये लिखा है—'हमारे ग्राम की कामनावाले पितामह ने 'सांग्रहणी' इष्टि की, और इष्टि की समाप्ति के अनन्तर ही उन्हें 'गौरमूलक' ग्राम प्राप्त हो गया'[1]॥

[आत्मास्तित्व-विचार]

व्याख्या—(आक्षेप) [अनात्मवादी] कहता है—[शरीर से] अन्य वह कौन है, [जो स्वर्ग लोक को जाता है], उसको हम उपलब्ध नहीं करते ? (समाधान) प्राण आदि के द्वारा उसको उपलब्ध करते हैं (=जानते हैं)—जो प्राणन क्रिया करता है, अपान क्रिया करता है, उच्छ्वास लेता है, पलक झपकता है, इत्यादि क्रियाएं करनेवाला है, वह इस शरीर में यज्ञायुधी है। (आक्षेप) शरीर ही प्राण लेता है, और अपान क्रिया करता है। (समाधान) यह ठीक नहीं, प्राण आदि शरीर के गुणों से विपरीत धर्मवाले हैं, क्योंकि जब तक शरीर रहता है, तब तक रहनेवाले न होने से। जब तक शरीर रहता है, तब तक उसके रूप आदि गुण रहते हैं। प्राण आदि तो शरीर रहने पर भी नहीं रहते। सुख आदि स्वयं उपलब्ध किये जाते हैं, शरीर के गुण रूपादि के समान दूसरे से भी उपलब्ध नहीं किये जाते। [अर्थात् शरीर के गुण रूपादि स्वसंवेद्य भी होते है और परसंवेद्य भी, परन्तु सुखादि स्वसंवेद्य ही होते हैं।] इस लिये शरीर के गुणों से वैधर्म्य होने से [प्राणादि क्रिया और सुखादि की उपलब्धि करनेवाला] शरीर से भिन्न यज्ञायुधी है॥

[विज्ञानमात्रत्व का निराकरण]

(आक्षेप) [अनात्मवादी] कहता है—यह कैसे जाना कि सुखादि से भिन्न सुखादि का संवेदक है? सुखादि के प्रत्याख्यान (=सुखादि को छोड़ने) से उस [आत्मा] का कोई स्वरूप

---

१. 'अस्मत्पितामह एव ग्रामकामः सांग्रहणीं कृतवान्। स इष्टिसमाप्तिसमनन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवाप'। न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २७४।

ध्यानेन तस्य स्वरूपमुपलभामहे। तस्माच्छशविषाणवदसौ नास्ति। अथोच्यते—'तेन विना कस्य सुखादय इति' ? न कस्यचिदपीति वक्ष्यामः। न हि यो य उपलभ्यते, तस्य तस्य संबन्धिना भवितव्यम्। यस्य संबन्धोऽप्युपलभ्यते सम्बन्धी च, तस्यायं सम्बन्धीति गम्यते। न हि चन्द्रमसमादित्यं वोपलभ्य सम्बन्धान्वेषणा भवति कस्यायमिति। न कस्यचिदपीत्यवधार्यते। तस्मान्न सुखादिभ्योऽन्यस्तद्वानस्तीति। अथ उपलब्धस्यावश्यं कल्पयितव्यः सम्बन्धी भवति,तत आत्मानमप्यनेन प्रकारेणोपलभ्य 'कस्यायम्' इति सम्बन्ध्यन्तरमन्विष्येम। तमपि कल्पयित्वाऽन्यमपि कल्पयित्वाऽन्यमित्यव्यवस्थैव स्यात्। अथ कञ्चित् कल्पयित्वा न सम्बन्ध्यन्तरमपि कल्पयिष्यसि, तावत्येव विरंस्यसि, तावता च परितोक्ष्यसि, ततो विज्ञाने एव परितुष्य तावत्येव विरन्तुमर्हसि।

अत्रोच्यते—यदि विज्ञानादन्यो नास्ति, कस्तर्हि 'जानाति' इत्युच्यते ? ज्ञानस्य कर्त्तुरभिधानमनेन शब्देनोपपद्यते। तदेष शब्दोऽर्थवान् कर्त्तव्यः, इति ज्ञानात् व्यतिरिक्तमात्मानं कल्पयिष्याम इति।

आह—वेदा[1] एनं शब्दमर्थवन्तं कल्पयिष्यन्ति, यदि कल्पयितव्यं प्रमंस्यन्ते। बहवः

हमें उपलब्ध नहीं होता (=जाना नहीं जाता)। इसलिये वह [आत्मा] खरगोश के सींग के समान नहीं है। यदि कहो कि—'उस [आत्मा] के बिना किस के सुखादि हैं' ? हम कहेंगे कि किसी के भी नहीं हैं। क्योंकि जो-जो उपलब्ध होता है, उस-उस के सम्बन्धी को अवश्य होना चाहिये, [यह आवश्यक] नहीं है। जिसका सम्बन्ध भी उपलब्ध होता है और सम्बन्धी भी, उसका यह सम्बन्धी है, ऐसा जाना जाता है। चन्द्रमा वा आदित्य को देखकर उसके सम्बन्ध को ढूंढने की इच्छा नहीं होती कि यह किस का है। यह किसी का नहीं है, यह निश्चित होता है। इसलिये सुखादि से भिन्न, उन से युक्त कोई नहीं है। और यदि उपलब्ध हुये का अवश्य सम्बन्धी कल्पनीय होता है, तो उससे (=सुखादि से) आत्मा को भी उक्त प्रकार से जानकर, 'यह [आत्मा] किसका है' ऐसे अन्य सम्बन्धी का अन्वेषण करेंगे। और फिर उस [सम्बन्ध्यन्तर] की कल्पना करके, अन्य की भी कल्पना करके अन्य की कल्पना करनी होगी, इस प्रकार अव्यवस्था ही होगी। और फिर यदि किसी सम्बन्धी की कल्पना करके अन्य सम्बन्धी की कल्पना नहीं करोगे, वहीं रुक जाओगे, और उतने से ही सन्तुष्ट हो जाओगे,तो विज्ञान में ही सन्तुष्ट होकर उतने में ही रुकना योग्य है।

(समाधान) इस विषय में कहते हैं—यदि विज्ञान से अन्य कोई नहीं है, तो कौन जानाति (=जानता है), इस क्रिया से कहा जाता है ? [अर्थात् जानाति का कर्त्ता कौन है ?] इस [जानाति] शब्द से ज्ञान के कर्त्ता का कथन होता है। इसलिये इस [जानाति] शब्द को अर्थ से युक्त करना चाहिये। [इस प्रकार ज्ञानक्रिया के कर्तृत्व के लिये] ज्ञान से भिन्न आत्मा की कल्पना करेंगे।

(आक्षेप) [पूर्वपक्षी] कहता है—वेद इस [जानाति] शब्द को अर्थवान् बना

---

१. 'देवा एनं' इति पाठान्तरम्।

खल्विह जना 'अस्ति आत्मा, अस्ति आत्मा' इत्यात्मसत्तावादिन एव शब्दस्य प्रत्यक्षवक्तारो भवन्ति, तथापि नाऽऽत्मसत्तां कल्पयितुं घटन्ते। किमङ्ग पुनः 'जानाति' इति परोक्षशब्ददर्शनात् ? तस्माद् असदेतत् ॥

उच्यते—इच्छया आत्मानमुपलभामहे। कथमिति ? उपलब्धपूर्वे हि अभिप्रेते भवतीच्छा। यथा—मेरुमुत्तरेण यान्यस्मज्जातीयैरनुपलब्धपूर्वाणि स्वादूनि वृक्षफलानि, न तानि प्रति अस्माकमिच्छा भवति। नो खल्वन्येन पुरुषेणोपलब्धेऽपि विषयेऽन्यस्योपलब्धुरिच्छा भवति। भवति च अन्येद्युरुपलब्धे अन्येद्युरिच्छा। तेन उपलम्भनेन समानकर्तृका सा इत्यवगच्छामः। यदि विज्ञानमात्रमेवेदमुपलम्भकमभविष्यत्, प्रत्यस्ते तस्मिन् कस्यापरेद्युरिच्छाऽभविष्यत् ? अथ तु विज्ञानादन्यो विज्ञाता नित्यः, तत एकस्मिन्नहनि य एवोपलब्धाऽपरेद्युरपि स एवैषिष्यतीति। इतरथा हीच्छा नोपपन्ना स्यात् ॥

देंगे', यदि वे कल्पना के योग्य [किसी आत्मा को] प्रमाणित कर लेंगे। यहां (=संसार में) बहुत से लोग 'आत्मा है' 'आत्मा है' इस प्रकार आत्मा की सत्ता को कहनेवाले ही शब्द के प्रत्यक्ष वक्ता होते हैं, फिर भी आत्मा की सत्ता की कल्पना करने में समर्थ नहीं होते। तो फिर क्या 'जानाति' इस परोक्ष अर्थवाले शब्द के दर्शन से [आत्मा की सत्ता प्रमाणित की जा सकती है ?] इसलिये यह ठीक नहीं है [कि कोई नित्य आत्मा है] ॥

[स्मृतिपूर्वक इच्छा का आत्मलिङ्गत्व]

व्याख्या—(समाधान) [सिद्धान्ती] कहता है—इच्छा से हम आत्मा की उपलब्धि करते हैं। कैसे ? पहले जिस को उपलब्ध किया है, उसी अभिप्रेत (=इष्ट) वस्तु में इच्छा होती है। जैसे—मेरु के उत्तर [देश] में जो हम जैसे लोगों से पहले से अनुपलब्ध स्वादु वृक्ष-फल हैं, उनके प्रति हमारी इच्छा नहीं होती। और ना ही अन्य पुरुष से उपलब्ध वस्तु के विषय में ही अन्य उपलब्धा की इच्छा होती है। और भी—अन्य दिन में उपलब्ध वस्तु के विषय अन्य दिन में इच्छा देखी जाती है। इस उपलब्धि से जानते हैं कि इच्छा समानकर्तृक है। [अर्थात् जो किसी वस्तु को उपलब्ध करता है, उसे ही कालान्तर में उस वस्तु को पुनः प्राप्त करने की इच्छा होती है।] यदि [अर्थ की] उपलब्धि करनेवाला विज्ञानमात्र ही होवे, तो उस [उपलब्धृ विज्ञान] के नष्ट हो जाने पर अगले दिन किस को इच्छा होवे? और यदि विज्ञान से भिन्न अन्य कोई विज्ञाता नित्य होवे, तो [पूर्व] किसी दिन में जो ही उपलब्धि करनेवाला है, वही दूसरे दिन में इच्छा करेगा। अन्यथा (=नित्य उपलब्धा के अभाव में) [कालान्तर में दृष्ट वस्तु की कालान्तर में] इच्छा उपपन्न ही नहीं होगी ॥

---

१. इसका तात्पर्य यह है कि अघटित घटना की कल्पना में कुशल वेद ही 'जानाति' पद से आत्मारूपी कर्ता की कल्पना में समर्थ है, अन्य नहीं। 'वेदाः' के स्थान में 'देवाः' पाठ भी है।

अत्रोच्यते—अनुपपन्नमिति नः क्व संप्रत्ययः ? यन्न प्रमाणेनाऽवगतम् । विज्ञानातावदन्यं नोपलभामहे । यन्नोपलभामहे तच्छशविषाणवदेव नास्तीत्यवगच्छामः । न च तस्मिन्नसति विज्ञानसद्भावोऽनुपपन्नः, प्रत्यक्षावगतत्वादेव । क्षणिकत्वं चाऽस्य प्रत्यक्षपूर्वकमेव । न च ज्ञातरि विज्ञानादन्यस्मिन्नसति, ज्ञाने चाऽनित्ये अपरेद्युरिच्छा अनुपपन्ना, प्रत्यक्षावगतत्वादेव । न खल्वप्येतद् दृष्टं, य एवान्येद्युरुपलब्धा स एवान्येद्युरेषिता इति । इदं तु दृष्टं यत् क्वचिद् अन्येन दृष्टमन्य इच्छति, क्वचिन्न । समानायां सन्ततावन्य इच्छति, सन्तत्यन्तरे नेच्छतीति । तस्मान्न सुखादिव्यतिरिक्तोऽन्योऽस्तीति ।

अत्रोच्यते—'न ह्यस्मर्त्तार इच्छन्ति' इत्युपपद्यते, न वा अदृष्टपूर्वे स्मृतिर्भवति । तस्मात् क्षणिकविज्ञानस्कन्धमात्रे स्मृतिरनुपपन्नेति ॥

(आक्षेप) इस विषय में [आक्षेप्ता] कहता है—'अनुपपन्न' (=न होना) यह ज्ञान हमें कहां होता है ? जो प्रमाण से अज्ञात होवे । विज्ञान से अन्य [आत्मा] को हम उपलब्ध नहीं करते । जिस को उपलब्ध नहीं करते, वह खरगोश के सींग के समान नहीं है, यह हम जानते हैं । उस [आत्मा] के न होने पर विज्ञान का सद्भाव अनुपपन्न है ऐसा नहीं, [उस विज्ञान के] प्रत्यक्ष ज्ञात होने से ही [सद्भाव सिद्ध है] । और इस [विज्ञान] का क्षणिकत्व प्रत्यक्षपूर्वक ही है । [अर्थात् विज्ञान का क्षणिकत्व प्रत्यक्ष जाना जाता है ।] और विज्ञान से अन्य ज्ञाता के न होने पर, और ज्ञान के अनित्य (=क्षणिक) होने पर [पूर्व दिन ज्ञात वस्तु के सम्बन्ध में] अगले दिन इच्छा अनुपन्न[1] है (=नहीं हो सकती) ऐसा नहीं[1] [कह सकते], प्रत्यक्ष ज्ञात होने से ही । [अर्थात् लोक में कालान्तर में इच्छा के देखे जाने से ही यह मानना पड़ेगा कि विज्ञान के अतिरिक्त किसी के न होने पर और उसके क्षणिक होने पर भी कालान्तर में देखी गई वस्तु के प्रति इच्छा होती है ।] और यह भी [नियम] नहीं देखा गया है कि जो पूर्व दिन में [द्रव्य को] उपलब्ध करनेवाला है, वही अन्य दिन में इच्छा करनेवाला होवे । यह तो देखा गया है कि कहीं अन्य से दृष्ट वस्तु की अन्य इच्छा करता है, कहीं नहीं करता । [विज्ञान] समान सन्तति (=निरन्तर समानरूप ज्ञानपरम्परा) होने पर [पूर्वद्रष्टा विज्ञान से] अन्य [विज्ञान] इच्छा करता है, परन्तु अन्य विज्ञान-सन्तति होने पर [अन्य विज्ञान] इच्छा नहीं करता । इसलिये सुखादि विज्ञान से भिन्न कोई नहीं है ।

(समाधान) इस विषय में कहते हैं—'जो स्मरण नहीं करते, वे इच्छा करते हैं', यह उपपन्न नहीं होता, और ना ही पूर्व अदृष्ट [विषय] में स्मृति होती है । इस [नियम के लोकसिद्ध होने] से क्षणिक विज्ञान समूहमात्र में स्मृति उपपन्न नहीं होती । [अर्थात् जिस विज्ञान ने वस्तु को जाना था वह नष्ट हो गया । उसकी परम्परा में उत्पन्न विज्ञान पूर्व ज्ञात वस्तु का स्मरण करनेवाला नहीं हो सकता, क्योंकि उससे वह दृष्ट नहीं है । स्मरण करनेवाले के न होने पर उत्तरकालीन विज्ञान इच्छा भी नहीं कर सकता । इससे समानायां सन्ततावन्य इच्छति कथन भी चिन्त्य है ॥]

---

१. मूल में 'इच्छा अनुपपन्ना इति न' ऐसा सम्बन्ध जानना चाहिये ।

अत्राह—स्मृतिरपि इच्छावत् पूर्वज्ञानसदृशं विज्ञानम्, पूर्वविज्ञानविषयं वा स्मृतिरित्युच्यते। तच्च द्रष्टरि विनष्टेऽपि अपरेद्युरुत्पद्यमानं नानुपपन्नम्, प्रत्यक्षावगतत्वादेव। अन्यस्मिन् स्कन्धघनेऽन्येन स्कन्धघनेन यज्ज्ञानं, तत्[1] तत्सन्ततिजेनान्येनोपलभ्यते, नातत्सन्ततिजेनान्येन। तस्माच्छून्याः स्कन्धघना इति। अथास्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति—**विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्ति'** इति। उच्यते—नैतदेवम्। अन्येद्युर्दृष्टेऽपरेद्युरहमिदमदर्शमिति भवति प्रत्ययः। प्रत्यगात्मनि चैतद् भवति, न परत्र। अपरो ह्यसावन्येद्युर्दृष्टवान्। तस्मात् तद्व्यतिरिक्तोऽन्योऽस्ति यत्राऽयम् अहंशब्दः॥

आह—परत्राऽप्यहंशब्दो भक्त्या दृश्यते। यथा—अहमेव पुत्रः, अहमेव देवदत्तः,

---

व्याख्या–(आक्षेप) उक्त विषय में [पूर्वपक्षी] कहता है—स्मृति भी इच्छा के समान पूर्वज्ञान सदृश विज्ञान है, अथवा पूर्वविज्ञान विषयवाली विज्ञान-स्मृति कही जाती है। वह [स्मृतिरूप विज्ञान] द्रष्टा [विज्ञान] के नष्ट हो जाने पर भी दूसरे दिन उत्पन्न होता हुआ अनुपपन्न नहीं है, प्रत्यक्ष रूप से देखे जाने के कारण ही। [अर्थात् पूर्व विज्ञान के नष्ट होने पर भी दूसरे दिन स्मृति देखी ही जाती है।] अन्य विज्ञानरूप[3] में [दृष्ट] अन्य विज्ञानरूप से जो [स्मृतिरूप] ज्ञान होता है, वह उसी [पूर्वद्रष्टा विज्ञान] की परम्परा में होनेवाले अन्य [विज्ञान] से उपलब्ध किया जाता है, भिन्न परम्परा में उत्पन्न अन्य विज्ञान से [पूर्व दृष्ट की स्मृतिरूप उपलब्धि] नहीं होती। इसलिये विज्ञानरूप वस्तु [स्व व्यतिरिक्त वस्तु से[4]] शून्य है। इस अर्थ में ब्राह्मणवचन होता है[5]—'विज्ञानरूप ही इन भूतों से उत्पन्न होकर उनके=भूतों के विनाश के साथ ही विनष्ट हो जाता है, मरने के पश्चात् ज्ञान नहीं रहता।' (समाधान) [सिद्धान्ती] कहता है—यह इस प्रकार (=जैसे आपने कहा है) नहीं होता। अन्य (पूर्व) दिन में दृष्ट [वस्तु के विषय] में दूसरे दिन 'मैंने इसे देखा था' यह ज्ञान होता है। यह ज्ञान स्वयं आत्मदृष्ट [वस्तु के विषय] में होता है, अन्यत्र (=अन्यदृष्ट) वस्तु के विषय में नहीं होता। [आपके मतानुसार] वह [पूर्व द्रष्टा से] भिन्न है, जिसने दूसरे दिन देखा था। अतः उस विज्ञान से भिन्न कोई है, जिसके विषय में यह 'अहम्' (=मैं) शब्द का प्रयोग होता है॥

व्याख्या—(आक्षेप) [पूर्वपक्षी आत्मास्तित्व-साधक के 'अहं' प्रयोग-विषयक अभिप्राय को यथावत् न समझकर] कहता है—दूसरे में भी भक्ति (=गौणी वृत्ति) से 'अहं' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसे – मैं ही पुत्र हूं, मैं ही देवदत्त हूं, मैं ही जाता हूं। (समाधान) इस विषय

---

१. क्वचित् 'तत्' पदं नोपलभ्यते। द्विः पाठान्नष्टं स्यात्।

२. बृ०—शत० १४।७।३।१३॥ तत्र 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो' इत्येवं पाठः।

३. अत्र स्कन्धघनशब्दो बौद्धपरिभाषया विज्ञानरूपवस्तुमात्रपरः।

४. स्वांशव्यतिरिक्तशून्यविषया इत्यर्थः।

५. यद्यपि बौद्धमतावलम्बी वेद को प्रमाण नहीं मानता, फिर भी अभ्युपगमवाद से 'विज्ञान से भिन्न कुछ नहीं है' इस अर्थ में वैदिक वचन उद्धृत करता है।

अहमेव गच्छामीति । अत्रोच्यते—न वयम् अहमितीमं शब्दं प्रयुज्यमानमनन्यस्मिन्नर्थे हेतुत्वेन व्यपदिशामः । किं तर्हि ? शब्दाद् व्यतिरिक्तं प्रत्ययं प्रतीमो वयम् । 'इममर्थं वयमेवान्येद्युरुपलभामहे, वयमेवाद्य स्मरामः' इति । तस्माद् वयमिममर्थमवगच्छामो वयमेव ह्यः, वयमेवाद्य इति । ये ह्यः अद्य च, न ते विनष्टाः । अथाऽप्यस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति—स वा अयमात्मा इति प्रकृत्य आमनन्ति—अशीर्यो न हि शीर्यते[1],इति । तथा—अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा[2], इति । विनश्वरं च विज्ञानम् । तस्माद्विनश्वरादन्यः स इत्यवगच्छामः । न च शक्यमेवमवगन्तुम्—यथोपलभ्यन्ते अर्थाः, न तथा भवन्तीति; यथा तु खलु नोपलभ्यन्ते, तथा भवन्तीति । तथा हि सति शशो नास्ति, शशस्य विषाणमस्तीत्यवगम्येत । न चाहम्प्रत्ययो व्यामोह इति शक्यते वक्तुम्, बाधकप्रत्ययाभावात् । तस्मात् सुखादिभ्यो व्यतिरिक्तोऽस्ति । एवञ्चेत् स एव यज्ञायुधी इति व्यपदिश्यते ॥

आह—यदि विज्ञानादन्यदस्ति विज्ञातृ, विज्ञानमपास्य तन्निदर्श्यताम्—इदं तद्

में [सिद्धान्ती] कहता है—हम 'अहम्' इस प्रयुज्यमान शब्द को अनन्य (=आत्मा से अभिन्न) अर्थ में हेतुरूप से उपस्थित नहीं करते है । तो क्या [करते हो] ? शब्द से भिन्न [प्रत्यभिज्ञा रूप] ज्ञान को हम उपलब्ध करते हैं—'इसी वस्तु को हम ने पूर्व दिन में उपलब्ध किया था, हम ही आज उसे स्मरण कर रहे हैं' । इस हेतु से हम ही इस अर्थ को जानते हैं, हमने ही कल [जाना था], हम ही आज [जानते हैं] । जो कल [हम थे, और] जो आज [हम हैं], वे नष्ट नहीं हुये । और इस [आत्मनित्यत्व के] विषय में ब्राह्मण-वचन होता है[3]—'यह वह आत्मा है' इसको आरम्भ करके पढ़ते हैं—'नष्ट न होनेवाला [यह] नष्ट नहीं होता ।' तथा—'अरे यह आत्मा अविनाशी उच्छेदरहित धर्मवाला है ।' और विज्ञान विनष्ट होनेवाला है । इसलिये [इस ब्राह्मण-वचन से] विनाश को प्राप्त होनेवाले से भिन्न [आत्मा] है, यह हम जानते हैं । यह इस प्रकार समझना शक्य (=उचित) नहीं है—'जैसे अर्थ जाने जाते हैं, वैसे नहीं होते हैं, और जैसे नहीं उपलब्ध होते हैं, वैसे होते हैं ।' ऐसा मानने पर 'खरगोश नहीं है, खरगोश के सींग हैं' यह भी जाना जाये । और 'अहम्' यह ज्ञान मिथ्या है, ऐसा भी नहीं कह सकते, बाधक ज्ञान का अभाव होने से । इसलिये सुखादि से अतिरिक्त आत्मा है । जब ऐसा है, तो वही 'यज्ञायुधी' कहा जाता है ॥

व्याख्या—(आक्षेप) [विज्ञानवादी] कहता है—यदि विज्ञान से भिन्न कोई विज्ञाता है, तो उसे विज्ञान को पृथक् करके (=विज्ञान का सहारा न लेकर) दिखाएं कि—यह वह है,

---

१. शत० १४।६।९।२८॥ २. शत०—१४।७।३।१५॥

३. विज्ञानवादी ने विज्ञान से भिन्न कोई अविनाशी आत्मा नहीं है, इसे व्यक्त करने के लिये ब्राह्मणवचन उद्धृत किया था । यहां सिद्धान्ती ने विज्ञानवादी के द्वारा प्रस्तुत ब्राह्मणवचन से उलटे अर्थवाला 'अविनाशी है' अर्थ को दर्शानेवाला ब्राह्मणवचन उद्धृत किया है ।

ईदृशं चेति । न च तन्निदर्श्यते, तस्मान्न ततोऽन्यदस्तीति । अत्रोच्यते——स्वसंवेद्यः स भवति, नासावन्येन शक्यते द्रष्टुम्, कथमसौ निदर्श्येतेति ? यथा च कश्चिच्चक्षुष्मान् स्वयं रूपं पश्यति, न च शक्नोत्यन्यस्मै जात्यन्धाय तन्निदर्शयितुम् । न च तद् न शक्यते निदर्शयितुमित्येतावता, 'नास्ति' इत्यवगम्यते । एवमसौ पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते, न चान्यस्मै शक्नोति दर्शयितुम् । अन्यस्य द्रष्टुस्तं पुरुषं प्रति दर्शनशक्त्यभावात् । सोऽप्यन्यः पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते, न च परात्मानम् । तेन सर्वे स्वेन स्वेनात्मना आत्मानमुपलभमानाः सन्त्येव, यद्यपि परपुरुषं नोपलभन्त इति । अथाऽस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति——**शान्तायां वाचि किञ्ज्योतिरेवायं पुरुषः [इति], आत्मज्योतिः सम्राडिति होवाच**[1], इति । परेण नोपलभ्यते इत्यत्राऽपि ब्राह्मणं भवति——**अगृह्यो न हि गृह्यते**[2], इति । परेण न गृह्यते, इत्येतदभिप्रायमेतत् । कुतः ? स्वयञ्ज्योतिष्ट्ववचनात् । अथापि ब्राह्मणं भवति——**अत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिर्भवति**[3], इति । केन पुनरुपायेन अयमन्यस्मै कथ्यते इति ? तत्राप्युपाये ब्राह्मणं भवति — **स एष नेति नेत्यात्मेति होवाच,**[4] इति । 'असौ एवंरूपः'

और इस प्रकार का है। [विज्ञान से पृथक् करके] उसे नहीं दिखाते [अर्थात् विज्ञान के सहारे ही विज्ञाता की सिद्धि करते हैं], इसलिये वह विज्ञान से अन्य=पृथक् नहीं है। (समाधान) इस विषय में [सिद्धान्ती] कहता है – वह (=आत्मा) स्वसंवेद्य (=अपने से ही जानने योग्य) होता है, अन्य से यह नहीं देखा जा सकता है, फिर भला उसे कैसे दिखायें ? जैसे कोई आंखोवाला स्वयं रूप को देखता है, पर वह अन्य जन्मान्ध को रूप नहीं दिखा सकता। वह रूप [जन्मान्ध को] दिखाया नहीं जा सकता, इतने मात्र से [वह रूप] नहीं है, ऐसा नहीं समझा जाता है । इसी प्रकार से यह पुरुष अपने आप आत्मा को ग्रहण करता है, परन्तु दूसरे को दिखा नहीं सकता। अन्य द्रष्टा की उस पुरुष के प्रति दर्शनशक्ति का अभाव होने से। वह दूसरा पुरुष भी स्वयं आत्मा को ग्रहण करता है, दूसरे की आत्मा को ग्रहण नहीं करता। इसलिये सभी अपने-अपने आत्मा से अपने को ग्रहण करनेवाले हैं ही, यद्यपि दूसरे की आत्मा को ग्रहण नहीं करते। इस अर्थ (=आत्मा स्वसंवेद्य है) में ब्राह्मण-वचन भी होता है—'वाणी के शान्त हो जाने पर किस ज्योतिवाला यह पुरुष होता है ? हे सम्राट् ! आत्म-ज्योतिवाला होता है ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा' । [अन्य] के द्वारा गृहीत नहीं होता इस विषय में भी ब्राह्मण होता है—'[यह आत्मा] अगृह्य है, गृहीत नहीं होता' । दूसरे से गृहीत नहीं होता, इस अभिप्रायवाला यह वचन है । कैसे ? स्वयंज्योतिष्ट्व = स्वयंप्रकाशकत्व के कथन करने से। इस विषय में भी ब्राह्मण होता है—'यहां यह पुरुष स्वयं ज्योतिवाला होता है।' किस उपाय से यह अन्य के लिये कहा जाता है? उस उपाय के विषय में भी ब्राह्मण होता है—'वह यह नहीं है, [वह यह]—नहीं है, आत्मा ऐसा [याज्ञवल्क्य ने] कहा'। [अर्थात् शरीर

---

१. शत० १४।७।१।६॥ २. शत० १४।६।९।२८॥ ३. शत० १४।७।१।१०॥

४. द्र०—शत० १४।६।९।२८॥ तत्र 'इति होवाच' पाठो न दृश्यते ।

इति न शक्यते निदर्शयितुम् । यच्च परः पश्यति, तत्प्रतिषेधस्तस्योपदेशोपायः । शरीरं परः पश्यति तेनात्मा उपदिश्यते । शरीरं नात्मा, अस्ति शरीरादन्य इति, स आत्मेति शरीरप्रतिषेधेनोपदिश्यते । तथा प्राणादयो नात्मानः, तत्प्रतिषेधेन तेभ्योऽन्य उपदिश्यते । तथा परस्थाः सुखादयः परेण लिङ्गैरुपलभ्यन्ते । तेऽपि नाऽऽत्मान इति । तत्प्रतिषधेनान्य उपदिश्यते । यः स्वयं पश्यति, न ततोऽन्यः पुरुष इत्येतदपि पुरुषप्रवृत्त्याऽनुमीयते । यदाऽसौ पुरुषः पूर्वेद्युः सामिकृतानामर्थानां प्रतिसमाधाने शेषानुष्ठाने च यतते । अतः प्रवृत्त्याऽवगम्यते—नूनमसावनित्यान्नित्यमवगच्छतीति ॥

उपमानाच्चोपदिश्यते—यादृशं भवान् स्वयमात्मानं पश्यति, अनेनोपमानेनावगच्छ—अहमपि तादृशमेव पश्यामीति । यथा कश्चिदात्मीयां वेदानां परस्मा आचक्षीत—दह्यमानस्येव मे भवति, यात्यानस्येव मे भवति, [1]रुद्ध्यमानस्येव मे भवतीति । अतः स्वयमवगम्यमानत्वाद् अस्ति तद्व्यतिरिक्तः पुरुष इति ॥

में वर्तमान प्रत्येक अवयव, क्रिया वा रूपादि गुण का प्रतिषेध करते-करते जो बच जाये, वह आत्मा है।] 'यह आत्मा इस प्रकार का है' ऐसा निदर्शन नहीं करा सकते । इसलिये जिसको दूसरा व्यक्ति देखता है, उस का प्रतिषेध ही उसके उपदेश का उपाय है । शरीर को दूसरा व्यक्ति देखता है, उससे आत्मा का उपदेश किया जाता है । शरीर आत्मा नहीं है, शरीर से अन्य है । वह आत्मा शरीर के प्रतिषेध से उपदिष्ट होता है । इसी प्रकार प्राणादि भी आत्मा नहीं हैं। प्राणादि के प्रतिषेध से उनसे भिन्न [आत्मा] का उपदेश किया जाता है । तथा अन्य में स्थित सुखादि अन्य व्यक्ति के द्वारा [हर्षविषादादि] लिङ्गों से जाने जाते हैं । वे सुखादि भी आत्मा नहीं हैं । इन सुखादि के प्रतिषेध से अन्य [आत्मा] का उपदेश किया जाता है । जो अपने को देखता है [अर्थात् स्वयं से गृहीत होता है], उससे अन्य पुरुष नहीं है, यह भी पुरुष की प्रवृत्ति से अनुमान किया जाता है । जब यह पुरुष पहले दिन आधे किये गये कार्यों को सिद्ध (=पूर्ण) करने और शेष (=पूर्व दिन में जिन्हें आरम्भ नहीं कर पाया, उन] के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है । इस प्रवृत्ति से जाना जाता है कि निश्चय यह अनित्य [प्रवृत्ति वा कार्य] से [अपने को] नित्य जानता है । [अर्थात् अपने को कल और आज वर्तमान रहनेवाला समझता है ।।]

व्याख्या—उपमान से भी [आत्मा का] उपदेश किया जाता है—आप स्वयं (=अपने) को जिस प्रकार का देखते वा जानते हो, इस उपमान (=सादृश्य) से जानो कि मैं भी उसी प्रकार स्वयं (अपने) को देखता वा जानता हूं । जैसे कोई अपनी पीड़ा को दूसरे को कहे कि—जलते हुये के समान मुझे [पीड़ा] हो रही है, पीड़ा दिये जाते हुये के समान मुझे [पीड़ा] हो रही है, प्रतिरुद्ध (=बन्दी) किये हुये के समान मुझे [पीड़ा] हो रही है । इस कारण [पीड़ा के] स्वयं ज्ञेय होने से, उस [पीड़ा] से भिन्न पुरुष है । [अर्थात् स्वपीड़ा के प्रकार को व्यक्त करने के लिये अपने से भिन्न दह्यमान, यात्यमान, रुध्यमान आत्मा को जानता है ।।

१. 'तुदयमानस्य' इति पाठान्तरम् ।

यदुच्यते—विज्ञानमपास्य तद् निदर्श्यतामिति । यद्युपायमेव निषेधसि, न शक्यमुपायमन्तरेणोपेयमुपेतुम् । अयमेवाभ्युपायो ज्ञातव्यानामर्थानां यो यथा ज्ञायते स तथेति। तद्यथा—कः शुक्लो नाम ? यत्र शुक्लत्वमस्ति । किं शुक्लत्वं नाम ? यत्र शुक्लशब्दप्रवृत्तिः । क्व तस्य प्रवृत्तिः? यच्छुक्लशब्दे उच्चरिते प्रतीयते । तस्मान्न विज्ञानं प्रत्याख्याय कस्यचिद् रूपं निदर्शयितुं शक्यम् । न च नियोगतः प्रत्यये प्रतीते प्रत्ययार्थः प्रतीतो भवति। अप्रतीतेऽपि हि प्रत्यये सति अर्थः प्रतीयते एव । न हि विज्ञानं प्रत्यक्षम्, विज्ञेयोऽर्थः प्रत्यक्ष इति, एतत् पूर्वमेवोक्तम्[1] । 'तदवश्यकर्त्तव्येऽपह्नवे कामं विज्ञानमपह्नूयते, नार्थाः' इत्येतदुक्तमेव[2] । तस्मादस्ति सुखादिभ्योऽन्यो नित्यः पुरुष इति ॥

अथ यदुक्तम्—विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति[3], इति । अत्रोच्यते—अत्रैव मा भगवान् मोहान्तमपीपदद्[4] इति, परिचोदनो-

---

व्याख्या—और जो यह कहते हो कि—विज्ञान को हटाकर उस [आत्मा] को दिखाओ। [इस कथन से आप] यदि [निदर्शन के] उपाय का ही निषेध करते हो, तो उपाय के बिना उपेय (=उपाय से जानने योग्य) को जान ही नहीं सकते । जानने योग्य पदार्थों का यही [जानने का उपाय है कि] जो जैसे जाना जा सकता है, उसे उसी प्रकार जानना चाहिये । जैसे [कोई पूछे]—शुक्ल क्या है ? [उत्तर होगा—] जहां शुक्लत्व है [वही शुक्ल है] । शुक्लत्व क्या है ? जिसमें शुक्ल शब्द की प्रवृत्ति होती है । उस (=शुक्ल शब्द) की प्रवृत्ति कहां होती है ? जो शुक्ल शब्द के उच्चरित होने पर जाना जाता है । इसलिये विज्ञान [जो उपाय है, उस] का प्रत्याख्यान करके अथवा उसे छोड़के किसी पदार्थ का स्वरूप दिखाया ही नहीं जा सकता । यह भी आवश्यक नहीं कि ज्ञान के प्रतीत होने पर ज्ञान का विषय प्रतीत होता है। ज्ञान की प्रतीति न होने पर भी [अर्थ के] होने पर अर्थ प्रतीत होता ही है । [अर्थात् संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध के ज्ञात न होने पर किंविषयक मेरा ज्ञान है, इसकी प्रतीति न होने पर भी अर्थ इन्द्रिय-सन्निकर्ष से जाना ही जाता है । ऐसी अवस्था में द्रष्टा कहता है—मैं किसी वस्तु को देख तो अवश्य रहा हूं, पर क्या है, यह नहीं जानता कि किस वस्तु को देख रहा हूं ।] विज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता विज्ञेय अर्थ प्रत्यक्ष होता है, यह पूर्व ही (पृष्ठ २७, २८) कह चुके हैं । 'यदि दोनों में से किसी का परित्याग अवश्य करना हो, तो विज्ञान का ही परित्याग किया जा सकता है, अर्थ का नहीं'' यह भी पूर्व (पृष्ठ २८) कह चुके । इसलिये सुखादि से भिन्न नित्य पुरुष (=आत्मा) है ॥

व्याख्या—और जो यह कहा है कि—'विज्ञानरूप ही इन भूतों से उत्पन्न होकर उन भूतों के साथ ही विनष्ट हो जाता है, मरने के पश्चात् ज्ञान नहीं रहता' (पूर्व पृष्ठ ५२)। इस विषय में कहते हैं—'इस विषय में आप (=याज्ञवल्क्य) मोह में न गिरावें', [मैत्रेयी के] इस कथन के

---

1. पूर्व पृष्ठ २७।
2. पूर्व पृष्ठ २८ ।
3. द्र०—शत० १४।७।३।१३॥
4. शत० १४।७।३।१४॥

तत्काले अपह्नुत्य मोहाऽभिप्रायमस्य वर्णितवान्—न वा अरे मोहं ब्रवीमि, अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा, मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति', इति। तस्मान्न विज्ञानमात्रं, तस्माद्वैषम्यम्।

यदुक्तम्—न चैष 'याति[२]' इति विधिशब्द इति। मा भूद्विधिशब्दः, स्वर्गकामो यजेत इति वचनान्तरेणावगतमनुवदिष्यते। तस्मादविरोधः॥५॥ धर्मे वेदप्रामाण्याऽधिकरणम्॥५॥

पश्चात् [याज्ञवल्क्य ने] अपने मोह के अभिप्राय को प्रकट किया—'अरे मैत्रेयि! मैं मोह (=अज्ञान) का कथन नहीं करता। अरे [मैत्रेयि]! यह आत्मा अनुच्छेद्यधर्मवाला (=अविनाशी) है, मात्रा (=भूतेन्द्रिय और धर्माधर्म) का संसर्ग तो इसके साथ होता है। [इसी मात्रा-संसर्ग के कारण पूर्व वचन में विनाश का कथन है।] इस कारण आत्मा विज्ञानमात्र नहीं है। इसलिये [आत्मा में विज्ञान से] विषमता है।

और जो यह कहा है—यह 'याति' विधि शब्द नहीं है। [जिससे यजमान स्वर्ग को प्राप्त होता है, यह अभिप्राय जाना जाये। यह याति] न होवे विधि शब्द। स्वर्गकामो यजेत इस वचनान्तर से अवगत [स्वर्ग] का यह अनुकथन (=अनुवाद) करेगा। [अर्थात् जिस यजमान ने स्वर्ग की कामना से अपने जीवन में विविध यज्ञ किये हैं, उस स्वर्ग की प्राप्ति का स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति वचन अनुवाद करेगा।] इसलिये [इस वाक्य का प्रत्यक्ष के साथ] विरोध नहीं है॥५॥

विवरण—शाबर भाष्य के व्याख्याता वृत्तिकारस्तु से लेकर यहां तक के ग्रन्थ को वृत्तिकार उपवर्ष का ग्रन्थ मानते हैं। यदि यह निर्देश ठीक हो,तो भी दो बातें अवश्य माननी पड़ेंगी—(१) वृत्तिकार के ग्रन्थ का शबरस्वामी कृत यह संक्षेप है। (२) निरालम्बन वा शून्यवाद बौद्ध दर्शनशास्त्र-उपज्ञ ही वाद है, यह ठीक नहीं। इन मतों का उद्भव बहुत प्राचीन काल में हो गया था। बौद्ध दार्शनिकों ने तो इन वादों को अपनाकर इनके स्वरूप का परिमार्जनमात्र किया है। प्रस्तुत प्रकरण में ही विज्ञानवाद के निर्देश के लिये शतपथ (बृहदारण्यक) की श्रुति उपस्थित की है। इससे यह कहना चिन्त्य होगा कि शतपथ का प्रवचन बौद्ध विज्ञानवाद के पश्चात् हुआ। शतपथ का प्रवचन महात्मा बुद्ध के जन्म से लगभग १५०० वर्ष पूर्व हो चुका था। इसी प्रकार निरालम्बन और शून्यवाद के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। शून्यवाद का प्रकारान्तर से निर्देश सांख्यशास्त्र (१।४४) के 'शून्यं तत्त्वं भावोऽपि विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद् विनाशस्य' सूत्र में भी मिलता है।

आचार्य शंकर ने एक आत्मनः शरीरे भावात् (वेदान्त ३।३।५३) के भाष्य में लिखा है—भगवान् उपवर्ष ने प्रथम तन्त्र (पूर्वमीमांसा) में आत्मास्तित्व के कथन की प्रसक्ति होने पर

---

१. शत० १४।७।३।१५॥ २. 'स एष···याति' उद्धरणोक्तः। द्र०—पृष्ठ ३२।

लिखा है—शारीरके वक्ष्यामः[1], अर्थात् शारीरक तन्त्र (=वेदान्त) में आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करेंगे। पर शबरस्वामी ने यहां (वेदान्त ३।३।५३) से आत्मास्तित्व प्रकरण को लेकर प्रमाणलक्षण प्रकरण (१।१।५) में लिखा है[2]। इस से स्पष्ट है कि प्रकृत सारा विषय यहां उपवर्ष निर्दिष्ट नहीं है॥

[प्रकृत-सूत्रार्थ-मीमांसा]

छः वैदिक दर्शनों में दो-दो दर्शनों के तीन विभाग हैं। न्याय और वैशेषिक मिलकर एकशास्त्र है, योग और सांख्य मिलकर एकशास्त्र है, और पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा मिलकर एकशास्त्र माना जाता है। प्राचीन मीमांसक संकर्षकाण्ड सहित १६ अध्यायात्मक जैमिनीय पूर्वमीमांसा, और ४ अध्यायात्मक वैयासिक उत्तरमीमांसा को मिलाकर एकशास्त्र मानते थे।[3]

पूर्वोत्तर मीमांसा का एकशास्त्रत्व तब ही उपपन्न होता है, जब दोनों शास्त्रों के प्रधान विषयों में ऐकमत्य हो। वर्तमान में पूर्वोत्तर मीमांसा के जैसे विविध परस्परविरुद्ध व्याख्यान उपलब्ध हो रहे हैं, उन से शास्त्रकार का आशय सर्वथा तिरोहित हो गया है। हमारे विचार के अनुसार ईश्वर, वेद का प्रादुर्भाव, सृष्टि की उत्पत्ति, और जीव की अनादिता आदि कुछ विषय ऐसे हैं, जिनको दोनों शास्त्रों में समानरूप से माना गया है। पाठक स्वयं विचार करें, यदि पूर्वमीमांसा ईश्वर और जगत् की उत्पत्ति को नहीं मानता, उत्तरमीमांसा ईश्वर को ही मानता है, जीव और जगत् को मिथ्या कहता है (शांकर मतानुसार), तो इनका किस विषय में ऐकमत्य है, जिससे इन्हें एकशास्त्र मानें? अस्तु।

प्रकृत सूत्र में बादरायण के मत का उल्लेख किया है। अतः पहले इस विषय में वेदान्त-प्रवक्ता बादरायण का क्या मत है, यह जानना आवश्यक है। बादरायण ने शास्त्रयोनित्वात् (१।१।३) में वेदादिशास्त्र का योनि=कारण=प्रभवस्थान ब्रह्म को माना है। वेद शब्दात्मक है, उसका निराकार ब्रह्म से प्रादुर्भाव कैसे होगा, इसका समाधान शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (१।३।२८) सूत्र से किया है। इसका अर्थ है—शब्द के यदि ब्रह्म से प्रादुर्भाव में अनुपपत्ति कहो, तो (न) ठीक नहीं। (अतः) उस ब्रह्म से (प्रभवात्) प्रादुर्भूत होने से (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) प्रत्यक्ष=श्रुति और अनुमान=स्मृति से प्रमाणित होती है। नामात्मक जगत्=वेद शब्दराशि और रूपात्मक जगत्=पृथिव्यादि का प्रभव ब्रह्म से है, यह श्रुति और स्मृति कहती है। सर्वव्यापक ब्रह्म सर्ग के आरम्भ में प्रादुर्भूत ऋषियों के हृदय=मस्तिष्क[4] में

---

१. अत एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः। २. इत एव चाकृष्याचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्।

३. इस विषय में मीमांसा के इसी भाग के आरम्भ में मुद्रित शास्त्रावतार-प्रकरण में विस्तार से सप्रमाण लिखा है।

४. आत्मा के निवासस्थान का बोधक हृदय शब्द मस्तिष्क का वाचक है। देखो—वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, 'वेदप्रतिपादित शरीर में आत्मा का निवासस्थान' लेख पृष्ठ २१५ से २२६।

अर्थसहित शब्दोच्चारण को प्रेरित=(उद्भावित) करता है। अर्थात् ब्रह्म की प्रेरणा से नित्यानुपूर्वीयुक्त वेद शब्द आद्य ऋषियों के हृदय में स्फुट होते हैं। द्र०—ऋग्वेद मं० १०, सूक्त ७१, मन्त्र १—

बृहस्पते: प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधाना:।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहावि: ॥

अर्थात्—बृहस्पति की वाणी का जो अग्र=श्रेष्ठ अंश, जिसको नामधेय=सृष्टिगत पदार्थों का नामकरण करते हुये प्रथम=सर्ग के आरम्भ में प्रैरत=प्रेरित किया। इस ज्ञानरूप वेद का जो श्रेष्ठ और जो अरिप्र=निर्दुष्ट आवश्यक भाग था, उसे प्रेणा=अनुकम्पा से इन प्रथम उत्पन्न ऋषियों के हृदयरूपी गुहा में स्थापित किया॥

वेद का प्रभव ब्रह्म से होने के कारण वेद का नित्यत्व है। यह अगले अत एव च नित्यत्वम् (१।३।२९) सूत्र से कहा है। यही तात्पर्य जैमिनि ने औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध: सूत्र से कहा है। और अपने मत को परिपुष्ट करने के लिये वेदान्तप्रवक्ता बादरायण का मत उद्धृत किया है। सूत्र इस प्रकार है—

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षितत्वात्' ॥

सूत्रार्थ—(शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध:) शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध (औत्पत्तिक:) उत्पत्ति=प्रादुर्भावकाल का है (जब ब्रह्म ने ऋषियों के हृदयों में शब्दात्मक वेद को प्रेरित किया, उसी समय शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध का बोध भी करा दिया[1]) । (तस्य ज्ञानम्) उस शब्दार्थज्ञान का साधन[2] (उपदेश:) उपदेश वेद है [अर्थात् आदि मानव शब्दार्थ-सम्बन्ध का ज्ञान वेद से ही प्राप्त करता है। वेद के ब्रह्म-प्रभव होने से]। (अव्यतिरेकश्च [तस्य उपदेशस्य भवति]) उस उपदेश=वेद का विपर्यास नहीं होता, वेदबोधित अर्थ में उलटापन नहीं देखा जाता है। इसलिये (तत् अनुपलब्धेऽर्थे प्रमाणम्) वह उपदेश=वेद अनुपलब्ध=प्रमाणान्तर से अनवगम्यमान अर्थ में प्रमाण है। (बादरायणस्य) बादरायण के मत में (अनपेक्षितत्वात्) प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने से अर्थात् स्वत: प्रमाण होने से।

इस सूत्र से वेद के शब्दों, उनके अर्थों, तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता दर्शाई है। उत्तर अधिकरण में शब्द के अनित्यत्व का खण्डन किया है। उससे अगले अधिकरण में वाक्यार्थ की पदार्थमूलकता सिद्ध की है। तदनन्तर वेद के अनित्यत्व का समाधान करके नित्यता सिद्ध की है।

वेद=मन्त्रसंहिताएं स्वत:प्रमाण हैं। वेद की शाखाएं ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् आदि

---

१. इसी दृष्टि से नैयायिक शब्दार्थ-सम्बन्ध को कृतक=सांकेतिक मानते हैं, और वह संकेत उनके मत में ईश्वरप्रेरित वा बोधित है।

२. ज्ञायते गम्यते येन तत् ज्ञानम्। करणे ल्युट्।

[शब्दनित्यताऽधिकरणम् ॥६॥]

कर्मैके तत्र दर्शनात् ।६॥ (पू०)

'उक्तं 'नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः' इति, तदनुपपन्नम्, शब्दस्यानित्यत्वात् । विनष्टः शब्दः, पुनरस्य क्रियमाणस्यार्थेन अकृतकः सम्बन्धो नोपपद्यते । नहि प्रथमश्रुताच्छब्दात् कश्चिदर्थं प्रत्येति । कथं पुनरनित्यः शब्दः ? प्रयत्नादुत्तरकालं दृश्यते यतः, अतः प्रयत्नानन्तर्यात् तेन क्रियते इति गम्यते । नन्वभिव्यञ्ज्यात् स एनम् । नेति ब्रूमः । न हि अस्य प्रागभिव्यञ्जनात् सद्भावे किञ्चन प्रमाणमस्ति । सँश्चाभिव्यज्यते, नासत् ॥६॥

समस्त प्रोक्त वाङ्मय परतःप्रमाण है । यह बादरायण जैमिनि प्रभृति समस्त ऋषियों का मत है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन बादरायण का नामोल्लेखपूर्वक हरिस्वामी (कलि संवत् ३०४७, वि० संवत् २) ने शतपथ ब्राह्मण के भाष्य के आदि में इस प्रकार किया है—

'वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यम्, इति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्' । रा० ला० कपूर ट्रस्ट संग्रहस्थ हस्तलेख, पृष्ठ २ ।

अर्थात्—वेद का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध होने पर उसकी शाखाओं का प्रामाण्य भी तद्हेतुक =वेदप्रामाण्यहेतुक (=वेदानुकूलहेतुक) होने से है, ऐसा बादरायणादि ने प्रतिपादन किया है ।

इस वचन से यह भी सिद्ध है कि वेद से शाखाएं भिन्न हैं । शाखाओं का प्रामाण्य वेदानुकूल होने से ही है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इसी मत का प्रतिपादन उपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में किया है ॥५॥

[शब्द के नित्यत्व में पूर्वपक्ष]

कर्मैके तत्र दर्शनात् ॥६॥

सूत्रार्थ—[शब्द] (कर्म) कार्य है, ऐसा (एके) कुछ आचार्य मानते हैं । (तत्र) [शब्दोच्चारण के प्रयत्न के] उत्तरकाल में (दर्शनात्) [शब्द के] उपलब्ध होने से ।

व्याख्या—'शब्द अर्थ का सम्बन्ध नित्य है' यह जो कहा है, वह उपपन्न नहीं होता, शब्द के अनित्य होने से । [उच्चरित] शब्द नष्ट हो गया, पुनः उस क्रियमाण [शब्द का] अर्थ के साथ अकृतक (=नित्य) सम्बन्ध उत्पन्न नहीं होता । प्रथम श्रुत शब्द से कोई अर्थ को उपलब्ध नहीं करता । फिर शब्द अनित्य कैसे है? यतः [यह शब्द] प्रयत्न के उत्तर काल में दिखाई देता है, इसलिये प्रयत्न के अनन्तर उससे किया जाता है, ऐसा जाना जाता है । (आक्षेप) वह [प्रयत्न] इस [शब्द] को अभिव्यक्त करे ? (समाधान) नहीं, ऐसा कहते हैं । इस [शब्द] की अभिव्यक्ति से पहले [इसके] सद्भाव (=विद्यमानता) में कोई प्रमाण नहीं है । और सत् (=विद्यमान वस्तु) ही अभिव्यक्त होती है, असत् नहीं ॥६॥

---

१. नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति यदुक्तं तदनुपपन्नमित्येवं संबन्धो ज्ञेयः ।

अस्थानात् ॥७॥ (पू०)

नो खल्वप्युच्चरितं मुहूर्त्तमप्युपलभामहे। अतो विनष्ट इत्यवगच्छामः । न च सत् नोपलभ्यते। अनुपलम्भकारणानां व्यवधानादीनामभावेऽप्यनुपलम्भनात् । न चासौ विषयमप्राप्तः, आकाशविषयत्वात् । कर्णच्छिद्रेऽप्यनुपलम्भनात् ॥७॥

करोतिशब्दात् ॥८॥ (पू०)

अपि च, शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीरिति व्यवहर्त्तारः प्रयुञ्जते । न ते नूनमवगच्छन्ति, स एवायं शब्द इति ॥८॥

विवरण—नहि प्रथमश्रुतात्—इसका भाव यह है कि यदि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होवे, तो शब्द के साथ ही उसका अर्थ भी गृहीत हो जावे। ऐसा यतः नहीं होता, इससे जाना जाता है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्य नहीं है। **संज्ञाभिव्यज्यते**—जो पदार्थ विद्यमान तो हैं, परन्तु अन्धकार के कारण वे दिखाई नहीं पड़ते, व्यञ्जक (=प्रकाशक) दीपक की उपस्थिति होने पर वे अभिव्यक्त हो जाते हैं, दिखाई देते हैं। इस कारण व्यञ्जक पूर्वतः विद्यमान पदार्थ का ही व्यञ्जक होता है, अविद्यमान का व्यञ्जक नहीं हो सकता ॥६॥

अस्थानात् ॥७॥

सूत्रार्थ—[उच्चारण के अनन्तर] (अस्थानात्) स्थिर नहीं रहने से [शब्द नष्ट हो गया, ऐसा जाना जाता है] ।

व्याख्या—निश्चय ही उच्चरित शब्द को मुहूर्तभर (=थोड़ी देर) भी उपलब्ध नहीं करते। इससे वह नष्ट हो गया, ऐसा हम जानते हैं। विद्यमान होता हुआ उपलब्ध न होवे, ऐसा नहीं होता। अनुपलब्धि के कारण व्यवधान आदि (द्र०—पूर्व पृष्ठ २३-२४) के अभाव में भी अनुपलब्धि होने से [वह नहीं है]। वह [शब्द] विषय (=श्रोत्रेन्द्रिय) को अप्राप्त है, ऐसा भी नहीं कह सकते, आकाश विषयवाला होने से। [अर्थात् शब्द का देश आकाश है, आकाश सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी वह ग्राहकेन्द्रिय (=श्रोत्र) को प्राप्त नहीं होता, यह नहीं कह सकते।] कर्णच्छिद्र में भी अनुपलब्ध होने से [शब्द नहीं है, उच्चारण के अनन्तर नष्ट हो गया, यही मानना पड़ता है] ॥७॥

करोतिशब्दात् ॥८॥

सूत्रार्थ—[शब्द के विषय में] (करोतिशब्दात्) 'कृञ्' धातु का प्रयोग होने से [शब्द अनित्य है] ।

व्याख्या—और भी—'शब्द करो' 'शब्द मत करो' इस प्रकार व्यवहार करनेवाले प्रयोग करते हैं। निश्चय ही वे यह भी नहीं जानते कि यह वही शब्द है। [इसका भाव यह है कि यदि प्रयोक्ता किसी प्रकार यह जानते कि यह वही शब्द है जो पहले अभिव्यक्त हुआ था, तब तो 'यह वही है' इस ज्ञान के बल से कथंचित् शब्द को नित्य मान सकते थे। यतः स एवायम् ऐसी प्रतीति नहीं होती, अतः शब्द भिन्न-भिन्न है, अर्थात् कृतक है ॥८॥]

सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥९॥ (पू०)

नानादेशेषु च युगपच्छब्दमुपलभामहे। तदेकस्य नित्यस्यानुपपन्नमिति। असति विशेषे नित्यस्य नानेकत्वम्। कार्याणान्तु बहूनां नानादेशेषु क्रियमाणानामुपपद्यतेऽनेकदेश-सम्बन्धः, तस्मादप्यनित्यः ॥९॥

प्रकृतिविकृत्योश्च ॥१०॥ (पू०)

अपिच, दध्यत्र इत्यत्र इकारः प्रकृतिर्यकारो विकृतिरित्युपदिशन्ति। यद्वि-क्रियते, तदनित्यम्। इकारसादृश्यं च यकारस्योपलभ्यते। तेनापि तयोः प्रकृतिविकार-भावो लक्ष्यते ॥१०॥

वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ॥११॥ (पू०)

सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥९॥

सूत्रार्थ—(च) और (सत्त्वान्तरे) भिन्न-भिन्न स्थान में (यौगपद्यात्) एक साथ उपलब्धि होने से [शब्द एक और नित्य नहीं है]।

व्याख्या—नाना स्थानों में एक साथ शब्द को उपलब्ध करते हैं। यह (=नाना स्थानों में एक साथ उपलब्धि) एक नित्य शब्द की उत्पन्न नहीं होती [अर्थात् एक पदार्थ नाना स्थानों में उपलब्ध नहीं होता। यतः शब्द नाना स्थानों में उपलब्ध होता है, अतः वह एक नहीं हो सकता।] विना विशेष हेतु के नित्य पदार्थ का अनेकत्व (=नानात्व) स्वीकार नहीं किया जाता। बहुत से क्रियमाण कार्य पदार्थों का अनेक देशों में [युगपत्] सम्बन्ध देखा जाता है। इसलिये भी [शब्द] अनित्य है ॥९॥

प्रकृतिविकृत्योश्च ॥१०॥

सूत्रार्थ—(च) और (प्रकृतिविकृत्योः) प्रकृति और विकृति के [उपदेश से] भी शब्द अनित्य है।

व्याख्या—और भी, दधि+अत्र=दध्यत्र, यहां इकार प्रकृति और य विकृति है, ऐसा [शास्त्रकार] उपदेश करते हैं। जो विकृत होता है, वह अनित्य होता है। [जैसे प्रकृति काष्ठ और विकृति यूप में काष्ठत्व सादृश्य देखा जाता है, वैसे ही] इकार का सादृश्य यकार में उपलब्ध होता है। [यह सादृश्य इकार यकार का तालुस्थानत्व और स्पृष्ट और ईषत्स्पृष्ट रूप है।] इस [सादृश्य] से भी उन दोनों में प्रकृति-विकृतिभाव लक्षित होता है ॥१०॥

वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ॥११॥

सूत्रार्थ—(कर्तृभूम्ना) उच्चारण करनेवालों की अधिकता से (अस्य) शब्द की (वृद्धिः) महत्ता (च) भी उपलब्ध होती है। [जिस में वृद्धि ह्रास होता है, वह अनित्य होता है।]

अपि च बहुभिरुच्चारयद्भिर्महान् शब्दः श्रूयते। स यदि अभिव्यज्यते,बहुभिरल्पैश्चोच्चार्यमाणस्तावानेवोपलभ्येत। अतो मन्यामहे नूनमस्य एकैकेन कश्चिदवयवः क्रियते, यत्प्रचयादयं महानुपलभ्यते ॥११॥

समं तु तत्र दर्शनम् ॥१२॥ (उ०)

तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते। यदुक्तम्—'प्रयत्नादुत्तरकाले दर्शनात् कृतकोऽयम्' इति। यदि विस्पष्टेन हेतुना शब्दस्य नित्यत्वं वक्तुं शक्ष्यामः, ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात् प्रयत्नेनाभिव्यज्यते, इति भविष्यति। यदि प्रागुच्चारणादनभिव्यक्तः, प्रयत्नेनाभिव्यज्यते। तस्मादुभयोः पक्षयोः सममेतत् ॥१२॥

सतः परमदर्शनं विषयानागमात् ॥१३॥ (उ०)

व्याख्या—और भी, बहुत जनों के एक साथ उच्चारण करते हुओं से महान् शब्द सुनाई पड़ता है। यदि वह [शब्द] अभिव्यक्त होता है, तो बहुत और अल्पजनों के उच्चारण करने पर भी उतना ही उपलब्ध होना चाहिये। [जैसे अन्धकार में छिपा घट चाहे एक दीपक से अभिव्यक्त हो चाहे बहुत से दीपकों से,दोनों अवस्थाओं में वह घट जितना बड़ा वा छोटा है,उतना ही दिखाई देता है।]इससे हम मानते हैं कि इस शब्द का [उच्चारण करनेवाले] एक-एक व्यक्ति से कोई (=थोड़ा थोड़ा) अवयव किया जाता है (=उच्चरित होता है), जिसके प्रचय (=संग्रह) से यह महान् उपलब्ध होता है ॥११॥

[शब्द के नित्यत्व में उत्तरपक्ष]

समं तु तत्र दर्शनम् ॥१२॥

सूत्रार्थ—(तु) शब्द अनित्य नहीं है, (तत्र) शब्द के विषय में प्रयत्न के अनन्तर शब्द का (दर्शनम्) उपलब्ध होना [दोनों पक्षों में] (समम्) समान है।

व्याख्या—'तु' शब्द से पक्ष परिवर्तित होता है। [अर्थात् शब्द अनित्य नहीं है।] जो यह कहा था—'प्रयत्न के उत्तर काल में [शब्द की] उपलब्धि होने से यह कृतक (=अनित्य) है' (पूर्व सूत्र ६)। [इस विषय में कहते हैं—] यदि किसी विस्पष्ट हेतु से शब्द के नित्यत्व को कहने में समर्थ होंगे, तो उस नित्यत्वज्ञान के सामर्थ्य से [शब्द] प्रयत्न से अभिव्यक्त होता है, ऐसा [कथन उपपन्न] हो जायेगा। यदि उच्चारण से पूर्व अनभिव्यक्त है, तो प्रयत्न से अभिव्यक्त होता है। इस कारण यह प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होना [हेतु] दोनों पक्षों में समान है ॥१२॥

विवरण—सुबोधिनीकार ने 'मतद्वये' और 'क्षणम्' दो पदों का अध्याहार करके सूत्रार्थ किया है—'दोनों मतों में क्षणमात्रदर्शन (=शब्द का प्रत्यक्ष होना) समान है, अर्थात् विवाद का विषय नहीं है' ॥१२॥

सतः परमदर्शनं विषयानागमात् ॥१३॥

सूत्रार्थ—(सतः) विद्यमान [शब्द] का (परम्) अभिव्यञ्जक प्रयत्न के उत्तर (अदर्शनम्) उपलब्ध न होना (विषयानागमात्) श्रोत्ररूप-विषय को अप्राप्त होने से होता है।

यदपरं कारणमुक्तम्—'उच्चरितप्रध्वस्तः' इति। अत्रापि यदि शक्ष्यामो नित्यतामस्य विस्पष्टं वक्तुम्, ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात् कदाचिदुपलम्भं कदाचिदनुपलम्भं दृष्ट्वा किञ्चिदुपलम्भस्य निमित्तं कल्पयिष्यामः। तच्च संयोगविभागसद्भावे सति भवतीति, संयोगविभागावेवाभिव्यञ्जकाविति वक्ष्यामः। उपरतयोः संयोगविभागयोः श्रूयते इति चेत्, नैतदेवम्। न नूनमुपरमन्ति संयोगविभागाः, यत उपलभ्यते शब्द इति। न हि ते प्रत्यक्षा इति॥

विशेष—कुतूहल-वृत्ति में इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है—(सतः) विद्यमान शब्द की (अदर्शनम्) अनुपलब्धि (परम्) [1]युक्त है, (विषयानागमात्) विषय=शब्द के प्रति अभिव्यञ्जक [संयोग-विभागों] के सम्बद्ध न होने से।

व्याख्या—[शब्द की अनुपलब्धि में] जो अन्य कारण कहा है—'[शब्द] उच्चरित होकर नष्ट हो गया' (पूर्व सूत्र ७)। इस विषय में भी यदि हम शब्द की नित्यता को विस्पष्ट रूप से कहने में समर्थ होंगे, तो [शब्द के] नित्यत्वज्ञान के सामर्थ्य से [शब्द की] कभी उपलब्धि और कभी अनुपलब्धि को देखकर उपलब्धि के किसी निमित्त की कल्पना करेंगे। वह उपलब्धि संयोग-विभाग के विद्यमान होने पर होती है, इसलिये संयोग-विभाग ही [शब्द के] अभिव्यञ्जक हैं, ऐसा कहेंगे। यदि कहो कि संयोग-विभाग के उपरत (=समाप्त) होने पर [शब्द] सुनाई देता है, तो यह ऐसी बात नहीं है। निश्चय ही संयोग-विभाग उपरत नहीं हुये, क्योंकि शब्द उपलब्ध होता है। [यदि कहो कि संयोग-विभाग वर्तमान हैं, तो वे दिखाई क्यों नहीं पड़ते? इसका उत्तर है—] वे=संयोग-विभाग प्रत्यक्ष नहीं हैं॥

विवरण—उपरतयोः संयोगविभागयोः—इसका अभिप्राय यह है कि देवदत्त कुल्हाड़े से लकड़ी काटता है। कुल्हाड़े और लकड़ी के संयोगविभाग से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह दूरस्थ मनुष्य को उस समय सुनाई पड़ता है, जब कुल्हाड़े और लकड़ी का संयोगविभाग समाप्त हो चुका है। यदि संयोगविभाग शब्द के अभिव्यञ्जक हों, तो संयोगविभाग की विद्यमानता में ही शब्द की उपलब्धि होनी चाहिये। अन्धकार में छिपे घट की दीपक से उपलब्धि होने से जब तक दीपक रहता है, घट की उपलब्धि होती है। यह नहीं होता कि दीपक बुझ जावे, तो भी घट की उपलब्धि होवे। **न नूनमुपरमन्ति**—इसका भाव यह है कि कुल्हाड़े के उठाने और गिराने से जो संयोगविभाग होता है, उससे तत्स्थानीय वायु में संयोगविभाग होता है, और वाय्वाश्रित संयोगविभाग उत्तरोत्तर वीचीतरङ्गन्याय से सब ओर संयोगविभाग को उत्पन्न करते हैं। जब हमारी कर्णशष्कुली को वह संयोगविभाग प्राप्त होता है, तब शब्द सुनाई देता है। नैयायिक वायुगत संयोगविभाग की वीचीतरङ्गन्याय से उत्पत्ति न मानकर शब्द की उत्पत्ति मानते हैं। अतः उनके मत में कुल्हाड़े के संयोगविभाग से उत्पन्न शब्द वीचीतरङ्गन्याय से उत्तरोत्तर अन्य शब्द को उत्पन्न करता हुआ जब कर्णशष्कुली को प्राप्त होता है,

१. परमित्यव्ययं युक्तमित्यर्थे। खलः प्रमाद्यतु परं सज्जने तदसाम्प्रतमिति यथा। कुतूहल-वृत्तिः।

यदि शब्दं संयोगविभागा एवाभिव्यञ्जन्ति, न कुर्वन्ति, आकाशविषयत्वाच्छब्दस्य। आकाशस्यैकत्वाद् य एवायमत्र श्रोत्राकाशः, स एव देशान्तरेष्वपीति, स्रुघ्नस्थैः संयोगविभागैरभिव्यक्तः पाटलिपुत्रेऽप्युपलभ्येत। यस्य पुनः कुर्वन्ति, तस्य वायवीयाः संयोगविभागा वाय्वाश्रितत्वाद् वायुष्वेव करिष्यन्ति। यथा तन्तवस्तन्तुष्वेव पटम्। तस्य पाटलिपुत्रेष्वनुपलम्भो युक्तः, स्रुघ्नस्थत्वात्तेषाम्। यस्याप्यभिव्यञ्जन्ति, तस्याप्येष न दोषः। दूरे सत्याः कर्णशष्कुल्या अनुपकारकाः संयोगविभागाः। तेन दूरे यच्छ्रोत्रं, तेन नोपलभ्यते इति।

नैतदेवम्। अप्राप्ताश्चेत् संयोगविभागाः श्रोत्रस्योपकुर्युः, सन्निकृष्टविप्रकृष्टदेशस्थौ युगपच्छब्दमुपलभेयाताम्। न च युगपदुपलभेते, तस्मान्नाप्राप्ता उपकुर्वन्ति। न चेदुपकुर्वन्ति, तस्मादनिमित्तं शब्दोपलम्भने संयोगविभागाविति। नैतदेवम्॥ अभि-

---

तव शब्द की उपलब्धि होती है। यह लोकप्रसिद्धि है कि अति उच्च शब्दों से कान के पर्दे फट जाते हैं। बड़े जेट विमानों के शब्दों से घरों की खिड़कियों के शीशे टूट जाते हैं। इस विषय में विचार करना चाहिये कि क्या यह ध्वंस भयंकर शब्द के संयोग से होता है, अथवा प्रवल वायवीय संयोगविभाग के कारण? नैयायिकों के मत में शब्द गुण है, अतः उसके संयोग से कान के पर्दे आदि का फटना नहीं हो सकता। प्रवल संयोगविभाग से वायुगत संयोगविभाग भी प्रवल होते हैं। अतः उनके प्रवल आघात से कान के पर्दे फट जाते हैं, और खिड़कियों के शीशे टूट जाते हैं। इस दृष्टि से वायुगत संयोगविभाग की ही वीचीतरङ्गन्याय से सब ओर प्राप्ति जाननी चाहिये॥

व्याख्या—(आक्षेप) यदि शब्द को संयोग-विभाग अभिव्यक्त ही करते हैं, उत्पन्न नहीं करते, [तो] शब्द का विषय आकाश होने से [आकाश में ही अभिव्यक्त करेंगे]। आकाश के एक होने से जो ही यहां यह श्रोत्ररूप आकाश है, वही देशान्तरों में भी है, इस कारण स्रुघ्न नगर में हुये संयोग-विभागों से जो शब्द अभिव्यक्त हुआ, उसे पाटलिपुत्र (=पटना) में भी उपलब्ध होना चाहिये। जिसके [मत में संयोग-विभाग शब्द को] उत्पन्न करते हैं, उसके [मत में] वायवीय संयोगविभाग वाय्वाश्रित होने से वायुओं में ही [शब्द को] उत्पन्न करेंगे। जैसे तन्तु (=सूत) तन्तुओं में ही पट को उत्पन्न करते है। उस [स्रुघ्नस्थ वायवीय संयोग-विभाग से वहां की वायु में उत्पन्न शब्द] का पाटलिपुत्र में उपलब्ध न होना युक्त है, उन शब्दों के स्रुघ्नस्थ होने से। (समाधान) जिसके भी [मत में संयोग-विभाग शब्द को] अभिव्यक्त करते हैं, उसके भी [मत में] यह दोष नहीं है। [शब्दाभिव्यञ्जक संयोगविभाग से] दूर विद्यमान कर्णशष्कुली के संयोग-विभाग उपकारक नहीं होंगे। इस कारण दूर स्थान में जो श्रोत्र है, उससे शब्द उपलब्ध नहीं होता।

(आक्षेप) ऐसा नहीं है। अप्राप्त हुये ही संयोगविभाग यदि श्रोत्र के उपकारक होवें, तो समीप और दूर देश में वर्तमान एक साथ शब्द को उपलब्ध करें। [समीपस्थ और दूरस्थ] एक साथ शब्द को उपलब्ध नहीं करते, इसलिये अप्राप्त हुये [संयोग-विभाग कर्णशष्कुली के] उपकारक नहीं होते। और यदि उपकारक नहीं होते, तो शब्द की उपलब्धि में संयोग-विभाग निमित्त नहीं हैं। (समाधान) ऐसा नहीं है। अभिघात (=धक्के) से प्रेरित वायु की लहरें अन्य वायुओं को

घातेन हि प्रेरिता वायवः स्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतोदिक्कान् संयोगविभागानुत्पादयन्ति, यावद्वेगमभिप्रतिष्ठन्ते। ते च वायोरप्रत्यक्षत्वात् संयोग-विभागा नोपलभ्यन्ते। अनुपरतेष्वेव तेषु शब्द उपलभ्यते, नोपरतेषु। अतो न दोषः। अत एव चानुवातं दूरादुपलभ्यते शब्दः ॥१३॥

प्रयोगस्य परम् ॥१४॥ (उ०)

यदपरं कारणमुक्तम्—'शब्दं कुरु, [शब्दं] मा कार्षीरिति व्यवहर्त्तारः प्रयुञ्जते'। यद्यसंशयं नित्यः शब्दः,शब्दप्रयोगं कुर्विति भविष्यति।यथा गोमयान् कुर्विति संवाहे।॥१४॥

पीड़ित करती हुईं सब दिशाओं में संयोग-विभागों को उत्पन्न करते हैं, और जहां तक [अभिघातज] वेग होता है वहां तक गतिशील होते हैं। वे [वायवीय] संयोग-विभाग वायु के अप्रत्यक्ष होने से उपलब्ध नहीं होते। उन [वायवीय संयोग-विभागों के उपरत न होने पर ही शब्द उपलब्ध होता है, उपरत होने पर [शब्द उपलब्ध] नहीं होता। इस कारण दोष नहीं है। इसीलिये अनुवात (=जिधर की वायु होती है) दूर से शब्द उपलब्ध होता है। [अर्थात् शब्द-अभिव्यञ्जक वायवीय संयोग-विभागों के होने से जिधर वायु बहती है, उस दिशा में अधिक दूर तक शब्द सुनाई पड़ता है, क्योंकि वायु की गति वायवीय संयोग-विभागों को दूर तक पहुंचाती है]॥१३॥

विवरण—नैतदेवम्, अप्राप्ताश्चेत्—पहले समाधाता ने यह कहा था कि कर्णशष्कुली के दूर होने से संयोगविभाग उपकारक नहीं होते। इसका तात्पर्य यही था कि दूरस्थ कर्णशष्कुली पर्यन्त वायवीय संयोगविभाग नहीं पहुंचते। अतः वे दूरस्थ कर्णशष्कुली में शब्द के अभिव्यञ्जक नहीं होते। इस तात्पर्य को न समझकर पूर्वपक्षी ने समाधाता का इतना ही अभिप्राय ग्रहण किया कि संयोगविभाग कर्णशष्कुली को प्राप्त नहीं होते। और विना प्राप्त हुये ही श्रोत्र के उपकारक होते हैं। **अभिघातेन**—इससे सिद्धान्ती अपने मत को स्पष्ट करता है, और बताता है कि वायवीय संयोगविभाग कैसे दूर तक पहुंचते हैं, और उनका नाश कैसे होता है] ॥१३॥

प्रयोगस्य परम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—(परम्) अन्य [शब्द के अनित्यत्व में जो हेतु 'कृ' धातु का निर्देश कहा है, वह] (प्रयोगस्य) प्रयोग=उच्चारण का जानना चाहिये। [अर्थात् शब्द का उच्चारण करो, शब्द का उच्चारण मत करो।]

व्याख्या—और जो [शब्द के कृतक होने का] अन्य कारण कहा गया है कि—'शब्द करो', 'शब्द मत करो' ऐसा व्यवहार करनेवाले प्रयोग करते हैं। [अर्थात् अभूतप्रादुर्भाव अर्थवाली 'कृञ्' धातु का प्रयोग करते हैं (सूत्र ८)। इसमें भी हमारा कहना यह है कि—] यदि निस्सन्देहरूप से 'शब्द नित्य है', [ऐसा सिद्ध कर सकेंगे] तो' शब्द का प्रयोग=उच्चारण करो' ['शब्द का प्रयोग=उच्चारण मत करो'] ऐसा अर्थ होगा। जैसे 'गोमयान् कुरु' [का अर्थ होता है—गोबर को] संवाह में प्रयुक्त करो ॥१४॥

विवरण—'कृञ्' धातु का केवल 'अभूतप्रादुर्भाव' ही अर्थ नहीं है। महाभाष्यकार

आदित्यवद्यौगपद्यम् ॥१५॥ (उ०)

यत्तु—'एकदेशस्य सतो नानादेशेषु युगपद्दर्शनमनुपपन्नमिति' । आदित्यं पश्य देवानाम्प्रिय । एकः सन्ननेकदेशावस्थित इव लक्ष्यते । कथं पुनरवगम्यते—एक आदित्य इति? उच्यते । प्राङ्मुखो देवदत्तः पूर्वाह्णे सम्प्रति पुरस्तादादित्यं पश्यति । तस्य दक्षिण-तोऽवस्थितो न द्वौ पश्यति—आत्मनश्च सम्प्रति स्थितम्, तिरश्चीनं देवदत्तस्यार्जवे । तस्मादेक आदित्य इति । दूरत्वादस्य देशो नावधार्यते, अतो व्यामोहः । एवं शब्देऽपि

पतञ्जलि ने भूवादयो धातवः (१।३।१) के भाष्य में लिखा है—'कृञ्' धातु का प्रयोग निर्मल (=शुद्ध) करने के अर्थ में भी देखा जाता है। जैसे—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु का अर्थ है—पीठ वा पैर को साफ करो। रखने अर्थ में भी प्रयोग देखा जाता है। जैसे—कटे कुरु, घटे कुरु का अर्थ होता है—चटाई वा घड़े में रख। भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में ताण्डच ब्राह्मण १३।३।२४ के शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत् वचन का अर्थ लिखा है—अत्र मन्त्रकृच्छब्दः प्रयोक्तरि प्रयुक्तः (पूना संस्करण, पृष्ठ २३१)। मीमांसा सूत्रकार का भी यहां यही तात्पर्य है। सूत्रकार जैमिनि ने आदाने करोतिशब्दः (४।२।६) में स्वरुं करोति वाक्यस्थ 'करोति' का अर्थ स्वरुम् आदत्ते='स्वरु को ग्रहण करता है' अर्थ भी दर्शाया है। संवाहे—संवाह शब्द का अर्थ है—समूह्यते गोमयादिकं यत्र=गोबर आदि जहां खाद के लिये प्राप्त कराया जाता है=इकट्ठा किया जाता है। गांवों में प्रायः निवास से बाहर कांटों से घेरे हुये स्थान में गोबर इकट्ठा किया जाता है ॥१४॥

आदित्यवद् यौगपद्यम् ॥१५

सूत्रार्थ—[एक शब्द की] (आदित्यवत्) सूर्य के समान (यौगपद्यम्) एक साथ [अनेक देशों में] उपलब्धि जाननी चाहिये।

व्याख्या—जो 'एकदेश में होते हुये [नित्य शब्द] का अनेक देशों में एक साथ उपलब्ध होना उपपन्न नहीं होता' रूप दोष दिया था (सूत्र ६)। [उसके विषय में—] हे देवों के पुत्र (=मूर्ख)! आदित्य को देख। [आदित्य] एक होता हुआ भी अनेक देशों में स्थित के समान लक्षित होता है (=देखा जाता है)। [अर्थात् विभिन्न देशों के सभी पुरुष अपने-अपने सम्मुख आदित्य को देखते हैं।] (आक्षेप) यह कैसे जाना जाता है कि आदित्य एक है? [विभिन्न देशों में गृहीत होने से आदित्य भी अनेक क्यों न माने जावें?] (समाधान) पूर्व की ओर मुखवाला देवदत्त दिन के पूर्व भाग में पूर्व दिशा में अपने सामने आदित्य को देखता है। उसके दक्षिण भाग में स्थित व्यक्ति दो आदित्यों को नहीं देखता—[एक] अपने सामने स्थित [आदित्य] को, और देवदत्त की सीध में [अपने से] तिरछे स्थित [अन्य आदित्य] को। इसलिये एक ही आदित्य है। दूर होने के कारण उस [आदित्य] के देश का निश्चय नहीं होता। इसलिये [नाना देशस्थों का अपने-अपने सामने आदित्य को अनेक मानना] व्यामोह (=मिथ्याज्ञान) है। इसी प्रकार शब्द के विषय में भी व्यामोह

व्यामोहादनवधारणं देशस्य। यदि श्रोत्रं संयोगविभागदेशमागत्य शब्दं गृह्णीयात्, तथापि तावदनेकदेशता कदाचिदवगम्येत। न च तत् संयोग[विभाग]देशमागच्छति। प्रत्यक्षा हि कर्णशष्कुली तद्देशा गृह्यते। वायवीयाः पुनः संयोगविभागा अप्रत्यक्षस्य वायोः कर्णशष्कुलीप्रदेशे प्रादुर्भवन्तो नोपलभ्यन्त इति नानुपपन्नम्। अत एव व्यामोहो यन्नानादेशेषु शब्द इति। आकाशदेशश्च शब्द इति। एकं च पुनराकाशम्। अतोऽपि न नानादेशेषु। अपि च, ऐकरूप्ये सति देशभेदेन कामं देशा एव भिन्ना, न तु शब्दः। तस्माद् अयमप्यदोषः ॥१५॥

से [उसके] देश का निश्चय नहीं होता। [उसे देशभेद से अनेक समझते हैं।] यदि श्रोत्र संयोग-विभागवाले [अनेक वक्ताओं के मुखरूप] देश को प्राप्त होकर शब्द को ग्रहण करे, तो भी किसी प्रकार शब्द की अनेकदेशता जानी जाये। [परन्तु] वह [श्रोत्र] संयोग-विभागवाले देश को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि प्रत्यक्ष ही कर्णशष्कुली (=कर्णगोलक) प्रत्यक्षरूप में उसी देशवाली [जहां वह शरीर में है] गृहीत होती है।[इससे स्पष्ट है कि श्रोत्र संयोग-विभाग-स्थान को प्राप्त नहीं होता।] अप्रत्यक्ष वायु के वायवीय संयोग-विभाग कर्णशष्कुली देश में प्रादुर्भूत होते हुये उपलब्ध नहीं होते, यह अनुपपन्न नहीं है।[अर्थात् वायवीय संयोग-विभाग श्रोत्र के भीतरी भाग को प्राप्त होकर वहीं शब्द को अभिव्यक्त करते हैं, यह मानना ही ठीक है।] इसलिये यह व्यामोह ही है कि शब्द नाना देशों में उपलब्ध होते हैं। [यदि यह कहो कि श्रोत्रप्रदेश तो बहुत है, अतः उन की बहुलता से शब्द अनेक देशों में उपलब्ध होते हैं, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि] शब्द आकाश देशवाला है। और आकाश [सर्वत्र] एक ही है। इसलिये भी [शब्द अनेक देशों में (उपलब्ध) नहीं होता। और भी, यह वही है इस प्रकार भी प्रतीति के कारण [श्रोत्ररूपी] देश की भिन्नता से चाहो तो देश ही भिन्न होंगे, शब्द भिन्न नहीं होगा। इसलिये यह दोष भी नहीं है॥१५॥

विवरण—'आदित्यवद् यौगपद्यम्' सूत्र में आदित्य का जो उदाहरण दिया है, वह आकृत्यभिधानवादियों का सामान्य उदाहरण है। महाभाष्य १।२।६४ में भी आकृत्यभिधानवादी वाजप्यायन के मत के विवरण में **अस्ति चैकमनेकाधिकरणस्थं युगपत्** वार्तिक के व्याख्यान में आदित्य का ही उदाहरण दिया है—**एक आदित्योऽनेकाधिकरणस्थो युगपदुपलभ्यते**। इसी प्रकार महाभाष्य १।१ के पस्पशाह्निक (१) में **युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनात्** वार्तिक के व्याख्यान में भी **यदि पुनरिमे वर्णा आदित्यवत् स्युः** कहकर मीमांसा के प्रस्तुत सूत्र और उसकी व्याख्या का प्रमुख अभिप्राय निर्दिशित किया है।

'देवानांप्रिय'—यह समस्त और असमस्त दो प्रकार का है। समस्तपक्ष में **देवानांप्रिय इति चोपसंख्यानम्** (महाभाष्य ६।३।२१) वार्तिक से षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है। बौद्धसम्राट् अशोक ने अपने प्रायः सभी शिलालेखों में अपने लिये **देवानांप्रियः** पद का प्रयोग किया है। उत्तरकाल में बौद्धविद्वेष के कारण इस समस्त पद का प्रयोग मूर्ख अर्थ में होने लगा। भट्टोजि दीक्षित आदि ने तो वार्तिक में ही **'मूर्खे'** पद का सन्निवेश कर दिया। हमारा विचार है कि समस्त **देवानांप्रियः** पद का भी निन्दित अर्थ नहीं था। यदि कहा जाये कि यह वार्तिक षष्ठ्या

वर्णान्तरमविकारः ॥१६॥ (उ०)

न च दध्यत्र इत्यत्र प्रकृतिविकारभावः। शब्दान्तरम् इकाराद् यकारः। न हि यकारं प्रयुञ्जाना इकारमुपाददते। यथा कटं चिकीर्षन्तो वीरणानि। न च सादृश्यमात्रं दृष्ट्वा प्रकृतिर्विकृतिर्वा उच्यते। न हि दधिपिटकं दृष्ट्वा कुन्दपिटकं च प्रकृतिविकार-भावोऽवगम्यते। तस्मादयमप्यदोषः ॥१६॥

आक्रोशे (६।३।२१) पर पठित होने से इसका मूर्ख आदि निन्दित अर्थ ही होना चाहिये, तो यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि इस सूत्र में पठित अन्य चार वार्तिकों के जितने उदाहरण हैं, उनमें ३-४ को छोड़कर किसी उदाहरण में आक्रोश अर्थ अभिप्रेत नहीं है।

सम्प्रति—का प्रयोग यहां 'सम्मुख' अर्थ में हुआ है। आकाशदेशः—तुलना करो—श्रोत्रोपलब्धि-र्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। महाभाष्य १।१।आ० १॥१५॥

वर्णान्तरमविकारः ॥१६॥

सूत्रार्थ—['दध्यत्र' इत्यादि में इकार के प्रयोग-विषय में प्रयुक्त होनेवाला यकार] (वर्णा-न्तरम्) वर्णान्तर है। [इसलिये] (अविकारः) विकार नहीं है।

व्याख्या—दध्यत्र यहां प्रकृति और विकार (=विकृति) भाव नहीं है। इकार से यकार शब्दान्तर है। यकार का प्रयोग करनेवाले इकार का उपादान (=ग्रहण) नहीं करते। जैसे चटाई बनाने की इच्छा करनेवाले वीरण (=खससंज्ञक तृण) को [ग्रहण करते हैं]। सादृश्यमात्र देखकर प्रकृति-विकृतिभाव नहीं कहा जाता है। दही की डलिया को देखकर कुन्द (=श्वेत पुष्पविशेष वेला-मोगरा) की डलिया में [श्वेतता का सादृश्य देखकर] प्रकृतिविकारभाव नहीं जाना जाता है। इसलिये यह (=प्रकृतिविकृतिभाव से शब्द की अनित्यतारूप) भी दोष नहीं है ॥१६॥

विवरण—शब्द को नित्य माननेवाले वैयाकरण भी वर्णों में प्रकृतिविकृति भाव नहीं मानते। वे दधि अत्र के स्थान में दध्यत्र को पदादेश मानते हैं। इस विषय में दाधा घ्वदाप् (अष्टा० १।१।२०) सूत्र के महाभाष्य में विशेष विचार किया गया है। वहां सिद्धान्त किया है—सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते। अर्थात् दाक्षीपुत्र पाणिनि के मत में सभी पद सब के स्थान में आदेश होते हैं। एकदेश में विकार मानने पर शब्द का नित्यत्व उपपन्न नहीं होता। शब्द को अनित्य माननेवाले नैयायिक भी दध्यत्र में प्रकृतिविकृतिभाव नहीं मानते। इस विषय में न्यायदर्शन अ० २ आह्निक २ सूत्र ४०—५६ तक का प्रकरण देखना चाहिये। विशेषरूप से प्रकृत्यनियमाद् वर्णविकाराणाम् (२।२।५३) सूत्र और उसका भाष्य देखना चाहिये। लोक में प्रकृति-विकृतिभाव का नियम है। दही दूध का विकार है, और दूध प्रकृति। दूध का दही बनता है, परन्तु दही से दूध नहीं बनता। किन्तु वर्णों में ऐसा नहीं होता। दध्यत्र में इकार को यकार देखा जाता है, और विध्यति में व्यध धातु के यकार को इकार देखा जाता है ॥१६॥

[1]नादवृद्धिः परा ॥१७॥ (उ०)

यच्चैतद् 'बहुभिर्भेरीमाधमद्भिः शब्दमुच्चारयद्भिर्महान् शब्द उपलभ्यते, तेन प्रतिपुरुषं शब्दावयवप्रचय इति गम्यते'। नैवम्। निरवयवो हि शब्दः। अवयवभेदानवगमाद्, निरवयवत्वाच्च महत्त्वानुपपत्तिः। अतो न वर्द्धते शब्दः। मृदुरेकेन। बहुभिश्चोच्चार्यमाणे तान्येवाक्षराणि कर्णशष्कुलीमण्डलस्य सर्वां नेमिं व्याप्नुवद्भिः संयोगविभागैर्नैरन्तर्येणानेकशो ग्रहणान्महानिव वायववानिवोपलभ्यन्ते। संयोगविभागा नैरन्तर्येण क्रियमाणाः शब्दमभिव्यञ्जन्तो नादशब्दवाच्याः। तेन नादस्यैषा वृद्धिः न शब्दस्येति ॥१७॥

नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥१८॥ (उ०)

नादवृद्धिः परा ॥१७॥

सूत्रार्थ—(परा) अन्य जो शब्द की वृद्धि कही है, वह (नादवृद्धिः) नाद की वृद्धि है।

विशेष—शाबरभाष्य के जो संस्करण उपलब्ध होते हैं, उनमें नादवृद्धिपरा ऐसा अपपाठ मिलता है। इसका शब्दार्थ उपपन्न नहीं होता। सुबोधिनीवृत्ति तथा कुतुहलवृत्ति में नादवृद्धिः परा ऐसा शुद्ध पाठ ही है।

व्याख्या—और जो यह कहा कि—'बहुत से भेरी को बजानेवालों [और बहुत से] शब्द को उच्चारित करनेवालों से महान् शब्द उपलब्ध होता है, उससे प्रति पुरुष शब्द के अवयवों का प्रचय होता है ऐसा जाना जाता है।' यह ऐसा नहीं है। शब्द अवयवरहित हैं। अवयवभेदों का ज्ञान न होने से,और निरवयव होने से महत्त्व की उपपत्ति नहीं होती। इसलिये शब्द नहीं बढता। एक से उच्चरित मृदु होता है। और बहुतों से उच्चारण करने पर वे ही अक्षर कर्णशष्कुली-मण्डल की पूरी नेमि (=कान के पर्दे) को व्याप्त करते हुये, संयोग-विभागों और निरन्तरता से अनेकों [शब्दों] के ग्रहण से महान् के समान और अवयववालों के समान उपलब्ध होते हैं। निरन्तरता से किये जाने वाले संयोगविभाग शब्द को अभिव्यक्त करते हुये नादशब्द वाच्य होते हैं। इस कारण नाद की यह वृद्धि है, शब्द की वृद्धि नहीं है ॥१७॥

नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥१८॥

सूत्रार्थ—[शब्द] (नित्यः) नित्य (तु) ही[2] (स्यात्) होवे, (दर्शनस्य) उच्चारण के (परार्थत्वात्) दूसरे के लिये होने से। [अर्थात् शब्दोच्चारण के दूसरे के प्रति बोध कराने के लिये होने से।]

---

१. मुद्रितभाष्यपुस्तकेषूपलभ्यमानः 'नादवृद्धिपरा' पाठोऽयुक्तः। सुबोधिनी-कुतुहलवृत्त्योः 'नादवृद्धिः परा' इत्येवं शुद्धः पाठ उपलभ्यते।

२. तुरवधारणे इति कुतुहलवृत्तिः।

नित्यः शब्दो भवितुमर्हति । कुतः ? दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारणं तत् परार्थम्, परमर्थं प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न चाऽन्योऽन्यान् अर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात् । अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथ न विनष्टः, ततो बहुश उपलब्धत्वादर्थावगमः, इति युक्तम् । अर्थवत्सादृश्यादर्थावगम इति चेत् । न कश्चिदर्थवान्,सर्वेषां नवत्वात् । कस्यचित् पूर्वस्य कृत्रिमः सम्बन्धो भविष्यतीति चेत्, तदयुक्तम् । सदृश इति चावगते व्यामोहात् प्रत्ययो व्यावर्त्तेत, शालाशब्दान्मालाप्रत्यय इव । यथा गावीशब्दात् सास्नादिमति प्रत्ययस्यानिवृत्तिः, तद्वद्भविष्यतीति चेत् । न हि गोशब्दं तत्रोच्चारयितुमिच्छा । नेहान्यशब्दोच्चिचारयिषा, न चैकेनोच्चारणयत्नेन संव्यवहारश्चार्थसम्बन्धश्च शक्यते कर्तुम् । तस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यः शब्दः ॥१८॥

व्याख्या—शब्द नित्य होवे । किस हेतु से ? दर्शन के परार्थ होने से । [शब्द का जो] दर्शन=उच्चारण है वह परार्थ है, दूसरे को अर्थ का बोध कराने के लिये होता है । उच्चरित होते ही शब्द के विनष्ट हो जाने पर एक दूसरों को अर्थ का बोध कराने को समर्थ नहीं हो सकता। इस हेतु से [उच्चरित होते ही नष्ट होनेवाले शब्द को] दूसरे के लिये उच्चारण नहीं कर सकता । और यदि [शब्द] विनष्ट नहीं हुआ, तब तो उसकी बहुत बार उपलब्धि होने से अर्थ का ज्ञान होता है, यह युक्त है । यदि यह कहो कि अर्थवान् [उच्चरित शब्द] के सादृश्य से [अन्य श्रुत शब्द से] अर्थ का ज्ञान होता है । [तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि] कोई भी शब्द [चाहे वह उच्चरित प्रथम शब्द हो चाहे अन्य श्रुत शब्द] अर्थवान् नहीं है, सब के नये होने से । [क्योंकि अनित्य माननेवाले के मत में सभी शब्द नये हैं, और किसी भी नये शब्द से अर्थ की प्रतीति न होने से प्रथम उच्चरित शब्द भी अर्थवान् नहीं हो सकता ।] यदि कहो कि किसी पूर्व [शब्द का]कृत्रिम अर्थ-सम्बन्ध होगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं है । [पूर्व के] सदृश है इस ज्ञान के होने पर व्यामोह से ज्ञान नहीं होगा, शाला शब्द से माला ज्ञान के समान । [अर्थात् जैसे शाला और माला शब्द में एक व्यञ्जन के अतिरिक्त सादृश्य होने पर भी शाला शब्द से माला का ज्ञान नहीं होता ।]यदि कहो कि जैसे[गोशब्दसदृश]गावी शब्द से सास्ना आदि से युक्त में ज्ञान की निवृत्ति नहीं होती[अर्थात् गावी शब्द से सास्नादि से युक्त प्राणी की प्रतीति होती है],उसी प्रकार[तत्सदृश अन्य शब्द से भी] अर्थ का ज्ञान हो जायेगा।[तो यह कथन भी ठीक नहीं है।] क्योंकि वहां[गावी शब्द के उच्चारण करनेवाले की] गो शब्द के उच्चारण की इच्छा नहीं होती । [पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि उच्चारण करनेवाले ने जिस शब्द का व्यवहार (=दूसरे को अर्थज्ञान कराने) के लिये उच्चारण किया है, उसका शब्दार्थ-सम्बन्ध भी कृत्रिम है, यह उपपन्न नहीं हो सकता । क्योंकि यहां न अन्य शब्द के उच्चारण की इच्छा है, और ना ही एक उच्चारणरूप यत्न से व्यवहार तथा अर्थसम्बन्ध किया जा सकता है । इसलिये दर्शन=शब्द के उच्चारण के परार्थ होने से शब्द नित्य है ॥१८॥

विवरण—न हि गोशब्दं तत्रोच्चारयितुमिच्छा—गावी आदि अपभ्रंश शब्दों से गो आदि का ज्ञान किस प्रकार होता है, इस विषय में दो मत हैं । एक—गो शब्द के उच्चारण में अशक्ति

सर्वत्र यौगपद्यात् ॥१६॥ (उ०)

गोशब्द उच्चरिते सर्वगवीषु युगपत् प्रत्ययो भवति। अतः आकृतिवचनोऽयम्। न चाऽऽकृत्या शब्दस्य सम्बन्धः शक्यते कर्तुम्। निर्दिश्य ह्याकृतिं कर्ता सम्बध्नीयात्। गोपिण्डे च बहूनामाकृतीनां सद्भावाच्छब्दमन्तरेण गोशब्दवाच्यां विभक्तामाकृतिं केन प्रकारेणोपदेक्ष्यति ? नित्ये तु सति गोशब्दे बहुकृत्व उच्चरितः श्रुतपूर्वश्चाऽन्यासु गोव्यक्तिष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामाकृतिवचनमवगमयिष्यति। तस्मादपि नित्यः ॥१६॥

आदि के कारण उच्चरित गावी अपभ्रंश से पहले शुद्ध गो शब्द का ज्ञान होता है, और उसके पश्चात् सास्नादिमान् गाय पदार्थ का। दूसरा—जो लोग परम्परा से 'गावी' आदि अपभ्रंश शब्दों का ही प्रयोग करते चले आ रहे हैं, और जिन्हें साधु 'गो' शब्द का परिज्ञान भी नहीं है, वे अपभ्रंशों से ही अर्थ को जानते हैं। उनके विषय में साधु शब्द की स्मृति से अर्थज्ञान होता है, यह उपपन्न नहीं हो सकता। अतः साधु शब्दों के समान अपभ्रंश भी अर्थ के वाचक हैं। इन दोनों मतों का उपपादन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के अन्त में किया है। प्रथम पक्ष के लिये ब्रह्मकाण्ड की १४६–१५२ कारिकाएं तथा इनकी स्वोपज्ञ वृत्ति, और द्वितीय पक्ष के लिये १५३वीं कारिका और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति देखनी चाहिये। भर्तृहरि ने द्वितीय पक्ष को ही सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है। सम्भव है इस पक्ष की स्वीकृति में मीमांसा का प्रस्तुत सूत्र और उसके प्राचीन भाष्य रहे होंगे। शबरस्वामी भी द्वितीय पक्ष को ही स्वीकार करते हैं। इसीलिये उन्होंने कहा है—नहि गोशब्दं तत्रोच्चारयितुमिच्छा, अर्थात् गावी शब्द का उच्चारण करनेवाले की 'गो' शब्द के उच्चारण में इच्छा नहीं होती, वह तो परम्परा से व्यवह्रियमाण 'गावी' शब्द का ही उच्चारण करता है ॥१८॥

सर्वत्र यौगपद्यात् ॥१६॥

सूत्रार्थ—[गो शब्द के उच्चरित होने पर] (सर्वत्र) सब गौओं में (यौगपद्यात्) युगपद् भाव से। [अर्थात् एक साथ ज्ञान होने से शब्द नित्य है।]

व्याख्या—गो शब्द के उच्चरित होने पर सब गौवों (=गोमात्र) में एक साथ ज्ञान होता है। इससे यह [गो शब्द] आकृतिवाचक है। आकृति के साथ [अनित्य] शब्द का [संज्ञा-संज्ञी] सम्बन्ध नहीं किया जा सकता। सम्बन्ध करनेवाला कोई व्यक्ति आकृति का निर्देश करके ही सम्बन्ध करेगा। [अङ्गुलि से संकेत करके कहेगा 'इसका नाम गौ है'। संकेतित] गोपिण्ड में [द्रव्यत्व पशुत्व गोत्व आदि] बहुत सी आकृतियों की विद्यमानता होने से शब्द के बिना गोशब्दवाच्य [द्रव्यत्वादि आकृतियों से] पृथक् [गोत्वरूप] आकृति का किस प्रकार उपदेश करेगा ? गो शब्द के नित्य होने पर तो अनेकधा उच्चरित और पूर्व सुना हुआ अन्य गोव्यक्तियों में अन्वय-व्यतिरेक से यह आकृति का वाचक है, ऐसा जान लेगा। इसलिये भी [शब्द] नित्य है ॥१६॥

विवरण—सूत्र में यौगपद्यात् पद में चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम् (काशिका ५।१।

संख्याऽभावात् ।।२०।। (उ०)

'अष्टकृत्वो गोशब्द उच्चरितः' इति वदन्ति, नाऽष्टौ गोशब्दा इति। किमतो यद्येवम् ? अनेन वचनेनावगम्यते प्रत्यभिजानन्तीति। वयं तावत् प्रत्यभिजानीमो न नः करणदौर्बल्यम्। एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति स एवायमिति । प्रत्यभिजानानाः प्रत्यभिजानन्ति चेद्, वयमिवान्येऽपि नान्य इति वक्तुमर्हन्ति । अथ मतम्, अन्यत्वे सति सादृश्येन व्यामूढाः 'स इति' वक्ष्यन्ति। तन्न। न हि ते सदृश इति प्रतियन्ति। किं तर्हि? स एवायमिति। विदिते च[1] स्फुटेऽन्यत्वे व्यामोह इति गम्यते । न चायमन्यः, इति प्रत्यक्षमन्यद्वा प्रमाणमस्ति ।।

---

१२४) वचन से स्वार्थ में ष्यञ् जानना चाहिये। भाष्य में—अन्यासु गोव्यक्तिष्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्—इसका तात्पर्य यह है कि अन्वय=अनुगति प्रतीति और व्यतिरेक=भिन्नता से गोत्व जाति को जान लेगा। इसे इस प्रकार समझना चाहिये—वृद्ध पुरुष ने किसी से कहा–'गौ ला'। वह गौ को ले आया। दूसरी बार कहा—'भैंस ला'। वह भैंस को ले आया। फिर कभी पुनः कहा—'गौ ला'। वह गौ को ले आया। इस प्रकार बार-बार शब्दों के प्रयोग को सुनकर और लाये हुये द्रव्य को देखकर बालक समझ लेता है कि गौ प्राणी से भैंस प्राणी पृथक् है। और अनेक बार कभी लाल कभी काली कभी सफेद रंग की गौ में समानता देखकर यह जान लेता है कि रंगभेद होने पर भी इनमें एक आकार है। अतः यही गोशब्दवाच्य है। इस प्रकार वृद्धजनों के पुनः-पुनः व्यवहार से, तथा यह बार-बार उच्चरित गौ शब्द वही है, इस ज्ञान से उसको गोत्व आदि जाति के साथ संज्ञासंज्ञी सम्बन्ध का बोध हो जाता है ।।१९।।

संख्याऽभावात् ।।२०।।

सूत्रार्थ—[आठ दस बार गो शब्द के उच्चारण करने पर भी] (संख्याऽभावात्) संख्या की प्रतीति न होने से [शब्द नित्य है]।

व्याख्या—'आठ बार गो शब्द उच्चरित हुआ है' ऐसा [लोक में] कहते हैं, आठ गोशब्द उच्चरित हुये ऐसा नहीं कहते। यदि ऐसा [लौकिक पुरुषों का कथन] है, तो इससे क्या ? इस वचन से जाना जाता है कि [लौकिक पुरुष एक गोशब्द को ही पुनः-पुनः उच्चरित] जानते हैं। [अर्थात् यह गोशब्द वही है, जो पूर्व उच्चरित हुआ था।]हम यह भी जानते हैं कि हमारी इन्द्रियों में कोई दुर्बलता (=न्यूनता=कमी) नहीं है। इसी प्रकार अन्य भी जानते हैं कि यह वही [गोशब्द] है। जाननेवाले यदि जानते हैं [कि यह वही गोशब्द है], तो हमारे समान ही अन्य भी यह नहीं कह सकते कि यह [गोशब्द पूर्व उच्चरित गोशब्द से] भिन्न है। और यदि आपका यह विचार है, कि [गोशब्दों में] भिन्नत्व होने पर भी सदृशता से व्यामूढ हुये 'वही है' ऐसा कहेंगे। तो यह ठीक नहीं है । वे पुरुष [पूर्व उच्चरित गोशब्द के] सदृश है यह नहीं जानते[अर्थात् सादृश्य का ज्ञान उन्हें नहीं होता]। तो क्या ज्ञान होता है ? यह वही है [जो पूर्व उच्चरित हुआ था]। भिन्नत्व का विस्पष्ट ज्ञान होने पर ही व्यामोह जाना जाता है। यह अन्य है, इसमें न प्रत्यक्ष प्रमाण है और न अन्य प्रमाण है ।।

---

१. चोऽत्रावधारणे—'स्फुटेऽन्यत्वे विदित एव व्यामोह इति गम्यते' इत्यर्थः।

स्यादेतत्, बुद्धिकर्मणी अपि ते प्रत्यभिज्ञायेते, ते अपि नित्ये प्राप्नुतः। नैष दोषः। न हि ते प्रत्यक्षे। अथ प्रत्यक्षे नित्ये एव। ह्यस्तनस्य शब्दस्य विनाशादन्योऽद्यतन इति चेत्। नैष विनष्टः, यत एनं पुनरुपलभामहे। न हि प्रत्यक्षदृष्टं मुहूर्त्तमदृष्ट्वा पुनरुपलभ्यमानं प्रत्यभिजानन्तो विनष्टं परिकल्पयन्ति। परिकल्पयन्तो द्वितीयसंदर्शने मातरि जायायां पितरि वा नाऽऽश्वस्युः। न ह्यनुपलम्भमात्रेण नास्तीत्यवगम्य नष्ट

विवरण—किमतो यद्येवम्—प्रष्टा का अभिप्राय यह है कि लौकिक पुरुषों के 'आठ बार गोशब्द उच्चरित हुआ' कहने से शब्द की एकता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि **अष्टकृत्वः** में जो 'कृत्वसुच्' प्रत्यय है, उसका प्रयोग द्रव्य का भेद होने पर भी लोक में देखा जाता है—**अद्याष्टकृत्वो ब्राह्मणा भुक्तवन्तः** (=आज आठ बार ब्राह्मणों ने भोजन किया) प्रयोग में ब्राह्मणों के भिन्न-भिन्न होने पर भी कृत्वसुच् प्रत्यय के दर्शन से आप का हेतु अनेकान्त (=अनिश्चित) है। कृत्वसुच् प्रत्यय **संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्** (अष्टा० ५।४।१७) से क्रिया की पुनः पुनः आवृत्ति की गणना में होता है। उसका द्रव्य के एकत्व वा अनेकत्व के बोधन कराने में तात्पर्य नहीं है। इसका उत्तर सिद्धान्ती ने **अनेन वचनेन···प्रत्यभिजानन्ति** से दिया है। इसका भाव यह है कि गोशब्द के एकत्व में हम केवल कृत्वसुच् प्रत्यय को ही हेतुरूप में नहीं देते हैं, अपितु कृत्वसुच् के साथ प्रत्यभिज्ञा का जो प्रायः साहचार्य देखा जाता है, उसको दर्शाने के लिये **अष्टकृत्वः गोशब्द उच्चरितः, नाष्टौ गोशब्दाः** ऐसा हमने निर्देश किया है। जब हम कहते हैं—**पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते**, तब इसका यही अर्थ होता कि कोई देवदत्तादि नामवाला व्यक्ति दिन में पांच बार खाता है। यहां कर्ता के एकत्व का जैसे ज्ञान होता है, उसी प्रकार **अष्टकृत्वो गोशब्द उच्चरितः** से भी यह जाना जाता है कि एक ही गो शब्द आठ बार प्रयुक्त हुआ है। **विदिते च**—यहां 'च' शब्द अवधारण में है—**स्फुटेऽन्यत्वे विदित एव व्यामोह इति गम्यते**। हमने 'च' को अवधारणार्थक मानकर ही व्याख्या की है।।

व्याख्या—(आक्षेप) यदि यह (=प्रत्यभिज्ञा से एकत्व) माना जाये, तो बुद्धि (=ज्ञान) और कर्म की भी प्रत्यभिज्ञा होती है, वे (=ज्ञान और कर्म) भी नित्य प्राप्त होते हैं। (समाधान) यह दोष नहीं है। वे (=ज्ञान और कर्म) प्रत्यक्ष नहीं हैं। और यदि प्रत्यक्ष होवें, तो नित्य ही होंगे। [इसका भाव यह है कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष हैं, और कारणान्तर से जिनका विनाश देखा जाता है, वे नित्य नहीं हैं। यथा घटादि पदार्थ। शब्द में श्रोत्र प्रत्यक्ष है, और कारणान्तर से उसका विनाश नहीं देखा जाता (आगे दृष्टव्य), अतः वह नित्य है।] पूर्व दिन में [उपलब्ध] शब्द का विनाश हो जाने से आज का शब्द भिन्न है यदि ऐसा कहो, तो हमारा कथन है—यह (=पूर्व दिन में उपलब्ध शब्द) विनष्ट नहीं हुआ, जिससे इसको [आज] पुनः उपलब्ध करते हैं। [अर्थात् पूर्व दिन उपलब्ध शब्द को ही यतः आज पुनः उपलब्ध करते हैं, इसलिये वह नष्ट नहीं हुआ ऐसा मानते हैं।] किसी प्रत्यक्षदृष्ट पदार्थ को थोड़ी देर न देखकर पुनः दिखाई पड़नेवाले को 'यह वही है' ऐसा जानते हुये [पूर्व दृष्ट] विनष्ट हो गया, ऐसी कल्पना नहीं करते। ऐसी कल्पना करते हुये तो माता-पिता और भार्या के [कालान्तर में] दूसरी बार दिखाई पड़ने पर आश्वस्त

इत्येव कल्पयन्ति। अप्रमाणतायां विदितायां नास्तीत्यवगच्छामः। न हि प्रमाणे प्रत्यक्षे सत्यप्रमाणता स्यात्। अस्तीति पुनरव्यामोहेनावगम्यमाने न क्वचिदप्यभावः। न चाऽसिद्धेऽभावे व्यामोहः, न च सिद्धोऽभावः। तस्मादसति व्यामोहे नाभावः। तदेतदानुपूर्व्या सिद्धम्। तस्मात् पुरस्तादनुच्चरितमनुपलभमाना अपि न 'विनष्टः' इत्यवगन्तुमर्हन्ति। [1]यथा गृहान्निर्गताः सर्वगृहजनमपश्यन्तः पुनः प्रविश्योपलभमाना अपि न प्राक् प्रवेशाद् विनष्टा इत्यवगच्छन्ति। तद्वदेनमपि न अन्य इति वक्तुमर्हन्ति। येऽपि सर्वेषां भावानां प्रतिक्षणं विनाशमभ्युपगच्छन्ति, तेऽपि न शक्नुवन्ति शब्दस्य वदितुम्। अन्ते हि क्षयदर्शनात् ते मन्यन्ते। न च शब्दस्यान्तो न च क्षयो लक्ष्यते। 'स इति' प्रत्यक्षः प्रत्ययः, सदृश इत्यानुमानिकः। न च प्रत्यक्षविरुद्धमनुमानमुदेति, स्वकार्यं वा साधयति। तस्मान्नित्यः ॥२०॥

नहीं होंगे [कि यह हमारे माता पिता वा भार्या हैं]। [इसलिये कुछ काल की] अनुपलब्धिमात्र से 'नहीं है' ऐसा जानकर 'नष्ट हो गया' ऐसी कल्पना नहीं करते। अप्रमाणता ज्ञात होने पर ही 'नहीं है' ऐसा जानते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण के होने पर अप्रमाणता नहीं हो सकती। 'है' ऐसा व्यामोह-रहित ज्ञान होने पर कहीं भी अभाव की कल्पना नहीं होती। अभाव सिद्ध हुये बिना व्यामोह नहीं कहा जाता और अभाव सिद्ध नहीं होता। इसलिये व्यामोह न होने पर अभाव नहीं होता। यह इस आनुपूर्वी से सिद्ध है। इसलिये पूर्व अनुच्चरित को उपलब्ध न करते हुये भी 'विनष्ट है' ऐसा ज्ञान नहीं कर सकते। जैसे घर से बाहर गये हुये सब गृह-जनों को न देखते हुये पुनः घर में प्रवेश करके [उन गृह-जनों को] उपलब्ध करनेवाले भी [गृह में] प्रवेश से पूर्व [गृहजन] विनष्ट हो गये थे, ऐसा नहीं मानते। उसी प्रकार इस [सम्प्रति उपलभ्यमान शब्द] को भी [पूर्व शब्द से] अन्य नहीं कह सकते। और जो [बौद्ध दार्शनिक] सब भावों (=पदार्थों) का प्रतिक्षण विनाश स्वीकार करते हैं, वे भी शब्द के विनाश को नहीं कह सकते। क्योंकि वे अन्त में [प्रत्येक पदार्थ का] क्षय देखने से [प्रतिक्षण विनाश] मानते हैं। शब्द का अन्त नहीं है, और ना ही क्षय उपलब्ध होता है। 'यह वही है' यह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, [यह पूर्वोपलब्ध के] सदृश है यह आनुमानिक ज्ञान है। ना ही प्रत्यक्षविरुद्ध अनुमान का उदय होता है और ना ही वह स्वकार्य को सिद्ध करता है। इसलिये शब्द नित्य है ॥२०॥

विवरण—भाष्यकार ने पूर्व उपलब्ध शब्द से सम्प्रति उपलब्ध शब्द भिन्न नहीं है, अर्थात् अनुपलब्धिमात्र से विनाश की कल्पना नहीं की जा सकती है, इसके दो लौकिक दृष्टान्त दिये है। पहला दृष्टान्त है—कोई पुरुष अपने माता-पिता आदि को कुछ समय न देखकर काला-

---

१. अस्य दृष्टान्तस्य पाठो लेखकादिप्रमादाद् भ्रष्ट इति प्रतिभाति। अस्मद्विवेकानुसारं त्वत्रैवं पाठेन भाव्यम्—'यथा गृहान्निर्गतं सर्वगृहजनमपश्यन्तः पुनः प्रविश्यमानान् उपलभ्यापि न प्राक्प्रवेशाद् विनष्टा इत्यवगच्छन्ति।' अन्यथा 'पुरस्तादनुच्चरितमनुपलमाना अपि न विनष्ट इत्यवगन्तुमर्हन्ति' इति पाठेन साम्यं न स्यात्।

अनपेक्षत्वात् ॥२१॥ (उ०)

येषामनवगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते, तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते, येषां विनाशकारणमुपलभ्यते। यथाऽभिनवं पटं दृष्ट्वा। न चैनं क्रियमाणमुपलब्धवान्। अथवाऽनित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा। तन्तुव्यतिषङ्गजनितोऽयम्, तन्तुव्यतिषङ्गविनाशात् तन्तुविनाशाद्वा विनश्यतीत्यवगच्छति। नैवं शब्दस्य किञ्चिद् कारणवगम्यते, यद्विनाशाद्विनङ्क्ष्यतीत्यवगम्यते ॥२१॥

न्तर में उपलब्ध करके उनमें अन्यत्व की कल्पना नहीं करता। उसी प्रकार प्रथम उपलब्ध शब्द को कुछ काल उपलब्ध न करके कालान्तर में पुनः उपलब्ध करने पर उसे अन्य कैसे कह सकता है? दूसरे दृष्टान्त का भाष्यपाठ कुछ भ्रष्ट है। हमने व्याख्या मुद्रित पाठानुसार ही की है। उसका शुद्ध पाठ इस प्रकार होना चाहिये—**यथा गृहान्निर्गतं सर्वगृहजनमपश्यन्तः पुनः प्रविश्यमानानुपलभ्यापि न प्राक्प्रवेशाद् विनष्टा इत्यवगच्छन्ति।** अर्थात् जैसे कुछ लोग किसी के घर पर जायें, परन्तु वहां घर के बाहर गये सब जनों को न देखते हुये, और कुछ काल में घर में प्रवेश करते हुओं को देखकर यह नहीं समझते कि घर में प्रवेश से पूर्व वे नष्ट हो गये थे। यही पाठ दार्ष्टान्त—'पूर्व अनुच्चरित शब्द को उपलब्ध न करते हुये पुरुष भी उपलब्धि होने से पूर्व नष्ट हो गया, यह नहीं मान सकते' के साथ साम्य रखता है। **येऽपि सर्वेषां भावानाम्**—प्रसङ्ग से प्रतिक्षण विनाश माननेवाले बौद्धों के मत का निर्देश करके दर्शाया है कि प्रतिक्षण विनाशवादी बौद्ध भी शब्द का विनाश सिद्ध नहीं कर सकते, तो फिर जो पदार्थों को कुछ काल स्थिर मानते हैं, वे भला शब्द का विनाश कैसे सिद्ध कर सकते हैं ॥२०॥

अनपेक्षत्वात् ॥२१॥

सूत्रार्थ—[विनाश कारण की] (अनपेक्षत्वात्) अपेक्षा नहीं होने से [शब्द नित्य है] ।

व्याख्या—जिन द्रव्यों की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं होता, केवल सत्ता (=स्थिति) मात्र लक्षित होती है, उनमें से भी कुछ द्रव्यों की, जिनका विनाश कारण जाना जाता है, अनित्यता जानी जाती है। जैसे नवीन वस्त्र को देखकर। यद्यपि इस नवीन वस्त्र को बनाते हुये नहीं देखा। [फिर भी उसके विनाश का निश्चय सभी को होता है।] अथवा [नवीन वस्त्र के] रूपमात्र को देखकर [द्रष्टा उसकी] अनित्यता जान लेता है। तन्तुओं के खड़े और आड़े संयोग से यह उत्पन्न हुआ है, अतः आड़े और खड़े तन्तुओं का जो संयोग है उसके विनाश से अथवा तन्तुओं के विनाश से नष्ट हो जायेगा, ऐसा [द्रष्टा] जानता है। इस प्रकार शब्द [की उत्पत्ति] का कोई कारण नहीं जाना जाता है, जिस [उत्पत्ति-कारण] के विनाश से नष्ट हो जायेगा, ऐसा जाना जाये ॥२१॥

प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥२२॥ (उ०)

इदं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रम्—ननु वायुकारणकः स्यादिति, वायुरुद्गतः संयोगविभागैः शब्दो भवतीति । तथा च शिक्षाकाराः आहुः—**वायुरापद्यते शब्दताम्**[1] इति । नैतदेवम् । वायवीयश्चेच्छब्दो भवेद्,वायोः सन्निवेशविशेषः स्यात् । न च वायवीयान् अवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमः । यथा पटस्य तन्तुमयान्, न चैवं भवति । स्याच्चेदेवं, स्पर्शनेनोपलभेमहि । न च वायवीयानवयवान् शब्दगतान् स्पृशामः । तस्मान्न वायुकारणकः । अतो नित्यः ॥२२॥

प्राख्याभावाच्च योगस्य ॥२२॥

सूत्रार्थ—[शब्द में वायु के] (योगस्य) अवयवों के योग की (प्रख्याभावात्) उपलब्धि का अभाव होने से (च) भी [वायु के अवयवों के नाश से शब्द का विनाश नहीं माना जा सकता । अतः पूर्वोक्त हेतु से शब्द नित्य है] ।

विशेष—इस सूत्र में पाठभेद उपलब्ध होते हैं । 'सुबोधिनीकार' ने 'योगस्य' के स्थान में 'योग्यस्य' पाठ मानकर अर्थ किया है—(योग्यस्य) श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष विषयवाले शब्द का (प्रख्याभावात्) वायुविकार के श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य न होने से, यह भाव है । 'कुतुहलवृत्ति' में **प्रेक्षाभावाच्च संयोगस्य** पाठ मानकर 'शब्द में वायु के अवयवों के संयोग की अनुपलब्धि होने से शब्द वायु-कारणवाला नहीं है' अर्थ किया है । आगे **प्रख्याभावाच्च योग्यस्य** पाठान्तररूप से मानकर अर्थ किया है—'योग्यस्य' यह जाति में एकवचन है । वायु के अवयवों की उपलब्धि का अभाव होने से शब्द वायु-कारणवाला नहीं है ।

व्याख्या—यह सूत्र कुछ पदों के पश्चात् है [अर्थात् सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निर्देश न करके समाधानपरक सूत्र ही पढ़ा है । वे पूर्वपक्षपरक शब्द हैं—] शब्द वायुकारणवाला ही होवे, वायु में उत्पन्न संयोग-विभागों से ही शब्द होता है । जैसा कि शिक्षाकार कहते हैं—'वायु ही शब्दता को प्राप्त होता है' । ऐसा नहीं है । यदि शब्द वायवीय (=वाय्वात्मक) होवे, तो वह वायु का समूहविशेष होगा । वायवीय अवयवों को शब्द में वर्तमान होते हुओं को हम नहीं जानते । जैसे पट के तन्तुमय अवयवों को जानते हैं, ऐसी उपलब्धि शब्द में नहीं होती । यदि [शब्द में वायवीय अवयव] होवें, तो स्पर्श से हम उनको उपलब्ध करें । शब्दगत वायवीय अवयवों को हम स्पर्श नहीं करते । [अर्थात् स्पर्श से वे उपलब्ध नहीं होते ।] इस कारण शब्द वायुकारणवाला नहीं है । इसलिये शब्द नित्य है ॥२२॥

---

१. तुलना कार्या—वायुः खात् । शब्दस्तत् (वाज० प्राति० १।६,७) वायुस्तदात्मको वाय्वात्मक इत्यर्थः इत्युव्वटस्तद्व्याख्याने । एवम् ऋक्प्रातिशाख्ये (१३।१); तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये (२।२) चापि शब्दस्य वाय्वात्मकत्वमेवोच्यते । भर्तृहरिणाऽपि वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डे 'वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते' (कारिका १०७); 'स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते' (कारिका १०८) इत्येवमुक्तम् ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२३॥ (उ०)

लिङ्गं चैवं भवति–'वाचा विरूप नित्ययेति'। अन्यपरं हीदं वाक्यं वाचो नित्यतामनुवदति । तस्मान्नित्यः शब्दः ॥२३॥ इति शब्दनित्यताऽधिकरणम् ॥६॥

[वाक्याधिकरणम्, अथवा वेदस्यार्थप्रत्यायकत्वाधिकरणम् ॥७॥]

उत्पत्तौ वाऽवचनाः[1] स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ॥२४॥ (पू०)

विवरण—पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रम्—सूत्रकार कहीं-कहीं पूर्वपक्ष को मन में रखकर ही उनका उत्तररूप सूत्र पढ़ देते हैं। यह शैली अन्यत्र भी देखी जाती है। पाणिनीय व्याकरण के वार्तिककार कात्यायन ने भी अनेक वार्तिकसूत्रों की रचना इसी शैली के अनुसार की है। भाष्यकार पतञ्जलि सर्वत्र वार्तिक के निर्देश से पूर्व वार्तिककार के मन में स्थित पूर्वपक्ष को लिखकर और अन्त में—अत उत्तरं पठति का निर्देश करके वार्तिकसूत्र का निर्देश करते हैं। यथा ऋलृक् (१।१ आह्निक १) सूत्र के आरम्भ में।

वायुरापद्यते शब्दताम्—यह इसी आनुपूर्वी में ही पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ, परन्तु ऐसा भाव अनेक ग्रन्थों में मिलता है। उन ग्रन्थों का पाठ और उनके पते भाष्यपाठ पर टिप्पणी की संख्या देकर नीचे लिखे हैं ॥२२॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२३॥

सूत्रार्थ—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी [शब्द नित्य है]।

व्याख्या—लिङ्ग भी ऐसा होता है–'वाचा विरूप नित्यया'(ऋ० ८ ७५।६) = हे विविध रूपवाले अग्ने ! नित्यवाणी से। अन्यपरक होता हुआ ही यह वाक्य वाणी की नित्यता का कथन करता है। इस [लिङ्ग] से भी शब्द नित्य है ॥२३॥

विवरण—'लिङ्ग' शब्द का अर्थ है—**लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेन** = जिससे अर्थ का ज्ञान होता है, उसको लिङ्ग कहते हैं। इसी भाव को **अर्थाभिधानसामर्थ्यं लिङ्गम्**='अर्थ को कहने का जो शब्द में सामर्थ्य है, उसे लिङ्ग कहते हैं' इस प्रकार प्रकट करते हैं। मीमांसा में कई स्थानों में जहां लिङ्गदर्शन शब्द का प्रयोग होता है, वहां तात्पर्य 'मुख्यार्थ के भिन्न होते हुये भी अर्थान्तर की सूचना' से होता है। यही भाव भाष्यकार ने यहां अन्यपरं हीदं वाक्यम् से प्रकट किया है। 'वाचा विरूप नित्यया' चरण जिस ऋचा का है, उसका मुख्य प्रयोजन अग्नि के वर्णन में है। परन्तु नित्यया वाचा पदों से वाणी=शब्दों की नित्यता भी सूचित हो जाती है ॥२३॥

उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ॥२४॥

सूत्रार्थ—(वा) यह पूर्व कथन की निवृत्ति के लिये है। (उत्पत्तौ) शब्द अर्थ सम्बन्ध के नित्य

---

१. 'उत्पत्तौ वा रचनाः' इति सुबोधिन्यां वृत्तौ । 'उत्पत्तौ चावचनाः । चकारोऽप्यर्थे' इति शास्त्रदीपिकायाः सिद्धान्तचन्द्रिकाटीकायाम् ।

यद्यप्यौत्पत्तिको नित्यः शब्दोऽर्थसम्बन्धश्च, तथापि न चोदनालक्षणो धर्मः । चोदना हि वाक्यम् । न हि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यतो 'वाक्यादन्यतमस्मात्[2] पदाद् अग्निहोत्रात् स्वर्गो भवतीति गम्यते । गम्यते तु पदत्रये उच्चरिते । न चाऽत्र

होने पर भी चोदनाएं (अवचनाः) धर्म को कहनेवाली नहीं (स्युः) हो सकतीं, (अर्थस्य) [चोदनारूप वाक्य के] अर्थ की (अतन्निमित्तत्वात्) पदार्थनिमित्तक न होने से। [अर्थात् चोदना के वाक्यरूप होने से जो वाक्यार्थ जाना जाता है, वह पदार्थनिमित्तक नहीं है।]

विशेष—शास्त्र में 'वा' शब्द सर्वत्र पूर्व कथन की निवृत्ति के लिये आता है। शास्त्र-दीपिका की सिद्धान्तचन्द्रिका टीका में उत्पत्तौ चावचनाः पाठ मानकर लिखा है—'च' 'अपि' के अर्थ में है। शब्द अर्थ और सम्बन्ध के नित्य होने पर भी चोदना का प्रामाण्य नहीं है। क्योंकि चोदना के शब्द वाक्यार्थ के वाचक नहीं हैं…… (पृष्ठ १५२, निर्णयसागर संस्करण)। इस पाठ और अर्थ के अनुसार 'वा' शब्द को भी 'अपि' के अर्थ में मानकर यही अर्थ किया जा सकता है। कुतुहलवृत्ति के अनुसार सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—'वा' शब्द पूर्व कथन के प्रत्याख्यान में प्रयुक्त हुआ है। (उत्पत्तौ) जो उत्पन्न होता है, जाना जाता है वाक्यार्थ के विषय में चोदनाएं (अवचनाः) अप्रमाण हैं [करण में ल्युट]। क्या कारण है ? (अर्थस्य) धर्मावबोध लक्षणरूप अर्थ के (अतन्निमित्तत्वात्) चोदनागत पदों के [वाक्यार्थ में] निमित्त न होने से। अर्थात् चोदनारूप वाक्य का अर्थ चोदनागत पदों से नहीं जाना जाता है। सुबोधिनीवृत्ति में 'उत्पत्तौ वा रचनाः' पाठ मानकर अर्थ किया है—शब्द अर्थ सम्बन्ध के नित्य होने पर (वा) भी (उत्पत्तौ) पदार्थज्ञान की उत्पत्ति होने पर, वाक्य वाक्यार्थ के सम्बन्ध (रचनाः) पुरुषों से रचित=कल्पित होवें, (अर्थस्य) वाक्यार्थज्ञान में (अतन्निमित्तत्वात्) पदार्थज्ञान के निमित्त न होने से, अर्थात् वाक्यर्थज्ञान में पदार्थज्ञान से भिन्न कारण होने से।

व्याख्या—यद्यपि शब्द अर्थ और उनका सम्बन्ध औत्पत्तिक अर्थात् नित्य है, फिर भी धर्म चोदनालक्षणवाला नहीं है। [अर्थात् चोदनावाक्य से गम्यमान नहीं है।] चोदना=प्रेरक वचन निश्चय ही वाक्य है। अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इस वाक्य के किसी पद से 'अग्निहोत्र से स्वर्ग होता है' ऐसा अर्थ विदित नहीं होता। तीनों पदों के उच्चरित होने पर [यह अर्थ] जाना

---

१. वाक्याद्=वाक्यस्थात्। तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्। यथा मञ्चाः क्रोशन्ति=मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति।

२. यद्यपि 'अन्यतम'शब्दः सर्वादिगणे न पठ्यते, भट्टोजिदीक्षितादिभिश्चास्य सर्वनामत्वं प्रत्याख्यायते, तथापि आपिशल-पाणिनीयशिक्षयोरष्टमप्रकरणस्य प्रथमे सूत्रे 'स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने' (द्र०—अस्मत्प्रकाशितनि शिक्षासूत्राणि, पृष्ठ ६,१६); तथा कौटल्यार्थशास्त्रे 'दण्डमन्यतमस्मिन्' (अधि० ७, अ० ४ अन्ते) शिष्टप्रयोगदर्शनात् सर्वनामसंज्ञेषितव्या। क्वचिद् भाष्य-पुस्तकेषु 'अन्यतमात्' इति पाठे उपलभ्यते, स वैयाकरणम्मन्यैः संशोधितोऽर्वाचीनोऽप्रामाणिकः पाठो ज्ञेयः।

चतुर्थः शब्दोऽस्त्यन्यदतः पदत्रयसमुदायात् । न चाऽयं समुदायोऽस्ति लोके, यतोऽस्य व्यवहारादर्थोऽवगम्यते । पदानि अमूनि प्रयुक्तानि,तेषां नित्योऽर्थः । अप्रयुक्तश्च समुदायः। तस्मात् समुदायस्यार्थः कृत्रिमो व्यामोहो वा । न च पदार्था एव वाक्यार्थः । सामान्ये हि पदं प्रवर्त्तते, विशेषे वाक्यम् । अन्यच्च सामान्यम्, अन्यो विशेषः । न च पदार्था-द्वाक्यार्थविगतिः, असम्बन्धात् । असति चेत् सम्बन्धे कस्मिँश्चित् पदार्थेऽवगतेऽर्थान्तर-मवगम्येत, एकस्मिन्नवगते सर्वमवगतं स्यात् । न चैतदेवं भवति, तस्मादन्यो वाक्यार्थः ॥

स्यादेतद् । अप्रयुक्तादपि वाक्यादसति सम्बन्धे स्वभावादर्थोऽवगम इति यदि कल्प्येत, शब्दो धर्ममात्मीयं व्युत्क्रामेत् । न चैष शब्दधर्मो यदप्रयुक्तादपि शब्दादर्थः प्रतीयते । न हि प्रथमश्रुतात् कुतश्चिच्छब्दात् केचिदर्थं प्रतियन्ति । तदभिधीयते— पदधर्मोऽयं, न वाक्यधर्म. । वाक्याद्धि प्रथमावगतादपि प्रतियन्तोऽर्थं दृश्यन्ते । नैतदेवम्।

जाता है । यहां तीन पद के समुदाय के अतिरिक्त चौथा कोई शब्द नहीं है । यह [अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः] समुदाय लोक में [प्रयुक्त] नहीं है, जिससे इस [समुदाय] के वृद्ध व्यव-हार से अर्थ जाना जाये । ये पद [पृथक्-पृथक् रूप से लोक में] प्रयुक्त हैं, उनका अर्थ नित्य है। समुदाय प्रयुक्त नहीं है । इसलिये [इस पदसमुदाय से गम्यमान] अर्थ कृत्रिम है अथवा व्यामोह-रूप है।पदार्थ ही वाक्यार्थ नहीं है।पद सामान्य अर्थ में ही वर्तमान होता है,[और]वाक्य विशेष अर्थ में वर्तमान होता है । सामान्य अन्य है, और विशेष अन्य है।[अर्थात् दोनों भिन्न भिन्न हैं ।] पदों के अर्थों से वाक्य के अर्थ का ज्ञान नहीं होता, [पद और वाक्य का] सम्बन्ध न होने से । सम्बन्ध न होने पर यदि किसी पदार्थ के ज्ञात होने पर अर्थान्तर का ज्ञान होजावे, [अथवा]एक[पदार्थ] के ज्ञात होने पर सब पदार्थ जाना जायें । इस प्रकार नहीं होता, इसलिये [पदार्थ से] वाक्यार्थ भिन्न है ॥

विवरण- वाक्यात् का अर्थ है वाक्यस्थ पद से । जैसे 'मचान चिल्लाते हैं' का अर्थ होता है— 'मचान पर बैठे पुरुष चिल्लाते हैं' । कस्मिंश्चिद् अवगते –इस वाक्य से पदार्थ वाक्यार्थ का सम्बन्ध न होने पर 'किसी पद के अर्थ का ज्ञान होने पर वाक्य में प्रयुज्यमान पदों के अतिरिक्त अर्थ का ज्ञान भी हो सकता है' यह अभिप्राय दर्शाया है । और दूसरे एकस्मिन्नवगते वाक्य से 'एक पद का अर्थ ज्ञात होने पर सारा वाक्यार्थ जाना जावे' दोष दर्शाया है । अन्यो वाक्यार्थः— अर्थात् पदार्थमूलक वाक्यार्थ नहीं हो सकता ॥

व्याख्या—यह (=वाक्यार्थ की भिन्नता] होवे । परन्तु [पूर्व] अप्रयुक्त वाक्य से भी [पदार्थ और वाक्यार्थ का] सम्बन्ध न होने पर भी स्वभाव से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, ऐसी यदि कल्पना करें, तो शब्द अपने धर्म का उल्लंघन करेगा । [पूर्व] अप्रयुक्त [शब्द] से भी शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है, यह शब्द का धर्म नहीं है । किसी भी प्रथम श्रुत शब्द से कोई भी अर्थ को नहीं जानते । इस विषय में कहते हैं—यह [पूर्वोक्त] पद का धर्म है, वाक्य का धर्म नहीं है। वाक्य से तो प्रथम अवगत (=श्रुत) से भी अर्थ को जानते (=उपलब्ध करते) हुये देखे जाते

यदि प्रथमश्रुतादवगच्छेयुः, अपि तर्हि सर्वेऽवगच्छेयुः पदार्थविदोऽन्ये च। न त्वपदार्थविदोऽवगच्छन्ति, तस्मान्नैतदेवम्। ननु पदार्थविद्भिरप्यवगच्छद्भिरकृत एव वाक्यार्थसम्बन्धो भविष्यति, पदार्थवेदनेन हि संस्कृताः अवगमिष्यन्ति। यथा तमेव पदार्थं द्वितीयादिश्रवणेनेति। नेति ब्रूमः। यदि वाक्येऽन्त्यो वर्णः पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितः पदार्थेभ्योऽर्थान्तरं प्रत्याययति, उपकारस्तु तदानीं न पदार्थज्ञानादवकल्प्यते। तस्मात् कृत्रिमो वाक्यार्थप्रत्ययो व्यामोहो वा। न पदार्थद्वारेण संभवति वाक्यार्थज्ञानमिति ॥

नन्वेवं भविष्यति—सामान्यवाचिनः पदस्य गौरिति वा अश्व इति वा विशेषकं शुक्ल इति वा कृष्ण इति वा पदमन्तिकादुपनिपतति यदा, तदा वाक्यार्थोऽवगम्यते। तन्न। न हि कथमिव गौरिति वा अश्व इति वा सामान्यवाचिनः पदात् सर्वगवीषु सर्वाश्वेषु च बुद्धिरुपसर्पन्ती श्रुतिजनिता वाक्यानुरोधेन कुतश्चिद्विशेषादपवर्त्तेत। न च शुक्ल इत्यादेर्विशेषवचनस्य 'कृष्णादिनिवृत्तिर्भवति' शब्दार्थः। न चानर्थको मा भूत्, इत्यर्थपरिकल्पना शक्या। अतो न पदार्थजनितो वाक्यार्थः। तस्मात् कृत्रिमः। पदसङ्घाताः खल्वेते, सङ्घाताश्च पुरुषकृता दृश्यन्ते। यथा—

है। (आक्षेप) इस प्रकार नहीं होता। यदि प्रथम श्रुत [वाक्य] से [अर्थ को] जान लेवें, तो सभी [अर्थ को] जान लेवें पदार्थ को जाननेवाले तथा अन्य (=पदार्थ को न जाननेवाले भी)। यतः पदार्थ को न जाननेवाले [वाक्य के अर्थ को] नहीं जानते, इस कारण यह (=प्रथम श्रुत वाक्य से भी वाक्यार्थ को जानते हुये देखते हैं) इस प्रकार नहीं है। [अर्थात् आपका कथन अयुक्त है।] अच्छा तो पदार्थ को जाननेवाले [वाक्यार्थ को] जानते हुओं से भी वाक्यार्थ-सम्बन्ध अकृत होगा; [परन्तु] पदार्थज्ञान से संस्कृत हुये वाक्यार्थ को जान लेंगे। जैसे उसी पदार्थ को [पद के] द्वितीय आदि श्रवण से जान लेते हैं। ऐसा नहीं हो सकता, यह हमारा कहना है। यदि वाक्य का अन्त्य वर्ण पूर्व-पूर्व-वर्ण जनित संस्कार के साथ पदार्थों से [वाक्यार्थरूप] अर्थान्तर का बोध कराता है, तो उस अवस्था में पदार्थज्ञान से उपकार सिद्ध नहीं होता। इसलिये वाक्यार्थज्ञान कृत्रिम है अथवा व्यामोह है। पदार्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान सम्भव नहीं है॥

अच्छा तो इस प्रकार होगा—गौ अथवा अश्व इस सामान्यवाची पद का विशेषक शुक्ल अथवा कृष्ण पद जब समीप में उपस्थित होता है, तब [श्वेत वा काली गौ श्वेत वा काला अश्व ऐसा] वाक्यार्थ जाना जाता है। यह ठीक नहीं। किसी भी प्रकार सामान्यवाची गौ अथवा अश्व पद के श्रवण से उत्पन्न बुद्धि सब गौवों अथवा सब अश्वों में व्याप्त होती हुई वाक्य के अनुरोध से किसी [शुक्ल वा कृष्ण पद] विशेष से अपवर्तित नहीं होगी, अर्थात् रुकेगी नहीं। और शुक्ल इत्यादि विशेषवाचक शब्द का 'कृष्णादि की निवृत्ति होती है' यह शब्दार्थ नहीं है। [प्रयुक्त हुआ विशेषवचन शब्द] अनर्थक न होवे, इससे [कृष्णादिनिवृत्तिरूप] अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। इससे वाक्यार्थ पदार्थ से जनित (=उत्पन्न हुआ) नहीं है। इसलिये [वाक्यार्थ] कृत्रिम है। ये [चोदनारूप वाक्य] पदों के संघात हैं, और [पदों के] संघात पुरुषकृत देखे जाते हैं। यथा—'आज

नीलोत्पलवनेष्वद्य चरन्तश्चारुसंरवाः ।
नीलकौशेयसंवीताः प्रनृत्यन्तीव कादम्बाः॥

अतो वैदिका अपि पुरुषकृता इति ॥२४॥

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२५॥ (उ०)

तेष्वेव पदार्थेषु भूतानां वर्त्तमानानां पदानां क्रियाऽर्थेन समुच्चारणम् । न अनपेक्ष्य पदार्थान् पार्थगर्थ्येन वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धम् । कुतः ? प्रमाणाभावात् । न किञ्चन प्रमाणमस्ति, येन प्रमिमीमहे । न ह्यनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यान्त्यवर्णस्य पूर्ववर्णजनित-संस्कारसहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थेभ्योऽर्थान्तरे वर्त्तितुमिति ॥

नीलकमलों के वनों में विचरते हुये मधुर शब्दवाले कलहंस ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे नीले रेशमी वस्त्र धारण की हुई स्त्रियां नाच रही हों ।' इस हेतु से वैदिक [वाक्य] भी पुरुषकृत हैं ॥२४॥

विवरण—कादम्बाः—कदम्बे समूहे भवाः, भवार्थे अण्, कलहंसाः (द्र०—शब्दकल्पद्रुम) =समूह में रहनेवाले मनोहर ध्वनि करनेवाले हंस । अमर२।५।२३ की टीका में कुछ टीकाकारों ने 'कादम्ब' का 'वराख' अर्थ भी किया है । **नीलोत्पलवनेषु**—इस श्लोक का उपर्युक्त अर्थ मुद्रित पाठ के अनुसार किया है । इस श्लोक के कई पाठान्तर भी मिलते हैं । एक पाठ है—**प्रणश्यन्तीव कादम्बाः** इसका अर्थ होगा—'कलहंस ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे वे नीलकमलों में छिप गये हों' । हमें यह पाठान्तर युक्त प्रतीत नहीं होता । दूसरा पाठान्तर मद्रास विश्व विद्यालय-मुद्रित 'बृहती' टीका सहित शाबरभाष्य का इस प्रकार है—**रामकौशेयसंवीताः** । इसमें 'राम' सम्बोधन पद अलग होना चाहिये । अर्थ होगा—'हे राम ! आज कलहंस ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे रेशमी वस्त्र पहने हुये स्त्रियां नाच रही हों । तीसरा पाठान्तर न्यायरत्नमाला में पार्थसारथि मिश्र द्वारा निर्दिष्ट पाठ में मिलता है । उसका पाठ है—**रामाः कौशेयसंवीताः कादम्बा इव शोभनाः** (द्र० पूनामुद्रित शाबरभाष्य की टीका, पृष्ठ ६५) । इसका अर्थ है—'कलहंस इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, जैसे रेशमी वस्त्र पहने स्त्रियां सुशोभित हों' ॥२४॥

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२५॥

सूत्रार्थ—(तद्भूतानाम्) स्व-स्व-पदार्थों में वर्तमान पदों का (क्रियार्थेन) क्रियावाची पद के साथ (समाम्नायः) उच्चारण=पाठ देखा जाता है । [इस कारण क्रियावाचक पदसहित पदसमूह से वाक्यार्थ बोध होता है, क्योंकि] (अर्थस्य) वाक्यार्थ के (तन्निमित्तत्वात्) पदार्थ-निमित्त वाला होने से ।

व्याख्या—उन्हीं पदार्थों में वर्तमान पदों का क्रिया-अर्थवाले पद के साथ समुच्चारण है । पदबोधित अर्थों की अपेक्षा न करता हुआ वाक्य पृथक् अर्थ के रूप से अर्थान्तर में प्रसिद्ध नहीं है । किस कारण ? प्रमाण न होने से । कोई प्रमाण नहीं है, जिससे हम जानें [कि वाक्य पदार्थ की अपेक्षा न रखता हुआ अर्थान्तर का बोध कराता है । क्योंकि] पदार्थ की अपेक्षा न रखते हुये पूर्व-पूर्व वर्णजनित संस्कारसहित वाक्य के अन्त्य वर्ण की पदार्थों से अर्थान्तर में वर्तमान होने में शक्ति नहीं है ॥

नन्वर्थापत्तिरस्ति, यत् पदार्थव्यतिरिक्तमर्थमवगच्छामः । न च शक्तिमन्तरेण तदवकल्पते[1] इति । तन्न । अर्थस्य तन्निमित्तत्वात् । भवेदर्थापत्तिर्यद्यसत्यामपि शक्तौ नाऽन्यन्निमित्तमवकल्प्येत[2] । अवगम्यते तु निमित्तम् । किम् ? पदार्थाः । पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि । अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्याऽर्थं गमयन्ति । कथम् ? यत्र हि शुक्ल इति वा कृष्ण इति वा गुणः प्रतीतो भवति, भवति खल्वसावलं गुणवति प्रत्ययमाधातुम् । तेन गुणवति प्रत्ययमिच्छन्तः केवलं [3]गुणवचनमुच्चारयन्ति । संपत्स्यते एषां यथासंकल्पितोऽभिप्रायः, भविष्यति विशिष्टार्थसंप्रत्ययः । विशिष्टार्थसंप्रत्ययश्च[4] वाक्यार्थः । एवं चेद्, [5]अवगम्यते अन्यत एव वाक्याऽर्थः । को 'जातुचिद् अदृष्टा पदसमुदायस्य शक्तिरर्थाद् अवगम्यते' इति वदिष्यति ?

(आक्षेप) अर्थापत्ति प्रमाण है, जो पदार्थ से भिन्न अर्थ को जानते (=उपलब्ध करते) हैं । बिना शक्ति के वह [वाक्य अर्थान्तर को कहने में] समर्थ नहीं होता । (समाधान) ऐसा नहीं है । अर्थ के तन्निमित्त होने से । अर्थापत्ति प्रमाण हो सकती है, यदि शक्ति के न होने पर भी अन्य निमित्त न जाना जाय । वह [अन्य] निमित्त तो जाना जाता है । कौनसा निमित्त ? पदार्थ । पद अपने-अपने अर्थ को कहकर [अपने-अपने] व्यापार से निवृत्त हो जाते हैं । उसके पश्चात् पदार्थ ज्ञात होते हुये वाक्य के अर्थ का बोध कराते हैं । कैसे ? जहां शुक्ल अथवा कृष्ण ऐसा गुण प्रतीत होता है, [वहां] वह [उस शुक्ल वा कृष्ण] गुणवाले [गौ अथवा अश्व] में [विशेष] ज्ञान उत्पन्न करने में निश्चय ही समर्थ होता है । इसलिये [उस-उस] गुणवाले पदार्थ में ज्ञान की इच्छा करते हुये केवल [उस-उस] गुण को कहनेवाले शब्द का उच्चारण करते हैं । [इस केवल गुणवाचक शब्द के उच्चारण से] इनका यथासंकल्पित अभिप्राय सिद्ध हो जायेगा, [तद्गुण] विशिष्ट अर्थ का ज्ञान हो जायेगा । विशिष्टार्थ-सम्प्रत्यय ही वाक्यार्थ है । यदि ऐसा है, तो [पदसमुदाय की शक्ति से] अन्य से ही वाक्यार्थ जाना जाता है । फिर कौन 'अदृष्ट पदसमुदाय की शक्ति अर्थापत्ति से जानी जाती है' ऐसा कहेगा ?

विवरण—केवलं गुणवचनम्—जब वक्ता को यह ज्ञात होता है कि मेरा अभिप्राय श्रोता समझ जायेगा, तब वह 'शुक्ल गाय को लाओ' 'काली गाय को लाओ' न कहकर केवल 'शुक्ल को लाओ'

---

१. 'तदवकल्प्येत' इति पाठान्तरम् । २. 'अवगम्येत' इत्ययं पाठो मद्रास-विश्वविद्यालयमुद्रिते बृहतीसहिते भाष्ये दृश्यते । युक्ततरं चैतद्, उत्तरवाक्ये 'अवगम्यते तु' इति वचनात् । अन्यत्र 'अवकल्प्येत' इति पाठान्तरम् ।

३. यथा—शुक्लामानय कृष्णामानय । भवति च श्रोतुः प्रत्ययः—शुक्लां गाम् कृष्णां वा गामानेतुमयं प्रेषयति । ४. चकारोऽवधारणे ।

५. 'एवमवगम्यते चेदन्यत एव' सबृहती भाष्ये पूनामुद्रिते च पाठः । मूलपाठे धृतः पाठः सुगमः ।

अपि च, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेतदवगम्यते—'भवति हि कदाचिदियमवस्था मानसादप्याघाताद्[1] यदुच्चरितेभ्यः पदेभ्यो न पदार्था अवधार्यन्ते'। तदानीं नियोगतो वाक्यार्थं नावगच्छेयुः, यद्यस्य अपार्थगर्थ्यमभविष्यत्।[2]

अपि चाऽन्तरेणापि पदोच्चारणं यः शौक्ल्यमवगच्छति, अवगच्छत्येवाऽसौ शुक्लगुणकम्। तस्मात् पदार्थप्रत्यये एव वाक्यार्थ, नास्य पदसमुदायेन सम्बन्धः। यत्तु-'श्रौतः पदार्थो न वाक्यानुरोधेन कुतश्चिद्विशेषादपवर्त्तितुमर्हतीति'। सत्यम्, एवमेतत्। यत्र केवलः पदार्थः प्रयुज्यमानः प्रयोजनाभावादनर्थकः सञ्जायते, इत्यवगतं भवति, तत्र वाक्यार्थोऽपि तावद्भवतु, इति विशिष्टार्थताऽवगम्यते, न सर्वत्र। एवञ्च सति,

---

'काली को लाओ' इतना ही कहता है। और श्रोता भी जान जाता है कि वक्ता का तात्पर्य 'शुक्ल गाय अथवा काली गाय' से है। वह उस गुणविशिष्ट को ले आता है॥

व्याख्या—और भी, अन्वय और व्यतिरेक से यह जाना जाता है कि—'कभी मानसिक आघात से भी यह अवस्था होती है कि उच्चरित पदों से पदार्थों का अवधारण (=निश्चय) नहीं होता।' उस समय नियमित रूप से वाक्यार्थ को नहीं जानें, यदि इस (=वाक्यार्थ) की अपृथक्ता होवे।

विवरण—अन्वय=अनु+अय=अनुगति=होने पर होना। व्यतिरेक=वि+अति+रेक (रिचिर् पृथक्भावे)=विशेषरूप से अतिक्रमण करना=तात्पर्य न होने पर न होना। यहां भाष्यकार यह दर्शाते हैं कि जब पदार्थ जाना जाता है, तब वाक्यार्थ भी जाना जाता है, और जब किसी कारण से पदार्थ नहीं जाना जाता है, तब वाक्यार्थ भी नहीं जाना जाता है। इस अन्वय-व्यतिरेक से यही सिद्ध होता है कि वाक्यार्थज्ञान में पदार्थज्ञान ही कारण है॥

व्याख्या—और भी, जो शुक्लता को जानता (=उपलब्ध करता) है, [परन्तु गौ वा अश्वविशेष को दूरता के कारण उपलब्ध नहीं करता] वह [गवादि] पद के उच्चारण के बिना भी [रंभाने अथवा हिनहिनाने की ध्वनि सुनकर] शुक्ल गुणवाले [गौ वा अश्व] को जान लेता है। इसलिये पदार्थ का ज्ञान होने पर ही वाक्यार्थ [का ज्ञान होता है], इस (=वाक्यार्थ) का पदसमुदाय के साथ सम्बन्ध नहीं है [यह स्पष्ट है]। और जो कहते हो कि 'श्रौत पदार्थ वाक्य के अनुरोध से किसी [कृष्णादि] विशेष से हटने (=दूर होने) योग्य नहीं है।' यह सत्य ही है। जहां केवल पदार्थ प्रयुक्त हुआ प्रयोजन के अभाव से अनर्थक हो जाता है, ऐसा जाना जाता है, वहां वाक्यार्थ भी मुख्य होवे, इस प्रकार विशिष्टार्थता [वाक्य की] जानी जाती है, सर्वत्र नहीं। [अर्थात् जहां केवल पदार्थ प्रयुक्त हुआ भी सप्रयोजन होता है, अनर्थक नहीं होता, वहां वाक्यार्थ

---

१. 'मानसादप्यपचाराद्' इति सबृहतीभाष्ये पाठः।

२. इतोऽग्रे सर्वेषु 'नियोगतस्तु नावगच्छन्ति।' इति वाक्यं दृश्यते। तत् पूर्वस्यैव पुनरुक्तिरूपत्वाद् अनावश्यकम्।

गुणान्तरप्रतिषेधो न शब्दार्थः, इत्येतदपि परिहृतं भवति ।

अपि च प्रातिपदिकादुच्चरन्ती द्वितीयादिविभक्तिः, प्रातिपदिकार्थो विशेषक इत्याह । सा च विशेषश्रुतिः सामान्यश्रुतिं बाधेत । यच्च, 'एते पदसङ्घाताः पुरुषकृता दृश्यन्ते' इति, परिहृतं 'तत्कर्त्रस्मरणादिभिः[2] । अपि चैवञ्जातीयकेऽर्थे वाक्यानि संहर्त्तुं न किञ्चन पुरुषाणां बीजमस्ति ।।२५।।

लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ।।२६।।(उ०)

सामान्य श्रुतिलब्ध ही होता है ।] इस प्रकार स्वीकार करने पर गुणान्तर का प्रतिषेध शब्दार्थ नहीं है, यह दोष भी परिहृत हो जाता है ।

और भी, प्रातिपदिक से उच्चारित द्वितीयादि विभक्ति [है, उसका] प्रातिपदिकार्थ विशेषक है, ऐसा कहा गया है । [अर्थात् कर्मादि अर्थों में जो प्रातिपदिक उससे द्वितीयादि विभक्तियां होती हैं । इस प्रकार द्वितीयादि विभक्ति प्रातिपदिकार्थ के साथ अन्वित होकर अर्थ को प्रकाशित करती हैं । अन्यथा] वह [द्वितीयादि] विशेषश्रुति [सामान्य प्रातिपदिक] श्रुति को बाधित करे । और जो 'ये पदसंघात पुरुषकृत देखे जाते हैं' [तद्वत् चोदनावाक्य भी पुरुषकृत होंगे] कहा, उस का परिहार कर्ता के अस्मरण आदि द्वारा कर दिया है (द्र०-पृष्ठ ४१) । और भी, इस प्रकार के [अतीन्द्रिय] अर्थ में वाक्यों का संघटन करने में पुरुषों के सम्बन्ध में कोई बीज (=प्रमाण) नहीं है ।।२५।।

विवरण—प्रातिपदिकार्थो विशेषक इत्याह – यह निर्देश विभक्ति-विधायक कर्मणि द्वितीया (२।३।२) आदि विभक्ति-विधायक, तथा ङ्याप्प्रातिपदिकात्; स्वौसजमौट्० (४।१।१-२) सूत्रों के एक वाक्य पक्ष को स्वीकार करके किया है । इस पक्ष में अर्थ होता है—कर्मादिवाचक प्रातिपदिक से द्वितीयादि विभक्तियां होती हैं । इसी के साथ वचनविधायक बहुषु बहुवचनम्, द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२१, २२) सूत्रों के सम्बन्ध जोड़ने पर पूरा अर्थ होता है—'कर्मत्वादियोग्य अर्थवाले प्रातिपदिक से एकत्वादि अर्थ में द्वितीयादि विभक्तियों के एकवचन आदि होते हैं ।'

परिहृतं तद्—भाष्यकार ने कर्त्रस्मरण आदि के द्वारा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में पूर्व (पृष्ठ ४१ में) लिखा है । उसे ही यहां संकेतित किया है । सूत्रकार इस दोष का उत्तर अगले सूत्र द्वारा देंगे ।।२५।।

लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ।।२६।।

सूत्रार्थ—[भाष्यानुसार शब्दव्यत्यय] से (लोके) लोक में (सन्निकर्षात्) [इन्द्रिय-अर्थ के] सन्निकर्ष से [अर्थों को उपलब्ध करके] (प्रयोगसन्निकर्षः) पदों की समीपता=वाक्य

---

१. अयमस्मद्गुरुसम्प्रदायानुगतः पाठः । अन्यत्र 'तदस्मरणादिभिः' इत्येव पाठः ।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ ४१ ।

लौकिकेषु पुनरर्थेषु प्रत्यक्षेणार्थमुपलभ्य सन्नियमः सन्निबन्धनं शक्यं तत्र संहर्तुम् एवञ्जातीयकानि वाक्यानि नीलोत्पलवनेष्वद्येति । तस्माद् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्येतेभ्य एव पदेभ्यो ये अर्था अवगताः तेभ्य एवैतदवगम्यते अग्निहोत्रात् स्वर्गो भवतीति। पदेभ्य एव पदार्थप्रत्ययः, पदार्थेभ्यो वाक्यार्थं इति ॥२६॥
इति वेदस्याऽर्थप्रत्यायकत्वाऽधिकरणम्।।७।।

रचना (स्यात्) हो सकती है। [परन्तु वैदिक स्वर्गादि अर्थों का इन्द्रियसन्निकर्ष न होने से 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि वाक्यरचना पौरुषेय नहीं है।]

विशेष—इस सूत्र का अर्थ भाष्य और वृत्तियों में सर्वथा अस्पष्ट है । भाष्य के सूत्र-व्याख्यान से प्रतीत होता है कि भाष्यकार ने सूत्रगत सन्नियम और सन्निकर्ष शब्दों (=प्रातिपदिक मात्रों) का स्थान विपर्यय करके **लोके सन्निकर्षात् प्रयोगसन्नियमः स्यात्** रूप में रखकर व्याख्यान किया है। शास्त्रदीपिका की सिद्धान्तचन्द्रिका टीका में स्पष्ट लिखा है—एवं च व्यवहितविपरिणतानुषङ्गेण व्याख्येयम् । आगे सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—

(लोके) लोक में (सन्निकर्षात्) सन्निकर्ष प्रमाणान्तर सम्बन्ध होने से (प्रयोगसन्नियमः) प्रयोग का नियम (स्यात्) हो सकता है, पुरुषाधीन प्रयोगव्यवस्था युक्त हो सकती है । परन्तु यहां (=वेद में) प्रमाणान्तर (=इन्द्रियसन्निकर्ष) से प्रतीयमान अर्थ की विषयता न होने से युक्त नहीं है। सिद्धान्तचन्द्रिका, पृष्ठ १६० ।

सुबोधिनीवृत्ति में—(लोके) लौकिक शब्दों में पदार्थज्ञानपूर्वक (सन्नियमात्) प्रयोग होने से वेद में भी गुरुपरम्परा से ज्ञानपूर्वक (प्रयोगसन्निकर्षः) प्रयोग की समीपता की उपपत्ति होवे ।

कुतुहलवृत्ति में--(लोके) लोक में (सन्नियमात्) प्रमाणान्तर से गृहीत अर्थ में (प्रयोगसन्निकर्षः) प्रयोग का पुरुषसम्बन्ध (स्यात्) होवे। वेद में प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है ।

व्याख्या—**लौकिक अर्थों में प्रत्यक्ष से अर्थ को प्राप्त करके वहां** (=उन अर्थों में) **नीलोत्पलवनेष्वद्य इत्यादि प्रकार के वाक्यों की रचना के लिये सन्नियम=सन्निबन्धन** [पुरुषों द्वारा] **शक्य है =संभव है। इसलिये** अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः **इत्यादि वाक्यों से ही पदों के द्वारा जो अर्थ जाने गये हैं, उन्हीं से यह जाना जाता है कि—अग्निहोत्र से स्वर्ग होता है (=स्वर्ग मिलता है)। पदों से पदार्थों का ज्ञान होता है, और पदार्थों से वाक्यार्थ** [जाना जाता है] ॥२६॥

[वेदापौरुषेयत्वाधिकरणम् ।।८।।]

वेदाँश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ।।२७।। (पू०)

उक्तं—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० १।१।२) इति । यतो न पुरुषकृतः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः । तत्र पदवाक्याश्रय आक्षेपः परिहृतः । इदानीमन्यथाऽऽक्षेप्स्यामः । 'पौरुषेयाश्चोदनाः' इति वदामः । सन्निकृष्टकालाः कृतका वेदा इदानीन्तनाः । ते च चोदनानां समूहाः । तत्र पौरुषेयाश्चेद्वेदाः, असंशयं पौरुषेयाश्चोदनाः । कथं पुनः कृतका वेदा इति ? केचिन्मन्यन्ते—यतः पुरुषाख्याः । पुरुषेण हि समाख्यायन्ते वेदाः—काठकं कालापकं पैप्पलादकं [1]मौद्गलमिति । न हि सम्बन्धाद् ऋते समाख्यानम् । न च

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ।।२७।।

सूत्रार्थ—(च) और (एके) कुछ लोग (वेदान्) वेदों को (सन्निकर्षम्) निकट काल का कहते हैं, क्योंकि वे (पुरुषाख्याः) पुरुषविशेष के नाम से कहे जाते हैं । [यथा—काठकम्, कालापकम्=कठ और कलापी द्वारा रचित ।]

विशेष—चकार 'तु' अर्थ में है, ऐसा सिद्धान्तचन्द्रिकाकार का मत है (शास्त्रदीपिका पृष्ठ १६१) । सन्निकर्षम् पद का सरलता से सम्बन्ध नहीं होता । अतः सुबोधिनीकार ने लिखा है—असमानवचनत्वं चिन्त्यम् ।

व्याख्या—पूर्व कह चुके हैं कि—'चोदना से लक्षित अर्थ धर्म है' । क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध पुरुषों द्वारा किया हुआ नहीं है । इस विषय में पद और वाक्य के आश्रय से होनेवाले आक्षेपों का परिहार पूर्व कर दिया है । इस समय हम अन्य प्रकार से आक्षेप करेंगे । 'चोदनाएं पौरुषेय हैं' ऐसा हम कहते है । समीप के काल के [पुरुषों से] बनाये गये वेद वर्तमान काल के हैं । और वे चोदनाओं के समुदाय हैं। अतः यदि वेद पौरुषेय हैं,तो निस्सन्देहचोदनाएं भी पौरुषेय हैं। वेद [पुरुषों से] बनाये गये कैसे हैं ? कुछ लोग मानते हैं—जिस कारण वे पुरुषाख्य हैं । पुरुष से ही वेद कहे जाते हैं [अर्थात् पुरुषों के नामों से ही वेदों का व्यवहार होता है]—काठकम्, कालापकम्, पैप्पलादकम्, मौद्गलम् । सम्बन्ध के बिना[पुरुष नाम से]कथन नहीं होता। पुरुष

---

१. बहुत्र 'मौहलम्' इत्यपपाठः । जयन्तभट्टस्तु न्यायमञ्जर्यामिहस्थं भाष्यपाठमित्थमुदाजहार—'काठकं कालापकं मौद्गलं पैप्पलादकमिति'(पृष्ठ२५६)।मौद्गलशाखा तु ऋग्वेदस्य शाकलचरणस्येति (द्र०—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, ऋग्वेद की शाखाएं) । इह कृष्णयजुषः काठकं कालापकमिति द्वे शाखे निर्दिष्टे । तथैव अथर्वणः पैप्पलादशाखया सह मौदकशाखाया निर्देशो युज्यते । पतञ्जलिरपि 'तेन प्रोक्तम्' सूत्रभाष्ये (४।३।१०१) पठति—'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या तद्भेदाच्चैतद् भवति—काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकम्' इति । अतोऽप्यनुमीयत इह 'मौदकम्' इत्येव युक्ततरः पाठः ।

पुरुषस्य[1] शब्देनास्ति सम्बन्धोऽन्यदतः कर्त्ता पुरुषः कार्यः शब्द इति । ननु प्रवचनलक्षणा समाख्या स्यात् । नेति ब्रूमः । असाधारणं हि विशेषणं भवति । एक एव हि कर्त्ता, बह्वोऽपि प्रब्रूयुः । अतोऽस्मर्यमाणोऽपि चोदनायाः कर्त्ता स्यात् । तस्मान्न प्रमाणं चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति ॥२७॥

का शब्द के साथ इससे भिन्न कोई सम्बन्ध नहीं है कि पुरुष कर्ता है और शब्द [उससे] कार्य है। अच्छा तो प्रवचनलक्षणा (=अध्यापननिमित्तक) समाख्या (=नाम) होवे। नहीं, ऐसा हम कहते हैं। विशेषण असाधारण [धर्मवाला] ही होता है। कर्ता एक ही होता है, प्रवचन बहुत भी कर सकते हैं। इसलिये चोदना के कर्ता का स्मरण न होते हुये भी वह होगा ही। इसलिये (=पुरुषकर्तृक होने से) चोदना से लक्षित अर्थ धर्म में प्रमाण नहीं है ॥२७॥

विशेष—एके—सूत्रस्थ एके शब्द का अर्थ कुतुहलवृत्तिकार ने 'तार्किक' अर्थात् 'नैयायिक' किया है। यह चिन्त्य है। नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हुये भी अतीत अनागत मन्वन्तरों और कल्पान्तरों में सम्प्रदाय के अविच्छेद से वेदों को नित्य मानते हैं।[2] उनका प्रामाण्य आप्तप्रामाण्य से स्वीकार करते हैं। जैसे ज्ञान की पराकाष्ठा ईश्वर में व्यासभाष्य (१।२५) में मानी है, इसी प्रकार आप्तत्व की पराकाष्ठा भी ईश्वर में है। अतः वेद का प्रामाण्य उनके मत में परमाप्त ईश्वर से प्रादुर्भाव होने से माना जाता है। इसी प्रकार 'इस शब्द की इस अर्थ में शक्ति है' इसे भी ईश्वरसंकेत स्वीकार करते हैं। **पुरुषाख्याः**—वेद कठादि पुरुषों के नाम से कहे जाते हैं। यथा **काठकम्** आदि। इस मत में शास्त्रदीपिका के सिद्धान्तचन्द्रिकाकार ने काठकम् आदि में **अधिकृत्य कृते ग्रन्थे** (अष्टा० ४।३।८७) से तद्धित प्रत्यय माना है। यह अशुद्ध है। **अधिकृत्य कृते ग्रन्थे** से प्रत्यय नहीं होता है। जहां व्यक्तिविशेष को ध्यान में रखकर ग्रन्थ रचा गया हो—जैसे—**सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः** (काशिका) अर्थात् जिसमें सुभद्रा के विषय में लिखा गया हो, वह 'सौभद्र' कहाता है। काठकादि संहिताओं में कठादि का वर्णन नहीं है। इसलिये पूर्वपक्षी के मतानुसार **कृते ग्रन्थे** (अष्टा० ४।३।११६) से तद्धित प्रत्यय जानना चाहिये। जैसे—**वररुचिना कृतो ग्रन्थः वाररुचः; वाररुचाः श्लोकाः** (=वररुचि के द्वारा रचा ग्रन्थ वा श्लोक)। इसी प्रकार कठ द्वारा रचित काठक, कलापी द्वारा रचित कालापक आदि होंगे। यहां यह भी जानना आवश्यक है कि पाणिनि ने प्रोक्त (=प्रवचन) प्रकरण में कठादि शब्दों से तत्तत् प्रत्ययों का विधान किया है। पूर्वपक्षानुसार **कृते ग्रन्थे** प्रकरण में उनका निर्देश अपेक्षित होगा।

मौद्गलम्—इसका पाठान्तर **मौहलम्** मिलता है, वह अपपाठ है। वस्तुतः यहां शुद्धतर पाठ **मौदकम्** होना चाहिये। भाष्यकार ने कृष्णयजुः की दो शाखाओं के नाम लिखे हैं—**काठकम् कालापकम्**। पैप्पलादक शाखा अथर्ववेद की है। अतः इसके साथ का दूसरा नाम भी

---

१. 'पुरुषस्यान्यः शब्देनास्ति सम्बन्धो यदतः कर्ता' इति पाठान्तरं पूना-संस्करणे।

२. मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदात् वेदानां नित्यत्वम्। वात्स्यायन भाष्य २।१।६८॥

अनित्यदर्शनाच्च ॥२८॥ (पू०)

जननमरणवन्तश्च वेदार्थाः श्रूयन्ते । **बवरः प्रावाहणिरकामयत (तै० सं० ५।१।१०)**; **कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत** (तै० सं० ७।२।२), इत्येवमादयः । उद्दालकस्यापत्यं गम्यते औद्दालकिः । यद्येवं,प्राग् औद्दालकिजन्मनो नाऽयं ग्रन्थो भूतपूर्वः। एवमप्यनित्यता ॥२८॥

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥२९॥ (उ०)

उक्तमस्माभिः, शब्दपूर्वत्वमध्येतॄणाम् । केवलमाक्षेपपरिहारो वक्तव्यः, सोऽभिधीयते ॥२९॥

अथर्वशाखा का ही होना चाहिये । मौद्गल शाखा ऋग्वेद की है (द्र०—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, ऋग्वेद की शाखाएं प्रकरण) । पतञ्जलि ने भी महाभाष्य ४।३।१०१ में इस प्रकार का एक पाठ दिया है—'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या । तद्भेदाच्चैतद् भवति—काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम्' इति । इन में तीन नाम समान हैं, अतः चौथा नाम भी पतञ्जलिनिर्दिष्ट मौदकम् ही युक्त है ।

विशेष—प्रकृत वेद शब्द का अभिप्राय, तथा पूर्वोत्तरमीमांसा के सिद्धान्तनुसार इस अधिकरण की व्याख्या हम अधिकरण के अन्त के दर्शायेंगे ॥२७॥

अनित्यदर्शनाच्च ॥२८॥

सूत्रार्थ—[वेद में] (अनित्यदर्शनाच्च) अनित्य (=जन्ममरणधर्मा) पुरुषों का दर्शन होने से (च) भी [वेद पुरुषकृत हैं] ।

व्याख्या - जननमरणवाले वेदार्थ सुना जाते हैं । [अर्थात् उत्पत्तिमरणधर्मा मनुष्यों का वेद में वर्णन मिलता है ।]बवरः प्रावाहणिरकामयत (तै० सं० ५।१।१०)=प्रवहण के पुत्र बवर ने कामना की; कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत (तै० सं० ७।२।२)= उद्दालक के पुत्र कुसुरुविन्द ने कामना की, इत्यादि । औद्दालकि उद्दालक का पुत्र जाना जाता है । यदि ऐसा है, तो औद्दालकि के जन्म से पूर्व यह ग्रन्थ नहीं है । इस प्रकार भी वेद की अनित्यता है ॥२८॥

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥२९॥

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्ष को हटाने के लिये है, (शब्दपूर्वत्वम्) [अध्येताओं का] शब्दपूर्वत्व (=जैसे अध्येता गुरु से आजकल वेद का अध्ययन करते हैं, वैसे ही वर्त्तमान गुरुओं ने अपने से पूर्वत्व) (उक्तम्) कह दिया ।

विशेष—भाष्यकार का सूत्रार्थ अस्पष्ट है । सुबोधिनीकार ने इस प्रकार (उक्तम्) कह दिया । अर्थात् शब्द के नित्य होने से वेद भी नित्य है । यह अर्थ स्पष्ट एवं संगत है ॥२९॥

व्याख्या—हम कह चुके अध्येताओं के शब्दपूर्वत्व के विषय में । केवल दो आक्षेपों का परिहार कहना है, वह [अगले सूत्रों से] कहा जाता है ॥२९॥

आख्या प्रवचनात् ॥३०॥ (उ०)

विशेष—अध्येता का शब्दपूर्वत्व क्या है, और यह सूत्रकार ने अथवा भाष्यकार ने पूर्व कहां कहा है ? यह अस्पष्ट है। कुतुहलवृत्ति में अध्येताओं के शब्दपूर्वत्व के विषय में इस प्रकार लिखा है—'शब्द=उच्चारण पूर्व=पूर्व अध्ययन। पूर्व वेदाध्ययनपूर्वक ही उत्तरोत्तर अध्ययन अध्येताओं द्वारा होता है, यह कहा है। यह विवादग्रस्त [कठादि का] वेदाध्ययन अध्ययनपूर्वक है, अध्ययन होने से, साम्प्रतिक अध्ययन के समान। इस अनुमान से वेद का कोई भी प्रथम अध्येता नहीं है। जिससे वेद की सकर्तृकता सिद्ध होवे।' इस कल्पना का मूल भट्ट कुमारिल की पूर्व अधिकरण की निम्न कारिका है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वाद्[1] अधुनाध्ययनं यथा॥ (पृष्ठ ९४९, काशी सं०)

अर्थात् वेद का सम्पूर्ण अध्ययन गुरु से अध्ययनपूर्वक है। वेदाध्ययन वाच्य[1] होने से। जैसे साम्प्रतिक वेद का अध्ययन।

यहां यह भी विवेचनीय है कि भाष्यकार ने **अस्माभिः** पद का जो प्रयोग किया है, वह उन्होंने अपने लिये किया है, अथवा सूत्रकार के लिये ? यदि अपने लिये प्रयोग किया है, तो सूत्र के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इतना ही नहीं, भाष्य में पूर्वत्र कहीं भी वेद के अध्येताओं का गुर्वध्ययनपूर्वकत्व नहीं कहा। केवल शब्दार्थ के सम्बन्ध में कहा है कि—'जैसे हम वृद्धव्यवहार से शब्दार्थ-सम्बन्ध का ग्रहण करते हैं, वैसे ही उन वृद्धों ने अपने पूर्व वृद्धों से शब्दार्थ-सम्बन्ध जाना था, उन्होंने उनसे पूर्व वृद्धों से। इस प्रकार शब्दार्थ-सम्बन्ध अनादि है (द्र०—पृष्ठ ४४)। और यदि **अस्माभिः** का निर्देश सूत्रकार के लिये है, तो उन्होंने भी यह बात कहीं नहीं कही। यदि कहा जाये कि 'सूत्र में ही वह सब कथन है, जो भाष्य में कहा गया है'[2] तो यह भी ठीक नहीं। उत्तरमीमांसा का अद्वैत विशिष्टाद्वैत द्वैत आदि सभी मतानुयायियों ने भाष्य किया है। क्या उन सभी के भाष्यों में जो परस्परविरुद्ध सिद्धान्त हैं, वह सब सूत्रकार को अभिप्रेत हैं ? हम समझते हैं कोई भी बुद्धिमान् इस बात को स्वीकार नहीं करेगा। अतः प्रकृत सूत्र का सुबोधिनीवृत्तिकार का अर्थ (जो ऊपर दर्शाया है) वह अधिक युक्त है॥२९॥

आख्या प्रवचनात् ॥३०॥

सूत्रार्थ—[वेद की] (आख्या) काठक आदि संज्ञा (प्रवचनात्) विशेष वचन=कथन=अध्यापन से [व्यवहृत होती है]।

---

१. 'वेदाध्ययनसामान्यात्' पाठान्तर है। तदनुसार—'वेदाध्ययन सामान्य होने से' अर्थ होगा।

२. द्र०—'वैयाकरणों का मत—'सूत्रेष्वेव तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके'।

यदुक्तम्—'कर्तृलक्षणा समाख्या काठकाद्या' इति। तदुच्यते। नेयमर्थापत्तिः। अकर्तृभिरपि ह्येनामाचक्षीरन्। प्रकर्षेण वचनमनन्यसाधारणं कठादिभिरनुष्ठितं स्यात्। तथापि हि समाख्यातारो भवन्ति। स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी। कठः पुनरिमां केवलां शाखामध्यापयाम्बभूवेति। स बहुशाखाध्यायिनां सन्निधावेकशाखाध्यायी अन्यां शाखामनधीयानः, तस्यां प्रकृष्टत्वादसाधारणमुपपद्यते विशेषणम् ॥३०॥

व्याख्या—और जो कहा है—'काठक आदि संज्ञा कर्तृलक्षणा (=कर्त्ता को लक्षित करनेवाली) है। इस विषय में कहते हैं। यह अर्थापत्ति नहीं है। जो कर्त्ता नहीं हैं उनसे भी इस संज्ञा को कहा जा सकता है 'विशेष-वचन=कथन=अध्यापन,अर्थात् अनन्यसाधारण प्रवचन कठादि पुरुषों के द्वारा अनुष्ठित हुआ होगा। उस प्रकार भी कहनेवाले होते हैं। [अर्थात् कठादि पुरुषों ने जिनका अनन्यसाधारण अध्यापन कराया, उनका नाम उनके नाम पर प्रसिद्ध हो गया।] [कठादि का अनन्यसाधारण प्रवचन कैसे माना जाये ? इस पर कहते हैं—] यह परम्परा से स्मरण किया जाता है कि 'वैशम्पायन सब शाखाओं का अध्येता था'। कठ ने केवल इस (=काठक) शाखा का ही अध्यापन कराया। अतः वह बहुत शाखाओं के अध्येताओं की सन्निधि में एक शाखा का ही अध्ययन करनेवाला, अन्य शाखाओं का अध्ययन न करनेवाला, उस शाखा में प्रकृष्ट (=उत्कृष्ट) होने के कारण [उसके द्वारा अध्यापित शाखा का काठक यह] असाधारण विशेषण उपपन्न होता है ॥३०॥

विवरण भाष्यकार द्वारा निर्दिष्ट 'वैशम्पायन सब शाखाओं का अध्येता था, यह परम्परा से स्मरण किया जाता है' तत्त्व हमारी दृष्टि में नहीं आया। यह परम्परा मीमांसकों में रही भी हो, तब भी वस्तुस्थिति से विपरीत होने से चिन्त्य है। शाखाओं के प्रवचन का जो इतिहास उपलब्ध होता है, उसके अनुसार कृष्ण द्वैपायन ने वैशम्पायन को कृष्णयजुः का जो प्रवचन किया था, उसका पुनः प्रवचन वैशम्पायन ने आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ, कलापी इन नौ शिष्यों को किया (द्र०—काशिका ४।३।१०४)। तैत्तिरीय काण्डानुक्रम (=काण्डानुक्रमणी) के अनुसार वैशम्पायन का एक शिष्य यास्क भी था[1], और यास्क का शिष्य वैशम्पायन का लघुभ्राता तित्तिरि। इस प्रकार वैशम्पायन के १० साक्षात् शिष्यों के नाम इतिहास में सुरक्षित हैं। सम्भव है वैशम्पायन के अन्य भी शिष्य रहे होंगे। वैशम्पायन का एक नाम चरक है (द्र०—काशिका ४।३।१०४)। यह नाम श्वेतकुष्ठ वा गलितकुष्ठ के कारण पड़ा था[2]। कठ आदि शिष्यों ने वैशम्पायन से प्राप्त यजुः का अपने-अपने शिष्यों को जिस विशिष्ट पाठ का प्रवचन किया, वह वैशम्पायन के कठ कलापि आदि के नाम से काठक कालापक आदि के रूप से प्रसिद्ध हुआ।

---

१. वैशम्पायनो यास्कायैतां [तथा] प्राह पैङ्ग्ये। यास्कस्तित्तिरये प्राह उखाय प्राह तित्तिरिः। काण्डानुक्रम ३।२५ (तै० सं० भट्टभास्करभाष्य, मैसूर सं०, भाग १ के अन्त में मुद्रित)।

२. इस विषय के लिये देखिये—हमारी 'वैदिकसिद्धांतमीमांसा' में 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' शीर्षक लेख (पृष्ठ १७८-१९२)।

परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥३१॥ (उ०)

यच्च प्रावाहणिरिति। तन्न। प्रवाहणस्य पुरुषस्याऽसिद्धत्वाद्, न प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणिः। प्रशब्दः प्रकर्षे सिद्धो वहतिश्च प्रापणे, न त्वस्य समुदायः क्वचित् सिद्धः। इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धस्तथा क्रियायामपि कर्त्तरि। तस्माद् यः प्रवाहयति

कठादि का शाखा-प्रवचन मन्त्रार्थ तथा यज्ञादि कर्म की दृष्टि से किया गया प्रवचन वैशम्पायन के प्रवचन से पर्याप्त भिन्न था[1]। कठादि के शिष्यों ने पुनः अपने शिष्यों को विशिष्ट पाठ का प्रवचन किया। इस प्रकार कृष्णयजुः के विभिन्न चरणों की ८४ शाखाएं[2] प्रवृत्त हुईं। यतः वैशम्पायन का एक नाम चरक था, अतः उसके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त सभी ८४ शाखाएं सामान्यरूप से चरक नाम से प्रसिद्ध हुईं। और उनके द्वारा यज्ञ में आध्वर्यव कर्म करानेवाले चरकाध्वर्यु कहलाये। हमारा विचार है कि शबर स्वामी द्वारा लिखित 'वैशम्पायन सर्वशाखाध्यायी था' का मूल कृष्णयजुःशाखाओं का चरक सामान्य नाम का व्यवहार है ॥३०॥

परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—[और जो वेद के पौरुषेयत्व में] (परम्) अन्य अनित्यदर्शन हेतु दिया है, वह (तु) ठीक नहीं[3]। [क्योंकि ऐसे शब्द] (श्रुतिसामान्यमात्रम्) शब्द के सामान्य अर्थ (=धात्वर्थ)-मात्र के वाचक हैं।

व्याख्या—और जो 'प्रावाहणिः' इत्यादि [अनित्यदर्शन कहा]। वह नहीं है। प्रवाहण नामवाले पुरुष के असिद्ध होने से प्रवाहण का अपत्य प्रावाहणि भी नहीं है। 'प्र' शब्द प्रकर्ष (=उत्कर्ष) में सिद्ध (=प्रसिद्ध) है, और 'वह' धातु प्रापण (=प्राप्ति) में, किन्तु इसका समुदाय [प्रावाहणि] कहीं प्रसिद्ध नहीं है। इकार (=इञ्प्रत्यय) जैसे अपत्य में सिद्ध है, वैसे ही कर्तृविशिष्ट क्रिया में भी [सिद्ध है]। इसलिये जो उत्कृष्टतया प्राप्त कराता है वह प्रावाहणि

---

१. पूर्वतः प्राप्त शाखा ब्राह्मण वा शास्त्रीय वाङ्मय में यह नियम सामान्यरूप से देखा जाता है कि उत्तरोत्तर प्रवचनकर्ता पूर्वतः प्रोक्त ग्रन्थ में परिवर्तन न्यूनाधिक्य और नये अंश का सन्निवेश करके नये रूप में प्रवचन करते हैं। कभी-कभी एक ही आचार्य के द्वितीय तृतीय प्रवचन में भी प्रथम प्रवचन से भेद हो जाता है। इस प्रकार के प्रवचनभेद से पाणिनीय सूत्रपाठ में उत्पन्न पाठान्तरों का निर्देश महाभाष्य काशिका आदि में मिलता है (द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ २१५-२१६, सं० २०३०)। इस प्रवचनशैली के कारण पुराने अंशों के साथ नये अंशों का संकलन हो जाता है। आयुर्वेदीय चरकसंहिता के प्रवक्ता के 'संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्' (सिद्धिस्थान १२।६६) शब्दों में पुराना ग्रन्थ नवीन बन जाता है।

२. द्र०—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, 'कृष्णयजुः शाखाएं' प्रकरण।

३. 'तुः' पक्षनिवृत्तौ। 'तुनर्थे' इति कुतुहलवृत्तिः।

स प्रावाहणिः। ववर इति शब्दानुकृतिः। तेन यो नित्योऽर्थस्तमेवैतौ शब्दौ वदिष्यतः। अतः उक्तं—परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रमिति ॥३१॥

होता है। 'बवर' यह शब्द का अनुकरण है। इससे जो नित्य अर्थ है, उसी को ये दोनों शब्द कहेंगे। इसलिये (सूत्रकार ने) कहा है—शब्द सामान्यमात्र अर्थों को कहनेवाला है ॥३१॥

विवरण—इकारस्तु अपत्ये— अपत्य (=संतान) अर्थ में अकारान्त प्रातिपदिक से **अत इञ्** (अष्टा० ४।१।८५) नियम से इञ् होता है। जैसे दशरथ का अपत्य दाशरथि राम। **क्रियायामपि कर्त्तरि**—पूर्व 'वह' धातु का निर्देश करने से विदित होता है कि भाष्यकार शबरस्वामी 'वह' धातु से किसी 'इ' प्रत्यय का निर्देश स्वीकार करते हैं। पाणिनीय शब्दानुशासन के अनुसार एक 'इ' प्रत्यय है—**इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** (वा० ३।३।१०८) वार्तिक से विहित 'इक्' रूप। यह केवल धातुनिर्देश में होता है, कर्ता में नहीं होता। जैसे—भिदिः छिदिः। दूसरा है—**इण् अजादिभ्यः** (वा० ३।३।१०८) वार्तिक से विहित इण् (पाठा० 'इञ्) रूप है। जैसे—आजिः आतिः। इसका बहुलग्रहण से कर्ता में भी विधान माना जा सकता है। तीसरा है औणादिक **वसिवपि……… यजिराजि……… वारिभ्य इण्** (उ० ४।१२६) सूत्र विहित इण्। यह कर्ता में भी होता है। परन्तु चाहे वार्तिकस्थ इण् (पाठा० इञ्) हो चाहे औणादिक, इनसे प्रपूर्वक वह धातु से **प्रवाहि** शब्द उपपन्न होगा। यद्यपि भाष्यकार ने प्रत्यक्षनिर्देश नहीं किया, तथापि यदि हम कथंचित् भाष्यकार के अभिप्राय की कल्पना करके **प्रवाहण** शब्द से **अश्व इवाचरति=अश्वति** के समान आचार अर्थ में क्विप् करके प्रवाहण को धातु बनाकर 'इण्' वा इञ् प्रत्यय करें, तब भी इण् वा इञ् से 'प्र' के अकार को वृद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि **अत उपधायाः** (अष्टा० ७।२।११६) के नियम से उपधा को ही वृद्धि होती है। अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि तो **तद्धितेष्वचामादेः** (अष्टा० ७।२।११७) के नियम से तद्धित प्रत्यय परे ही होती है। अतः यहां किसी भी प्रकार क्रियावाची शब्द से उत्पन्न इण् वा इञ् कृदन्त प्रत्यय परे 'प्रवाहण' के आदि अकार को वृद्धि नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि **सांकूटिनम् सांराविणम्** के समान 'प्रवाहणि' में आद्यच् को वृद्धि हो जायेगी, तो यह कथन भी व्याकरणानभिज्ञता का बोधक होगा। सांकूटिन सांराविण शब्दों में सम्पूर्वक 'कूट' और 'रु' धातु से '**अभिविधौ भाव इनुण्**' (अष्टा ३।३।४४) से इनुण् प्रत्यय होकर संकूटिन और 'संराविन्' शब्द बनते हैं। तत्पश्चात् **अण् इनुणः** (५।४।१५) से इनुणन्त शब्दों से स्वार्थ में 'अण्' तद्धित प्रत्यय होता है, फिर **तद्धितेष्वचामादेः** (७।२।११७) से आद्यच् को वृद्धि होती है। अतः भाष्यकार की यह कल्पना नितान्त अशुद्ध है। सम्भवतः इसी कारण कुतुहलवृत्तिकार वासुदेव दीक्षित, जो सिद्धांतकौमुदी पर बालमनोरमा टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध वैयाकरण हैं, ने भाष्यकार की इस कल्पना को छूआ भी नहीं। उन्होंने प्रवाहनित्यता के रूप में प्रतिकल्प **प्रावाहणि बवर** (=प्रवाहण का पुत्र बवर) की सत्ता स्वीकार करके समाधान किया है। परन्तु यह समाधान शबर स्वामी भट्ट कुमारिल आदि के मतानुसार चिन्त्य है। इनके मत में न सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, और ना ही महाप्रलय होता है। ये सृष्टि को अनादिसिद्ध अनन्त मानते हैं ॥३१॥

[1]अथ कथमवगम्यते—नायमुन्मत्तबालवाक्यसदृश इति ? तथाहि पश्यामः—वनस्पतयः सत्रमासत, सर्पाः सत्रमासत इति। यथा—जरद्गवो गायति मत्तकानि। कथं नाम जरद्गवो गायेत् ? कथं वा वनस्पतयः सर्पा वा सत्रमासीरन्निति ? उच्यते—

कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् ॥३२॥ (उ०)

व्याख्या—'यह कैसे जाना जाता है कि—यह (=वेद) उन्मत्त एवं बालक के वाक्य के सदृश नहीं है ? जैसा कि हम देखते हैं—वनस्पतयः सत्रमासत, सर्पाः सत्रमासत=वनस्पतियां सत्र[2] (=कर्मविशेष) में बैठीं; सर्प सत्र में बैठे। [अर्थात् वनस्पतियों और सर्पों ने सत्र किया।] जैसे कोई कहे—'जरद्गव (=बूढा सांड) मत्त (=मस्त) करनेवाले गीतों को गाता है'। भला जरद्गव कैसे गीत गायेगा ? [इसी प्रकार] वनस्पतियां अथवा सर्प कैसे सत्र करेंगे ? [सूत्रकार] समाधान कहते हैं—

कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् ॥३२॥

सूत्रार्थ—(वा) पूर्वपक्ष की निवृत्ति में, अर्थात् उक्तदोष नहीं है। (कृते) कर्म में (विनियोगः) विशेष नियोग=सम्बन्ध अर्थात् अन्वय (स्यात्) होगा, (कर्मणः) कर्म के साथ [विधि की प्रशंसा द्वारा] (संबन्धात्) सम्बन्ध होने से।

---

१. यह पूर्वपक्षनिदर्शक भाष्य मुद्रित ग्रन्थ में सूत्रनिर्देश के पश्चात् छपा है। यह पूर्वपक्ष सूत्र से बहिर्भूत है। सूत्र द्वारा इस पूर्वपक्ष का समाधान देने से इसका मुद्रण सूत्र से पूर्व ही होना चाहिये।

२. 'सत्र' और 'सत्रा' शब्दों की व्युत्पत्ति कोशकारों ने **संतन्यते इति सत्रम्, संततनं सत्रा=नैरन्तर्यम्** की है। तदनुसार सत्र शब्द का सामान्य अर्थ है—निरन्तर किये जानेवाले यज्ञ। सत्र-संज्ञक यज्ञ १२ दिन साध्य से लेकर सहस्र संवत्सर साध्य तक कहे गये हैं। ये सोमयाग हैं। सत्रों में अन्य सोमयागों से कुछ वैलक्षण्य है। सोमयागों में एक यजमान और १६ ऋत्विक् होते हैं। ऋत्विग् दक्षिणा द्वारा नियतकाल के लिये क्रीतवत् होते हैं। सत्रों में सोमयाग के इच्छुक न्यूनातिन्यून १७ व्यक्ति मिलकर कार्य करते हैं। इनको कार्यसिद्धि के लिये कार्यों को बांट दिया जाता है। एक यजमान-सम्बन्धी कार्य करता है, और १६ ऋत्विक्सम्बन्धी। यतः यह इन सब का सम्मिलित कार्य होता है, अतः ऋत्विक् कार्य करते हुये भी वे वास्तव में यजमान ही होते हैं। इसलिये सत्रों के सम्बन्ध में कहा जाता है—**ये यजमानास्त एव ऋत्विजः** (=जो यजमान हैं, वे ही ऋत्विग् होते हैं)। सभी के यजमान होने से सभी कर्मफल के भागी होते हैं। सत्र दैवी सृष्टि में होनेवाले दैवयज्ञों के वास्तविक प्रतीक हैं। दैवयज्ञों=सृष्टियज्ञों में सभी दैवी शक्तियां समन्वयपूर्वक अपना-अपना काम करती हैं। इसीलिये ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त (१०।१९१) में कहा है—**देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।** जैसे पूर्व देव (=दैवी शक्तियां) मिलकर अपने-अपने भाग=कार्य को करते हैं।

विनियुक्तं हि दृश्यते परस्परेण सम्बन्धार्थम् । कथम् ? ज्योतिष्टोम इत्यभिधाय कर्त्तव्य इत्युच्यते । केनेत्याकाङ्क्षते सोमेनेति । किमर्थमिति ? स्वर्गायेति । कथमिति ? इत्थमनया इतिकर्त्तव्यतयेति । एवमवगच्छन्तः पदार्थैरेभिः संस्कृतं पिण्डितं वाक्यार्थं कथमुन्मत्तबालवाक्यसदृशम् इति वक्ष्यामः[1] ॥

नन्वनुपपन्नमिदं दृश्यते—वनस्पतयः सत्रमासतेत्येवमादि । नानुपपन्नम् । नानेन अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इत्येवमादयोऽनुपपन्नाः स्युः । अपि च, वनस्पतयः सत्रमासतेत्येवमादयोऽपि नानुपपन्नाः । स्तुतयो ह्येताः सत्रस्य—वनस्पतयो नामाऽचेतना इदं सत्रमुपासितवन्तः,-किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणाः ? तद्यथा लोके—सन्ध्यायां मृगा अपि न चरन्ति, किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणा इति? अपि च, अविगीतः सुहृदुपदेशः सुप्रतिष्ठितः कथ-

---

विशेष—कुतुहल वृत्ति में 'वा' पद को अवधारणार्थक माना है । 'अन्वयः स्यादेव'=अन्वय हो ही जायेगा । 'कृते' में कर्म में क्त है ॥

व्याख्या—[कर्म] विनियुक्त ही देखा जाता है परस्पर-सम्बद्ध अर्थवाला । कैसे ? 'ज्योतिष्टोम' का कथन करके 'करना चाहिये' ऐसा कहा है । 'किस से' [ज्योतिष्टोम करें] ? इस आकाङ्क्षा के होने पर 'सोम से' [ऐसा कहा है] । किस लिये करें ? 'स्वर्ग के लिये' [यह कहा है] । किस प्रकार करें ? इस प्रकार इस इतिकर्तव्यता (=समीपपठित कर्मकलापों) से । इस प्रकार जानते हुये इन पदार्थों से संस्कृत एकीभूत वाक्यार्थ कैसे उन्मत्त बालवाक्यसदृश होगा, यह हम आगे [१।२।७ के भाष्य में] कहेंगे ।

विवरण ज्योतिष्टोम इत्यभिधाय—यहां से आगे भाष्यकार ने जिन पदों का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है, उसका वैदिक वाक्य है—**ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः** । **इतिकर्तव्यता**—किसी भी दर्शपौर्णमास आदि याग के प्रकरण में जो अनेक कर्मों का '**इति कर्तव्यम् इति कर्तव्यम्**' (=यह करना चाहिये, यह करना चाहिये) निर्देश उपलब्ध होता है, उस सारे क्रियाकलाप को याज्ञिकों की परिभाषा में **इतिकर्तव्यता** कहा जाता है ।

व्याख्या—(आक्षेप) यह [वचन] तो अनुपपन्न (=न हो सकनेवाला) देखा जाता है—वनस्पतयः सत्रमासत इत्यादि । (समाधान) अनुपपन्न नहीं है । इस वचन से अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इत्यादि वाक्य अनुपपन्न नहीं होंगे । और भी, वनस्पतयः सत्रमासत इत्यादि भी अनुपपन्न नहीं हैं । ये सत्र की स्तुतियां हैं—अचेतन वनस्पतियों ने भी सत्र का अनुष्ठान किया, तो फिर विद्वान् ब्राह्मण क्यों नहीं सत्र करें ? जैसे लोक में [कहते ह] संध्याकाल में मृग भी नहीं विचरते, तो फिर विद्वान् ब्राह्मण कैसे [लौकिक कर्म में] विचर सकते हैं ? [अर्थात् वे लौकिक कर्म छोड़कर सन्ध्याकाल में सन्ध्योपासन कर्म करें ।] और भी, अविगीत (=अनिन्दित=उपयुक्त) सुनिश्चित मित्रोपदेश किस प्रकार आशंका के

---

१. मी० १।२।७ सूत्रभाष्ये इति शेषः ।

मिवाशङ्क्येत उन्मत्तबालवाक्यसदृश इति ? तस्मात् 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति सिद्धम् ॥३२॥ इति वेदस्याऽपौरुषेयत्वाधिकरणम् ॥८॥

इति श्रीशबरस्वामिकृते मीमांसाभाष्ये प्रथमाऽध्यायस्य प्रथमः (तर्कपादाभिधेयः) पादः ॥

योग्य हो सकता है कि यह उन्मत्त एवं बालवाक्य के सदृश है। इसलिये 'चोदना से लक्षित अर्थ ही धर्म है', यह सिद्ध होता है ॥३२॥

विवरण—भाष्यकार ने यहां **वनस्पतयः सत्रमासत; सर्पाः सत्रमासत** ये दो वाक्य उद्धृत किये हैं। ये वाक्य उपलब्ध शाखा ब्राह्मणरूप वैदिक वाङ्मय में हमें उपलब्ध नहीं हुये। इन जैसा ही एक वाक्य ऐतरेयब्राह्मण ४।१७ में **गावो वै सत्रमासत** (=गौवें सत्र में बैठीं) उपलब्ध होता है। भाष्यकार ने इन्हें सत्र के स्तुतिपरक वाक्य माना है। 'सत्र' अनेक हैं, पर ये वचन किस सत्र के स्तुतिवचन हैं, यह भाष्यकार ने नहीं बताया। स्तुतिवचन (=स्तुत्यर्थवाद) विधिवाक्य (=कर्म-विधायक वाक्य) के साथ संबद्ध होकर कर्मविशेष की स्तुति को कहते हैं। यह आगे '**विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः**' (१।२।७) सूत्रद्वारा कहा है। हमारा विचार है कि भाष्य-कार ने ये वचन किन्हीं प्राचीन व्याख्याग्रन्थों में उद्धृत ही स्वीकार कर लिये हैं। उन्हें भी उस विधिवाक्य का परिज्ञान नहीं था। जिनके साथ भाष्य में पठित वाक्यों का सम्बन्ध था। अतः भाष्यकार का सारा प्रयत्न 'अन्धेरे में दण्डा मारने' के सदृश है। सम्भवतः इसीलिये कुतुहल-वृत्तिकार ने भाष्योद्धृत वाक्यों का परित्याग करके **वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता** (द्र०—शाबरभाष्य १।२।७ में उद्धृत) आदि अर्थवादवाक्य को उद्धृत किया है। इस वाक्य का विधिवाक्य विज्ञात है—**वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः** (तै० सं० २।१।१)। इसका विशेष विचार १।२।७ के भाष्य में करेंगे), अतः इस विषय में वहीं देखें।

हमने जो **गावो वै सत्रमासत** वचन उद्धृत किया है, वह **गवामयन** सत्र के प्रकरण में पठित है (द्र०—ऐ० ब्रा० ४।१७)। उसका विधिवाक्य है—**गवामयनेन यन्ति**। इस विधिवाक्य के समीप में पठित होने से **गावो वै सत्रमासत** स्तुत्यर्थवाद माना जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण के इस प्रकरण से स्पष्ट है कि **गवामयन** सत्र सृष्टिगत उत्तरायण और दक्षिणायनरूप आदित्य की किरणों की गति का रूपक है—**गावो वा आदित्याः, आदित्यानामेव अयनेन यन्ति**। यहां आदित्यात् संभूताः इस अर्थ में संभूते (=अष्टा० ४।३।४१) से यथाविहित ण्य प्रत्यय होता है। **आदित्याः**=आदित्यसंभूताः रश्मयः। आदित्य की रश्मियां वर्षाकाल में मन्द होकर दसवें मास मे पुनः तीक्ष्ण हो जाती हैं। अर्थात् उनके सींग उत्पन्न हो जाते हैं। **यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः** (=ऋ० १।१५४।६) मन्त्र में सूर्यरश्मियों को **भूरिशृङ्गा** कहा है (द्र०—निरुक्त २।७)। इस प्रकार गवामयन प्रकरण पठित '**दशमे मासि शफा शृङ्गाण्यजायन्त**' इत्यादि अर्थवादवचन भी उपपन्न हो जाते हैं।

देव वनस्पतियों का निर्देश **देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण** (मै० सं० ४।१३।७; तै० ब्रा० ३।६।११), **देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णो०** (यजुः २१।५६) आदि अनेक मन्त्रों में मिलता है।

यह हिरण्यपर्ण वनस्पति 'अग्नि' है। वनस्पति के विषय में अग्निरिति शाकपूणिः ऐसा निर्देश करके निरुक्तकार ने पूर्वनिर्दिष्ट देवेभ्यो वनस्पते मन्त्र को ही उद्धृत किया है (द्र०—निरुक्त ८।१८,१९)। सर्पसत्र के सर्प भी आधिदैविक तत्त्व हैं। यजुर्वेद १३।६,७,८ में भूमि और जल में रहनेवाले सर्पों के अतिरिक्त अन्तरिक्ष द्यु, द्यु के प्रकाश और सूर्य की रश्मियों में वर्तमान सर्पों का भी उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण ७।४।१।२५ में इन लोकों को गति करने के कारण सर्प कहा है—'इमे वै लोकाः सर्पाः, ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च।' तै०ब्रा० २।२।६।२ में देवों (=रश्मियों) को सर्प, और पृथिवी को उनकी राज्ञी कहा है—'देवा वै सर्पाः,तेषां हीयं राज्ञी'। सूर्य-मण्डल में जो गतिशील कृष्णमण्डल[1] हैं, वे भी सर्पण के कारण सर्प हैं। सूर्य की ज्वालाएं भी सर्प हैं। आकाश में विचरनेवाले कुछ सर्प भयंकर विषवाले हैं। इनके संयोग के कारण अन्तरिक्षस्थ जल दूषित हो जाता है। इस विषय में निम्न वचन द्रष्टव्य है—

फूत्कारविषवातेन नागानां व्योमचारिणाम्।
वर्षासु सविषं तोयं दिव्यमप्याश्विनं विना॥[2]

अर्थात्—व्योमचारी नागों के फूत्कार के विष से वर्षा में दिव्य जल भी विषयुक्त हो जाता है। केवल आश्विन मास का ही जल इस दोष से रहित होता है।

यहां केवल प्रसंगवश ही ब्राह्मणग्रन्थों में संकेतित आधिदैविक गोसत्र वनस्पतिसत्र और सर्पसत्र के विषय में लिखा है, जिनका याज्ञिकों के गवामयन आदि सत्रों के साथ सम्बन्ध है। इस विषय में अधिक 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' निबन्ध (इसी भाग के आदि में संलग्न) में देखें। पारीक्षित जनमेजय के सर्पसत्र का वैदिक सर्पसत्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है॥३२॥

मीमांसा प्रथमाध्याय प्रथम पाद
का
आर्ष-सिद्धान्तानुसार पर्यालोचन

मीमांसा दर्शन के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में वर्तमान मीमांसकों के अनुसार ७ अधिकरण (=विचारणीय विषय) हैं। हमारा शाबरभाष्य में निर्णीत कतिपय विचारों के सम्बन्ध में मतभेद है। हम समझते हैं कि प्राचीन आर्षवाङ्मय तथा भारतीय प्राचीन इतिहास के अनुसार आचार्य शबरस्वामी के कई निर्णय चिन्त्य हैं। विशेषकर औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः०(१।१।५)सूत्र की व्याख्या और

---

१. असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत् यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्यधिदैवतम्। जै० ब्रा० २।२८॥

२. शब्दचिन्तामणि कोश (भाग १, पृष्ठ ७९९) में 'गाङ्ग' शब्द पर उद्धृत वचन।

अन्तिम वेदापौरुषेयत्व अधिकरण सम्बन्धी विचार के सम्बन्ध में मौलिक मतभेद है। इसके साथ ही कुछ अवान्तर मतभेद भी हैं। उनके तथा कुछ अन्य विषयों के संबन्ध में यहां क्रमशः संक्षिप्त विचार किया जायेगा।

अथातो धर्मजिज्ञासा (१।१।१)—इस सूत्र में निर्दिष्ट 'धर्म' शब्द कर्म का वाचक है। आचार्य शबरस्वामी ने **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** (१।१।२) सूत्र के भाष्य में वेदमन्त्र का प्रमाण देकर धर्म शब्द का 'कर्म' अर्थ ही किया है। कर्म शब्द का मूल अर्थ है—कर्तुं योग्यं कर्म (=करने योग्य कर्म) अर्थात् कर्तव्य। कर्तव्य बहुविध हैं, अतः भगवान् जैमिनि ने स्वशास्त्र में अधिकृत विशेष कर्म=धर्म की परिभाषा द्वितीय सूत्र में दी है। तदनुसार वेद शाखा ब्राह्मण आदि में विहित यज्ञ-कर्म ही मीमांसा में 'धर्म' शब्द से कहे जाते हैं। 'धर्म' शब्द कर्तव्य के लिये लोक में भी प्रयुक्त होता है। गीता के **पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः** (२।७) में धर्म शब्द का प्रयोग कर्तव्य के लिये ही हुआ है। यह पूर्व प्रसंग से स्पष्ट है। इसी प्रकार गीता के **सर्वधर्मान् परित्यज्य** (१८।६६) में भी धर्म का कर्तव्य अर्थ ही है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि—हे अर्जुन! तेरे सामने अनेक परस्पर-विरोधी कर्तव्य उपस्थित हो गये हैं, उससे तू किंकर्तव्यविमूढ हो गया है। अतः तू सभी कर्तव्यों का विचार छोड़कर मेरी शरण में आ। मैं जो कर्तव्य कहूं, वह कर। मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूंगा। अर्थात् मेरे कहे अनुसार कर्तव्य का पालन करने पर तुझे कोई पाप नहीं लगेगा।

'मीमांसाशास्त्र का अध्ययन वेदाध्ययन के पश्चात् ही हो सकता है'।[1] यह भाष्यकार का कथन सर्वांश में ठीक है। मैंने यद्यपि नियमानुसार वेद का अध्ययन नहीं किया था, तथापि मीमांसा के अध्ययन के पूर्व चारों वेदों के कई पारायण कर चुका था। तैत्तिरीय संहिता आदि सभी उपलब्ध शाखाओं और ब्राह्मणों का पारायण भी कर चुका था। कात्यायन श्रौत का अध्ययन भी साथ-साथ कर रहा था। अतः मुझे अपने अन्य साथियों की अपेक्षा मीमांसाशास्त्र को समझने में विशेष सुगमता हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश में पठन-पाठन-विधि के अन्तर्गत उत्तर मीमांसा (=वेदान्त) के अध्ययन से पूर्व दश उपनिषदों के अध्ययन का विधान किया है। इसी प्रकार पूर्वमीमांसा के अध्ययन के पूर्व भी एक वेद, उसके ब्राह्मण और श्रौतसूत्र का सामान्य अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः(१।१।२)='चोदना' शब्द का अर्थ है—**प्रेरक वचन**। प्रेरक वचन दो प्रकार के होते हैं—उत्तम कर्म में प्रवर्तक, और निन्दित कर्म से निवर्तक। दोनों प्रकार की चोदनाओं से लक्षित होनेवाला अर्थरूप जो कर्म है, वह 'धर्म' कहलाता है। यहां 'अर्थ' ग्रहण से यह भी अर्थापत्ति से जाना जाता है कि जो अनर्थरूप है, वह अधर्म है। इसीलिये हिंसा के लिये प्रयुक्त होनेवाले श्येन वज्र इषु यागों को शबर स्वामी ने अधर्म कहा है (द्र०—पृष्ठ १५-१६)।

प्रकृत सूत्र में शबर स्वामी ने जो विवेचना की है, उसमें सब से अधिक विचारणीय बात

---

१. न चेह किञ्चिद् वृत्तमुपलभ्यते, भवितव्यं तु तेन, यस्मिन् सति अनन्तरं धर्मजिज्ञासा-वकल्पते।......तत् तु वेदाध्ययनम् (१।१।१, पृष्ठ ४)। इसकी व्याख्या वहीं देखें।

है 'चोदना'। शवर स्वामी तथा उत्तरवर्ती मीमांसकों ने जो भी विचार किया है, वह मन्त्र और ब्राह्मण को वेद मानकर किया है। अतः उनके मत में 'चोदना' का तात्पर्य है—'ब्राह्मण ग्रन्थस्थ कर्म में प्रवर्तक वाक्य।' हमें भी यह अर्थ स्वीकृत है।परन्तु हमारा मत है कि यहां मन्त्रगत कर्म में प्रवर्तक और निवर्तक दोनों प्रकार के वाक्यों का ग्रहण अभिप्रेत है। यथा—**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व** (ऋ० १०।३४।१३); **मा गृधः कस्यस्विद् धनम्** (यजुः ४०।१)। यहां प्रथम उद्धरण का पूर्व प्रेरक वाक्य है—'जुआ खेलने से निवर्तक, और दूसरा है 'कृषि कर्म में प्रवर्तक'। इसी प्रकार याजुष वाक्य में 'अन्य के धन का लोभ त्यागने' का आदेश है।

मीमांसक मन्त्रों को विधायक नहीं मानते, उन्हें क्रियमाण कर्म का अनुवदन अर्थात् कहनेवाला मानते हैं।मीमांसा के **अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्, तच्चोदकेषु मन्त्राख्या** (२।१।३१,३२) सूत्रों में भी यही कहा है कि मन्त्र विधायक नहीं हैं (विशेष इन सूत्रों की व्याख्या में यथास्थान देखें)। परन्तु भाष्यकार शवर स्वामी ने **तच्चोदकेषु मन्त्राख्या** सूत्र के भाष्य में लिखा है – **प्रायिकमिदं लक्षणम्। अनभिधायका अपि केचिन्मन्त्रा इत्युच्यन्ते। यथा वसन्ताय कपिञ्जलानालभते** (शु० यजुः २४।२०) **इति**। अर्थात् सूत्रकार का मन्त्रलक्षण प्रायिक है। अर्थात् मन्त्रों की अभिधायिकता प्रायः देखकर सूत्रकार ने यह मन्त्रलक्षण लिखा है। कुछ क्रियमाण कर्म को न कहनेवाले (=अर्थात् विधान न करनेवाले) भी मन्त्र कहे जाते हैं। यथा—**वसन्ताय कपिञ्जलानालभते**। इससे स्पष्ट है कि मीमांसकों के मत में भी मन्त्रों में कहीं-कहीं विधायक शक्ति मानी है। अतः प्रकृत सूत्र में चोदना से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के ही प्रवर्तक वा निवर्तक वाक्यों का ग्रहण होता है। मन्त्रगत चोदना का प्रामाण्य ५ वें सूत्र से दर्शाया है, और ब्राह्मणगत चोदना का ३२वें सूत्र से (देखो आगे हमारी व्याख्या)।

अब रहती है 'वेद' संज्ञा की बात। इस विषय में आरम्भ में मुद्रित **वेदसंज्ञा-मीमांसा** में सप्रमाण सिद्ध किया है कि वेदसंज्ञा मुख्यतया मन्त्रों की ही है। **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** इस परिभाषा-प्रकरण में पठित श्रौतसूत्र के वचनानुसार यज्ञकर्म और तद्विधायक ग्रन्थों में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की पारिभाषिक वेदसंज्ञा है। इसे हम भी स्वीकार करते हैं। परन्तु इसे पाणिनीय वृद्धि गुण संज्ञाओं के समान **स्वशास्त्र तक ही सीमित रखना युक्त है**। आजकल के वैदिक इस पारिभाषिक वेदसंज्ञा से स्वशास्त्र से बाहर भी जो ब्राह्मणग्रन्थों का वेदत्व स्वीकार करते हैं, वह शास्त्रविरुद्ध है। यह ऐसे ही है जैसे कोई पूछे—'तुझे क्या वृद्धि मिली?' तो उसका उत्तर देवे, वृद्धि-संज्ञा तो आ ऐ औ अक्षरों की है, मुझे तो इन में से कुछ नहीं मिला।

मीमांसा-सूत्रकार ने स्वशास्त्र में वेद आम्नाय और श्रुति तीन शब्दों का प्रयोग किया है। इन पर विचार हम इस प्रकरण में आगे **'वेदापौरुषेयाधिकरण'** के विचार में करेंगे।

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध···(१।१।५) सूत्र की व्याख्या आचार्य शवरस्वामी तथा उनके अनुयायी वेद और जगत् को अनादिसिद्ध मानकर करते हैं। ये लोग ईश्वर को नहीं मानते। परन्तु इनका मत भगवान् जैमिनि और इसी सूत्र में प्रमाणरूप से स्मृत भगवान् बादरायण (उत्तरमीमांसाकार) के मत के विपरीत है। हमने इस सूत्र की दोनों आचार्यों के मतानुसार व्याख्या इस सूत्र के शाबर भाष्य की व्याख्या के अन्त में दर्शाई है (द्र०—पृष्ठ ५८—

५९), पाठक वहां देखें। दोनों सूत्रकार वेद की योनि=कारण ईश्वर को मानते हैं। अतः इस सूत्र से सूत्रकार ने शब्द अर्थ (आकृति=जातिरूप) इनका सम्बन्ध और वेद को नित्य कहा है। और उसके स्वतःप्रामाण्य का विधान किया है। शाखाएं और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। उनका प्रामाण्य वेद का अनुगमन करने के कारण है। यह भी शतपथ-भाष्यकार हरिस्वामी के वचनानुसार पृष्ठ ६० पर लिख चुके हैं। शब्द अर्थ और वेद नित्य कैसे हैं? इस विषय का स्पष्टीकरण हमने स्वामी दयानन्द सरस्वती का पाठ उद्धृत करके पृष्ठ ४२ पर किया है।

शब्दनित्यत्वाधिकरण (सूत्र ६-२३)—यद्यपि भगवान् जैमिनि ने शब्द का नित्यत्व ५ वें सूत्र में कह दिया था, फिर भी शब्द को अनित्य माननेवालों के आक्षेपों का जबतक समाधान न किया जाय, तबतक कोई सिद्धान्त प्रतिज्ञामात्र से स्थिर नहीं होता। इस दृष्टि से शब्द के नित्यत्व का आक्षेपपुरःसर प्रतिपादन इस अधिकरण में किया गया है। शब्दनित्यत्ववादी वैयाकरण भी हैं, परन्तु वे 'स्फोट' रूप शब्द की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। उनके मत में पूर्व पूर्व वर्ण ध्वनि-जनित संस्कारसहित अन्त्य वर्ण से स्फोट की प्रतीति होती है, और उससे अर्थ-ज्ञान होता है। मीमांसक पूर्वपूर्व वर्णजनित संस्कारसहित अन्त्य वर्ण से ही अर्थ की प्रतीति मानते हैं। वे स्फोट की कल्पना नहीं करते, क्योंकि उसकी प्रतीति नहीं होती।

शब्दनित्यत्ववादी मीमांसक और वैयाकरण दोनों लौकिक वैदिक सभी शब्दों को नित्य मानते हैं। दोनों ही अपभ्रंश (=संस्कृतभिन्न) शब्दों को असाधु कहते हैं। परन्तु आधुनिक वैयाकरण साधुत्व-असाधुत्व की जो व्याख्या करते हैं, उसके अनुसार पूर्वकाल में शिष्टजनों में प्रयुक्त अनेक शब्द भी असाधु समझे जाते हैं।[1] अपभ्रंश शब्दों के नित्यत्व-अनित्यत्व का कोई स्पष्ट विचार आधुनिक वैयाकरणों ने नहीं किया। प्राचीन वैयाकरण और मीमांसक अपशब्दों को उच्चारयिता के करण-वैकल्य से जनित मानते हैं। अतः उन के मत में अपभ्रंश अनादि अर्थात् नित्य नहीं हैं। द्रष्टव्य भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड कारिका १४७; तथा उनकी स्वोपज्ञ व्याख्या; तथा मीमांसा सूत्र १।३।२६ तथा इसका शाबरभाष्य।

नैयायिक शब्दों को अनित्य मानते हैं। उन्होंने ध्वनि को ही शब्द मानकर अनित्यत्व पक्ष का स्थापन किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक शब्दों को नित्य माना है, और लौकिक शब्दों को अनित्य। पर साथ ही जो वैदिक शब्द वेदज्ञान के साथ आदिभाषा के रूप में लोक में भी व्यवहृत हुये और आज तक व्यवहृत हैं, उन्हें वे नित्य मानते हैं।[2] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उन लौकिक शब्दों को अनित्य माना है, जो पुरुषों द्वारा पदार्थविशेष के लिये संकेतित किये गये अथवा किये जाते हैं। ऐसे शब्द अर्थविशेष में रूढ होते हैं। इन्हें यदृच्छा

---

१. द्र०—भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ १।१।२७, १।४।७; सि० कौ० ५।२।१० सूत्र; हरदत्त पदमञ्जरी १।४।७; काशिका ४।१।१५१॥ विशेष द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, सन्दर्भ १०; पृष्ठ ४२, टि० ३ (संवत् २०३०)।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ ४२, हिन्दीव्याख्या में उद्धृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का वचन।

शब्द जानना चाहिये। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः पक्ष में न सन्ति यदृच्छा-शब्दाः ('ऋलक्' सूत्रभाष्य) कहकर उन्हें मूल संस्कृतभाषा अथवा आदिभाषा से बाहर रखा है।

वाक्याधिकरण (सूत्र २४—२६)—इसे वेदस्यार्थप्रत्यायकत्वाधिकरण भी कहते हैं। ५ वें सूत्र से शब्द और शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता का प्रतिपादन करने पर भी वेद के वाक्यमय होने से वाक्यरचना के आधार पर वेद को अनित्य सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया जाता है, उसका समाधान भगवान् जैमिनि ने इस अधिकरण में किया है। यथा—शब्दार्थ-सम्बन्ध के नित्य होने पर भी वाक्य से गम्यमान अर्थ पदार्थ से भिन्न है। पदों से सामान्य अर्थ गम्यमान होता है। जैसे गो शब्द के उच्चारण होने पर गोमात्र की प्रतीति होती है। शुक्ला शब्द के उच्चारण से शुक्लमात्र की प्रतीति होती है, चाहे वह शुक्लत्व किसी भी द्रव्य से सम्बद्ध हो। परन्तु शुक्लां गामानय कहने पर 'शुक्लगुणविशिष्ट गौ' की प्रतीति होती है। अतः वाक्यार्थ द्वारा प्रतीयमान विशेष अर्थ में वाक्य कारण है। वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक पुरुषों द्वारा की जाती है। अतः वेद की वाक्यरचना भी बुद्धिपूर्वक है। वैशेषिककार ने कहा भी है—बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (६।१।१)। 'पदार्थ से वाक्यार्थ भिन्न है' इसका समाधान शबरस्वामी ने विस्तार से करके दर्शाया है कि पदार्थ द्वारा ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। अर्थद्योतन में वाक्य की अपनी पृथक् शक्ति नहीं है। वाक्यार्थ में जो वैशिष्टय दिखाई देता है, वह पदों के सहोच्चारण-निमित्तक है, यह अन्वय व्यतिरेक से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। वाक्यरचना के बुद्धिपूर्वकत्व को लेकर वेद के नित्यत्व पर जो आक्षेप आता है, उसका उत्तर शबरस्वामी ने कर्ता का स्मरण न होने से [वैदिक वाक्य पुरुषकृत नहीं है] इतना ही दिया है। इसका कारण यह है कि वे न तो ईश्वर को मानते हैं, और ना ही वेद को ईश्वरीय।

सेश्वर मीमांसक ईश्वर को वेद का योनि=निमित्तकारण मानते हैं—शास्त्रयोनित्वात् (ब्रह्मसूत्र १।१।३)। ईश्वर सर्वज्ञ है—तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् (योग १।२५); स सर्वज्ञः सर्ववित् (मुण्डकोप० १।१।९)। ईश्वर से वेद का प्रादुर्भाव होता है—एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः (शत० १४।५।४।१०)। इस कारण वेद की वाक्यकृति बुद्धिपूर्विका होते हुये भी पौरुषेय नहीं है। वेद में भी यही कहा है कि—कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः (यजुः ४०।८) मनीषी, कवि=क्रान्तदर्शी, परिभू=सब लोक-लोकान्तरों को चारों ओर से घेरकर वर्तमान अर्थात् सर्वव्यापक, स्वयम्भू=स्वतः विद्यमान ईश ने शाश्वती=नित्य वर्तमान प्रजाओं को यथातथरूप से अर्थों का कथन किया, अर्थात् जिसमें असत्य का लेश भी नहीं है, ऐसे वेद का उपदेश किया।

यही बात सायणाचार्य ने भी तैत्तिरीय-संहिता-भाष्य के उपोद्घात में इस प्रकार कही है—

'आदिसृष्टौ तु कालाकाशादिवदेव ब्रह्मणः सकाशाद् वेदोत्पत्तिराम्नायते…। ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन वेदस्य वक्तृत्वदोषाभावात् स्वतःसिद्धं प्रामाण्यम्'।

अर्थात्—सृष्टि के आदि में काल आकाश आदि के समान ब्रह्म से वेद की उत्पत्ति कही जाती है। ब्रह्म के निर्दोष होने से वक्तृत्व-दोष के अभाव से वेद का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है।

'पुरुष' शब्द शरीरधारी जीव और ईश्वर दोनों के लिये प्रयुक्त होता है । ईश्वर के लिये यथा—तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् (तै० आ० १०।१०।३) । परन्तु जीवरूप पुरुष से भेद करने के लिये इसमें विशेषण का प्रयोग होता है । यथा—अन्तःपुरुष, अन्तरपुरुष—पूरयत्यन्तरित्यन्तर-पुरुषमभिप्रेत्य (निरुक्त २।३); पुरुषोत्तम—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः (गीता १५। १७); पुरुषविशेष—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (योग० १।२४) । इस प्रकार 'वेद अपौरुषेय हैं' का तात्पर्य है—'अस्मदादि-शरीर-अभिन्न अल्पज्ञ-पुरुषकर्तृक नहीं हैं' । उसका 'पुरुषविशेष ईश्वर से प्रादुर्भाव' के निषेध में तात्पर्य नहीं है । मीमांसा के वेद-अपौरुषेयाधिकरण का भी यही तात्पर्य है । इस विषय में आगे देखें ।

वेद-अपौरुषेयाधिकरण (१।१।२७-३२)—विगत दो अधिकरणों में शब्द के अनित्यत्व और वाक्यरचना के पौरुषेयत्व के आधार पर वेद की अनित्यता का समाधान कर दिया । अब वेद की संहिताओं के साथ शाकल आदि नामों के प्रयोग के आधार पर किये जानेवाले अनित्यत्व दोष का समाधान करते हैं—

हम पूर्व कह चुके हैं कि भगवान् जैमिनि अपने ग्रन्थ में वेद आम्नाय और श्रुति शब्द का प्रयोग करते हैं । हमने पूर्व यह भी कहा है कि **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** यह याज्ञिकों की पारिभाषिक संज्ञा है । अतः यज्ञ-सम्बन्धी ग्रन्थों में वेद शब्द से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण हमें भी स्वीकृत है । पूर्वमीमांसा का सम्बन्ध भी याज्ञिक विधि-विधानों के साथ है । अतः इस शास्त्र में भी इस संज्ञा का उपयोग हो सकता है । कतिपय ग्रन्थकार वेद शब्द का प्रयोग कल्पसूत्र मीमांसा न्यायशास्त्र और षडङ्ग के लिये भी करते हैं ।[1] आम्नाय संज्ञा का प्रयोग मी० १।२।१ में मिलता है । इसमें **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्** निर्देश से आम्नाय का यज्ञीयक्रियाकलापबोधक ग्रन्थों के साथ सम्बन्ध है, यह स्पष्ट हो जाता है । कौशिकसूत्र में लिखा है—**आम्नायः पुनर्मन्त्रा ब्राह्मणानि च।** यह 'आम्नाय' भी मन्त्र-ब्राह्मण की याज्ञिकों की पारिभाषिक संज्ञा है ।[2] श्रुति पद भी याज्ञिकों का पारिभाषिक है । इससे भी मन्त्र ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होता है । उव्वट ने यजुर्वेदभाष्य अ० २४ के आरम्भ में अ० २४, मं० १ से अ० २५, मं० ९ तक के भाग के लिये लिखा है—**इत उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्राः आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्यदेवतासम्बन्धाभिधायिनः** । इससे स्पष्ट है कि जिन मन्त्रों में द्रव्यदेवता का कथन मिलता है, उन्हें श्रुतिरूप=ब्राह्मणरूप कहा जाता है ।[3]

---

१. विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः, षडङ्गमेके । पार० गृह्य २।६।५-६।। द्र०—इसकी गदाधर विश्वनाथ आदि की टीकाएं, तथा उनमें उद्धृत मतान्तर ।

२. 'आम्नाय' शब्द का प्रयोग मन्त्रब्राह्मण से अतिरिक्त विषय में भी देखा जाता है। द्र०—वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, पृष्ठ १२२, १७३ ।

३. ऐसा ही निर्देश नासिक से प्रकाशित 'परिशिष्ट संग्रह' अन्तर्गत ऋग्यजुः परिशिष्ट में भी मिलता है । द्र०—वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, पृष्ठ १४९, १६८-१६९ पर निर्दिष्ट मूल तथा टीका का पाठ ।

इन सब के परिप्रेक्ष्य में सब से प्रथम यह विचार करना है कि मीमांसा में बहुत्र निर्दिष्ट वेद शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया गया है? तभी प्रस्तुत अधिकरण में प्रयुक्त वेद शब्द का अभिप्राय ज्ञात होगा। इसके लिये हम उन सभी मीमांसासूत्रों को उद्धृत करते हैं, जिनमें वेद शब्द प्रयुक्त है। इन सूत्रों के विषय में सूत्रकार के वास्तविक अभिप्राय को जानने के लिये शाबरभाष्य के अतिरिक्त कोई विशेष साधन हमारे पास नहीं है। अतः हम आचार्य शबरस्वामी द्वारा उद्धृत वचनों पर ही विचार करेंगे—

१—वेदो वा प्रायदर्शनात् (मी० ३।३।२) यह सूत्र जिस अधिकरण का है, उसका विषय है—**उच्चैर्ऋचा क्रियते उच्चैः साम्ना उपांशु यजुषा** (=ऋक् और साम का उच्चैः, और यजुः का उपांशु (=धीरे) प्रयोग करना चाहिये। इस वचन में ऋक् साम यजुः शब्दों का क्या अर्थ है, यह विचारणीय है। ऋक् पादबद्ध मन्त्रों का, यजुः गद्यमन्त्रों का और साम गान का वाचक है, यह पूर्वमीमांसा २।१।३५, ३६, ३७ सूत्रों में कहा है। इस लक्षणवाले ऋक् यजुः और सामसंज्ञक मन्त्रों का पाठ चारों वेदों की संहिता वा शाखाओं में देखा जाता है। यथा यजुःसंहिता में गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों प्रकार के मन्त्र पठित हैं। अतः पूर्वपक्षी का कथन है कि शाबरभाष्य में उद्धृत उक्त वचन में ऋक् यजुः साम जातिवाचक शब्द हैं। अतः जहां-कहीं भी ऐसे मन्त्र पढ़े हैं, वहां सर्वत्र उनका उक्त वचन-निर्दिष्ट धर्म से उच्चारण करना चाहिये। सिद्धान्ती का उत्तर है कि उक्त वचनों में वेद का ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि आदि में वेद शब्द का दर्शन मिलता है। पाठ इस प्रकार है—

'तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः··· उच्चैर्ऋचा क्रियते उच्चैः साम्ना उपांशु यजुषा'।[1]

इस उद्धरण के आरम्भ में ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद का निर्देश होने से अन्त के उच्चैर्ऋचा क्रियते आदि में स्वस्ववेदपठित मन्त्रों का उच्चैस्त्व आदि धर्म से उच्चारण करना चाहिये। वह मन्त्र चाहे पद्यात्मक हों, चाहे गद्यात्मक, चाहे गानात्मक।

अगले लिङ्गाच्च (३।३।३) सूत्र के भाष्य में शबरस्वामी ने किसी शाखा का मन्त्र उद्धृत किया है—

ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः।
सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः॥[2]

इसके पश्चात् शबरस्वामी ने लिखा है कि—प्रथम पाद में ऋक् शब्द से, द्वितीय और तृतीय पाद में वेद शब्द से निर्देश करके, चतुर्थपाद में बहुवचनान्त वेद शब्द से उपसंहार करने से विदित होता है कि ऋक् आदि शब्द वेदवाचक हैं।

---

१. तुलना करो—'तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्, तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्···। स ऋचैव हौत्रमकरोत् यजुषाध्वर्यवं सामवेदेनोद्गीथम्'। ऐ० ब्रा० ५।३२॥

२. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।९ में यह मन्त्र स्वल्प भेद से मिलता है—'···पूर्वाह्णे दिवि··· यजुर्वेदे···।···वेदैरशून्यस्त्रिभि···॥

२ – **वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत** (मी० ३।३।८)—यह सूत्र भी पूर्वनिर्दिष्ट सूत्र के अधिकरण का सिद्धान्ती का सूत्र है। इस का अर्थ है—जो यह कहा है कि—ऋक् आदि शब्दों को मन्त्रों का जातिवाचक मानने से प्रकरण अनुगृहीत होता है। यह ठीक नहीं, वेद के संयोग से वाक्य द्वारा प्रकरण की बाधा होने पर दोष नहीं होगा [क्योंकि वाक्य की अपेक्षा प्रकरण दुर्बल होता है]। (शाबरभाष्य)

इतना ही नहीं, आचार्य शंकर ने **शास्त्रयोनित्वात्** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) के भाष्य में प्रमाण के लिये शतपथ (१४।५।४।१०) का यह वचन उद्धृत किया है—

'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं……।'

इस वचन की वृहदारण्यक उपनिषद् (जो शतपथ ब्राह्मण का भाग है) २।४।१० में व्याख्या करते हुये शंकराचार्य ने लिखा है—**यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरश्चतुर्विधं मन्त्रजातम्।**[1]

इस प्रकार **वेदो वा प्रायदर्शनात्** तथा **वेदसंयोगात्०** सूत्रों में श्रुत वेदशब्द ऋग्वेदादि मन्त्र-संहिताओं का ही वाचक है, यह स्पष्ट है।

३—**वेदसंयोगात्** (मी० ३।४।२२)—जिस अधिकरण में यह सूत्र आया है, उसके विचारणीय वाक्य हैं—**सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्। सुवर्ण एव भवति, दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति** (तुलना करो तै० ब्रा० २।२।४)—**सुवाससा भवितव्यं रूपमेव बिभर्त्ति।**

इन वाक्यों में सुवर्ण और सुन्दर वस्त्र पहने का निर्देश है। यहां विचारणीय है कि यह यज्ञधर्म है अथवा पुरुषधर्म। इस अधिकरण में **वेदसंयोगात्** सूत्र पूर्वपक्ष का है। उसका कहना है कि जहां उक्त वाक्य पठित है, वह आध्वर्यव वेद का है। अतः यह सुवर्ण जिस ऋत्विक् का आध्वर्यव वेद के साथ सम्बन्ध है, उस ऋत्विक् (=अध्वर्यु) को धारण करना चाहिये। सिद्धान्त पक्ष है—सुवर्णधारण और सुन्दर वस्त्र पहनना पुरुष धर्म है।

ऋग्वेद (१०।७१।११) का मन्त्र है—**ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति**

---

१. आचार्य शंकर ने अगले इतिहास पुराण आदि शब्दों को लौकिक इतिहास पुराण आदि का वाचक न मानकर इन के उदाहरणों में ब्राह्मणग्रन्थों के वचन उद्धृत किये हैं। पर हमारा विचार है कि यतः शंकराचार्य ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानते थे, अतः उन्होंने इतिहास पुराण आदि के ब्राह्मणग्रन्थस्थ पाठ दिये हैं। यहां वस्तुतः मन्त्रों के उद्धरण देने चाहियें थे। यथा इतिहास—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋ० १०।१२१।१)। पुराण—'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्' (ऋ० १०।१२९।१) आदि सर्गबोधक मन्त्रों का। वस्तुतः इतिहास पुराण उपनिषद् श्लोक सूत्र अनुव्याख्यान व्याख्यान शब्द प्रयोगशैली के वाचक हैं। इन शैलियों से युक्त मन्त्र भी हैं, और ब्राह्मण भी। 'मन्त्रजातम्' कहने के पश्चात् इनके भी मन्त्रों के ही उदाहरण देने योग्य हैं।

शक्वरीषु । ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥ इस पर निरुक्तकार यास्क कहते हैं- ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे (१।८), अर्थात् इस मन्त्र में ऋत्विजों के कर्मों का विधान किया है। चतुर्थ चरण के व्याख्यान में वे लिखते हैं—'एक ऋत्विक् यज्ञ की मात्रा का मान करता है, वह 'अध्वर्यु' है। इस प्रकार यज्ञ के स्वरूप का निष्पादक ऋत्विक् 'अध्वर्यु' है। यज्ञ के स्वरूप-निष्पादक कर्मों के मन्त्र यजुर्वेद में पठित हैं। अतः यजुर्वेद की 'आध्वर्यव वेद' याज्ञिक समाख्या है। यजुर्वेद के मन्त्रों से क्रियमाण कर्मों का विधान यजुर्वेद के ब्राह्मण में है। इस प्रकार मन्त्रों के विनियोजकरूप में व्याख्यान होने से यजुर्वेद का ब्राह्मण भी 'आध्वर्यव' कहा जाता है।

अथवा—पाणिनीय-व्याकरण के अध्येता पाणिनीय कहाते हैं। यद्यपि पाणिनि-प्रोक्त अष्टाध्यायी सूत्रपाठ ही है, पुनरपि पाणिनीयों द्वारा अधीत महाभाष्य आदि का भी पाणिनीय नाम से व्यवहार होता है। अथवा सूत्रपाठ के पाणिनीय होने से उनके व्याख्या-ग्रन्थों में भी जैसे पाणिनीय शब्द का व्याख्यारूप योग (=सम्बन्ध) हेतु से भाक्त प्रयोग होता है[1], तद्वत् ब्राह्मण-रूप व्याख्यानग्रन्थों के लिये वेदशब्द का भाक्त=गौण प्रयोग दोष नहीं है। इस प्रकार मन्त्रों के लिये वेदशब्द का मुख्य प्रयोग होता है, और ब्राह्मण के लिये भाक्त प्रयोग। अतः वेदसंयोगात् (मी० ३।४।२२) में श्रूयमाण वेदशब्द भाक्त (=गौण) है, यह स्पष्ट है।

४—सर्वे तु वेदसंयोगात् कारणोपदेशः स्यात् (३।५।२६)—उद्गाता ऋत्विक् के योग से प्रसिद्ध औद्गात्र वेद में उद्गाता तथा उसके सहायक सभी ऋत्विजों का सोमपान में अधिकार है, यह सिद्धान्त कथन किया है।

५—वेदोपदेशाद् वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः (३।७।५०)—श्येनयाग का विधान औद्गात्र वेद में किया है, वाजपेय का आध्वर्यव वेद में। अतः इन यागों के सब कर्मों को यथावेद उद्गाता और अध्वर्यु ही करें, अथवा सभी ऋत्विक मिलकर करें। इस विचार में प्रस्तुत सूत्र पूर्वपक्ष का है। उद्गाता से सम्बद्ध वेद में श्रुत श्येनयाग के सभी कर्म उद्गाता करे, और आध्वर्यव वेद में श्रुत वाजपेय के अध्वर्यु।

६—गुणत्वाच्च वेदेन व्यवस्था स्यात् (३।८।१२)—श्येनयाग में श्रुत है—लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति (=लाल पगड़ी और लाल वस्त्र धारण किये ऋत्विक् कर्म करते हैं)। वाजपेय में पठित है—हिरण्यमालिन ऋत्विजः प्रचरन्ति (=सुवर्ण की माला धारण किये ऋत्विक् कार्य करते हैं)। यह लोहितोष्णीषत्व और हिरण्यमालित्व धर्म क्रमशः औद्गात्र और आध्वर्य वेद में निर्दिष्ट होने से उसी-उसी वेद से सम्बद्ध ऋत्विक् का है, अथवा सभी ऋत्विजों का? इस विचार का यह सिद्धान्त सूत्र है। लोहितोष्णीषत्व और हिरण्य-

---

१. न्यायदर्शन २।२।६१ में भाक्त-प्रयोग के अनेक कारण दर्शाये हैं। उनमें एक 'योग' भी है। वस्तुतः न्यायसूत्रोक्त कारण निदर्शनमात्र है। इससे 'व्याख्या'रूप कारण का भी ग्रहण हो सकता है। इस प्रकार मूल ग्रन्थ नाम से व्याख्याग्रन्थों का भी जो प्रयोग होता है, वह 'भाक्त' प्रयोग है।

मालित्व गुण है। अतः इनकी वेद के द्वारा=औद्‌गात्र आध्वर्यव संज्ञा द्वारा व्यवस्था नहीं होगी। ये सभी के धर्म हैं।

इन ४-५-६ संख्यावाले सूत्रों में पठित 'वेद' शब्द का अभिप्राय भी तृतीय संख्यावाले सूत्र के समान जानना चाहिये। क्योंकि यहां भी औद्‌गात्र और आध्वर्यव संज्ञा का सम्बन्ध है। इस प्रकार संख्या ४-५-६ में भी वेद शब्द का तद्वेद-सम्बद्ध ब्राह्मण के लिये भाक्त सम्बन्ध है।

७—**अपि वा वेदतुल्यत्वाद् उपायेन प्रवर्तेरन्** (६।२।२२)—यह सूत्र जिस अधिकरण में आया है, उसका विचारणीय विषय है कि गुरुजनों के अभिवादन आदि स्मृतिविहित शिष्टाचार के नियमों का पालन कब से आवश्यक है? इस विषय के सिद्धान्त का इस सूत्र से प्रतिपादन किया है—'अपि वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। इन नियमों के वेदाध्ययन-नियमों के तुल्य होने से उपाय (=उपायन=उपनयन[1]) से इनकी प्रवृत्ति होवे।' शबरस्वामी ने 'वेदतुल्यत्वात्' का अर्थ 'स्मृतियों के वेद तुल्य होने से' किया है। इस अर्थ में भी कोई आपत्ति नहीं है। धर्मशास्त्रों का विधान ऋषियों ने वेदानुकूल ही किया है। अतः उन्हें वेदतुल्य=वेदवत् आदरणीय माना जा सकता है।

इस सूत्र में निर्दिष्ट वेदशब्द संहितापरक है। उपनयन के पश्चात् पहले संहिताओं का ही अध्ययन होता है। ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् पदक्रम आदि का संहिताओं के अध्ययन के पश्चात् ही अध्ययन सम्प्रति भी देखा जाता है।

८—**विधौ तु वेदसंयोगात्** (६।७।२६)—यह सूत्र जिस प्रकरण में पढ़ा गया है, उसका विचारणीय विषय है—परकृति और पुराकल्परूप में पठित वाक्यों से गम्यमान अभिप्राय का सम्बन्ध पुरुष से है, अथवा विधि से, अथवा ये अर्थवादमात्र हैं? प्रकृतसूत्र 'विधि के साथ परकृति पुराकल्प वाक्यों से गम्यमान अर्थ का सम्बन्ध दर्शाने के लिये है। यह पक्ष भी पूर्वपक्षरूप है। सूत्र का तात्पर्य है—वेद के साथ संयोग होने से उक्त वाक्यों द्वारा गम्यमान अर्थ का विधि में उपदेश है, अर्थात् विधान में तात्पर्य है। इसलिये उक्त विषय में पुरुषमात्र का विधान प्राप्त होता है।

शाबरभाष्य के अनुसार इस सूत्र में प्रयुक्त वेद शब्द का सम्बन्ध ब्राह्मण-वचन से है, यह स्पष्ट है। यह भाक्त प्रयोग हो सकता है।

'वेद' शब्द का सामान्य विचार—वेदपद-घटित सूत्रों पर जो विचार किया है, वह शाबरभाष्य की व्याख्या के अनुसार किया है। फिर प्रथम और द्वितीय सूत्र वेदो वा प्रायदर्शनात्; वेदसंयोगात् न प्रकरणेन बाध्येत (३।३।२,८) सूत्रों में प्रयुक्त 'वेद' शब्द केवल मन्त्रों के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह स्पष्ट है। संख्या ३, ४, ५, ६ सूत्रों में भाष्यकार शबरस्वामी ने औद्‌गात्र आध्वर्यव आदि संज्ञाओं का निर्देश किया है। ये संज्ञायें मन्त्रसंहिता से भी सम्बद्ध हैं।[2] अतः

---

१. द्र०—'उपायः उपायनः उपनयनम्' इति कुतुहलवृत्ति ६।२।१९ (सूत्रसंख्या में भेद है)।

२. द्र०—ऐ० ब्रा० ५।३२—'ऋचैव हौत्रमकरोत्, यजुषाध्वर्यवम्, साम्नोद्‌गीथम्'। इस वाक्य के आरम्भ में पठित ऋग्वेदादि शब्द मन्त्रों के ही वाचक हैं। द्र०—पूर्व पृष्ठ १०३-१०४।

यहां औद्गात्र आदि संज्ञाओं से अभिप्रेत वेदमन्त्रों का जिन ब्राह्मणग्रन्थों में विनियोग वा व्याख्यान[1] किया है, वे भी औद्गात्र आदि संज्ञाओं से सम्बद्ध हैं। इस विषय में तृतीय सूत्र के विचार में विस्तार से लिखा है। वहीं पर पक्षान्तर में पाणिनीय आदि आख्या के अनुसार वेद-संज्ञा के भाक्त (=गौण) प्रयोग का भी उपपादन किया है। संख्या ८ के अपि वा वेदतुल्यत्वात् में तो वेद से मन्त्र ही अभिप्रेत है। ब्राह्मण का सम्बन्ध वेदतुल्य धर्ममात्र से लग सकता है। वैदिक लोग तो वेदाध्ययन के नियमों का (जो धर्मशास्त्र में उपदिष्ट हैं) ब्राह्मणातिरिक्त कल्पसूत्रादि षडङ्गों के अध्ययन में भी पालन करते हैं। इससे कल्पसूत्रादि षडङ्ग वेद नहीं माने जाते। वस्तुतः धर्मशास्त्रकारों ने वेदाध्ययन का उपलक्षणवत् निर्देश करके अध्ययनमात्र के नियमों का विधान किया है। सख्या ८ के सूत्र में भाक्त प्रयोग भी हो सकता है। इस प्रकार यदि हम कहें कि तीन सूत्रों में वेद शब्द मन्त्रसंहिता के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, तो शेष ५ सूत्रों में वेदशब्द का प्रयोग गौण है।

अब हम प्रकृत वेदापौरुषेयत्व अधिकरण में प्रयुक्त 'वेद' शब्द पर विचार करते हैं। हम यह स्वीकार कर चुके हैं कि—**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र के अनुसार विधीयमान पारिभाषिक संज्ञा यज्ञ-सम्बन्धी ग्रन्थों में माननीय है। पूर्वमीमांसा का भी यज्ञकर्म के साथ ही सम्बन्ध है। अतः इस पारिभाषिक-संज्ञा के अनुसार भगवान् जैमिनि ने स्वशास्त्र में इसे स्वीकार किया भी हो, तथापि **वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या** (मी० १।१।२७) सूत्र में तो उक्त पारिभाषिक संज्ञा उन्हें अभिप्रेत नहीं है। यह शास्त्रकार की प्रवृत्ति (=व्यवहार) से जाना जाता है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

(१) मीमांसाशास्त्र का वास्तविक आरम्भ, जिसके लिये शास्त्रकार ने शास्त्र की रचना की है, प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से होता है। प्रथम पाद तो भूमिकास्वरूप है। इसमें धर्म का लक्षण, धर्म में वेद का प्रामाण्य, शब्द शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता द्वारा वेद की नित्यता, ये तीन मुख्य विषय हैं। ये प्रथम पाद के सूत्र २-३-४-५ में कहे गये हैं। इसके पश्चात् शास्त्रकार ने तीन अधिकरणों में (सूत्र ६—११) तक शब्द के अनित्यत्व, वाक्यरचना के पौरुषेयत्व, तथा वेद के साथ पुरुष नाम के सम्बन्ध को लेकर जो वेद की नित्यता पर आक्षेप होते हैं, उनका समाधान किया है। **कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्** (सूत्र ३२) सूत्र को आचार्य शबरस्वामी आदि ने अन्तिम अधिकरण में ही रखा है। परन्तु हमारा विचार है कि यह सूत्र स्वतन्त्र विषय का बोधक है। इसकी विशेष व्याख्या आगे वेदापौरुषेयत्वाधिकरण के सूत्रों की व्याख्या करते समय दर्शायेंगे।

इस दृष्टि से जहां से यज्ञसम्बन्धी ब्राह्मण वचनों पर विचार आरम्भ होता है, उसके प्रथम सूत्र **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्** में आम्नाय विशेष पद का प्रयोग किया है, और आम्नाय

---

१. ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात्। सायण, तै० सं० भाष्य उपोद्घात (चतुर्वेद-भाष्य भूमिका, पृष्ठ ७)।

की क्रियार्थता (=क्रियाप्रयोजनता) का निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि आगे सम्पूर्ण शास्त्र में आम्नाय-वचनों पर विचार किया जायेगा। सूत्रकार ने स्वयं पारिभाषिक आम्नायसंज्ञा का विधान किये विना ही याज्ञिक-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध **आम्नायः पुनर्मन्त्रा ब्राह्मणानि च** (कौशिक सूत्र १।३) वचन-निर्दिष्ट आम्नाय-संज्ञा का निर्देश किया है। समान तन्त्र में प्रसिद्ध संज्ञाओं के संज्ञासंज्ञी-सम्बन्ध का विना निर्देश किये शास्त्रकार प्रायः व्यवहार करते हैं। जैसे पाणिनि ने **वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः** (१।२।६५) सूत्र में स्वशास्त्रीय 'वृद्ध' संज्ञा से भिन्नार्थक होने पर भी पूर्वाचार्यों की 'वृद्ध' संज्ञा का निर्देश किया है।

आम्नाय-वचन शब्द का प्रयोग मीमांसा ११।२।४१ तथा १२।४।३० में मिलता है। दोनों स्थानों पर भाष्यानुसार आम्नाय-वचन का अर्थ ब्राह्मण-वचन ही है।

(२) हमारे विचारानुसार 'वेदापौरुषेयत्व-अधिकरण' की समाप्ति **परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्** (१।१।३१) सूत्र पर हो जाती है। क्योंकि पूर्वपक्षी ने वेद के अनित्यत्व के साधक जो 'पुरुषाख्या-दर्शन' और 'अनित्य-दर्शन' दो हेतु दिये थे, उनका उत्तर उक्त ३१ वें सूत्र तक पूर्ण हो जाता है। **कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्** (१।१।३२) सूत्र की संगति दर्शाने के लिये भाष्यकार ने सूत्र-अनारूढ पूर्वपक्ष उठाकर उसका **कृते वा०** सूत्र से समाधान किया है। यह प्रयत्न भाष्यकार ने पूर्व अधिकरण के साथ ही **कृते वा०** सूत्र का सम्बन्ध जोड़ने के लिये किया है। यह चिन्त्य है। क्योंकि भाष्यकार ने पूर्वपक्ष में उदाहृत **वनस्पतयः सत्रमासत; सर्पाः सत्रमासत** वचनों को अर्थवाद कहकर क्रिया की प्रशंसा द्वारा विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता दर्शाकर पूर्वपक्ष का समाधान करने का प्रयत्न किया है। यह पुनरुक्तदोषदूषित है। अर्थवादवचन विधिवाक्य के साथ जुड़कर विधि के प्रशंसक होते हैं, यह बात सूत्रकार ने **विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः** (१।२।७) सूत्र द्वारा आगे कही है। अतः हमारा विचार है कि **कृते वा विनियोगः स्यात्** सूत्र द्वारा भगवान् जैमिनि यहां किसी अन्य विषय का निर्देश करना चाहते थे। वह विषय तात्कालिक मीमांसकों के मत के विपरीत होने से शबरस्वामी ने, अथवा उनसे पूर्व किसी अन्य भाष्यकार ने यह पुनरुक्तदोष-दूषित संयोजन किया है। हम इस पर आगे वेदापौरुषेयत्व अधिकरण के सूत्रों की व्याख्या के साथ प्रकाश डालेंगे।

अब यदि शबरस्वामी आदि के मतानुसार हम यह मान लें कि सूत्रकार को वेदशब्द का अर्थ मन्त्र-ब्राह्मण दोनों अभिप्रेत थे, तो प्रश्न होता है कि 'वेद' का प्रसंग अव्यवहित पूर्व में विद्यमान होने पर भी **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्** सूत्र में आम्नाय पद का पुनः प्रयोग क्यों किया? अनुवर्तमान वेदशब्द स्वतः विभक्ति-व्यत्यय द्वारा सम्बद्ध हो ही जाता। यदि यह कहा जाय कि विभक्ति-व्यत्यय से बचने और स्पष्टतार्थ के लिये आम्नाय शब्द का प्रयोग किया है, तो प्रश्न होता है कि स्वशास्त्र में बहुनिर्दिष्ट वेदशब्द का प्रयोग न करके आम्नाय पद का प्रयोग क्यों किया?

प्राचीन आर्ष दृष्टि के अनुसार सूत्रकार की रचना में कोई दोष नहीं आता। क्योंकि यहां प्रयुक्त वेदशब्द मन्त्रमात्र का वाचक है। और आगे शास्त्र में मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों के वाक्यों

पर विचार करना था। अतः उन्होंने मन्त्र-ब्राह्मणवाचक विशिष्ट पारिभाषिक 'आम्नाय' संज्ञा का प्रयोग किया।

(३) सम्पूर्ण उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में कोई भी ऐसा वचन नहीं है, जिसमें प्रत्यक्ष-रूप से ब्राह्मण को भी ईश्वर प्रजापति अथवा महाभूत निःश्वसित कहा हो। इसके विपरीत ब्राह्मणों में ऐसे अनेक वचन उपलब्ध होते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि वर्तमान ब्राह्मणों का प्रवचन भगवान् जैमिनि के काल में ही हुआ था। यथा—

'शश्वद्धैतदारुणिनोपज्ञातं यद् गौतमब्रुवाणेति' (शत० ३।३।४।१९)।

अर्थात्—सुब्रह्मण्या निगद में पठ्यमान गौतमब्रुवाण भाग आरुणि को अभी उपज्ञात हुआ है।

यही बात सूत्रकार जैमिनि ने भी स्वप्रोक्त जैमिनीय ब्राह्मण में सुब्रह्मण्या निगद के व्याख्यान में लिखी है -

'अथ ह वा एके कौशिकब्रुवाण गौतमब्रुवाणेति आह्वयन्ति। तदु ह वा आरुणिनैव यशस्विनोपज्ञातम्'। जै० ब्रा० २।७९-८०॥

इन वचनों में सुब्रह्मण्या निगद के 'गौतम ब्राह्मण' वचनों को जहां आरुणि द्वारा उपज्ञात कहा है, वहां शतपथ में अधुनैव (=अभी-अभी) विशेषरूप से कहा है। उपज्ञात शब्द का अर्थ भी 'स्वप्रतिभा से जाना गया' है। उपज्ञान मानुष धर्म है। इससे स्पष्ट है कि सूत्रकार ब्राह्मण को मन्त्रों के समान अपौरुषेय नहीं मानते थे। फिर भला वे 'वेद' का अर्थ मन्त्रब्राह्मणसमुदाय मानकर मीमांसा के प्रकृत वेदापौरुषेयत्व अधिकरण में ब्राह्मण को अपौरुषेय कैसे सिद्ध कर सकते थे?

(४) प्राक्कालिक किसी भी तत्त्व का निर्णय बिना इतिहास की सहायता के उद्घाटित नहीं हो सकता। इतिहास ही ऐसा साधन है, जिससे सम्पूर्ण काल के गर्भ में छिपे हुये तथ्यों को उद्घाटित किया जा सकता है। कहा भी है—

इतिहास-प्रदीपेन मोहावरणघातिना।
लोकगर्भं गृहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशयेत्॥[1]

अर्थात्—अज्ञानरूपी आवरण को नष्ट करनेवाले इतिहासरूपी प्रदीप की सहायता से, लोक में गर्भित हुये=छिपे हुये गृह=ग्रहण करने योग्य वस्तु को यथावत् प्रकाशित करे।

तदनुसार वेद की शाखाओं और ब्राह्मणों के प्रवचन को इतिहास की दृष्टि से भी देखना अत्यन्त आवश्यक है। तभी हम जान सकेंगे कि आधुनिक मीमांसकों के कथन 'सभी शाखाएं और

१. यह श्लोक चतुर्थ चरण के संप्रकाशयेत् के स्थान पर संप्रकाशितं पाठ से महाभारत में भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा उक्त है। द्र०—आदिपर्व १।८७॥

ब्राह्मण अपौरुषेय तथा अनादि हैं' की परीक्षा हो सकती है। अतः हम संकेतरूप में ऐतिहासिक तथ्यों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाते हैं—

(१) वर्तमान उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में जैसा वेद के प्रजापति से प्रकट होने, वा महाभूत (ब्रह्म) से निश्वसित होने का बहुत्र वर्णन उपलब्ध होता है, वैसा शाखाओं और ब्राह्मणों के विषय में एक जगह भी नहीं मिलता। इसी के साथ ही उपलब्ध शाखाओं और ब्राह्मणों में जैसे मन्त्रों को तत्तद् ऋषियों के नामनिर्देशपूर्वक दृष्ट कहा है, वैसा किसी ब्राह्मण वा ब्राह्मणांश के लिये दृष्टिगोचर नहीं होता। दो-एक स्थानों पर ब्राह्मण को प्रजापति-दृष्ट कहा है। उसका तात्पर्य उस ब्राह्मण में विहित यज्ञविशेष के दर्शन से है। दर्शपौर्णमास आदि यज्ञों के लिये कई स्थानों में दृष्टः, अपश्यत आदि क्रिया का उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है। अस्तु,

(२) शाखाओं वा ब्राह्मणों का प्रवचन कब से आरम्भ हुआ, इस विषय में साक्षात् कोई वचन उपलब्ध नहीं होता। फिर भी यह माना जा सकता है कि कृत युग के अन्त में जब यज्ञों का प्रचलन हुआ[1], और त्रेता में यज्ञों तथा उनकी विधियों का विस्तार हुआ[1], तब यज्ञकर्म की सुविधा की दृष्टि से शाखाओं और ब्राह्मणों का प्रवचन आरम्भ हुआ।

वायुपुराण अ० २४, श्लोक ११५—२१८ में द्वापर युग के वेदशाखाओं के प्रवक्ता २८ व्यासों के नाम लिखे हैं। 'व्यास' शब्द का अर्थ 'वेद का विस्तार करनेवाला है।' द्वापरयुगीन २८ व्यासों में कृष्णद्वैपायन व्यास अन्तिम है। वेद की जो ११२७ या ११३१ शाखाएं महाभाष्य आदि में कही गई हैं, वे सब कृष्ण द्वैपायन के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त हैं। कृष्ण द्वैपायन से पुराण अर्थात् पूर्ववर्ती २७ व्यासों द्वारा प्रोक्त शाखाओं में से वाल्मीकि आदि प्रोक्त कतिपय शाखाओं के नाम प्रातिशाख्यों में मिलते हैं। ऐतरेय शाट्यायन भाल्लवि प्रोक्त शाखाएं वा ब्राह्मण कृष्णद्वैपायन से पुराण (=पूर्व) व्यासों द्वारा प्रोक्त हैं[2], इस विषय का निर्देश पाणिनि के पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (अष्टा० ४।१।१०५) सूत्र, तथा इसकी काशिकादि वृत्तियों से जाना जाता है। सम्प्रति तो पुरानी शाखाओं वा ब्राह्मणों में से एकमात्र ऐतरेय ब्राह्मण ही मिलता है। परन्तु इसका वर्तमान रूप भी शौनक अथवा उसके शिष्य आश्वलायन द्वारा प्रोक्त है।[3] पं० भगवद्दत्त जी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' के प्रथम भाग (वेदों की शाखाएं) अ० १८ में कृष्णद्वैपायन व्यास से प्राचीन कुछ शाखाओं का निर्देश किया है।

---

१. इस विषय में हमने इस भाग के आरम्भ में मुद्रित 'श्रौतयज्ञ मीमांसा' में विस्तार से लिखा है।

२. 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (अष्टा० ४।१।१०५) सूत्र में पुराण और अभिनव की सीमा कृष्णद्वैपायन व्यास हैं। इन से पूर्व प्रोक्त ब्राह्मण कल्प पुराण-प्रोक्त हैं, और कृष्णद्वैपायन के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त अभिनव। द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २५०-२५१।

३. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २५१-२५२ (संवत् २०३०)। द्र०—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण-आरण्यक भाग, पृष्ठ २३३ (संस्करण २), ऐतरेयारण्यक के चतुर्थ पञ्चम आरण्यक के विषय में।

मीमांसाशास्त्रकार भगवान् जैमिनि स्वयं कृष्णद्वैपायन के शिष्य थे। इन्होंने जहां स्वयं जैमिनीय संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा श्रौत-गृह्यसूत्रों का प्रवचन किया, वहां इन्हीं के समय में कृष्णद्वैपायन के अन्य शिष्य-प्रशिष्य ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद की शाखाओं और ब्राह्मणों का प्रवचन कर रहे थे। ऐसी अवस्था में सूत्रकार जैमिनि स्वकाल में विविध ऋषियों द्वारा प्रोक्त हो रहे शाखा-ब्राह्मणसमुदाय को अपौरुषेय कैसे मान सकते थे ?

(३) वर्तमान में जो शाखाएं वा ब्राह्मणग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, उनमें स्पष्टरूप से उस समय के ऋषियों-राजाओं आदि के नाम. परस्पर सम्भाषण आदि का निर्देश उपलब्ध होता है। इसकी पुष्टि महाभारत के कतिपय प्रसङ्गों से भी होती है। इस विषय के परिज्ञान के लिये देखिये—पं० भगवद्दत्त कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास—'ब्राह्मण तथा आरण्यक' भाग का चौथा अध्याय—'ब्राह्मण-ग्रन्थों के समकालीन आचार्य वा राजा' पृष्ठ ६१—८८ (संस्क० २)।

जब भगवान् जैमिनि न केवल अपने समय की प्रोक्त शाखाओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में, उस समय के ऋषि-मुनियों और राजाओं की घटनाओं का वर्णन उपलब्ध कर रहे थे, अपितु स्वयं भी जैमिनीय-ब्राह्मण में उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख कर रहे थे, तब भला वे शाखाओं वा ब्राह्मणों को नित्य अपौरुषेय वेद कैसे स्वीकार कर सकते थे ?

(४) अन्तिम शाखा-प्रवचन से २००-३०० वर्ष पश्चात्कालिक भगवान् पतञ्जलि, जो स्वयं चरक चरणान्तर्गत काठक-शाखा के अध्येता, और भारतीय इतिहास के अद्भुत ज्ञाता थे, वे महाभाष्य (४।२।१०१) में स्पष्ट लिखते हैं कि—"शाखाओं का अर्थ तो नित्य है,परन्तु इनकी जो वर्णानुपूर्वी है, वह अनित्य है। इस [प्रवचननिमित्तक] वर्णानुपूर्वी के कारण ही यह प्रयोग होता है—काठक, कालापक, मौदक और पैप्पलादक आदि"। उनके शब्द हैं—

"ननु चोक्तं—'न हि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसि' इति। यद्यप्यर्थो नित्यः,या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति—काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकम् इति।"

उधर ये ही पतञ्जलि महाभाष्य ५।२।५९ में ऋग्वेद १।१६४ के अस्यवामीय सूक्त के स्वर और वर्णानुपूर्वी को नित्य कहते हैं। नागेश भट्ट पूर्वोदाहृत अनित्या वर्णापूर्वी वाक्य से विरोध की आशंका जानकर कहता है—उस-उस कल्प में जैसी ऋषियों ने वर्णानुपूर्वी रची है, वह कल्प-समाप्तिपर्यन्त नित्य है [इसलिये नित्य कहा है]।

वस्तुतः भाष्यकार के वचनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। पूर्ववचन (महा० ४।३। १०१) में उन्होंने शाखाओं की वर्णानुपूर्वी को अनित्य कहा है, और ५।२।६९ में मूलसंहितास्थ अस्यवामीय के विषय में वर्णानुपूर्वी को नित्य कह रहे हैं।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शाखाओं की वर्णानुपूर्वी को अनित्य कहते हुये भी जो उनके अर्थ की नित्यता कही है, उसका तात्पर्य शाखाओं में मूल मन्त्रस्थ पद के स्थान में जो पदान्तर पढ़े हैं, उनके विषय में है। इसे एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं—

यजुर्वेद अ० ९ का ४० वीं कण्डिका का भाग है—एष वोऽमी राजा। यह मन्त्र राज्याभि-

षेक में विनियुक्त है। इसमें एष और अमी दो सामान्यवाचक शब्द हैं। एष के स्थान में अभिषिच्यमान राजा के नाम का उच्चारण होता है, और अमी के स्थान पर तत्तद्देशगत प्रजा नाम का। अब इस प्रसङ्ग में देखिये शाखान्तरों के पाठ—

काण्व संहिता का पाठ	एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा।
तैत्तिरीय संहिता का पाठ	एष वो भरता राजा ।
मैत्रायणी संहिता का पाठ	एष वो जनते राजा।
काठक संहिता का पाठ	,, ,, ,, ।

इन पाठों से स्पष्ट हो जाता है कि शाखाओं के प्रवक्ताओं ने जहां-जहां उन की शाखाओं का प्रचलन था, उन देशों की प्रजाओं का साक्षात्'कुरवः पञ्चालाः भरताः'नाम अमी सामान्यवाचक पद के स्थान में पढ़ दिया। राजा तो बदलते रहते हैं, अतः एष पद को वैसा ही रहने दिया। काठक और मैत्रायणी संहिताओं के प्रचलनवाले देश में राजतन्त्र न होने से जन-तन्त्रनिर्देशक जनते पद पढ़ा। वस्तुतः यहां शाखाप्रवक्ता को कुरवः पञ्चालाः भरताः इन विशेष शब्दों से तात्पर्य नहीं है। यदि काण्व संहिता अथवा तैत्तिरीय सहिता के अनुसार किसी ऐसे देश के राजा का अभिषेक करना हो, जिसकी जनता कुरु पञ्चाल वा भरत कुल की न हो, तो वहां इन विशिष्ट पदों को हटाकर तद्देशीय आन्ध्राः आदि पदों का ही प्रयोग करना पड़ेगा। इसी दृष्टि से भगवान् पतञ्जलि ने कहा है कि शाखा पठित विशिष्ट पद का मूल तात्पर्य नित्य ही है, अर्थात् कुरवः पञ्चालाः भरताः पद तो उपलक्षणमात्र हैं।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शाखाओं का प्रवचन मन्त्रार्थबोध कराने के साथ मुख्य प्रयोजन यज्ञकर्म में सुगमता उत्पन्न करना है।

(५) शतपथब्राह्मण १।५।१।३५ में भगवान् याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

"तदु हैके अन्वाहुः—'होता यो विश्ववेदसः' इति नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति। तदु तथा न ब्रूयात्। मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तदयज्ञस्य यन्मानुषम्। नेद् यज्ञे व्यृद्धं करवाणीति, तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेवमेवानु ब्रूयात्—होतारं विश्ववेदसम् इति।"

अर्थात्—[दर्शपौर्णमास में सामधेनी मन्त्रों के अनुवाचन के पश्चात् पढ़ता है—अग्निं दूतं वृणीमहे। होतारं विश्ववेदसम्। इसके तृतीय चरण को] कतिपय याज्ञिक पढ़ते हैं—होता यो विश्ववेदसः। वैसा न बोले। वे यज्ञ में निश्चय ही मानुष पाठ करते हैं। जो मानुष पाठ है, वह यज्ञ की हीनता है। यज्ञ में हीनता=न्यूनता न करे, इसलिये जैसा ही ऋचा ने कहा है (=जैसा मन्त्र का पाठ है), उसी प्रकार बोले—होतारं विश्ववेदसम् इति।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भगवान् याज्ञवल्क्य शाखाओं के पाठों को मानुष मानते थे। सायण ने भी लिखा है—'होता यः' यह पाठपरिवर्तत मनुष्यबुद्धिप्रभव होने से मानुष है। इस लिये जैसा वेद में पढ़ा है, वैसा ही उच्चारण करना चाहिये।"[1]

---

१. होता य इति पाठविपरिणामस्य मानुषबुद्धिप्रभवतया मानुषत्वम्। यथैव वेदे पठितं तथ गानुवक्तव्यम्। शत० भाष्य १।४।१।३५॥

(६) वेद नित्य हैं, और शाखाएं अनित्य हैं। वेद शब्द के पाठान्तर के कारण शाखाएं भिन्न-भिन्न हैं। सब का अर्थ एक ही है। शाखाएं प्राजापत्य श्रुति के पाठान्तरमूलक विकल्प हैं। यह तथ्य वर्तमान पुराणों में भी सुरक्षित है। वायुपुराण अ० ६१ में कहा है—

सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचकाः।
पाठान्तरे पृथक् भूता वेदशाखा यथा तथा ॥५९॥

प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः॥६१॥

(७) वेद की शाखाएं पाठान्तर द्वारा मूल मन्त्रों के अर्थों का अवबोधन कराती हैं। इस प्रकार वे व्याख्यानरूप भी है। यहां हम निदर्शनार्थ दो पाठ उद्धृत करते हैं—

(क) वाजसनेय (=माध्यन्दिन) संहिता का पाठ है—**भ्रातृव्यस्य वधाय** (१।१७)। इसमें यदि स्वर की उपेक्षा की जाय, तो भ्रातृव्य पद में सन्देह होगा। भ्रातृव्य का एक अर्थ है—शत्रु, और दूसरा है—भतीजा। इस सन्देह की निवृत्ति काण्व-संहिता का **द्विषतो बधाय** (१।२८) पाठ कर देना है। अर्थात् काण्व पाठ ने **भ्रातृव्यस्य** पाठ का स्पष्ट व्याख्यान कर दिया है।

(ख) वाजसनेय संहिता का पाठ है—**मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य** (२।१३)। इस मन्त्र का तैत्तिरीय संहिता में पाठ है—**मनो ज्योतिर्जुषतामाज्यम्** (१।५।३)। इस पाठ को उद्धृत करके स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—'जूति जो मन का विशेषण था, सो ज्योति शब्द से स्पष्टार्थ हो गया। इसी प्रकार आज्यस्य कर्म में षष्ठी है, यह आज्यम् पाठ से स्पष्ट हो गया' (द्र०—सत्यार्थ-प्रकाश, सन् १८७५ का संस्करण, पृष्ठ ३३२)।

(८) ब्राह्मण मन्त्रों के व्याख्यान हैं। इसे तो सायणाचार्य भी मानते हैं। वे लिखते हैं—'ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः।' तै० सं० भाष्य का उपोद्घात (द्र०—चतुर्वेदभाष्यभूमिका-संग्रह, पृष्ठ ७)।

इस प्रकार वेद की शाखाओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों के तत्तदृषि-प्रोक्त होने से भगवान् सूत्रकार उन्हें न तो वेद मान सकते थे, और ना ही अपौरुषेय, यह स्पष्ट है।

अब एक आक्षेप शेष रहता है। पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन में स्वामी दयानन्द सरस्वती का अभिमत, मूल वेद और शाखाओं के पार्थक्य के सम्बन्ध में लिखा है कि—'वेद की सभी संहिताएं (चाहे कोई भी हों) ऋषिनाम से पुकारी जाती हैं। जैसे शाकल वाजसनेय कौथुम। फिर उन्होंने इन्हें मूल कैसे मान लिया? यह हमारी समझ में नहीं आता।'[1]

इसके उत्तर में यहां हम इतना ही कहेंगे कि मूल वेद और शाखाओं का पार्थक्य २००० वर्ष पूर्व तक भी प्रसिद्ध रहा है (उद्धरण आगे देखें)। फिर मूल वेद भी शाकल आदि नामों से क्यों

१. 'हन्त ! का नाम संहिता शाखेति व्यपदेशशून्या तेन महात्मनोररीकृता, यस्याः मूलवेदत्वं मत्वा शाखेतिप्रसिद्धानामन्यासां तद्व्याख्यानग्रन्थत्वं मन्तव्यं भवेदिति त्वस्माकमविज्ञेयमेव'। ऐतरेयालोचन, पृष्ठ १२७॥

व्यवहृत होते हैं, इसका समाधान आख्या प्रवचनात् (मी० १।१।३०) सूत्र की व्याख्या में आगे बतायेंगे। शतपथ ब्राह्मण का व्याख्याता हरिस्वामी (कलि संवत् ३०४७, वि० सं० २) अपने शतपथ-भाष्य के उपोद्घात में लिखता है—

'वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद् हेतुत्वात् प्रामाण्यं बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्' । शतपथ-भाष्य, हमारा हस्तलेख, पृष्ठ २।

अर्थात्—वेद के अपौरुषेय होने से उनका स्वतःप्रामाण्य सिद्ध होने पर उनकी शाखाओं का प्रामाण्य भी बादरायण आदि ने वेदहेतुक (=वेद-सम्बन्ध-हेतुक अथवा वेद-व्याख्यान-हेतुक) होने से प्रतिपादित किया है।

यहां वेदानां और तच्छाखानां का पृथक्-पृथक् निर्देश करने से, तथा शाखा का प्रामाण्य वेदमूलक होने से स्वीकार करने से स्पष्ट है कि हरिस्वामी शाखाओं से पृथक् किसी मन्त्र-संहिता को वेद मानता था।

इस प्रकार संकेतरूप में भगवान् जैमिनि के मत में वेद शब्द का अर्थ, शाखाओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों का मानुषत्व=ऋषिप्रोक्तत्व, शाखाओं का अनित्यत्व, और वेद का शाखाओं से पार्थक्य दर्शाकर अब हम भगवान् जैमिनि के वेदापौरुषेयत्व-प्रकरण के सूत्रों की व्याख्या लिखते हैं।

'वेदापौरुषेयत्व-प्रकरण' के सूत्रों की व्याख्या

वेदापौरुषेयत्व-प्रकरण में प्रथम दो सूत्र पूर्वपक्ष के हैं—

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ॥२७॥

अनित्यदर्शनाच्च ॥२८॥

सूत्रार्थ—(वेदान्) वेदों को (एके) कतिपय व्यक्ति (सन्निकर्षम्) निकट काल का बना हुआ मानते हैं। क्योंकि वे (पुरुषाख्याः) पुरुषविशेष के नामों से पुकारे जाते हैं॥

(च) और [वेदों में] (अनित्यदर्शनात्) अनित्य पदार्थों वा व्यक्तियों का वर्णन दिखाई पड़ने से भी [वेद पुरुषकृत हैं]॥

व्याख्या—शब्द अनित्यत्व और वाक्यरचना के पौरुषेयत्व के आधार पर वेद की अनित्यता के सम्बन्ध में जो पूर्वपक्ष उठाये जाते हैं, उनका समाधान सूत्रकार ने पिछले दो अधिकरणों में कर दिया है। अब वेद का अनित्यत्ववादी वेद की अनित्यता अथवा पुरुषकर्तृत्वपक्ष की सिद्धि के लिये नये दो हेतु उपस्थित करता है—

प्रथम हेतु है कि वेद की संहिताओं का निर्देश भी लोक में शाकल वाजसनेय आदि नामों से होता है। जैसे लोक में पाणिनीया अष्टाध्यायी के प्रयोग में 'पाणिनीया' निर्देश से अष्टाध्यायी के पाणिनिकृत होने का परिज्ञान होता है। इसी प्रकार शाकल, वाजसनेय आदि पुरुष-सम्बद्ध नामों से ऋग्वेद यजुर्वेद आदि की रचना शाकल्य वाजसनेय(=याज्ञवल्क्य) आदि नाम के आचार्यों ने की, यह जाना जाता है।

दूसरा हेतु है कि वेदों में अनित्य पदार्थों एवं व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। यथा--

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ ऋ० १०।७५।५॥

इस मन्त्र में गङ्गा यमुना सहित भारत के पश्चिमोत्तर भाग की ५ नदियों का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि इन नदियों का नाम वेद में आने से वेद पौरुषेय हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद मं० १०, सूक्त ९८ में कुरु कुल के देवापि और शन्तनु का वर्णन है। यास्क ने भी ५ वें मन्त्र के व्याख्यान से पूर्व निरुक्त २।१० में तत्र इतिहासमाचक्षते लिखकर इनका इतिहास लिखा है। वेदों में अनेक स्थानों पर ऋषियों और राजाओं के नाम मिलते हैं। अतः मन्त्रों की रचना किन्हीं पुरुषों ने की थी, यह स्पष्ट है।

इन आक्षेपों के समाधानसूत्र इस प्रकार हैं—

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥२९॥

आख्या प्रवचनात् ॥३०॥

परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥३१॥

सूत्रार्थ —(तु) शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति में है, अर्थात् वेद पौरुषेय नहीं है। (शब्द-पूर्वत्वम्) वैदिक शब्दों का पूर्वत्व (=नित्यत्व) (उक्तम्) कह दिया है। अर्थात् वैदिक शब्द नित्य हैं। उनके अर्थ सम्बन्ध पौरुषेय नहीं हैं॥

(आख्या) शाकल वाजसनेय आदि मन्त्रसंहिताओं की आख्या (प्रवचनात्) प्रवचन के कारण प्रसिद्ध हुई है॥

(परम्) अगला अनित्यदर्शन दोष (तु) नहीं है। [क्योंकि ऐसे शब्द वैदिक शब्दों के] श्रुतिसामान्यमात्र अर्थात् यौगिक हैं॥

व्याख्या—प्रथम सूत्र से कहा है कि शब्द और उनका अर्थ-सम्बन्ध नित्य है। पदार्थ भी आकृति है। आकृति (=जाति) नित्य है, यह सभी दार्शनिकों का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। इसलिये वेद में प्रवाह से नित्य अग्नि वायु सूर्य चन्द्र पर्वत नदी आदि जातिवाचक शब्दों का ही व्यवहार है। लौकिक गङ्गा यमुना देवापि शन्तनु आदि व्यक्तिवाचक शब्दों में कोई भी गङ्गात्व देवापित्व आदि जाति नहीं मानता।

द्वितीय सूत्र में कहा है कि मन्त्र-संहिताओं के शाकल वाजसनेय आदि नाम उनके शाकल्य और वाजसनेय द्वारा प्रवचन-विशेष के कारण हैं। प्रवचन कई प्रकार का होता है—

एक प्रवचन है—पूर्वतः विद्यमान ग्रन्थ में न्यूनाधिक करके उसे नये रूप में उपस्थित करना। यथा—अग्निवेशकृत आयुर्वेदीय तन्त्र का चरक द्वारा प्रवचन वा प्रतिसंस्कार। इस विषय में चरक सिद्धिकल्प अ० १२, श्लोक ६५ में लिखा है—

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥

दूसरा प्रवचन है—पूर्वत: किसी विषय के ग्रन्थ वा ग्रन्थों के अंशों को ग्रहण कर स्वयं उपज्ञात अंश को जोड़कर प्रवचन करना। इस प्रकार का प्रसिद्ध उदाहरण है पाणिनि की अष्टाध्यायी वा उसके खिल पाठों का प्रवचन। उसी पद्धति पर चन्द्राचार्य के चान्द्र व्याकरण का प्रवचन हुआ। उपलब्ध शाखाओं का प्रवचन प्राय: इसी प्रकार का है। भगवान् वैशम्पायन ने अपने यास्क कठ कलापी आदि ६ शिष्यों को जिस संहिता का प्रवचन किया था, उसी में क्रमभेद प्रकरणभेद वा नये अंशों को युक्त करके नये रूप में वैशम्पायन के शिष्य कठ-कलापी और यास्क के शिष्य तित्तिरि आदि ने अपने शिष्यों को प्रवचन किया। ये तैत्तिरीय कठ-कलाप आदि शाखाएं हुईं। सब के प्रवचन का मूल वैशम्पायन अपर नाम चरक का प्रवचन था। अतः ये सभी चरक इस सामान्य नाम से व्यवहृत होती हैं। इन के अध्ययन करनेवाले तथा इनके द्वारा आध्वर्यव कर्म करनेवाले सभी चरकाध्वर्यु कहाते हैं। इसी प्रकार के प्रवचन की दृष्टि से पतञ्जलि ने शाखाओं की वर्णानुपूर्वी को अनित्य कहा है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ८६, १११)।

तीसरे प्रकार का प्रवचन है—मन्त्र-संहिता का पदसंहिता के रूप में प्रवचन। इस प्रकार के प्रवचन का प्रसिद्धतम उदाहरण है शाकल्य का ऋक्संहिता का, और आत्रेय का तैत्तिरीय अपर नाम औखी संहिता का पदविभाग करना। पदविभाग करने के कारण भी मूल संहिता ग्रन्थ का पदकार के नाम से व्यवहार होता है। तैत्तिरीयसंहिता की काण्डानुक्रमणी में लिखा है—

वैशम्पायनो यास्कायैतां[तथा]प्राह पैङ्गये।
यास्कस्तित्तिरये प्राह उखाय प्राह तित्तिरिः॥२५॥

उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने।
तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते ॥२६॥

यस्याः पदकृत आत्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः। काण्डानुक्रमणी अ० ३॥

इस पाठ से स्पष्ट है कि आत्रेय ने 'उख' से प्राप्त शाखा का पदपाठ बनाया। इस कारण वह शाखा आत्रेयप्रणीत 'आत्रेयी' के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुई।

शाकल्य ने ऋक्संहिता का पदपाठ रचा था। यास्क मुनि ने **वनेनवायः** (ऋ० १०।२६।१) मन्त्र के व्याख्यान में लिखाहै—**वा इति च य इति च चकार शाकल्यः** (निरुक्त ६।२८)। इससे स्पष्ट है कि ऋक्संहिता के साथ शाकल्य का पदकार के रूप में सम्बन्ध था, और उसी पद-प्रवचन के कारण ऋक्संहिता शाकल संहिता कही जाती है।

चौथे प्रकार का प्रवचन है—अध्ययन-अध्यापन से प्रायः विलुप्त संहिता का पुनः विशेष प्रचार। इस प्रकार का उदाहरण है शुक्लयजुः नाम से प्रसिद्ध यजुःसंहिता का। वाजसनेय याज्ञवल्क्य पहले अपने मामा वैशम्पायन अपरनाम चरक के शिष्य थे। परन्तु स्वतन्त्र-प्रकृतिवाले याज्ञवल्क्य का अपने गुरु से कुछ मतभेद हो जाने के कारण कृष्णयजुः के अध्ययन का परित्याग करके आदित्य-सम्प्रदाय में कथंचित् अवशिष्ट शुक्लयजुःसंहिता का अध्ययन करके उन्होंने उसे पुनर्जीवित किया। इस पर अभूतपूर्व बृहत्काय शतपथब्राह्मण का प्रवचन करके इसे याज्ञिक

सम्प्रदाय में पुनः प्रतिष्ठित किया। शतपथ के अन्त में भगवान् याज्ञवल्क्य ने लिखा है—आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते। अर्थात् आदित्य-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध ये शुक्लयजु: वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा व्याख्यात किये गये।

याज्ञवल्क्य ने आदित्य सम्प्रदाय के गुरु[1] से लब्ध यजु:संहिता का अपने शतपथरूपी व्याख्यान द्वारा प्रवचन किया। उन्होंने संहिता में कुछ भी परिवर्तन नहीं किया। इसके अनेक प्रमाण शतपथब्राह्मण में उपलब्ध होते हैं। सब से मुख्य प्रमाण यह है कि गुरु से प्राप्त शुक्ल यजुसंहिता के आरम्भ में दर्शेष्टि के मन्त्र पढ़े हुये हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य ने शतपथब्राह्मण में पहले उभय इष्टियों में समान मन्त्र और पौर्णमासेष्टि के मन्त्रों का व्याख्यान किया है। याज्ञवल्क्य पहले पौर्णमासेष्टि और पश्चात् दर्शेष्टि करने का पक्ष मानते थे। अत: उन्होंने शुक्लयजु:संहिता के आरम्भ में पठित दर्शेष्टि के मन्त्रों का व्याख्यान पौर्णमासेष्टि के व्याख्यान के अनन्तर किया। यदि चाहते तो याज्ञवल्क्य संहिता के प्रवचन में भी दर्शेष्टि-मन्त्रों का स्वमन्तव्यानुसार पीछे प्रवचन कर सकते थे। इसी प्रकार अन्यत्र भी मन्त्रपाठ और मन्त्रव्याख्यान में क्रमभेद मिलता है। इस विशिष्ट प्रवचन के कारण पूर्वत: चली आ रही शुक्लयजु:संहिता वाजसनेयीसंहिता के नाम से प्रसिद्ध हुई।

याज्ञवल्क्य ने इस संहिता और स्वीय शतपथब्राह्मण का जिन शिष्यों को प्रवचन किया, उनमें से मध्यन्दिन काण्व आदि ने इसे प्रवचनभेद से १५ शाखाओं में विभक्त किया। इनमें से मध्यन्दिन ने याज्ञवल्क्य से प्राप्त यजु:संहिता को जैसा का तैसा रखा, केवल कुछ स्थानों में यज्ञकर्म की दृष्टि से पूर्वपठित कुछ मन्त्रों की प्रतीकें यथस्थान जोड़ दीं। इसीलिये शुक्लयजु:सम्प्रदाय में माध्यन्दिनी संहिता सर्वसाधारणी[2], अर्थात् अन्य शाखाओं की मूलभूत रूप से प्रसिद्ध है। यही कारण है कि माध्यन्दिनी संहिता के हस्तलेखों के अन्त में प्राय: वाजसनेयी संहिता अथवा वाजसनेयसंहिता का निर्देश मिलता है।

इन चार प्रकार के विशिष्ट प्रवचनों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य प्रवचनभेद रहे हों, इनका हमें ज्ञान नहीं। हमारा अनुमान है कि एक प्रवचन-प्रकार है विभिन्न कालों में दृष्ट सामगानों का संहिताक्रम से संग्रह करना, और दूसरा सामगानों के लय में नवीनता लाना भी है। इन प्रवचनों का सम्बन्ध सामसंहिता के साथ है। सम्प्रति भारत में कौथुमीय और राणायनीय साम-सम्प्रदाय के वेदपाठी मिलते हैं। राणायनीय साम-अध्येता काशी के प्रसिद्ध विद्वान् स्व० पं० हरिनारायण सामवेदी से मेरे गुरुभ्राता कौथुमशाखाध्यायी पं० सत्यदेव वासिष्ठ ने राणायनीय सामगान सीखा था। उन्होंने बताया था कि कौथुम सामगों और राणायनीय सामगों की मन्त्रसंहिता और साम समान है। केवल दोनों के गान में अन्तर है। कौथुमों का सामगान क्रुष्ट (=कठोर स्वर) है, और

१. सम्भवत: इनका नाम उद्दालक आरुणि हो। शतपथ १४।९।३।१५ में इसका संकेत उपलब्ध होता है।

२. अत एव वसिष्ठेनोक्तं—माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा। 'माध्यन्दिन शाखाविषय:' हस्तलेख में उद्धृत। मद्रास राजकीय पुस्तकालय सूचीपत्र, भाग ३, पृष्ठ ३४२९।

राणायनीयों का मधुर। इससे प्रतीत होता है कि कौथुमसंहिता के साथ कौथुम नाम का योग सामगान-पद्धतिविशेष के कारण ही हुआ है।

सम्भवतः इन्हीं दृष्टियों से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद की शाकल, यजुर्वेद की प्रतीकपाठ को छोड़कर माध्यन्दिन, और सामवेद की कौथुम संहिताओं को मूल वेद माना है। उस समय अथर्ववेद की एकमात्र शौनकसंहिता के उपलब्ध होने से उन्हें अथर्ववेद उद्धरणों के लिये उसे ही स्वीकार करना पड़ा, ऐसा हमारा विचार है।

तीसरे **परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्** सूत्र से वेदसंहिताओं में आये हुये जिन नामों को अनित्य-वादी ने पदार्थविशेष अथवा व्यक्तिविशेषों के नाम मानकर दोष दिया था, उनके सम्बन्ध में समाधान किया है। एतादृश वैदिक शब्द अनित्य पदार्थविशेषों वा व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं हैं, अपितु धात्वर्थ से प्रतीयमान सामान्य अर्थ के बोधक हैं। और ये सृष्टिगत प्रवाह से नित्य पदार्थों को बोधित करते हैं।

सूत्रकार के इस प्रकरणविशेष से यह स्पष्ट होता है कि उनके काल में कतिपय वेद-विरोधी ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हो गये थे, जो वेद के अप्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये इतिहास का आश्रय लेते थे। और उसके द्वारा वेद को अनतिचिरकाल के व्यक्ति-विशेषों द्वारा रचित सिद्ध करने की चेष्टा करते थे।[१]

निरुक्त बृहद्देवता और ब्राह्मणग्रन्थों में जहां मन्त्रों के व्याख्यान के प्रसङ्ग में **तत्रेतिहासमाचक्षते** अथवा ऐतिहासिक झलक से मिश्रित मन्त्रार्थ मिलता है, वह सब कल्पित है। इस कल्पित आख्यानसंयुक्त मन्त्रार्थप्रक्रिया का उद्भव, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक गूढ तत्त्वों को साधारण जनों को सरलता से बोध कराने के लिये हुआ था। इसकी घोषणा यास्काचार्य ने निरुक्त में दो स्थलों पर **ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता** (१०।१०, ४६)='मन्त्रार्थ-द्रष्टा ऋषि की आख्यानकथा से संयुक्त करके कहने में प्रीति होती है' शब्दों द्वारा की है। इसी बात को निरुक्त-टीकाकार दुर्गाचार्य ने निरुक्त १०।२६ में निर्दिष्ट—**तत्रेतिहासमाचक्षते** की व्याख्या में अधिक स्पष्ट करते हुये वैदिक-ग्रन्थों में निर्दिष्ट इतिहास पद का तात्पर्य प्रदर्शित किया है। दुर्गाचार्य लिखते हैं—

"एतस्मिन्नर्थे इतिहासमाचक्षते आत्मविद इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण। यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थं आख्यायते दिष्टयुदितार्थविभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो नित्यमविवक्षितस्वार्थस्तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात्।"

दुर्गटीका, निरुक्त १०।२६॥

---

१. ऐसा ही एक सम्प्रदाय और था, जो मन्त्रों को अनर्थक मानता था। उसके प्रवर्तक कौत्स थे। ये याज्ञिक सम्प्रदाय के थे। यास्क ने निरुक्त १।१५-१६ में कौत्स के मन्त्रानर्थक्य के हेतुओं का प्रबल प्रत्याख्यान किया था। भगवान् जैमिनि ने भी तद्वत् मीमांसा १।२।३१-५३ में मन्त्रानर्थक्य के हेतुओं को उपस्थित करके मन्त्रों के अर्थवत्त्व का स्थापन किया है।

अर्थात्—विश्वकर्मा विमना; विश्वकर्मन् हविषा (ऋ० १०।८२।२, ६) मन्त्रों के विषय में आत्मवित् परकृति अर्थवाद के रूप में इतिहास कहते हैं। दिष्टि (=भाग्य) से प्रकाशित अर्थ के प्रकाशन के लिये जो कोई भी आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थ कहते हैं, वह 'इतिहास' कहा जाता है। यह सब प्रकार का इतिहास नित्य है, स्वार्थ=पदों से साधारणतया गम्यमान अर्थ की विवक्षा से रहित होता है, क्योंकि इसका प्रयोजन श्रोताओं के लिये उपदेश होता है।

वैदिक इतिहास की यह परम्परा नैरुक्त सम्प्रदाय में सदा सुरक्षित रही है। इसीलिये निरुक्त-सम्बद्ध ग्रन्थों के लेखकों ने इसे नैरुक्त सिद्धान्त के रूप में उद्घोषित किया है—

"औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः, नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः"। (द्र०—वररुचिकृत निरुक्त-समुच्चय, पृष्ठ ८६ (संस्क० २), स्कन्द निरुक्त टीका २।७८, दुर्ग टीका १०।२६॥)

ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य ने भी शतपथ ११।१।६।९ में मन्त्रों में श्रूयमाण देव-असुर और असुरों के पराजय के विषय में लिखा है—

"तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद् दैवासुरं यदिदमन्वाख्यायते त्वदुद्यते इतिहासे त्वत्।"

अर्थात्—[पूर्वप्रतिपादित देव असुर और असुरों का पराजय] वह नहीं है, जो अन्वाख्यान में कहा है, इतिहास में कहा जाता है।

वैदिक देव और असुर प्राकृतिक तत्त्व हैं। इतिहासोक्त देव और असुर कश्यप की अदिति दिति और दनु नाम्नी पत्नियों में उत्पन्न व्यक्ति हैं।

यास्क मुनि ने भी निरुक्त २।१६ में मन्त्रों में श्रूयमाण इन्द्र-वृत्र-संग्राम को आपः (=मेघों) और ज्योति (=विद्युत्) के मिश्रीभाव से उत्पन्न वर्षा को औपमिक युद्ध का वर्णन माना है। यास्काचार्य लिखते हैं—'अपां च ज्योतिश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।'

इस विषय में विशेष हमारी वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा के 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा' शीर्षक लेख में 'ऐतिहासिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ' प्रकरण (पृष्ठ १०९–१२०) में देखें॥

अब हम पूर्वपक्ष में उपस्थापित वेदपठित गङ्गादि नदी-नामों और देवापि शन्तनु आदि नामों के विषय में लिखते हैं। लोक में जो विशिष्ट पदार्थों और विशिष्ट व्यक्तियों के नाम प्रसिद्ध हैं, और वे ही मन्त्रों में भी मिलते हैं। उनके विषय में कहा है कि वैदिक पद सामान्य अर्थ के वाचक हैं, लोकप्रसिद्ध विशिष्ट पदार्थों वा व्यक्तियों के वाचक नहीं हैं। सूत्रकार के इस मत का मूल आधार आदि धर्मशास्त्रप्रवक्ता स्वायम्भुव मनु का निम्न श्लोक है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनुस्मृति १।२१॥

अर्थात्—वेद के प्रादुर्भाव के पश्चात् लोक में सभी पदार्थों और व्यक्तियों के नाम तत्तत् शब्द के धात्वनुसारी कर्म को देखकर वेद से लेकर ही रखे गये ।[1]

इस सामान्य नियम से जिनको सन्तोष न होवे, उनके लिये हम उक्त उदाहृत नामों पर अन्य प्रकार से प्रकाश डालते हैं—

सब से प्रथम हम ऋग्वेद १०।७५ के इमं मे गङ्गे यमुने मन्त्र को लेते हैं । ऐतिहासिकों का यह कहना है कि इस मन्त्र में उत्तरप्रदेश की गंगा यमुना और पञ्जाब की सतलज व्यास रावी चिनाव और झेलम नदियों का मुख्यरूप से, तथा कतिपय तत्सम्बद्ध अन्य नदियों का वर्णन है । ऋग्वेद का यह सूक्त **नदीसूक्त** कहाता है । इन नदियों के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र पर ध्यान देना चाहिये । उससे इस समस्या को सुलझाने में महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः ।
प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा ॥

इस का सामान्य शब्दार्थ इस प्रकार है—"हे आपः ! कारु (=स्तुतिकर्ता) तुम्हारी जो उत्तम महिमा विवस्वान् (आदित्य) के सदन (घर=स्थान) में है, उसको कहता है । आपः सात-सात के विभाग से त्रेधा (=तीन स्थान द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवी) में गति करते हैं । उन गतिशील आपों में सिन्धु अति ओज से गति करती है" ।

'त्रेधा' शब्द का अभिप्राय द्यु-अन्तरिक्ष और पृथिवी स्थानीय तीन विभागों से है । इसके लिये देखिये—**तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्** (ऋ० १०।८८।१०) का यास्कमुनि का व्याख्यान—**'तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय । पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणि.'** (निरुक्त ७।२८) । इसका अर्थ है—"उस अग्नि को तीन प्रकार से होने के लिये देवों ने प्रयत्न किया । अर्थात् अग्नि को तीन विभागों में बांटा—पृथिवी में, अन्तरिक्ष में और द्युलोक में, ऐसा शाकपूणि आचार्य का मत है ।"

इसी नैरुक्त व्याख्यान के प्रकाश में **प्र सप्तसप्त त्रेधा विचक्रमुः** का अर्थ होगा—उक्त आपः सात-सात करके तीन प्रकार से अर्थात् पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में गतियुक्त हुये । यदि **नदीसूक्त** संज्ञा के आधार पर इस सूक्त में नदियों का वर्णन भी मान लें, तब भी यह मानना होगा कि इस सूक्त में स्मृत गङ्गा यमुना आदि नदियां पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यु तीनों लोकों में बहनेवाली नदियां हैं, न कि केवल उत्तर पश्चिम भारत में बहनेवाली गङ्गादि नदियां मात्र ।

मन्त्र शब्द का अर्थ है जो मनन से=गम्भीर विचार से जाना जाये । अतः इन तीन स्थानों में बहनेवाली नदियों पर गम्भीरता से विचार करना होगा । इसमें वैदिक वाङ्मय ही सहायक हो सकता है । यहां यह भी ध्यान करने योग्य है कि **आपः** पद केवल लौकिक जलः

---

१. मनुस्मृति के उक्त श्लोक का विशिष्ट अर्थ हमारे 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' (भाग १, पृष्ठ ३, संवत् २०३० संस्क०) में देखें ।

मात्र का वाचक नहीं है। 'आपः' का अर्थ है—व्याप्त होनेवाला। 'आपः' का विशेषण दिया है 'सृत्वरी'—गति करनेवाला ('सृत्वरी' में स्त्रीलिङ्ग, 'आपः' के स्त्रीलिङ्ग होने के कारण है)। ये तीन स्थानों में रहनेवाले व्याप्तियुक्त सात-सात विभागवाले पदार्थ कौनसे हैं, इस पर विचार करना चाहिये।

द्युलोक में व्याप्त सात गतियुक्त हैं—इन्द्र=आदित्य की सात किरणें।

अन्तरिक्ष में व्याप्त सात गतियुक्त है—सप्तविध मेघ। तैत्तिरीय आरण्यक १।९।४-५ में लिखा है—वराहवः स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः स्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति। पर्जन्यों=मेघों का सप्तविधत्व सप्तविध परिवह (=अन्तरिक्ष के ७ उच्च-नीच विभागों) में उत्पत्ति वा स्थिति के कारण है। इन सप्तविध पर्जन्यों को ऋग्वेद २।१२।१२ में सप्तसिन्धु भी कहा है।

पृथिवी पर सप्तविध गतियुक्त हैं—आपः सोमतत्त्व तथा अग्नितत्त्व के तारतम्य(=न्यूनाधिक संसर्ग) से युक्त जल। दूसरे शब्दों में पृथिवी पर विद्यमान पेय जलों का विभाग गङ्गा आदि पदों से दर्शाया है। जल के इन सात विभागों का वैज्ञानिक परीक्षण होना चाहिये। प्राचीन ऋषियों ने इन सात प्रकार के जलों का विश्लेषण करके उस-उस गुण युक्त जलधारा के गङ्गादि नाम रखे थे। यद्यपि हमें इन सात प्रकार के जलों के विशिष्ट गुणों का वर्णन प्राचीन वाङ्मय में नहीं मिला, तथापि सौभाग्यवश गङ्गा अथवा गाङ्ग जल का लक्षण हमें प्राचीन वाङ्मय में मिल जाता है।

गङ्गाजल=गाङ्ग जल—'सुश्रुत' सूत्रस्थान जलवर्ग अ० ४५।३ में आश्विन मास में बरसनेवाले जलों के गाङ्ग और सामुद्र दो विभाग लिखकर गाङ्ग जल की परीक्षा का प्रकार बता कर उसे चिकित्सा के लिये संगृहीत करने का विधान किया है। उसके अनुसार आश्विन मास में बरसे हुये जल को पात्र में लेकर शाल्योदन के पिण्ड को कुछ समय उसमें रखने पर यदि वह पिण्ड जैसे का तैसा रहे, तो उसे 'गाङ्ग जल' जानना चाहिये। और यदि उसमें कुछ विकार आ जाये, तो उस जल को 'सामुद्र जल' जानना चाहिये। यही बात 'भावप्रकाश निघण्टु' में वारिवर्ग में लिखी है। 'चरक' सूत्रस्थान (जलवर्ग) अ० २७, श्लोक १९७ में लिखा है कि—'आकाश से गिरता हुआ जल, सोम वायु और सूर्य किरणों से संस्पृष्ट होकर अनेक गुणोंवाला हो जाता है'।

आकाश से आश्विन मास में बरसनेवाले गाङ्ग जल में सोम का संयोग अधिक होने से न वह स्वयं विकृत होता है, और न उसमें रखी गई वस्तु शीघ्र विकृत होती है। यही 'विकृत न होना' धर्म गङ्गा नदी के जल में है। इसलिये आकाशीय गाङ्ग जल के अनुरूप इस पार्थिव जल की धारा का नाम भी लोक में गङ्गा रखा गया। वायु पुराण ५१।२२ में गङ्गा को सोमधारा कहा है—सोमधारा नदी गङ्गा पवित्रा विमलोदका। अन्य जलों में भी सोमतत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में रहता है, अतः अन्य नदियों को सोमपुत्री कहा है—सोमपुत्र(त्र्यः) पुरोगाश्च महानद्यो द्विजोत्तम (वायु पुराण ५१।२२)। इसी प्रकार यमुना सरस्वती आदि भी मुख्यरूप से विशिष्ट गुणोंवाले आपः के नाम हैं, और उनके योग से भारतवर्षीय नदियों के ये नाम रखे गये हैं।

अब दूसरा उद्धरण लीजिये देवापि और शन्तनु का। वेद में प्रयुक्त ये नाम भी सामान्य अर्थ के वाचक हैं। यदि इनको व्यक्ति-विशेषों का नाम, और निरुक्तकार यास्क द्वारा उद्धृत इतिहास इन व्यक्तियों का स्वीकार किया जाय, तो कुरुकुल के देवापि और शन्तनु के इतिहास के साथ महान् विरोध उपस्थित होता है। हम यहां तीन ग्रन्थों में उद्धृत इतिहास की तुलना प्रस्तुत करते हैं—

निरुक्तस्थ इतिहास	बृहद्देवता-(७।१५५; ८।१-९)गत	महाभारतस्थ इतिहास
१. पिता का नाम—ऋष्टिषेण	(निरुक्त के समान)	प्रतीप
२. देवापि को राज्य से वञ्चित करके शन्तनु राजा बना, देवापि वन में चला गया।	देवापि ने कहा मुझे कुष्ठ है, शन्तनु को राजा बनाओ, देवापि वन में चला गया।	धर्म की इच्छा से देवापि के बाल्यावस्था में ही अरण्य में चले जाने से शन्तनु राजा बना।
३. ऋषियों ने शन्तनु से कहा—तुमने अधर्माचरण किया है।	×	× × ×
४. अधर्माचरण के कारण राज्य में १२ वर्ष सूखा पड़ा।	(निरुक्तवत्)	× × ×
५. शन्तनु ने वन में जाकर क्षमा मांगी, और देवापि को राज्य सम्भालने को कहा।	,, ,,	× × ×
६. देवापि ने कहा मैं पुरोहित बनकर वर्षा कराऊंगा।	,, ,,	× × ×
७. यज्ञ कराकर वर्षा कराई।	,, ,,	× × ×

यदि बृहद्देवता का 'ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि त्वग्दोष से दूषित (=कुष्ठी) था (७।१५६); मैं राज्य के योग्य नहीं हूं (७।१५७); शन्तनु राजा होवे (८।१)' यह लेख सत्य होवे, तो शास्त्रमर्यादानुसार कुष्ठी के राज्य का अधिकारी न होने से, तथा देवापि की अनुमति से शन्तनु के राजा बनने पर शन्तनु ने क्या अधर्म किया ? इस कारण बृहद्देवता ८।२-४ में यह लिखना—'शन्तनु के अधर्माचरण के कारण १२ वर्ष वर्षा नहीं हुई। शन्तनु ने देवापि से धर्ममर्यादा के व्यतिक्रम के कारण क्षमा मांगी' उपपन्न ही नहीं होता।

निरुक्तस्थ इतिहास का महाभारतस्थ देवापि-शन्तनु के शुद्ध इतिहास के साथ भयंकर विरोध है। निरुक्त और बृहद्देवता के कथानक में भी परस्पर विरोध स्पष्ट है। वेद में देवापि और शन्तनु के कुरुकुल के; और भाई होने का संकेत भी नहीं है। अतः प्रतीत होता है कि निरुक्तकार और बृहद्देवताकार ने मन्त्रस्थ देवापि-शन्तनु शब्दों का लौकिक व्यक्ति-नामों के सादृश्य के आधार पर ऋग्वेद के वृष्टि-विज्ञानपरक सूक्त के अर्थविबोधन लिये यह कल्पित कहानी घड़ी। इसलिये निरुक्तकार और बृहद्देवता में कथित इतिहास 'पुराकल्परूप अर्थवाद के आधार पर वेद में कुरुकुल के देवापि-शन्तनु का निर्देश नहीं माना जा सकता है।

निरुक्त के टीकाकारों ने देवापि-शन्तनु-सम्बन्धी निरुक्तोद्धृत मन्त्रों की व्याख्या इस प्रकार की है—

स्कन्दस्वामी ने लिखा है—'नित्यपक्ष में ऋष्टिषेण मध्यमस्थानीय [पर्जन्य] है। उससे उत्पन्न देवापि विद्युत् और शन्तनु वृष्टिलक्षण उदक है। पहले विद्युत् चमकती है, पीछे वर्षा होती है। इसलिये देवापि विद्युत् वृष्टिलक्षण उदकरूप शन्तनु के लिये पुरोहित है। बृहस्पति मध्यमस्थानीय स्तनयित्नुरूप वाणी है। उसके सम्बन्ध से वर्षा को प्राप्त करना है। (निरुक्त स्कन्दटीका, भाग २, पृष्ठ ७६, ७७ का सार)।

दुर्गाचार्य ने भी निरुक्त पक्ष में—ऋष्टिषेण मध्यमस्थानीय देव है। उसका अपत्य यह पार्थिव अग्नि आर्ष्टिषेण देवापि है। वह शन्तनु यजमान के लिये वर्षा कराता है। बृहस्पति मध्यमस्थानीय वाचस्पति है, और स्तनयित्नुरूप उसकी वाणी है।

इस तथाकथित देवापि और शन्तनु के आख्यान तथा सम्पूर्ण सूक्त की व्याख्या के लिये देखिये—स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत 'देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप' पुस्तिका।

ऋग्वेद १०।९८ में निर्दिष्ट देवापि और शन्तनु महाभारतोक्त कुरुकुल के प्रतीप-पुत्र नहीं हैं। यह हम ही नहीं कहते, अपितु वेद में इतिहास सिद्ध करने के लिये लिखे गये वैदिक इण्डेक्स के लेखक मैकडानल को भी इस प्रकरण में यही स्वीकार करना पड़ा है। वह लिखता है—

सम्भवत: 'सीज' (Sieg) का कथन सत्य प्रतीत होता है कि प्रतीप-पुत्र देवापि और ऋष्टिषेण-पुत्र देवापि की कथाओं का इन दोनों ग्रन्थों में मिश्रण कर दिया है। परन्तु किसी भी अवस्था में इनसे इतिहास का निकालना असम्भव है।[1]

इस प्रकार प्राचीन ऋषि मुनि और आचार्यों के मतानुसार सूत्रकार जैमिनि का 'वैदिक शब्द सामान्य=धात्वर्थबोधित अर्थ के वाचक हैं' सिद्धान्त सम्यग्रूप से उपपन्न हो जाता है।

नवीन मीमांसक—आचार्य शबरस्वामी तथा शाबरभाष्य के व्याख्याता भट्ट कुमारिल और प्रभाकर तीनों ही ईश्वर की सत्ता और जगत् की उत्पत्ति नहीं मानते। परन्तु भट्ट कुमारिल और प्रभाकर के कतिपय अनुयायी इन विचारों से बहुत उलझन में पड़े दिखाई देते हैं। उन्होंने अपने-अपने आचार्यों के मत का अन्यथा कथन करके उन्हें ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने तथा उस से जगत् की उत्पत्ति माननेवाले प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। वासुदेव दीक्षित ने कुतुहलवृत्ति १।२।२८ में भट्ट कुमारिल को ईश्वर को माननेवाला, तथा प्रभाकर वा उसके मतानुयायियों को अनीश्वरवादी कहा है। 'प्रभाकर-विजय' के रचयिता ने प्रभाकर को ईश्वरवादी स्वीकार करते हुये 'बृहती' टीका के व्याख्याता शालिकनाथ को निरीश्वरवादी कहा है। द्र०—शास्त्रावतार-प्रकरण में भट्ट कुमारिल का सन्दर्भ।

प्रकृत प्रसङ्ग में इतना ज्ञातव्य है कि नवीन मीमांसकों ने सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हुये बबरः प्रावाहणिरकामयत इत्यादि ब्राह्मणवचनों में निर्दिष्ट प्रवाहण पुत्र बबर आदि को प्रति

१. द्र०—वैदिक इण्डेक्स भाग १, पृष्ठ ३६ (मूल अंग्रेजी का भाषानुवाद)।

कल्प इनकी उत्पत्ति स्वीकार करके शाखा वा ब्राह्मणोक्त ऐतिहासिक व्यक्तियों को प्रवाहनित्यता के रूप में नित्य मानकर अनित्यदर्शन दोष का परिहार किया है। यदि ऐतिहासिक व्यक्तियों को भी प्रवाहरूप से नित्य मानें, तो शास्त्रों का सम्पूर्ण ढांचा ही चकनाचूर हो जाता है। सम्पूर्ण शास्त्रों की प्रवृत्ति परमपुरुषार्थ=मोक्ष की प्राप्ति के लिये हुई है। परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार तो कभी किसी को मुक्तिलाभ होगा ही नहीं। क्योंकि उन आत्माओं को प्रतिकल्प पितापुत्र-भाव से इसी प्रकार नियत समय पर उत्पन्न होना ही होगा। अस्तु, एक अशुद्ध सिद्धान्त (=शाखा और ब्राह्मणग्रन्थों की नित्यता) को स्वीकार करने पर कैसी सकलशास्त्र-विपरीत कल्पनाएं आधुनिक वैदिकों को करनी पड़ीं, इसका यह एक निदर्शन है।

इस प्रकार वेद (=मन्त्रसंहिता) अपौरुषेयत्व-प्रकरण द्वारा वेद के प्रामाण्य का हमने प्रतिपादन कर दिया॥

[ब्राह्मण-प्रामाण्याधिकरण]

अधिकरण-संगति—द्वितीय सूत्र में 'धर्म चोदनागम्य है,' ऐसा कहा है। चोदना दो प्रकार की होती है—मन्त्रगत और ब्राह्मणगत। मन्त्रगत चोदना का प्रामाण्य **औत्पत्तिकस्तु०** (१।१।५) सूत्र से दर्शा चुके हैं। वेद के अप्रामाण्य में शब्द के अनित्यत्व, वाक्यरचना, पुरुष नाम का वेद के साथ संयोग, तथा अनित्य पदार्थों का वर्णनरूप जो हेतु दिये थे, उन सब का समाधान भी कर दिया। यज्ञकर्म में मन्त्र और ब्राह्मणों का सहयोग है। यज्ञ-विधायक **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः; दर्श-पौर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः** इत्यादि चोदनाएं ब्राह्मणों में ही उपलब्ध होती हैं। उनके प्रामाण्य के लिये अब ब्राह्मण का प्रामाण्य सिद्ध करते हैं।

पूर्वपक्ष—मन्त्रों के अपौरुषेय (=महाभूत-निःश्वसित) होने से मन्त्रगत **'अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित् कृषस्व** (ऋ० १०।३४।१३); **मा गृधः कस्यस्विद् धनम्** (यजुः ४०।१); **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः** (यजुः ४०।२) इत्यादि चोदनाएं तो प्रमाण हैं। परन्तु ब्राह्मणगत चोदनाएं धर्म में प्रमाण नहीं हो सकतीं। क्योंकि ब्राह्मणगत चोदनाएं पौरुषेय हैं।

यह आक्षेप सूत्र से बहिर्भूत है[1]। इसका सूत्रकार समाधान करते हैं—

कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् ॥३२॥

सूत्रार्थ—(वा) 'वा' पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् जो यह कहा है कि ब्राह्मण-गत चोदनाएं अप्रमाण हैं, यह ठीक नहीं। (कृते) मन्त्रों में यज्ञों का दर्शन करने पर (कर्मणः) कर्म के साथ मन्त्रों का (सम्बन्धात्) सम्बन्ध करने से (विनियोगः[1]) विनियोजक[2]=ब्राह्मण प्रमाण (स्यात्) हैं।

---

१. सूत्रकार ने अन्यत्र भी बहुत स्थानों पर सूत्रपाठ से बहिर्भूत पूर्वपक्ष के समाधान के सूत्र पढ़े हैं, यह शावरभाष्य से जाना जाता है।

२. विनियुज्यतेऽनेनेति विनियोगः=विनियोजकं ब्राह्मणम्। करणे घञ्। 'विनियोजकं ब्राह्मणं भवति' इति याज्ञिकानां ब्राह्मणलक्षणम्। द्र०—कर्मचोदना ब्राह्मणानि। आप० श्रौत परिभाषासूत्र (१।३४), विनियोजकं च ब्राह्मणम्। तै० सं० भट्टभास्कर भाष्य, भाग १, पृष्ठ ३, मैसूर सं०।

व्याख्या— प्रकृत सूत्र से ब्राह्मणगत चोदनाओं का धर्म में प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये ब्राह्मण-वचनों का प्रामाण्य स्थापित करते हैं। ब्राह्मणों में जिस यज्ञादि कर्मकाण्ड का विधान है, उसका मूल मन्त्र है। मुण्डकोपनिषद् (१।२।१) में कहा है—

'तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि'।

अर्थात्—जिन कर्मों को कवियों=ऋषियों ने मन्त्रों में देखा, वह सत्य है।

इससे स्पष्ट है कि ऋषियों ने अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास आदि यज्ञों का विधान मन्त्र में देखा=उपलब्ध किया।[1] यतः इन कर्मों का मूल मन्त्र है, अतः मन्त्रों के अनुसार इन का जो विधान ऋषियों ने किया है, वह सत्य है=प्रमाण है। कर्मों के साक्षात् विधायक ब्राह्मण हैं। उनमें मन्त्रानुगत कर्मों का विधान होने से ब्राह्मण भी प्रमाण हैं। ब्राह्मणों के प्रमाण होने से तद्-चोदनाएं भी धर्म में प्रमाण हैं। ऋषियों द्वारा मन्त्रदृष्ट यज्ञों का प्रचलन होने पर त्रेतायां बहुधा संततानि वचनानुसार त्रेता युग में इनका बहुत विस्तार हुआ। कालान्तर में विधि-विधानों में अवान्तरभेदों के उत्पन्न होने पर वेदों की बहुविध शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन हुआ।

यज्ञकर्म की समृद्धि में न केवल मन्त्र समर्थ हैं, और न केवल ब्राह्मण। दोनों के सहभाव से ही यज्ञ के स्वरूप का निष्पादन होता है।[2] इसीलिये कृष्ण यजुर्वेदीय श्रौतसूत्रकारों ने मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् पारिभाषिक वेदसंज्ञाविधायक सूत्र पढ़ा है। कौशिक सूत्रकार ने आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च (१।३) सूत्र से मन्त्र ब्राह्मण की आम्नाय संज्ञा का विधान किया है। सूत्रकार जैमिनि ने वेद और आम्नाय संज्ञाओं में से 'कर्म-मीमांसा' के आरम्भ (१।२।१) में आम्नाय-संज्ञा का निर्देश किया है।

[मन्त्र अनुसृत ही ब्राह्मण का प्रामाण्य]

इस प्रकार यज्ञकर्म में मन्त्रों के समान ब्राह्मण का प्रामाण्य सिद्ध हो जाने पर अब यह प्रश्न उठता है कि क्या मन्त्र और ब्राह्मण का प्रामाण्य समान कोटिवाला है, अथवा इन दोनों के प्रामाण्य में कुछ अन्तर है ? इसका समाधान भी ब्राह्मण स्वयं कर देता है। गोपथ ब्राह्मण २।२।६ में कहा है—

'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वा अभिवदति'।

इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण १।४, १३, १६ में असकृत् कहा है—

'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति'।

ऐतरेय ब्राह्मण के वचन में उसके ऋग्वेद से सम्बद्ध होने के कारण केवल ऋक् पद का ही

---

१. इसीलिये ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञों के लिये प्रायः 'अपश्यत्' क्रिया का प्रयोग मिलता है। यथा—'तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद् यद् दर्शपौर्णमासौ'। शतपथ ११।१।६।१६॥ 'स एतं त्रिवृतं सप्ततन्तुमेकविंशतिसंस्थं यज्ञमपश्यत्'। गोपथ १।१।१२॥

२. मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य प्रमाणम्। आप० परि० १।३२॥

निर्देश है। दोनों का यह भाव है कि–'यज्ञ की समृद्धि यही है, जो यज्ञ के रूप की समृद्धि है। यज्ञ में किये जा रहे कर्म को ऋक् और यजु मन्त्र कहता है।'

इसी प्रसङ्ग में पूर्व (पृष्ठ १२५) निर्दिष्ट **तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि** (मुण्डक १।२।१) वचन को भी स्मरण करना उचित होगा। उस वचन में भी 'मन्त्रों में कर्मों के दर्शन के पश्चात् उनके विधान का भाव स्पष्ट है'।

इन वचनों से सिद्ध है कि ब्राह्मण ने मन्त्र का जिस कर्म में विनियोग किया है, वह तभी यथार्थ विनियोग माना जा सकता है, जब मन्त्र उस क्रियमाण कर्म को कहने में समर्थ होवे। अर्थापत्ति से यह तात्पर्य भी जाना जाता है कि ब्राह्मण में यदि किसी मन्त्र का ऐसे कर्म में विनियोग किया है, जिसे मन्त्र कहने में असमर्थ है, अथवा मन्त्र दर्शन के अनुकूल नहीं है, तो वह विनियोग प्रमाण नहीं होगा।

इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणोक्त-विनियोग मन्त्रार्थ का अनुसरण करके ही विनियोग कहाते हैं। जिसका अनुसरण किया जाता है वह प्रधान होता है, और जो अनुसरण करता है वह गौण। जैसे–गुरुमनुगच्छति शिष्यः=शिष्य गुरु के पीछे चलता है। इससे यह बोधित होता है कि गुरु प्रधान है और शिष्य गौण। अतः ब्राह्मण का प्रामाण्य मन्त्रार्थ का अनुसरण करने पर ही है। इस कारण मन्त्र प्रधान है, और ब्राह्मण उनकी तुलना में गौण। इसी ब्राह्मण-प्रतिपादित मूल तत्त्व को ध्यान में रखकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ब्राह्मणग्रन्थों श्रौतसूत्रों और मीमांसासूत्रों में उक्त विनियोग को यथार्थ मानते हुये भी मन्त्रार्थानुसृत विनियोग को ही ग्राह्य माना है। उनके शब्द हैं—

"परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र (=वेदभाष्ये) विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात। पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ऋग्वेदभाष्य भाग १, पृष्ठ ३८८, (रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस संस्करण)।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में कर्मकाण्ड पर व्याख्या न देखकर जो पुरातन पद्धति के अनुयायी विद्वान् यह कहते हैं कि आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक कर्मकाण्ड को नहीं मानते थे, यह सर्वथा मिथ्या है। यह उनके उपर्युक्त वचन से स्पष्ट है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जहां-कहीं यज्ञ का प्रसङ्ग आया, वहां सर्वत्र अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतकर्मबोधक शब्दों का उल्लेख किया है। संस्कारविधि के आदि में दर्शपौर्णमास के समस्त पात्रों की आकृति (=चित्र) तथा उनके परिमाण आदि का निर्देश किया है। इससे प्रतीत होता है कि संस्कारकर्मविधायक ग्रन्थ के पश्चात् वे श्रौतयज्ञों की पद्धति-विषयक कोई ग्रन्थ भी लिखना चाहते थे। जो विपक्षी जनों द्वारा विष-प्रदान करने के कारण दिवंगत हो जाने से नहीं लिखा पाये।

अब हम मन्त्र और ब्राह्मणों के सम्बन्ध में एक तथ्य और स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं। जिससे यह ज्ञात हो जायेगा कि याज्ञिकों द्वारा ब्राह्मण को अत्यधिक प्रामाण्य प्रदान करने का क्या दुष्प्रभाव पड़ा। निरुक्त अ० १, खण्ड १५ के आरम्भ में महर्षि यास्क ने लिखा है—

"यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनाय, अनर्थकं भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः।"

अर्थात्—'यदि निरुक्तशास्त्र मन्त्रार्थ का बोध कराने के लिये है, तो वह अनर्थक=निष्प्रयोजन है, ऐसा आचार्य कौत्स का कथन है। क्योंकि मन्त्र स्वयं अनर्थक=अर्थरहित हैं।' अतः अर्थरहित मन्त्रों का अर्थबोधन कराने का प्रयत्न भी अनर्थक=निष्प्रयोजन है। इस प्रकार कौत्स आचार्य के मत का निदर्शन कराकर कौत्स द्वारा मन्त्रानर्थक्य में उपस्थापित हेतुओं का निदर्शन कराकर यास्क ने उनका सबल प्रत्याख्यान करके मन्त्रों के सार्थकत्व का प्रतिपादन किया है।

यह महायाज्ञिक कौत्स महर्षि यास्क जैमिनि और याज्ञवल्क्य के समकालिक थे।[1] मन्त्रानर्थक्यवाद के प्रवर्तन में कौत्स का ब्राह्मण (=विनियोजक-वचनों) को अधिक महत्व देना ही प्रमुख कारण था। इसलिये ब्राह्मण (=विनियोजक-वचनों) के प्रामाण्य को सुरक्षित रखने के लिये उसने मन्त्रों को ही अर्थरहित कहने का दुःसाहस किया। कौत्स के इस मन्त्रानर्थक्यवाद का खण्डन यास्क और जैमिनि ने बड़ी प्रबलता से किया। द्रष्टव्य—निरुक्त अ० १, खण्ड १६; तथा मीमांसा १।२।३१—५३।

यास्क ने पूर्व उद्धृत गोपथ-वचन के प्रमाण से ब्राह्मणवचनों को मन्त्रार्थानुगामी कहा। जैमिनि ने मन्त्रों के अर्थवत्व में **लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्** आदि (१।२।५१-५२-५३) तीन सूत्रों से तीन हेतु उपस्थित किये। इन में से प्रथम हेतु से मन्त्रार्थ अनुगामी विनियोग का ही प्रतिपादन किया है। याज्ञवल्क्य ने तो शुक्ल यजुःसंहिता के १८ अध्यायों के मन्त्रों का प्रतिपद अर्थनिर्देश करके ब्राह्मण-प्रवचन की विधि को नया मोड़ दिया। शतपथ के अतिरिक्त किसी भी अन्य ब्राह्मण में मन्त्रों का आनुपूर्वी व्याख्यान नहीं मिलता। अस्तु।

इस विवेचना का सार यह है कि यज्ञकर्म में मन्त्र के समान ब्राह्मण भी प्रमाण हैं। परन्तु यह प्रामाण्य मन्त्रानुगत होने से परतः है, स्वतः नहीं। अतएव ब्राह्मणगत मन्त्रार्थ-विपरीत विधियां अप्रमाण होंगी॥

—:०:—

---

१. यास्क ने कौत्स का मत निरुक्त १।१५ में उद्धृत किया है। यास्क वैशम्पायन का शिष्य था, यह पूर्व (पृष्ठ ११६) सप्रमाण लिख चुके हैं। याज्ञवल्क्य भी पहले वैशम्पायन का शिष्य था। जनमेजय के सर्पसत्र में यह कौत्स और जैमिनि उद्गाता थे। उस समय कौत्स वृद्ध हो चुका था। द्र०—'उद्गाता ब्राह्मणो वृद्धो विद्वान् कौत्सोऽथ जैमिनिः'। महाभारत आदिपर्व ५३।६॥

प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

[अर्थवादाधिकरणम् ॥१॥]

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते ॥१॥ (पू०)

सोऽरोदीद्, यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्[1]; प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्[2]; देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्[3] इत्येवमादीनि समाम्नातारः समामनन्ति वाक्यानि। तानि किं कञ्चित् धर्मं प्रमिमते, उत न, इति भवति विचारणा। तदभिधीयते—क्रिया कथमनुष्ठेया, इति तां वदितुं समाम्नातारो वाक्यानि समामनन्ति। तद् यानि वाक्यानि क्रियां नावगमयन्ति, क्रियासम्बद्धं वा किञ्चित्, एवमेव भूतमर्थमन्वाचक्षते—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्……अनित्यमुच्यते ॥१॥

सूत्रार्थ—(आम्नायस्य) आम्नाय=मन्त्र और ब्राह्मण[4] के (क्रियार्थत्वात्) [यागादि] क्रिया के लिये होने से (अतदर्थानाम्) जो वचन क्रिया के लिये नहीं है, उनकी (आनर्थक्यम्) अनर्थकता=निष्प्रयोजनता है। (तस्मात्) इसलिये [ऐसा अनर्थक वचन] (अनित्यम्) अनित्य (उच्यते) कहा जाता है। अर्थात् धर्म के ज्ञापन में निर्बाधरूप से प्रमाण नहीं होता।

व्याख्या—स अरोदीद्, यद्रोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् (=वह रोया, जो रोया वह रुद्र का रुद्रत्व हुआ); प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत् (=प्रजापति ने अपनी वपा=उदर में झिल्लीरूप में वर्तमान चर्बी को उखेड़ा=निकाला); देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन् (=देवों ने देवयजन=वेदी में बैठकर दिशाओं को नहीं जाना) इत्यादि वाक्यों को समाम्नाता (=अध्येता लोग) पढ़ते हैं। ऐसे वचन क्या किसी धर्म का ज्ञान कराते हैं, अथवा नहीं कराते, यह विचार उत्पन्न होता है। इस विषय में कहा जाता है—क्रिया का अनुष्ठान कैसे करना चाहिये, इसको कहने के लिये अध्येता वाक्यों को पढ़ते हैं। इसलिये जो वाक्य क्रिया का बोध नहीं कराते, अथवा क्रियासम्बद्ध किसी [द्रव्य वा देवता आदि रूप] अर्थ को नहीं कहते,

---

१. तै० सं० १।५।१॥ २. पूर्णं श्रुतिवाक्यमित्थं पठ्यते—'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्, सोऽकामयत प्रजाः पशून् सृजेयेति। स आत्मनो वपामुदक्खिदत्, तामग्नौ प्रागृह्णात्, ततोऽजस्तूपरः समभवत्, तां स्वायै देवताया आलभत, ततो वै प्रजाः पशून् असृजत। तै० सं० २।१।१॥

३. तै० सं० ६।१।५॥ ४. आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च (कौशिक सूत्र १।३)। यह याज्ञिकों की मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् के समान ही पारिभाषिक संज्ञा है। इस विषय की विस्तृत मीमांसा के लिये देखिये—आरम्भ में मुद्रित 'वेदाम्नाय-संज्ञा-मीमांसा' प्रकरण।

रुदितवान् रुद्रः, वपामुच्चिखेद प्रजापतिः, देवा वै दिशो न प्रजज्ञिर इति । एवञ्जातीय-कानि तानि कं धर्मं प्रमिमीरन् ।

अथोच्येत—अध्याहारेण वा, विपरिणामेन वा, व्यवहितकल्पनया वा, व्यवधारण-कल्पनया वा, गुणकल्पनया वा कश्चिदर्थः कल्पयिष्यते इति, स कल्प्यमानः कः कल्प्येत—रुद्रः किल रुरोद, अतोऽन्येनाऽपि रोदितव्यम्; उच्चिखेद आत्मवपां प्रजापतिः, अतोऽन्योऽप्युत्खिदेदात्मनो वपाम्; देवा वै देवयजनकाले दिशो न प्रज्ञातवन्तः,अतोऽन्योऽपि दिशो न प्रजानीयादिति । तच्चाशक्यम् । इष्टवियोगेनाभिघातेन वा यद् वाष्पनिर्मोचनं तद् रोदनमित्युच्यते । न च तदिच्छातो भवति । न च कश्चिदात्मनो वपामुत्खिद्य तामग्नौ प्रहृत्य तत उत्थितेन तूपरेण[1] पशुना यष्टुं शक्नुयात् । न च देवयजनाध्यवसान-

---

अन्यथा सिद्ध अर्थ को कहते हैं—रुद्र रोया, प्रजापति ने अपनी वपा उखेड़ी, देवों ने दिशाओं को नहीं जाना, इत्यादि । ऐसे वाक्य किस धर्म का ज्ञान करायेंगे ।

विवरण—पूर्वपाद में शबरस्वामी आदि मीमांसकों के मतानुसार मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेद की नित्यता सिद्ध हो चुकी है । ब्राह्मणवाक्य ही प्रायः क्रिया को कहते हैं । परन्तु कहीं-कहीं पर क्रियाबोधक-वाक्य के साथ कुछ ऐसे वाक्य भी पठित हैं, जिनका क्रिया के बोधन में सामर्थ्य नहीं है । ऐसे वाक्य-याज्ञिक परिभाषा में 'अर्थवाद' कहे जाते हैं । इस प्रकरण में ऐसे ही क्रिया-बोधन में असमर्थ वाक्यों पर आक्षेप किया है । हमने वेदापौरुषेयत्वाधिकरण के सम्बन्ध में जो आर्षमत अभिव्यक्त किया है (द्र०—पूर्व पृष्ठ १०२-१०८), उसके अनुसार कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् (१।१।३२) सूत्र को पृथक् अधिकरण मानकर यज्ञकर्म में मन्त्रप्रामाण्य के समान ही ब्राह्मणों का प्रामाण्य स्थापित किया है । तदनुसार कर्मविधायक ब्राह्मणवचनों का तो प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है, परन्तु विधायक वचनों के साथ जो क्रियाबोधक-वाक्य नहीं हैं, उनके प्रामाण्य के लिये सूत्रकार ने यह 'अर्थवादाधिकरण' रचा है ।।

व्याख्या—यदि कहो कि—[ऐसे वाक्य अनर्थक न हों, इसलिये किसी पद का] अध्याहार अथवा परिवर्तन अथवा व्यवहित कल्पना (=दूरस्थ पदों के साथ सम्बन्ध लगाना), अथवा ऐसा ही हो सकता है, अथवा गौणार्थ की कल्पना से किसी [क्रियाबोधक] अर्थ की कल्पना की जायेगी तो वह कल्प्यमान अर्थ क्या कल्पित किया जायेगा, अर्थात् यही तो कल्पना की जायेगी कि—'रुद्र रोया था, इसलिये अन्य को भी रोना चाहिये'; 'प्रजापति ने अपनी वपा को उखेड़ा था, इसलिये अन्य भी अपनी वपा को उखेड़ें'; 'देवों ने देवयजन (=यज्ञ) काल में दिशाओं को नहीं जाना, इसलिये अन्य भी दिशाएं न जानें' । ऐसी कल्पना करना अशक्य है । प्रिय [जन वा वस्तु] के वियोग अथवा चोट आदि लगने से आंसुओं का निकलना होता है, उसे 'रोदन' कहते हैं । वह [रोदन] इच्छा से नहीं होता । और ना ही कोई अपनी वपा उखेड़कर उसे अग्नि में होम करके उससे उत्पन्न शृङ्गरहित पशु से यजन कर सकता है । और ना ही देवयजन में बैठते समय कोई दिशाओं

---

१. तूपरः शृङ्गरहित इत्यर्थः ।

काले केचिद् दिशो मुह्येयुः । अतः एषामानर्थक्यम् । तस्मादेवञ्जातीयकानि वाक्यान्यनित्यानीत्युच्यन्ते । यद्यपि च नित्यानि, तथापि न नित्यमर्थं कुर्वन्तीति ।

स एष वाक्यैकदेशस्याक्षेपो, न कृत्स्नस्य वाक्यस्य । नन्वेकदेशाद् विना साकाङ्क्षः पदसमूहो न पर्याप्तः स्वस्मै प्रयोजनाय, अत आक्षिप्त एवेति । नैवम् । भवति हि कश्चित् पदसमूहो योऽर्थवादेभ्यो विनाऽपि विदधाति कञ्चिदर्थम् । यानि पुनस्तैः सह संयुज्यार्थान्तरे वर्त्तन्ते, तान्येकदेशाक्षेपेणाक्षिप्यन्ते ॥१॥

को ही भूलते हैं इस कारण इस प्रकार के वाक्यों का आनर्थक्य जानना चाहिये । इसलिये इस प्रकार के अनर्थक वाक्य अनित्य कहे जाते हैं । यद्यपि ये नित्य हैं, फिर भी नित्य अर्थ (=क्रिया के बोध) को [सिद्ध] नहीं करते ।

विवरण — न च कश्चिदात्मनो… तूपरेण पशुना यष्टुं शक्नुयात्—यह अंश पूर्वपठित प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत् वचन के साथ पठित वाक्य के अभिप्राय को ध्यान में रख कर लिखा गया है । पूरा वाक्य इस प्रकार है—'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् । सोऽकामयत प्रजाः पशून् सृजेयेति । स आत्मनो वपामुदखिदत् । तामग्नौ प्रागृह्णात् । ततोऽजस्तूपरः समभवत् । तं स्वायै देवताया आलभत । ततो वै प्रजाः पशूनसृजत (तै० सं० २।१।१) । अर्थात् प्रजापति अकेला था । उसने कामना की कि प्रजा और पशुओं को उत्पन्न करूं । उस प्रजापति ने अपनी वपा को उखेड़ा । उसको अग्नि में छोड़ा । उससे शृङ्गरहित अज (=बकरा) उत्पन्न हुआ । उसका आलम्भन किया (यज्ञ किया) । उससे उसने प्रजा और पशुओं को उत्पन्न किया । इस अर्थवाद वाक्य का अभिप्राय आगे स्पष्ट किया जायेगा ॥

व्याख्या—यह वाक्य के एकदेश पर आक्षेप है, सम्पूर्ण वाक्य पर आक्षेप नहीं है। (आक्षेप) एकदेश [जिस पर आक्षेप किया है] के विना साकाङ्क्ष पदसमूह अपने प्रयोजन [जिसके लिये वाक्य पढ़ा है] के लिये समर्थ नहीं होता, अतः सम्पूर्ण वाक्य आक्षिप्त हो ही गया। [समाधान] ऐसा नहीं है । कोई पदसमूह ऐसा होता ही है, जो अर्थवाद के बिना भी किसी अर्थ का विधान करता है । किन्तु जो उन विधिवाक्यों के साथ संयुक्त होकर [स्तुति-स्तुत्य-सम्बन्धरूप] अर्थान्तर में वर्तमान होते हैं, वे एकदेश के आक्षेप से आक्षिप्त होते हैं ॥१॥

विवरण—वाक्यैकदेशस्याक्षेपः—यहां पूर्वपक्षी ने 'वाक्यैकदेश' शब्द का व्यवहार सिद्धान्ती के द्वारा माने गये अर्थवादसहित एकवाक्य की दृष्टि से किया है । पूर्वपक्षी के मत में तो इन वाक्यों को स्वतन्त्र वाक्य माना जाता है । तैः सह संयुज्य—उन विधिवाक्यों के साथ सम्बद्ध होकर जो स्तुति-स्तुत्य-सम्बन्धरूप अर्थान्तर में वर्तमान होते हैं, उनका अर्थवाद द्वारा प्रकाश्यमाण अर्थ का ही अभाव होता है । शेष विधिवाक्य तो विधान द्वारा सार्थक रहता ही है । किन्तु जिन वाक्यों में विधायकत्व नहीं है, केवल वर्तमानता का कथनमात्र होता है, वे स्तुति-निरपेक्ष विधि के कथन में असमर्थ होते हैं । यथा—यस्य खादिरः स्रुवो भवति छन्दसामेव रसेनावद्यति (तै० सं० ३।५।७) । यहां 'भवति' क्रिया वर्तमानकाल की विधायिका है । ऐसे वाक्य एकदेश द्वारा समस्त आक्षिप्त होते हैं (द्र०—तन्त्रवार्तिक, प्रकृतसूत्र के अन्त में) ॥१॥

शास्त्रदृष्टविरोधाच्च ।।२।। (पू०)

स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्[1] इत्येवञ्जातीयकानां धर्मं प्रति अप्रामाण्यम्, भूतानुवादात् । विपरिणामादिभिरपि कल्प्यमाने स्तेयं मृषोद्यञ्च कर्त्तव्यमित्यापतति । तच्चाशक्यं स्तेयानृतवादप्रतिषेधम्[2] अबाधमानेनानुष्ठातुम् । न च विकल्पः, वैषम्यात् । एकः कल्प्यो विधिः, एकः प्रत्यक्षः ।

शास्त्रदृष्टविरोधाच्च ।।२।।

सूत्रार्थ—(च) और (शास्त्रदृष्टविरोधात्) शास्त्रविरोध, दृष्टविरोध और शास्त्रदृष्टविरोध के कारण [अक्रियार्थ वचन] अप्रमाण हैं ।

विशेष—भाष्यकार ने शास्त्रदृष्टविरोधात् पद का शास्त्र से विरोध, दृष्ट से विरोध इस प्रकार पृथक्-पृथक्, और शास्त्रदृष्ट से विरोध, समुदित पदविभाग द्वारा सूत्र का व्याख्यान किया है। ऐसा व्याख्यान पाणिनीय सूत्रों का भी किया जाता है । यथा—द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताट्ठक् (अष्टा० ४।३।७२) । इस सूत्र में पठित 'नामाख्यात' के सम्बन्ध में वार्तिककार ने लिखा है—नामाख्यातग्रहणं संघातविगृहीतार्थम् । इसका व्याख्यान पतञ्जलि ने किया है—'नामाख्यातग्रहणं संघातविगृहीतार्थं द्रष्टव्यम् । नामिकः, आख्यातिकः, नामाख्यातिकः ।' अर्थात् 'नामाख्यात' का ग्रहण संघात (=समुदाय) और विगृहीत (=पृथक् किये हुये) के लिये जानना चाहिये । विगृहीत से—नाम्नां व्याख्यानो ग्रन्थः=नामिकः, आख्यातानां व्याख्यानो ग्रन्थः= आख्यातिकः । संघात (=नामाख्यात) से—नामाख्यातानां व्याख्यानो ग्रन्थः—नामाख्यातिकः । इस प्रकार का व्याख्यान संहितापाठ के समान होने के कारण किया जाता है ।

व्याख्या—स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्[3] (='मन चोर है, वाणी झूठ बोलनेवाली है') । इस प्रकार के वाक्यों का धर्म के प्रति प्रामाण्य नहीं है, यथाभूत अर्थ का अनुवाद होने से [अर्थात् लोक में सामान्यतया दृष्ट अर्थ का कथन करने से] । [शब्दों के] विपरिणाम (=परिवर्तन) आदि के द्वारा अर्थ की कल्पना करने पर 'चोरी करनी चाहिये', 'झूठ बोलना चाहिये' इत्यादि अर्थ प्राप्त होगा । ऐसा अनुष्ठान चोरी और झूठ बोलने के प्रतिषेध करनेवाले शास्त्र की बाधा किये बिना सम्भव नहीं है । ['चोरी करो—चोरी मत करो', 'झूठ बोलो—झूठ मत बोलो' ऐसा] विकल्प भी सम्भव नहीं है, [दोनों विधियों में] विषमता होने से । एक विधि ['चोरी करो', 'झूठ बोलो'—स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक् वचनों के अनुसार] कल्पनीय होगी, और दूसरी ['चोरी मत करो', 'झूठ मत बोलो'] विधि प्रत्यक्ष है ।

---

१. मै० सं० ४।५।२।। २. स्तेयानृतवादप्रतिषेधको स्तेयप्रतिषेधको वा साक्षाद् विधिर्नोपलब्धोऽस्माभिः । अनृतवादप्रतिषेधको विधिः—नानृतं वदेत् (तै० सं० २।५।५) इत्येवमुपलभ्यते ।

३. व्याख्या में निर्दिष्ट वाक्यों के पते सर्वत्र भाष्य में निर्दिष्ट ही जानें । इन वाक्यों के प्रकरण तथा जिस विधिवाक्य के अर्थवाद हैं, आदि का निर्देश उत्तर पक्ष के भाष्य में यथास्थान लिखेंगे ।

अथ दृष्टविरोधः—तस्माद् धूम एवाऽग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः । तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः[1] इति । अस्माल्लोकादुत्क्रम्याऽग्निरादित्यं गतः, रात्रावादित्यस्तम्[2], इत्येतदुपपादयितुमिदम् । उभयमपि दृष्टविरुद्धमुच्यते । तस्मान्नैषाऽवधारणा सिद्ध्यतीति ।

विवरण- भूतानुवादात् का तात्पर्य है—प्रमाणान्तर से जो अर्थ सिद्ध (=ज्ञात) है, उसका प्रतिपादक होने से [अर्थात् जो वस्तु जैसी लोक में ज्ञात होती है, उसे उसी रूप में कहना 'भूतानुवाद' कहाता है । एकः प्रत्यक्षः—इससे भाष्यकार का तात्पर्य 'चोरी नहीं करनी चाहिये', 'झूठ नहीं बोलना चाहिये' विधियों के प्रत्यक्ष उपलब्ध होने से है । हमें स्तेयं न कर्तव्यम् इस अभिप्राय का श्रुतिवचन उपलब्ध नहीं हुआ । 'नानृतं वदेत्' यह वचन तै० सं० २।२।५ में मिलता है ॥

व्याख्या—दृष्टविरोधः—तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः । तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः (तु०—तै० ब्रा० २।१।२)।[='इसलिये अग्नि का धुंवा ही दिन में दिखाई देता है, ज्वाला दिखाई नहीं देती' । 'इसलिये अग्नि की ज्वाला ही रात्रि में दिखाई देती है, धुंवा दिखाई नहीं देता'] । 'इस लोक से ऊपर उठकर अग्नि आदित्य को प्राप्त हो गया (=आदित्य में प्रविष्ट हो गया), रात्रि में आदित्य अग्नि को प्राप्त हो गया (=आदित्य अग्नि में प्रविष्ट हो गया)' इस का कथन करने के लिये उक्त वचन कहे हैं । ये दोनों ही दृष्ट से विरुद्ध कहे गये हैं [क्योंकि लोक में अग्नि की ज्वाला दिन में भी दिखाई पड़ती है, और धुंवा रात में भी दिखाई देता है] । इस [लोक-दृष्ट से विरुद्ध होने] से यह निश्चित करना [कि अग्नि का धुंवा ही दिन में दिखाई देता है, ज्वाला दिखाई नहीं देती। तथा रात्रि में ज्वाला ही दिखाई देती है, धुंआ दिखाई नहीं देता] सिद्ध नहीं होता ।

विवरण—भाष्यकार ने यहां जो उद्धरण दिये हैं, वे यथावत् रूप में हमें उपलब्ध नहीं हुये । सम्भवतः भाष्यकार ने अर्थतः अनुवाद किया हो । इसी अभिप्राय का पाठ तैत्तिरीय ब्राह्मण २।१।२ में इस प्रकार मिलता है—'अग्निं वावाऽऽदित्यः सायं प्रविशति । तस्मादग्निर्दूराान्नक्तं ददृशे ......उद्यन्तंवावाऽऽदित्यमग्निरनुसमारोहति । तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे ।' अस्माल्लोकाद्... उपपादयितुमिदम्—इस भाष्य से जो बात कही गई है, वह तैत्तिरीय ब्राह्मण के उद्धृत पाठ में उपलब्ध है । अवधारणा—भाष्यकार ने जो पाठ उद्धृत किया है, उसमें धूम एवाग्नेः अर्चिरेवाग्नेः दोनों में अवधारणार्थक 'एव' शब्द है । तैत्तिरीय ब्राह्मण के पाठ में केवल धूम एवाग्नेः इस वाक्य में ही 'एव' शब्द का निर्देश है ॥

---

१. तैत्तिरीयब्राह्मणे (२।१।२) त्वेवं पठ्यते—तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे । .... तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे ।

२. एतदर्थकं वचनं तैत्तिरीयब्राह्मणे (२।१।२) एवं श्रूयते—अग्निं वावाऽऽदित्यः सायं प्रविशति । ......उद्यन्तं वावाऽऽदित्यमग्निरनुसमारोहति ।

अपरो दृष्टविरोधः न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मः, अब्राह्मणा वा[1] इति, अक्रियार्थत्वादनर्थकम् । अथायमर्थः—नैवैतज्ज्ञायते किं वा ब्राह्मणा वयम् उताब्राह्मणा एवेति प्रत्यक्षविरुद्धमप्रमाणम् ।

व्याख्या दूसरा दृष्टविरोध है— न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मः, अब्राह्मणा वा (=हम यह नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं, अथवा अब्राह्मण) यह वचन क्रियार्थक न होने से अनर्थक है । इसका यह अर्थ है—'यह नहीं जाना जाता है कि हम ब्राह्मण हैं अथवा अब्राह्मण' । यह प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से अप्रमाण है ।

विवरण—भाष्यकार ने न चैतद् विद्मो० यह वचन २।१।३२ के भाष्य में भी उद्धृत किया है । वहां 'विद्मो' के आगे 'वयं' के स्थान में 'यदि' पाठ है । मैत्रायणीसंहिता १।४।११ में यह पाठ मिलता है । वहां भी 'यदि' पाठ है । हमारा विचार है कि इस सूत्र के भाष्य में लेखक-प्रमाद से पाठ भ्रष्ट हो गया है । शाबरभाष्य में दोनों स्थानों पर न चैतत् पाठ है, परन्तु मैत्रायणीसंहिता में न वै तद् पाठ मिलता है । क्या यहां भाष्यपाठ में भ्रंश हुआ है, अथवा भाष्यकार ने शाखान्तर पाठ उद्धृत किया है, यह विचारणीय है । हमारे विचार में वकार का चकार में परिवर्तन होना लिपिसाम्य से अधिक सम्भव है । मैत्रायणीसंहिता में न वैतद् विद्म यदि पाठ मिलता है । यहां विद्म के स्थान में विद्मो पाठ होना चाहिये । प्रत्यक्षविरुद्धम्—इस पर कुमारिल ने ब्राह्मणत्व को गोत्वादि के समान अपरिवर्तनीय जाति माना है । और आचार-निमित्तक वर्णविभाग का खण्डन किया है । ब्राह्मणत्वादि के प्रत्यक्षत्व के विषय में लिखा है—सब के समानरूप होने पर भी जैसे किसी विशिष्ट निमित्त से नर और मादा कोकिल के विभाग का ज्ञान होता है, वैसे ही दर्शन स्मरण परम्परादि से अनुगृहीत ब्राह्मणत्वादि भी प्रत्यक्षगम्य हैं । इसलिये ब्राह्मणत्व के अज्ञान-वचन में प्रत्यक्ष विरोध है । वस्तुतः ब्राह्मणत्वादि को गोत्वादि के समान जाति मानना आर्ष वाङ्मय के प्रतिकूल है । गीता में स्पष्ट ही ब्राह्मणत्वादि विभागों को गुण कर्म के आधार पर माना है—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः (४।१३) । इसका निरूपण महाभारत में अनेक स्थानों पर किया गया है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।५।११।१०-११ में स्पष्ट लिखा है—'धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ । अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णः जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ । अर्थात् धर्मचर्या से निम्न वर्ण पूर्व पूर्व वर्ण को प्राप्त होता है । और अधर्माचरण से उत्तम वर्ण भी भी निम्न वर्ण को प्राप्त होता है । इतिहास वा पुराणों में निम्न वर्णस्थों के ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के उदाहरण भरे पड़े हैं । इतना ही नहीं जन्मना ब्राह्मण आदि माननेवालों का व्यवहार अर्धजरतीय दोषयुक्त है । जन्मना शूद्र चाहे कितना ही धर्मात्मा हो पढ़ा-लिखा हो, पर उसे ये ब्राह्मणकर्म का अधिकार नहीं देते । परन्तु जब ब्राह्मण दुराचारी हो जाता है, मुसलमान वा ईसाई बन जाता है, तब उससे

१. इदं वचनमुपरिष्टाद् (२।१।३२) अपि भाष्यकारेणोद्ध्रियते । तत्र 'वयं' स्थाने 'यदि' पदं पठ्यते । मैत्रायणीसंहितायां (१।४।११) त्वेवं पठ्यते—न वै तद् विद्म यदि ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा । अस्मिन् पाठे 'विद्म' इत्यस्य स्थाने 'विद्मो' पाठेन भाव्यम् ।

अपरः शास्त्रदृष्टेन विरोधः—को हि तद्वेद यदमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वा[1] इति। यदि प्रश्नोऽयम्, अक्रियार्थत्वादनर्थकः। अथानवक्लृप्तिः, शास्त्रदृष्टेन विरोधः। अतः प्रत्यक्ष-विरुद्धमप्रमाणम् ॥२॥

तथाफलाभावात् ॥३॥ (पू०)

गर्गत्रिरात्रब्राह्मणं प्रकृत्य उच्यते—शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद[2] इति। यदि भूतानुवादः, अनर्थकः। अथाध्ययनफलानुवादः, ततोऽसदनुवादः। कालान्तरे फलं भविष्यतीति चेत्, न ह्यत्र प्रमाणमस्ति। विधिः स्यादिति चेत्, नैष विधिपरः। द्रव्यसंस्कारकर्मसु०[3] इति

ब्राह्मणत्व का अधिकार छीन लेते हैं। क्या यह परस्पर विपरीत व्यवहार न्याय्य है? इस विषय के तत्त्वज्ञान के लिये पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ कृत 'जातिनिर्णय' ग्रन्थ देखना चाहिये ॥

व्याख्या—यह अन्य शास्त्रदृष्ट से विरोध (=शास्त्र में कहे गये अभिप्राय से विरोध) है। को हि तद्वेद यदमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वा (=कौन उसे जानता है कि [मृत्यु के पश्चात्] उस लोक में [स्वर्ग] है वा नहीं)। यदि यह प्रश्न है, तो क्रियार्थक न होने से अनर्थक है। और यदि अनवक्लृप्ति (=अनिश्चय=संशय) [को प्रकट करता है, तो] शास्त्र में देखे गये=कहे गये [स्वर्गरूप] अभिप्राय से विरुद्ध है। इसलिये यह [शास्त्र-दृष्ट से] प्रत्यक्षविरुद्ध अप्रमाण है॥२॥

विवरण—भाष्य में उद्धृत वचन दिक्ष्वतीकाशान् करोति (तै० सं० ६।१।१) की विधि का अर्थवाद है। ज्योतिष्टोमादि सतत हूयमान क्रतुओं में यज्ञीय धूम से बचने के लिये प्राचीन वंश-शाला में द्वार के अतिरिक्त चारों ओर धूम के निकलने के लिये अतीकाश=खिड़की के समान खुला स्थान रखते हैं। को हि तद्वेद का तात्पर्य दिक्ष्वतीकाशान् करोति विधि की स्तुति में है। अभिप्राय यह है कि यज्ञ से मृत्यु के पीछे स्वर्ग मिलेगा, इसे कौन जानता है? अभी तो धूंएं से दम न घुट जाये, इसलिये अतीकाश बना दो ॥२॥

तथाफलाभावात् ॥३॥

सूत्रार्थ—[जैसा फल कहा है] (तथा) वैसे (फलाभावात्) फल का अभाव होने से [अक्रियार्थ वचन] अप्रमाण हैं।

व्याख्या—गर्गत्रिरात्र [संज्ञक क्रतु] के ब्राह्मण का आरम्भ करके कहा है—शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद (=इस [गर्गत्रिरात्रक्रतु] को जो इस प्रकार जानता है, उसका मुख सुशोभित होता है)। यदि यह कथन यथाभूत अर्थ का अनुवाद है, तो अनर्थक है। और यदि [गर्गत्रिरात्रसम्बन्धी ब्राह्मण के] अध्ययन के फल का अनुवाद है, तो यह झूठा अनुवाद है [क्योंकि अध्येता के मुख पर शोभा नहीं देखी जाती है]। यदि कहो कि [उक्त फल] कालान्तर में प्राप्त होगा, तो इसमें भी प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि विधि (=फल का कालान्तर में विधायक) होवे, तो यह विधिपरक नहीं है। द्रव्यसंस्कारकर्मसु० (४।३।१) सूत्र में आगे सूत्रकार यह विचार

---

१. तै० सं० ६।१।१॥ २. ताण्ड्य ब्रा० २०।१६।६॥ ३. मीमांसा ४।३।१॥

चिन्तयिष्यति एतदुपरिष्टात्—किं फलविधिरुतार्थवाद इति । इह तु किं भूतानुवादः क्रियार्थो वेति । तेन न फलविधित्वान्निराकृतस्य इहानर्थकोऽर्थवादविचार इति । आऽस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद[1], इति च उदाहरणम् ॥३॥

अन्यानर्थक्यात् ॥४॥ (पू०)

पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति[2]; पशुबन्धयाजी सर्वांल्लोकानभिजयति[3]; तरति मृत्युं

करेंगे कि यह फलविधि है अथवा अर्थवाद । यहां तो क्या यह यथाभूत का अनुवाद है, अथवा क्रियार्थ है [इतना ही विचार इष्ट है] । इससे फलविधित्वरूप से निराकृत (=प्रत्याख्यात) अर्थवाद का यहां विचार अनर्थक नहीं है । [इसी प्रकार] आऽस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद (=इसकी प्रजा में वाज=अन्नवाला उत्पन्न होता है, जो इस प्रकार जानता है) भी उदाहरण [जानना चाहिये] ॥३॥

विवरण - द्रव्यसंस्कारकर्मसु० इस सूत्र का अर्थ यह है कि द्रव्य संस्कार और गुण (=अङ्ग)-कर्म में जो फलश्रुति कही गई है, वह अर्थवाद है । द्रव्य संस्कार और गुण कर्म के परार्थ=यागार्थ होने से । यथा द्रव्यविषयक—यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न पापं श्लोकं शृणोति (तै० सं० ३।५।७) अर्थात् जिसकी पलाश की जुहू होती है, वह बुरा वचन नहीं सुनता । संस्कार-विषयक— यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते (तै० सं० ६।१।१) अर्थात् यजमान जो आंख में अञ्जन लगाता है, उससे शत्रु की आंख को नष्ट करता है । गुणकर्मविषयक—यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते, वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते, वर्म यजमानस्य भ्रातृव्यस्याभिभूत्यै (तु०—तै० सं० २।६।१) अर्थात् जो प्रयाज और अनुयाज किये जाते हैं, वह यज्ञ का कवच (=रक्षक) किया जाता है, यजमान का कवच किया जाता है, शत्रु के पराजय के लिये । विशेष मी० ४।३।१ के भाष्य में देखें । आऽस्य प्रजायाम् यह भाष्यकारोक्त वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ । कुतुहलवृत्तिकार ने इस वचन को उद्धृत नहीं किया है ॥३॥

अन्यानर्थक्यात् ॥४॥

सूत्रार्थ—(अन्यानर्थक्यात्) अन्य कर्मों के अनर्थक होने से [अक्रियार्थ वचन] अप्रमाण हैं ।

व्याख्या—पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति (=[अन्याधान कर्म की] पूर्णाहुति से सब कामनाओं को प्राप्त करता है); पशुबन्धयाजी सर्वांल्लोकान् अभिजयति (=पशुबन्ध याग को करनेवाला सब लोकों को जीत लेता है); तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन

---

१. अनुपलब्धमूलं वचनम् ।

२. अनुपलब्धमूलम् । तै० ब्राह्मणे त्वेवं पठ्यते—पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति । सर्वं वै पूर्णाहुतिः । सर्वमेवाऽऽप्नोति । इदं त्वश्वमेधविषयकं वचनम् ।

३. अनुपलब्धमूलम् ।

तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेवं वेद' इति। यदि भूतानुवादमात्रमनर्थकम्। अथ फलविधिः, इतरेषामानर्थक्यम्। न ह्यकृत्वा पूर्णाहुतिमग्निहोत्रादयः क्रियन्ते। न चानिष्ट्वा अग्नीषोमीयेन सोमेन यजन्ते। न चानधीत्य अश्वमेधेन यजन्ते। तद्यथा पथि जाते अर्के मधु उत्सृज्य तेनैव पथा मध्वर्थिनः पर्वतं न गच्छेयुः, तादृशं हि तत्। अपि चाहुः—

अर्के[2] चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेद्॥ इति॥४॥

यजते, य उ चैनं वेद (=जो अश्वमेध से यजन करता है, और जो इसको जानता है, वह मृत्यु को तैर जाता है, ब्रह्महत्या को तैर जाता है)। यदि ये वचन भूतानुवादमात्र हैं, तो अनर्थक हैं। और यदि फल की विधि है, तो अन्य कर्मों का आनर्थक्य होता है। बिना [अग्न्याधान की] पूर्णाहुति किये अग्निहोत्रादि नहीं किये जाते हैं। और अग्निषोमीय पशुयाग बिना किये सोम से यजन नहीं किया जाता है। और अश्वमेध[कर्म]का बिना अध्ययन किये [उससे]यजन नहीं करते हैं। जैसे मधु चाहनेवाले मार्ग में उत्पन्न आक के पौधे में वर्तमान शहद को छोड़कर उसी मार्ग से पर्वत को नहीं जायेंगे, उसी प्रकार यह है। [अर्थात् एक कर्म से ही कामनाएं पूर्ण हो जावें, वा फल मिल जावें, तो कौन अन्य कर्मों को करेगा? उस अवस्था में अन्य कर्मों का विधान अनर्थक होगा]। और कहा भी है—यदि आक के पौधे में ही शहद उपलब्ध हो जावे, तो किसलिये पर्वत पर जायेगा? [अर्थात् बिना प्रयत्न के ही इष्ट अर्थ प्राप्त हो जावे, तो] इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये कौन बुद्धिमान् यत्न करेगा? ॥४॥

विवरण—पूर्णाहुत्या—यह पूर्णाहुति अग्न्याधान कर्म की है। अग्न्याधान से संस्कृत अग्नियों में ही उत्तर दर्शपौर्णमासादि सभी याग किये जाते हैं। अतः अग्न्याधेय की पूर्णाहुति से ही यजमान की सब कामनाएं पूर्ण हो जावें, तो विभिन्न कामनाओं के लिये विहित दर्शपौर्णमास आदि कर्म अनर्थक हो जावें। पशुबन्धयाजी—भाष्यकार ने इस पशुबन्धयाग को सोमयाग में विहित अग्नीषोमीय पशुयाग माना है—न चानिष्ट्वा अग्नीषोमीयेन सोमेन यजन्ते (इसी सूत्र के भाष्य में) भाष्योद्धृत मूलवचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ। गोपथ ब्राह्मण १।५।७ में यज्ञों का क्रम लिखा है। उसमें चातुर्मास्येभ्यः पशुबन्धः पशुबन्धादग्निष्टोमः क्रम दिया है। इस क्रम के अनुसार तथा शतपथ १०।१।५।४ के अनुसार पशुबन्ध स्वतन्त्र कर्म है। इसे निरूढ पशुबन्ध भी कहा जाता है। इस पशुबन्ध के इन्द्राग्नी सूर्य और प्रजापति वैकल्पिकी देवता हैं। इससे भी यह

---

१. द्र०—तै० सं० ५।३।१२॥ अत्र 'तरति मृत्युं' इत्यस्य स्थाने 'सर्वं पाप्मानं तरति' इति पाठः।

२. 'अक्के' इति पाठान्तरं कुतुहलवृत्तौ। तत्रैव चोक्तम्—'गृहकोणोऽक्क इत्यपि' इति जयन्तः। जयन्तभट्टस्य न्यायमञ्जर्यां नास्माभिरेतदुपलब्धम्। 'अक्के' इत्यपि पाठान्तरम्। 'अक्के' इति तु अर्कस्यैव प्राकृतं रूपम्। यथा 'धर्म' इत्यस्य 'धम्म' इति।

अभागिप्रतिषेधाच्च ॥५॥ (पू०)

न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि[1], इत्यप्रतिषेधभागिनमर्थं प्रतिषेधन्ति। विज्ञायते एवैतद्—अन्तरिक्षे दिवि चाग्निर्न चीयते इति। पृथिवीचयनप्रतिषेधार्थं च यद्वाक्यम्, भवेच्चयनप्रतिषेधार्थमेव तत्। अथाप्रमाणम्, नैष विरोधो भवति। कथं तत्

स्वतन्त्र कर्म है। पशुबन्धयागों के सम्बन्ध में हमने 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' प्रकरण में विस्तार से लिखा है। इस सम्बन्ध में पाठक इस प्रकरण को, जो इसी भाग के आदि में छपा है, देखें। यदि भूतानुवादमात्रम्—इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम वचन में अवाप्नोति क्रियापद वर्तमानकाल के लट् लकार का है। अतः यह भूतानुवाद है। इस प्रकार के भूतानुवादवचनों का आनर्थक्य आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् (१।२।१) सूत्र से कह चुके हैं। अथ फलविधिः—इसका तात्पर्य यह है कि यदि अवाप्नोति को विध्यर्थक लेट् लकार का मानकर फलविधि कही जाये, तो आधान की पूर्णाहुति से ही सब कामनायें पूर्ण हो जाने पर अन्य कर्मों का आनर्थक्य प्राप्त होगा। तेनैव पथा—का तात्पर्य यह है कि जिस मार्ग में आक के पेड़ पर मधु का छत्ता लगा है,उसे छोड़कर कोई अन्यत्र क्यों जायेगा? मार्गान्तर से तो मधु के लिये पर्वत आदि पर गमन सम्भव है। अर्के चेन्मधु—यह लौकिक उक्ति है। इसमें अर्के का एक पाठान्तर अत्के है। कुतुहल-वृत्तिकार ने इसी पाठ को स्वीकार करके लिखा है—'गृहकोणोऽत्क इत्यपि' इति जयन्तः। अर्थात् जयन्तभट्ट ने 'अत्कः' का अर्थ घर का कोना भी माना है। जयन्तभट्ट ने यह बात न्यायमञ्जरी में कहां कही है, यह हमें ज्ञात नहीं हुआ? अन्य पाठान्तर है—अक्के। यह अर्क का ही प्राकृत रूप है। इसी का रूपान्तर हिन्दी में आक है। जैसे—कर्म=कम्म=काम ॥४॥

अभागिप्रतिषेधाच्च ॥५॥

सूत्रार्थ—(अभागिप्रतिषेधात्) जिसको कार्य की प्राप्ति नहीं है, उसके प्रतिषेध से (च) भी [अक्रियार्थ वचन] अप्रमाण हैं।

विशेष—कुतुहल-वृत्तिकार ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है—भागः=भजनं=प्राप्तिः=प्रसङ्गः अस्यास्तीति भागि=प्रसक्तम्, अभागि=अप्रसक्तम्, तस्य प्रतिषेधादित्यर्थः।

व्याख्या—[अग्निचयन के विषय में कहा है—] न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि (=पृथिवी पर अग्नि का चयन नहीं करना चाहिते, न अन्तरिक्ष में और न द्युलोक में), इससे जिसमें प्रतिषेध की प्रसक्ति नहीं, उस अर्थ को प्रतिषेध करते हैं। सब जानते हैं कि अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्नि का चयन नहीं होता। और पृथिवी पर अग्नि के चयन के प्रतिषेध का जो वाक्य है, वह अग्नि के चयन के प्रतिषेध के लिये ही होवे। और वह भी अप्रमाण होवे,तो यह विरोध नहीं होता। वह कैसे प्रमाण हो सकता है, जो अन्य विधि

---

१. मै० सं० ३।२।६॥

प्रमाणं यद् विध्यन्तरमाकुलयेत्, स्वयं चाफलं स्यात् ? न चेतव्यं, हिरण्यं निधाय चेतव्यम्[1] इति ॥५॥

अनित्यसंयोगात् ॥६॥ (पू०)

अनित्यसंयोगश्च वेदप्रामाण्ये सति 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'[2] इति परिहृतः। इदानीं वेदैकदेशानामाक्षिप्तानां पुनरुपोद्बलक उत्तिष्ठति—बबरः प्रावाहणिरकामयत[3] इति ॥६॥

को पीड़ित (=बाधित) करे, और स्वयं निष्फल होवे ? 'चयन नहीं करना चाहिये' [यह वचन स्वयं फलरहित है। अर्थात् पृथिवी में चयन नहीं करना चाहिये, कथन का कोई फल नहीं है], और हिरण्यं निधाय चेतव्यम् [इस विधि को पीड़ित करता है] ॥५॥

विवरण विध्यन्तरमाकुलयेत्—यहां विध्यन्तर को पीड़ित करना और स्वयं निष्फल होना, दो बातें कहीं हैं। इन का प्रतिनिर्देश विपर्यय से किया है। पहले स्वयं निष्फल होने का निर्देश किया है—न चेतव्यम्, अर्थात् न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यः को प्रमाण मानें, तो यह विधि स्वयं अफल=व्यर्थ होगी। विध्यन्तर को पीड़ित करने का निर्देश किया है—हिरण्यं निधाय चेतव्यम् विधि को न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यः पीड़ित करेगी, अर्थात् उसे बाधा पहुंचायेगी। न पृथिव्याम् आदि उद्धृत पाठ मैत्रायणी संहिता ३।२।६ में मिलता है। वहां हिरण्यं निधाय चेतव्यम् के स्थान पर रुक्ममुपदधाति पाठ है। ऐसा ही निर्देश तै० सं० ५।२।७ में मिलता है। सम्भव है भाष्यकार ने जिस अज्ञात ग्रन्थ से उक्त वचन उद्धृत किया, वहां हिरण्यं निधाय चेतव्यम् ही विधि हो। अथवा रुक्ममुपदधाति का अर्थतः अनुवाद किया हो। हमारे विचार में विध्यन्तर का अभिप्राय श्येन चितं चिन्वीत से होना चाहिये। भट्ट कुमारिल ने दोनों विध्यन्तरों को आकुलित करने का निर्देश किया है ॥५॥

अनित्यसंयोगात् ॥६॥

सूत्रार्थ—(अनित्यसंयोगात्) अनित्य-संयोग से भी [अक्रियार्थ वचन] अप्रमाण हैं।

व्याख्या—वेद के प्रमाण होने पर अनित्यसंयोग दोष परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् (१।१।३१) इस सूत्र से परिहृत कर दिया। इस समय आक्षेप किये गये वेद के एकदेशों को बढ़ावा देनेवाला [पूर्वपक्ष] पुनः उठता है—बबरः प्रावाहणिरकामयत [यह अनित्यसंयोग के कारण अप्रमाण है] ॥६॥

---

१. मैत्रायणीसंहितायां तु रुक्ममुपदधाति इति विधिवाक्यं श्रूयते। भाष्यकारेण शाखान्तरपाठो वोद्धृतः स्याद् अर्थतो वाऽनुवादः कृतः स्याद्।

२. मीमांसा १।१।३१ ३. तै० सं० ७।१।१०॥

विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ।।७।। (उ०)

इदं समाम्नायते—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः, वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति,स एवैनं भूतिं गमयति'[2] इति। वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेत्यतो यद्यपि क्रिया नाऽवगम्यते, क्रियासम्बद्धं वा किञ्चित्, तथापि विध्युद्देशेनैकवाक्यत्वात् प्रमाणम् । 'भूतिकामः' इत्येवमन्तो[3] विध्युद्देशः । तेनैकवाक्यभूतो 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्येवमादिः । कथमेकवाक्यभावः ? पदानां साकाङ्क्षत्वाद् विधेः स्तुतेश्चैकवाक्यत्वं भवति ।

विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ।।७।।

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है—अक्रियार्थ वचन अनर्थक=अप्रमाण नहीं हैं। [अक्रियार्थ वचन=अर्थवाद के] (विधिना) विधिवाक्य के साथ (एकवाक्यत्वात्) एकवाक्यभाव होने से, (विधीनां) विधियों के (स्तुत्यर्थेन) स्तुतिरूप प्रयोजन से [सार्थक=प्रमाण] (स्युः) होंगे ।

विशेष—कुतुहलवृत्ति में इस सूत्र के पदों का अन्य प्रकार से अन्वय करके इस प्रकार अर्थ किया है—(तु) पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। [अक्रियार्थ वचन] (स्तुत्यर्थेन) स्तुति की अपेक्षा रखनेवाली (विधिना) विधि के साथ (एकवाक्यत्वात्) एकवाक्यता से (विधीनाम्) विधिवचनों के एकदेश (स्युः) होंगे। अर्थात् अक्रियार्थ वचन (=अर्थवाद) विधि की स्तुति करते हुये विधि के एकदेश बनकर अनर्थक नहीं होंगे । सूत्र में विधीनाम् पद में अवयवषष्ठी है ।

व्याख्या—यह पढ़ा जाता है—वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः । वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता। वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति । स एवैनं भूतिं गमयति (=ऐश्वर्य की कामनावाला वायुदेवतावाले श्वेत [पशु] का स्पर्श करे। वायु अत्यन्त शीघ्रकारी देवता है। [वायव्य श्वेत पशु के आलभन द्वारा] वायु को ही अपने भाग द्वारा प्राप्त होता है। वह ही इस [यजमान] को ऐश्वर्य प्राप्त कराता है)। यद्यपि वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता इस वचन से क्रिया का बोध नहीं होता है, अथवा न क्रिया से सम्बद्ध कोई अर्थ जाना जाता है, तथापि विध्युद्देश (=विधि उद्देश्य है जिसका, उस=वायव्यं श्वतमालभेत भूतिकामः वचन) के साथ एकवाक्यता होने से प्रमाण है। 'भूतिकामः' पर्यन्त विध्युद्देश है। उस [वचन] के साथ वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता इत्यादि एकवाक्यरूप है। एकवाक्यता कैसे है ? पदों के साकाङ्क्ष होने से विधि और स्तुति की एकवाक्यता होती है । भूति (=ऐश्वर्य) की कामनावाला स्पर्श करे।

---

१. यद्यपि उदाहरणक्रमानुरोधेन 'यदरोदीत्०' इत्यादीनां समाधानं पूर्वं वक्तव्यं, तथापि तेषां स्वार्थेऽप्यप्रामाण्यात् पूर्वं येषां स्वार्थे प्रामाण्यं सम्भवति तेषां समाधानमुच्यते ।

२. तै० सं० २।१।१।। ३. 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इति भागः ।

'भूतिकाम आलभेत'। कस्माद्? यतो वायुः क्षेपिष्ठेति। नायमभिसम्बन्धो विवक्षितः—'भूतिकामेनालब्धव्यमिति'। कथं तर्हि? आलभेत, यतः ततो भूतिरिति। भिन्नाविमावर्थौ। उभयाभिधाने वाक्यं भिद्येत।

किस कारण? जिस कारण वायु क्षिप्रकारी है। यह सम्बन्ध विवक्षित नहीं है—'भूति की कामनावाले को स्पर्श करना चाहिये'। तो कैसा [सम्बन्ध विवक्षित है]? आलभेत=स्पर्श करे, जिस कारण उससे भूति प्राप्त होती है। ['भूति की कामनावाला स्पर्श करे' यह सम्बन्ध क्यों विवक्षित नहीं है, इसका कारण यह है कि] ये दोनों (='भूतिकाम आलभेत' और 'वायुर्वै' से स्तुति) भिन्न अर्थ हैं। दोनों अर्थों का कथन होने पर वाक्यभेद होगा। [अर्थात् 'भूतिकामः' और 'आलभेत' के सम्बन्ध की विवक्षा करने पर अर्थवाद को अनुगृहीत करने के लिये स्तुति और स्तुत्य (=आलभेत) का सम्बन्ध भी अवश्य कहना पड़ेगा। इस प्रकार दो सम्बन्धों के कहने पर वाक्यभेद होगा।]

विवरण—भाष्यकार द्वारा उद्धृत वायव्यं श्वेतमालभेत इत्यादि वाक्य तै० सं० २।१।१ में काम्य पशु प्रकरण में आया है। श्वेतम्—श्वेतगुणविशिष्ट पशु का निर्देश होने पर भी छागो वा मन्त्रवर्णात् (मी० ६।८।३१) सूत्र से छाग=बकरे का ही ग्रहण होता है। आलभेत क्रिया सर्वत्र स्पर्श अर्थ में प्रयुक्त होती है। सायणाचार्य ने भी इस वाक्य के भाष्य में आलभेत का अर्थ संस्पृशेत्='कुशा और पलाश की शाखा से स्पर्श करे' ही किया है। परन्तु साक्षात् यजेत का निर्देश न होने पर भी द्रव्यदेवता का निर्देश बिना याग के उपपन्न नहीं होता। अतः 'वायु देवता-वाले पशु से याग करे' ऐसा अर्थ वर्तमान याज्ञिक मानते हैं। इस विषय में विचारणीय यह है कि अश्वमेध में अनेक आरण्य पशु-पक्षियों का वसुभ्य ऋश्यानालभते (यजु० २४।२७), वसन्ताय कपिञ्जलानालभते (यजु० २४।२०) आदि का निर्देश द्रव्यदेवता सम्बन्ध से किया है, परन्तु आरण्य पशुओं से याग नहीं किया जाता है। पर्यग्निकरण के पश्चात् उनका उत्सर्ग कर दिया जाता है (द्र०-शत० १२।२।४।३)। इसी प्रकार पुरुषमेध में भी ब्रह्मणे ब्राह्मणान् आलभते (शत० १३।६।२।१०) से द्रव्यदेवता-सम्बन्धपूर्वक निर्दिष्ट पुरुषों को भी पर्यग्निकरण के पश्चात् छोड़ देते हैं (द्र०—शत० १३।६।२।१३)। यदि इन दोनों विषयों में द्रव्यदेवता-सम्बन्ध का निर्देश होने पर भी उनसे याग नहीं किया जाता है, तो मानना पड़ेगा कि याज्ञिकों का अन्यत्र यागपर्यन्त अनुधावन अर्धजरतीय-दोषदुष्ट है। पुरुषमेध में तो पुरुषों के उत्सर्ग के पश्चात् कर्म समाप्त्यर्थ घृताहुतियों का विधान है—स्विष्टकृद्वनस्पत्यनन्तरे पुरुषदेवताभ्यो जुहोति (कात्या० श्रौत० २०।१।१३)। वस्तुतः यही स्थिति पुराकाल में समस्त पशुयागों की थी। पशुओं का पर्यग्निकरण के अनन्तर उत्सर्ग होता था, और कर्म की समाप्ति के लिये यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः वचनानुसार पुराडाश से कर्म की समाप्ति की जाती थी। इस पुरोडाश याग को छिद्र (=यज्ञ की न्यूनता) के पिधान (=छिपाने) के लिये किया जाता था। वर्तमान काल में पशु का संज्ञपन और उसके अङ्गों से याग करते हुये भी यद्देवत्यः पशुस्तद्देत्यः पुरोडाशः नियम का पालन करते हुये 'पुरोडाश याग' भी करते हैं, और इसे मृत पशु के अङ्गों को निकालने से जो छिद्र=

किमर्था स्तुतिः ? इति चेत्, कथं रोचेत 'ततोऽनुष्ठीयेतेति ? ननु प्राक् स्तुतिवचनाद् अनुष्ठानं भूतिकामान्तात् सिद्धम्, स्तुतिवचनमनर्थकम् । न हि । यदा स्तुतिपदाऽसन्निधानं, तदा पूर्वेणैव विधिः । यदा स्तुतिपदसम्बन्धः, न तदा भूतिकामस्यालम्भो विधीयते । यथा—पटो भवतीति पट उत्पद्यते इत्यर्थः । निराकाङ्क्षं च पदद्वयम् । यदा च तस्मिन्नेव 'रक्तः' इत्यपरं श्रूयते, तदा रागसम्बन्धो भवतीत्यर्थः । भवति च रक्तं प्रत्याकाङ्क्षा । एवं यदा न स्तुतिपदानि, विधिशब्देनैव तदा प्ररोचना, यदा स्तुतिवचनं तदा स्तवनेन । नन्वेवं सति किं स्तुतिवचनेन, यस्मिन् सति अविधायकम् ? मा भूत् तत् । तदभावेऽपि पूर्वविधिनैव प्ररोचयिष्यते इति । सत्यम् । विनाऽपि तेन सिद्धयेत् प्ररोचनम् । अस्ति तु तत्, तस्मिन् विद्यमाने योऽर्थो वाक्यस्य सोऽवगम्यते । स्तुतिः

रिक्त स्थान हुआ है, उसकी पूर्ति के लिये स्वीकार करते हैं । पुरोडाश से तो यज्ञ हो जाता है, उससे पशु के छिद्र का पूरण कैसे हो सकता है ? इतना ही नहीं, समस्त पशुयागों का नाम वैदिक-वाङ्मय में पशुबन्ध=पशु का बन्धन है, न कि पशुयाग । यह प्राचीन 'पशुबन्ध' समाख्या भी बन्धन के पश्चात् उनके उत्सर्जन का ही बोध कराती है । इस विषय पर हमने विशेष विचार श्रौतयज्ञ-मीमांसा प्रकरण के अन्तर्गत किया है ॥

व्याख्या—स्तुति किस प्रयोजन के लिये है? यदि ऐसा कहो, तो [इस का उत्तर यह है कि विहित कार्य में] कैसे रुचि होवे और अनुष्ठित होवे ? (आक्षेप) स्तुति-वचन से पूर्व भूतिकामान्त (=वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः) वचन से ही अनुष्ठान सिद्ध है, स्तुति-वचन अनर्थक है । (समाधान) ऐसा नहीं है । जब स्तुतिपदों की समीपता नहीं है, तब पूर्व वचन (=विधिवचन) से ही विधान होता है । जब स्तुतिपदों का [विधिवचन के साथ] सम्बन्ध है, तब भूतिकामना-वाले के लिये आलम्भ का विधान नहीं होता । जैसे—पटो भवति [जब इतना ही प्रयुक्त होता है] तब पट (=वस्त्र) उत्पन्न होता है, यह अर्थ होता है । दोनों पद निराकाङ्क्ष हैं । जब उसी वचन में 'रक्तः' यह अन्य पद सुनाई देता है (=रक्तो पटो भवति ऐसा प्रयोग होता है), तब [पट का] रंग के साथ सम्बन्ध होता है [अर्थात् 'पट रंगा हुआ है' यह अर्थ होता है] । और 'रक्त' शब्द के प्रति आकाङ्क्षा होती है । इसी प्रकार जब स्तुतिपद प्रयुक्त नहीं होते, तब विधि शब्द से ही प्ररोचना (=रोचकता) जानी जाती है, और जब स्तुतिवचन प्रयुक्त होते हैं, तब स्तुति से रोचकता जानी जाती है । (आक्षेप) ऐसा मानने पर स्तुतिवचन से क्या लाभ, जिसके होने पर [पूर्व विधिवाक्य] अविधायक हो जाता है ? वह (=स्तुतिवचन) न होवे । उसके न होने पर भी पूर्व विधि से ही प्ररोचना जानी जायेगी । (समाधान) [आपका कथन] ठीक है । स्तुतिवचन के बिना भी उस (=पूर्व विधिवाक्य) से प्ररोचना सिद्ध हो जायेगी । पर वह तो विद्यमान है, उसके विद्यमान होने पर जो वाक्य का अर्थ होता है, वह जाना जाता है । उन (=अर्थवादरहित विधि-

---

१. क्वचित् 'नोऽनुष्ठीयेत' इत्यपपाठः ।

प्रयोजनं तयोः। तस्मिन्नविद्यमाने विधिना प्ररोचनमिति।

ननु सत्स्वपि स्तुतिपदेषु पूर्वस्य विधिस्वरूपत्वाद्विधिरभिप्रेतः स्याद्, न विवक्ष्येत स्तुतिपदसम्बन्धः। आह—स्तुतिपदानि ह्यनर्थकान्यभविष्यन् साकाङ्क्षाणि। भवन्त्वनर्थकानीति चेत्, न गम्यमानेऽर्थे अविवक्षितार्थानि भवितुमर्हन्ति। योऽसौ विध्युद्देशः, स शक्नोति निरपेक्षोऽर्थं विधातुम्, शक्नोति च स्तुतिपदानां वाक्यशेषी भवितुम्। प्रत्यक्षश्च वाक्यशेषभावः। अतोऽस्माद्विधेः[1] स्तुतिमवगच्छामः।

वाक्य और अर्थवादसहित) दोनों का स्तुति प्रयोजन जाना जाता है। उस [स्तुतिवचन] के विद्यमान न होने पर विधिवाक्य से प्ररोचना जानी जाती है।

विवरण—भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में 'यस्मिन् सति ···· । सत्यम्' पाठ के स्थान में 'यस्मिन् सत्यविधायकमवान्तरवाक्यं भवति मा भूत् तन्महावाक्यम्। सत्यं' ऐसा पाठ प्रतीकरूप में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है—जिस स्तुतिवचन के होने पर अवान्तर वाक्य (=वायव्यं ······भूतिकामः) अविधायक होता है। इसलिये वह महावाक्य (=वायुर्वै··· भूतिं गमयति) न होवे। उक्त पाठ को उद्धृत करके भट्ट कुमारिल ने लिखा है—'जो कोई वेद का कर्ता होवे, वह इस प्रकार पूछा जा सकता है कि लघु उपाय (=केवल विधिवाक्य) से सिद्ध होने पर महावाक्य के आश्रयण करने का क्या प्रयोजन है? वेद के कर्ता के न होने से ऐसा प्रश्न उपपन्न नहीं होता।' स्तुतिः प्रयोजनं तयोः—इसके विषय में तन्त्रवार्तिक की न्यायसुधा के लेखक पार्थसारथि मिश्र ने लिखा है—'तयोः' द्विवचन की उपपत्ति अर्थवाद के अभाव में विधिवाक्य से और अर्थवाद के होने पर दोनों प्रकार के वाक्यों का स्तुति प्रयोजन जाना जाता है (द्र०—न्यायसुधा, पृष्ठ ६० के व्याख्यान का अभिप्राय)॥

व्याख्या—(आक्षेप) स्तुतिपदों के विद्यमान होने पर भी पूर्व वाक्य (=वायव्यं··· भूतिकामः) के विधिस्वरूपवाला होने से विधि अभिप्रेत होवे, स्तुतिपदों का सम्बन्ध विवक्षित न होवे। (समाधान) [इस प्रकार मानने पर] आकांक्षा रखनेवाले स्तुतिपद अनर्थक हो जायेंगे। यदि कहो कि [स्तुतिपद] अनर्थक हो जावें, तो यह उचित नहीं, अर्थ गम्यमान होने पर अविवक्षित अर्थवाले (=अनर्थक) नहीं होने चाहियें। जो यह [वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः] विधि है, वह निरपेक्ष होते हुये विधिरूप अर्थ का विधान कर सकती है, और स्तुतिपदों के वाक्य के शेष (=अङ्ग) बनने में भी समर्थ है। वाक्यशेष होना प्रत्यक्ष है। इसलिये इस विधिसम्बन्धी [स्तुतिवचनरूप वाक्यशेष] से ही स्तुति को हम जानते हैं।

विवरण—अस्माद् विधेः स्तुतिम्—शाबरभाष्य के व्याख्याता गोविन्दस्वामी ने अपने भाष्य-विवरण में लिखा है—'विधेरिति षष्ठी, विधिसम्बन्धिनोऽस्माद् वाक्यशेषादेव स्तुतिमव-

---

१. 'विधेरिति षष्ठी, विधिसम्बन्धिनोऽस्माद् वाक्यशेषादेव स्तुतिमवगच्छामो, न विधेरेव' इति भाष्यविवरणम्।

ननु निरपेक्षादपि विधिमवगमिष्यामः। भवत्वेवम्। नैवं सति कश्चिद्विरोधः। किन्त्वशक्यः स्तुतिपदसम्बन्धे सति विध्यर्थो विवक्षितुम्। वाक्यं हि सम्बन्धस्य विधायकम्। द्वौ चेत् सम्बन्धौ विदध्याद्—'भूतिकाम आलभेत', 'आलम्भेन च एष गुणो भविष्यतीति'; भिद्येत तर्ह्येवं सति वाक्यम्। अथ यदुक्तं—'न क्रिया गम्यते, न सत्सम्बद्धं वा किञ्चिदिति'। स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः—स्तुतिशब्दाः[1] स्तुवन्तः क्रियां प्ररोचयमाना अनुष्ठातॄणामुपकरिष्यन्ति क्रियायाः। एवमिमानि सर्वाण्येव पदानि कञ्चिदर्थं स्तुवन्ति विदधति। अतः प्रमाणमेवञ्जातीयकानि—वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेति ॥७॥

गच्छामः, न विधेरेव'। हमने हिन्दी-व्याख्या इसी विवरण-पाठ के अनुसार की है। इस विवरण के सम्बन्ध में शास्त्रावतार प्रकरण में 'भाष्य-व्याख्या' शीर्षक सन्दर्भ में लिखा है ॥

व्याख्या—(आक्षेप) [स्तुतिपदों की] अपेक्षा से रहित [वायव्यं ·····भूतिकामः] से भी हम विधि को जानेंगे। (समाधान) ऐसा होवे। ऐसा होने पर कोई विरोध नहीं। किन्तु स्तुतिपदों का सम्बन्ध होने पर [निरपेक्ष वायव्यं ·····भूतिकामः से] विधिरूप अर्थ की विवक्षा करना अशक्य है। वाक्य सम्बन्ध का विधायक है। यदि [वह] दो सम्बन्धों का विधान करे—'भूति की कामनावाला आलम्भन करे' और 'आलम्भन से यह गुण (=भूति) होगा', तो इस प्रकार [विधान मानने पर] वाक्यभेद हो जायेगा। (आक्षेप) जो यह कहा कि—'न क्रिया जानी जाती है, और न क्रिया से सम्बद्ध कोई अर्थ जाना जाता है'। (समाधान) स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः (=[अक्रियार्थ वचन] स्तुतिरूप अर्थ से विधि के प्ररोचक होंगे)—स्तुति शब्द स्तुति करते हुये क्रिया को प्ररोचित करते (=रुचिकर बनाते) हुये क्रिया के अनुष्ठाताओं का उपकार करेंगे। इस प्रकार ये सब (प्रथम सूत्र में निर्दिष्ट अक्रियार्थ वचन) पद किसी अर्थ की स्तुति करते हुये [कर्म का] विधान करते हैं। इसलिये 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इस प्रकार के वचन प्रमाण हैं॥७॥

विवरण—स्तुतिशब्दाः स्तुवन्तः आदि वाक्य का हमने जो यथाश्रुत व्याख्यान किया है, वह निर्दोष है। भाष्यविवरणकार गोविन्दस्वामी ने इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार लिखा है—'स्तुतिशब्दा अनुष्ठातॄणामुपकरिष्यन्ति इत्यन्वयः। उपकारश्चानुष्ठातर्यतिशयः। स च सामर्थ्यम्। तच्च किंविषयमित्यत उक्तम्—क्रियाया इति। क्रियाविषयं क्रियार्थमुपकरिष्यन्तीति यावत्। तेन क्रियाया इति तादर्थ्ये षष्ठी।' इस का भाव यह है कि 'स्तुतिशब्द अनुष्ठाताओं का उपकार करेंगे' ऐसा अन्वय जानना चाहिये। उपकार है अनुष्ठाता में अतिशय। वह अतिशय सामर्थ्य है, अर्थात् स्तुतिशब्द अनुष्ठाता में सामर्थ्य उत्पन्न करेंगे। वह सामर्थ्य किस विषय का है, इसे कहने के लिये क्रियायाः (=क्रिया-विषयक) ऐसा कहा है। क्रिया-विषयक अर्थात् क्रिया के लिये उपकारक होंगे, यह तात्पर्य है। इसलिये क्रियायाः में तादर्थ्य (=क्रिया के लिये) अर्थ

---

१. 'स्तुतिशब्दा अनुष्ठातॄणामुपकरिष्यन्तीत्यन्वयः। उपकारश्चानुष्ठातर्यतिशयः। स च सामर्थ्यम्। तच्च किंविषयमित्यत उक्तम्—क्रियाया इति। क्रियाविषयं क्रियार्थमुपकरिष्यन्तीति यावत्। तेन क्रियाया इति तादर्थ्ये षष्ठी'। इतिभाष्य-विवरणम्।

तुल्यं च साम्प्रदायिकम् ॥८। (उ०)

अथोच्येत—'प्राक् स्तुतिपदेभ्यो निराकाङ्क्षाणि विधायकानि विधिस्वरूपत्वात्। स्तुतिपदानि तु प्रमादपाठ इति'[1]। तन्न, एवमर्थावगमात् । तुल्यञ्च साम्प्रदायिकम्—सम्प्रदायः प्रयोजनं येषां धर्माणाम्, सर्वे ते विधिपदानाम् अर्थवादपदानां च तुल्याः। अध्यायाऽनध्ययने, गुरुमुखात्प्रतिपत्तिः, शिष्योपाध्यायता च सर्वस्मिन्नेवञ्जातीयके अविघ्नार्थे तुल्यमाद्रियन्ते। स्मरणं च दृढम्। अतो न प्रमादपाठ इति ॥८॥

में षष्ठी विभक्ति है। स्तुवन्ति विवधति –यहां स्तुवन्ति पद शतृप्रत्ययान्त 'स्तुवत्' नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा विभक्ति का बहुवचन है।।७।।

तुल्यं च साम्प्रदायिकम् । ८।।

सूत्रार्थ—[स्तुतिपदों और विधिपदों का] साम्प्रदायिक=गुरु-शिष्य-सम्प्रदाय-प्रयोजक धर्म (तुल्यम्) समान है। [अतः स्तुतिवचन प्रमादपाठ नहीं हो सकते।]

विशेष—सूत्र के 'च' पद को कुतुहल-वृत्तिकार ने 'हि' अर्थ में माना है। तदनुसार अर्थ होगा—'स्तुतिपदों और विधिवचनों का सम्प्रदाय-प्रयोजित धर्म तुल्य ही है। यदि स्तुतिपद प्रमादपाठ होते, तो दोनों के धर्म तुल्य न होते।' हमारे विचार में 'साम्प्रदायिक' पद में स्वार्थ में 'ठक्' प्रत्यय है। उसके अनुसार सूत्रार्थ भाष्य-विवरण के अन्त में दिया है।

व्याख्या—यदि कहो कि—'[यहां] स्तुतिपदों से पूर्व के पद विधिरूप होने से निराकाङ्क्ष विधायक होवें। और स्तुतिपद प्रमादपाठ होवें'। यह कथन ठीक नहीं है, इस प्रकार प्रयोजन का ज्ञान होने से। तुल्यं च साम्प्रदायिकम्—सम्प्रदाय प्रयोजन है जिन धर्मों का, वे सब धर्म विधिपदों और अर्थवादपदों के तुल्य हैं। अध्ययन, अनध्याय (=वेदाध्ययन न करना), गुरुमुख से [वेद को] प्राप्त करना, और गुरुशिष्यभाव सब धर्म इस प्रकार के अध्ययन के विघ्नराहित्य के लिये तुल्यरूप से आदृत किये जाते हैं। [अर्थात् स्तुतिपदों और विधिपदों के अध्ययन में सम्प्रदाय-सिद्ध सभी धर्मों का पालन समानरूप से किया जाता है। स्वराक्षरवर्णानुपूर्वी सहित] तथा स्मरण भी दृढ है। इस कारण स्तुतिवचन प्रमादपाठ नहीं हैं।।८।।

विवरण—प्रमादपाठः इति - भाष्यविवरणकार गोविन्दस्वामी ने लिखा है—अत्रेत्यध्याहार्यः। इसी दृष्टि से हमने वाक्य के आरम्भ में 'यहां' पद का कोष्ठक में निर्देश किया है। एवमर्थावगमात्—इसका व्याख्यान भट्ट कुमारिल ने कई प्रकार से किया है। इसके लिये 'तन्त्रवार्तिक' और उसकी 'न्यायसुधा' टीका देखनी चाहिये। स्मरणं च दृढम्—गुरुशिष्य-सम्प्रदायानुसार ही अध्ययन-परम्परा का निर्बाधरूप से पालन होने के कारण वैदिक वाङ्मय के न्यूनातिन्यून तीन चार ग्रन्थों (शाकलसंहिता, वाजसनेयसंहिता तथा तैत्तिरीयसंहिता वा उसके ब्राह्मण) में आज तक स्वर-वर्ण-मात्रा का एक भी पाठान्तर उत्पन्न नहीं हुआ। इसलिये इतनी सुदृढ अध्ययनाध्यापन-

---

१. 'अत्र इत्यध्याहार्यः' इति भाष्यविवरणम्।

अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्व-प्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥९॥ (उ०)

परम्परा के होने पर अर्थवादवचनों को प्रमादपाठ अथवा प्रक्षेप कहना कथमपि उपपन्न नहीं हो सकता।

हमारे विचार में भाष्यकार तथा अन्य व्याख्याताओं ने 'साम्प्रदायिकम्' पद में प्रयोजनम् (अष्टा० ५।१।१०८) से 'ठक्' प्रत्यय मानकर जो अर्थ किया है, वह ठीक नहीं है। इस अर्थ में प्रत्यय मानने पर वाच्य येषां धर्माणाम् के बहुत्व के कारण सूत्र में साम्प्रदायिकानि पाठ होना चाहिये। इसके साथ ही अध्यन-अध्यापन, गुरुमुख से ज्ञान करना, और शिष्यो-पाध्यायता को धर्मरूप से गिनाया है। ये तो 'सम्प्रदाय' शब्द के मूल अर्थ—सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्येभ्यः प्रतिपाद्यते शब्दस्तदर्थ-सम्बद्धश्च येन कर्मणा सः (=अच्छे प्रकार दिया जाता है शब्द और शब्दार्थबोध गुरु के द्वारा शिष्य को जिस कर्म से) उस अध्ययनाध्यापन कर्म के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः 'सम्प्रदाय=अध्ययनाध्यापन शिष्योपाध्यायता है प्रयोजन जिसका' अर्थ से 'अविघ्नत्व' को कहना उचित है। अस्तु।

हमारे विचार में साम्प्रदायिकम् में विनयादिभ्यष्ठक् (अष्टा० ५।४।३४) से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय होता है—सम्प्रदाय एव साम्प्रदायिकम्। अतः सूत्र का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—'(च) और [स्तुतिवचनों तथा विधिवचनों में] (साम्प्रदायिकम्) सम्प्रदाय= गुरुशिष्यभाव से अध्ययनाध्यापन कर्म (तुल्यम्) समान है। अर्थात् जैसे विधिवचनों का गुरु के द्वारा शिष्य को अध्यापन कराया जाता है, उसी प्रकार स्तुति-वचनों का अध्यापन भी होता है। अतः विधिवचनों के समान स्तुतिवचन भी अनर्थक=अप्रमाण नहीं हैं।

इस अर्थ पर यदि यह कहा जाये कि काशिकादि वृत्तियों के अनुसार विनयादिगण (अष्टा० ५।४।३४) में 'सम्प्रदाय' पद का पाठ नहीं है। तो इसका उत्तर यह है कि—काशिकावृत्ति में जो 'सम्प्रदान' शब्द का पाठ मिलता है, वह भ्रष्टपाठ है। वहां 'सम्प्रदाय' पाठ ही अभिप्रेत है। हेमचन्द्राचार्य ने हैम व्याकरण (७।२।१६९) में विनयादिगण में 'सम्प्रदाय' शब्द ही पढ़ा है (द्र०—हैम बृहद्वृत्ति तथा मध्यमवृत्ति की अवचूर्णि टीका ७।२।१६९)। इतना ही नहीं, जैसे साम्प्रदायिकम् में स्वार्थ में ठक् लोकव्यवहृत है, वैसे साम्प्रदानिकम् प्रयोग लोक-व्यवहार में नहीं देखा जाता ॥८॥

अप्राप्ता चानुपपत्तिः······तस्मादुपपद्येत ॥९॥

सूत्रार्थ—(च) और [जो सोऽरोदीत् आदि वचनों में अनुपपत्ति=अर्थ का उपपन्न न होना, शास्त्रदृष्टविरोध आदि दोष उपस्थित किया है, वह] (अनुपपत्तिः) उपपन्न न होना दोष उक्त वचनों में (अप्राप्ता) प्राप्त नहीं होता। (प्रयोगे) प्रयोग='रोना चाहिये', 'चोरी करनी चाहिये' रूप अनुष्ठान मानने में (हि) निश्चय से (विरोधः) विरोध (स्यात्) होवे, किन्तु (शब्दार्थः) अरोदीत् आदि का शब्दार्थ (तु) तो (अप्रयोगभूतः)

अपि च, या एषाऽनुपपत्तिरुक्ता-'शास्त्रदृष्टविरोधादित्येवमाद्या', सा सोऽरोदीदित्येवमादिषु न प्राप्नोति। कुतः ? प्रयोगे हि स्तेयादीनामुच्यमाने विरोधः स्यात्। शब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतः। तस्मादुपपद्यते—**स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाग्**[1] इति ॥९॥

यदुक्तम्—'विधेयस्य प्ररोचनार्था स्तुतिरिति। तदिह कथमवकल्प्येत, यत्रान्यद्विधेयम्, अन्यच्च स्तूयते ? यथा—**वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षति**[2] इति। वेतसाऽवके विधीयेते, आपश्च स्तूयन्ते—**आपो वै शान्ताः**[3] इति'। तदुच्यते—

प्रयोगरूप='रोना चाहिये', 'चोरी करनी चाहिये' आदि विधिरूप नहीं है। (तस्मात्) इसलिये [सोऽरोदीत्, स्तेनं मनः आदि वचन] (उपपद्येत) उपपन्न हो जायेगा। [विशेष भाष्य-विवरण में देखें।]

व्याख्या—और भी, जो यह 'शास्त्रदृष्टविरोधादिरूप' अनुपपत्ति कही है, वह सोऽरोदीत् इत्यादि में प्राप्त नहीं होती। किस कारण ? चोरी आदि के प्रयोग (=अनुष्ठान) के कहने पर विरोध होवे। शब्दार्थ तो प्रयोगरूप (=विधिरूप) नहीं है। इसलिये स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक् वचन उपपन्न हो जाते हैं ॥९॥

विवरण—हमें यहां भाष्य का पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ ज्ञात होता है। उपक्रम में **सोऽरोदीत्** वचन की ओर संकेत किया है, और उपसंहार में **स्तेनं मनः, अनृतवादिवी वाक्** वचनों की उपपत्ति दर्शाई है। इतना ही नहीं **स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्** का समाधान करने के लिये सूत्रकार ने '**रूपात् प्रायात्**' यह ११ वां सूत्र रचा है, और वहां भाष्यकार ने भी इन्हीं वचनों के सम्बन्ध में लिखा है।' हमारे अनुमान की पुष्टि तन्त्रवार्तिक के **येषां ह्रस्वः पाठः** (=जिनका भाष्यपाठ लघु है) शब्दों से भी होती है।

हमारे विचार में सूत्रकार ने इस सूत्र से पूर्वपक्षी द्वारा निर्दिष्ट दोषों का सामान्य उत्तर दिया है, और उसके पश्चात् क्रमशः उत्तर दिये गये हैं। इसलिये हमने सूत्रार्थ सामान्यपरक ही किया है ॥९॥

व्याख्या—और जो यह कहा है कि—'विधेय की प्ररोचना के लिये स्तुति की है। वह यहां कैसे कल्पित होगी, जहां विधेय अन्य है और स्तुति अन्य की जाती है ? जैसे—वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षति (=वेंत लता की शाखा से और अवका=शैवाल से अग्नि का विकर्षण करता है)। वेतस और अवका का विकर्षण में विधान है, और आपः (=जलों) की स्तुति की जाती है—आपो वै शान्ताः (=जल शान्त हैं)'। इस विषय में कहते हैं—

विवरण—विधिवचन और स्तुतिवचनों की जहां एकता हो, वहां विधि की स्तुति हो सकती है; पर जहां विधेय अन्य हो और स्तुत्य अन्य हो, वहां अक्रियार्थ वचन कैसे उपपन्न होगा? इस आशंका को पूर्वपक्षी उपस्थित करता है। **यदुक्तं—विधेयस्य··· 'वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षति'** यह विधि अग्निचयन कर्म में शतरुद्रिय होम के प्रकरण की है। वचन का अभिप्राय है—

---

1. मै० सं० ४।५।२॥ 2. तै० सं० ५।४।४॥ 3. तै० सं० ५।४।४॥

गुणवादस्तु ॥१०॥ (उ०)

गुणवादस्तु। गौण एष वादो भवति—यत् सम्बन्धिनि स्तोतव्ये सम्बन्ध्यन्तरं स्तूयते। अभिजनो ह्येष वेतसावकयोः, ततस्ते जाते। अभिजनसंस्तवेन चाभिजातः स्तुतो भवति। यथा- अश्मकाभिजनो देवदत्तोऽश्मकेषु स्तूयमानेषु स्तुतमात्मानं मन्यते। एवमत्रापि द्रष्टव्यम्।

अथ सोऽरोदीत् इति कस्य विधेः शेषः? तस्माद् बर्हिषि रजतं न देयम्[1] इत्यस्य।

बेंत के टुकड़े और शैवाल (=सिवार) को बांस की खपच्ची में बांधकर अग्निस्थान (=जिसमें अग्निस्थित है, उस) को कुरेदता है। यह कुरेदने की विधि श्रौतसूत्रों में देखनी चाहिये (यथा— का० श्रौत १८।२।१०—१२, तथा यजुः १७।२—१२ का महीधर भाष्य ॥९॥

गुणवादस्तु ॥१०॥

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् उक्त दोष नहीं है। (गुणवाद) गुण =गौण कथन है।

व्याख्या—[उक्त दोष नहीं है, यहां] गुणवाद है। यह कथन गौण है—जो सम्बन्धी के स्तोतव्य होने पर भिन्न-सम्बन्धी की स्तुति की जाती है। [वेतसशाखा और अवका जलों के सम्बन्धी हैं।] ये आपः वेतस और अवका के देश हैं, उससे ये दोनों उत्पन्न होते हैं। देश की स्तुति होने पर वहां उत्पन्न स्तुत होता है। जैसे—अश्मक देश में उत्पन्न देवदत्त अश्मक देश की स्तुति किये जाने पर अपने को स्तुत मानता है। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। [अर्थात् 'आपः' की स्तुति द्वारा वेतस और अवका की ही स्तुति की गई है, अर्थान्तर की स्तुति नहीं है।]

विवरण—इस प्रसंग में तन्त्रवार्तिक में लिखा है—'शेष सूत्रों (=उत्तरवर्ती सूत्रों) को भी इसी गौणाभिधान से सम्बद्ध किया जायेगा'। कुतुहलवृत्ति में तो स्पष्ट ही लिखा है कि उत्तर सूत्र इसी सूत्र के प्रपञ्च (=विस्ताररूप) हैं। प्रपञ्च होने पर भी उत्तर सूत्रों को व्यर्थ नहीं जानना चाहिये। प्रपञ्चसूत्रों के विषय में महाभाष्यकार ने लिखा है—उदाहरणभूयस्त्वात्। ते वै विषयः सुपरिगृहीता भवन्ति, येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च। केवलं लक्षणं केवलं वा प्रपञ्चो न तथा-कारकं भवति(महाभाष्य ६।३।१४)। इस का भाव यह है कि—जहां उदाहरणों की अधिकता होती है, वहां लक्षण (=संक्षिप्त वचन) और प्रपञ्च दोनों का शास्त्रकार आश्रयण करते हैं। क्योंकि वे विधियां अच्छे प्रकार से गृहीत होती हैं, जिनका लक्षण और प्रपञ्च दोनों रूप से कथन होता है। केवल लक्षण वा केवल प्रपञ्च वैसा साधक नहीं होता।' यही बात मीमांसा के इस प्रकरण में भी जाननी चाहिये॥

व्याख्या—यह सोऽरोदीत् वचन किस विधि का शेष है? तस्माद् बर्हिषि रजतं न

---

१. अस्मिन् प्रकरण उद्धृतानि वाक्यानि तैत्तिरीयसंहितायाम् (१।५।१) एवं पठचन्ते— सोऽरोदीद् यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्, यदश्रु अशीर्यत तद् रजतं हिरण्यमभवत्। तस्माद् रजतं हिरण्यमदक्षिण्यमश्रुजं हि यो बर्हिषि ददाति पुराऽस्य संवत्सराद् गहे रुदन्ति। तस्माद् बर्हिषि न देयम्॥

कुतः ? साकाङ्क्षत्वात् पदानाम् । **सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्**, इत्यत्र 'सः' इति प्रकृतापेक्षः । तत्प्रत्ययात् । **तस्य यदश्रु अशीर्यत** इति 'तस्य' इति पूर्वप्रकृतापेक्ष एव । उपपत्तिश्चोपरितनस्य—**यो बर्हिषि रजतं दद्यात् पुराऽस्य संवत्सराद् गृहे रोदनं भवति** इत्यस्य हेतुत्वेनायं प्रतिनिर्दिश्यते—**तस्माद् बर्हिषि रजतं न देयम्** इति । एवं सर्वाणि साकाङ्क्षाणि कथं विधेरुपकुर्वन्तीति ? गुणवादेन । रोदनप्रभवं रजतं बर्हिषि ददतो रोदनमापद्यते । तत् प्रतिषेधस्य गुणो यद् अरोदनमिति । कथं पुनररुदति रुद्रे[1] अरोदीदिति भवति ? कथं वाऽनश्रुप्रभवे रजतेऽश्रुप्रभवमिति वचनम् ? पुराऽस्य संवत्सरादसति रोदने, कथं रोदनं भवतीति ? तदुच्यते—गुणवादस्तु । गौणा एते शब्दाः । रुद्र इति रोदननिमित्तस्य शब्दस्य दर्शनाद् यदरोदीदित्युच्यते । वर्णसारूप्यान्निन्दन्ननश्रुप्रभवमप्यश्रुप्रभवमित्याह । निन्दन्नेव च धनत्यागे दुःखदर्शनात् पुराऽस्य संवत्सराद् गृहे रोदनं भवतीत्याह ।

देयम् (=इसलिये यज्ञ में चांदी नहीं देनी चाहिये) इस विधि का । किस कारण ? पदों के साकाङ्क्ष होने से । 'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इस वाक्य में 'सः' (=वह) पद प्रकृत की अपेक्षा रखता है । उस (=प्रकृत) का प्रत्यायक होने से । तस्य यदश्रु अशीर्यत (=उसके जो आंसू टपके) इस में 'तस्य' पद भी पूर्व की अपेक्षा रखता है । यह पूर्व प्रतिपादित [निन्दावचन] की उपपत्ति (=उपपादन) है, [वह वचन है–] यो बर्हिषि रजतं दद्यात्, पुराऽस्य संवत्सराद् गृहे रोदनं भवति (=जो यज्ञ में चांदी देवे, उसके घर में संवत्सर के पूर्व=संवत्सर के भीतर रोदन होता है) इस वचन के हेतुरूप से यह प्रतिनिर्देश किया है – तस्माद् बर्हिषि रजतं न देयम् । इस प्रकार सब साकाङ्क्ष पद विधि के किस प्रकार उपकारक होते हैं ? गुणवाद से । रोदन से उत्पन्न चांदी यज्ञ में देनेवाले के [घर में] रोदन होता है । उस [रजत दान] के प्रतिषेध का गुण है, जो रोदन नहीं होता । तो फिर कैसे 'न रोते हुये रुद्र में अरोदीत् [कथन] होता है ? और कैसे 'अश्रु से अनुत्पन्न रजत में अश्रु से उत्पन्न होना' वचन है ? तथा कैसे 'संवत्सर से पूर्व इस [रजत देनेवाले] के [घर में] रोदन न होने पर भी रोदन होता है' वचन है ? इस विषय में कहते हैं—यह गौण कथन होता है । ये सब शब्द गौण हैं । रोदन-निमित्तक रुद्र शब्द के दर्शन से यदरोदीत् कहा है । [श्वेत] वर्ण के सारूप्य से निन्दा करते हुये अश्रु से अनुत्पन्न को भी अश्रु से उत्पन्न कहा है । और निन्दा करते हुये ही 'धन के त्याग में दुःख का दर्शन होने से इस के घर में संवत्सर के पहले रोदन होता है' कहा है ।

विवरण—भाष्यकार ने यहां जो वाक्यखण्ड उद्धृत किये हैं, वे तै० सं० १।५।१ में स्वल्प पाठभेद से मिलते हैं । द्र०—भाष्यगतपूर्व पृष्ठ १४७, टिप्पणी १ ।

ब्राह्मणग्रन्थों में पठित इस प्रकार के अर्थवादों के सम्बन्ध में सामान्यरूप में यह जानना चाहिये कि ऐसे अर्थवाद पुराकल्प (=सर्ग की प्रारम्भिक स्थिति के वर्णन करनेहारे) कहाते हैं । न्यायदर्शन २।१।६४ में 'अर्थवाद' के चार विभाग किये हैं—स्तुतिर्निन्दापरकृतिः पुराकल्प इत्यर्थ-

---

१. पदमिदं बहुत्र न पठ्यते ।

तथा यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात्,स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत[1] इति आकाङ्क्षितत्वादस्य विधेः शेषोऽयम्——स आत्मनो वपामुदक्खिदत् इति । कथं गुणवादः ? इत्थं नाम नासन् पशवो यद् आत्मनो वपामुदक्खिददिति । एतच्च कर्मणः सामर्थ्यं, यद् अग्नौ

वादः । ये चार भेद मीमांसकों को भी अभिप्रेत हैं। इसी सूत्र के भाष्य में परकृति और पुराकल्प के लक्षण इस प्रकार किये हैं—'अन्यकर्तृक विधि जिसका प्रत्याख्यान किया गया हो, उस विधि को कहना 'परकृति' कहाती है, और ऐतिह्य से संप्रयुक्त विधि 'पुराकल्प' होती है' (उदाहरण वहीं भाष्य में देखें) । किन्हीं आचार्यों का मत है कि—'बहुतों से समाचरित विधि 'पुराकल्प', और एक से समाचरित विधि 'परकृति' होती है—**बहुकर्तृकं पुराकल्पः, एककर्तृकं परकृतिः** ।

हमारा विचार है कि जो कथन सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बद्ध है, वह 'पुराकल्प' (=कल्पस्य पुरा प्रारम्भे) होता है । इसे ही ब्राह्मणों में पुराण कहा है। जो कथन व्यक्तिविशेष को लक्षित करके कहा गया है, वह 'परकृति' कहाता है। यथा—**कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत** (तै० सं० ७।२।२) । **तद्ध ह स्माहापि बर्कुर्वार्ष्णो माषान्मे पचत** (शत० १।१।१।१०) । इन्हीं कारणों से ब्राह्मण ग्रन्थों के उक्त प्रकार के भाग पुराण और इतिहास कहे जाते हैं (द्र०—बृह० उप० २।४।१० शांकर-भाष्य) ।

प्रकृत में **स अरोदीद् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्** (तै० सं० १।५।१) में पठित पुराकल्प वाक्य का अभिप्राय इस प्रकार जानना चाहिये—'रुद्र नाम भूमिगर्भस्थ अग्नि का है। वहां वह तरल रूप में है। इसी भूगर्भस्थ अग्नि से भूकम्प उत्पन्न होते हैं । बलवत् भूकम्पों के समय गड़गड़ाहट का शब्द सुनाई पड़ता है, यही 'रुद्र'नामक अग्नि का रोदन है। भूकम्प के समय भूगर्भ में भारी उथल-पुथल होती है । उस समय इस भूगर्भस्थ रुद्राग्नि के कुछ अंश भूमि के ऊर्ध्वभाग में, जो कठोर होता है, पहुंच जाते हैं। ये रोते हुये 'रुद्र' से पृथक् हुये कण उसके अश्रु हैं। ये ही अश्रु तत्तद् भूमिभाग में पहुंचकर वहां के भू-अंशों के साथ मिलकर शीत होकर लोहे से लेकर सुवर्णपर्यन्त धातुओं की उत्पत्ति में कारण बनते है। इसीलिये तै० संहिता के इस प्रकरण में '**यदश्रु अशीर्यत**' का अर्थ है—'शातन'=टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरना। वैदिक परिभाषा में अयस् और हिरण्य शब्द धातुमात्र के वाचक हैं। इसीलिये अयस् के साथ कृष्ण श्वेत रक्त आदि शब्दों का प्रयोग होता है, और हिरण्य के साथ अयः रजत ताम्र आदि का। तै० संहिता के इसी प्रकरण में **रजतं हिरण्यमभवत्** का प्रयोग मिलता है ॥

व्याख्या—**तथा** यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात् स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत (=**जो प्रजा की कामनावाला अथवा पशु की कामनावाला होवे, वह इस प्रजापति देवतावाले शृङ्गरहित पशु को प्राप्त**[2] **करे**) इस विधि के आकाङ्क्षित होने से यह शेष है—स आत्मनो वपामुदक्खिदत् (=**उसने अपने शरीर की वपा को उखेड़ा**) । यह गुणवाद कैसे है ? पशुओं का अभाव इस प्रकार था कि उसने अपने शरीर की वपा को उखेड़ा । यह कर्म का सामर्थ्य है, जो

---

१. एतत्प्रकरणस्थानि वाक्यानि तैत्तिरीयसंहितायाम् २।१।१ स्थले द्रष्टव्यानि ।

२. गोविन्दस्वामी ने भाष्य-विवरण में शाबरभाष्य में आगे पठित. आलम्भ का अर्थ किया है—आलम्भ इत्यस्य व्याख्यानमुपयुज्य प्राप्येत्यर्थः। इसके अनुसार आलभेत का अर्थ 'प्राप्त करे' है।

प्रहृतमात्रायां वपायामजस्तूपर उदगाद् । इत्थं बह्वः पशवो भवन्तीति । कथं पुनरनुत्खिन्नायां वपायां प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिददित्याह? उच्यते—असद्वृत्तान्तान्वाख्यानम् स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात् । इहान्वाख्याने वर्त्तमाने द्वयं निष्पद्यते—यच्च वृत्तान्तज्ञानं यच्च कस्मिँश्चित् प्ररोचना द्वेषो वा । तत्र वृत्तान्तान्वाख्यानं न प्रवर्त्तकं न निवर्त्तकं च। इति प्रयोजनाभावादनर्थकमित्यविवक्षितम् । प्ररोचनया तु प्रवर्त्तते, द्वेषाद् निवर्त्तते, इति तयोर्विवक्षा । वृत्तान्तान्वाख्यानेऽपि विधीयमाने आदिमत्ता दोषो वेदस्य प्रसज्ज्येत । कथं पुनरिदं निरालम्बनमन्वाख्यायते ? इति । उच्यते—नित्यः कश्चिदर्थः 'प्रजापतिः' स्याद्—वायुराकाश आदित्यो वा। स आत्मनो वपामुदक्खिददिति—वृष्टिं वायुं रश्मिं वा । तामग्नौ प्रागृह्णात्—वैद्युते आर्चीसे लौकिके वा । ततोऽज इति—अन्नं बीजं विरुद[1] वा । तमालभ्य तमुपयुज्य[2] प्रजाः पशून् प्राप्नोति । इति गौणाः शब्दाः ।

अग्नि में वपा के छोड़ते ही तूपर उत्पन्न हो गया । इस प्रकार [तूपर पशु के द्वारा यज्ञ करने से] बहुत से पशु उत्पन्न होते हैं । [अपनी] वपा के उखेड़ने के बिना ही 'प्रजापति ने अपनी वपा को उखेड़ा' यह कैसे कहा ? इसका समाधान यह है—कि यह स्तुति के लिये असत् (=जो नहीं हुआ, उस) वृत्तान्त का कथन है । क्योंकि स्तुति से प्रशंसा जानी जाती है । यहां अन्वाख्यान के वर्तमान होने पर दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो वृत्तान्त का परिज्ञान,और दूसरी जो किसी कर्म में प्ररोचना अथवा द्वेष। उनमें से वृत्तान्त का कथन न प्रवर्तक है और न निवर्तक । इसलिये प्रयोजन का अभाव होने से अनर्थक अर्थात् अविवक्षित है । प्ररोचना से प्रवृत्ति होती है, और द्वेष से निवृत्ति, इसलिये उन दोनों की विवक्षा होती है।और भी—वृत्तान्त के कथन का विधान करने पर भी वेद की आदिमत्ता का दोष प्राप्त होवेगा।बिना आलम्बन (=सहारे) वाले इस वृत्तान्त का कथन कैसे किया जाता है ? इसका उत्तर है—कोई नित्य अर्थ 'प्रजापति' होगा—वायु आकाश अथवा आदित्य। उसने अपनी वपा को उखेड़ा [का भाव है] वृष्टि वायु अथवा किरणों को [प्रकट किया]। उसको अग्नि में छोड़ा [का भाव है]— वैद्युत (=विद्युत्-सम्बन्धी) आर्चीस (=शरीरान्तर्वर्ती जाठर) अथवा लौकिक अग्नि में । उससे अज [उत्पन्न हुआ का भाव है] - अन्न बीज अथवा वीरुद् (=लता) [उत्पन्न हुई] । उसका आलभन=उपयोग करके (=प्राप्त करके)[2] प्रजाओं और पशुओं को प्राप्त होता है । इस प्रकार ये शब्द गौण हैं ।

विवरण—इस प्रकरण में प्रजापति का अपने शरीर की वपा को उखेड़ना, उसे अग्नि में छोड़ना, उससे शृङ्गरहित पशु का उत्पन्न होना कहा है । यह प्रजापति अनादिसिद्ध (भट्ट कुमारिल के मत में प्रतिसर्ग होनेवाला प्रवाह से नित्य) पदार्थ क्या है ? इसके सम्बन्ध में शबरस्वामी ने कहा है - वायु आकाश अथवा सूर्य । इनकी क्रमशः वपा (=सार) है—वृष्टि वायु अथवा रश्मियां । इन को अग्नि में छोड़ने का भाव है—क्रमशः वृष्टि को विद्युत्सम्बन्धी अग्नि में,

---

१. अत्रोपसर्गस्य ह्रस्वत्वं चिन्त्यम्, 'वीरुध्' शब्ददर्शनात् ।

२. 'आलभ्य इत्यस्य व्याख्यानम् उपयुज्य प्राप्येत्यर्थः' इति भाष्य-विवरणे गोविन्दस्वामी ।

वायु को जाठराग्नि में, अथवा रश्मि को लौकिक पृथिवीस्थ अग्नि में छोड़ना=उनके साथ सम्बद्ध करना। इस कर्म से अन्न बीज और लताएं उत्पन्न हुईं। यहां 'बीज' शब्द का अर्थ वीर्य जानना चाहिये। क्योंकि जाठराग्नि से रस रक्त आदि धातुएं उत्पन्न होकर अन्तिम धातु वीर्य की उत्पत्ति होती है। अतः इसके उपयोग से प्रजा और पशु को प्राप्त करता है।

भट्ट कुमारिल ने भाष्यकार के इस व्याख्यान पर आपत्ति की है कि इस व्याख्यान द्वारा वृत्तान्त की सावलम्बनता तो सिद्ध हो जाती है, पर इसकी स्तुतिपरता नष्ट हो जाती है। इस आपत्ति को उपस्थित करके लिखा है—'मन्त्र अर्थवाद और इतिहास के प्रामाण्य से सर्ग और प्रलय होते हैं, यह इष्ट है। अतः सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति योगी ने, उस काल में पुण्यकर्मा जीवों के उद्भव को स्वीकार करने से पशुओं के अभाव में अपने योग माहात्म्य से अपने स्वरूप को पशुरूप बनाकर वपा को उखेड़ा। और उससे क्रियमाण कर्म की समाप्ति से पूर्व ही तूपर पशु उत्पन्न हो गया…। प्रतिसृष्टि ऋतुलिङ्ग (=एक ऋतु के पश्चात् अन्य ऋतु का होना) न्याय से प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति होने से अनित्यता की प्रसक्ति नहीं होती'। इसकी पार्थसारथि कृत न्यायसुधा व्याख्या भी द्रष्टव्य है।

भट्ट कुमारिल ने 'श्लोकवार्तिक' में ईश्वर और सृष्टि की उत्पत्ति-प्रलय का निषेध किया है। यहां मन्त्रादि के प्रामाण्य से सर्ग-प्रलय को अनादि कहा है। सर्ग-प्रलय को स्वीकार करने पर ईश्वर को भी स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार स्ववचन-विरोधदोष उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से न्यायसुधाकार ने लिखा है—'वस्तुस्थिति के अनुसार सर्ग-प्रलय का अभाव होने पर भी मन्त्रादि-व्याख्या के अवलम्बत्वरूप से उपायमात्र के रूप में सर्ग-प्रलय की यहां स्वीकारोक्ति है'[1]। इस प्रकार स्पष्ट है कि न्यायसुधाकार भट्ट कुमारिल के मत में सर्ग-प्रलय का अभाव ही मानता है।

शबरस्वामी ने 'ततोऽज इत्यन्नं बीजं विरुद् वा' वाक्य में 'अज' का अर्थ अन्न बीज और वीरुत् किया है। यह निर्देश महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार यज्ञीय द्रव्य यवादि अन्न और सोम आदि वीरुत् ही होने चाहियें। बीज शब्द यद्यपि वीर्य का वाचक है, फिर भी रेतो वै घृतम् (शत० ९।२।३।४४) वाक्यानुसार साधनरूप उपचार (न्याय २।२।६१) से वीर्यसाधन घृत दूध दही आमिक्षा भी यज्ञीय द्रव्य माने गये हैं। ऋग्वेद ५।८३।१० में स्पष्ट कहा है कि मानव का भोजन ओषधियां हैं—'अजीजन ओषधीर्भोजनाय'। इसी प्रकार अथर्ववेद ६।१४०।२ में दांतों को उद्देश्य करके कहा है—व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्। एष वां भागो निहितः । इसके अनुसार मानवों का भोजन चावल जौ माष तिल आदि अन्न ही हैं। यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवता नियम के अनुसार मानवों के यज्ञीय पदार्थ भी अन्न आदि ही हैं। इस दृष्टि से साक्षात् पशु वा उसके अवयव यज्ञीय नहीं हैं। इस की विशिष्ट विवेचना 'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा' में (इस भाग के

---

१. वस्तुवृत्त्या सृष्टिप्रलयाभावेऽपि मन्त्रादिव्याख्यालम्बनत्वेनोपायमात्रतया तदङ्गीकरणम् इति भावः। न्यायसुधा, पृष्ठ ६०।

आदि में) देखें। पार्थसारथि मिश्र ने शवरस्वामी के लेख का अभिप्राय 'वपा और पुरोडाश के अङ्ग होने से केवल वपा प्रचारमात्र से पशुयाग अपूर्ण रहता[1] है' लिखा है, यह चिन्त्य है। हमारा विचार है कि शावरभाष्य के अभिप्राय के अनुसार वपाप्रचार (=वपा से याग) के स्थान में पुरोडाश से याग करके पशुयाग समाप्त करना चाहिये, तभी 'अज' का अभिप्राय अन्न आदि दर्शाना युक्त होगा।

तैत्तिरीयसंहिता का जो पाठ आचार्य शबरस्वामी ने उद्धृत किया है, वह पुराकल्परूप अर्थवाद है। वैदिक सृष्टि-विज्ञान, जिसके संकेत वैदिक वाङ्मय से लेकर आधुनिक पुराणों तक बिखरे हुये हैं, पर विचार करके वैदिक सृष्टि-विद्यापारङ्गत विद्वान् इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि वैदिक वाङ्मय में सृष्टिविद्या-निदर्शक वाक्यों में प्रजापति शब्द उस महदण्ड का वाचक है, जो 'महान्' के विकार पञ्चतन्मात्राओं की (प्रशस्तपादभाष्यानुसार पञ्चमहाभूतों की) उत्पत्ति के पश्चात् महदण्ड की उत्पत्ति होती है। इसी महद् अण्ड में प्राणियों के अण्डों में प्राण्यवयवों की उत्पत्ति के समान एक-एक पूरे सौरमण्डल के ग्रहोपग्रहों का निर्माण होता है। यही महद् अण्ड ग्रहोपग्रहरूप प्रजाओं का पति होने से 'प्रजापति' कहा जाता है। इसको वैदिक ग्रन्थों में पुरुष, बृहदुक्ष, वृक्ष, यज्ञ, उत्तानपाद् आदि अनेक नामों से स्मरण किया जाता है (द्र०—वेदविद्या-निदर्शन, पृष्ठ ८२-८४)। ऋग्वेद मं० १०, सूक्त ८१, ८२ में इसे विश्वकर्मा कहा है। ऋ० १०। ८२।६ में इसको अज कहा है। महद् अण्ड जब परिपक्व हो जाता है, तब यह हिरण्यगर्भ कहाता है—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् (ऋ० १०।१२१।१)। इसी प्रजापति हिरण्यगर्भ के विदीर्ण होने पर सौरमण्डलस्थ ग्रहोपग्रह प्रकट होते हैं। जब तक इस पृथिवी पर ओषधि-वनस्पतियां नहीं हुईं थी, तब तक यह अलोमिका अथवा वशा अवि कहाती रही है। जब इसका देवों=दिव्य शक्तियों के द्वारा अनेक बार आलभन होता है, तब यह ओषधिवनस्पतिरूप लोमों से युक्त होती है (द्र०—वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, पृष्ठ ३७५-३७७)।

इस वैदिक सृष्टिविज्ञान के प्रकाश में शबरस्वामी उद्धृत तैत्तिरीयसंहिता के वचन का अर्थ होगा—'प्रजापति (=महद् अण्ड) निश्चय से अकेला था। उसने कामना की कि प्रजाओं और पशुओं को उत्पन्न करूं। उसने अपने शरीर के वपा=सारभूत अंश को अपने अन्तःविद्यमान अग्नि में गृहीत किया (=सम्बद्ध किया)। उससे तूपर (=अवयवविभागरहित) अज (=गतिशील) घना अंग उत्पन्न हुआ। उसको उसकी देवता के लिये प्राप्त कराया[2] (=अण्डस्थ वायुतत्त्व से संयुक्त हुआ। वायु के संयोग से) प्रजा और पशुओं को उत्पन्न किया (=वायुसंयोग से वह घना अंश विभक्त हुआ। उनसे ग्रहोपग्रहसहित और सौरमण्डल का निर्माण हुआ)। इसलिये भूति कामनावाला वायु देवतावाले तूपर अज का स्पर्श करे। वायु शीघ्रकारी देवता है। इससे वायु को उसके भाग द्वारा प्राप्त होता है। वही इसको भूति प्रदान कराता है।'

यहां पर सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया के एक अंश का निदर्शन कराया है। यही प्रक्रिया

१. 'वपापुरोडाशाङ्गप्रचारात्मकत्वाद् पशुयागस्य वपाप्रचारमात्रेणासमाप्तिः'। न्यायसुधा, पृष्ठ ६०। २. आलभते=अन्तर्णीतण्यर्थः। 'आलभ' प्राप्त्यर्थक। द्र०—पृष्ठ १४६, टि० २।

आदित्यः प्रायणीयश्चरुरादित्य उदयनीयश्चरुः[1] इत्यस्य विधेः शेषो **देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्**[1] इत्याकाङ्क्षितत्वात् । सर्वव्यामोहानामादित्यश्चरुर्नाशयिता, अपि दिङ्मोहस्येति स्तुतिः । कथमसति दिङ्मोहे दिङ्मोहशब्द इति ? उच्यते—अप्राकृतस्य बहोः कर्मसमूहस्योपस्थितत्वाद् गौणो मोहशब्दोऽवधारणावकाशदानादिभिर्ज्ञापयतीति गौणता ॥१०॥

प्रजाकामनावाले दम्पती (=नर-नारी) के अण्डज और जरायुज गर्भों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सर्जन की है। द्र०—चरक शारीरस्थान ४।१०,११; सुश्रुत शारीरस्थान ४।१४; निरुक्त १४।६॥

चरक शारीरस्थान अ० ५ में 'पुरुषोऽयं लोकसम्मितः' प्रकरण में पुरुष और लोक की समानता दिखाई है। वहीं ५वें खण्ड में लिखा है—**यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा पुरुषस्य गर्भाधानम्**= अर्थात् जैसे लोक के सर्ग का आदि अंश (महदण्ड और उसमें ग्रहोपग्रहों का निर्माण) है, वैसे ही पुरुष का गर्भाधान है। प्रजापति के अग्नि में वपा होम से जो पृथिवीलोक उत्पन्न हुआ, उसका पुष्करपर्ण (=पद्मपत्र) के समान जल पर लेलायमान पार्थिव भाग ही वायुदेवताक अज है। क्योंकि वह वायु के योग से गतियुक्त होता है (**सा हेयं पृथिव्यलेलायत यथा पुष्करपर्णम्**। शत० २।१।१।८)। वह तूपर है, क्योंकि उस पर अभी शृङ्गस्थानीय ओषधिवनस्पतियां उत्पन्न नहीं हुई हैं। पृथिवी की इसी अवस्था को मैत्रायणी सं० २।५।२ तथा तै०सं० २।१।२ में वशा अवि कहा है। इस तूपर अज का देवों (=सूर्य वायु अग्नि) आदि ने आलभन=स्पर्श किया। उससे यह पृथिवी रत्नगर्भा तथा ओषधि-वनस्पतियों से युक्त होकर भूति=ऐश्वर्य को प्राप्त हुई। जब मूल सृष्टि-प्रक्रिया में ही तूपर अज अथवा वशा अवि का आलभन=हिंसा नहीं होती, तो उसके प्रतिनिधिरूप पशुयज्ञों में क्योंकर पशुओं की हिंसा होगी ? अतः पशुओं का प्रतिनिधिरूप में ग्रहण होने पर भी पर्यग्निकरण के पश्चात् उन का उत्सर्जन ही पुराकाल में होता था। और आरब्ध कर्म की परिसमाप्ति पशु-प्रतिनिधि पुरोडाश से की जाती थी। विशेष श्रौतयज्ञ-मीमांसा में देखें।

व्याख्या—आदित्यः प्रायणीयश्चरुः, आदित्य उदयनीयश्चरुः (=अदिति देवतावाला चरु प्रायणीयेष्टि में होता है, अदिति देवतावाला चरु उदयनीय इष्टि में होता है), इस विधि का शेष है—देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन् (द्र०—पूर्व पृष्ठ १२८), आकाङ्क्षित होने से। सब प्रकार के व्यामोह (=अज्ञान) का नाश करनेहारा आदित्य चरु है, और दिङ्मोह का भी, इस प्रकार विधि की स्तुति जानी जाती है। [ऋत्विजों को देवयजन में बैठने पर] दिङ्मोह न होते पर भी दिङ्मोह कैसे कहा ? इसका उत्तर है—प्रकृतियाग दर्शपौर्णमास में अप्रयुक्त बहुत से नये कर्मसमूह के उपस्थित हो जाने से गौण मोहशब्द कर्म के पौर्वापर्य के निश्चय के लिये अवकाश देने आदि से इसकी गौणता ज्ञापित होती है ॥१०॥

---

१. अनुपलब्धमूलं वचनम् । भाष्यकारेण 'देवा वै देवयजनम्' इत्यादिवचनम् आदित्यः प्रायणीयश्चरुः इत्यादिविधेः शेष इत्युक्तम् । देवा वै देवयजनम् इत्यादिवाक्यं तैत्तिरीयसंहितायाम्

विवरण—भाष्यकार ने **देवा वै देवयजनम्** इत्यादि वाक्य को **आदित्यः प्रायणीयश्चरुः, आदित्य उदयनीयश्चरुः** विधियों का शेष कहा है। हमें उपलब्ध-वाङ्मय में इनका सम्बद्ध पाठ उपलब्ध नहीं हुआ। '**देवा वै देवयजनम्**' वाक्य तै० सं० ६।५।१ में मिलता है, परन्तु वहां विधि-वाक्य उपलब्ध नहीं होते। वहां केवल **आदित्यः प्रायणीयो यज्ञानाम्, आदित्य उदयनीयः** वचन मिलता है। सम्भव है भाष्यकार ने उस ग्रन्थ से उद्धरण लिया हो, जो सम्प्रति अनुपलब्ध है। इसी प्रकार के वचन ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण में मिलते हैं। यथा **आदित्यश्चरुः प्रायणीयो भवत्यादित्य उदनीयः** (ऐ० ब्रा० १।७); **आदित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति** (शत० ३।२।१।३)। इन वचनों के प्रकरण में **देवा वै देवयजनम्** वचन नहीं मिलता, फिर भी दिशाओं के न जानने तथा मोह का निर्देश मिलता है।

प्रायणीया इष्टि ज्योतिष्टोम (=सोमयाग) में दीक्षावाले दिन यजमान को दीक्षा देने के अनन्तर होती है। प्रायणीय का अर्थ है—प्र+अयन=आगे गमन=आरम्भ। आरम्भ में होने से यह इष्टि 'प्रायणीय' कहाती है। और उदयनीया इष्टि सोमयाग के अन्त में होती है। इसका अर्थ है—उद्+अयन=उठना=समाप्त करना। **आदित्यः**=अदिति देवता है जिस हवि का। **साऽस्य देवता** (अ० ४।२।२३) इस सूत्र से यथाविहित प्रत्यय होता है। अदिति से **दित्यदित्यादित्य-पत्युत्तरपदाण्ण्यः** (अ० ४।१।८५) से 'ण्य' प्रत्यय का विधान किया है। **चरुः** यह हविविशेष का नाम है। याज्ञिक लोग 'चरु' का अर्थ **अन्तरूष्मपक्वश्चरुः**=पात्र में नपे-तुले पानी में भीतर की उष्णता से पका हुआ चावल आदि। अर्थात् जिसमें से माण्ड न निकाला हो। आदित्यदेवताक प्रायणीया इष्टि के प्रसङ्ग में जो पुराकल्प वचन ब्राह्मणग्रन्थों में मिलते हैं, उनके अनुसार देवयजन भूमि की उस अवस्था का वर्णन करते हैं, जब भूमि के साथ सूर्य का सर्जन भी हो गया था। परन्तु कालान्तर में सूर्य के ऊपरी भाग पर मल का आवरण (जैसे तप्त लोह आदि धातुओं पर आता है) आ गया। उससे लोक-लोकान्तर अन्धकार से आच्छन्न हो गये। इस अन्धकार से दिशाओं या भौतिक देवों का ज्ञान भी नष्ट हो गया। तब देवों=भौतिक शक्तियों ने सूर्य के मल का आवरण कई चरणों में दूर किया। इस पुराकल्प के लिये तै० सं० २।१।२; मै० सं० २।५।२; का० सं० १२।१३ देखना चाहिये। मल के आवरण के हटने पर ज्योति प्रकट हुई। यही आधिदैविक ज्योतिष्टोम है। इसीलिये ताण्डच ब्राह्मण १६।१।२ में ज्योतिष्टोम को यज्ञों में प्रथम यज्ञ कहा है—**एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः**।

अवधारणावकाशदानादिभिः—का तात्पर्य यह है कि जब दीक्षा-दिन में अनेक कर्म उपस्थित हो जाते हैं, तब प्रायणीय इष्टि से ऋत्विजों को कुछ राहत मिलती है। क्योंकि इस इष्टि की प्रकृति दर्शपौर्णमास है। उसके कर्मों में ऋत्विक् अभ्यस्त होते हैं।

(६।५।१) श्रूयते। परन्तु तत्र विधिवाक्यं नोपलभ्यते। यत्र चैतादृक् **आदित्यश्चरुः प्रायणीयो भवत्यादित्य उदयनीयः** (ऐ० ब्रा० १।७) विधिवचनं श्रूयते, तत्रार्थवादवाक्यं नोपलभ्यते।

रूपात् प्रायात् ॥११॥ (उ०)

हिरण्यं हस्ते भवति, अथ गृह्णाति[1] इति, साकाङ्क्षत्वादस्य विधेः शेषः—स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्[2] इति। निन्दावचनं हिरण्यस्तुत्यर्थेन। यथा—किम् ऋषिणा, देवदत्त एव भोजयितव्यः। कथं पुनरस्तेनं मनो निन्दितुमपि स्तेनशब्देनोच्यते? वाचं चाऽननृतवादिनीमपि अनृतवादिनीति ब्रूयात्? गुणवादस्तु रूपात्। यथा स्तेनाः प्रच्छन्नरूपाः एवं च मनः, इति गौणः शब्दः। प्रायाच्च अनृतवादिनी वागिति ॥११॥

इस दिन के अन्य कर्म सब नये हैं। अभ्यस्त कर्म को करने में सरलता होने से ऋत्विजों को राहत मिलना स्वाभाविक है ॥१०॥

रूपात् प्रायात् ॥११॥

सूत्रार्थ—(रूपात्) [स्तेन के रूप के साथ] मन के रूप की समानता, और (प्रायात्) वाक् के प्रायः अनृतवादिनी होने से [मन और वाक् सम्बन्धी निन्दा गुणवाद=गौण कथन है]।

विशेष—भाष्यकार ने 'गुणवादस्तु रूपात्' कहा है। अतः हमने सूत्रार्थ यहां और आगे 'गुणवादः' की अनुवृत्ति मानकर अर्थ किया है।

व्याख्या—हिरण्यं हस्ते भवति, अथ गृह्णाति (=सुवर्ण हाथ में होता है, और वह वसतीवरी जलों को ग्रहण करता है), इस विधि के साकाङ्क्ष होने से इस विधि का शेष है—स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्। [मन और वाक् का] निन्दावचन हिरण्य की स्तुति के प्रयोजन से है। जैसे—ऋषि से क्या, देवदत्त को ही भोजन करा दो। (आक्षेप) चोर न होते हुये मन की निन्दा के लिये भी उसे स्तेन शब्द से कैसे कहा? और झूठ न बोलनेवाली वाक् को भी अनृतवादिनी कैसे कहा गया? (समाधान) यह तो गुणवाद है रूप से। जैसे—चोर प्रच्छन्नरूप (=छिपे हुये रूपवाले) होते हैं, वैसे ही मन भी है, [इस कारण 'स्तेन' यह] गौण शब्द है। और प्रायः करके वाक् अनृतवादिनी होती है। [इस कारण 'अनृतवादिनी' यह गौण शब्द है।] ॥११॥

विवरण—इस सूत्र के भाष्य में उदाहृत वचन सोमयाग के हैं। सोमयाग में कूटी, हुई सोमलता के रस को बढ़ाने के लिये जो जल ग्रहण किया जाता है, वह 'वसतीवरी' कहाता है। यह जल सूर्यास्त से पूर्व नदीप्रवाह से ग्रहण किया जाता है। और यदि कथंचित् सूर्यास्त हो जावे, तो घट से ग्रहण किया जाता है। नदी से जलग्रहण के समय प्रवाह की ओर मुख करके प्रवाह के ऊपर हाथ में सुवर्ण धारण करते हुये ग्रहण किया जाता है। घट से जल ग्रहण के समय हाथ में अग्नि को धारण करते हैं। (द्रष्टव्य—मैत्रायणीसंहिता ३।५।१)। इसी प्रकरण में वसतीवरी जलों के ग्रहण समय विधि है—हिरण्यं हस्ते भवति, अथ गृह्णाति (मै० सं० २।५।१) इसी प्रसङ्ग में स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक् (मै० सं० २।५।२) वचन है।

---

१. मै० सं० ४।५।१॥ २. मै० सं० ४।५।२॥

दूरभूयस्त्वात् ॥१२॥ (उ०)

दृष्टविरोधे उदाहरणम्—तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः, तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः[1] इति। अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः[2], इति मिश्रलिङ्गमन्त्रयोर्विधानस्याकाङ्क्षितत्वाच्छेषः। उभयोर्देवतयोः सन्निधने होम इति स्तुतेरुपपत्तिः। दूरभूयस्त्वाद् धूमस्याग्नेश्चाऽदर्शने गौणः शब्दः॥१२॥

निन्दावचनम्—निन्दावचन भी निन्दा करने के लिये प्रयुक्त नहीं होते, अपितु विधेय की स्तुति के लिये प्रयुक्त होते हैं। इसका प्रतिपादन सूत्रकार प्रशंसा (१ ४ २३) सूत्र से करेंगे। इसी इसी पर आधृत मीमांसकों का 'नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम्' वचन'नहि निन्दा-न्याय' कहाता है। इस न्याय के अनुसार स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक् का तात्पर्य सर्वविधमल-रहित सुवर्ण की स्तुति में है। शुद्ध सुवर्ण को आग पर तपाने से उस पर कोई मल नहीं आता है। अन्य सभी धातुओं को तपाने पर न्यूनाधिक मल ऊपर आ जाता है। **किमृषिणा**—इस वाक्य का भाव है—ऋषि तुल्य श्रेष्ठ व्यक्ति को भोजन कराने की दृष्टि से किसी गृहपति ने अपने किसी व्यक्ति को ऐसे व्यक्ति को लाने का आदेश दिया। उक्त व्यक्ति को ढूंढने में विलम्ब होने पर कोई कहता है कि ऋषि से क्या प्रयोजन ? किसी व्यक्ति को भोजन ही कराना है, इस देवदत्त को ही खिला दो ॥११॥

दूरभूयस्त्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थ—(दूरभूयस्त्वात्) अधिक दूर होने से दिन में धूम का ही, और रात्रि में अर्चि का ही दर्शन गुणवाद है।

व्याख्या—दृष्टविरोध में उदाहरण है—तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः, तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः। ये वचन अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति (='अग्निर्ज्योतिः' मन्त्र से सायंकाल होम करता है), सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः (='सूर्यो ज्योतिः' मन्त्र से प्रातःकाल होम करता है), इन मिश्रलिङ्ग-मन्त्रों के विधान की आकाङ्क्षा होने से शेष हैं। दोनों देवताओं के सन्निधान में होम करना चाहिये, इस प्रकार स्तुति की उपपत्ति जाननी चाहिये। अधिक दूर होने से धूम और अग्नि के अदर्शन में [प्रयुक्त] गौण शब्द है ॥१२॥

---

१. एतद्विषये मी० १।२।२ सूत्रस्था प्रथमा टिप्पणी द्रष्टव्या (पृष्ठ १३२)।

२. तै० ब्रा० २।१।९॥ अत्र मन्त्रोदाहरणविषयको भाष्यपाठो भ्रष्ट इत्यत्रैव 'मिश्र-लिङ्गमन्त्रयोः' इतिवचनाद् विज्ञायते। भाष्यनिर्दिष्टौ मन्त्रौ न मिश्रलिङ्गौ, द्वयोरपि अग्नि-सूर्ययोः पार्थक्येन पाठात्। न च 'तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे' इत्यर्थवादोऽनयोर्मन्त्रयोः सन्निधाने पठ्यते। अत्र 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेत्येव सायं होतव्यम्। सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति प्रातः' (तै० ब्रा० २।१।२) इत्येवं पाठ उदाहार्यः। भट्टकुमारिलोऽपि 'उदाहरणं भ्रान्ति-लिखितम्' इत्याह तन्त्रवार्तिकेऽत्र।

अपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनम् ।।१३।। (उ०)

दृष्टविरोधे एव उदाहरणम्—न चैतद्विद्म[1] इति । तत् प्रवरे प्रव्रियमाणे देवाः पितर इति ब्रूयाद्[2] इत्याकाङ्क्षितत्वादस्य विधेः शेषः । अब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणः प्रवरानुमन्त्रणेन स्यादिति स्तुतिः । दुर्ज्ञानत्वादज्ञानवचनं गौणम् । स्त्र्यपराधेन कर्तुश्च पुत्रदर्शनेन, अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेनम्[3] इत्यादिना दुर्ज्ञानम् ।।१३।।

विवरण—यहां भाष्य में पाठ भ्रष्ट हो गया है । अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा मन्त्रों के स्थान में अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा मन्त्रों का पाठ होना चाहिये । भाष्यकार ने स्वयं मिश्रलिङ्गमन्त्रयोर्विधानस्य कहा है । अतः जिन मन्त्रों में अग्नि और सूर्य तथा सूर्य और अग्नि दोनों का निर्देश हो, वे ही मन्त्र यहां इष्ट हैं । इतना ही नहीं, तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे आदि वाक्य प्रातः सूर्य में अग्नि के प्रवेश और सायं अग्नि में सूर्य के प्रवेश का विधान करके लिखे गये हैं—उद्यन्तं वावाऽऽदित्यमग्निरनुसमारोहति तथा अग्निं वावाऽऽदित्यः सायं प्रविशति (=उदित होते हुये आदित्य में निश्चय से अग्नि प्रविष्ट होती है, और सायं अग्नि में निश्चय से आदित्य प्रविष्ट होता है) के प्रसङ्ग में दिन में अग्नि के धूम और रात्रि में अग्नि की ज्वाला के दर्शन में हेतुरूप से पठित हैं । तथा इसी प्रसङ्ग में मिश्रलिङ्गदेवतावाले अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा और सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा मन्त्र पढ़े हैं (द्र०—तैत्तिरीय ब्राह्मण २।१।२) । भट्ट कुमारिल ने भी सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा, अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा इन पृथक्-पृथक् देवतावाले मन्त्रों का पाठ भ्रान्तिलिखित कहकर मिश्रलिङ्ग मन्त्रों को उदाहर्तव्य माना है (द्र०—तन्त्रवार्तिक १।२।१२) ।।१२।।

अपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनम् ।।१३।।

सूत्रार्थ—[स्त्री के] (अपराधात्) अपराध से (कर्तुः) उत्पादयिता=जार के (पुत्रदर्शनम्) पुत्र का दर्शन होता है । इसलिये 'न चैतद् विद्मो यदि ब्राह्मणाः' इत्यादि कथन गुणवाद है ।

व्याख्या—दृष्टविरोध में ही उदाहरण है—न चैतद् विद्मः । यह [यज्ञ में] प्रवर के वरण में देवाः पितर इति ब्रूयात् इस विधि का साकाङ्क्ष होने से शेष है । प्रवर के अनुमन्त्रण से अब्राह्मण भी ब्राह्मण हो जाता है, इस प्रकार स्तुति है । [पुत्रलाभ का] ज्ञान प्रति कठिन होने से [नहीं जानते—ब्राह्मण है, अथवा अब्राह्मण] यह अज्ञानवचन गौण है । स्त्री के अपराध से कर्ता (=उत्पादयिता) के पुत्र का दर्शन होने से, 'अप्रमत्त होकर इस कुलतन्तु (=सन्तान की) रक्षा करो' [वचन से किसका पुत्र है] यह कठिनाई से ज्ञेय है ।।१३।।

---

१. द्र०—मै० सं० १।४।११।। अत्र १।२।२ सूत्रस्था टिप्पणी १ द्रष्टव्या (पृष्ठ १३३) ।
२. द्र०—मै०सं० १।४।११।। अत्र 'तत् प्रवरे वर्यमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' इत्येवमुपलभ्यते।
३. वसिष्ठ धर्मसूत्र १७।६।। बौधायनधर्मसूत्रे (२।३।३६) आपस्तम्बधर्मसूत्रे (२।१३।६) चापि पाठभेदेनोपलभ्यते ।

विवरण—प्रवरे प्रव्रियमाणे—यज्ञकाल में यजमान अपने प्रवर का वरण (=स्वीकार करना) करता है कि मैं इस या इन ऋषियों की परम्परा से सन्तान हूँ। मैत्रायणी-संहिता १।४।११ में 'न वैतद् विद्म' आदि वचन के आगे ही प्रवरवरण का विधान है—तत्प्रवरे प्रवर्यमाणे ब्रूयात् देवाः पितरः पितरो देवा योऽस्मै (?, योऽस्मि) सन् यजे योऽस्मि सन् करोमि (=प्रवर को वरण करता हुआ बोले—'देव पितर हैं, पितर देव हैं, मैं जो हूं, वैसा होता हुआ यज्ञ कर रहा हूं मैं जो हूं वैसा होता हुआ कर्म कर रहा हूं'। प्रवर गोत्र से सम्बद्ध उत्कृष्टतम व्यक्ति कहाता है। किस गोत्र के कितने प्रवर हैं, यह प्रवराध्याय में लिखा है। जैसे मेरा गोत्र भारद्वाज है। भारद्वाज गोत्र के तीन प्रवर हैं—भारद्वाज बार्हस्पति और आङ्गिरस। स्त्री का कदाचित् दूषित सम्बन्ध होने से अन्य के बीज से भी पुत्र का जन्म हो सकता है। इस आशंका का निर्देश न वैतद् विद्मो यदि ब्राह्मणा स्मोऽब्राह्मणा वा से किया गया है। प्रवर के वरण से अज्ञात दोष की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार न वैतद् विद्म वचन प्रवर वरण विधि का स्तावक है।

स्त्र्यपराधात् निर्देश से सूत्रकार का स्त्रियों पर दोषारोपण का अभिप्राय नहीं है। स्त्र्यपराध अनेक बार अनिच्छन् भी हो जाता है। सूत्रकार वा धर्मसूत्रकारों का स्त्री की रक्षा का तात्पर्य कुलपरम्परा की शुचिता से ही है। वस्तुस्थिति तो यह है कि पुरुष के दुराचारी होने पर ही स्त्रियां दूषित होती हैं। इस दृष्टि से ही महाराज अश्वपति ने कहा था—**न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः** (छां० उ० ५।११।५)=अर्थात् मेरे राज्य में न चोर है, न कञ्जूस है, न शराबी है, न अनाहिताग्नि (=यज्ञ न करनेहारा) है, न अविद्वान् है, न दुराचारी है, तब दुराचारिणी कैसे सम्भव है? इसके अन्तिम पद ध्यान देने योग्य है। स्त्रियों की रक्षा करनी है, तो इसका एकमात्र उपाय है, मनुष्यसमाज में कोई पुरुष दुराचारी न हो।

प्रकृत सूत्र और सूत्रकार के काल में प्रोक्त धर्मसूत्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तात्कालिक पुरुषसमाज में स्त्रियों के चारित्र्य के प्रति कुछ हीनभावना विद्यमान थी। इसका प्रभाव याज्ञिक प्रक्रिया में भी उपलक्षित होता है। शतपथ १।३।१।२१ में "आज्य को गार्हपत्य अथवा गार्हपत्य और आहवनीय अथवा केवल आहवनीय पर तपाकर यजमानपत्नी को अवेक्षण कराकर किस स्थान पर उस आज्य को रखा जाय, इस सम्बन्ध में किन्हीं याज्ञिक आचार्यों का मत है कि यतः इस आज्य से देवपत्नियों के लिये भी यजन होना है, वेदि में देवलोग पूर्वतः विद्यमान हैं, अतः इसे वेदि से बाहर ही रखना चाहिये। वेदि में रखने से देवसभा में देवपत्नियां भी उपस्थित होंगी, उस से पर-पुरुष संसर्ग होगा। पत्नी पर-पुरुष की हो जायेगी।" पतञ्जलि मुनि ने भी महाभाष्य ४।१।१५ में लिखा है कि स्त्री का सभा में जाना उचित नहीं है—**कथं च स्त्री नाम सभायां साध्वी स्यात्।**

आकालिकेप्सा । १४ । (उ०)

स्वतन्त्रप्रकृति ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य को स्त्रियों की यह अवमानना अनुचित प्रतीत होती थी। अतः उसने याज्ञिकों के पूर्वोक्त मत पर ऊर्ध्वबाहू होकर घोषणा की—

'तदु होवाच याज्ञवल्क्यो यथाविष्टं पत्न्या अस्तु, कस्तदाद्रियेत यत् परः पुंसा वा पत्नी स्यात्'। शतपथ १।२।१।२१॥

अर्थात्—याज्ञवल्क्य ने कहा—जैसा कहा है वैसा ही पत्नीसम्बन्धी कार्य होवे (=आज्य को वेदी में ही रखा जाये)। कौन इस कथन का आदर करेगा कि सभा में स्त्री के बैठनेमात्र से परपुरुष की हो जायेगी।

स्त्रियों की रक्षा के सम्बन्ध में तात्कालिक समाज का मत था कि स्त्रियों पर कड़ी दृष्टि रखी जाये। अश्वपति का कहना है कि पुरुष के व्यभिचारी होने से स्त्रियां दूषित होती हैं। अतः पुरुषों को सदाचार का विशेष पालन करना चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्य का कहना है कि पुरुषसमाज का पत्नियों पर परसंसर्ग मात्र से शंका करना अनुचित है। वे अपने आचरण में दृढ़ होती हैं। अप्रमत्ता रक्षत—इस वचन का पूरा पाठ इस प्रकार है—

अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः।
जनयितुः पुत्रो भवति साम्पराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतम् ॥

यह वचन आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।१३।६; बौधायन धर्मसूत्र २।३।३६; वसिष्ठ धर्मसूत्र १७।६ में उद्धृत है। सर्वत्र स्वल्प पाठभेद है। कुमारिल भट्ट ने इसी सूत्र में 'वेद वचन' कहा है।

इसका भाव यह है कि—इस कुलतन्तु (=सन्तान) की प्रमादरहित होकर रक्षा करो। अन्य के क्षेत्र (=स्त्री) में पर-बीजों को मत बोवो। परबीजोत्पन्न सम्पराय (=विपत्ति अथवा उत्तरकाल=वृद्धावस्था[1]) में जनयिता (=जिसका बीज होता है, उस) का पुत्र होता है, अर्थात् समय पड़ने पर सहायक नहीं होता। [अन्य के बीज से सन्तान को] प्राप्त होनेवाला कुलतन्तु को निष्फल कर देता है। पर बीज से उत्पन्न पुत्र की रक्षा भरण पोषण आदि में किया गया प्रयत्न निष्फल होता है ॥१३॥

आकालिकेप्सा ॥१४॥

सूत्रार्थ—[को हि तद् वेद इत्यादि कथन से] (आकालिकेप्सा) समानकाल=वर्तमानकाल के फल की इच्छा जानी जाती है। अतः को हि तद् वेद आदिवचन से गम्यमान अर्थ गौण है।

१. सम्परायः=विपद् उत्तरकालश्च (द्र०—शब्दकल्पद्रुम 'साम्परायिकम्' शब्द। सम्पराय एव साम्परायः प्रज्ञादिभ्यश्च (अ० ५।४। ३८) इति स्वार्थेऽण्। आप०बौधा० धर्मसूत्र के टीकाकार 'साम्पराये' का अर्थ 'परलोके' करते हैं।

शास्त्रदृष्टविरोधे उदाहरणम्—को हि तद्वेद[1] इति । दिक्ष्वतीकाशान् करोति[1] इति, साकाङ्क्षत्वादस्य विधे शेषः । प्रत्यक्षफलत्वेन स्तुतिः । अनवक्लृप्तिवचनं विकृष्टकालफलत्वाद् गौणम् ॥१४॥

विद्याप्रशंसा ॥१५॥ (उ०)

'तथाफलाभावात्' इत्यत्रोदाहृतम्—शोभतेऽस्य मुखम्[2] इति । गर्गत्रिरात्रविधेरा-

---

व्याख्या—शास्त्र में दृष्ट विषय के विरोध में उदाहरण है—को हि तद्वेद इत्यादि । यह दिक्ष्वतीकाशान् करोति (=यज्ञशाला में दिशाओं में अतीकाश=धूमनिर्गमनार्थं मार्ग बनाता है), इस विधि का शेष है । ['को हि तद् वेद' वचन अतीकाश रखने के] प्रत्यक्ष फलरूप से [अतीकाश रखने की विधि का] स्तुतिपरक है । [पारलौकिक फल के] संशय का कथन [उसके] अतिदूरकालिक फलरूप होने से गौण है ॥१४॥

विवरण—ज्योतिष्टोम में प्राग्वंशशाला (=जिस का आधारभूत मध्यवंश पूर्व पश्चिम हो) में यज्ञकर्म के निरन्तर होने से धूम के निकलने के लिये जो मार्ग बनाया जाता है, वह अतीकाश कहाता है । इस कर्म के लिये विधि है—दिक्ष्वतीकाशान् करोति । को हि तद् वेद (=कौन जानता है कि परलोक में यज्ञ का फल होगा या नहीं ?) इस वचन का अभिप्राय है, परलोक के फल की इच्छा छोड़कर धूम के कारण जो कष्ट होगा,उसके निवारण के लिये तात्कालिक उपाय करना चाहिये । इस प्रकार यह दिक्ष्वतीकाशान् करोति विधि का स्तावक है । पारलौकिक फल में संशय दर्शाना नहीं होने से शाब्दिक अर्थ गौण है ।

आकालिक शब्द समानकाल शब्द से आदि अन्त से सहभाव (=क्षणप्रध्वंस) के कथन में ठञ् प्रत्यय और समानकाल को अकाल आदेश होकर निष्पन्न होता है । इसका भाव है—तात्कालिक । द्र०—आकालिकडाद्यन्तवचने (अष्टा० ५।१।११३) पाणिनीय सूत्र । भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्त्तिक में सूत्र का अकालिकेप्सा पाठान्तर दर्शाकर अर्थ किया है काल (=समय) पर होनेवाला कालिक, अर्थात् वर्तमान की अपेक्षा दूर काल में होनेवाला । न कालिकम्=अकालिकम्=वर्तमान में होनेवाला फल, उसकी ईप्सा=इच्छा ॥१४॥

विद्याप्रशंसा ॥१५॥

सूत्रार्थ—[शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद वचन से] (विद्याप्रशंसा) विद्या (=ज्ञान) की प्रशंसा जानी जाती है । इसलिये शोभते मुखम् कथन गौण है ।

व्याख्या—पूर्व 'तथाफलाभावात्' (१।२।३) सूत्र में उदाहरण दिया है—शोभतेऽस्य मुखम् । यह गर्गत्रिरात्र क्रतु की विधि की आकाङ्क्षा रखने के कारण इस विधि का शेष है । और

---

१. तै० सं० ६।१।१। २. अत्र मी० १।२।३ सूत्रस्था टिप्पणी २ द्रष्टव्या (पृष्ठ १३४)।

काङ्क्षित्वाच्छेषः। वेदानुमन्त्रणस्य च—आऽस्य प्रजायां वाजी जायते' इति शेषः। मुखशोभा वाजिमत्त्वं च गुणवचनत्वाद् गौणः शब्दः। शोभते इव शिष्यैरुद्वीक्ष्यमाणम्। कुले सन्तताध्ययनश्रवणान्मेधावी जायते इति, स प्रतिग्रहादन्नं प्राप्नोतीति ॥१५॥

आस्य प्रजायां वाजी जायते यह वेद के अनुमन्त्रणविधि का शेष है। इनके गुणवचन होने से मुखशोभा और वाजीमत्व (=अन्नवान् होना) गौण शब्द हैं। [तात्पर्य यह है कि गर्ग-त्रिरात्रक्रतुविशेष के कारण] शिष्यों द्वारा देखा जाता हुआ मुख शोभित-सा होता है। कुल में (वेद के) सतत अध्ययन और श्रवण से मेधावी पुत्र होता है, और प्रतिग्रह (=दानग्रहण) से वह अन्न को प्राप्त होता है ॥१५॥

विवरण—हम पूर्व १।२।३ के विवरण में लिख चुके हैं कि **आस्य प्रजायां वाजी जायते य** एवं वेद वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ। इस कारण भाष्यकारोक्त वेदानुमन्त्रण के स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ हैं। शबरस्वामी के **कुले सन्तताध्ययनश्रवणान्मेधावी जायते** वचन के अनुसार यह वेद ग्रन्थ के अनुमन्त्रण से सम्बद्ध है। भट्ट कुमारिल ने भी तन्त्रवार्तिक में **आस्य प्रजायां वाजी जायते** वचन को अध्ययनविधि (=स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) का शेष माना है। पार्थसारथि मिश्र ने तन्त्रवार्तिक की टीका में इसका पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

'घृतवन्तं कुलायिनं रायस्पोषं सहस्रिणं वेदो ददातु वाजिनमित्याह प्र सहस्रं पशूनामाप्नोत्यस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद।' न्यायसुधा १।२।२५॥

अर्थात्—'घृतयुक्त, घर में स्थिर रहनेवाले, कुलसम्पत्ति के पोषक, सहस्रसंख्योपेत अर्थात् बहुत अन्न वा बल से युक्त पुत्र को वेद देवे' ऐसा कहता है, [इससे] पशुओं के सहस्र (=बहुत्व) को प्राप्त करता है, और इसकी प्रजा में अन्नवान् बलवान् प्रजा होती है, जो इस प्रकार जानता है।

हमें यह पाठ भी किसी वैदिक ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुआ। न्यायसुधा में उद्धृत मन्त्र तै० सं० १।६।४; मै० सं० १।३; काठक सं० ५।४ में पाठभेदों के साथ मिलता है, परन्तु ब्राह्मण-पाठ नहीं है। 'वेद' शब्द मन्त्रसंहिता के लिये आद्युदात्त प्रयुक्त होता है, और कुशमुष्टि यज्ञीय उपकरण के लिये अन्तोदात्त। तै० मै०काठक संहिताओं में इस प्रकरण में प्रयुक्त 'वेद' शब्द अन्तोदात्त प्रयुक्त होने से यह निर्विवाद है कि यहां 'वेद' शब्द से कुशमुष्टि का ही ग्रहण अभिप्रेत है। ऐसी अवस्था में **आस्य प्रजायां** वचन को आचार्य शबरस्वामी और भट्ट कुमारिल का स्वाध्यायविधि का शेष मानना कैसे उपपन्न होगा, यह विचारणीय है ॥१५॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। भट्टकुमारिलस्तु अध्ययनविधेः शेषं मनुते। द्र०—अत्रैव तन्त्रवार्तिकम्। न्यायसुधायां (१।२।१५) तु 'घृतवन्तं कुलायिनं रायस्पोषं सहस्रिणं वेदो ददातु वाजिनमित्याह प्र सहस्रं पशूनामाप्नोत्यस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' इत्येवं पाठ उदाह्रियते। अयमपि पाठो नोपलब्धः।

सर्वत्वमाधिकारिकम् ॥१६॥ (उ०)

अन्यानर्थक्यवाक्ये उदाहरणम्—पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति[1] इति। पूर्णाहुतिं जुहोति[1] इत्याकाङ्क्षितत्वादस्य विधेः शेषः। य उ चैनमेवं वेद[2] इति तरति मृत्युम्[3] इत्यस्याकाङ्क्षितत्वाच्छेषः। फलवचनं स्तुतिः। सर्वकामफलस्य निमित्ते सर्वकामावाप्ति-वचनं गौणम्। असर्वेषु सर्ववचनमधिकृतापेक्षम् ॥१६॥

सर्वत्वमाधिकारिकम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—[पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति वचन में] (सर्वत्वम्) सर्वपन=कृत्स्नता (आधिकारिकम्) अधिकारप्रयुक्त होने से गौण है।

व्याख्या—अन्य के आनर्थक्यविषयक वाक्य (=सूत्र १।२।४) में उदाहरण है—पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानावाप्नोति। यह पूर्णाहुतिं जुहोति (अनुपलब्ध) आकाङ्क्षित होने से इस विधि का शेष है। य उ चैनमेवं वेद यह वचन तरति मृत्युम् आकाङ्क्षित होने से इस विधि का शेष है। [इन वचनों में] फलवचन स्तुति है। सर्वकामफल के निमित्त में सर्वकामनाओं की प्राप्तिरूप वचन गौण हैं। असर्व में सर्ववचन अधिकृत कर्म की अपेक्षा से है ॥१६॥

विवरण—भाष्यकार के १।२।४ के, तथा भट्ट कुमारिलादि के वचनों से पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति वचन अग्न्याधानीय पूर्णाहुति-विषयक है। यह वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ। इसी विषय में भाष्यकार द्वारा आगे कहे सर्वकामफलस्य निमित्ते० का तात्पर्य है कि विशिष्ट-विशिष्ट कामनाओं के लिये जो-जो याग कहे हैं, उन सब का निमित्त अग्न्याधान है। इसलिये नैमित्तिक सर्वफलों के निमित्तभूत अग्न्याधान की पूर्णाहुति में सर्वकामावाप्ति-कथन गौण है। अर्थात् न्यायशास्त्रानुसार नैमित्तिक में निमित्त का व्यवहार, अन्नं वै प्राणाः में जैसे प्राण में निमित्त-भूत=साधनभूत अन्न को ही प्राण कहा, तद्वत् जानना चाहिये। तरति मृत्युमित्यस्य विधेः शेषः—यहां स्पष्ट पाठ भ्रष्ट हुआ है। तरति मृत्युम् यह विधिवचन नहीं है, यह तो फलवचन है। विधिवचन तो योऽश्वमेधेन यजते (तै० सं० ५।३।१२) है।

सर्ववचनं अधिकृतापेक्षम्—यह सूत्र का तात्पर्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस के अनुसार वैदिक-वचनों की व्याख्या करने पर अनेक अपसिद्धान्तों का समाधान हो जाता है। यथा विवाह-प्रकरण में एक मन्त्र है—इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् (ऋ० १०।८५।४२)। इस

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. स्वल्पपाठभेदेन तै० सं० ५।३।१२॥

३. यथामुद्रितपाठे तरति मृत्युम् इति वचनं विधित्वेनोपन्यस्तम्। न चैतद् विधिवाक्य-मपि त्वर्थवादवाक्यं वर्तते। य उ चैनमेवं वेद इत्यस्य तरति मृत्युं, तरति ब्रह्महत्याम् इत्यस्यार्थ-वादस्य विधिवाक्यं तु योऽश्वमेधेन यजते इत्येव वर्तते। तेनात्र भाष्यपाठो भ्रष्ट इति विज्ञायते। न्यायसुधायां तु यथामुद्रितपाठो महताऽऽयासेन योजितः। सा योजना तत्रैव द्रष्टव्या।

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः फल-विशेषः स्यात् ॥१७॥ (उ०)

में मन्त्र से कुछ लोग अभिप्राय निकालते हैं कि ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो ही आश्रम वैदिक हैं, वानप्रस्थ और संन्यास अवैदिक हैं। क्योंकि इस मन्त्र में पति-पत्नी के लिये कहा है—**इहैव स्तम्** इसी गृहस्थाश्रम में रहो, **मा वियौष्टम्** अलग-अलग मत होवो, **विश्वमायुर्व्यश्नुतम्** सारी आयु इसी गृहस्थ में पूरी करो। वानप्रस्थ और संन्यास में पति-पत्नी का वियोग होता है, और गृहस्थ में कृत्स्न आयु व्यतीत नहीं होती। परन्तु इस सूत्र के प्रकाश में अर्थ होगा—गृहस्थ आश्रम में पति-पत्नी का वियोग न होवे, गृहस्थ आश्रम की जो कृत्स्न आयु है=अधिकृत सीमा है, उसमें मृत्यु न होवे। इसी प्रकार उपनिषद् का एक वचन है—**न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते** (छान्दोग्य उप० ८।१५।१)। यहां ब्रह्मलोक सम्प्राप्ति का वर्णन है। अतः ब्रह्मलोक के भोग का जितना काल है,उसके मध्य में पुनरावर्तन नहीं होता। ब्राह्म शतवर्ष मुक्ति की आयु मानी गई है। सर्गप्रलयरूप दो सहस्र चतुर्युगी 'ब्रह्म का एक दिन' है, यह सर्वशास्त्रों का कथन है। ऐसे ३० अहोरात्र का एक ब्राह्ममास, ऐसे १२ मासों का १ ब्राह्मवर्ष, और उसके १०० वर्ष ब्राह्म आयु है। यही परान्तकाल है, यही मोक्षकाल है। यह १०० ब्राह्म वर्ष ३६००० छत्तीस सहस्र बार सृष्टि के उत्पत्ति-प्रलय के बराबर अर्थात् ३१ नील १० खरब ४० अरब मानुष वर्ष के बराबर है। इस काल के मध्य में पुनरावृत्ति नहीं होती, यह उपनिषद् का सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन मुण्डकोपनिषद् (३।२।६) में **ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे** द्वारा किया है। वे मुक्त आत्माएं परान्तकालवाले ब्रह्मलोक में निवास करके पर अमृत=मोक्ष से मुक्त होते (=छूटते) हैं,अर्थात् पुनः संसार में आते हैं। परन्तु जब विद्वानों ने 'मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती' यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया, तब उन्होंने **परामृतात्** पाठ को **परामृताः** के रूप में बदल दिया (द्र०—शांकर-भाष्य)। पाठ-परिवर्तन करने का यत्न करने पर भी मुण्डकोपनिषद् के इस वचन में **परामृतात्** पाठ आज तक क्वचिद् उपलब्ध होता है। यथा—संवत् १९८२ (सन् १९२५) के निर्णयसागर प्रेस के १०८ उपनिषदों के संग्रह में **परामृतात्** पाठ ही है। सूतसंहिता की तात्पर्यटीका में माधव ने उक्त मन्त्र के उद्धरण में **परामृतात्** पाठ ही उद्धृत किया है (द्र०—बालमनोरमा प्रेस, माइलापुर, मद्रास संस्करण, पृष्ठ १७२)। अन्यत्र भी नारायणोपनिषद् (तै० आ० १०।१०।३) में भी **परामृतात्** पाठ ही मिलता है ॥१६॥

फलस्य कर्मनिष्पत्ते···फलविशेषः स्यात् ॥१७॥

सूत्रार्थ—[पूर्णाहुत्या आदि को फलविधि मानने पर भी] (फलस्य) फल के (कर्मनिष्पत्तेः) कर्म से उत्पन्न होने से (लोकवत्) जैसे लोक में कर्म के अनुसार फल (=वेतन) प्राप्त होता है, वैसे ही [यागरूपी कर्म के] (परिमाणतः) परिमाण के अनुसार (फलविशेषः) भिन्न-भिन्न फल (स्यात्) प्राप्त होंगे। अर्थात् एक कर्म से ही सम्पूर्ण फल प्राप्त नहीं होगा।

अन्वारुह्य वचनमिदम् । यद्यपि विधिस्तथाप्यऽर्थवत्ता परिमाणतः सारतो वा फल-विशेषात् ॥१७॥

अन्त्ययोर्यथोक्तम् ॥१८॥ (उ०)

'अभागिप्रतिषेधाद्' (१।२।५) इत्यादावुदाहृतम्—**न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि**[1] इति **हिरण्यं निधाय चेतव्यम्**[2] इत्याकाङ्क्षितत्वादस्य विधेः शेषः । पृथिव्यादीनां निन्दा हिरण्यस्तुत्यर्था । असति प्रसङ्गे प्रतिषेधो नित्यानुवादः । यच्चानित्यदर्शनम्-**बबरः प्रावाहणिरकामयत**[3] इति, तत् परिहृतम् । अर्थवादाक्षेपेण पुनरुत्थितस्मिदानीमर्थवाद-प्रामाण्ये तेनैव परिहारेण परिहरिष्यते इति ॥१८॥ **इत्यर्थवादाधिकरणम् ॥१॥**

व्याख्या—पूर्वपक्ष के (फलविधि रूप) पक्ष को मानकर यह वचन (=सूत्र) है। यद्यपि [पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति आदि] विधि है, तथापि [अन्य कर्मों की] अर्थवत्ता [कर्म के] परिमाण से अथवा सार के अनुसार फलविशेष होने से सिद्ध होगी। [अर्थात् एक ही कर्म से सब फलों की प्राप्ति मानने पर अन्य कर्मों का आनर्थक्यरूप जो दोष उपस्थित किया है, वह नहीं होगा] ॥१७॥

अन्त्ययोर्यथोक्तम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—(अन्त्ययोः) अन्त के दो दोषों का समाधान (यथोक्तम्) जैसा अन्यत्र दिया है, उसी के अनुसार जानना चाहिये ।

व्याख्या—अभागिप्रतिषेधात् (१।२।५) आदि में उदाहृत—न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि यह हिरण्यं निधाय चेतव्यम् इस विधि के साकांक्ष होने से इस विधि का शेष है । पृथिवी आदि की निन्दा हिरण्य की स्तुति के लिये है । और जहां (=अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्निचयन का) प्रसङ्ग=प्राप्ति नहीं है उनके विषय में प्रतिषेध नित्य [अप्राप्तित्व] का अनुवाद है। और जो अनित्यसंयोगात् (१।२।६) में यह कहा कि—बबरः प्रावाहणिरकामयत, इस दोष का परिहार [परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् (१।१।३१) से] कर दिया। अर्थवाद-विषयक आक्षेप से पुनः उठा यह दोष अब अर्थवाद का प्रामाण्य सिद्ध हो जाने पर उसी पूर्व (१।१।३१) परिहार से दूर कर दिया जायेगा ॥१८।

विवरण—भाष्यकार ने सूत्र १।२।६ में पुनः उपस्थापित दोष को पूर्व परं तु श्रुति-सामान्यमात्रम् (१।१।३१) सूत्र के परिहार से परिहृत किया है । भाष्यकार ने मन्त्रब्राह्मणरूप वेद को अपौरुषेय मानकर सूत्र १।२।६, १८ में आक्षेप और उसका समाधान प्रस्तुत किया है ।

---

१. मै० सं० ३।२।६॥ २. नैतद् वैदिकं वचनम्, अर्थतोऽयमनुवादः। मै० सं० ३।२।६—रुक्ममुपदधाति इति विधिवाक्यं श्रूयते । शाखान्तरस्थं वा वचनं भाष्यकारेणोदाहृतं स्यात् । ३. तै० सं० ५।१।१०॥

हमने वेदापौरुषेयत्वाधिकरण के आर्षमतानुसार किये अपने व्याख्यान (पृष्ठ १०२-१०४) में स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि सूत्रकार को इस अधिकरण में 'वेद' शब्द से 'मन्त्रसंहिताएं' ही अभिप्रेत हैं। सूत्र १।२।५ के आक्षेप और उसके समाधान को हम भी प्रकरणानुसार स्वीकार करते हैं। केवल सूत्र १।२।६ के आक्षेप और उनका समाधान हमें आर्षमतानुसार युक्त प्रतीत नहीं होता। अतः इस विषय पर आर्षमत प्रस्तुत करते हैं—

अनित्यसंयोगात्(१।२।६)—आम्नाय में क्रियार्थ-वचनों में भी क्वचित् अनित्य का संयोग (= सम्बन्ध) देखा जाता है। यथा—राजसूय में राजा के अभिषेक-प्रकरण में विनियुक्त एक मन्त्र भिन्न-भिन्न शाखाओं में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

माध्यन्दिन-शाखा (९।१४)	एष वो अमी राजा।
काण्व-शाखा (११।२१)	एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा।
तैत्तिरीय-शाखा (१।८।१०)	एष वो भरता राजा।
मैत्रायणी-शाखा (२।६।९)	एष ते जनते राजा।
काठक-शाखा (१५।७)	एष ते जनते राजा।

इन मन्त्रों में काण्व और तैत्तिरीय-संहिता में पठित **कुरवः पञ्चालाः भरताः** पद अनित्य तत्तद्देशविशिष्ट देशवासियों के हैं। अतः इन पाठों में अनित्यसंयोग होने से ये मन्त्र अनित्य-संयोग दोष से दूषित होने से अप्रमाण हैं।

अन्त्ययोर्यथोक्तम् (१।२।१८)—अन्त्य के दोषों का परिहार कह चुके।

प्रकृत में **अनित्यसंयोगात्** (१।२।६) सूत्र से 'क्रियार्थ शाखा-मन्त्रों में भी क्वचित् दृष्ट अनित्य-संयोग का समाधान भी पूर्व **परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्** (१।१।३१) से कह चुके। इस समाधान को प्रकृत अनित्यसंयोगदोष में निम्न प्रकार सम्बद्ध करना चाहिये—

शाखा-मन्त्रों में श्रूयमाण **कुरवः पञ्चालाः भरताः** श्रुतिसामान्यमात्र हैं, अर्थात् इन का स्व अर्थ विवक्षित न होने से गौण हैं=उपलक्षणमात्र हैं। इसीलिये इन शाखाओं से जब अन्य देशस्थ राजा का राजसूय यज्ञ कराना होगा, तब इन पदों के स्थान में तद्देश का नाम उच्चरित होगा। इस दृष्टि से इनका अभिप्राय भी उतना ही है, जितना माध्यन्दिन शाखास्थ **अमी** पद का है।[1] इसीलिये भगवान् पतञ्जलि ने **तेन प्रोक्तम्** (अष्टा० ४।३।१०१) के महाभाष्य में शाखाओं की आनुपूर्वी को अनित्य मानते हुये भी इनके अर्थ को नित्य कहा है।[2] सम्भवतः इसी हेतु से

---

१. द्रष्टव्य—महीधरभाष्य—'अमी हे कुरवः पञ्चालाः वो युष्माकम् एषः खदिरवर्मा राजा अस्तु।' माध्यन्दिन सं० ९।४०॥

२. यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति—काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादमिति। महाभाष्य ४।३।१०१॥

[विधिवन्निगदाधिकरणम् ।।२।।]

'इह ये विधिवन्निगदा[2] अर्थवादास्ते उदाहरणम्—औदुम्बरो यूपो भवति, ऊर्वा उदुम्बर ऊक् पशव ऊर्जैवास्मा ऊर्जं पशूनाप्नोति ऊर्जोऽवरुध्यै[3] इति। किमस्य विधिः कार्यम्, उतास्यापि स्तुतिरिति ? किं तावत्प्राप्तम् ?

विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद् वादमात्रं ह्यनर्थकम् ।।१६।। (पू०)

विधिवन्निगदेष्वेवञ्जातीयकेषु फलविधिः स्यात्। फलं ह्यवगम्यते। तथा ह्यपूर्वमर्थं विधास्यति। इतरथा स्तुतिवादमात्रमनर्थकं स्यात्। स्तुतश्चास्तुतश्च तावानेव

यास्क मुनि ने निघण्टु २।२ में नहुषः तुर्वशाः द्रुह्यवः आयवः यदवः अनवः पूरवः प-ों को मनुष्यसामान्य नामों में पढ़ा है। इस विषय में हमने जो विशेष विचार पूर्व (पृष्ठ ११२-११४) किया है, उसे भी देखना उचित होगा।

इस प्रकार भगवान् जैमिनि ने आम्नाय=मन्त्रब्राह्मणसमुदाय के विशिष्ट पाठों पर जो अनर्थकत्व दोष उपस्थित किया गया था, उसका सोपपत्तिक समाधान प्रस्तुत करके उनका प्रामाण्य स्थापित किया है ।।१८।।

व्याख्या—यहां जो विधि के समान पढ़े गये हैं, वे अर्थवाद उदाहरण है—औदुम्बरो यूपो भवति, ऊर्वा उदुम्बर ऊक् पशवः, उर्जैवास्मा ऊर्जं पशूनाप्नोति ऊर्जोऽवरुध्यै (=उदुम्बर=गूलर का यूप होता है, उदुम्बर निश्चय ही ऊक्=अन्न वा रस है, ऊक् पशु हैं, ऊक् से ही ऊक् पशुओं को प्राप्त करता है, ऊक् को रोकने=प्राप्त करने के लिये)। क्या इस [वचन] का [फलरूप] विधि कार्य है, अथवा इसका कार्य भी स्तुति है ? क्या प्राप्त है ?

विधिर्वा स्याद् · अनर्थकम्।।१६।।

सूत्रार्थ—[यहां तो] (अपूर्वत्वात्) अपूर्व होने से (विधिः) विधि (वा) ही (स्यात्) होवे, (वादमात्रम्) स्तुति का कथनमात्र (हि) निश्चय ही (अनर्थकम्) है।

विशेष—सूत्र में 'वा' शब्द एवार्थक है (सुबोधिनीवृत्ति)। कुतुहलवृत्तिकार ने 'वा' शब्द को पूर्व सिद्धान्तित स्तुतिपक्ष के निराकरण के लिये स्वीकार किया है।

व्याख्या—विधि के समान पढ़े गये इस प्रकार के वचनों में [कर्म के] फल की विधि होवे। [क्योंकि इस प्रकार के वचनों से] फल ही जाना जाता है। इस प्रकार (=फलविधि मानने पर) ही अपूर्व (=जो प्रमाणान्तर से अज्ञात है, उस) अर्थ का विधान करेगा। अन्यथा स्तुति का कथनमात्र अनर्थक होवे। स्तुति किया गया और स्तुति न किया गया अर्थ तो

---

१. पूर्वमुद्रितभाष्यग्रन्थेष्वयं भागः सूत्रपाठादनन्तरं मुद्रित उपलभ्यते।

२. विधिवद् ये निगद्यन्ते ते विधिवन्निगदा उच्यन्ते। ३. तै० सं० २।१।१।।

सोऽर्थः । अपि च—'ऊर्जोऽवरुध्यै' इति प्रयोजनं श्रूयते । न च 'प्रशस्तोऽयमर्थः' इति कश्चिच्छन्दोऽस्ति । लक्षणया तु स्तुतिर्गम्यते । श्रुतिश्च लक्षणायाः ज्यायसीति ॥१९॥

लोकवदिति चेत्[1] ॥२०॥ (आशंका)

इति चेत् पश्यसि—स्तुतिरनर्थिका, न च शब्देनावगम्यते इति । लौकिकानि वाक्यानि भवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु । तद्यथा—'इयं गौः क्रेतव्या देवदत्तीया, एषा हि बहुक्षीरा स्त्र्यपत्या अनष्टप्रजा च' इति । क्रेतव्येत्यप्युक्ते गुणाभिधानात् प्रवर्त्तन्तेतरां क्रेतारः । बहुक्षीरेति च गुणाभिधानमवगम्यते । तद्वद् वेदेऽपि भविष्यति ॥२०॥

न पूर्वत्वात् ॥२१॥ (निरासः)

उतना ही है [अर्थात् स्तुति करने से अर्थ में वृद्धि नहीं होती, और स्तुति न करने से वह घटता नहीं] । और भी—'ऊर्क् के अवरोधन = प्राप्ति के लिये' यह प्रयोजन सुना जाता है । 'यह अर्थ उत्तम है' इसको कहनेवाला कोई शब्द नहीं है । लक्षणा से स्तुति जानी जाती है । और श्रुति लक्षणा से उत्तम है ॥१९॥

विवरण—स्तुतिवादमात्रम्—यह सूत्र के वादमात्रम् का अभिप्राय है । अनर्थकम्– न अर्थः प्रयोजनमस्य सोऽनर्थकः । यद्यपि स्तुति भी अनर्थक नहीं होती, इसलिये कहा है—स्तुतश्चास्तुतश्च तावानेवार्थः । अथवा अनर्थक का अर्थ है—अल्पप्रयोजन । पूर्व अधिकरण में स्तुति का प्रयोजन स्वीकार किया है । यहां स्तुति की अपेक्षा फलविधि मानना युक्त है, क्योंकि विधि अपूर्व अर्थ का बोधक होती है ॥१९॥

लोकवदिति चेत् ॥२०॥

सूत्रार्थ—(लोकवत्) लोक में प्रयुक्त स्तुति जैसे सार्थक होती है, वैसे वैदिक स्तुति भी है (इति चेत्) ऐसा मानें, तो अनर्थक नहीं हो सकती ।

व्याख्या—यदि यह समझते हैं कि–स्तुति अर्थवती नहीं है, और शब्द से नहीं जानी जाती है । तो आप लौकिक वाक्यों को विचारें । जैसे– 'यह देवदत्त की गौ खरीदो, यह बहुत दूधवाली, बछियावाली और विद्यमानवत्सा है ।' क्रेतव्या (=खरीदो) कहने पर भी उसके गुणों का कथन करने से खरीदनेवाले सरलता से खरीदने के लिये प्रवृत्त होते हैं । और 'बहुत दूधवाली है' इससे गुण कथन जाना जाता है । इसी प्रकार वेद में भी होगा [अर्थात् कर्म की स्तुति करने से सरलता से कर्म में प्रवृत्ति होगी] ॥२०॥

न पूर्वत्वात् ॥२१॥

सूत्रार्थ—(न) ऐसा नहीं है, [लोक में बहुक्षीरत्वादि अर्थों के (पूर्वत्वात्) प्रमाणान्तर

---

१. इदमुत्तरेण सहैकसूत्रम् इति वृत्तिकारा मन्वते । भाष्यकारेणार्थसौकर्याय योगविभागः कृतः स्यात् । उत्तरत्रापि प्रायेण चेत्पदघटितान् सूत्रान् विभज्यैव भाष्यकारो व्याचष्टे । प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादेऽपि 'तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवायात् गुणाश्रयाः' सूत्रं षट्सूत्राणि प्रकल्प्य व्याख्यातम ।

नैतदेवम् । लोके विदितपूर्वा अर्था उच्यन्ते बहुक्षीरादयः । तेषां विज्ञानमेव न प्रयोजनम्, अतः प्रशंसा गम्यते । अविदितवादे न श्रद्धीरन् । पूर्ववचनादिव । विदितत्वादेव च प्ररोचयन्ते । वैदिकेषु पुनर्यदि विधिशब्देन न प्ररोचयन्ते, नतरामर्थवादेन । जाताशङ्को हि विधिशब्देन स तदानीम् । अथ विधिशब्देन प्ररोचितः, किमर्थवादशब्देन ? अपि च—वेदे व्यक्तमसंवादः । ऊर्जोऽवरुद्धचै इत्यप्रसिद्धं वचनम् । ऊर्वा उदुम्बर इति हेतुत्वं चाप्रसिद्धम्——यस्माद् ऊर्गुदुम्बरः, तस्मात् तन्मयो यूपः कर्त्तव्य इति । ऊर्गुदुम्बर इत्यनृतवचनादन्यदस्यानृतमिति परिकल्प्येत ॥२१॥

से ज्ञान होने से [स्तुति सार्थक होती है । यहां ऊर्क्-प्राप्त्यादि कोई अर्थ प्रमणाणन्तर से ज्ञात नहीं है । अतः अनर्थक है] ।

व्याख्या— ऐसा नहीं है । लोक में जो बहुक्षीरत्वादि अर्थ कहे जाते हैं; वे प्रमाणान्तर से जाने हुये कहे जाते हैं । उनका बताना ही प्रयोजन नहीं होता, इस कारण उनसे प्रशंसा जानी जाती है । यदि अविदित अर्थ का कथन करें, तो [क्रय के प्रति] श्रद्धावान् न होवें [अर्थात् उसका कोई विश्वास नहीं करेगा] । पूर्ववचन = 'इस गौ को खरीदो' मात्र से जैसे कोई खरीदने के लिये प्रेरित नहीं होता, उसी प्रकार अविदित अर्थ का कथन करने से भी उसे सत्य मान कर खरीदने के लिये प्रेरित नहीं होवे । [लोक में] विदित अर्थ का कथन करने से ही [क्रय के प्रति] प्रीतिमान् होते हैं । वैदिक वचनों में यदि विधिवचन से [उस कर्म के प्रति] रुचिमान् नहीं होते, तो अर्थवाद से तो सर्वथा प्रीतिमान नहीं होंगे । क्योंकि उस समय वह विधिशब्द से शंकित है [अर्थात् जब विधिशब्द से ही उसे कर्मयथार्थता का निश्चय नहीं हुआ, तो अर्थवाद से कैसे रुचि उत्पन्न होगी] । और कहो कि विधिशब्द से [कर्म] रुचिमान् हो जाता है, तो अर्थवाद से क्या लाभ ? और भी - वेद में व्यक्त ही असंवाद (= वैसा न होना) विदित होता है । ऊर्जोऽवरुद्धचै (= ऊर्क् की प्राप्ति के लिये) यह वचन अप्रसिद्ध है [अर्थात् उस उदुम्बर के यूप से लोक में ऊर्क् की प्राप्ति होती है, यह बात प्रसिद्ध नहीं है]। और 'उदुम्बर ऊर्क् (= अन्न) ही है' यह हेतु भी अप्रसिद्ध है कि—'जिस कारण उदुम्बर ऊर्क् है, इसलिये उदुम्बर का विकार यूप करना चाहिये' । [क्योंकि 'जो-जो अन्न है, वह-वह यूप होवे' यह न लोक में प्रसिद्ध है, और न वेद में] । 'उदुम्बर ऊर्क् है' इस वचन के झूठे होने से अन्य वचन के भी असत्यत्व की कल्पना होगी । [इसलिये यही उचित है कि इस वचन को फलविधि ही माना जाये । अर्थात् उदुम्बर का यूप बनाने से ऊर्क् रूप फल की प्राप्ति होती है] ॥२१॥

विवरण—कुछ वृत्तिकारों ने 'लोकवदिति चेत्' 'न पूर्वत्वात्' दोनों को मिलाकर एकसूत्र माना है । ऐसा ही आगे जिन सूत्रों में चेत् शब्द का प्रयोग है, वहां भी प्रायः भाष्यकार पूर्व परभाग को दो सूत्र मानकर व्याख्या करते हैं, और वृत्तिकार दोनों को एकसूत्र मानते हैं । हमारा भी यही विचार है कि चेत् पदघटित पूर्व परभाग एक ही सूत्र है । भाष्यकार ने सरलता की दृष्टि से उन्हें दो भागों में विभक्त करके व्याख्या की है । भाष्यकार ने अन्यत्र भी इस प्रकार योगविभाग करके व्याख्यान किया है । यथा—अ० १, पाद ४ का सूत्र है—तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्ग-

उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् ॥२२॥ (उ०)

उक्तमस्माभिर्वाक्यशेषत्वम्—**विधिना त्वेकवाक्यत्वाद्** (१।२।७) इति। ननु उक्तम्—'फलवचनमिह गम्यते, न स्तुतिरिति'। यदिह फलवचनं, तदौदुम्बरस्य यूपस्य। न च अविहित औदुम्बरो 'यूपोऽस्ति'। तत्र फलवचनमेवानर्थकम्। स्तुतिवचनः शब्दो नास्तीति

समवायात् गुणाश्रयः सूत्र को **तत्सिद्धिः, जातिः, सारूप्यात्, प्रशंसा, भूमा, लिङ्गसमवायात् गुणाश्रयः** छः भागों में विभक्त करके व्याख्या की है। कुतुहलवृत्तिकार ने इसे एकसूत्र ही माना है, परन्तु उसका पाठ है—'...**लिङ्गसमवाया इति गुणाश्रयाः**'।

अविदितवादे न श्रद्दधीरन्—इसका भाव यह है कि कोई कहे कि 'यह गौ दो-दो बछियां साल में दो बार देती हैं, और एक समय में एक मन दूध देती हैं'। ऐसा वचन कहे, तो उसे कोई सत्य नहीं मानेगा। क्योंकि ऐसा धर्म गाय का लोक में विदित नहीं है। **श्रद्दधीरम्**—'श्रत्' शब्द सत्य का वाचक है। 'श्रद्धा' शब्द का भी अर्थ है—**सत्य को धारण करना**। 'जिज्ञासु को श्रद्धावान् होना चाहिये' का अभिप्राय है—सत्य-असत्य की विवेचना करके सत्य के ग्रहण और असत्य के छोड़ने में सदा तत्पर रहना चाहिये। असत्य तत्त्व में विश्वास रखना 'श्रद्धा' नहीं होती। यह तो श्रद्धा से विपरीत होने से अश्रद्धा=असत्य के प्रति अनुराग है।

पूर्ववचनादिव—इसका भट्ट कुमारिल ने दो प्रकार से व्याख्यान किया है। एक—जैसे विधिभाग से श्रद्धावान् नहीं होता, उसी प्रकार अर्थवाद वाक्य से भी श्रद्धावान् नहीं होगा। दूसरा—जैसे अधिगत (=विज्ञात) पूर्ववचन (=बहुक्षीरत्वादि) में श्रद्धावान् होता है, वैसे अविदित अर्थ के कथन करने पर श्रद्धावान् नहीं होगा। अर्थात् बहुक्षीरत्वादि कहनेमात्र से क्रय में रुचिकारक नहीं होते, अपितु यह गौ वस्तुतः बहुक्षीरत्वगुणयुक्त है वा नहीं, यह जानकर ही क्रय के प्रति रुचि उत्पन्न होती है ॥२१॥

उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् ॥२२॥

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् 'फलविधि है' यह कहना उचित नहीं है। (वाक्यशेषत्वम्) 'अर्थवादवचन विधिवाक्य के शेष होते हैं' यह (उक्तम्) **विधिना त्वेकवाक्यत्वात्** सूत्र से कह चुके। [इसलिये विधिवाक्य के साथ सम्बद्ध होकर यह वचन स्तुतिपरक है।]

व्याख्या—हम [अर्थवादवचनों का] वाक्यशेषत्व कह चुके—**विधिना त्वेकवाक्यत्वात्** (१।२।७) सूत्र से। (आक्षेप) अभी कहा है कि—[**ऊर्जोऽवरुद्ध्यै** से] 'फल का कथन जाना जाता है, स्तुति नहीं जानी जाती'। (समाधान) जो यहां फल जाना जाता है, वह औदुम्बर यूप का है। अविहित औदुम्बर यूप नहीं है। उस अवस्था में फलवचन ही अनर्थक

---

१. 'औदुम्बरो यूपो भवति' इत्यत्र विधिविभक्तेरभावात् भवतिशब्दस्य वर्तमानापदेशकत्वाद् औदुम्बरयूपस्य विधानमेव नास्तीति भावः। पशुनियोजनकार्यं तु 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इत्यतिदेशेन प्रकृतिविहितस्य यूपस्य प्राप्तत्वात् सिद्ध्यत्येव।

चेत्, इह फलवचनेन फलवत्ता प्रतीलते, फलवांश्च प्रशस्त इति ।।

है। यदि कहो कि स्तुतिवचन शब्दनहीं है तो यह ठीक नहीं। यहां (=उक्त वचन में) फलवचन से स्तुति जानी जाती है, और फलवान् प्रशस्त है [यह जाना जाता है]।

विवरण—औदुम्बरो यूपो भवति इत्यादि वाक्य जिस पशुयाग में पठित है, उसका पाठ इस प्रकार है—सोमापौष्णं त्रैतमालभेत पशुकामः···औदुम्बरो यूपो भवति, ऊर्वा उदुम्बर ऊर्क् पशवः ऊर्जैवास्मा ऊर्ज पशूनवरुन्धे (तै० सं० २।१।१)। इसका भाव यह है कि 'सोम और पूषा देवतावाले त्रैत पशु का स्पर्श करे (=प्राप्त करे)'···(अगले वाक्य का अर्थ पूर्व कर दिया है)। इस वाक्य में पठित त्रैत शब्द का अभिप्राय यह है—अजा के दो-दो बच्चे स्वभावतः होते हैं, किन्तु कभी-कभी तीन बच्चे भी हो जाते हैं। उनकी दृष्टि से त्रैत शब्द का प्रयोग है। सायणाचार्य के मतानुसार 'त्रैत' शब्द का अर्थ है—एक साथ उत्पन्न तीन बच्चों का समुदाय त्रित। त्रित में होनेवाला त्रैत अर्थात् तीनों में से कोई एक का आलभन इष्ट है। भट्टभास्कर ने लिखा है—किन्हीं का मत है कि त्रैत से मध्यम का ग्रहण इष्ट है। अन्य तीनों का आलभन मानते हैं। कई त्रैत से तीसरे का ग्रहण स्वीकार करते हैं। पार्थसारथि मिश्र ने न्यायसुधा (इसी सूत्र) में त्रैत का अर्थ त्रिवर्ण (=तीन रंगवाला) पशु द्रव्य किया है। पशुयाग में प्रकृतिभूत अग्नीषोमीय पशुयाग में खादिर (=खैर वृक्ष के) यूप का विधान है। प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या[1] (=प्रकृतियाग में जैसी विधि की है, वैसी ही विकृतियाग में भी करनी चाहिये) नियम से सोमापौष्ण पशुयाग में भी खादिर यूप की प्राप्ति में औदुम्बरो यूपो भवति से गूलर के यूप का विधान किया है (मीमांसकों के मत में इसे साक्षात् विधायक वाक्य नहीं मानते। विधान की उपपत्ति आगे दर्शायेंगे)।

त्रैत पशु—सर्गप्रक्रिया में महदण्ड=हिरण्यगर्भ=प्रजापति से उसके ऊपरी आवरण के टूटने=पृथक् होने पर तीन पदार्थों की उत्पत्ति होती है—द्यौः अन्तरिक्ष और भूमि अर्थात् सूर्यमण्डलस्थ ग्रहोपग्रह। ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है—

स भूरिति व्याहरत, स भूमिमसृजत। स भुवरिति व्याहरत, सोऽन्तरिक्षमसृजत।··· स सुवरिति व्याहरत, स दिवमसृजत।' तै० ब्रा० २।२।४।।

अर्थात्—प्रजापति के आवरण के टूटने पर पार्थिवतत्त्वप्रधान पृथिवी आदि ग्रहोपग्रहों के पृथक् होने से 'भूर्' ऐसा शब्द हुआ। ग्रहोपग्रहों के पृथक् होने पर मध्य में अन्तरिक्ष के निष्पादन के समय 'भुवर्' सी ध्वनि हुई। और द्यु के पृथक् होने पर 'सुवर्' सी ध्वनि प्रकट हुई। यही प्रजापति का व्याहरण है। ऐसा ही वर्णन शतपथ ८।७।४।५ में भी मिलता है।

ये सहोत्पन्न द्यौः अन्तरिक्ष और पृथिवी तीन पशु हैं (द्र०—यजुः २३।१७—अग्नि=

---

१. प्रकृति और विकृति यागों का लक्षण, तथा कौन किसकी प्रकृति वा विकृति है। इसकी विवेचना पूर्वमुद्रित श्रौतयज्ञ-मीमांसा में देखें।

तत्र 'फलवत्तायामानर्थक्यम्' इति यो द्वितीयोऽर्थः प्रशंसा नाम स गम्यते। लक्षणेति

आग्नेयी पृथिवी, वायु=अन्तरिक्ष, सूर्य तीन पशु)। इनमें पृथिवीलोक त्रैत=त्रिवर्ण=विविध वर्ण अज है, (अज गतौ, कर्तरि अच्)। इसी का आलभन प्राकृतिक देवों ने पशुओं की उत्पत्ति के लिये किया। पृथिवी को क्षुद्र-महत् प्राणियों की उत्पत्ति के योग्य बनाया। औदुम्बर=उदुम्बर-वर्ण ताम्रवर्ण यूप सूर्य है। यह ऊर्क्=शक्ति का भण्डार है। इसी सूर्य से बन्धे हुये सभी ग्रहोपग्रह रूपी 'अज' चारों ओर घूम रहे हैं। तै० ब्राह्मण २।१।५ में कहा है—आदित्यो यूपः। ऐ० ब्रा० २।१ में कहा है—देवों ने उस सर्गरूप यज्ञ को यूप से बांधा, यही यूप का यूपत्व है—(देवाः) तं वै यज्ञं यूपेनायोपयंस्तद् यूपस्य यूपत्वम् (ऐ० ब्रा० २।१)। ऐसा ही शतपथ १।६।२।१ में भी कहा है।

श्रौत पशुयाग—इसी दैवी पशुयाग का अनुकरण प्रकृत श्रौत त्रैत पशुयाग है। इसमें त्रैत तीन सहोत्पन्नों में अन्यतम अथवा त्रिवर्ण अज पशु का यूप में बन्धन होता है। उसका पर्यग्निकरण के पश्चात् उत्सर्ग कर दिया जाता है। उसके स्थान में त्रैत अज तीन वर्ष पुराने, जिनकी उत्पादन शक्ति क्षीण हो गई है, ऐसे व्रीहि वा यव के पुरोडाश से यज्ञकर्म पूर्ण किया जाता है (यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः)। विस्तार से देखें—पूर्वसंलग्न 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा', तथा 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा', पृष्ठ ३०८—३१०। भावार्थ यह है कि जैसे देवों ने भूमि को अन्न एवं प्राणियों की उत्पत्ति के योग्य बनाया, उसी प्रकार यजमान भी भूमि को प्राप्त कर उसमें त्रैत=त्रिविध तीन ऋतुओं में सम्पन्न होनेवाले अन्नों का उत्पादन कर ऊर्क्=अन्नों और पशुओं से प्राप्त होनेवाले दूध दही घृत आदि बलकारक पदार्थों को प्राप्त करे।

न च अविहित औदुम्बरो यूपोऽस्ति का तात्पर्य है—प्रकृतियाग से प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या न्याय से खादिर यूप प्राप्त होता है। यहां औदुम्बरो यूपो भवति में 'भवति' वर्तमानकाल का निर्देश है। विधि-विभक्ति लिङ् आदि नहीं है। अतः इससे औदुम्बर यूप का विधान नहीं हो सकता। जब औदुम्बर यूप ही नहीं है, तो उसकी फलविधि कैसे मानी जा सकती है? फलवांश्च प्रशस्तः—यह प्राशस्त्य किन्हीं के मत में सोमापौष्ण पशुयाग का है—यतः इस याग में औदुम्बर यूप होता है, इसलिये इससे ऊर्क् और पशुओं को प्राप्त करता है। अन्य मत में औदुम्बर यूप का ही प्राशस्त्य माना जाता है (इस विषय में आगे देखें)।

व्याख्या—[औदुम्बर यूप की] फलवत्ता में आनर्थक्य है [क्योंकि औदुम्बर यूप का विधान नहीं है]। इसलिये [इस वाक्य का] जो दूसरा प्रयोजन प्रशंसा है, वह जानी जाती है। यदि कहो कि [प्रशंसा में] लक्षणा होगी, [अर्थात् लक्षणा मानना उचित नहीं है], तो यह

१. अयं भावः—यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयाद्' इत्यत्र होम आश्रयः, स चाग्निहोत्रप्रकरणे पठितत्वात् जुहुयादित्यनेनानुवादाच्च। इह तु तद्वत् कश्चिदाश्रयो नास्ति। यदि च 'सोमापौष्णं त्रैतमालभेत' इति विहितो याग एवाश्रयो भवतु, इत्यपि न, तथाभूतस्य यागस्य अत्राननुवादात्। तस्मात् फलकल्पनायामप्यस्यानर्थक्यमेव, इत्यस्मद्गुरुचरणाः।

चेत् न, लक्षणायामपि अर्थवत्ता भवत्येव । लक्षणाऽपि हि लौकिकी । ननूक्तम् असंवादो वेदे—न ह्यूर्गुदुम्बर इति । गुणवादेन प्ररोचनार्थतां ब्रूमहे । गौणत्वात् संवादः । किं सादृश्यम् ? यथाऽन्नं प्रीतेः साधनम्, एवमिदमपि प्रीतिसाधनशक्तियुक्तं प्रशंसितुं प्रशंसावाचिना प्रीतिसाधनशब्देन उच्यते । शक्यते हि तत् पक्वफलसम्बन्धाद् ऊर्गिति वक्तुम् ॥२२॥

विधिश्चानर्थकः क्वचित् तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत,
तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम् ॥२३॥ (उ०)

ठीक नहीं, लक्षणा में भी प्रयोजनवत्ता होती ही है । लक्षणा भी तो लौकिकी है । (आक्षेप) हमने कहा है कि वेद में संवाद (=यथार्थकथन) नहीं है—उदुम्बर ऊर्क् नहीं है । (समाधान) [सादृश्यरूप] गौणकथन से हम प्ररोचनार्थता [इस वाक्य की] कहते हैं । गौणरूप से दोनों में एकरूपता है । [ऊर्क् और उदुम्बर में] सादृश्य क्या है ? जैसे अन्न प्रीति का साधन है, उसी प्रकार यह (=उदुम्बर) भी प्रीतिसाधनशक्तियुक्त की प्रशंसा के लिये प्रशंसावाची प्रीतिसाधन [ऊर्क्=अन्न] शब्द से कहा जाता है । वह[=उदुम्बर]पके फलों के सम्बन्ध से ऊर्क् कहा जा सकता है ॥२२॥

विवरण—फलवत्तायामानर्थक्यम्[1]—इस विषय में यह जानना चाहिये कि फलवत्तामात्र में आनर्थक्य नहीं होता । अग्निहोत्र के प्रकरण में पढ़ा है—दध्नेन्द्रियकामस्य (तै० ब्रा० २।१।५) इसमें आज्येन जुहुयात् तेजस्कामस्य इस पूर्व वाक्य से जुहुयात् क्रिया का अनुषङ्ग जानना चाहिये। दध्नेन्द्रियकामस्य में अग्निहोत्र को उद्देश करके दधिरूप गुण का विधान किया है, और उससे इन्द्रियरूप फल की प्राप्ति कही है । मीमांसकों के मतानुसार इस वाक्य का अर्थ होगा—दध्ना इन्द्रियरूपमर्थं भावयेत्=दही को अग्निहोत्र का साधन बनाकर इन्द्रियरूप फल को प्राप्त करे। यहां दधि का अग्निहोत्र के प्रकरण में पाठ होने से अग्निहोत्र होम आश्रय है, और जुहुयात् पद से अग्निहोत्र होम का अनुवाद होने से फलविधि मानी जाती है । उदुम्बर यूप का कोई कर्म आश्रय नहीं है । यदि कहो कि सोमापौष्णं त्रैतमालभेत वाक्य बोधित याग उदुम्बर यूप का आश्रय होगा, तो यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि सोमापौष्ण त्रैत याग का यहां अनुवादक कोई शब्द नहीं है, जैसे दध्नेन्द्रियकामस्य में अनुषक्त जुहुयात् पद अग्निहोत्र होम का अनुवादक है । आश्रय का अभाव होने से औदुम्बरो यूपो भवति ऊर्जोऽवरुध्यै फलविधि नहीं हो सकती । भट्ट कुमारिल ने लिखा है कि 'भवति' के वर्तमान अभिधायी होने से और अ० ४, पाद ४, अधिकरण ११ में एवंकाम (=स्वर्गकाम-पशुकाम आदि) शब्द से रहित की फलविधित्व का निराकरण करने से प्रधान सोमापौष्ण त्रैतयाग के फल की ही प्ररोचना के लिये कहा है ॥२२॥

विधिश्चानर्थकः··· तथात्वम् ॥२३॥

सूत्रार्थ--(च) और (क्वचित्) कहीं-कहीं [यथा—'अप्सुयोनिर्वा अश्वः'; 'अप्सुजो वेतसः'

1. द्र०—मूल पाठ की टिप्पणी १, पृष्ठ १७१ ।

अप्सुयोनिर्वा अश्वो, अप्सुजो वेतसः[1], इति अप्सुयोनिरश्वः कर्त्तव्य इति विधेरशक्यत्वादानर्थक्यम् । तत्रावश्यं स्तुतिः कल्पयितव्या—[2]शमयित्रीभिरद्भिरश्वस्य अवकानां[3] च सम्बन्धो यजमानस्य कष्टं शमयतीति । तत्सामान्यादितरेषु तथात्वं तथेति यावत्, तावत्तथात्वमिति । किं तत्सामान्यम् ? विध्यसम्भवः स्तुतिसम्भवश्च ॥२३॥

में] (विधिः) विधि [के अशक्य होने से विधि] (अनर्थकः) अनर्थक होती है । (तस्मात्) इस कारण [आनर्थक्य परिहार के लिये] (स्तुतिः) स्तुति (प्रतीयेत) जाने (=स्तुति की कल्पना करे) । (तत्सामान्यात्) इसी समानता से (इतरेषु) अन्यों में (=जहां विधि अनर्थक होवे) तथात्वम्) वैसा ही जाने (=स्तुति ही जाने) ।

व्याख्या—अप्सुयोनिर्वा अश्वः (=अश्व जलयोनिवाला=जल से उत्पन्न है), अप्सुजो वेतसः (=वेतस=बेंत जल में उत्पन्न होनेवाला है), यहां 'जल योनिवाला अश्व करना चाहिये' इस विधि के अशक्य होने से [अर्थात् जल से घोड़े को उत्पन्न न कर सकने से] विधि अनर्थक है । अतः वहां अवश्य ही स्तुति की कल्पना करनी होगी—शान्त करनेवाले जलों से अश्व और अवक का सम्बन्ध यजमान के कष्ट को शान्त करता है । इसी समानता से इतर वचनों में तथात्वम्=वैसा ही जानना चाहिये [अर्थात् स्तुति जाननी चाहिये] । वह समानता क्या है ? विधि का असम्भव होना और स्तुति का सम्भव होता ॥२३॥

विवरण—अप्सुयोनिर्वा अश्वो, अप्सुजो वेतसः ये वचन तै० सं० ५।३।१२ में अश्वमेघप्रकरण में पठित हैं । यहां आपो वै शान्ताः शान्ताभिरेवास्य शुचं शमयति वचन, जिसका भाष्यकार शमयित्रीभिरद्भि···कष्टं शमयति निर्देश करेंगे, नहीं है । यहां (=तै० सं० ५।३।१२ में) तो स्व एवैनं योनौ प्रतिष्ठापयति पाठ है । जहां चयन में (तै० सं० ५।४।४) आपो वै शान्ताः···शुचं शमयति पाठ है, वहां वेतसशाखया अवकाभिश्च विकर्षति पाठ है । इस कठिनाई को देखकर कुतुहलवृत्तिकार ने लिखा है—अप्सुयोनिर्वा अश्वोऽप्सुजो वेतसः आपो वै शान्ताः शान्ताभिरेवास्य शुचं शमयति ऐसा किसी शाखा में पढ़ा गया है (द्र०—इसी सूत्र की वृत्ति) । हमारे विचार में यह कल्पनामात्र है । भट्ट कुमारिल ने भी इस पाठ पर तत्रासङ्गतेरग्रन्थः लिखकर काचिदुन्मीलितेत्यर्थ-

---

१. तै० सं० ५।३।१२।। २. अस्य आपो वै शान्ताः शान्ताभिरेवास्य शुचं शमयति (तै० सं० ५।४।४) इति वचनं मूलम् । अत्र भाष्ये पाठभ्रंशः समजनीति प्रतीयते । यत्र तु अप्सुयोनिर्वाऽश्वोऽप्सुजो वेतसः (तै० सं० ५।३।१२), तत्र 'स्व एवैनं योनौ प्रतिष्ठापयति इति पाठः श्रूयते । आपो वै शान्ताः इति तु प्रकरणान्तरस्थस्य वेतसशाखयाऽवकाभिश्च विकर्षति इति विधिवाक्यस्यार्थवादः । भट्टकुमारिलेनाप्यत्र पाठासङ्गतिरुद्भाविता, महताऽऽयासेन च समाहिता । कुतुहलवृत्तिकारस्तु भट्टव्याख्यानेनापरितुष्य उभे वचने एकीकृत्य उदाजहार, 'क्वचिच्छाखायां श्रूयते' इत्युक्त्वा च मौनमालम्ब ।

३. 'अवकानां च' इत्यप्यसम्बद्धः पाठः, नात्र अवकाः श्रूयन्ते । अत्र 'वेतसां च' इति पाठेन भाव्यम् ।

प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षो न कल्प्येत, विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति ॥२४॥ (उ०)

इतश्च पश्यामः स्तुतिरिति। कुतः? इदं समामनन्ति––यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽशृतः स रौद्रः, यः शृतः स दैवतः। तस्मादविदहता श्रपयितव्यः स दैवतत्वाय[1] इति। यदि

वादान्तरापेक्षात् प्रवृत्तां तां दर्शयति लिखा है। अर्थात् उन्मीलित=प्रस्फुटित=प्रसिद्ध स्तुति को अर्थवादान्तर=भिन्न अर्थवाद से प्रवृत्त हुई को भाष्यकार दर्शाते हैं—आपो वै शान्ता इति। इस विषय में तन्त्रवार्तिक की टीका न्यायसुधा भी देखनी चाहिये। अश्वस्य अवकानां च यहां भी भाष्य का पाठ भ्रष्ट हुआ है। आरम्भ में जो वाक्य पढ़े हैं, उनमें अवका का उल्लेख नहीं है। अतः अवकानां च के स्थान में वेतसां च पाठ होना चाहिये। भट्ट कुमारिल और न्यासुधा के कर्ता पार्थसारथि मिश्र ने अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना करके अवकानां च पाठ की संगति लगाने की चेष्टा की है। हमारे विचार में अवकानां च को पाठभ्रंश और शमयित्रीभिरद्भिः यजमानस्य कष्टं शमयति पाठ को वेतस और अवका के सम्बन्ध में पूर्वसूत्र १० में उपस्थापित अर्थवाद की स्मृत्युपस्थिति मूलक मानना चाहिये॥२३॥

प्रकरणे च संभवन्...तं प्रति ॥२४॥

सूत्रार्थ—(प्रकरणे) प्रकरण में (च) ही (सम्भवन्) सम्भव होते हुये (अपकर्षः) आगे (=अन्यत्र) खींचना=अन्य प्रकरण से सम्बद्ध करना रूप (न) नहीं (कल्प्येत) कल्पना करनी होगी। (हि) जिस कारण [विधि मानने पर] (तं प्रति) [जिस प्रकरण में वाक्य पढ़ा है, उस] दर्शपौर्णमास के प्रति (विध्यानर्थक्यम्) विधि की अनर्थकता होगी [इसलिये स्तुति मानना युक्त है]।

व्याख्या—इससे भी जानते हैं कि स्तुति ही है। किससे? ऐसा पढ़ते हैं–यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽशृतः स रौद्रः, यः शृतः स दैवतः। तस्मादविदहता श्रपयितव्यः स देवत्वाय (=जो [पुरोडाश] विदग्ध हो गया=जल गया, वह निर्ऋति देवतावाला है, जो अशृत =कच्चा है, वह रुद्र देवतावाला है, जो शृत=अच्छे प्रकार पका हुआ है, वह देवता के योग्य है। इसलिये देवयुक्त करने के लिये बिना जलाते हुये [पुरोडाश को] पकाना चाहिये[2])। यदि यह

---

१. तैत्तिरीय संहितायां (२।६।३) इत्थित्थं पठ्यते—'यो विदग्धः स नैर्ऋतो योऽशृतः स रौद्रो यः शृतः स सदेवस्तस्मादविदहता शृतं कृत्यः सदेवत्वाय'।

२. यह पाक-विद्या के रहस्य का द्योतक वचन है। यदि रोटी जल गई, तो उसके पोषक तत्त्वों के नष्ट हो जाने से केवल कष्टप्रद ही होती हैं। यदि कच्ची रह जाये, तो उदर पीड़ा से रुलायेगी। यदि ठीक पकी है (=न जली और न कच्ची रही), तो वह शरीरस्थ देवों के लिये हितकारी है। इसलिये देवों के लिये हितकारी बनाने के लिये भोजन को यथोचितरूप से पकाना चाहिये।

स्तुतिः, दर्शपूर्णमासयोरेव श्रुतः स्ताविष्यते। तथा सम्भवन्नपकर्षो न कल्प्येत। अपकृष्यते इत्यपकर्षः। विधिपक्षे तु यत्र नैर्ऋतस्तत्र विदग्धता नीयेत। तथा सति प्रकरणं बाधितं भवेत्। दर्शपूर्णमासकर्म प्रति नैर्ऋताभावाद् विदग्धविधानमनर्थकं स्यात्। तस्मात् स्तुतिरेव ॥२४॥

विधौ च वाक्यभेदः स्यात् ॥२५॥ (उ०)

औदुम्बरो यूपो भवति इति विधावेतस्मिन्नाश्रीयमाणे, **ऊर्जोऽवरुद्ध्यै** इत्येतस्मिंश्च वाक्यं भिद्येत। इत्थम् औदुम्बरो यूपः प्रशस्तः, स चोर्जोऽवरुद्ध्यै इति। तस्माद् विधिवन्निगदानामपि स्तुतिरेव कार्यमर्थवादानामिति ॥२५॥ **इति विधिवन्निगदाधिकरणम् ॥२॥**

स्तुति है, तो दर्शपौर्णमास में ही [जहां यह वचन पठित है] पके हुये [पुरोडाश] की स्तुति करेगा। इस प्रकार (=स्तुति मानने पर) [प्रकरण में वाक्य की उपपत्ति] सम्भव होते हुये अपकर्ष (=अन्यत्र ले जाने) की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। जो खींचा जाये (=अपने स्थान से हटाकर अन्यत्र ले जाया जाये) वह अपकर्ष कहाता है। विधिपक्ष में (=इसे विधि मानने पर), तो जहां (=जिस यज्ञ में) निर्ऋति देवतावाला पुरोडाश है, वहां विदग्धता को ले जाना पड़ेगा। ऐसा होने पर [दर्शपौर्णमास का] प्रकरण बाधित होगा। दर्शपौर्णमास कर्म के प्रति निर्ऋतिदेवताक पुरोडाश के न होने से विदग्धवचन अनर्थक होगा। [इसी प्रकार योऽशृतः स रौद्रः के विषय में जानना चाहिये।] इसलिये स्तुति ही है ॥२४॥

विधौ च वाक्यभेदः स्यात् ॥२५॥

सूत्रार्थ—(च) और (विधौ) विधि मानने पर (वाक्यभेदः) वाक्यभेद [दोष] (स्यात्) होगा।

व्याख्या—औदुम्बरो यूपो भवति इसको विधि मानने पर इसका आश्रय लेने पर ऊर्जोऽवरुद्ध्यै इस [स्तुति-वाक्य] में वाक्यभेद होगा। [अर्थात् इन्हें दो वाक्य बनाकर सम्बन्ध लगाना होगा।] इस प्रकार औदुम्बर यूप प्रशस्त है, और वह उर्क् के अवरोधन के लिये है। इसलिये विधिवत् पठित अर्थवादवाक्यों का भी स्तुति ही प्रयोजन है ॥२५॥

विवरण—वाक्यभेद इस प्रकार जानना चाहिये—पहले औदुम्बरो यूपो भवति से औदुम्बर यूप का विधान किया जायेगा, और पश्चात् उस औदुम्बर यूप का फल के साथ सम्बन्ध करने में उदुम्बर-विशेषणविशिष्ट यूप का पुनः निर्देश करना पड़ेगा, इस पुनर्निर्देश को भाष्यकार ने स च पदों से दर्शाया है।

यदि औदुम्बरो यूपो भवति को विधि नहीं मानेंगे, तो औदुम्बर यूप के अविधान में प्रकृतिप्राप्त खादिर यूप प्राप्त होगा। इष्ट यहां औदुम्बर यूप ही है। इसका समाधान इस प्रकार जानना चाहिये—औदुम्बरो यूपो भवति आदि वाक्य के अर्थवाद होने पर भी स्तुति द्वारा प्रकृतिप्राप्त यूप में औदुम्बरत्व का विधान माना जायेगा।

[हेतुमन्निगदाधिकरणम् ॥३॥]

अथ ये हेतुवन्निगदाः—शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते' इत्येवमादयः,तेषु सन्देहः किं स्तुतिस्तेषां कार्यम्, उत हेतुरिति ? किं प्राप्तम्—

हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् ॥२६॥ (पू०)

हेतुः स्यादन्नकरणं होमस्य। नन्वप्रसिद्धे कार्यकारणभावे न हेतूपदेशः । सत्यमेवं लोके, विधायिष्यते तु वचनेन वेदे। शूर्पेण होमे कर्त्तव्ये अन्नकरणं हेतुरित्युपदिश्यते।

यद्यपि द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् (४।३।१) से इस प्रकार के फलश्रुति-वाक्यों का अर्थवादत्व आगे कहेंगे। अर्थवाद अनेक प्रकार के हैं। एक—ऐसे अर्थवाद हैं, जिनका यथाश्रुत अर्थ उपपन्न नहीं होता। दूसरे कुछ ऐसे हैं, जो विधि के समान भासित होते हैं। तीसरे अर्थवाद ऐसे हैं, जिनमें हेतुत्व की प्रतीति होती है। यहां क्रमशः प्रथम प्रकार के के अर्थवादों पर प्रथम अधिकरण में विचार किया है। द्वितीय प्रकार के अर्थवादों पर इस अधिकरण में विचार किया है, और तीसरे प्रकार के अर्थवादों पर अगले अधिकरण में विचार किया जायेगा। इस प्रकार पुनरुक्तिदोष नहीं है। और पुनरुक्ति हो, तब भी पुनरुक्तिमात्रत्व हेतु से आनर्थक्य नहीं माना जाता है। अनर्थक=निष्प्रयोजन पुनरुक्ति दोष मानी जाती है। सप्रयोजन पुनरुक्ति दोष नहीं मानी जाती, यह शास्त्रकारों का सिद्धान्त है (न्याय वात्स्यायन-भाष्य २।१।६०) प्रस्तुत पुनरुक्ति अर्थवादों के त्रिविधत्व का बोध कराने के लिये है। अतः इसके सार्थक होने से दोष नहीं है। भट्ट कुमारिल ने १।२।१९ के तन्त्रवार्तिक में पुनरुक्तिदोष का कई प्रकार से निराकरण किया है ॥२५॥

व्याख्या—और जो ये हेतु के समान पढ़े जाते हैं—शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते (=शूर्प से होम करता है, [क्योंकि] उससे अन्न [सिद्ध] किया जाता है इत्यादि। उनमें सन्देह है—क्या उनका स्तुति कार्य है, अथवा हेतु बताना प्रयोजन है ? क्या प्राप्त होता है—

हेतुर्वा स्याद् अर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् ॥२६॥

सूत्रार्थ—(हेतुः) हेतु [बताना] (वा) ही [प्रयोजन] (स्यात्) होवे, (अर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम्) अर्थवत्ता और [वचन की] उपपत्ति होने से। ['वा' अवधारण में है।]

व्याख्या—अन्नकरण होम का हेतु होवे। (आक्षेप) कार्यकारणभाव असिद्ध होने से (='शूर्प कारण है, अन्न बनाने का' यह अप्रसिद्ध है। इस कारण) हेतु का कथन नहीं हो सकता। (समाधान) यह सत्य है कि लोक में इस प्रकार [कार्यकारणभाव] अप्रसिद्ध है, फिर भी वेद में उक्त वचन से उस (=कार्यकारणभाव) का विधान किया जायेगा। शूर्प से होम

---

१. द्र०—शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यशनं क्रियते। शत० २।५।२।२३॥

किं प्रयोजनम् ? अन्यदपि दर्वीपिठरादि अन्नकरणं यत्, तेनापि नाम कथं होमः क्रियेतेति। कुतः ? तस्याप्यन्नक्रियायामर्थवत्ता, शक्यते च तेनाप्यन्नं कर्तुम्। एतद्धि 'क्रियते' इत्युच्यते। न हि वर्त्तमानकालः कश्चिदस्ति, यस्यायं प्रतिनिर्देशः। हेतौ च श्रुतिः शब्दः, स्तुतौ लक्षणा। यदि च दर्वीपिठरादि न साक्षादन्नं करोति, इति नान्नकरणमित्युच्यते। व्यर्थे तस्मिन् शूर्पस्तुतिरनर्थिका स्यात्। शूर्पमपि हि न साक्षादन्नं करोति। इति तेन विनाऽर्थेन शूर्पस्य स्तुतिर्नोपपद्यते ॥२६॥

स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य ॥२७॥ (उ०)

न त्वेतदस्ति शब्दपूर्वकोऽयमर्थः; अन्नकरणं हेतुरिति। शब्दश्चाऽन्नकरणं शूर्पहोमे

करने में अन्नकरण को हेतु कहा जाता है। क्या प्रयोजन है ? अन्य जो कोई भी दर्वी (=कड़छी) पिठर (=ओदनादि बनाने का पात्र बटलोई) आदि अन्न को सिद्ध करनेवाले द्रव्य हैं, उनसे भी होम किस प्रकार किया जा सके [इसलिये अन्नकरण हेतु दिया है]। किस कारण ? उस (=दर्वी पिठर आदि) की भी अन्न को सिद्ध करने में प्रयोजनता है, उनसे भी अन्न सिद्ध किया जा सकता है। (आक्षेप) यह क्रियते (=वर्तमान में किया जा रहा है) ऐसा कहा है। [फिर आप शक्यते (=दर्वी पिठर आदि से अन्न सिद्ध किया जा सकता है) ऐसा कैसे कहते हैं ?] (समाधान) कोई [शूर्प दर्वी पिठर आदि वर्तमानकालवाला (=अन्नकरण में वर्तमानक्रिया-सम्बद्ध) नहीं है, जिसका यह (=क्रियते) प्रतिनिर्देश होवे। हेतु में श्रुति (=श्रुत्यर्थक) शब्द है, स्तुति में लक्षणा होगी। और यदि [कहो कि] दर्वी पिठर आदि [वर्तमान में] अन्न को [सिद्ध] नहीं करते, इस कारण अन्नकरण नहीं कहे जा सकते [तो शूर्प के भी वर्तमानकाल में अन्नसाधक न होने से] उस (=अन्नकरणहेतु) के व्यर्थ होने पर शूर्प की भी स्तुति अनर्थक होगी। [क्योंकि] शूर्प भी साक्षात् अन्न को [सिद्ध] नहीं करता। इस कारण अर्थ (=अन्न-करण प्रयोजन) के बिना शूर्प की स्तुति भी उपपन्न नहीं होती ॥२६॥

विवरण—हमने हेतौ च श्रुतिः शब्दः, स्तुतौ लक्षणा पाठ का 'हेतु में···लक्षणा होगी' अर्थ जिस स्थान पर मूल में पठित है, वहीं किया है। परन्तु मूल भाष्यपाठ और उसका अर्थ 'अन्त में नोपपद्यते = उपपन्न नहीं होती के आगे होना चाहिये। इस वाक्य से 'हेतु में शब्द की श्रुत्यर्थता, और स्तुति में लक्षणा' दर्शाकर पूर्वपक्षी ने अपने कथन को बलवत् सिद्ध किया है। द्रष्टव्य—तन्त्रवार्तिक—'हेतौ च श्रुतिरित्यादि असम्बद्धवाक्यसम्बन्धि दोषादन्ते द्रष्टव्यम्' ॥२६॥

स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वाद् अचोदना च तस्य ॥२७॥

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये है। अर्थात् तेन ह्यन्नं क्रियते यह हेतु नहीं है। (स्तुतिः) [होमसाधन शूर्प की] स्तुति है (शब्दपूर्वत्वात्) शब्दपूर्वक होने से, (च) और (तस्य) अन्नकरणमात्र दर्वी पिठरादि की (अचोदना) विधि न होने से।

व्याख्या—यह अन्नकरण हेतु शब्दपूर्वक नहीं है [अर्थात् तेन ह्यन्नं क्रियते से 'जो-जो अन्न साधक है, वह-वह होम का साधन होवे' यह अर्थ शब्द से नहीं जाना जाता है]। [तेन ह्यन्नं

हेतुरित्याह, न च दर्वीपिठरहोमे। तेन शब्दपूर्वं शूर्पम्, न च दर्वीपिठरादेश्चोदना ॥२७॥

व्यर्थे स्तुतिरन्याय्येति चेत् ॥२८॥ ([1]आ०)

इति पुनर्यदुक्तं, तत् परिहर्त्तव्यम् ॥२८॥

अर्थस्तु विधिशेषत्वाद् यथा लोके ॥२९॥ ([1]आ०नि०)

क्रियते] शब्द तो शूर्प से होम में हेतु का निर्देश करता है, दर्वी पिठर आदि से होम में [हेतु का निर्देश] नहीं करता। इसलिये [होम में] शूर्प शब्दपूर्वक [साधन] है, और दर्वी पिठरादि की चोदना (=दर्वी पिठर आदि से होम करना चाहिये) शब्दपूर्वक नहीं है ॥२७॥

विवरण - इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है—शूर्पेण जुहोति चोदना (=विधि) शब्दपूर्वक (=वेदशब्दमूलक=प्रत्यक्ष) है। दर्वी पिठर आदि से होम करना चाहिये कथन तेन ह्यन्नं क्रियते वचन के आधार पर आनुमानिक है। शब्दपूर्वक चोदना के प्रत्यक्ष होने पर आनुमानिक चोदना उपपन्न ही नहीं होती। क्योंकि प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान दुर्बल होता है। इसलिये तेन ह्यन्नं क्रियते वचन का होमसाधन शूर्प की स्तुति में ही प्रयोजन है। अर्थात् शूर्प के अन्नसाधन होने से शूर्प अन्य साधनों की अपेक्षा प्रशस्त है। इसलिये तेन ह्यन्नं क्रियते से दर्वी पिठरादि की होमसाधनता की चोदना नहीं है ॥२७॥

व्यर्थे स्तुतिरन्याय्येति चेत् ॥२८॥

सूत्रार्थ—[तेन ह्यन्नं क्रियते के] (व्यर्थे) अर्थ [=प्रयोजन] का अभाव होने पर अर्थात् हेतुरूप प्रयोजन को स्वीकार न करने पर (स्तुतिः) स्तुति (अन्याय्या) अन्याय्य=अनुचित है, (इति चेत्) ऐसा होवे तो।

विशेष—यह आशंकान्त सूत्र है। इसका समाधान उत्तरसूत्र से दिया है। हम पूर्व (पृष्ठ १६८ में) लिख चुके हैं कि चेत् पदघटित भाग और उत्तरभाग मिलकर एकसूत्र है। भाष्यकार ने योगविभाग करके व्याख्या की है। आगे भी सर्वत्र चेत् पदान्त सूत्र के विषय में ऐसा ही जानना चाहिये।

व्याख्या—[तेन ह्यन्नं क्रियते के व्यर्थ=अप्रयोजन होने पर स्तुति मानना भी अनुचित है] ऐसा जो कहा है, उसका परिहार करना चाहिये ॥२८॥

विवरण—व्यर्थे—यहां अर्थस्य अभावः (=अर्थ का अभाव) इस अभाव अर्थ में वर्तमान वि अव्यय का अव्ययं विभक्तिसमीप० (अष्टा० २।१।६) इत्यादि सूत्र से 'अर्थ' शब्द के साथ 'अव्ययीभाव' समास जानना चाहिये। तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् (अष्टा० २।४।८४) में यहां 'ङि' विभक्ति के स्थान में 'अम्' आदेश नहीं हुआ है ॥२८॥

अर्थस्तु विधिशेषत्वात् यथा लोके ॥२९॥

सूत्रार्थ—[तेन ह्यन्नं क्रियते के] (विधिशेषत्वात्) [शूर्पेण जुहोति] विधि का शेष

---

१. आ०=आशंका, आ० नि०=आशंका निरासः, सर्वत्र ज्ञेयम्।

अस्मत्पक्षेऽर्थोऽस्ति। वाक्यशेषो हि स विधेस्तदा भवति, संवादश्च स्तुतिवचनत्वेन। यथा वयं शूर्पेणान्नं क्रियमाणं जानीमः,तथा 'शूर्पेणान्नं क्रियते' इत्येव गम्यते। तदा चावर्त्तमानं स्तोतुं वर्त्तमानमित्युपदिशति। त्वत्पक्षे एष दोषो, यस्य ते हेतुविधिः। विधौ हि न परः शब्दार्थः प्रतीयते। न च वर्त्तमानमुपदिशन् वेदः शक्यमर्थं विदध्यात्। अस्मत्पक्षे तु एष परशब्दः परत्र वर्त्तते। यथा लोके—बलवान् देवदत्तो यज्ञदत्तादीन् प्रसहते इति। प्रकृष्टबलेऽपि बलवच्छब्दो वर्त्तमानो न सिंहं शार्दूलं वाऽपेक्ष्य प्रयुज्यते, ये देवदत्तात्तु निकृष्टबलास्तान् अपेक्ष्य भवति। एवं 'तेन ह्यन्नं क्रियते' इति प्रकृष्टान्नकरणेन संस्तवः शूर्पस्य, निकृष्टान्यन्यानि अन्नकरणान्यपेक्ष्य भविष्यति ॥२९॥

होने से (अर्थः) अर्थ=स्तुति प्रयोजन (तु) तो है ही (यथा लोके) जैसे लोक में ['सिंहोऽयं देवदत्तः' में सिंह शब्द का स्व-अर्थ न होने पर भी देवदत्त की शूरता दिखलाना प्रयोजन होता है]।

व्याख्या—हमारे पक्ष में अर्थ (=प्रयोजन) है। वह उस पक्ष में विधि का वाक्यशेष होता है, और स्तुतिवचन के द्वारा [विधि के साथ] संवाद रखता है। जैसे हम शूर्प से किये जा रहे अन्न के शोधन आदि कर्म को जानते हैं,वैसे ही शूर्पेण अन्नं क्रियते वचन से यही जाना जाता है। और तब अवर्तमान [कर्म] को स्तुति के लिये वर्तमानरूप में उपदेश करता है। आपके पक्ष में यह दोष होता है, जिन आपका हेतुविधि पक्ष है। विधि में गौण अर्थ प्रतीत नहीं होता [अर्थात् गृहीत नहीं होता]। और वर्तमान [अन्नकरण] का उपदेश करता हुआ वेद शक्य (=शब्द से जानने योग्य) अर्थ का विधान नहीं करेगा। हमारे पक्ष में तो यह गौणार्थक शब्द गौण अर्थ में प्रयुक्त है। जैसे लोक में—'बलवान् देवदत्त यज्ञदत्तादि को दबाता है'। विशिष्ट बलवाले में वर्तमान बलवान् शब्द सिंह (=केसरी=बबर शेर) वा शार्दूल (=धारीदार शेर) की अपेक्षा से प्रयुक्त नहीं होता, अपितु जो देवदत्त से हीन बलवाले हैं, उनकी अपेक्षा से प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार तेन ह्यन्नं क्रियते से निकृष्ट (=साधारण) अन्य अन्नकरणों की अपेक्षा से उत्कृष्ट अन्नकरण से शूर्प की स्तुति होगी ॥२९॥

विवरण—त्वत्पक्षे एष दोषः- विधिपक्ष में शब्द के मुख्यार्थ का ग्रहण होता है। इसलिये आपके पक्ष में मुख्यान्नकरणत्व और वर्तमानत्व के अग्रहण में दोष होगा। यत्परः शब्दः स शब्दार्थः =जो शब्द जिसपरक है, वही उसका मुख्यार्थ होता है। परशब्दः परत्र वर्तते—मुख्य शब्द को कहनेवाले शब्द से भिन्न अर्थात् गौणार्थाभिधायी शब्द, परत्र=मुख्यार्थ से अन्यत्र लाक्षणिक गौण अर्थ में वर्तमान है। प्रकृष्टबले बलवच्छब्दः—भूमा (=आधिक्य) अथवा अतिशय (=सामान्य की अपेक्षा अधिक) अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय होता है। शब्दशास्त्रविशारदों का वचन है—भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुपादयः॥ महा० ५।२।९४। इससे 'बलवान्' शब्द का जितने भी प्राणी हैं, उन सब से अधिक बलवाला मुख्य अर्थ है। वैसा बलवत्व देवदत्त में नहीं है, क्योंकि सिंह शार्दूल उससे भी अधिक बलवाले है ॥२९॥

यदि च हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात् सामान्यादिति चेदव्यवस्था विधीनां स्यात् ॥३०॥ (उ०)

यद्यपि च भवेदन्नकरणं हेतुर्दर्वीपिठरप्रकाराणाम्[1], तथापि शूर्प एवावतिष्ठेत। शब्दादन्नकरणं हेतुरिति विज्ञायते । शब्दश्च शूर्पस्याह, न दर्वीपिठरादीनाम्, तद्धि निर्दिश्यते । यस्मात् शूर्पेणान्नं क्रियते, तस्मात् शूर्पेण जुहोतीति । यथा—यस्माद बलवदुपध्मातोऽग्निस्तेन मे गृहं दग्धमिति । न अनग्निरपि बलवदुपध्मातो दहतीति गम्यते। अथ मतम्—येन येनान्नं क्रियते प्रणाड्या, शूर्पादन्येनापि तेन तेनापि होमः क्रियते इति। अव्यवस्था विधीनां स्यात्, न केनचित् प्रणाड्याऽन्नं क्रियते । तत्र यावदुक्तं स्यात् 'जुहोति' इति, तावदेवाऽन्नकरणेन जुहोतीति । अस्मत्पक्षे पुनः शूर्पं स्तूयते । तेन ह्यन्नं

यदि च हेतुरवतिष्ठेत—विधीनां स्यात् ॥३०॥

सूत्रार्थ—(च) और (यदि) यदि [अन्नकरण को] (हेतुः) हेतु माना जाय, तब भी [यह हेतु शूर्प में ही (अवतिष्ठेत) स्थिर होगा, शूर्पसम्बद्ध अन्नकरण के हेतुरूप से (निर्देशात्) निर्देश होने से । (सामान्यात्) [अन्नकरण हेतु] सामान्यरूप से (इति चेत्) माना जाये, तो (विधीनाम्) विधियों की (अव्यवस्था) अनवस्था (स्यात्) होवे । अर्थात् शूर्प से होम के स्थान में दर्वी पिठर आदि जितने भी अन्नकरण हैं, सब से होम की प्राप्ति होगी।

व्याख्या— और यद्यपि अन्नकरणत्व दर्वी पिठर आदि का हेतु होवे, तब भी शूर्प में ही स्थिर होगा। [तेन ह्यन्नं क्रियते] शब्द से अन्नकरण हेतु जाना जाता है । शब्द शूर्प का [अन्नकरणत्व] कहता है, दर्वी पिठरादि का नहीं, क्योंकि यह (=शूर्प) ही निर्दिष्ट है । जिस कारण शूर्प से अन्न बनाते हैं, इस कारण शूर्प से होम किया जाता है । जैसे—जिस कारण जोर से अग्नि को धौंका, इस कारण उसने मेरा घर जला दिया । [इससे] जोर से धौंका गया अनग्नि (=अग्निभिन्न पदार्थ) भी जलाता है, यह नहीं जाता है । यदि माना जाये कि - जिस-जिस शूर्प वा अन्य से भी परम्परा से अन्न [सिद्ध] किया जाता है, उस-उससे भी होम किया जाता है।तो विधियों की अव्यवस्था होवे, [क्योंकि] कोई भी ऐसा नहीं है, जिससे परम्परा से [अन्न सिद्ध] नहीं किया जाता है । उस अवस्था में जितना अर्थ जुहोति से कहा जाता है, उतना ही 'अन्नकरण से होम करता है' का होता है । [अर्थात् जुहोति मात्र कहने पर भी किसी-न किसी पात्र से होम किया ही जायेगा । यही अभिप्राय अन्नकरणेन जुहोति का जाना जाता है ।]हमारे पक्ष में तो[अन्नकरणत्व से] शूर्प की स्तुति की जाती है । 'उससे अन्न सिद्ध करते हैं' यह तो व्यवहार का कथन है,

---

१. 'दर्वीपिठःजातीयानाम् अन्नकरणत्वं हेतुर्यद्यपि भवेत्,तथापि स हेतुः शूर्पे एव व्यवतिष्ठेत' इत्यन्वयो भाष्यविवरणे ।

क्रियते, इति वृत्तान्तान्वाख्यानम्, न च वृत्तान्तज्ञापनाय। किं तर्हि ? प्ररोचनायैव। तस्माद् हेतुवन्निगदस्यापि स्तुतिरेव कार्यमिति ॥३०॥ इति हेतुवन्निगदाधिकरणम् ॥३॥

[मन्त्राधिकरणम् ॥४॥]

अथेदानीं किं विवक्षितवचना मन्त्राः, उताविवक्षितवचनाः ? किमर्थप्रकाशनेन यागस्योपकुर्वन्ति, उतोच्चारणमात्रेणेति ? यद्युच्चारणमात्रेण, तदा न नियोगतो बर्हिर्देवसदनं दामि[1] इत्येष बर्हिर्लवने विनियुज्येत। अभिधानेन चेत्, प्रकरणेन विज्ञाताङ्गभावो नान्यत्रोपकर्त्तुं शक्नोति। इत्यन्तरेणापि वचनं [2]बर्हिर्लवन एव विनियुज्येतेति।

व्यवहार के ज्ञापन के लिये नहीं है। तो किसलिये है ? प्ररोचना (=रुचि उत्पन्न करने) के लिये ही है। इसलिये हेतुरूप से कथित [वचन] का भी स्तुति ही कार्य है ॥३०॥

—:o:—

विशेष—'मन्त्र अनर्थक हैं। वे केवल उच्चारणमात्र से यज्ञ के उपकारक होते हैं', ऐसा जैमिनि आचार्य के काल में माननेवाले याज्ञिकों का एक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया था। सम्भवतः इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक महायाज्ञिक कौत्स रहा होगा। क्योंकि यास्क ने मन्त्रों के आनर्थक्य-प्रतिपादक के रूप में कौत्स का निर्देश किया है— **यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनायानर्थको भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः** (निरुक्त १।१५)। यास्क ने कौत्स के मन्त्रों को अनर्थक सिद्ध करनेवाले हेतुओं को उद्घृत करके उनका युक्तियुक्त खण्डन करके मन्त्रों की अर्थवत्ता सिद्ध की है। भगवान् जैमिनि ने भी कौत्स के मन्त्रानर्थक्य मत के खण्डन के लिये ही यह अधिकरण रचा है। निरुक्त और प्रकृत अधिकरण में उपस्थित कौत्स के हेतु और उनके उत्तर प्रायः समान हैं। इसलिये इस प्रकरण के साथ निरुक्त अ० १, खण्ड १५—१६ का भी अनुशीलन करना चाहिये।

व्याख्या—अब विचार किया जाता है कि मन्त्र विवक्षित (=शब्दों से प्रतीयमान) अर्थ को कहनेवाले हैं, अथवा अविवक्षितवचन (=किसी अर्थ को प्रकाशित नहीं करनेवाले) हैं=अर्थात् अनर्थक हैं ? क्या [मन्त्र] अर्थ के प्रकाशन के द्वारा याग का उपकार करते हैं, अथवा उच्चारणमात्र से ? यदि उच्चारणमात्र से उपकारक होते हैं, तब बर्हिर्देवसदनं दामि (=देवसदन=जिस पर देव=यज्ञीय हवि वा पात्र रखे जाते हैं, उस बर्हि=कुशा को मैं काटता हूं) यह मन्त्र कुशा के काटने में नियम से विनियुक्त न होवे [अर्थात् कुशालवन कर्म से अन्य कर्म में भी विनियुक्त होवे]। और यदि अर्थ के कथन द्वारा याग का उपकारक होवे, तो प्रकरण से जिस मन्त्र के जिस कर्म का अङ्गभाव विज्ञात होता है, उससे अन्य कर्म का उपकारक नहीं हो सकता।

---

१. मै० सं० १।१।२; ४।१।२॥

२. 'बर्हिर्दाति' इति विनियोजकं वचनम्। यथा—बर्हिर्देवसदनं दामीति सवितृप्रसूत एव देवताभिर्दाति। मै० सं० ४।१।२॥

तदेवमवगच्छामः। उच्चारणमात्रेणैवोपकुर्वन्तीति। कुतः ?

तदर्थशास्त्रात्[1] ॥३१॥ (पू०)

तदर्थशास्त्रात्—यदभिधानसमर्थो मन्त्रस्तत्रैवैनं शास्त्रं निबध्नाति। उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति[2] इति। वचनमिदमनर्थकम्, यद्यर्थाभिधानेनोपकुर्वन्ति। अथो-

---

अतः बिना [ब्राह्मण] वचन के भी बर्हि के काटने में ही विनियुक्त होवे। इससे हम यह जानते हैं कि उच्चारणमात्र से ही [मन्त्र यज्ञ का] उपकार करते हैं। किस कारण से ?

विवरण—अन्तरेणापि वचनम्—बर्हिर्देवसदनं दामि मन्त्र को कुशा के काटने में विधान करनेवाला वचन इस प्रकार है—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां बर्हिर्देवसदनं दामि इति सवितृप्रसूत एवैनद्देवताभिर्दाति (मै० सं० ४।१।२)। दाति='दाप् लवने' (अदादिगण) का विध्यर्थक लेट् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप है।

तदर्थशास्त्रात् ॥३१॥

सूत्रार्थ—[मन्त्रार्थ से तत्तत् कार्यविशेष में मन्त्रों का विनियोग प्राप्त होता है। परन्तु (तदर्थशास्त्रात्) उस मन्त्र-विनियोग के लिये शास्त्र=ब्राह्मणवचन की उपलब्धि होने से विदित होता है कि मन्त्र अनर्थक है।

विशेष—जैमिनि का मूल सूत्रपाठ इस प्रकार है—तदर्थशास्त्राद् वाक्यनियमाद् बुद्धशास्त्रादविद्यमानवचनादचेतनार्थबन्धनादर्थविप्रतिषेधात् स्वाध्यायवदवचनादविज्ञेयादनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्। इस सूत्र के अन्तिम पद 'मन्त्रानर्थक्यम्' का सम्बन्ध प्रत्येक पञ्चम्यन्त भाग के साथ जानना चाहिये। भाष्यकार ने सुगमता से अर्थज्ञान के लिये प्रत्येक पञ्चम्यन्त भाग को विभक्त करके उसकी स्वतन्त्र सूत्र के रूप में व्याख्या की है।

व्याख्या—तदर्थशास्त्र होने से—जिस अर्थ को कहने में समर्थ है, उसी में इसको शास्त्र बांधता है। उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति (=हे बहुत फैलनेवाले पुरोडाश! तुम बहुत फैलो, [इस मन्त्र को बोलकर] पुरोडाश को [अध्वर्यु कपाल पर जितना कपाल है उतना] फैलाता है। [यहां पुरोडाशं प्रथयति] यह वचन अनर्थक होवे, यदि [मन्त्र] अर्थ के कथन द्वारा कर्म का उपकार करते हैं। [क्योंकि 'पुरोडाश प्रथित होवे' इस मन्त्र से ही पुरोडाश को फैलाना चाहिये, यह अर्थ जान लिया जाता है]। यदि मन्त्र उच्चारणमात्र से कर्म का उपकार करते हैं, [अर्थात् प्रथनरूप अर्थ का बोध उक्त मन्त्र नहीं कराता है] तो विनियोग [पुरोडाशं प्रथयति] कहना चाहिये, और कहा भी है। इस कारण मन्त्र के अर्थ के कथन द्वारा

---

१. इत आरभ्य 'अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्' (३९) इति यावदेकसूत्रम्। भाष्यकृता तु सूत्रं विभज्य प्रतिभागं पञ्चम्यन्तं पठित्वा सुगमतायै व्याख्यातम्।

२. तु०—तं प्रथयति—उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति प्रथयति। श० ब्रा० १।२।२।८॥

च्चारणमात्रेण, ततो वक्तव्यो विनियोगः, उक्तश्च । अतो नार्थाभिधानेन[1] । यथा साक्षः पुरुषः परेण चेन्नीयते, नूनमक्षिभ्यां न पश्यतीति गम्यते ।

नन्वर्थवादार्थं भविष्यतीति चेत्, न हि, 'येन विधीयते तस्य वाक्यशेषोऽर्थवादः' इत्युक्तम्[2] । न च निरपेक्षेण विहिते अर्थवादेन किञ्चिदपि प्रयोजनं क्रियते । अतो नार्थवादार्थं वचनम् ।

कर्म का उपकार नहीं करते । जैसे—कोई आंखोंवाला पुरुष अन्य से [हाथ पकड़कर] ले जाया जाता है, तो निश्चय ही यह जाना जाता है कि यह पुरुष आंख से नहीं देखता है । [इसी प्रकार यहां भी यदि मन्त्र का कर्मविशेष ब्राह्मणवचन से किया जाता है, तो यही जाना जाता है कि मन्त्र अर्थ का कथन नहीं करते, अर्थात् अर्थरहित हैं ।] ।

विवरण—दर्शपौर्णमास आदि अनेक यागों में व्रीहि का पुरोडाश बना कर आहुतियां दी जाती हैं । व्रीहि (=धान) को कूटकर छिलका निकालने से लेकर पुरोडाश पकाने तक की एक लम्बी विधि है । यह श्रौतसूत्रों में दर्शपौर्णमास प्रकरण में देखनी चाहिये । पुरोडाश व्रीहि के गूंदे हुये आटे की 'बाटी' के आकार के पिण्ड का नाम है । उसे मिट्टी की विशेष आकार-प्रकार की पकी हुई ठीकरियों, जिन्हें कपाल' कहा जाता है, में रखकर अध्वर्यु उन्हें फैलाता है, और कपालों को अग्नि पर रखकर पुरोडाश को पकाया जाता है । ऊपर से गरम राख डाल दी जाती है । जिन प्रान्तों में 'बाटी' बनाने का रिवाज है, वे जानते ही हैं कि गोल बाटी बनाकर हथेली पर रखकर अंगूठे से दबा देते हैं, जिससे गोलाई दूर होकर वह कुछ फैल जाती है । उसे कण्डों की आग पर कुछ देर सेकने के पश्चात् गरम राख से ढक देते हैं, जिससे वह जले भी नहीं और पक भी जाये । यज्ञीय पुरोडाश की सम्पूर्ण विधि समन्त्रक होती है । उसे फैलाते समय अध्वर्यु मन्त्र पढ़ता है— उरुप्रथा उरु प्रथस्व (यजुः १।२२) ।

उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति यह भाष्योक्त पाठ इसी रूप में उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं मिलता । इस अभिप्राय के वचन बहुत्र उपलब्ध होते हैं । यथा—उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति प्रथयति (शत० १।२।२।८); उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम् इति प्रथयत्येवेनम् (मै० सं० ४।१।६) ॥

व्याख्या—यदि कहो कि [पुरोडाशं प्रथयति वचन] अर्थवाद के लिये होवे, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि जिससे विधान किया जाता है उसका, अर्थात् विधिवाक्य का वाक्यशेष अर्थवाद होता है' ऐसा पूर्व कहा है । और [अर्थवाद की] अपेक्षा न रखनेवाले [विधिवाक्य से] विधान होने पर अर्थवाद से कुछ भी प्रयोजन [सिद्ध] नहीं किया जाता [अर्थात् अर्थवादवचन निष्प्रयोजन है] । इसलिये [पुरोडाशं प्रथयति] वचन अर्थवाद के लिये नहीं है ।

---

१. 'उपकुर्वन्ति मन्त्राः' इति शेषः । २. द्र०—मीमांसासूत्रम् १।२।७॥

तथाऽभ्र्यादानसमर्था मन्त्रा उदाहरणम् । लिङ्गादेव आदाने प्राप्ता वचनेन विधीयन्ते—तां चतुर्भिरादत्ते[1] इति । चतुःसंख्यार्थमिति चेन्न । समुच्चयशब्दाभावात् ।

तथा इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते[2] इत्युदाहरणम् । रशनादाने प्राप्तस्य रशनादाने एव शास्त्रं विनियोजकम् । तद् विवक्षितार्थत्वे न घटेतेति । ननु

तथा अभ्रि (=मिट्टी खोदने का कीला) के ग्रहण [=प्रकाशन में] समर्थ [देवस्य त्वा इत्यादि यजु: ११।९-१३] मन्त्र उदाहरण हैं । [इन मन्त्रों में पठित आददे रूप अभ्र्यादानसमर्थ] लिङ्ग से ही अभ्रि के हाथ में ग्रहण में प्राप्त हुये [चारों मन्त्रों का] तां चतुर्भिरादत्ते वचन से विधान किया जाता है।यदि कहो कि चार संख्या के विधान के लिये होवे, तो यह कहना ठीक नहीं । [क्योंकि बिना चतुर्भिरादत्ते वचन के भी उन मन्त्रों में चार संख्या आदानसामर्थ्यरूप से ही प्राप्त है । यदि कहो कि आददे आदि लिङ्ग से चारों मन्त्रों की विकल्प से प्राप्ति होगी । अतः चारों मन्त्रों के समुच्चय के लिये चतुर्भिरादत्ते वचन होगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि तां चतुर्भिरादत्ते में] समुच्चायक कोई शब्द नहीं है ।

विवरण—इत्युक्तम्—'अर्थवादवचन विधिवाक्य के साथ ही सम्बद्ध होते हैं' यह विधिना त्वेकवाक्यत्वात् (१।२।७) सूत्र से कह चुके हैं । अभ्रि--प्रकृतियाग (=दर्शपौर्णमास) में खैर के काष्ठ की २२ वा २४ अङ्गुल प्रमाण की तीक्ष्णमुखा (=अगले भाग में तीखी) अभ्रि होती है । प्रकृत अग्निचयन कर्म में बांस की अभ्रि बनाई जाती है । कुछ आचार्यों के मत में अभ्र्यादान मन्त्र (यजु: ११।११)में अभ्रि हिरण्ययीम् निर्देश से सोने की अभ्रि भी बनाई जाती है । तां हैके हिरण्मयीं कुर्वन्ति । शत० ६।३।१।४२।। अभ्र्यादानसमर्था मन्त्रा:—पूर्वपक्षी ने यह बात प्रतिवादी (=सिद्धान्ती) के मत को दोष निदर्शनार्थ अभ्युपगम सिद्धान्त[3] से स्वीकार करके कही है । ऐसा ही इस प्रकरण में सर्वत्र समझें । चतुर्भिरादत्ते—यह वचन अग्निचयन कर्म में पठित है (शत० ६।३।१।४३) । इसमें आहवनीय के पूर्व दिशा में 'उखा' नामक चतुष्कोण खोदे हुये गड्ढे को भरने के लिये ग्राम से बाहर जो छप्पड़ (=तलैया) हो, वहां से मिट्टी खोदकर लाई जाती है ।।

व्याख्या—और इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य (=ऋत=अश्व की इस लगाम को पकड़ा) इस मन्त्र से अश्वाभिधानीमादत्ते (=अश्व की लगाम को पकड़ता है) यह उदाहरण है । लगाम के पकड़ने में [स्व-अर्थ से ही] प्राप्त मन्त्र का लगाम के पकड़ने में ही शास्त्र विनियोजक है । वह (=लगाम के पकड़ने में विनियोग करने का विधायक वचन) [मन्त्र के] विवक्षित अर्थवाला होने पर सम्बद्ध नहीं होवे । [यदि अश्वाभिधानीमादत्ते वचन गदहे की

---

१. श० ब्रा० ६।३।१।४३।। २. तै० सं० ५।१।२।।

३. अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः (न्यायदर्शन १।१।३१) किसी अपरीक्षित (=जिसकी प्रमाणों से परीक्षा नहीं की है) ऐसे कथन को स्वीकार करके उस की विशेष परीक्षा करना 'अभ्युपगम सिद्धान्त' कहाता है । इसमें पूर्वपक्षी के सिद्धान्त में 'आप की बात यदि मान भी लें, तब भी इसमें यह दोष उपस्थित होता है' कहकर दोष दर्शाया जाता है ।

गर्दभरशनां परिसंख्यास्यति[1], न शक्नोति परिसंख्यातुम् । परिसञ्चक्षाणो हि स्वार्थं च जह्यात्, परार्थञ्च कल्पेत, प्राप्तं च बाधेत । तस्मान्न विवक्षितवचना मन्त्राः । अतो न प्रमाणम्—बर्हिर्देवसदनं दामि[2] इत्यस्य रूपं बर्हिर्लवने विनियोगस्य ॥३१॥

वाक्यनियमात् ॥३२॥

लगाम पकड़ने का] निषेध करे, तो यह [गर्दभरशना पकड़ने का] निषेध नहीं कर सकता । निषेध करनेवाला [माना जाये, तो] स्वार्थ (='अश्व की लगाम पकड़ता है' इस अर्थ) का त्याग करे, परार्थ (=जो अश्वाभिधानीमादत्ते का 'गदहे की लगाम न पकड़े' रूप अर्थ नहीं है, उस अर्थ) की कल्पना करे और [इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य मन्त्र लगाम सामान्य को पकड़ने का विधायक होने से जो गदहे की लगाम पकड़नारूप] प्राप्त अर्थ को बाधित करे । इसलिये मन्त्र विवक्षित अर्थ को कहनेवाले नहीं हैं । इसलिये बर्हिर्देवसदनं दामि मन्त्र का रूप कुशा के काटने में विनियोग का प्रमाण (=प्रमापक=बोधक) नहीं है ॥३१॥

विवरण—इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते यह वचन पूर्व अभ्र्यादान प्रकरण में ही पठित है । खोदी हुई मिट्टी को लाने के लिये घोड़े को लगाम पकड़कर और गदहे का विना लगाम के ले जाते हैं । शास्त्र में विधि नियम और परिसंख्यारूप तीन विधियां होती हैं । इनका लक्षण इस प्रकार है—विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति कीर्त्यते ॥ (तन्त्रवार्तिक १।२।३४, क्वचित् 'गीयते' पाठा०) । अत्यन्त (=सर्वथा) अप्राप्ति में जो विधान किया जाता है, वह 'विधि' कहाती है । दो समबल की उपस्थिति में विकल्प प्राप्त होने पर एक का नियमन करना 'नियमविधि' कहाती है । तत्र (=जहां इष्ट है, वहां) तथा अन्यत्र (=जहां इष्ट नहीं है, वहां दोनों में) प्राप्ति होने पर अनिष्ट के परित्याग का विधान करना 'परिसंख्या विधि' कहाती है । इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य मन्त्र को अर्थवान् मानने पर अगृभ्णन् पद से घोड़े और गदहे दोनों की लगाम पकड़ने की प्राप्ति होती है । अश्व की लगाम पकड़ना इष्ट है, और गदहे की लगाम पकड़ना इष्ट नहीं है । ऐसी अवस्था में अश्वाभिधानीमादत्ते वचन अश्व की लगाम पकड़ने का विधान करता है । मन्त्र-सामर्थ्य से अश्व की लगाम पकड़ना प्राप्त ही है । अतः इसका तात्पर्य 'गदहे की लगाम न पकड़े' रूप अर्थ को कहने में मानना पड़ेगा । इस प्रकार परिसंख्या मानने में जो तीन दोष उपस्थित होते हैं, उनका स्पष्टीकरण ऊपर भाष्य-व्याख्या में कर दिया है ॥३१॥

वाक्यनियमात् ॥३२॥

सूत्रार्थ—[मन्त्रों में] (वाक्यनियमात्) वाक्य का नियम होने से जाना जाता है कि मन्त्र अनर्थक हैं ।

---

१. द्र०—विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति कीर्त्यते ॥ तन्त्रवार्तिक १।२।३४॥

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ १८१, टि० १, २ ।

नियतपदक्रमा हि मन्त्रा भवन्ति । अग्निर्मूर्द्धा दिवः[1] इति न विपर्ययेण । यद्यर्थ-प्रत्यायनार्थाः, विपर्ययेणाप्यर्थः प्रतीयते । इति नियमोऽनर्थकः स्यात् । अथोच्चारण-विशेषार्थाः, विपर्यये अन्यदुच्चारणम् । इति नियम आश्रीयते।तेन यतरस्मिन् पक्षे नियमो-ऽर्थवान्, स नूनं पक्ष इति । नन्वर्थवत्स्वपि नियमो दृश्यते । यथा—इन्द्राग्नी इति । युक्तं तत्र तत्, विपर्ययेऽर्थप्रत्ययाभावात् ॥३२॥

बुद्धशास्त्रात् ॥३३॥

व्याख्या—मन्त्र नियत-पद-क्रमवाले होते हैं। 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' यह पदों के विपर्यय से [प्रयुक्त नहीं होता] । यदि [मन्त्र] अर्थ का बोध कराने के लिये हैं, तो [पदों के] विपर्यय (=मूर्द्धाग्निर्दिवः अथवा दिवोऽग्निर्मूर्द्धा आदि) से भी अर्थ जाना जाता है । अतः [पद-क्रम का] नियम अनर्थक होवे । और यदि उच्चारण के लिये ही मन्त्र होवें, तो विपर्यय [से उच्चारण] में उच्चारण भिन्न होवे । इस कारण [मन्त्रों के नियत पद-क्रम से उच्चारण के] नियम का आश्रयण किया जाता है । इसलिये [मन्त्रों को अर्थवान् मानने वा अनर्थक मानने में से] जिस पक्ष में नियम अर्थवान् होवे, निश्चय से वही पक्ष [मानने योग्य] है । (आक्षेप) अर्थवान् [लौकिक पदों] में भी [उच्चारण का] नियम देखा जाता है । जैसे—इन्द्राग्नी । (समाधान) वहां (=लौकि अर्थवान् पदों में) वह नियम युक्त है, विपर्यय से अर्थ का ज्ञान न होने से ॥३२॥

विवरण—इन्द्राग्नी—'अग्नि' और 'इन्द्र' के द्वन्द्वसमास में अजाद्यदन्तम् (अष्टा० २।२।३३) से नियमतः पूर्व निपात होता है । यह लौकिक उदाहरण है । **विपर्यये अर्थप्रत्ययाभावात्**—का अभिप्राय है—अग्नीन्द्रौ से लोक में प्रयोग के अभाव से अर्थ का परिज्ञान नहीं होता । जैसे निर्वाराणसिः (=वाराणसी से जो पुरुष निकल गया) को यदि विपरीत करें—वाराणासीनिः, तो इसमे कोई अर्थ ज्ञात नहीं होता । अथवा **अर्थप्रत्ययाभावात्** का अर्थ यह भी हो सकता है कि 'जिस विशिष्ट अर्थ को बोधन कराने के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसका बोध नहीं होता । यथा **राजपुरुषः** का अर्थ है—'राजा का पुरुष' । यदि इसी अर्थ में **पुरुषराजः** का प्रयोग करें, तो उक्त अर्थ ज्ञात नहीं होगा । और उसके स्थान पर पुरुष है राजा जिसका' अर्थ प्रतीत होगा । यद्यपि द्वन्द्वसमास सहवचन=इतरेतरयोग में होता है । इससे द्वन्द्वसमास में सभी पदों की प्रधानता मानी जाती है—**उभयपदप्रधानो द्वन्द्वः** । इस दृष्टि से इन्द्राग्नी अथवा अग्नीन्द्रौ में कोई अर्थभेद नहीं होता । तथापि **अजाद्यदन्तम्** नियम से इन्द्र के पूर्वनिपात का नियम होने से **अग्नीन्द्राभ्याम्** (यजुः ७।३२) में 'अग्नि' का पूर्व प्रयोग **अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति** (महा० २।२।३४) के नियम से अग्नि के अभ्यर्हितत्व=पूजितत्व की विवक्षा से होता है । जैसे—मातापितरौ में 'माता' का (द्र०—तन्त्रवार्तिक) ॥३२॥

बुद्धशास्त्रात् ॥३३॥

सूत्रार्थ—[कर्म का] (बुद्धशास्त्रात्) ज्ञान होने पर शास्त्र (=शासन-वचन) के होने से जाना जाता है कि मन्त्र अनर्थक है ।

१. ऋ० ८।४४।१६॥

बुद्धे खल्वपि पाठादर्थे तदभिधानसमर्थो मन्त्रो भवति—'अग्नीदग्नीन् विहर' इति। स बुद्धे किं बोधयेत्? अथ नु उच्चारणविशेषार्थाः, बुद्धेऽप्युच्चारणविशेषोऽवकल्प्येतेति। ननु पुनर्वचनात् संस्कारविशेषो भविष्यति। एवमस्मत्पक्षमेवाश्रितोऽसि। वचनमुच्चारणम्, तद्धि शक्यते कर्त्तुम्, नार्थप्रत्यायनम्। तत्प्रतीतेऽशक्यम्। यथा—सोपानत्के पादे द्वितीयामुपानहमशक्यत्वान्नोपादत्ते ॥३३॥

अविद्यमानवचनात् ॥३४॥

विशेष—सूत्रार्थ भाष्य के अनुसार है। यास्क के जानन्तं संप्रेष्यति—अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि (=कर्म को जानते हुये को प्रैष देता है—समिध्यमान अग्नि के लिये सामधेनी मन्त्रों को पढ़ो) निरुक्त १।१५ के वचनानुसार सूत्र का अर्थ होगा—'(बुद्धशास्त्रात्) कर्म को जानने के प्रति शास्त्र=शासन के होने से जाना जाता है कि मन्त्र अनर्थक हैं।' बुद्धस्य शास्त्रात्=बुद्धशास्त्रात्। कर्म में षष्ठी। कृद्योगा च षष्ठी समस्यते (महा० २।२।८) वार्तिक से षष्ठीसमास होता है।

व्याख्या—पाठ से (=अध्ययन से) [क्रियमाण कर्मरूप] अर्थ के ज्ञान होने पर उसी अर्थ को कहने में समर्थ मन्त्र होता है—अग्नीदग्नीन् विहर (=हे अग्नीत्! अग्नियों का विहरण करो)। यह मन्त्र [कर्म के] जाननेवाले को क्या ज्ञान करायेगा? और यदि [मन्त्र] उच्चारण-विशेष (=उच्चारणनियम) के लिये हैं, तो [कर्म का] ज्ञान होने पर भी उच्चारणविशेष की कल्पना हो सकेगी। (आक्षेप) पुनर्वचन (=अर्थ के ज्ञात होने पर भी उसी अर्थवाले वचन के होने) से [अग्नीत् में अदृष्ट] संस्कारविशेष उत्पन्न होगा। (समाधान) इस प्रकार तो आप हमारे पक्ष को ही आश्रय करनेवाले (=माननेवाले) हो गये। मन्त्रोच्चारण से संस्कारविशेष किया जा सकता है, अर्थ का ज्ञान नहीं किया जा सकता। उस अर्थ के प्रतीत होने पर [अर्थ का ज्ञान करना] अशक्य है। जैसे—जूते पहने हुये पैर में दूसरा जूता पहनना अशक्य होने से ग्रहण नहीं करता (=नहीं पहनता) ॥३३॥

विवरण—**बुद्धे पाठादर्थे**—का भाव यह है कि कर्म कराने का अधिकार उस कर्म को अच्छे प्रकार जाननेवाले का ही है। इस सिद्धान्त का जैमिनि ने ज्ञाते च वाचनं नह्यविद्वान् विहितोऽस्ति (३।८।१८) सूत्र से प्रतिपादन किया है। **विहर**—यह विधि सोमयाग की है। 'वहिष्पवमान' स्तोत्र के अन्त में अध्वर्यु अग्नीत् ऋत्विक् को अग्नीदग्नीन् विहर मन्त्र से आग्नीध्रीय अग्नि से अङ्गारों को धिष्ण्य-संज्ञक स्थानों में ले जाने का आदेश देता है (द्र०—का० श्रौ० ९।७।४)। **उच्चारणविशेषार्थाः**—इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्र से अथवा अमन्त्र से किसी से भी करिष्यमाण कर्म को स्मरण कराया जा सकता है। उसमें 'उच्चारण से ही क्रियमाण कर्म को स्मरण करावे' इस नियम के लिये मन्त्र हैं ॥३३॥

अविद्यमानवचनात् ॥३४॥

सूत्रार्थ—[मन्त्र द्वारा लोक में] (अविद्यमानवचनात्) अविद्यमान पदार्थ का कथन करने से जाना जाता है कि मन्त्र अनर्थक हैं।

---

१. तै० सं० ३।६।१; मै० सं० ३।८।१०; श० ब्रा० ४।२।५।११॥

यज्ञे साधनभूतः प्रकाशयितव्यः । न च तादृशोऽर्थोऽस्ति, यादृशमभिदधति केचन[1] मन्त्राः । यथा—चत्वारि शृङ्गा[2] इति । न हि चतुःशृङ्गं त्रिपादं द्विशिरस्कं सप्तहस्तं[2] किञ्चिद् यज्ञसाधनमस्ति । तदत्राभिधानार्थः किमभिदध्यात् ? उच्चारणार्थे त्ववकल्प्यते । तथा—मा मा हिंसीः[3] इत्यसत्यामपि हिंसायां किमभिदध्यात् ॥३४॥

अचेतनार्थबन्धनात्[4] ॥३५॥

व्याख्या—[मन्त्र को] यज्ञ में साधनभूत [अर्थ] का प्रकाशन करना चाहिये । वैसा कोई अर्थ [लोक में] नहीं है, जैसे को कुछ मन्त्र कहते हैं । यथा—चत्वारि शृङ्गा [त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश (ऋ० ४।५८।३) [=चार सींग, तीन पैर, दो शिर, सात हाथ इसके है । तीन स्थानों में बंधा हुआ वृषभ पुनः पुनः शब्द करता है । ऐसा महादेव मर्त्यों में प्रविष्ट हुआ] । चार सींगोंवाला, तीन पैरोंवाला, दो शिरवाला, सात हाथोंवाला कोई यज्ञ का साधन नहीं है । तो यहां अभिधान करनेवाला मन्त्र किस को कहेगा ? उच्चारणार्थ मन्त्र को मानने पर [उच्चारणरूप प्रयोजन] तो समर्थ होता है । तथा—मा मा हिंसीः (=हे उस्तरे ! मेरी हिंसा मत कर) मन्त्र हिंसा के न होने पर भी क्या कहेगा ? ॥३४॥

विवरण—चत्वारि शृङ्गा मन्त्र मै० सं० १।६।२ में अग्न्याधान-प्रकरण में अग्नि के उपस्थान में विनियुक्त है । आपस्तम्ब श्रौत ५।१७।४ में अग्न्याधान-प्रकरण में इस मन्त्र से अग्नि में घृत से सनी हुई तीन सामधाओं को छोड़ने का विधान है । यह विनियोग मन्त्रार्थ के अनुरूप नहीं है। इसी अर्थ का कथन पूर्वपक्षी ने 'मन्त्रोक्त प्रकार का कोई यज्ञसाधन नहीं है' शब्दों से दर्शाया है। मा मा हिंसीः मन्त्र चातुर्मास्य में यजमान के केशवपन में विनियुक्त है (द्र०—का० श्रौत ५।२।१७)। केशों के काटने में हिंसा होती ही नहीं है, तब मा मा हिंसीः=हिंसा का प्रतिषेध क्या करेगा ? ॥३४॥

अचेतनार्थबन्धनात् ॥३५॥

सूत्रार्थ—[मन्त्रों में] (अचेतनार्थबन्धनात्) अचेतन पदार्थों में अर्थ=याञ्चा=मांग का निबन्धन होने से जाना जाता है कि मन्त्र अनर्थक हैं।

विशेष—'अर्थ' शब्द में अर्थ उपयाञ्चायाम् (चुरादि ३२६) से कर्म में 'घञ्' प्रत्यय जानना

---

१. 'केचन मन्त्राः' इति क्वचिद् भाष्यपुस्तकेषु नोपलभ्यते । तथा सत्यध्याहार्योऽयं पाठः ।

२. चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । ऋ० ४।५८।३॥ अस्य मन्त्रस्याग्न्युपस्थाने विनियोगः । द्र०—मै० सं० १।६।२॥ ३. यजु० ३।६३॥

४. क्वचित्—'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' इत्येवं पठ्यते । एतेषामेकसूत्रत्वात् (द्र०—पृष्ठ १८२, टि० १) 'अचतने' विभक्तियोगस्याननुगुणत्वादपपाठोऽयम् । द्रष्टव्यात्र कुतुहलवृत्तिः ।

अचेतनेऽर्थे खल्वर्थं निबध्नन्ति—**ओषधे त्रायस्वैनम्**[1] इति । अभिधानेनोपकुर्वन्त एवञ्जातीयका ओषधिं पशुत्राणाय प्रतिपादयेयुः । न चासावचेतना शक्या प्रतिपादयितुम् । उच्चारणार्थे तु नैष दोषो भवति । तस्मादुच्चारणार्थाः । **शृणोत ग्रावाणः**[2] इति चोदाहरणम् ।।३५।।

चाहिये । अनेक भाष्यपुस्तकों में सूत्र का **अचेतनेऽर्थबन्धनात्** पाठ मिलता है । यद्यपि अर्थ में भेद नहीं पड़ता, तथापि पूर्व पृष्ठ १८२ विवरण में निर्दिशित पूर्वपक्ष सूत्रपाठ में एकरूपता के उपपन्न न होने से भाष्यग्रन्थों में मुद्रित पाठ अशुद्ध है । क्योंकि उस पाठ में **तदर्थशास्त्रात्** से लेकर **अनित्यसंयोगात्** पर्यन्त सब समासघटित पञ्चम्यन्त पद हैं । उनके मध्य में **अचेतने** असमस्त सप्तम्यन्त पाठ नहीं हो सकता है । द्र०—इस सूत्र की कुतुहलवृत्ति ।

व्याख्या—[मन्त्र] **अचेतन अर्थ में** अर्थ=याच्ञा=प्रार्थना का **निबन्धन करते हैं**—ओषधे त्रायस्वैनम् (=हे दर्भ नामक ओषधे ! इसकी रक्षा करो) । **अर्थकथन द्वारा** [कर्म का] **उपकार करते हुये इस प्रकार के मन्त्र ओषधि के पशु की रक्षा के लिये प्रतिपादक होवें। और यह अचेतन**=ओषधि **पशु की रक्षा की प्रतिपादिका** अर्थात् रक्षिका **नहीं हो सकती** । [मन्त्रों का] **उच्चारण प्रयोजन होने पर तो यह दोष नहीं होता । इसलिये** [मन्त्र] **उच्चारणार्थ ही हैं । और** [इस सूत्र का] शृणोत ग्रावाणः (=हे सोम को कूटनेवाले पत्थरो ! सुनो) **यह भी उदाहरण है** ।।३५।।

विवरण—**ओषधे त्रायस्वैनम्** मन्त्र तैत्तिरीयसंहिता १।२।१; १।३।५; ६।३।३; ६।३।९ इन चार स्थानों में पठित है । इनमें प्रथम स्थान (तै० सं० १।२।१) में यह मन्त्र अग्निष्टोम में यजमान के केश काटते समय केशों पर कुशा रखने में दूसरे स्थान (तै० सं० १।३।५) में, तथा तीसरे स्थान (तै० सं० ६।३।३) में यूपच्छेदन के समय वृक्ष पर कुशा के दो तृण रखने में, तथा चौथे स्थान (तै० सं० ६।३।९) में पशु का पेट छेदन करते समय कुशा के दो तृण रखने में विनियुक्त है । इसी प्रकार मैत्रायणी संहिता १।२।१ में यजमान के दीक्षा-प्रकरण में पाठ, तथा ३।६।२ में केशवपन करते समय केशों पर कुशा के तृण रखने के विनियोग, १।२।१४ में यूपच्छेदन में पाठ, तथा ३।९।२ में वृक्ष को काटते हुये उस पर कुशा के दो तृण रखने में विनियोग; और १।२।१६ में पशु-प्रकरण में पाठ, तथा ३।१०।१ में पशु का पेट छेदन करते समय कुशा के दो तृण रखने में विनियोग दर्शाया है । इस विषय में आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्र भी देखने चाहियें । इसी प्रकार शुक्ल यजुः ४।१; ५।४२; ६।१५ में पठित मन्त्र शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार क्रमशः यजमान के केशवपन, यूपछेदन और पशुच्छेदन के समय कुशतृण रखने में विनियुक्त हैं । इन तीन विनियोगों में तृतीय विनियोग विशेष विचारणीय है । इस पर हमने इस भाग के साथ पूर्वमुद्रित **श्रौतयज्ञ-मीमांसा** में पशुयाग-प्रकरण में विस्तार से विचार किया है । अतः पाठक इस विषय में वहीं देखें । ०

---

१. तै०सं० ६।३।९।। अन्यत्र केशवपने यूपच्छेदने चापि विनियुज्यते । क्रमशः द्र०—१।२।१; १।३।५ तथा ६।३।३।। २. द्र०—तै० सं० १।३।१३।।

अर्थविप्रतिषेधात् ॥३६॥

अर्थविप्रतिषेधोऽपि भवति—**अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्**[1] इति । सैव द्यौः, तदेवान्तरिक्षमिति, को जातुचिदवधारयेत् ? अनवधारयँश्च किमभिधानेनोपकुर्यात् ? उच्चारणमात्रे तु नैष विरोधो भवति । तस्मादुच्चारणार्था मन्त्राः । **एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे**[2], **असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्**[3] इति चोदाहरणम् ॥३६॥

स्वाध्यायवदवचनात् ॥३७॥

शृणोत ग्रावाणः—यह भाग जिस मन्त्र (तै० सं० १।३।१३) में पठित है, उससे जब अग्निष्टोम में प्रातरनुवाक की परिधानीया ऋचा होता के द्वारा पढ़ी जा रही होती है, तब अध्वर्यु घृताहुति देता है (द्र०—तै० सं० १।३।२३ सायणभाष्य) । उद्धृत मन्त्रांश का भाव है—'हे सोम के अभिषव के लिये वर्तमान पाषाणो ! तुम विद्वान् यजमान के यज्ञ को सुनो' । पाषाण अचेतन है, भला वे कैसे सुन सकते हैं ? इससे भी मन्त्र का अनर्थकत्व बोधित होता है ॥३५॥

अर्थविप्रतिषेधात् ॥३६॥

सूत्रार्थ—[मन्त्र के द्वारा कथ्यमान] (अर्थविप्रतिषेधात्) अर्थ का विरोध होने से मन्त्र अनर्थक हैं ।

व्याख्या—अर्थ का विरोध भी देखा जाता है—अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् । वह [अदिति] ही द्यौः है, और वही अन्तरिक्ष है, [इस कथन] को कौन भला निश्चय करेगा, अर्थात् सही मानेगा ? निश्चित अर्थ का प्रकाशन न करता मन्त्र अपने अर्थ के प्रकाशन से कर्म का क्या उपकार करेगा ? उच्चारणमात्र [मन्त्र का प्रयोजन मानने] में तो यह विरोध नहीं होता । इसलिये मन्त्र उच्चारणार्थ हैं । और एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे (=रुद्र एक ही है, दूसरा नहीं है); असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् (=जो रुद्र भूमि पर वर्तमान हैं, वे असंख्यात सहस्रों हैं) यह भी उदाहरण है । [ये दोनों मन्त्र परस्परविरुद्ध अर्थ 'रुद्र एक है' और 'असंख्यात सहस्रों हैं' को कहनेवाले हैं] ॥३६॥

स्वाध्यायवदवचनात् ॥३७॥

सूत्रार्थ—(स्वाध्यायवत्) स्वाध्यायकाल=मन्त्राक्षरग्रहणकाल के समान [मन्त्रों के अर्थों का] (अवचनात्) कथन न करने से । अर्थात् मन्त्राक्षरग्रहणकाल में जैसे मन्त्र अर्थ का प्रकाशन नहीं करते, उसी प्रकार कर्मकाल में भी अर्थ का प्रकाशन नहीं करते ।

---

१. ऋ० १।८९।१०॥　　२. द्र०—निरुक्त १।१५—एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः; तै० सं० १।८।६—एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे ।

३. यजुः १६।५६; मै० सं० २।९।९॥

स्वाध्यायकाले पूर्णिकाऽवहन्ति करोति । माणवकोऽवहन्तिमन्त्रम्[1] अधीते । नाऽसौ तेन मन्त्रेण तदभिधानमभ्यस्यति । अक्षरानुपूर्व्याः अवधारणे एव यतते । येन च नाम प्रयोजनम्, तदभ्यसितव्यम् । अत उच्चारणाभ्यासादुच्चारणेन प्रयोजनमित्यवगच्छामः ॥३७॥

अविज्ञेयात् ॥३८॥

अपि च—केषाञ्चिन्मन्त्राणामशक्य एवार्थो वेदितुम् । यथा—अम्यक् सा त इन्द्र

व्याख्या—स्वाध्यायकाल (=वेद के अध्ययनकाल) में 'पूर्णिका' नाम की स्त्री [धान की] अवहननक्रिया (=कूटना क्रिया) करती है। [उसी काल में] माणवक अवहनन-क्रिया सम्बन्धी मन्त्र को पढ़ता है। [यद्यपि 'पूर्णिका' का धान कूटना और माणवक का अवहनन-क्रियार्थक मन्त्र का पाठ समकालिक है, तथापि] वह [माणवक] उस [अवहनन-क्रियासम्बन्धी] मन्त्र से [पूर्णिका द्वारा क्रियमाण] उस अवहननक्रिया के कथन का अभ्यास नहीं करता। केवल अक्षरों के अवधारण (=कण्ठस्थीकरण) में ही यत्न करता है। [अर्थात् पूर्णिका की अवहनन-क्रिया को कहना मन्त्रपाठ का प्रयोजन नहीं होता है।] जिससे प्रयोजन होता है, उसका अभ्यास करना चाहिये। इस कारण उच्चारण के अभ्यास में उच्चारण से प्रयोजन है, यह हम जानते हैं॥३७॥

विवरण—'अवहन्ति' यह धातुनिर्देश में श्तिप्प्रत्ययान्त कृदन्त शब्द है। इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे (वा० ३।३।१०८)। अवहन्ति-मन्त्रम्—व्रीहि(=धान)रूप हवि को ऊखल में डालकर मूसल से कूटने में अव रक्षो दिवः सपत्नं वध्यासम् मन्त्र विहित है (द्र०—आप० श्रौत १।१९।१०)। अवहनन मन्त्र से पूर्व हविष्कृत् के आह्वान में लिखा है—हविष्कृदेहीति ब्राह्मणस्य, हविष्कृदागहीति राजन्यस्य, हविष्कृदाद्रवेति वैश्यस्य, हविष्कृदाधावेति शूद्रस्य, प्रथमं वा सर्वेषाम्। (आप० श्रौ० १।१९।८-९) सूत्र में भिन्न-भिन्न वर्णस्थ यजमानों के लिये भिन्न-भिन्न मन्त्र लिखे हैं। लगभग ऐसा ही निर्देश शतपथ-ब्राह्मण १।१।४।२२ में मिलता है। आपस्तम्ब-श्रौत और शतपथ-ब्राह्मण में शूद्र यजमान के अवहनन कर्म में हविष्कृदाधाव मन्त्र के निर्देश का अभिप्राय श्रौतयज्ञ-मीमांसा में 'यज्ञकर्माधिकार' प्रकरण में देखें ॥३७॥

अविज्ञेयात् ॥३८॥

सूत्रार्थ—[मन्त्रों के] (अविज्ञेयात्) अविज्ञेय (=जानना शक्य न) होने से भी मन्त्र अनर्थक हैं।

व्याख्या—और भी—किन्हीं मन्त्रों का अर्थ जानना अशक्य ही है [अर्थात् जाना ही नहीं जा सकता]। यथा—अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे; सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू; और

---

१. आपस्तम्बश्रौतसूत्रानुसारम् 'अव रक्षो दिवः सपत्नं वध्यासम्' अवहन्तिमन्त्रः। द्र०—आ० श्रौत १।१९।१०।

ऋष्टिरस्मे[1] इति; सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू[2] इति; इन्द्रः सोमस्य काणुका[3] इति च । एते किं प्रत्याययेयुः ? उच्चारणार्थे तु न दोषः । तस्मादुच्चारणार्था मन्त्रा इति ॥३८॥

अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ॥३९॥

अनित्यसंयोगः खल्वपि भवेन्मन्त्रेष्वभिधानार्थेषु । यथा—किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः[4] इति । कीकटा नाम जनपदाः[5], नैचाशाखं[6] नाम नगरं, प्रमगन्दो राजेति । यद्यभिधानार्थाः, प्राक् प्रमगन्दान्नाऽयं मन्त्रोऽनुभूतपूर्व इति गम्यते । तदेतैः 'तदर्थशास्त्रादिभिः' कारणैर्मन्त्राणामविवक्षितवचनता ॥३९॥

इन्द्रः सोमस्य काणुका । ये मन्त्र किस अर्थ का ज्ञान करायेंगे ? उच्चारण प्रयोजन में तो दोष नहीं है । इसलिये मन्त्र उच्चारणार्थ हैं ॥३८॥

अनित्यसयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ॥३९॥

सूत्रार्थ—[मन्त्रों में] (अनित्यसंयोगात्) अनित्य पदार्थों का संयोग होने से (मन्त्रानर्थक्यम्) मन्त्र अनर्थक हैं ।

व्याख्या—[मन्त्रों का] अर्थ का कथन प्रयोजन होने पर मन्त्रों में अनित्य पदार्थों का संयोग भी होता है । यथा—किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः । 'कीकट' नाम का जनपद, 'नैचाशाख' नाम का नगर, और 'प्रमगन्द' नाम का राजा है । यदि मन्त्र का प्रयोजन अर्थ के कथन के लिये है, तो 'प्रमगन्द' से पूर्व मन्त्र नहीं था, ऐसा जाना जाता है । इन 'तदर्थशास्त्र' आदि कारणों से मन्त्रों की अविवक्षित-वचनता (=मन्त्रप्रतिपाद्य अर्थ की अप्रकाशनता) जानी जाती है ॥३९॥

विवरण—'किं ते कृण्वन्ति' मन्त्र का पूरा पाठ इस प्रकार है—

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम् ।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ॥ ऋ० ३।५३।१४॥

कीकटा नाम जनपदाः—यास्क ने निरुक्त ६।३२ में प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या में कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः (=कीकट अनार्य देश है) इतना ही लिखा है । यह मगध का प्राचीन नाम है, ऐसा कई ऐतिहासिकों का मत है । द्र०—गिरीशचन्द्र अवस्थीकृत 'वेदधरातल', 'कीकट'

---

१. ऋ० १।१६९।३॥ २. ऋ० १०।१०६।६॥ ३. ऋ० ८।७७।४॥

४. ऋ० ३।५३।१४॥ कृत्स्नो मन्त्रः—किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम् । आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ॥

५. 'मगधाः' इत्यैतिहासिकाः । द्र०—वेदधरातल, पृष्ठ १४१—१४४ ।

६. अस्मन्मतेऽत्र 'नीचाशाखं नाम नगरम्, तस्य राजा नैचाशाखः, तम्' पाठेन भाव्यम् ।

अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥४०॥ (उ०)

अविशिष्टस्तु लोके प्रयुज्यमानानां वेदे च पदानामर्थः। स यथैव लोके विवक्षितस्तथैव वेदेऽपि भवितुमर्हति। नैवम्। लोके तैरर्थैरवबुद्धैः संव्यवहारः। इह देवताभिरप्रत्यक्षाभिर्यज्ञाङ्गैश्चाऽचेतनैः संलापे न कश्चिद् यज्ञस्योपकारः। यद्यदृष्टं परिकल्प्येत, उच्चारणादेव तद्भवितुमर्हति। यद्धि कर्त्तव्यं, तत् प्रयोजनवत्। उच्चारणं च न कथञ्चित् न कर्त्तव्यम्, यद्यपूर्वाय यद्यर्थाय। यद्यर्थो न प्रत्याय्यते, न किञ्चित् अनर्थकम्। यदि न प्रयुज्यते, समाम्नानानर्थक्यम्[1]। तस्मादुच्चारणादपूर्वम्। तथा च तदर्थशास्त्रादि उक्तम्।

शब्द, पृष्ठ १४१–१४४। नैचाशाखं नाम नगरम्—यदि नगर-नाम अभिप्रेत है, तब हमारे विचार में नगर का नाम नीचाशाख होना चाहिये। उसका राजा नैचाशाख होगा। कई लोग इसे भी देशवाची मानते हैं (द्र०—वेद-धरातल, पृष्ठ ३९०)। गिरीशचन्द्र अवस्थी ने इसे 'वेदस्' (=वेदः) का विशेषण माना है, वह चिन्त्य है। 'वेदस्' का सम्बन्ध उसी चरण की आभर क्रिया के साथ है, और 'नैचाशाख' का सम्बन्ध रन्धय (=हिंसय) के साथ है। प्रमगन्दो राजा—यह राजा कहां का था, यह अज्ञात है। यास्काचार्य ने निरुक्त ६।३२ में नैचाशाख और प्रमगन्द का अर्थ क्रमशः नीच वर्ण में सन्तति उत्पन्न करनेवाला, और अत्यन्त व्याजखोर किया है ॥३९॥

अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥४०॥

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् मन्त्र अनर्थक नहीं हैं। [मन्त्रों में] (वाक्यार्थः) वाक्य का अर्थ [लोक के वाक्यार्थ से] (अविशिष्टः) विशेष=भिन्न नहीं है। अर्थात् लौकिक-वाक्यार्थ के समान ही मन्त्रों का वाक्यार्थ है।

व्याख्या—लोक में प्रयुक्त होनेवाले और वेद में प्रयुक्त पदों का अर्थ समान है। वह (=पदों का अर्थ) जैसे लोक में विवक्षित है, वैसे ही वेद में भी होना योग्य है। (आक्षेप) ऐसा नहीं है। लोक में उन अर्थों से [उन अर्थों को] जाननेवालों के साथ व्यवहार किया जाता है। यहां [वेद में] अप्रत्यक्ष देवताओं और अचेतन यज्ञाङ्गों के साथ संलाप में यज्ञ का कोई उपकार नहीं है। यदि अदृष्ट की कल्पना की जाये, तो वह [अदृष्ट की कल्पना] उच्चारण से ही हो सकती है। जो कुछ करना चाहिये, वह प्रयोजनवाला होना चाहिये। और उच्चारण किसी भी प्रकार नहीं करना चाहिये, ऐसा नहीं है [अर्थात् करना ही है], चाहे वह अपूर्व के लिये होवे, चाहे अर्थ [बोध कराने] के लिये। यदि अर्थ [मन्त्रों से] नहीं जाना जाता है, तो कुछ (=उच्चारण) निष्प्रयोजन नहीं है। यदि [मन्त्रों का] प्रयोग (=उच्चारण) नहीं करते, तो उनका पाठ करना अनर्थक है। इसलिये [मन्त्रों के] उच्चारण से अपूर्व होता है। और यह तदर्थशास्त्रात् (३१-३९) आदि से कह चुके हैं। (समाधान) इस विषय

1. 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः, इति वेदाङ्गज्योतिषवचनात् (७)।

तदुच्यते—अर्थप्रत्यायनार्थमेव यज्ञे मन्त्रोच्चारणम् । यदुक्तम्—'न देवताभिर्यज्ञाङ्गैश्च संलापे प्रयोजनमस्तीति'। यज्ञे यज्ञाङ्गप्रकाशनमेव प्रयोजनम् । कथम् ? न ह्यप्रकाशिते यज्ञे यज्ञाङ्गे च यागः शक्योऽभिनिर्वर्त्तयितुम् । तस्मात् तन्निर्वृत्त्यर्थमर्थप्रकाशनं महानुपकारः कर्मणः ।तच्च करोतीत्यगम्यते। तस्मादस्त्यस्य प्रयोजनम् । तच्च दृष्टं न शक्यमपवदितुम्—'न अर्थाभिधानं प्रयोजनम्' इति । नन्वर्थाभिधानेनोपकुर्वत्सु, तां चतुर्भिरादत्ते इत्येवमाद्यनर्थकं भवति । काममनर्थकं भवतु[1], न जातुचिदपजानीमहे 'दृष्टमर्थाभिधानस्योपकारकत्वम्' ।।४०।।

में कहते हैं—अर्थ का ज्ञान कराने के लिये ही यज्ञ में मन्त्रों का उच्चारण होता है । और जो कहा कि—'देवताओं तथा यज्ञाङ्गों से संलाप में कोई प्रयोजन नहीं हैं' [यह ठीक नहीं है]। यज्ञ में यज्ञाङ्गों का प्रकाशन ही प्रयोजन है । कैसे ? यज्ञ और यज्ञाङ्ग के प्रकाशित (=ज्ञात) हुये बिना याग किया ही नहीं जा सकता । इस कारण यज्ञ की निष्पत्ति के लिये अर्थ का प्रकाशन कर्म का महान् उपकार है । और उस [उपकार] को [मन्त्र] करता है, यह जाना जाता है । इसलिये इस [मन्त्रोच्चारण] का प्रयोजन है । और उस दृष्ट [प्रयोजन] का अपलाप नहीं कर सकते कि—'अर्थ का कथन करना प्रयोजन नहीं है' । (आक्षेप) अर्थ के कथन से [यज्ञ का] उपकार करते हुये 'तां चतुर्भिरादत्ते' (=उस अश्व की लगाम को चार मन्त्रों से ग्रहण करता है) इत्यादि अनर्थक होता है । (समाधान) चाहे अनर्थक हो जावे, पर किसी प्रकार हम 'देखे गये अर्थकथन के उपकारकत्व को' झुठला नहीं सकते ।।४०।।

विवरण—लोके प्रयुज्यमानानाम्—अगले तृतीय पाद में आकृत्यधिकरण के अन्तर्गत (द्र०—सूत्रभाष्य ३०) लोकवेदाधिकरण में यह सिद्ध करेंगे कि जो लौकिक शब्द हैं, वे ही वैदिक हैं, और वही उनका अर्थ है (इस पर विशेष विचार वहीं प्रस्तुत किया जायेगा) । इस सिद्धान्त को मानकर भाष्यकार ने यह पङ्क्ति लिखी है । यद्यपि सूत्र में वाक्यार्थ शब्द का प्रयोग किया है, तथापि पूर्वपादस्थ वाक्याधिकरण में यह सिद्ध कर चुके हैं कि पदों से वाक्य भिन्न नहीं है । केवल अनेक पदों के सहप्रयोग से पद सामान्य अर्थ के स्थान में विशिष्ट अर्थ का कथन करते हैं (द्र०—पूर्व पृष्ठ ८३—८४) । इस कारण भाष्यकार ने लौकिक और वैदिक पदों के समान अर्थ का निर्देश किया है । निरुक्तकार ने भी **अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्** (निरुक्त १।१६) से लौकिक और वैदिक शब्दों की समानता से ही वैदिक मन्त्रों की अर्थवत्ता का विधान किया है । कुतुहल वृत्तिकार ने **वाक्यार्थः** का अर्थ 'वाक्य से प्रतीयमान क्रिया कारक सम्बन्ध' किया है । तदनुसार सूत्र का अर्थ होता है—'लोक में जैसे वाक्य=क्रिया कारक सम्बन्ध से अर्थ प्रतीयमान होता है, वैसे ही मन्त्र-वाक्य भी क्रिया कारक सम्बन्ध से अर्थ के प्रतिपादक होते हैं ।'

न प्रयुज्यते—इसका तात्पर्य है—यदि यज्ञ में मन्त्रों का उच्चारण नहीं होता है, तो मन्त्रों का वेद में पाठ ही निरर्थक होगा। वस्तुतः भाष्यकार ने यह वचन **देवा हि यज्ञार्थमभि प्रवृत्ताः**[2] इस

---

१. प्रौढिवादेनोत्तरयति भाष्यकारः ।

२. वेदाङ्गज्योतिष, ७ ।

अथ किं तच्छास्त्रमनर्थकमेव ? न हि—

गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥४१॥

यदुक्तम् —'तां चतुर्भिरादत्ते'[1] इति समुच्चयशब्दाभावाद् न समुच्चयार्थमिति[2]।

सिद्धान्त को स्वीकार करके लिखा है। हमने **श्रौतयज्ञ-मीमांसा** में वैदिक-ग्रन्थों के प्रमाणों के आधार पर विस्तार से लिखा है कि इन द्रव्ययज्ञों का आरम्भ कृतयुग के अन्त में हुआ है। मन्त्र पूर्व भी वर्तमान थे। अतः उस समय मन्त्रों का अर्थ आधिदैविक और आध्यात्मिक ही होता था। श्रौतयज्ञों का विधान आधिदैविक सृष्टियज्ञ को समझाने के लिये ही प्राचीन ऋषि-मुनियों ने किया था। इस दृष्टि से वेद में साक्षात् निर्दिष्ट-यज्ञ सृष्टियज्ञ ही हैं। यदि **वेदा हि यज्ञार्थमभि प्रवृत्ताः** का अर्थ 'सृष्टियज्ञ का व्याख्यान करने के लिये वेद प्रवृत्त हुये' मान लें, तो यह वचन हमें भी यथावत् स्वीकार्य है।

काममनर्थकं भवतु—यह भाष्यकार का कथन प्रौढिवाद[3]मात्र है। इसका **पुरोडाशं प्रथयति** आदि विधिवाक्यों का आनर्थक्य कहने में तात्पर्य नहीं है। भाष्यकार का तो कहना इतना ही है कि मन्त्रों को अर्थवान् मानने पर यदि विधिवाक्य अनर्थक (=निष्प्रयोजन) होते हैं, तो हो जावें। इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार शबरस्वामी ब्राह्मणवचनों की अपेक्षा मन्त्रों का प्राधान्य स्वीकार करते हैं। यही बात सायणाचार्य ने इस प्रकार कही है—**ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः** (तैत्ति० सं० भाष्योपोद्घात)। मन्त्र व्याख्येय हैं, ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्यान हैं। व्याख्येय और व्याख्यान में व्याख्येय ही प्रधान होता है, यह सर्वप्रसिद्ध सिद्धान्त है।।४०।।

व्याख्या—तो क्या वह (=विधायक) शास्त्र अनर्थक ही है ? नहीं—

गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥४१॥

सूत्रार्थ—[तां चतुर्भिरादत्ते यह] (गुणार्थेन) [चतुःसंख्यारूप] गुण के लाभरूप प्रयोजन के लिये (पुनः श्रुतिः) पुनः श्रवण=पुनः पाठ है।

विशेष—'गुणार्थेन' में तृतीया विभक्ति **निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्** (वा० २।३।२७) नियम से जाननी चाहिये। अभिप्राय यहां **गुणार्थाय** चतुर्थी का है।

व्याख्या—जो यह कहा है कि—'समुच्चयबोधक शब्द के न होने से तां चतुर्भिरादत्ते

---

१. येषामुद्धरणानां पूर्वपक्षसूत्रभाष्ये आकरस्थाननिर्देशः कृतः, तेषामिहोत्तरपक्षसूत्रभाष्ये पुनर्निर्देशो न करिष्यते। एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र ज्ञेयम्। अपूर्वोद्धरणानां त्वाकरनिर्देशो वक्ष्यत एव।

२. 'तदयुक्तमिति शेषः' इति भाष्यविवरणकारः।

३. 'प्रौढि' शब्द का अर्थ है—उत्साह, साहस, प्रगल्भता। अतः प्रौढिवाद का अभिप्राय होता है—साहसपूर्वक कथन अथवा प्रगल्भताबोधक कथन। प्रौढिवाद से दिये गये उत्तर एकदेशी=आंशिक होते हैं, सिद्धान्तरूप नहीं होते।

'चतु:संख्याविशिष्टमादानं कर्त्तव्यम्' इति वाक्यादवगम्यते । तदेकेन मन्त्रेण गृह्णन् न यथाश्रुतं गृह्णीयादिति ॥४१॥

परिसंख्या ॥४२॥

परिसञ्चक्षाणे च **इमामगृभ्णन्नित्यश्वाभिधानीमादत्ते** इति त्रयो दोषाः प्रादुःष्युरिति। नैवं सम्बन्धः—**इत्यादत्ते** इति । कथं तर्हि ? **इत्यश्वाभिधानीमिति** । लिङ्गाद् रशनामात्रे, शब्दात्तु विशेषे अश्वाभिधान्यामिति । सति च वाक्ये[1] लिङ्गं विनियोजकम् । तच्चास्य

यह समुच्चयार्थ नहीं है ।' [यह ठीक नहीं है, चतुर्भिः निर्देश से] 'चतु संख्याविशिष्ट [अग्नि का] आदान करना चाहिये' यह वाक्य से जाना जाता है । इस कारण एक मन्त्र से [अग्नि का] आदान करता हुआ यथाश्रुत ग्रहण नहीं करेगा ।।४१।।

विवरण—अग्नि के आदान के चार मन्त्र यजु० अ० ११, कं० ६ (१-२), १०, ११ में पठित हैं[2] । इनका आददे लिङ्ग से ही अग्नि के आदान में विनियोग प्राप्त है, लिङ्गमात्र से विनियोग होने पर मन्त्रों का समान प्रयोजन होने से **व्रीहिर्यजेत् यवैर्यजेत** के समान विकल्प प्राप्त होता है । वह विकल्प न होवे, चारों मन्त्रों का समुच्चय होवे, इस चतुष्ट्व गुण का बोधन कराने के लिये **चतुर्भिरादत्ते** पुनः श्रुति है । इस विषय में विशेष विचार सूत्रकार ने अ० १२, पाद ३ के **मन्त्राणां सन्निपातित्वात** और **संख्याविहितेषु** (२४-२५) सूत्रों में किया है । पक्षान्तर में शतपथ ६।३।१। ४० में **त्रिभिरादत्ते** लिखकर चतुर्थ मन्त्र **हस्त आधाय** (यजुः ११।११) से अग्नि के आमन्त्रण का विधान किया है । कात्यायन ने भी श्रौतसूत्र १६ २।८ में इसी पक्ष का निर्देश किया है ॥४१॥

परिसख्या ।।४२।।

सूत्रार्थ—[**इत्यश्वाभिधानीमादत्ते** में] (**परिसंख्या**) परिसंख्या [नहीं है । परिसंख्या न होने से स्वार्थहानि परार्थकल्पना और प्राप्तबाधा रूप तीन दोष नहीं हैं] ।

व्याख्या—और इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते से [गर्दभरशना के आदान का] प्रतिषेध करने पर तीन दोष प्रादुर्भूत होंगे । [यह अयुक्त है ।] इस प्रकार सम्बन्ध नहीं है—[इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य] इत्यादत्ते (=**इमामगृभ्णन्** मन्त्र से लगाम पकड़ता है) ऐसा सम्बन्ध नहीं है । तो कैसे है ? इत्यश्वाभिधानीमादत्ते (=**इमामगृभ्णन्** मन्त्र से घोड़े की लगाम पकड़ता है) [इस प्रकार सम्बन्ध है] । [अगृभ्णन्] लिङ्ग से रशनामात्र के [आदान] में [प्राप्ति होती है], [अश्वाभिधानीमादत्ते] शब्द से विशेष अश्वाभिधानी के आदान में [प्राप्ति होती है] । [इत्यादत्ते] वाक्य के होने पर लिङ्ग विनियोजक होता है । और वह

---

१. 'श्रुतौ' इत्यर्थो भाष्यविवरण उक्तः ।

२. द्र०—प्रथमं मन्त्रं विधत्ते—**देवस्य त्वा सवितुरिति**; द्वितीयं विधत्ते—**पृथिव्या इति**; तृतीयं विधत्ते—**अग्निरसीति**; [चतुर्थं] मन्त्रं विधत्ते—**हस्त आधाय सवितेति** (शत० ६।३।१। ३८—४१ सायणभाष्य) ।

प्रकरणाम्नानानुमितं वाक्यं नास्ति। कतरत्तत्? एतेन मन्त्रेणादानं कुर्यादिति, यस्मिन् सति रशनामात्रे लिङ्गात् प्राप्नोति। अश्वाभिधान्यां तु प्रत्यक्षमेव वचनम्। अस्मिन् सति तद् आनुमानिकं नास्ति। तेन गर्दभरशनायां न प्राप्तिरेवेति ॥४२॥

अर्थवादो वा ॥४३॥

उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति इत्यर्थवादार्थेन[1] पुनः श्रुतिः—यज्ञपतिमेव तत्

इस [रशनादान] का प्रकरण में आम्नान से अनुमित वाक्य नहीं है। कौनसा वह वाक्य? एतेन मन्त्रेणादानं कुर्यात् (=इस मन्त्र से आदान करे), जिस [अनुमित वाक्य] के होने पर रशनामात्र [के आदान] में लिङ्ग से [मन्त्र] प्राप्त होवे। अश्व की रशना [के आदान] में तो प्रत्यक्ष ही [इत्यश्वाभिधानीमादत्ते] वचन है। इस [प्रत्यक्ष वचन] के होने पर वह आनुमानिक [एतेन मन्त्रेणादानं कुर्यात] वचन नहीं है। इस कारण गदहे की रशना [के आदान] में प्राप्ति ही नहीं है। [प्राप्ति के न होने से परिसंख्या (='गदर्भ की रशना न पकड़े' अर्थ) नहीं है। परिसंख्या न होने से स्वार्थहानि, परार्थकल्पना और प्राप्तबाधा दोष भी प्राप्त नहीं होते।] ॥४२॥

विवरण—सति च वाक्ये लिङ्गं विनियोजकम्—साक्षात् विनियोग श्रुति से होता है। जैसे—ऐन्द्र्या गार्हपत्यम् उपतिष्ठते (इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है)। 'लिङ्ग' नाम है मन्त्र में अर्थविशेष को कहने का सामर्थ्य (शाबरभाष्य ३।३।१४)। केवल लिङ्ग तब तक विनियोजक नहीं होता, जब तक कि वाक्य प्रमाण न हो (भाष्य-विवरणकार ने वाक्य का अर्थ श्रुति किया है)। जब कोई मन्त्र किसी प्रकरणविशेष में पठित होता है, तब यह मन्त्र इस प्रकरण का उपकारक है, यह जाना जाता है। उस अवस्था में मन्त्रलिङ्ग (=सामर्थ्य) से 'इस मन्त्र से इस प्रकरणगत इस कार्य को करे' इस प्रकार के वाक्य की कल्पना की जाती है, और उसके द्वारा मन्त्र लिङ्ग द्वारा विनियोजक होता है। इसी दृष्टि से यहां कहा है—एतेन मन्त्रेणादानं कुर्यात् इस अर्थवाला साक्षात् वचन नहीं है। और यदि कहो कि मन्त्रलिङ्ग से एतादृश वाक्य की कल्पना करेंगे, यह कल्पना प्रत्यक्ष इत्यश्वाभिधानीमादत्ते वाक्य के विद्यमान होने से कल्पित नहीं की जा सकती है ॥४२॥

अर्थवादो वा ॥४३॥

सूत्रार्थ—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। (अर्थवादः) अर्थवाद (=कर्म की स्तुति) प्रयोजन है।

व्याख्या—[उरुप्रथा उरु प्रथस्व मन्त्रलिङ्ग से ही पुरोडाश-प्रथन के प्राप्त होने पर भी] उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति यह यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति (=यजमान को ही वह फैलाता=बढ़ाता है, इस) अर्थवाद के लिये पुनः पाठ है। (आक्षेप) यह (=यज्ञपतिमेव

---

१. 'स्तुत्यर्थेन' इति भाष्यविवरणम्।

प्रथयतीति । ननु नाऽयं मन्त्रस्य वाक्यशेषः, न च प्राप्तस्य स्तुत्या प्रयोजनम् । सत्यम् । नायं मन्त्रस्य विधिः, न संस्तवः । प्रथनमेव तत्र स्तूयते । मन्त्रः पुनः रूपादेव प्राप्त इहानूद्यते प्रथनं स्तोतुम् । इत्थं प्रथनं प्रशस्तं, यत् क्रियमाणमेवंरूपेण मन्त्रेण क्रियते । कस्तदा भवति गुणः ? **यज्ञपतिमेव तत् प्रजया पशुभिः प्रथयति** । किमेतदेवास्य फलं भवति? नेति ब्रूमः । स्तुतिः कथं भविष्यति? इति एवमुच्यते । कथमसति प्रथने प्रथयतीति शब्दः? मन्त्राभिधानात् । मन्त्रेण पुरोडाशमध्वर्युः प्रथस्वेति ब्रूते । यश्चैवं प्रथस्वेति ब्रूते, स प्रथयति । यथा यः कुर्विति ब्रूते, स कारयति ॥४३॥

तत्प्रथयति) **मन्त्र** (=उरुप्रथा उरु प्रथस्व) **का वाक्यशेष नहीं है, और ना ही [मन्त्रलिङ्ग से] प्राप्त विधि की स्तुति से कोई प्रयोजन है ।** (समाधान) **यह सत्य है । न यह मन्त्र की विधि है, और नाही स्तुति है । प्रथन की ही यहां स्तुति की जाती है । मन्त्र अपने रूप** (=लिङ्ग) **से ही [प्रथन कर्म में] प्राप्त हुआ प्रथन की स्तुति के लिये यहां अनूद्य** (=पुनः पठित) **है । इस प्रकार प्रथन प्रशस्त है, जो [प्रथन] किया जा रहा इस प्रकार के मन्त्र से किया जाता है । इस प्रकार के प्रथन में क्या गुण होता है ? [वह प्रथन] यजमान को ही प्रजा और पशुओं से बढ़ाता है । क्या इसका यही फल है ? नहीं । स्तुति कैसे होगी ? [इसलिये] इस प्रकार कहा जाता है ।** (आक्षेप) **प्रथन न होने पर भी** प्रथयति **शब्द कैसे सम्भव है ?** (समाधान) **मन्त्र के कहने से । मन्त्र के द्वारा अध्वर्यु पुरोडाश को** प्रथस्व (=**फैलाओ**) **ऐसा कहता है । जो इस प्रकार** प्रथस्व **कहता है, वह प्रथन करता है । जैसे [लोक में] जो** कुरु (=**करो**) **ऐसा कहता है, वह कराता है ॥४३॥**

विवरण—'प्रथन' शब्द की व्याख्या **'श्रौतपदार्थ-निर्वचन'** में इस प्रकार की है—पुरोडाश का कपाल का पूर्ण स्पर्श करना ही **'प्रथन'** कहा जाता है (पृष्ठ १८, संख्या १४४) । यद्यपि प्रथन से अभिप्राय पुरोडाश को कपाल के परिमाण के बराबर फैलाना है, जिससे कपाल के सर्वावयव के साथ पुरोडाश का स्पर्श होवे । इस प्रकार प्रथनक्रिया उपपन्न हो ही जाती है । पुनरपि प्रश्नकर्ता **असति-प्रथने** (=प्रथन न होने पर) कहने का तात्पर्य यह है कि पुरोडाश का द्रव्य प्रथन से पूर्व जितना था, उतना ही फैलाने पर भी रहता है, उसमें प्रथन=वृद्धि नहीं होती, फिर **प्रथयति** कैसे कहता है ? इस का जो उत्तर भाष्यकार ने दिया है, उसका भाव यह है कि मन्त्र **प्रथस्व** कहता है । अतः उसमें प्रथन=वढ़ना मानना चाहिये । यह कल्पना **यज्ञपतिमेव प्रजया पशुभिः प्रथयति** अर्थवाद की दृष्टि से की है । यज्ञपति जैसे स्वाङ्ग बहिर्भूत प्रजा और पशुओं की प्राप्ति से बढ़ता है, उस प्रकार का प्रथन पुरोडाश में नहीं होता । पुरोडाश द्रव्य का परिमाण प्रथन होने पर भी वही रहता है । अतः मीमांसकों के मत में **प्रथस्वेति प्रथयति** रूप प्रथन से पुरोडाश संस्कृत होता है । यह संस्कार ही पूर्व असंस्कृत अवस्था से अधिक होना, उसका प्रथन (=बढ़ना) जानना चाहिये । इस प्रकार प्रथन कर्म से संस्कृत पुरोडाश यजमान को पशु और प्रजाओं से युक्त करके बढ़ाता है ॥४३॥

अविरुद्धं परम् ॥४४॥

यदुक्तम्—'पदनियमस्यार्थवत्त्वादविवक्षितार्था मन्त्रा इति'। काममनर्थको नियमः, न दृष्टमप्रमाणम्। नियतोच्चारणमदृष्टायेति चेत्, अविरुद्धा अदृष्टकल्पनाऽस्मत्पक्षेऽपि। एवं प्रत्याय्यमानमभ्युदयकारि भवतीति ॥४४॥

अविरुद्धं परम् ॥४४॥

सूत्रार्थ—(परम्) अगला=वाक्यनियम (अविरुद्धम्) विरुद्ध नहीं है।

व्याख्या—जो यह कहा है कि—'पदों के नियम के अर्थवान् (=प्रयोजनवान्) होने से मन्त्र अविवक्षित अर्थवाले अर्थात् अनर्थक हैं'। [यह दोष नहीं है।] चाहे [पदक्रम का] नियम निष्प्रयोजन होवे, परन्तु [मन्त्रों का] देखा गया [अर्थवत्त्व] अप्रमाण नहीं हो सकता। यदि कहो कि नियतोच्चारण अदृष्ट के लिये है, तो यह अदृष्टकल्पना हमारे पक्ष में भी अविरुद्ध है। इस प्रकार (= नियतपदक्रम से) बोधित किया हुआ [कर्म] अभ्युदयकारी होता है ॥४४॥

विवरण—भाष्यकार ने नियत पदक्रम को अदृष्टार्थ मानकर अविरुद्धता दर्शाई है। परन्तु हमारा मत है कि मन्त्रों का नियतपदक्रम केवल याज्ञिकों द्वारा आदृत (वस्तुतः कल्पित) अदृष्ट के लिये ही नहीं है, अपितु अर्थविशेष के बोधन के लिये है। लोक में अग्नि वह्नि ज्वलन आदि पद चाहे समानार्थक माने जावें, परन्तु वेद में एकांश में समानता रखते हुये भी धात्वर्थयोग से विशिष्टार्थ को प्रकाशित करते हैं। 'अग्नि' शब्द आगे ले जाना, दीप्त होना, व्यक्त होना, प्रकाशित करना, तेजस्विता आदि अर्थों को बोधित करता है। 'वह्नि' शब्द पदार्थ को सूक्ष्म करके स्थानान्तर में प्राप्त कराना अभिप्राय को व्यक्त करता है। 'ज्वलन' स्वयं जलना और दूसरे को जलाना' क्रिया का बोधक है। इसीलिये लोक में तेजस्वी बालक के लिये अग्निर्माणवकः का ही प्रयोग किया जाता है। वह्निर्माणवकः का प्रयोग साधारण व्यक्ति भी नहीं करता। इसी प्रकार प्रत्येक मन्त्रगत पद अर्थविशेष का बोधक है। इसीलिये स्वामी दयानन्द ने कहा है—पदार्थज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी दक्षता है[1]। इसी दृष्टि से भगवान् जैमिनि ने कहा है—अन्याय्यश्चानेकशब्दत्वम् (१।३।२६)। अर्थात् एक अर्थ के लिये अनेक शब्द मानना अन्याय्य है।

नियत पदक्रम—मन्त्रों में पदक्रम का नियम भी अर्थ की सूक्ष्मता के बोधन के लिये है। मन्त्रगत पदों को ही यथास्थान व्याख्यान न करके लौकिक काव्यवत् अन्वयपूर्वक व्याख्यान करने से भी अर्थ की सूक्ष्मता नष्ट हो जाती है। इसके लिये हम एक मन्त्र का उदाहरण देते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

---

१. द्रष्टव्य—पूना-प्रवचन, पांचवां वेद-विषयक प्रवचन, पृष्ठ ४४, रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण। इसी पृष्ठ पर टिप्पणी एक भी देखें।

आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः । देवेभिरग्न आ गहि ।। ऋग्वेद १।१४।२।।

वाक्य में स्थानभेद से क्रिया और सम्बोधन के उदात्त अथवा अनुदात्त[1] स्वर के भेद से अर्थ-भेद होता है।उदात्तवान् पद के अर्थ की उच्चता अर्थात् प्रधानता और अनुदात्तवान् पद के अर्थ की नीचता अर्थात् अप्रधानता होती है। यह स्वरशास्त्रज्ञों का राद्धान्त है। निरुक्तकार यास्क ने कहा है—तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम् (निरुक्त ४।२५)। प्रकृत मन्त्र में प्रथम और तृतीय पाद में अहूषत तथा गहि क्रिया अनुदात्त हैं। द्वितीय पाद में गृणन्ति क्रिया उदात्त है, और विप्र तथा अग्ने सम्बोधन अनुदात्त हैं। इसलिये पदस्वरों पर ध्यान रखते हुये अर्थ होगा—'सब ओर से तुझे कण्व बुलाते हैं, स्तुति करते हैं [कण्व] हे विप्र तुम्हारी बुद्धियों की। देवों के साथ हे अग्ने आओ।' इसमें तीन क्रियाएं हैं—बुलाना, स्तुति करना और आना। इन तीनों में 'स्तुति करना' क्रिया मुख्य है। स्तुति करने से स्तुत्य व्यक्ति स्तोता की इच्छा को पूर्ण करने में सहायक होता है। यहां यद्यपि स्तोता अग्नि को यज्ञ में बुलाता है, और आने की प्रार्थना करता है, परन्तु इन दोनों क्रियाओं की सिद्धि का द्वार है 'स्तुति करना'। अतः मन्त्र में गृणन्ति उदात्त है, और अहूषत तथा गहि क्रियाएं अनुदात्त हैं। यद्यपि संबोधन में प्राधान्य होता है, और तृतीयान्त में गौणता। परन्तु सम्बोधन में प्रधानता तभी होती है, जब वह उदात्त होवे। यहां अग्ने अनुदात्त है, अतः इसकी प्रधानता नहीं है। अतः अग्नि और देव दोनों तुल्यकक्ष हो जाते हैं। इस लिये इसका भाव यह होता है कि हे अग्ने ! आते हुये देवों के साथ ही आना। लोक में यदि कोई कहे—छात्रेण सहाचार्यमानय (=छात्र के साथ आचार्य को लाओ)। इस में आचार्यम् से आचार्य की प्रमुखता और छात्रेण से छात्र की गौणता जानी जाती है। यदि बुलाने भेजा हुआ व्यक्ति जब आचार्य के पास पहुंचता है, तो छात्र के न होने पर अकेले आचार्य को लेकर आ जाता है। परन्तु जब कहा जाता है—आचार्यं छात्रांश्चानय तब दोनों का प्राधान्य होने से दोनों को लाने के लिये छात्रों की अनुपस्थिति में प्रतीक्षा करता है। इसी कारण वैशेषिककार ने वेद में वाक्यकृति को बुद्धिपूर्वक माना है—बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (६।१।१)। और इसकी सूत्र ४-५ में लौकिक उदाहरण देकर पुष्टि की है।

अब यदि मन्त्र के इन्हीं पदों को अन्वयानुसार रखें, तो मन्त्रपदों का स्वर इस प्रकार होगा—अग्ने विप्र[2] त्वा कण्वा आ अहूषत, ते धियः गृणन्ति, देवेभिः आगहि। इस प्रकार सान्वय पाठ में उदात्त गृणन्ति अनुदात्त हो जायेगा, और उसके अर्थ की प्रधानता नष्ट होकर अप्रधान हो जायेगा। इसी प्रकार अनुदात्त होने से गौणार्थ अग्ने आदि में आने पर उदात्त होगा, और प्रधान हो जायेगा।

इस प्रकार अर्थ की प्रधानता वा गौणता को ध्यान में रखकर ही ब्राह्मणप्रवक्ता और निरुक्तकार मन्त्रों का अर्थ मन्त्र पद क्रम के अनुसार ही करते हैं। स्कन्दस्वामी और सायणाचार्य

---

१. वाक्य के आदि में प्रयुक्त क्रिया और सम्बोधन उदात्त होता है। और मध्य वा अन्त में प्रयुक्त अनुदात्त। २. द्र०—सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने (अष्टा० ८।१।७४) महाभाष्यानुसारी सूत्रपाठ।

आदि ने स्वरशास्त्र के नियमों पर ध्यान न देकर अन्वयानुसार मन्त्र-व्याख्यान करके प्रधानार्थक को गौण और गौणार्थक को प्रधान बनाकर वेदार्थ की सूक्ष्मता को नष्ट कर दिया। इस युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वरशास्त्र के नियमों को समझकर प्राचीन भाष्यकारों की विरासत में प्राप्त भूल का निवारण करने के लिये अपने वेदभाष्य में पुनः मन्त्र पद क्रम से पदार्थ दर्शाया। साथ ही शताब्दियों से अन्वयपूर्वक अर्थ से ही मन्त्रार्थ समझनेवाले अल्पज्ञों के लिये संक्षिप्त अन्वितार्थ भी लिख दिया।

इस प्रकार सूक्ष्म विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्रों के नियत अग्न्यादि पद और पदों का नियत क्रम अर्थ की सूक्ष्मता की दृष्टि से है। इसलिये आधुनिक शबरस्वामी आदि मीमांसकों का नियत पद और नियत पद क्रम को अदृष्टार्थमात्र मानना महती भूल हैं। उदात्त अनुदात्त स्वर के भेद से होनेवाला अर्थभेद लौकिक वाक्यों में भी स्पष्ट लक्षित होता है। यात्रा के लिये उद्यत व्यक्ति यदि भृत्य से कहता है—अश्वमानय, तो उसका तात्पर्य घोड़ा लाने में ही होगा। और यदि कहता है—आनय अश्वम्, तो तात्पर्य होगा जल्दी से घोड़ा ले आ, और यदि घोड़ा न मिले, तो कोई अन्य शीघ्रगामी वाहन ले आ। हिन्दी में भी देवदत्त गांव को जा, और जा देवदत्त गांव को इन दोनों में भी वक्ता के तात्पर्य में अन्तर देखा जाता है। प्रथम वाक्य में गांव जाने-मात्र का प्रैष है, और दूसरे में शीघ्र जाने का। स्वर का पदार्थ और वाक्यार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसके लिये हमारी वैदिक-स्वर-मीमांसा का 'स्वर का पदार्थ और वाक्यार्थ पर प्रभाव' नामक पञ्चम अध्याय, तथा 'वेदार्थ में स्वर की विशेष सहायता, और उसकी उपेक्षा के दुष्परिणाम' संज्ञक अष्टम अध्याय, तथा वैदिक-छन्दो-मीमांसा का 'छन्दःशास्त्र की वेदार्थ में उपयोगिता' नामक पञ्चम अध्याय देखना चाहिये।

इसी प्रकार साम्प्रतिक मीमांसकों और याज्ञिकों का यज्ञकर्म की सोपपत्तिक व्याख्या न दर्शाकर पदे-पदे अदृष्ट की दुहाई देना भी चिन्त्य है। वैशेषिककार कणाद मुनि ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञीय पदार्थों के संज्ञाकरण और उनकी क्रिया वा क्रम को भी बुद्धिपूर्वक मानते हैं—ब्राह्मणे संज्ञाकरणं सिद्धिलिङ्गम् (६।१।२)। इसमें संज्ञाकरणम् उपलक्षक है समस्त यज्ञकर्म का। सम्भवतः इसी हेतु से शतपथ के प्राचीन भाष्यकार ने बहुत्र यज्ञकर्म की युक्तिसंगतता दर्शाने का प्रयास किया है। यथा पवित्रसंज्ञक दो कुशतृणों की द्वित्व की उपपत्ति (द्र०—हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १०८, १०९॥४४॥

सम्प्रैषे कर्मगर्हानुपालम्भः संस्कारत्वात् ॥४५॥

सूत्रार्थ—(सम्प्रैषे) सम्प्रैष (=अग्नीदग्नीन् विहर रूप प्रैष) मन्त्र में [स बुद्धे किं बोधयेत् रूप] (कर्मगर्हा) ज्ञापनकर्म की निन्दा कही है, वह (संस्कारत्वात्) संस्काररूप होने से (अनुपालम्भः) उपालम्भ=दोष नहीं है।

विशेष—कहीं-कहीं सम्प्रैषकर्मगर्हा एकपदरूप पाठ उपलब्ध होता है। इस पाठ में भी अर्थ समान ही है (द्र०—कुतुहलवृत्ति)।

अथ यदुक्तम्—'प्रोक्षणीरासादय' इति बुद्धबोधनमशक्यम् । अत उच्चारणाद-दृष्टमिति' । तन्न । कर्त्तव्यमित्यपि विज्ञाते अनुष्ठानकाले स्मृत्या प्रयोजनम् । उपायान्त-रेणापि सा प्राप्नोति । अतोऽनेनोपायेन कर्त्तव्या, इति नियमार्थमाम्नानम् । संस्कार-त्वात् ॥४५॥

अभिधानेऽर्थवादः ॥४६॥ (उ०)

व्याख्या—और जो कहा है—'प्रोक्षणीरासादय (=प्रोक्षणीसंज्ञक जलों को रख') से कर्म के ज्ञाता को बोध कराना अशक्य है। इसलिये [इस प्रैषरूप मन्त्र के] उच्चारण से अदृष्ट होता है' । यह युक्त नहीं है । कर्तव्यरूप से विज्ञात होने पर भी अनुष्ठानकाल में स्मृति प्रयोजन है। वह [स्मृति] उपायान्तर से भी प्राप्त है । इसलिये इस [प्रैषरूप] उपाय से [स्मरण] करना चाहिये, इस नियम के लिये [प्रैषमन्त्र का] पाठ है । [उसके] संस्कारक होने से ॥४५॥

विवरण—बुद्धशास्त्रात् (सूत्र ३३) के भाष्य में अग्नीदग्नीन् विहर वचन उद्धृत किया था। यहां पर भी उसी वचन का निर्देश युक्त है। तन्त्रवार्तिक में भी अग्नीदग्नीन् विहर वचन ही निर्दिष्ट है। कुतुहलवृत्ति में भी इसी वचन का निर्देश है। क्या यहां भाष्य का पाठ भ्रष्ट हुआ है?. प्रोक्षणीरासादय उद्धरण के उपन्यास में प्रैषत्व की समानता होने से सामान्यतः कोई दोष नहीं है। केवल एकरूपता ही विच्छिन्न होती है। संस्कारत्वात्—सूत्रांश की व्याख्या भाष्यकार ने नहीं की। तन्त्रवार्तिक में दो प्रकार से व्याख्यान किया है। एक—स्मरण के संस्कार के लिये होने से। ज्ञानों के क्षणिक होने से स्वाध्यायकालों के ज्ञानों के प्रयोगकालपर्यन्त स्थिर न रहने से अवश्य किसी ध्यानादि उपाय से उन्हें स्मरण कराना ही होगा। उसमें मन्त्र का नियम किया है। इस प्रकार मन्त्रोच्चारण से स्मरण संस्कृत होता है। दूसरा—प्रैषमन्त्र ज्ञान कराने तक ही सीमित रहे, तो अनवकाश होवे। यहां तो उसके संस्कारमात्र में स्थिर होने से उस ज्ञान की अभिव्यक्ति द्वारा ज्ञानोत्पत्ति का अवसर है। इसलिये प्रैषमन्त्र का आनर्थक्य नहीं है ॥४५॥

अभिधानेऽर्थवादः ॥४६॥

सूत्रार्थ—[असद् और अचेतन पदार्थ के] (अभिधाने) कथन में (अर्थवादः) अर्थवाद= स्तुति जाननी चाहिये।

---

१. तै० ब्रा० ३।२।६।। पूर्वपक्ष-सूत्र (३३) भाष्ये (पृष्ठ १८७) अग्नीदग्नीन् विहर इत्यु-द्धरणमुपन्यस्तम् । एकरूपतायै इहापि तदेव वचनमुद्धरणीयम् । कुतुहलवृत्तौ तन्त्रवार्तिके चेह पूर्वोद्धृतम् अग्नीदग्नीन् विहर इत्येव वाक्यमुद्ध्रियते । अनेनानुमीयतेऽत्र भाष्यपाठो भ्रष्टः स्यात् । अन्यद्वा किमपि कारणमत्रोहनीयम् ।

२. व्रीहि आदि के प्रोक्षण (=शुद्ध करने) के लिये अग्निहोत्रहवणी पात्र में गृहीत संस्कृत (मतान्तर में असंस्कृत) जल 'प्रोक्षणी' कहाते हैं।

३. इन जलों को आपस्तम्बियों के मत में गार्हपत्य के आगे, और कात्यायनीयों के मत में प्रणीता और आहवनीय के मध्य में रखते हैं।

चत्वारि शृङ्गा इत्यसदभिधाने गौणः शब्दः । गौणी कल्पनाप्रमाणवत्त्वाद् उच्चारणाददृष्टमप्रमाणम् । चतस्रो होत्राः शृङ्गाणीवाऽस्य । त्रयोऽस्य पादा इति सवनाभिप्रायम् । द्वे शीर्षे इति पत्नीयजमानौ । सप्त हस्तास इति छन्दांस्यभिप्रेत्य । त्रिधा बद्ध इति त्रिभिर्वेदैर्बद्धः । वृषभः कामान् वर्षतीति । रोरवीति शब्दकर्मा । महो देवो मर्त्यान् आविवेशेति मनुष्याधिकाराभिप्रायम् । तद् यथा—चक्रवाकस्तनी हंसदन्तावली काशवस्त्रा शैवालकेशी[1] नदीति नद्याः स्तुतिः ।

विशेष—इस सूत्र के द्वारा 'असद् अर्थ का कथन' और 'अचेतन में अर्थबन्धन' रूप दो आक्षेपों का उत्तर दिया है । कुतुहलवृत्तिकार ने अभिधीयतेऽनेन व्युत्पत्ति से 'अभिधान' का अर्थ 'मन्त्र' माना है । उसका अभिप्राय है—'चत्वारि शृङ्गा' और 'शृणोत ग्रावाणः' मन्त्र में अर्थवाद=गौण अर्थ का कथन है ।

व्याख्या—चत्वारि शृङ्गा इत्यादि असत् के कथन में गौण शब्द हैं । गौणी कल्पना के प्रमाणवाली होने से उच्चारण से अदृष्ट की कल्पना अप्रमाण है । [चार ऋत्विजों से उच्चार्यमाण] चार प्रकार की वाक् इस [यज्ञ] के शृङ्गों के समान हैं । 'तीन पाद' से सवन अभिप्रेत हैं [अर्थात् सोमयाग में प्रातःसवन मध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन होते हैं । इन्हें तीन पाद (=स्थिति का आधार) जानना चाहिये] । दो शिर पत्नी और यजमान हैं । सात हाथ सात छन्दों के अभिप्राय से कहा है । तीन प्रकार से अथवा तीन स्थानों में बन्धा हुआ—तीन वेदों से बन्धा हुआ है । वृषभ=कामनाओं की वर्षा करने (=यजमान की सब कामनाओं को पूर्ण करने)वाला है । रोरवीति शब्दार्थक है । महान् देव मर्त्यों में प्रविष्ट हुआ, [यज्ञ का अधिकार मनुष्यों को है, इससे] यह मनुष्याधिकार के अभिप्राय से कहा है । [इस प्रकार यह मन्त्र यज्ञ का स्तावक है ।] जैसे—[नदी के दोनों किनारों पर बसनेवाले] "चकवा-चकवी जिसके स्तन हैं, [किनारे पर बैठे पंक्तिबद्ध] हंस जिसकी दन्तपंक्ति है, काश जिसके वस्त्र हैं, और शैवाल जिसके केश हैं, ऐसी नदी है", यह नदी की स्तुति है । [इस श्लोक में प्रयुक्त चक्रवाकस्तनी आदि शब्द गौणीवृत्ति से जैसे नदी के स्तावक हैं, उसी प्रकार चत्वारि शृङ्गा आदि शब्द यज्ञ के स्तावक हैं ।]

विवरण—गौणी कल्पनाप्रमाणवत्त्वात्—सर्वत्र यही पाठ उपलब्ध होता है। इस पाठ में 'कल्पना' शब्द के 'गौणी' शब्द के साथ साकाङ्क्ष होने से 'प्रमाण' शब्द के साथ समास प्राप्त नहीं होता। यदि इसे एक पद मानकर पहले 'गौणी' और 'कल्पना' शब्द का कर्मधारय समास करके पुनः 'प्रमाण' शब्द के साथ समास करने पर पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु (अष्टा० ६।३।४१) से पूर्वपद को पुंवद्भाव होकर गौणकल्पनाप्रमाणवत्त्वात् प्रयोग होना चाहिये । भाष्यकार कहीं-कहीं व्याकरण के नियमों से अननुमोदित शब्दों का भी प्रयोग करते हैं । जैसे प्रमाणायां स्मृतौ (१।३।३ सूत्र-भाष्य) उसी प्रकार यहां भी पुंवद्भाव का अभाव जानना चाहिये । गौणी कल्पना प्रमाणवत्त्वात् तीन पद मानने पर वाक्यार्थ उपपन्न नहीं होता ।

---

१. कुतुहलवृत्तिकर्त्राऽत्र एतदर्थगर्भः श्लोक एवं पठ्यते—
चक्रवाकस्तनी हंसदन्ता शैवालकेशिनी । काशाम्बरा फेनहासा नदी काऽपि विराजते ।।

यज्ञसमृद्धये साधनानां चेतनसादृश्यमुपपादयितुकाम आमन्त्रणशब्देन लक्षयति-ओषधे त्रायस्वैनम् इति; शृणोत ग्रावाणः इति । अतः परं प्रातरनुवाकानुवचनं भविष्यति । यत्राचेतनाः सन्तो ग्रावाणोऽपि शृणुयुः, किं पुनर्विद्वांसोऽपि ब्राह्मणा इति ? इत्थञ्चाचेतना अपि ग्रावाण आमन्त्र्यन्ते ॥४६॥

चतस्रो होत्राः—'होत्रा' शब्द निघण्टु १।११ में वाङ्नामों में पढ़ा है । यास्कमुनि ने निरुक्त १३।९ में वाक् के चार प्रकारों का अनेक प्रकार से व्याख्यान किया है । भाष्यकार के इस निर्देश से ज्ञात होता है कि भाष्यकार इस मन्त्र की यज्ञपरक व्याख्या द्वारा यज्ञ की स्तुति मानते हैं । कुछ भेद से इस मन्त्र का यज्ञपरक व्याख्यान निरुक्त १३।७ में भी मिलता है । निरुक्तकार के व्याख्यान का आधार गोपथ ब्राह्मण पू० २।१७ है । भट्ट कुमारिल ने शबरस्वामी के व्याख्यान से सन्तुष्ट न होकर अन्यथा व्याख्यान किया है । तन्त्रवार्तिक के टीकाकार ने अपरितोष का कारण इस प्रकार व्यक्त किया है—'इस (भाष्यकारीय) व्याख्यान में प्रदेशविशेष (=मन्त्र किस कर्म में विनियुक्त है, इस) का ज्ञान न होने से मन्त्र की अदृष्टार्थता की प्राप्ति से असन्तुष्ट होकर विनियोग के अनुसार स्वयं (=भट्ट कुमारिल) अन्य प्रकार से व्याख्यान करते हैं (न्यायसुधा, पृष्ठ ११०) । भट्ट कुमारिल की भिन्न मन्त्रव्याख्या उसके तन्त्रवार्तिक और न्यायसुधा में देखनी चाहिये ।

त्रिधा बद्धः—का अर्थ भाष्यकार ने तीन वेदों (ऋक् यजुः साम) से बन्धा हुआ किया है । इसका कारण यह है कि भाष्यकार चौथे अथर्ववेद को यज्ञोपयोगी नहीं मानते । गोपथ ब्राह्मण (पू० २।१७) तथा निरुक्त (१३।७) में चत्वारि शृङ्गा का अर्थ चार वेद किया है, और त्रिधा बद्धः का मन्त्र ब्राह्मण कल्प से बन्धा हुआ । हमारे विचार में गोपथब्राह्मण और निरुक्त की व्याख्या अधिक युक्त है । क्योंकि अथर्व का वेदत्व वैदिक ग्रन्थों में असन्दिग्ध रूप से स्वीकृत है । जहां-कहीं तीन वेदों का उल्लेख है, वहां भी ऋक् यजुः और साम शब्दों से मन्त्रों के पद्य गद्य और गान तीन भेद (द्र०—मी० २।१।३५, ३६, ३७) के अनुसार जानने चाहियें । यह अविद्ध मार्ग है । **महान् देवः**—यज्ञ की महत्ता पाकयज्ञ हविर्यज्ञ सोमयज्ञ और इनके विविध भेद-प्रभेदों के कारण है ।

चक्रवाकस्तनीम्—इस श्लोक का पूरा पाठ इस प्रकार है—

चक्रवाकस्तनी हंसदन्ता शैवालकेशिनी ।
काशाम्बरा फेनहासा नदी काऽपि विराजते ॥ (कुतुहलवृत्ति में उद्धृत)

भाष्यकार ने सम्भवतः इसका अर्थतः निर्देश किया है ॥

व्याख्या—यज्ञ की समृद्धि (=पूर्णता) के लिये यज्ञ के साधनों का चेतनसादृश्य उपपादन की कामनावाला आमन्त्रण (=सम्बोधन) शब्द से लक्षित करता है—हे ओषधे इसकी रक्षा कर; हे पाषाणो सुनो । इसके पश्चात् प्रातरनुवाक का अनुवचन (=पाठ) होगा । जिसमें अचेतन होते हुये पाषाण भी [प्रातरनुवाक का] श्रवण करेंगे, फिर विद्वान् ब्राह्मणों का क्या कहना ? [अर्थात् उन्हें तो सुनना ही चाहिये ।] इस दृष्टि से अचेतन पाषाण आमन्त्रित किये जाते हैं ॥४६॥

गुणादविप्रतिषेधः स्यात् ॥४७॥ (उ०)

अदितिद्यौः इति गौण एष शब्दः। अतो न विप्रतिषेधः। यथा—त्वमेव माता पितेति[1]।

विवरण—चेतनसादृश्यम्—यही बात महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस प्रकार कही है—अचेतनेष्वपि चेतनवद् उपचारो दृश्यते। तद्यथा—स्रस्तान्यस्य बन्धनानि, स्रस्यन्ते अस्य बन्धनानि (महाभाष्य ४।१।२७)। अर्थात् अचेतन पदार्थों में भी चेतन के समान प्रयोग (=व्यवहार) लोक में देखा जाता है। जैसे—इसके बन्धन खिसक गये, इसके बन्धन खिसक रहे हैं। यह व्यवहार लोक-वेद-सामान्य है। परन्तु इस चेतनवद्=चेतनसदृश व्यवहार को देखकर ही बड़े-बड़े विद्वानों ने अचेतन अग्नि वायु सूर्य प्रभृति देवों में अधिष्ठातृवाद (=अधिष्ठात्री चेतन देव) की अवैदिक कल्पना कर ली। पाश्चात्य विद्वानों ने चेतनसदृश व्यवहार के आधार पर आर्यों को जड़पूजक मान लिया। वस्तुतः चेतनवद् वायो आ याहि प्रयोग का तात्पर्य वायु के गतिमत्त्व के कथन में है। अतः वायो आ याहि का तात्पर्य वायुरागच्छति ही है। इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तत्राचेतने चेतनवद् व्यवहारे न दोषो भवति का प्रतिपादन करते हुये भी वायवा याहि (ऋ० १।२।१) के भौतिक अर्थ में (वायो) अयं भौतिको वायुः (आ याहि) आगच्छति अर्थ लिखा है (द्र०—ऋग्भाष्य नमूने का अंक, दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह, पृष्ठ १६५; ऋग्भाष्य १।२।१)। इस दृष्टि को न समझकर जो लोग स्वामी दयानन्द पर बलात् विभक्तिव्यत्यय वा पुरुषव्यत्यय का दोष लगाते हैं, वे स्वयं अविदितलोकवेदव्यवहार हैं।

अतः परं प्रातरनुवाकवचनम्—इससे विदित होता है कि शृणोत ग्रावाणः मन्त्रपाठ के अनन्तर प्रातरनुवाक का अनुवचन होता है। परन्तु हम पूर्व सूत्र ३५ पर सायण के मतानुसार लिख चुके हैं कि प्रातरनुवाक की परिधानीया ऋचा के पाठ के समकाल शृणोत ग्रावाणः पदघटित ऋचा का पाठ होता है। दोनों पक्षों में कृतभूरिपरिश्रम याज्ञिक ही प्रमाण हैं। ग्रावाणोऽपि शृणुयुः—भट्टभास्कर ने इस मन्त्र के व्याख्यान में ग्रावाणः के विषय में तीन मत उद्धृत किये हैं—ग्रावाणो ग्रावकल्पा इत्येके, वर्षणशीला मेघा इत्यन्ये, ग्रावाण एवेत्यपरे। इसका भाव यह है कि प्रथम पक्ष में ग्रावाणः का अर्थ है—ग्रावकल्प=पत्थर जैसे, सुख-दुःख के स्पर्श से विहीन द्वन्द्वातीत पुरुष। दूसरे पक्ष में वर्षणशील मेघ अर्थ ग्रावाणः पद का मेघनामों में पाठ होने से किया है। तीसरे पक्ष में पाषाण अर्थ ही है। इनमें प्रथम पक्ष में शृणोत प्रयोग साक्षात् उपपन्न हो सकता है। दूसरे और तीसरे पक्ष में गौणी कल्पना का ही आश्रय लेना पड़ेगा ॥४६॥

गुणाद् अविप्रतिषेधः स्यात् ॥४७॥

सूत्रार्थ—(गुणात्) गुणवाद से (अविप्रतिषेधः) अविरोध=विरोध का अभाव (स्यात्) होगा।

व्याख्या—अदितिर्द्यौः में द्यौः आदि गौण शब्द हैं। इसलिये विरोध नहीं होगा।

१. द्रष्टव्यम्—त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

तथैकरुद्रदैवत्ये एको रुद्रः, शतरुद्रदैवत्ये शतं रुद्राः। इत्यविरोधः ॥४७॥

विद्यावचनमसंयोगात् । ४८॥ (उ०)

यत्तु--अकर्मकालेऽवहन्तिमन्त्रेण माणवको न पूर्णिकाऽवहन्ति प्रकाशयितुमिच्छतीति । अयज्ञसंयोगाद्, न यज्ञोपकारायैतत् प्रकाशयितुमिच्छति । ननु प्रकाशना-

---

जैसे—त्वमेव माता च पिता में [एक को ही माता-पिता भाई-बन्धु आदि कहा है]। और एक रुद्र-देवतावाले कर्म में एक रुद्र [निर्देशक मन्त्र विनियुक्त होता है], तथा शतरुद्रदेवतावाले कर्म में शत रुद्र [का निर्देश किया जाता है] । इस प्रकार अविरोध जानना चाहिये ॥४७॥

विवरण—इन उद्धृत वचनों में अविरोध इस प्रकार भी समझा जा सकता है—'अदिति' चराचर सृष्टि के मूल कारण प्रकृति का नाम है । निरुक्त ४।२२-२३ में इसी मन्त्र के व्याख्यान में कहा है—अदितिर्देवमाता अदितिर्द्यौः · अदितिर्जनित्वम् इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे । अर्थात् अदिति द्यौ आदि देवों की माता=निमार्त्री है···जो कुछ उत्पन्न हुआ है, और जो उत्पन्न होगा, सब अदिति है । इस मन्त्र से अदिति की विभूति=महिमा का वर्णन किया है । यदि न्यायशास्त्र के शब्दों में कहा जाय, तो इसका तात्पर्य है—कारण (=प्रकृति) में कार्य द्यौ आदि का उपचार । अथवा निमित्त में निमित्तक का उपचार।जैसे आयुर्वै घृतम् आयु के निमित्त घृत का प्रयोग आयु ही घृत है। एक रुद्र और अनेक रुद्रों में विरोध का परिहार इस प्रकार जानना चाहिये—व्यक्ति के एक होने पर भी उसकी अनेक व्यक्ति-समकक्ष शक्तिमत्ता के कारण उसका वर्णन अनेक व्यक्तिवत् किया जाता है। जैसे—एक सिक्ख से भी पूछना हो कि आप कहां से आ रहे हैं, तो पूछा जाता है—फौजां कित्थो आ रहियां (=फौजें कहां से आ रही हैं) । गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्खों में वह आत्मबल उत्पन्न कर दिया था, जिससे एक सिक्ख युद्ध में अपने को सवा लाख व्यक्तियों के बराबर समझता था। अथवा रुद्रों=प्राणों के असंख्य होने पर भी प्राणत्वजाति के रूप में एकत्व और व्यक्तियों की दृष्टि से अनेकत्व कहा है ॥४७॥

विद्यावचनमसंयोगात् ॥४८॥

सूत्रार्थ—[मन्त्रों के अक्षरग्रहणरूप अध्ययनकाल में] (विद्यावचनम्) विद्या=अर्थ-प्रकाशन का अवचन=कथन नहीं होता, (असंयोगात्) कर्म के साथ [मन्त्र का] सम्बन्ध न होने से ।

व्याख्या—और, जो—कर्मकाल (=यज्ञकर्मकाल) से अन्यत्र अवहनन मन्त्र से [मन्त्राक्षर का अभ्यास करनेवाला] माणवक पूर्णिका स्त्री के द्वारा की जा रही [धान की] अवहनन (=कूटना) क्रिया को प्रकाशित नहीं करना चाहता है । यज्ञ का संयोग न होने से, यज्ञ के उपकार के लिये इस अवहनन क्रिया को प्रकाशित नहीं करना चाहता है। (आक्षेप) [अवहनन क्रिया के] प्रकाशन का अनभ्यास और अक्षरों का अभ्यास आक्षिप्त किया था [अर्थात् अवहनन क्रिया के प्रकाशन का अभ्यास नहीं करता, अक्षरों का अभ्यास करता है, इस से जाना

नभ्यासोऽक्षराभ्यासश्च परिचोदितः। उच्यते—सौकर्यात् प्रकाशनानभ्यासः, दुर्ग्रहत्वाच्चाक्षराभ्यासः ॥४८॥

सतः परमविज्ञानम् ॥४९॥ (उ०)

विद्यमानोऽप्यर्थः प्रमादालस्यादिभिर्नोपलभ्यते । निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः। यथा—सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू इत्येवमादीनि अश्विनोरभिधानानि द्विवचनान्तानि लक्ष्यन्ते। 'अनेन अश्विनोः काममप्रा'[1][2] इत्याश्विनं सूक्तमवगम्यते। देवताभिधानानि च घटन्ते जर्भरीत्येवमादीनि। अवयवप्रसिद्धचा च लौकिकेन अर्थेन विशेष्यन्ते। जर्भरी भर्त्तारौ। तुर्फरीतू हन्ताराविति। एवं सर्वत्र ॥४९॥

जाता है कि मन्त्रों का अर्थप्रकाशन प्रयोजन नहीं है।] (समाधान) इस विषय में कहते हैं—सुगमता होने से [अवहनन क्रिया के] प्रकाशन का अभ्यास नहीं करता है, और [मन्त्राक्षर-ग्रहण के] दुर्ग्रह (=कठिनाई से कण्ठस्थीकरण) होने से अक्षरों का अभ्यास करता है ॥४८॥

विवरण—'ननु च' से जिस आक्षेप को स्मरण कराया है, उसका निर्देश पूर्वपक्ष में नहीं किया है। पुनरपि इसके आक्षेप की सम्भावना होने से उस का निर्देश करके भाष्यकार ने समाधान किया है। सौकर्यात्—कर्म का अभ्यास करना सुकर है, इसलिये अध्येता मन्त्राभ्यास के साथ-साथ कर्म का अभ्यास नहीं करता, दुर्ग्रहत्वात्—मन्त्राक्षरों का कण्ठस्थीकरण कठिनाई से सम्पन्न होता है, इसलिये अध्येता मन्त्राक्षरों का अभ्यास करता है ॥४८॥

सतः परमविज्ञानम् ॥४९॥

सूत्रार्थ—जो (परम्) अन्य कारण=अर्थ का ज्ञान न होना कहा है, वह (सतः) अर्थ होते हुये का भी [अर्थग्रहण-योग्यता के अभाव के कारण] (अज्ञानम्) अर्थ-ज्ञान का अभाव जानना चाहिये।

व्याख्या—विद्यमान अर्थ भी प्रमाद आलस्य आदि कारणों से नहीं जाना जाता है। निगम निरुक्त व्याकरण आदि के द्वारा धातु से अर्थ की कल्पना करनी चाहिये। जैसे—सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू इत्यादि दो अश्विनियों के कहनेवाले द्विवचनान्त शब्द दिखाई पड़ते हैं। अश्विनोः काममप्राः इससे [यह] आश्विन सूक्त है, यह जाना जाता है। [इस हेतु से] जर्भरी आदि [अश्विनौ] देवता के अभिधायक होते हैं। और अवयव-प्रसिद्धि से लौकिक अर्थ से विशेषित होते हैं। जर्भरी = भर्तारौ = भरणपोषण करनेवाले, तुर्फरीतू=हन्तारौ = मारनेवाले। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये ॥४९॥

---

१. 'अनेन' पदस्य इति पदात्परं सम्बन्धो ज्ञेयः 'अश्विनोः काममप्राः' इत्यनेनाश्विनं···।

२. ऋ० १०।१०६।११॥

उक्तश्चानित्यसंयोगः ।।५०।। (उ०)

'परं तु श्रुतिसामान्यम्' इत्यत्रेति ।।५०।।

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् ।।५१।। (उ०)

विवरण—निगम का अर्थ है निश्चित अर्थ का वोध करानेवाले मन्त्र। इस अर्थ में यास्क ने मन्त्र को उद्धृत करके इति निगमो भवति; इत्यपि निगमो भवति शब्दों का प्रयोग किया है। बहुत्र मन्त्रों से भी मन्त्रान्तरों के अर्थों के स्पष्टीकरण में महती सहायता मिलती है। अश्विनोरभिधानानि द्विवचनान्तानि—अश्विनौ दो देवता हैं, और इनकी साथ ही स्तुति होती है। इस अभिप्राय से द्विवचनान्तत्व हेतु से जर्भरी आदि को अश्विनौ के अभिधायक कहा है। परन्तु वेद में केवल अश्विनौ ही युगल नहीं है। मित्रावरुण अग्नीषोम आदि अनेक युगल देवों की स्तुतियां देखी जाती हैं। इसलिये द्विवचनान्तानि अश्विनौ के अभिधायकत्व में हेतु नहीं हो सकता। अतः भाष्यकार ने इस सूक्त के अश्विना काममप्राः (ऋ० १०।१०६।११) मन्त्रांश को उद्धृत करके जर्भरी आदि द्विवचनान्तों को अश्विनौ का अभिधायक दर्शाया है। अवयवप्रसिद्धया—प्रकृति-प्रत्यय अथवा दोनों में से एक की प्रसिद्धि से अर्थ करने का निर्देश करके जर्भरी का भर्त्तारौ और तुर्फरीतू का हन्तारौ अर्थ दर्शाया है। जर्भरी में शब्दसाम्य से भृञ् भरणे धातु, और तुफरीतू में तुफ तुम्फ हिंसार्थौ धातु की कल्पना करके उक्त अर्थ दर्शाये हैं। 'तुफ' धातु में 'रम्' (=मध्य में रेफ) का आगम, और 'तुम्फ' में मकार को रेफादेश छान्दस जानना चाहिये। कुतुहलवृत्तिकार ने 'तुर्फ हिंसायाम्' धातु की प्रकल्पना की है। सौकर्यार्थ तुर्फ हिंसायाम् छान्दस धातु मानना अधिक युक्त है। निरुक्त १३।५ में भी इन पदों का यही अभिप्राय लिखा है। सृण्येव मन्त्र तथा पूर्वपक्षस्थ भाष्य में उदाहृत मन्त्रों का अर्थ भट्ट कुमारिल के तन्त्रवार्तिक तथा निरुक्त के अनुसार जानना चाहिये। विस्तारभय से हमने उन्हें नहीं लिखा है ।।४९।।

उक्तश्चानित्यसंयोगः ।।५०।।

सूत्रार्थ—[मन्त्रों में] (अनित्यसंयोगः) अनित्य पदार्थों के संयोगरूप दोष का समाधान (उक्तः) [परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् (१।१।३१) में] कह दिया है।

व्याख्या—[अनित्य-संयोग का समाधान] परं तु श्रुति सामान्यमात्रम् (१।१।३१) में कह दिया है ।।५०।।

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् ।।५१।।

सूत्रार्थ—(च) और (लिङ्गोपदेशः) लिङ्ग=देवताबोधक शब्द का उपदेश=कथन अथवा निर्देश 'तत्) वह=मन्त्र (अर्थवद्) अर्थवान् है' इसका बोधक है।

विशेष—पूर्वपक्षी ने मन्त्रों के अनर्थकत्व में जो हेतु दिये थे, उनका समाधान करके सूत्रकार तीन सूत्रों से मन्त्रों के अर्थवान् होने में प्रमाण उपस्थित करते हैं। मन्त्र शब्द पुंल्लिङ्ग है, और सूत्र

आग्नेय्याऽग्नीध्रमुपतिष्ठते इति विधानाद् विवक्षितार्थानामेव मन्त्राणां भवति लिङ्गेनोपदेशः। यदि तेऽग्निप्रयोजनास्ततस्ते आग्नेय्याः, नाग्निशब्दसन्निधानात् ॥५१॥

ऊहः ॥५२॥ (उ०)

में तत् और अर्थवत् नपुंसक पद हैं। इसलिये इनकी संगति इस प्रकार जाननी चाहिये। मन्त्र तीन प्रकार के हैं—ऋक् यजुः साम (द्र०—मी० २।१।३५-३७)। इनमें साम गीतिरूप होने से अनर्थक हैं, शेष ऋक् और यजुःसंज्ञक मन्त्रों की अर्थवत्ता तीन सूत्रों से दर्शाई है। तत् और अर्थवत् पदों में एकशेष है। सा च ऋक् तच्च यजुः=तत् मन्त्रजातम्, अर्थवती च ऋक् अर्थवच्च यजुः=अर्थवत् मन्त्रजातम्। नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् (अष्टा० १।२।६९) नियम से नपुंसकलिङ्ग का शेष और एकवचन जानना चाहिये।

व्याख्या—आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते (=अग्निदेवतावाली ऋचा से आग्नीध्र खर का उपस्थान करता है) इस विधान से विवक्षित अर्थवाले मन्त्रों का ही लिङ्ग (='आग्नेय्या' =अग्निदेवतावाली ऋचा) से उपदेश (=उपस्थान करने का निर्देश) होता है। यदि वे [मन्त्र] अग्नि (=अग्नि आदि) के प्रयोजनवाले होवें, तब वे अग्नि शब्द के पाठ से आग्नेय होवें, अग्नि शब्द के सन्निधान मात्र से नहीं ॥५१॥

विवरण—भाष्यकारोद्धृत वचन यथातथरूप में हमें उपलब्ध नहीं हुआ। इसी प्रकार का आग्नेय्यर्चाऽऽग्नीध्रमभिमृशेत् (=अग्निदेवतावाली ऋचा से आग्नीध्रसंज्ञक खर का स्पर्श करे) वचन तै० सं० ३।१।६ में मिलता है। आग्नीध्र खर का निर्माण सोमयाग में किया जाता है। उत्तरवेदि के दक्षिण में चात्वाल-संज्ञक स्थान की मृत्तिका से एक हाथ चौकोर चार हाथ ऊंचा जो स्थान बनाया जाता है, वह खर कहाता है (द्र०—श्रौतपदार्थनिर्वचन पृष्ठ १५४, सन्दर्भ १६७ की अन्तिम दो पंक्तियां)। आग्नीध्र खर को आग्नीध्रीय खर भी कहा जाता है। आग्नेय्या—'अग्निदेवता है इस ऋचा का' इस अर्थ में अग्नेर्ढक् (अष्टा० ४।२।३२) सूत्र से अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय=आग्नेय, स्त्रीलिङ्ग में ङीप्=आग्नेयी प्रयोग होता है। तेऽग्निप्रयोजनाः—अग्निदेवता की स्तुति आदि प्रयोजन के साथ मन्त्र का सम्बन्ध होने पर ही वे मन्त्र आग्नेय कहावेंगे। इससे देवतालिङ्ग निर्देशपूर्वक विनियोगों के विधान से मन्त्रों का अर्थवत्त्व ज्ञापित होता है ॥५१॥

ऊहः ॥५२॥

सूत्रार्थ—[अनुवृत्ति—तदर्थवत्।] (ऊहः) ऊह [का उपदेश भी] 'मन्त्र अर्थवान् हैं' का बोधक है।

विशेष—प्रकृति में आम्नात मन्त्र का विकृति में प्रकृति से भिन्न विकृतिविषयक अर्थ को कहने के लिये प्रकृतिगत मन्त्र में तद्गत अर्थानुकूल पद के स्थान में विकृत्यर्थ के अनुकूल पद का प्रक्षेप करना 'ऊह' कहाता है। यथा प्रकृति (=दर्शपौर्णमास) में आग्नेय हवि के निर्वाप के लिये पठित मन्त्र का भाग है—अग्नये जुष्टं निर्वपामि (तै० सं० १।१।४)। सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्म-

ऊहदर्शनं च विवक्षितार्थानामेव भवति। किमूहदर्शनम्? न पिता वर्द्धते न माता[1] इति। अन्ये वर्द्धन्ते इति गम्यते। प्रत्यक्षं कौमारयौवनस्थाविरैर्वर्द्धन्ते मात्रादयः। शब्दो न वर्द्धत इति ब्रूते। का पुनः शब्दस्य वृद्धिः? यद् द्विवचनबहुवचनसंयोगः ।।५२।।

वर्चस्कामः[2] से ब्रह्मवर्चस की कामनावाले के लिये सौर्येष्टि का विधान है। प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या नियम से सौर्येष्टि में प्रकृति से अग्नये जुष्टं निर्वपामि मन्त्र उपस्थित होता है। मन्त्रगत अग्नये पद प्रकृति में आग्नेय पुराडाश के लिये हविर्निर्वाप में अर्थानुकूल था। परन्तु सौर्येष्टि में सूर्य देवता होने से अग्नये पद सौर्येष्टि के अभिप्राय के अनुरूप नहीं है। अतः सौर्येष्टि के अनुरूप मन्त्रपाठ को बनाने के लिये अग्नये पद हटाकर सूर्याय पद का प्रक्षेप किया जाता है। इसे ही 'ऊह' कहते हैं। ऊह मन्त्रोह सामोह और संस्कारोह भेद से तीन प्रकार का है। पूर्व व्याख्यात ऊह मन्त्रोह है। मन्त्रोह के भी नामोह (=प्रातिपदिक का ऊह), लिङ्गोह (=लिङ्ग-परिवर्तन), और विभक्त्यूह (=विभक्ति का परिवर्तन) तीन भेद हैं। इस विषय में हमने ऊहः खल्वपि के प्रकरण में महाभाष्य की हिन्दी-व्याख्या में विस्तार से लिखा है (द्र०—महाभाष्य हिन्दी-व्याख्या, भाग १, पृष्ठ ८—१०)। पाठक वहां पर इस विषय का विवेचन देख सकते हैं। यहां प्रकृतोपयोगी ही अंश लिखा है।

व्याख्या—ऊह का दर्शन भी विवक्षित अर्थवाले (=अर्थवान्) मन्त्रों का ही उपपन्न होता है [अर्थात् मन्त्रों को अर्थवान् मानने पर ही ऊह का विधान हो सकता है]। ऊहदर्शन क्या है? न पिता वर्धते न माता (=पिता माता नहीं बढ़ते)। इससे जाना जाता है कि अन्य बढ़ते हैं। प्रत्यक्ष ही माता आदि कौमार यौवन और वृद्ध अवस्थाओं से बढ़ते हैं। [इससे जाना जाता है कि माता और पिता] शब्द नहीं बढ़ते, यह [न माता वर्धते न पिता वचन] कहता है। शब्द की वृद्धि क्या है? जो [एकवचन से सम्बद्ध शब्द का] द्विवचन बहुवचन से संयोग होना है ।।५२।।

विवरण—ज्योतिष्टोम में अग्निषोमीय पशु-सम्बन्धी मन्त्र है—अन्वेनं मातानुमन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः (तै० ब्रा० ३।६।६)। जब किसी विकृति में अनेक पशु होते हैं, तब पशुओं के बहुत्व की दृष्टि से उक्त मन्त्रस्थ माता-पिता आदि शब्दों का भी ऊह प्राप्त होता है। उसमें कहा है—न माता वर्धते न पिता, अर्थात् पशुओं के दो अथवा बहुत होने पर माता-पिता शब्दों में जो बहुत्व प्राप्त होता है, वह नहीं होता। भाष्यकार ने प्राप्तौ सत्यां निषेधः न्याय से न माता वर्धते न पिता इस ऊहनिषेधक वचन से ऊह की प्राप्ति दर्शाई है। ऊह की प्राप्ति बिना मन्त्रों का अर्थवत्त्व माने नहीं होती। अतः ऊह से मन्त्र अर्थवान् हैं, यह जाना जाता है। भर्तृहरि ने महाभाष्य-दीपिका में ऊह विषय पर बहुत विस्तृत विचार किया है। द्र०—महाभाष्य १।१ प्रथम आह्निक 'ऊहः खल्वपि' वचन की व्याख्या ।।५२।।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. सौर्यं घृते चरुं निर्वपेत् शुक्लानां व्रीहीणां ब्रह्मवर्चस्कामः (मै० सं० २।२।२); यो ब्रह्मवर्चस्कामः स्यात्, तस्मा एतं सौर्यं चरुं निर्वपेत् (तै० सं० २।३।२)।

विधिशब्दाश्च ॥५३॥ (उ०)

विधिशब्दाश्च विवक्षितार्थनिव मन्त्राननुवदन्ति । शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यासम्' इत्येतदेवाहेति ॥५३॥ इति मन्त्रलिङ्गाधिकरणम् ॥४॥

इति श्रीशबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य
द्वितीयः (अर्थवादपादाभिधेयः) पादः ॥

विधिशब्दाश्च ॥५३॥

सूत्रार्थ—(च) और (विधिशब्दाः) विधि=विधान=व्याख्यान शब्द भी मन्त्रों के अर्थवत्व के ही बोधक हैं।

व्याख्या—विधिशब्द (=व्याख्यान शब्द) विवक्षितार्थ मन्त्रों का ही अनुवदन करते हैं। शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यासमित्येतदेवाह (='शतं हिमाः' मन्त्र सौ वर्ष तक मैं जीऊं इसी को कहता है)[1]। [यहां ब्राह्मणवचन का आह पद इस बात को बोधित करता है कि शतं हिमाः मन्त्र सौ वर्ष जीने का निर्देश करता है। यदि मन्त्र का अपना अर्थ न हो, तो ब्राह्मण का 'शतं वर्षाणि जीव्यासम्' ऐसा मन्त्र कहता है, कथन उपपन्न ही न होवे ॥५३॥

विवरण—शतं हिमाः···पाठ शतपथ २।३।४।२१ में इस प्रकार उपलब्ध होता है—इन्धानास्त्वा शतं हिमा द्युमन्तं समिधीमहि (यजुः ३।१८) इति शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाह ···। यह मन्त्र आहवनीय के उपस्थान में विनियुक्त है (श० ब्रा० सायणभाष्य २।३।४।१८)। कुतुहलवृत्तिकार के मतानुसार यह मन्त्र तै० सं० १।५।६ में दर्शपौर्णमास में गार्हपत्य के उपस्थान में विनियुक्त है। तै० सं० (१।५।८) में पाठ है—शतं हिमा इत्याह शतं वा हेमन्तान् इन्धिषीयेति वैतदाह ॥५३॥

—:०:—

---

१. तुलनीयम्—इन्धानास्त्वा शतं हिमा द्युमन्तं समिधीमहि (यजुः ३।१८) इति शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाह । शत० २।३।४।२१॥

प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

[स्मृतिप्रामाण्याधिकरणम्।।१।।]

एवं तावत् कृत्स्नस्य वेदस्य प्रामाण्यमुक्तम् । अथेदानीं यत्र न वैदिकं शब्दमुपलभेमहि, अथ च स्मरन्ति—एवमयमर्थोऽनुष्ठातव्यः, एतस्मै च प्रयोजनाय इति । किमसौ तथैव स्यान्न वेति ? यथा—अष्टकाः कर्त्तव्याः, गुरुरनुगन्तव्यः, तडागं खनितव्यम्, प्रपा प्रवर्त्तयितव्या, शिखाकर्म कर्त्तव्यमित्येवमादयः । तदुच्यते—

व्याख्या—इस प्रकार सम्पूर्ण (=मन्त्रब्राह्मणात्मक) वेद का प्रामाण्य कह दिया। अब [विचारणीय है कि] जिस विषय में किसी वैदिक शब्द को उपलब्ध नहीं करते, तथापि [स्मृतिकार] स्मरण (=विधान) करते हैं—यह पदार्थ इस प्रकार अनुष्ठान के योग्य है, और इस प्रयोजन के लिये [इसका अनुष्ठान करना चाहिये]। सो क्या वह [पदार्थ] वैसे ही [कर्तव्य] होवे, अथवा न होवे ? जैसे—अष्टकासंज्ञक कर्म करना चाहिये, गुरु का अनुगमन करना (=पीछे चलना) चाहिये, तलाव खोदना चाहिये, अर्थात् तलाब बनवाना चाहिये, प्याऊ लगानी चाहिये, और शिखाकर्म करना चाहिये (=चोटी रखनी चाहिये) इत्यादि। इस विषय में कहते हैं—

विवरण—अष्टका नामक कर्म का गृह्यसूत्रों में निर्देश मिलता है। यथा—हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्टकाः (आश्व० गृह्य २।४।१); ऊर्ध्वमाग्रहिण्यास्तिस्रोऽष्टमीष्वष्टकास्वपरपक्षेषु (कौ० गृह्य ३।१५।१)। इसी प्रकार अन्य गृह्यसूत्रों में भी अष्टका का विधान है। अगहन की पौर्णमासी के पश्चात् (अमान्तमासानुसार) अगहन पौष माघ और फाल्गुन के कृष्णपक्ष की अष्टमियों में यह कर्म होता है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी उणादिकोष ३।१४८ की वृत्ति में **अष्टका वैदिकंकर्मविशेषो वा** लिखकर इस कर्म का वैदिकत्व स्वीकार किया है। इस कर्म में दर्शपौर्णमास निर्दिष्ट पिण्डपितृयज्ञ (मृतकश्राद्ध नहीं) सदृश पितृकर्म है। इसमें निर्दिष्ट पशुहिंसा को वे अवैदिक मानते हैं । केवल इस कर्म में जितना होमकर्म है, वही उन्हें प्रमाण है । सूत्रों में अपरपक्ष निर्देश से अमान्तमास जानना चाहिये। उत्तर भारतीय पौर्णमास्यन्त मासपक्ष में अष्टमियां क्रमशः पौष माघ फाल्गुन और चैत्र के कृष्ण पक्ष की होंगी। ४ वा ३ अष्टका का विधान मतभेद से जानना चाहिये। ३ पक्ष में अमान्त अगहन की कृष्णपक्ष की अष्टमी में यह कर्म नहीं होता। अमान्त-पौष माघ और फाल्गुन (उत्तर भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार माघ फाल्गुन और चैत्र) के कृष्णपक्ष की अष्टमी में यह कर्म होता है। प्राचीनकाल में अमावास्यान्त ही मासगणना होती थी। दक्षिण भारत में अभी भी अमान्तमास गणना होती है। उत्तरभारतीय पञ्चाङ्गों में भी अमावास्या का संकेत ३० संख्या से किया जाता है। ३० संख्या मास की पूर्त्ति की बोधिका है । इससे भी पूर्वकाल में सर्वत्र

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात् ॥१॥ (पू०)

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यादिति । शब्दलक्षणो धर्म इत्युक्तम्—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः[1] इति । अतो निर्मूलत्वान्नापेक्षितव्यमिति । ननु [2]ये विदुरित्थमसौ पदार्थः कर्त्तव्य इति, कथमिव ते वदिष्यन्त्यकर्त्तव्य एवायमिति ? स्मरणानुपपत्त्या । न ह्यननुभूतोऽश्रुतो वाऽर्थः स्मर्यते । न चास्यावैदिकस्याऽलौकिकस्य च स्मरणमुपपद्यते, पूर्वविज्ञानकारणाभावादिति । या हि बन्ध्या स्मरेत्—'इदं मे दौहित्रकृतमिति', न मे दुहिताऽस्तीति मत्वा, न जातुचिदसौ प्रतीयात्—'सम्यगेतज्ज्ञानमिति' ।

एवमपि यथैव पारम्पर्येणाऽविच्छेदाद् 'अयं वेदः' इति प्रमाणम् एषां स्मृतिः, एवमियमपि प्रमाणं भविष्यतीति । नैतदेवम् । प्रत्यक्षेणोपलब्धत्वाद् ग्रन्थस्य, नानुपपन्नं पूर्व-

---

अमान्तमास की परिपाटी थी, यह ज्ञात होता है। उत्तरभारत में मासगणना १५ दिन पूर्व से करके पूर्णिमा पर मास समाप्त करने की कल्पना कब से प्रारम्भ हुई, यह अज्ञात है।

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात् ॥१॥

सूत्रार्थ—(धर्मस्य) धर्म के (शब्दमूलत्वात्) चोदना-शब्दमूलक होने से (अशब्दम्) चोदना-शब्दरहित कर्म (अनपेक्षम्) अनपेक्षित=अकर्तव्य (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—धर्म के चोदना-शब्दमूलक होने से चोदना-शब्दरहित कर्म अकर्तव्य होवे। धर्म चोदना-शब्द-लक्षित है, यह कह चुके—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (१।१।२) । इसलिये [अष्टकाः कर्तव्याः इत्यादि के] निर्मूल होने से अपेक्षा नहीं करनी चाहिये [अर्थात् अनुष्ठान नहीं करना चाहिये] । (आक्षेप) जो [स्मृतिकथित कर्म के अनुष्ठाता] जानते हैं कि यह पदार्थ इस प्रकार करना चाहिये, वे ही कैसे कहेंगे कि यह अकर्तव्य है ? (समाधान) स्मरण की उपपत्ति न होने से । जो अर्थ अनुभूत अथवा सुना हुआ नहीं है, उसका स्मरण नहीं होता है। [इस कारण] इस [अष्टका आदि] कर्म, जो वेद में अपठित और अलौकिक है, का स्मरण उपपन्न नहीं होता है, पूर्व ज्ञान का कारण न होने से । जो बन्ध्या स्त्री स्मरण करे—'यह मेरे दौहित्र (=दोहते) का किया हुआ है', मेरी दुहिता ही नहीं है ऐसा विचार कर, वह कभी नहीं जानेगी कि—'मेरा स्मरणज्ञान ठीक है' ।

(आक्षेप) इस प्रकार भी जैसे पारम्पर्य से अविच्छेद होने से 'यह वेद है' इसमें इन [वैदिकों] की स्मृति प्रमाण है, इसी प्रकार यह [अष्टकाः कर्तव्या आदि स्मृति] भी प्रमाण होगी। (समाधान) इस प्रकार नहीं हो सकता । [वेदरूपी] ग्रन्थ के प्रत्यक्षरूप से उपलब्ध

---

१. मी० १।१।२॥ २. ये विदुरकर्तव्य एवायमिति व्यवहिते न सम्बन्ध इति भाष्य-विवरणम् । अस्यायं भावः—अकर्तव्य एवायमित्येवं ये विदुस्ते कथमिव अयं कर्तव्य इति वक्ष्यन्ति ।

विज्ञानम् । अष्टकादिषु त्वदृष्टार्थेषु पूर्वविज्ञानकारणाभावाद् व्यामोहस्मृतिरेव गम्यते । तद् यथा कश्चिज्जात्यन्धो वदेत्—स्मराम्यहमस्य [1]रूपविशेषस्येति । कुतस्ते पूर्वविज्ञानमिति च पर्यनुयुक्तो जात्यन्धमेवाऽपरं विनिर्दिशेत् । तस्य कुतः ? जात्यन्धान्तरात् । एवं जात्यन्धपरम्परायामपि सत्यां नैव जातुचित् संप्रतीयुर्विद्वांसः सम्यग्दर्शनमेतदिति । अतो न आदर्त्तव्यमेवञ्जातीयकमनपेक्षं स्यादिति ॥१॥

अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥२॥ (उ०)

होने से [स्मृति का] पूर्व ज्ञान अनुपपन्न नहीं है । अष्टकादि अदृष्टार्थ कर्मों के विषय में तो पूर्व विज्ञानरूप कारण के अभाव होने से [अष्टकादि कर्मविषयक] स्मृति व्यामोह ही जानी जाती है । जैसे कोई जन्मान्ध कहे—मैं इसके रूपविशेष को स्मरण करता हूं । तुमको [उसके रूपविशेष का] पूर्वज्ञान कैसे हुआ, ऐसा पूछा गया [जन्मान्ध] अन्य जन्मान्ध का ही निर्देश करे [अर्थात् कहे कि मुझे अमुक जन्मान्ध ने बताया है] । उसको किससे [ज्ञान हुआ] ? अन्य जन्मान्ध से । इस प्रकार जन्मान्धपरम्परा के होने पर भी कोई विद्वान् उसे कभी नहीं मानेंगे कि यह सम्यक् ज्ञान है । इसलिये इस प्रकार का [परम्पराप्राप्त कर्म] आदर के योग्य नहीं है, अपेक्षणीय नहीं है । [अर्थात् प्रमाणार्ह नहीं है] ॥१॥

विवरण—जात्यन्धः—जाति=जन्म से अन्ध । स्मराम्यहम्—स्मरण पूर्वदृष्ट वा श्रुत का ही होता है, यह पूर्व पृष्ठ ५१ (पं० ८, २७) पर कह चुके हैं । इसलिये जात्यन्ध के स्मरण के लिये पूर्वदृष्ट वा श्रुतज्ञान आवश्यक है । जन्मान्ध होने से स्मर्तव्यरूप ज्ञान स्वयंदृष्ट हो नहीं सकता । यदि श्रुतज्ञान उसे किसी साक्ष पुरुष के कथन से हुआ, तो स्मरण हो सकता है । यदि श्रुतज्ञान में जन्मान्ध का ही वह निर्देश करता है, और वह जन्मान्ध भी अन्य जन्मान्ध के कथन को कारण मानता है, तो जन्मान्धपरम्परा से श्रुतरूप ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं हो सकता । अस्य रूपविशेषस्य—यह कर्म में षष्ठी है । द्र०—अधीगर्थदयेषां कर्मणि (अष्टा० २।३।५२) पाणिनीय सूत्र ।.१॥

अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥२॥

सूत्रार्थ—(अपि वा) पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है [अर्थात् स्मृति=कल्पसूत्र=श्रौत गृह्य और धर्मसूत्रों में कहा कर्म अप्रमाण नहीं है] । (कर्तृसामान्यात्) वैदिक और स्मार्त कर्मों के अनुष्ठाताओं के समान=एक होने से (तत्प्रमाणम्) उन स्मृतियों का प्रामाण्य है । [इनके शब्दमूलकत्व में वैदिकों द्वारा वैदिक तथा स्मार्त कर्मों का समानरूप अनुष्ठन से ही] (अनुमानम्) अनुमान (स्यात्) होगा ।

विशेष—इस सूत्र का भारतीय ऐतिह्य परम्परानुमोदित विशेष अर्थ भाष्य-व्याख्या के अन्त में देखें ।

---

१. 'कर्मणि षष्ठ्यौ' इति भाष्यविवरणम् ।

अपि वेति पक्षो व्यावर्त्यते । प्रमाणं[1] स्मृतिः । विज्ञानं हि तत्, किमित्यन्यथा भविष्यति ? पूर्वविज्ञानमस्य नास्ति, कारणाभावादिति चेत् । अस्या एव स्मृतेर्द्रढिम्नः कारणमनुमास्यामहे । तत्तु नानुभवनम्, अनुपपत्त्या । न हि मनुष्या इहैव जन्मन्येवञ्जातीयकमर्थमनुभवितुं शक्नुवन्ति । जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते । ग्रन्थस्तु अनुमीयेत कर्तृसामान्यात् स्मृतिवैदिकपदार्थयोः । तेनोपपन्नो वेदसंयोगस्त्रैवर्णिकानाम् ।

ननु नोपलभन्ते एवञ्जातीयकं ग्रन्थम् । अनुपलभमाना अप्यनुमिमीरन् । विस्मरणमप्युपपद्यते ।इति तदुपपन्नत्वात् पूर्वविज्ञानस्य त्रैवर्णिकानां स्मरतां विस्मरणस्य चोपपन्नत्वाद् ग्रन्थानुमानमुपपद्यते । इति प्रमाणं स्मृतिः ।

व्याख्या—'अपि वा' से पूर्वपक्ष की निवृत्ति होती है । स्मृति प्रमाण है । वह (=स्मृति) विज्ञान (=विशिष्ट ज्ञान) ही है, वह क्योंकर अन्यथा (=अप्रमाण) होगा ? यदि कहो कि इस [स्मार्तविज्ञान] का पूर्व विज्ञान नहीं है, कारण (=हेतु) न होने से। [तो यह ठीक नहीं] । इस स्मृति की दृढता से ही कारण (=पूर्व विज्ञान) का अनुमान करेंगे । वह कारण [अनुष्ठाताओं का] अनुभव करना नहीं है, उसके (=तादृश अनुभव के) अनुपपन्न होने से । मनुष्य इस जन्म में ही इस प्रकार के [परलोक से सम्बद्ध] अर्थ का अनुभव नहीं कर सकते । और जन्मान्तर के अनुभव का स्मरण नहीं होता । स्मृतिगत और वैदिक पदार्थों के कर्ता के समान होने से ग्रन्थ का तो अनुमान हो सकता है । उस (=कर्मानुष्ठान) से तीनों वर्णवालों का वेदसंयोग उपपन्न होता है ।

(आक्षेप) इस प्रकार का [स्मार्तकर्ममूलक] ग्रन्थ उपलब्ध होता ही नहीं है । [तब कैसे स्मार्तकर्ममूलक ग्रन्थ का अनुमान होगा ?] । (समाधान) [स्मार्तकर्ममूलक ग्रन्थ को] उपलब्ध न करते हुये भी [उसका] अनुमान कर सकते हैं । [अनुपलब्धि का कारण] विस्मरण भी उपपन्न होता है । पूर्व विज्ञान का स्मरण करनेवाले त्रैवर्णिकों का स्मरण उपपन्न होने से [स्मार्तकर्ममूलक] ग्रन्थ का अनुमान उपपन्न होता है । इसलिये स्मृति प्रमाण है ॥

विवरण—भाष्यकार के कथन का सार यह है कि श्रौत स्मार्त कर्म के अनुष्ठाता त्रैवर्णिक जनों के,जो पूर्वज्ञान को स्मरण करते हैं,उनके द्वारा स्मार्तकर्ममूलक श्रुति वा ग्रन्थ का विस्मरण,और विस्मरण से लोप हो सकता है।इसलिये श्रौत स्मार्त कर्म को समानरूप से अनुष्ठान करनेवाले पुरुषों के द्वारा स्मार्त कर्म के अनुष्ठान के आधार पर तन्मूलक श्रुति ग्रन्थ का अनुमान किया जा सकता है। भट्ट कुमारिल ने अनुमान प्रमाण में दोष दर्शाकर अनुमान शब्द का पश्चाम्नानम् सामान्य अर्थ स्वीकार करके अर्थापत्ति अर्थ दर्शाया है । स्मृतेर्द्रढिम्नः—का अर्थ भट्टकुमारिल ने दो प्रकार से किया है—एक स्मृतिरूप दृढ़ कारण से, दूसरा स्मृति की ही दृढ़ता से ।

स्मृत्युक्त कर्मों का मूल क्यों उपलब्ध नहीं होता ? इस विषय में कुमारिल भट्ट ने कुछ

---

१. 'प्रमाणमेषा स्मृतिः' इति पाठान्तरम् ।

कारण दिये हैं। एक मत है —'स्मृत्युक्त कर्मों की मूल श्रुतियां कभी पढ़ी ही नहीं गईं, वे नित्य अनुमेय ही हैं। जिस प्रकार सम्प्रदाय के अविच्छेद से वेदादि अस्तित्व को प्राप्त हैं, वैसे ही नित्य अनुमेय श्रुतियों की भी सम्प्रदाय के अविच्छेद से सिद्धि होती है।' इसका भट्ट कुमारिल ने ग्रन्थ-परम्परा न्याय (जो भाष्य में ऊपर दर्शाया है) से खण्डन किया है। भट्ट कुमारिल ने श्रुतियों का प्रलय (=नाश) मानना युक्त माना है। पुरुषों के आलस्य प्रमाद वा कुलों के नाश से वैदिक-ग्रन्थों का लोप हुआ है। परन्तु इस श्रुतिनाश की आड़ में जिस किसी वाद के विषय में श्रुति की कल्पना करने को भी अनुचित कहा है।[1] उनका मत है—'शिष्ट त्रैवर्णिकों के दृढतर स्मरण के बिना श्रुति का अनुमान करना चिन्त्य है।'

यद्यपि भट्ट कुमारिल का लिखना युक्तिसंगत है, फिर भी इसमें विचारणीय अंश यह है कि शिष्ट त्रैवर्णिकों का दृढ़तर स्मरण कितने काल का अपेक्षित है? आज के वैदिकों में अनेक कर्म ऐसे व्यवहृत हैं, जिन्हें वे दृढतर स्मरण के आधार पर अनुपलब्ध श्रुतिमूलक मानते हैं। अतः काल की अवधि के बिना यह हेतु अहेतु बन जाता है। उदाहरण के लिये मूर्तिपूजा को ही लीजिये। मूल वेद, शाखाएं, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्य, उपनिषदें और श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्र रूप जितना भी वैदिक-वाङ्मय है, इनके परिशिष्ट भागों को छोड़कर, मूलग्रन्थों में कहीं भी मूर्तिपूजा के विधान का लेशमात्र भी नहीं है। दर्शनशास्त्रों में भी इसकी गन्ध नहीं है। फिर भी साम्प्रतिक विद्वान् इसे वैदिक कर्म मानते हैं। यहां तक कि अद्वैतवादी, जिनके मत में जगत् भी मिथ्या है, तथा नवीन संन्यासी जिनके लिये सन्ध्या अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म भी अकर्तव्य हो जाते हैं, विशेष करके शांकर मतानुयायी संन्यासी भी मूर्तिपूजा में लिप्त देखे जाते हैं। क्या इन लोगों का दृढतर स्मरण मूर्तिपूजा के प्रामाण्यबोधन में प्रमाण हो सकता है? हमारा अपना मत है कि इस हेतु में यदि वैदिक ग्रन्थों के अन्तिम प्रवचन की सीमा स्वीकार कर ली जाये, तो केवल एक पशुयाग को छोड़ कर समस्त विवादग्रस्त मन्तव्य स्वयं अप्रमाण हो जाते हैं। इस प्रवचन में शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों एवं कल्पसूत्रों के परिशिष्ट की गणना त्याज्य होगी, क्योंकि वे मूलग्रन्थ के भाग नहीं हैं। यह उनके लिये प्रयुक्त परिशिष्ट वा खिल शब्द से ही व्यक्त है।

---

१. लुप्त शाखाओं के आधार पर मनमानी कल्पना करनेवालों के प्रति यही बात स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी कही है। उनका कहना है—' जो तुम अदृष्ट शाखाओं में मूर्ति आदि के प्रमाण की कल्पना करोगे, तो जब कोई ऐसा पक्ष करेगा कि लुप्त शाखाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था उलटी, अर्थात् अन्त्यज और शूद्र का नाम ब्राह्मणादि और ब्राह्मणादि का नाम शूद्र अन्त्यजादि, अगमनीया गमनीया, अकर्तव्य कर्तव्य, मिथ्याभाषणादि धर्म, सत्यभाषणादि अधर्म आदि लिखा होगा। तो तुम उनको वही उत्तर दोगे, जो हमने दिया। अर्थात् वेद और प्रसिद्ध शाखाओं में जैसा ब्राह्मणादि का नाम ब्राह्मण और शूद्रादि का नाम शूद्र लिखा है, वैसा हि अदृष्ट शाखाओं में भी मानना चाहिये'' । स० प्र० समु० ११, पृष्ठ ५४७ (शताब्दी संस्क० २, रा० ला० क० ट्रस्ट)। तथा—'जितनी शाखाएं मिलती हैं, जब इनमें पाषाणादि मूर्ति और जलस्थलविशेष का प्रमाण नहीं मिलता, तो उन लुप्त शाखाओं में भी नहीं था।' वही ग्रन्थ, पृष्ठ ५४६।

अष्टकालिङ्गाश्च मन्त्रा वेदे दृश्यन्ते—यां जनाः प्रतिनन्दन्ति[1] इत्येवमादयः। तथा प्रत्युपस्थितनियमानामाचाराणां दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यम्। गुरोरनुगमात् प्रीतो गुरुरध्यापयिष्यति,ग्रन्थग्रन्थिभेदिनश्च न्यायान् परितुष्टो वक्ष्यतीति। तथा च दर्शयति—तस्माच्छ्रेयांसं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति[2] इति। प्रपास्तडागानि च परोपकाराय, न धर्मायेत्येवावगम्यते। तथा च दर्शनम्—धन्वन्निव प्रपा असि[3] इति; तथा—स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति[4] इति च। गोत्रचिह्नं शिखाकर्म। दर्शनञ्च—यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव[5] इति। तेन ये दृष्टार्थास्ते तत एव प्रमाणम्। ये त्वदृष्टार्थाः, तेषु वैदिक-शब्दानुमानमिति ॥२॥ इति स्मृतिप्रामाण्याधिकरणम् ॥१॥

प्रकृत अधिकरण स्मृति-ग्रन्थों का सामान्यरूप से प्रामाण्यबोधक है। इसके अपवादरूप अगले अधिकरणों का भी स्मृति-प्रामाण्य स्वीकार करते हुये विचार करना अत्यावश्यक है। उत्सर्ग और अपवाद मिलकर ही न्याय्य तत्त्व का बोधन कराते हैं। न केवल उत्सर्ग-नियम से न्याय प्राप्त हो सकता है, और ना ही केवल अपवाद-नियमों से ही।

व्याख्या—अष्टका कर्म के लिङ्गभूत मन्त्र वेद में देखे जाते हैं—यां जनाः प्रति-नन्दन्ति इत्यादि। और प्रत्युपस्थित नियम (=वृद्धजनों के आगमन पर खड़े होने का नियम) रूप आचारों का दृष्टार्थत्व से ही प्रामाण्य सिद्ध है। गुरु का अनुगमन करने से (=छात्र की विनीतता से) प्रसन्न हुआ गुरु साधु अध्यापन करायेगा, और प्रसन्न हुआ ग्रन्थ की गुत्थियों को सुलझाने-वाले न्यायों को समझायेगा। [इतना ही नहीं वेद] भी इस [गुरु-अनुगमन कर्म] का संकेत करता है—'इसलिये श्रेष्ठ पुरुष के आगे जाते हुये के पीछे साधारण पुरुष अनुगमन करता है।' प्याऊ लगाना, तालाब खुदवाना परोपकार के लिये है, धर्म के लिये नहीं,यह जाना जाता है। और वैसा दर्शन (=लिङ्ग) भी है—तुम मरुस्थल में प्याऊ के समान हो; तथा उच्च स्थल से उदक को इकट्ठा करते हैं। शिखाकर्म (=चूड़ाकर्म) गोत्र का चिह्न है। चूड़ाकर्म का लिङ्ग भी है—'जहां बाण गिरते हैं, विविध शिखावाले कुमारों के समान'। इस कारण जो [स्मृत्युक्त कर्म] दृष्टार्थक हैं, वे उसी (=दृष्ट प्रयोजन) से ही प्रमाण हैं। और जो [कर्म] अदृष्टार्थक हैं, उनमें वैदिक शब्दों का अनुमान करना चाहिये ॥२॥

विवरण—'यां जनाः' मन्त्र का पूरा पाठ शाबरभाष्य ६।५।३५ में इस प्रकार है—

'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमिवायतीम्। संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली॥'

---

१. पार० गृह्य० ३।२।२॥ पारस्करगृह्येऽन्यत्र च नायं मन्त्रोऽष्टकाकर्मणि विनियुज्यते, अपि तु आग्रहायणीकर्मणि। अथर्ववेदे (कां० १०, सू० १०) अष्टकादैवत्ये सूक्ते मन्त्रोऽयं पठ्यते। तत्र पठितेषु मन्त्रेष्वष्टकापदमपि श्रूयते। २. मै० सं० ३।१।३; द्र०—तै० सं० ५।१।२॥

३. ऋ० १०।४।१; तै० सं० २।५।१२॥ ४. तै० सं० १।६।११॥

५. ऋ० ६।७५।१७; तै० सं० ४।६।४॥

यह मन्त्र स्वल्प पाठभेद से अनेक गृह्यसूत्रों में आता है। पारस्कर गृह्य० ३।२।२ में यह तथा कुछ अन्य मन्त्र आग्रहायणी कर्म में विनियुक्त हैं। पारस्कर गृह्य० ३।३ में अष्टका कर्म में अन्य कतिपय मन्त्र विनियुक्त हैं, उनमें से **एकाष्टका तपसा तप्यमाना** मन्त्र में अष्टका पद श्रुत हैं। अथर्ववेद काण्ड ३ का १० वां सूक्त 'अष्टका' देवताक है। उसमें **यां देवाः प्रतिनन्दन्ति** मन्त्र भी है। इस सूक्त के कई मन्त्रों में एकाष्टका पद श्रुत है। **दर्शयति; दर्शनम्**—इन शब्दों से उदाहृत पाठ जिस प्रकरण में पठित है, वहां इनका अन्य अभिप्राय है। परन्तु इनसे जो सामान्यधर्म विदित होता है, उसे यहां दर्शन शब्द से कहा है। धर्मशास्त्रोक्त विधियां प्रायः इसी प्रकार के पदार्थप्रवृत्त वैदिक वाक्यों पर आश्रित हैं। भट्ट कुमारिल ने भी लिखा है—"स्मार्त आचार कोई किसी शाखा में पठित हैं, कोई किसी में। उनमें भी कुछ [यजमानादि] पुरुष का अधिकार करके पठित हैं। जिससे क्रतु के प्रकरण में पठित किसी आचार्य द्वारा उत्क्रष्यमाण होकर [साधारण] पुरुष धर्मता को प्राप्त होते हैं। जैसे—**मलवद्वाससा सह न संवदेत** (तै० सं० २।५।१), और **तस्मान्न ब्राह्मणायावगुरयेत्** (तै० सं० २।६।१०) वचन कर्मकाल में रजस्वला से संभाषण के निषेध, तथा ब्राह्मण की निन्दा न करने के विधायक हैं।"

दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यम्—शबर स्वामी ने जिन सदाचारों का दृष्ट (=लौकिक) प्रयोजन दिखाई पड़ा, उन्हें दृष्टार्थ हेतु से ही प्रमाण माना है। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लौकिक जनों को अग्निहोत्र आदि यज्ञों की महत्ता का बोध कराने के लिये जलवायु की शुद्धि, रोग का निवारण[1], तथा सुगन्ध का प्रसारण आदि लोकदृष्ट हेतु दिये हैं। वैदिक कर्मों में लोकदृष्ट हेतु देना उन कर्मों की महत्ता को न्यून नहीं करता। और यह प्रकार प्राचीन मीमांसकों के द्वारा आदृत है, यह शबरस्वामी के इस प्रकरण से स्पष्ट है। प्रतिपद अदृष्ट की कल्पना करनेवाले भट्ट कुमारिल को शबरस्वामी का दृष्टार्थत्व हेतु रुचिकारक नहीं हुआ। इसलिये उसने लिखा—**यत्तु भाष्यकारेण दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यमित्युक्तं तत्पूर्वपक्षवाद्यतिशयार्थम्**। अर्थात् भाष्यकार ने दृष्टार्थत्व से जो धर्म का प्रामाण्य कहा है, वह अतिशय पूर्वपक्षी के लिये है। इसका तात्पर्य यह है कि जो अदृष्टार्थ स्मृति है, उसे चाहे आप प्रमाण न मानें, पर जो गुर्वनुगमनादिरूप दृष्टार्थ हैं, वे तो प्रमाण होवेंगी ही। **परोपकाराय न धर्माय**—शबरस्वामी ने प्याऊ लगाने, और तालाब खुदवाने को परोपकारार्थ माना है, धर्म के लिये नहीं। परोपकार क्या धर्म नहीं है? अतः हमारे विचार में परोपकारक कर्म के लिये न **धर्माय** लिखना युक्त नहीं है।

स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति (तै० सं० १।६।११)—स्थला अकृत्रिम उच्च भाग का वाचक है (द्र०—अष्टा० ४।१।४२—स्थलीभवति कृत्रिमा चेत्, स्थला अन्या, काशिकावृत्ति)। यह बांध बनाने के मूलभूत सिद्धान्त का बोधक है। उच्चभूमि पर बरसा हुआ जल जिस संकीर्ण मार्ग से बह जाता है, वहां बांध लगाकर सर=तालाब बनाये जाते हैं। और बड़े क्षेत्रों में बड़े

---

१. द्रष्टव्य—'भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते'। कौ० ब्रा० ५।१; गो० ब्रा० २।१।१९॥

बांध बनाकर जो जलसंचय किया जाता है—वह सरसी[1] सागर[2] वा समुद्र[3] नाम से कहे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल के आर्य बांध बनाकर उनका कृषि के लिये उपयोग करना जानते थे। इतना ही नहीं, वे यह भी जानते थे कि उत्तरभारत में हिमालय और उसकी तराई में भूकम्प बहुत आते हैं। इसलिये उन्होंने हिमालय की शृङ्खला में बड़े बांधों का निर्माण न करके प्रायः भूकम्परहित दक्षिण भारत वा अर्वली पर्वत की श्रेणियों में ही नागार्जुन और राजसमुद्र सदृश बड़े बांध बांधे।

गोत्रचिह्न शिखाकर्म—प्राचीन धर्मशास्त्रों में भिन्न-भिन्न गोत्रवालों के लिये भिन्न-भिन्न संख्या में शिखाएं रखने का निर्देश दिया है। उन संख्याविशिष्ट शिखाओं से गोत्र का परिज्ञान होता है। सम्प्रति एक शिखा ही रखी जाती है। यह भी आर्यमतानुयायियों (=हिन्दुओं) का जातीय चिह्न ही है। **न लिङ्गं धर्मकारणम्** (मनु अ० ६, श्लोक ६६) के अनुसार इस प्रकार के दृष्टार्थक चिह्न धर्मप्रयोजक नहीं होते। इसलिये आर्यमतानुयायी बङ्गालियों में शिखा का उच्छेद भी देखा जाता है। जातीय चिह्न की दृष्टि से शिखा रखना आवश्यक है, यह गत भारत-देश-विभाजन के समय सिद्ध हो चुका है। इसी चिह्न के कारण अनेक पञ्जाबी और सिन्धी हिन्दुओं की, जो वेशभूषा से मुसलमान प्रतीत होते थे, रक्षा हुई। भट्ट कुमारिल ने शबरस्वामी द्वारा उक्त 'शिखाकर्म गोत्र चिह्न है' को भी अदृष्टार्थ कहा है।

'अपि वा कर्तृसामान्यात्' सूत्र का विशेष अर्थ—हमारे विचार में प्रकृत सूत्र का जो अर्थ आचार्य शबरस्वामी ने किया है, उसका मूल है—'शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों को अनादि-सिद्ध अपौरुषेय मानना'। शाखाएं और ब्राह्मणग्रन्थ अपौरुषेय अनादिसिद्ध नहीं हैं। इनका समय-समय पर ऋषियों द्वारा प्रवचन हुआ है। और वर्तमान में उपलब्ध शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन प्रायः कृष्णद्वैपायन व्यास और उसके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा हुआ है। यह हम पूर्व पृष्ठ ११०—११४ तक सप्रमाण लिख चुके हैं। अतः हमारे विचार से अपि वा कर्तृसामान्यात् सूत्र का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—

(अपि वा) पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है [अर्थात् स्मृतियां अप्रमाण नहीं हैं।] (कर्तृ-सामान्यात्) शाखाओं ब्राह्मणों तथा स्मृतियों के समान कर्ता=प्रवक्ता होने से (तत्प्रमाणम्) शाखाओं वा ब्राह्मणग्रन्थों के समान ही स्मृतियों का प्रामाण्य है। [इनके वेदमूलकत्व में शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों एवं स्मृतियों के समान प्रवक्तृत्व से ही (अनुमानम्) अनुमान (स्यात्) होगा।

इसका तात्पर्य यह है कि जिन ऋषियों ने वेद की शाखाओं और ब्राह्मणों का प्रवचन किया, उन्होंने ही स्मृतियों=धर्मशास्त्रों का भी प्रवचन किया है। अतः यदि उनका शाखागत और ब्राह्मण-गत वचन प्रमाण है, तो उन्हीं के द्वारा प्रोक्त स्मृतियों के वचन प्रमाण क्यों न होवें?

जिन ऋषियों ने वेद की शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन किया, उन्होंने ही

---

१. दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते। महाभाष्य १।१।१९॥

२. यथा—उदयसागर, फतहसागर (उदयपुर में)। ३. राजसमुद्र, उदयपुर राज्य में।

[श्रुतिविरोधे स्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम् ।।२।।]

अथ यत्र श्रुतिविरोधस्तत्र कथम् ? यथा—औदुम्बर्याः सर्ववेष्टनम्[1], औदुम्बरी

स्मृतियों (=धर्मशास्त्रों) का भी प्रवचन किया था। न केवल शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों के प्रवक्ताओं ने स्मृतिग्रन्थों का ही प्रवचन किया, अपितु आयुर्वेद इतिहास पुराण आदि वहुविध विद्याग्रन्थों का भी प्रवचन किया था। अतएव न्यायशास्त्र के व्याख्याता, भारतीय इतिहास के अप्रतिम वेत्ता भगवान् वात्स्यायन (=चाणक्य) ने शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों के समानप्रवक्तृत्व हेतु से ही आयुर्वेद इतिहास पुराण और धर्मशास्त्रों के प्रामाण्य में अनुमान का उपपादन किया है। वात्स्यायन मुनि का लेख इस प्रकार है—

१—द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्—य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्। न्यायभाष्य २।१।६८।।

२—द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः—य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति। न्यायभाष्य ४।१।६२।।

शास्त्रविज्ञों से हमारा अनुरोध है कि वे भगवान् जैमिनि के अपि वा कर्तृसामान्याच्च तत्प्रमाणमनुमानं स्यात् सूत्र की वात्स्यायन मुनि के द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम् तथा द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः वाक्यों के साथ गम्भीरतापूर्वक तुलना करें। इस तुलना के आधार पर ही हम समझते हैं कि हमने अपि वा० सूत्र का जो अर्थ किया है, वही प्राचीन आर्ष परम्परा के अनुरूप है।[2] शबरस्वामी का अर्थ मध्यकालिक विद्वानों के मन्तव्यानुसार होने तथा प्राचीन शास्त्रों से विपरीत होने से त्याज्य है। उक्त पाठों की तुलना से यह भी स्पष्ट है कि जैमिनीय सूत्र में 'कर्तृ' शब्द का अभिप्राय 'प्रवक्तृ' से ही है।

भगवान् जैमिनि और वात्स्यायन मुनि का प्रवक्तृसामान्य से धर्मशास्त्रों आयुर्वेद इतिहास आदि अन्य विद्याग्रन्थों के प्रामाण्य का उपपादन उत्सर्ग=सामान्य है। विशेष विचार के लिये भगवान् जैमिनि के अगले सूत्र देखने चाहियें, जहां सामान्य प्रामाण्य के अपवाद (=अप्रामाण्य) का कथन है।

व्याख्या—अच्छा तो जहां [स्मृति का] श्रुति से विरोध है, वहां कैसे होगा ? जैसे—'औदुम्बरी का सर्ववेष्टन' स्मृति, औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत् (=औदुम्बरी को स्पर्श करते हुये

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. इस विषय में हमने संस्कृतव्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ१९–२२ (संस्क० संवत् २०३०) पर विस्तार से विचार किया है। पाठक उसे अवश्य देखें। वहीं पर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कल्पित छन्दःकाल, मन्त्रकाल, सूत्रकाल आदि काल्पनिक कालविभागों का भी प्रत्याख्यान किया है।

स्पृष्ट्वोद्गायेद्[1] इति श्रुत्या विरुद्धम्। अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यंचरणम्[2], जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत[3] इत्येनेन विरुद्धम्। क्रीतराजको भोज्यान्न[4] इति। तस्मादग्नीषोमीये संस्थिते यजमानस्य गृहेऽशितव्यम्[5] इत्यनेन विरुद्धम्। तत् प्रमाणम्, कर्तृसामान्यात्। इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

गान करे) इस श्रुति से विरुद्ध है। 'अड़तालीस वर्ष वेद के लिये ब्रह्मचर्य रखना' स्मृति, जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत (=जिसके पुत्र उत्पन्न हो गया है, और काले केशोंवाला है, वह अग्नियों का आधान करे) इस श्रुति से विरुद्ध है। 'जिसने सोम का क्रय कर लिया है, वह यजमान भोज्यान्न है [अर्थात् उसका अन्न खाया जा सकता है]' यह स्मृति, तस्मादग्नीषोमीये संस्थिते यजमानस्य गृहेऽशितव्यम् (=इसलिये अग्निषोमीय कर्म हो जाने पर यजमान के घर में भोजन करना चाहिये) इस श्रुति से विरुद्ध है। यह [श्रुतिविरुद्ध स्मृति] प्रमाण है, [श्रौत और स्मार्त कर्म के] 'समान कर्ता होने से' (मी० १।३।२)। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—औदुम्बर्याः सर्ववेष्टनम्—सोमयाग में सदोमण्डप के मध्य में गूलर वृक्ष की शाखा गाड़ने का विधान है। यह शाखा यजमान की ऊंचाई की होती है। गड्ढे में गाड़ा गया भाग यजमान प्रमाण से अधिक होता है (द्र०—विधि कात्या० श्रौत ८।५।२६)। इस औदुम्बरी शाखा को पूरी तरह कपड़े से लपेटना चाहिये, यह याज्ञिकों की स्मृति है (मूल स्थान अप्राप्त)। ब्राह्मणग्रन्थ में निर्देश है—औदुम्बरी शाखा का स्पर्श करते हुये उद्गाता सामगान करे (मूल स्थान अप्राप्त)। औदुम्बरी का सर्ववेष्टन होने पर उद्गाता का औदुम्बरी शाखा से स्पर्श अशक्य है। अतः प्रत्यक्ष श्रुति के साथ सर्ववेष्टन स्मृति का विरोध है। अष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि वेद-ब्रह्मचर्यचरणम्—चारों वेदों के लिये प्रति वेद १२-१२ वर्ष ब्रह्मचर्य=४८ वर्ष ब्रह्मचर्य का विधान गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में मिलता है। इसका अग्न्याधान के जातपुत्रः० वचन से विरोध है। क्योंकि ४८ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य, उपनयन से पूर्व ८ वर्ष वयः मिलकर ५६ वर्ष की अवस्था, और १-२ वर्ष गृहस्थाश्रम में रहने पर पुत्र-जन्म होने पर कृष्ण केशत्व की हानि होने से ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य स्मृति के साथ जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत (अनुपलब्धमूल) श्रुति के साथ विरोध स्पष्ट है। क्रीतराजको भोज्यान्नः—सोमयाग में दीक्षित यजमान के यहां अन्नग्रहण का सामान्य निषेध है—तस्मादेतस्यान्नमनाद्यम् (मै० सं० ३।६।७)। उस की अपवाद स्मृति है कि राजा=सोम का जब यजमान क्रय कर ले, तब उसका अन्न ग्रहण किया जा सकता है (मूल स्थान अप्राप्त)। इसका तस्मादग्नीषोमीये संस्थिते यजमानस्य गृहे अशितव्यम् (मै० सं० ३।७।८) के साथ विरोध है। श्रुति के अनुसार अग्निषोमीय पशु-सम्बन्धी कर्म से, जो चतुर्थ दिन होता है, के पश्चात् यजमान के घर भोजन की अनुज्ञा है। सोमक्रय द्वितीय दिन ही हो जाता है। इस प्रकार इन स्मृति-श्रुति में विरोध स्पष्ट है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. विधिरयं गृह्यसूत्रेषु धर्मसूत्रेषु च सामान्येनोपलभ्यते। ३. अनुपलब्धमूलम्। ४. अनुपलब्धमूलम्। ५. मै० सं० ३।७।८॥

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥३॥ (उ०)

अशक्यत्वाद् व्यामोह इत्यवगम्यते। कथमशक्यता? स्पर्शविधानान्न सर्वा शक्या वेष्टयितुम्, उद्गायता स्प्रष्टुञ्च। तामुद्गायता स्प्रष्टव्यामवगच्छन्तः केनेमं सम्प्रत्ययं बाधेमहि? सर्ववेष्टनस्मरणेनेति ब्रूमः। ननु निर्मूलत्वाद् व्यामोहस्तत् स्मरणमिति। वैदिकं वचनं मूलं भविष्यतीति। भवेद् वैदिकं वचनं मूलम्, यदि स्पर्शनं व्यामोहः। अव्यामोहे त्वशक्यत्वादनुपपन्नम्। यथाऽनुभवनमनुपपन्नमिति न कल्प्यते, तथा वैदिकमपि वचनम्। कथं तर्हि सर्ववेष्टनस्मरणम्? व्यामोहः। कथं व्यामोहकल्पना? श्रौत-विज्ञानविरोधात्।

अथ किमर्थं नेमौ विधी विकल्प्येते, व्रीहियववद् बृहद्रथन्तरवद्वा? नासति

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्याद् असति ह्यनुमानम् ॥३॥

सूत्रार्थ—[श्रुति और स्मृति के] (विरोधे) विरोध होने पर (तु) तो [स्मृति] (अनपेक्ष्यम्) अपेक्षा के योग्य नहीं है, अर्थात् अप्रमाण है। (असति) विरोध न होने पर (हि) निश्चय से [स्मृतिमूलक श्रुति का] (अनुमानम्) अनुमान होता है।

विशेष—'अपेक्षम्' पाठ में सूत्र का अर्थ व्याख्याकारों ने इस प्रकार किया है—

[श्रुति और स्मृति के विरोध होने पर] (अनपेक्षम्) जिसे प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है, वह श्रुति प्रमाण है। (शेष पूर्ववत्) इस अर्थ में 'प्रमाणम्' की अनुवृत्ति मानी है।

व्याख्या—[श्रुति स्मृति का विरोध होने पर स्मृतिप्रामाण्य के] अशक्य होने से [स्मृति-ज्ञान] व्यामोह है, ऐसा जाना जाता है। अशक्यता कैसे है? [श्रुति द्वारा] स्पर्श का विधान होने से पूरी औदुम्बरी का वेष्टन, और उद्गाता के गान करते हुये उसका स्पर्श नहीं हो सकता। 'गान करते हुये उद्गाता द्वारा वह [औदुम्बरी] स्प्रष्टव्य (=स्पर्श योग्य) होनी चाहिये' ऐसा जानते हुये किस हेतु से इस स्पर्श-ज्ञान को बाधित करेंगे? (पूर्वपक्षी) सर्ववेष्टन-स्मृति से हम बाधित करेंगे। (सिद्धान्ती) [सर्ववेष्टन स्मृति के] निर्मूल होने से वह [सर्ववेष्टन] स्मरण व्यामोह है। (पूर्वपक्षी) वैदिक वचन [सर्ववेष्टन-स्मरण का] मूल होगा। (सिद्धान्ती) [सर्ववेष्टन-स्मरण का] मूल वैदिकवचन हो सकता है, यदि [औदुम्बरी के] स्पर्श [का ज्ञान] व्यामोह होवे। [औदुम्बरी के स्पर्श के] व्यामोह न होने पर तो [स्पर्श के] अशक्य होने से [वेष्टन-स्मरण] उपपन्न नहीं हो सकता है। जैसे अनुभवन उपपन्न नहीं होता, वैसे ही [स्पर्श के अव्यामोह होने पर सर्ववेष्टन-स्मरणमूलक] वैदिक वचन भी उपपन्न नहीं होता। तो सर्व-वेष्टन-स्मरण कैसा है? व्यामोह है। व्यामोह की कल्पना कैसे है? श्रौतज्ञान से विरोध होने से।

(आक्षेप) क्यों नहीं ये दोनों (=औदुम्बरी का स्पर्श और सर्ववेष्टन) विधि माने जायें, व्रीहि और जौ के समान अथवा बृहत्साम और रथन्तर साम के समान? (समाधान)

व्यामोहविज्ञाने विकल्पो भवति। यदि सर्ववेष्टनविज्ञानं प्रमाणम्, स्पर्शनं व्यामोहः। यदि स्पर्शनं प्रमाणम्, स्मृतिर्व्यामोहः। विकल्पं तु वदन् स्पर्शनस्य पक्षे तावत् प्रामाण्यमनुमन्यते। तस्य च मूलं श्रुतिः। सा चेत् प्रमाणमनुमता, न पाक्षिकी। पाक्षिकं च सर्ववेष्टनस्मरणं पक्षे तावन्न शक्नोति श्रुतिं परिकल्पयितुम्, स्पर्शविज्ञानेन बाधितत्वात्। ततश्च अव्यामोहे च तस्मिन्न शक्या श्रुतिः कल्पयितुम्। न चाऽसावव्यामोहः पक्षे, पक्षे व्यामोहो भविष्यतीति। यदेव हि तस्यैकस्मिन् पक्षे मूलम्, तदेवेतरस्मिन्नपि। एकस्मिंश्चेत् पक्षे न व्यामोहः, श्रुतिप्रामाण्यतुल्यत्वादितरत्राप्यव्यामोहः। न चासावेकस्मिन् पक्षे श्रुतिर्निबद्धाक्षरा हि सा न प्रमादपाठ इति शक्या गदितुम्। तेन नैतत्पक्षे विज्ञानं व्यामोहात् पक्षान्तरं संक्रान्तमित्यवगम्यते। तत्र दुःश्रुतस्वप्नादिविज्ञानमूलत्वं तु सर्ववेष्टनस्येति विरोधात् कल्प्यते। न हि तस्य सति विरोधे प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम्, इति किञ्चिदस्ति प्रमाणम्। तस्माद् यथैवैकस्मिन् पक्षे न शक्या श्रुतिः कल्पयितुम्, एवमपरस्मिन् पक्षे, तुल्यकारणत्वात्।

व्यामोह का ज्ञान न होने पर विकल्प होता है। यदि सर्ववेष्टन प्रमाण होवे, तो स्पर्शज्ञान व्यामोह होगा। और यदि स्पर्शज्ञान प्रमाण होवे, तो [सर्ववेष्टन-]स्मृति व्यामोह होगी। [दोनों के] विकल्प को कहते हुये स्पर्श का पक्ष में प्रामाण्य स्वीकार किया है। उस [स्पर्श] का श्रुति मूल है। और यदि वह श्रुति प्रमाण मानी गई, तो वह पाक्षिकी (=एक पक्ष में प्रमाण, अन्य पक्ष में अप्रमाण) नहीं होगी। तथा पाक्षिक सर्ववेष्टन स्मरण एक पक्ष में श्रुति की कल्पना नहीं कर सकता, स्पर्शज्ञान से बाधित होने से। इस कारण उस [स्पर्शज्ञान के] अव्यामोह होने पर [सर्ववेष्टन की] श्रुति की कल्पना करना अशक्य है। वह [स्पर्शज्ञान] एक पक्ष में अव्यामोह, और दूसरे पक्ष में व्यामोह नहीं होगा। जो ही [श्रुति] उस [स्पर्शज्ञान] के एक पक्ष में मूल है, वही दूसरे पक्ष में भी [मूल होगी]। यदि [वह श्रुति] एक पक्ष में व्यामोह नहीं है, तो श्रुतिप्रामाण्य के तुल्य होने से दूसरे पक्ष में भी अव्यामोह [ही होगी]। वह निबद्धाक्षरा (=शब्द में बंधी हुई=प्रत्यक्ष पठित) श्रुति एक पक्ष (=अप्रमाण पक्ष) में प्रमादपाठ नहीं कही जा सकती है। इस कारण यह [स्पर्श]ज्ञान एकपक्ष में व्यामोह से पक्षान्तर (=अप्रामाण्य) को प्राप्त नहीं जाना जाता है। वहां (=ऐसी अवस्था में) [श्रुति से] विरोध होने से सर्ववेष्टन स्मृति का मूल अशुद्ध श्रवण (=श्रुति का अन्यथा श्रवण वा ज्ञान) तथा स्वप्नादि ज्ञान मूल है, यह कल्पना की जाती है। उस [सर्ववेष्टन-स्मृति] का विरोध होने पर भी प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इस कारण जैसे [सर्ववेष्टन की] एक पक्ष में श्रुति की कल्पना नहीं हो सकती, उसी प्रकार दूसरे पक्ष में भी कल्पना नहीं हो सकती, तुल्य कारण होने से।

विवरण—व्रीहियववद् —यज्ञीयद्रव्यविधायक व्रीहिभिर्यजेत् यवैर्यजेत् ये दो प्रत्यय श्रुतियां पठित हैं। दोनों के तुल्यबल होने से विकल्प माना जाता है[1]—व्रीहि से यजन करे

---

१. द्रष्टव्य—द्वौ प्रसङ्गावन्यार्थावेकस्मिन् स विप्रतिषेधः। एकस्मिन् युगपदसम्भवात् पूर्वपरप्राप्तेरुभयप्रसङ्गः। महाभाष्य १।४।२ में वार्तिक।

अपि च—इतरेतराश्रयेऽन्यतः परिच्छेदात् । केयमितरेतराश्रयता ? प्रमाणायां[1] स्मृतौ स्पर्शनं व्यामोहः, स्पर्शने प्रमाणे स्मृतिर्व्यामोहः । तदेतदितरेतराश्रयं भवति । तत्र स्पर्शनस्य क्लृप्तं मूलम्, कल्प्यं स्मृतेः । सोऽसावन्यतः परिच्छेदः—कल्प्यमूलत्वात् स्मृतिप्रामाण्यमनवक्लृप्तम् । तदप्रामाण्यात् स्पर्शनं न व्यामोहः । तदव्यामोहात् स्मार्त्त-श्रुतिकल्पनाऽनुपपन्ना प्रमाणाभावात् । नन्वेवं सति व्रीहिसाधवत्वविज्ञानस्याऽप्यव्या-मोहाद् यवश्रुतिर्नोपपद्येत । सत्यं नोपपद्यते[2], यद्यप्रत्यक्षा स्यात् । प्रत्यक्षा त्वेषा । न हि

अथवा यव से । मनुस्मृति (२।१४) में भी कहा है—श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ । अर्थात् जहां दो प्रकार की साक्षात् श्रुतियां उपलब्ध हों, वहां दोनों ही धर्म माने जाते हैं । बृहद्रथन्तरवद्—ज्योतिष्टोम में बृहत्साम और रथन्तरसाम दोनों एक कार्य के लिये श्रुत हैं—बृहत्पृष्ठं भवति, रथन्तरं पृष्ठं भवति (शाबरभाष्य ६।२।४६ में उद्धृत) । इन दोनों में भी एक कार्यार्थ होने से विकल्प होता है । दोनों उदाहरणों का निर्देश करके पूर्वपक्षी का कहना है कि जैसे व्रीहि और यव में तथा बृहत्साम और रथन्तरसाम में विकल्प होता है, उसी प्रकार औदुम्बरी शाखा के स्पर्श और सर्ववेष्टन की दोनों विधियां विकल्प से प्रमाण होवें । एक प्रयोजन के लिये पठित दोनों विधियां यदि समबल हों, तो विकल्प होता है । व्रीहि-यव और बृहद्-रथन्तर विधियों के साक्षात् पठित होने से समबल होने से इनमें विकल्प होता है । परन्तु स्पर्शश्रुति के साक्षात् पठित होने से और सर्ववेष्टनश्रुति के अनुमेय होने से दोनों समानबल नहीं हैं । अतः इनका विकल्प नहीं हो सकता ।।

व्याख्या—और भी—इतरेतराश्रय होने पर अन्य विभाग से [निर्णय होने से] । यह इतरेतराश्रयता क्या है ? [सर्ववेष्टन] स्मृति के प्रमाण होने पर स्पर्श व्यामोह होता है, और स्पर्श के प्रमाण होने पर [सर्ववेष्टन] स्मृति व्यामोह होती है । यह इतरेतराश्रय [कार्य] होता है । इनमें स्पर्श का मूल क्लृप्त (=विद्यमान) है, स्मृति का मूल कल्प्य (=कल्पित करने योग्य) है । वह अन्य (=क्लृप्त श्रुति-कल्प्य श्रुति) विभाग से [निर्णय] होता है—[स्मृति] कल्पनीय मूलवाली होने से स्मृति का प्रामाण्य क्लृप्त (=सिद्ध) नहीं है । उस [स्मृति] के अप्रामाण्य से स्पर्श व्यामोह नहीं है । उस [स्पर्श] के अव्यामोह होने से स्मृतिविषयक श्रुतिकल्पना प्रमाणा-भाव से उपपन्न नहीं होती । (आक्षेप) इस प्रकार मानने पर [व्रीहिभिर्यजेत से] व्रीहि साधनत्व (=व्रीहि का साधन होना) रूपज्ञान अव्यामोह से यवविषयक श्रुति (=यवैर्यजेत) उपपन्न नहीं होती । (समाधान) सत्य है [यव-विषयक श्रुति] उपपन्न नहीं होती, यदि [यव-श्रुति] प्रत्यक्ष न होवे । यह [यवश्रुति] तो प्रत्यक्ष है । प्रत्यक्ष कभी अनुपपन्न नहीं होता है ।

---

१. आसनाश्रन्थनावन्दनावेदनाशब्देषु यथा अष्टा० ३।३।१०७ सूत्रेण तद्वार्तिकेन च युज् भवति, तथैवेह युज् द्रष्टव्यः, न ल्युट् । भट्टकुमारिलस्तु ण्यन्तादन्त्यन्तक्लिष्टकल्पनया प्रयोगमिमं समर्थयाञ्चक्रे ।

२. 'नोपपद्येत' इति युक्तः पाठः ।

प्रत्यक्षमनुपपन्नं नामास्ति । द्वयोस्तु श्रुत्योर्भावाद् द्वे ह्येते वाक्ये[1] । तत्रैकेन केवलयवसाधनता गम्यते, एकेन केवलव्रीहिसाधनता । न च वाक्येनावगतोऽर्थोऽपह्नूयते । तस्माद् व्रीहियवयोरुपपन्नो विकल्पः, बृहद्रथन्तरयोश्च[2] । तस्मादुक्तम्—श्रुतिविरुद्धा स्मृतिरप्रमाणमिति । अतश्च सर्ववेष्टनादि नादरणीयम् ॥३॥

हेतुदर्शनाच्च ॥४॥ (उ०)

लोभाद्वास आदित्समाना औदुम्बरीं कृत्स्नां वेष्टितवन्तः केचित् । तत् स्मृतेर्बीजम् । बुभुक्षमाणाः केचित् क्रीतराजकस्य भोजनमाचरितवन्तः । अपुंस्त्वं प्रच्छाद-

---

दोनों श्रुतियों के विद्यमान होने से ये [यव और व्रीहिविषयक] दो वाक्य हैं । उनमें एक से [यज्ञ की] केवल यवसाधनता जानी जाती है, और दूसरे से केवल व्रीहिसाधनता । वाक्य से जाने हुये अर्थ को झुठलाया नहीं जाता । इस कारण व्रीहि और यव का विकल्प उपपन्न होता है, और बृहत्साम और रथन्तरसाम का [विकल्प भी उपपन्न होता है] । इसलिये [सूत्रकार ने] कहा है—श्रुतिविरुद्ध स्मृति अप्रमाण है । इस कारण [औदुम्बरी के] सर्ववेष्टन की स्मृति आदरणीय नहीं है ॥३॥

विवरण—सर्ववेष्टन-स्मृति और स्पर्श-श्रुति का प्रामाण्य एक-दूसरे पर आश्रित मानकर समाधान हैं—अन्यतः परिच्छेदात् । प्रमाणायां स्मृतौ—'प्रमाण' शब्द के ल्युडन्त होने से टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) आदि सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्राप्त होता है । अतः यह भाष्यकार का विशिष्ट प्रयोग है । भट्ट कुमारिल ने इस प्रयोग को उभयतःभ्रष्ट लिखकर किन्हीं प्राचीन व्याख्याकारों के मतानुसार क्लिष्ट कल्पना द्वारा इसका साधुत्व दर्शाया है । इसमें रुचि रखनेवाले तन्त्रवार्तिक में यह प्रकरण देखें । हमारा विचार है कि जैसे आसना श्रन्थना वन्दना वेदना आदि में अष्टा० ३।३।१०७ सूत्र वा वार्तिक से युच् होता है, वैसे ही यहां भी जानना चाहिये ॥३॥

हेतुदर्शनाच्च ॥४॥

सूत्रार्थ—(च) और [श्रुतिविरुद्ध स्मृतियों के प्रारम्भ होने में (हेतुदर्शनात्) कारण का दर्शन=उपलब्ध होने से भी अप्रामाण्य है ।

व्याख्या—किन्हीं लोभ से वस्त्र लेने की इच्छावालों ने सम्पूर्ण औदुम्बरी शाखा को लपेटा । यही [कर्म सर्ववेष्टन] स्मृति का मूल है । किन्हीं भूखों ने जिसने सोम खरीद लिया उस यजमान का भोजन खाया [यह क्रीतराजको भोज्यान्नः स्मृति का मूल बन गया] ।

---

१. व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत । द्र०—आपस्तम्बश्रौत ६।३।१३॥ अस्य सूत्रस्य भाष्यवृत्त्यादयोऽपि द्रष्टव्याः । २. यदि रथन्तरसामा सोमः स्याद् ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात् । यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान् । आप० १२।१४।१॥

यन्तश्चाष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरितवन्तः[1]। तत एषा स्मृतिरित्यवगम्यते॥४॥
इति श्रुतिविरोधे स्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम्, श्रुतिप्राबल्याधिकरणं वा ॥२॥

अपने अपौरुषत्व को छिपाते हुये [किन्हीं व्यक्तियों ने] ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य रखा। उससे यह [४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य की] स्मृति बन गई, ऐसा जाना जाता है॥४॥

विवरण—भट्ट कुमारिल ने औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या, क्रीतराजको भोज्यान्नः, अष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यचरणम् स्मृतियों को, जिन्हें भाष्यकार शबरस्वामी ने श्रुतिविरोध से अप्रमाण कहा है, का तन्त्रवार्तिक में बड़े प्रयत्न से प्रामाण्य सिद्ध करने की चेष्टा की है। भट्ट कुमारिल को भय सता रहा था कि यदि इसी प्रकार स्मृतियों का अप्रामाण्य स्वीकार कर लिया जायेगा, तो भारी विप्लव मच जायेगा। इसलिये उन्होंने इस प्रकार की निर्मूल स्मृतियों का प्रामाण्य प्रतिपादन करने के लिये भारी प्रयत्न किया। उत्तरवर्ती मीमांसकों ने भी भट्ट कुमारिल के मार्ग का आश्रयण करने में अपने ज्ञान का उपयोग किया। इस दुष्प्रयत्न से भारत का कितना अहित हुआ, इसका इतिहास साक्षी है। अस्तु।

हम समझते हैं कि भाष्यकार शबरस्वामी का यह प्रयत्न निःसन्देह एक स्तुत्य कार्य था। इसीप्रकार निर्मूल स्मृतियों के निराकरण में यदि मीमांसक योगदान करते, तो निःसन्देह भारत की सांस्कृतिक अधोगति इतनी न होती। सूत्रकार जैमिनि और भाष्यकार शबरस्वामी का निर्मूल स्मृतियों के प्रामाण्य के निराकरण का प्रयत्त सर्वथा नवीन नहीं था। मनुस्मृति अ० १२ में इस तत्त्व का इस प्रकार कथन किया गया है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यमप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥९४॥

या वेदबाह्या स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥९५॥

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥९६॥

अर्थात्—पितरों (=कर्मप्रधान पितरों), देवों (=ज्ञानप्रधान) विद्वानों, और मनुष्यों का सनातन चक्षु=ज्ञान का साधन वेद है। वेदरूपी शास्त्र की रचना एवं ज्ञान मनुष्यों द्वारा असम्भव

---

१. सर्वस्मृतिषु गृह्यसूत्रेषूक्तस्याष्टाचत्वारिंषद्वर्षवेदब्रह्मचर्यस्य मूलभूतायाः 'तस्मा एतत्प्रोवाच—अष्टाचत्वारिंशद् वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्यम्' (गोपथ ब्रा० १।२।५) इति श्रुतेः साक्षाद् उपलभ्यमानत्वाच्छबरस्वामिनो वचनमप्रमाणम्। जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत इति श्रुतेरग्न्याधानयोग्यवयोनिर्देशमात्र एव तात्पर्यविज्ञानान्नाष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यविधायिकया श्रुत्या विरोधः। कथंचिद् विरोधेऽपि श्रुतिद्वैधे व्रीहियवश्रुतिवद् बृहद्रथन्तरश्रुतिवद् वोभयोर्व्यवस्थितविकल्पो विधेयः।

है ॥९४॥ जो वेदमत से बाह्य=वेद के विपरीत और कुदृष्टि=लोभी लालची अहंकारी जनों द्वारा निर्मित स्मृतियां हैं। वे सब निष्फल हैं, वे न इस लोक में मानवों का कल्याण करनेवाली हैं और न परलोक में। क्योंकि वे तम=अज्ञाननिष्ठ हैं=अज्ञानजनित हैं ॥९५॥ इसलिये वेदवाह्य जितनी स्मृतियां हैं, वे उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं। वे सब नवीन स्मृतियां निष्फल हैं और झूठी हैं, अर्थात् अज्ञानियों द्वारा निर्मित हैं ॥९६॥

यही कारण है कि मनुस्मृति का समय-समय पर पुनः प्रवचन होने पर और स्वार्थी लोगों द्वारा समय-समय पर प्रक्षेप होने पर भी मनुस्मृति की जो प्रतिष्ठा आदि काल से आज तक रही है, वह अन्य स्मृतियों को प्राप्त नहीं हुई। और नाही वे सभी आप्त जनों द्वारा समानरूप से आदृत हुईं।

स्वार्थी और अज्ञानी जनों द्वारा अपने मन्तव्यों को भोली-भाली धर्मप्रधान जनता पर थोपने के लिये प्राचीन ऋषि-महर्षियों के नाम पर जो स्मृत्याभास ग्रन्थ लिखे गये, उनसे आर्य जनता को बचाने और पुनः मनुस्मृति तथा वेद की ओर आर्य जनता को लौटाने के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती को भी वही मार्ग अपनाना पड़ा, जिसका भगवान् जैमिनि ने और भाष्यकार शबर स्वामी ने प्रतिपादन किया था। दुरभिमानी जनों ने अपनी मान्यताओं पर आघात होते देख कर न भगवान् सूत्रकार को क्षमा किया, और न भाष्यकार शबरस्वामी को। फिर भला सहस्रों वर्षों से उसी रूढिवाद में पले आधुनिक विद्वान् स्वामी दयानन्द के कथन पर कैसे ध्यान देते? रूढियों की हथकड़ियों को तोड़ कर कैसे स्वर्गोपम वेदमार्ग में स्वच्छन्द विचरते? अस्तु, इस चिन्तन से यह तो स्पष्ट ही है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य जनता को, जो तथाकथित स्मृतिग्रन्थों और पुराणग्रन्थों के जाल में फंसी हुई लक्ष्यभ्रष्ट और वेदविमुख हो चुकी थी, जालग्रन्थों को त्यागकर पुनः वेदमार्ग पर अग्रसर होने का जो आह्वान किया, वह प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं आचार्यों के मतानुकूल ही था, प्राचीन आर्ष मन्तव्य के विपरीत नहीं था।

हमें प्रकृत-भाष्य में शबरस्वामी के अष्टाचत्वारिंशद्वर्ष ब्रह्मचर्य का विरोध समझ में नहीं आया। अष्टाचत्वारिंशद्वर्ष ब्रह्मचर्य का साक्षात् विधान अथर्ववेद के गोपथब्राह्मण में मिलता है—तस्मा एतत् प्रोवाच—अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्यम् (गो० ब्रा० १।२।५)। शबर स्वामी के लिये उसकी मान्यतानुसार गोपथब्राह्मण भी अन्य ब्राह्मणों के समान अपौरुषेय वेद था। पुनः इस श्रुति के विरुद्ध ४८ के वर्ष ब्रह्मचर्य का खण्डन क्यों किया? उसे श्रुतिद्वैध में व्रीहियववत् विकल्प का विधान करना चाहिये था। यदि इसका यह तात्पर्य मानें कि शबरस्वामी को गोपथ-ब्राह्मण की इस श्रुति का ज्ञान नहीं था, तो यह कहना उचित नहीं होगा। हां, यह हो सकता है कि अथर्ववेद का यज्ञ में प्रयोग न होने से उसने अथर्वश्रुति की अवहेलना की होगी। हमारे विचार में तो जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत वचन ही दुर्बल है, और ब्राह्मणग्रन्थस्थ अन्य वचनों के विपरीत पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्रविहीन हरिश्चन्द्र के पुत्रेष्टि यज्ञ और उससे रोहित-नामा पुत्र की प्राप्ति का वर्णन मिलता है। पुत्रेष्टि के लिये अग्न्याधान आवश्यक है। यदि अग्न्याधान में जातपुत्रः अंश को विवक्षित माना जाये, तो अजातपुत्र हरिश्चन्द्र का अग्न्याधान

उपपन्न नहीं होगा, और उसके अभाव में पुत्रेष्टि का सम्भव नहीं है । इतना ही नहीं, अनेक व्यक्तियों के अल्पायु में ही केश श्वेत हो जाते हैं, क्या वे अग्न्याधान के अधिकारी न होंगे ? इन हेतुओं से जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्निनाऽऽदधीत वचन का ही सम्भवप्रायत्व में तात्पर्य मानना चाहिये । अतः गोपथब्राह्मण एवं सम्पूर्ण स्मृति-ग्रन्थों में अष्टाचत्वारिंशद्वर्ष ब्रह्मचर्य विधान का अप्रामाण्य कहना चिन्त्य है । भट्टकुमारिल ये अन्ध पङ्गु आदि, जो गृहस्थ नहीं हो सकते, परक अष्टाचत्वारिंशद्वर्ष ब्रह्मचर्य का प्रामाण्य माना है, वह भी चिन्त्य है । अन्ध पङ्गु आदि गृहस्थ न होवें, ऐसा न राजकीय नियम है, और नाही धर्मशास्त्रीय । इतना ही नहीं, भरणपोषण में समर्थ होते हुये उनका गृहस्थ में अधिकार न मानना माननीय मर्यादा के विपरीत भी है ॥४॥

उक्त सूत्रों पर 'अधिकरणान्तर' रूप में विशिष्ट विचार

शबरस्वामी आदि मीमांसकों के मतानुसार इस पाद के प्रथम दो अधिकरणों में स्मृति-प्रामाण्य और श्रुति-स्मृति के निरोध में स्मृति की अप्रमाणता का विचार किया गया है । हमें यह विचार यथावत् प्रमाण है । परन्तु जिस प्रकार मीमांसक अनेक स्थानों पर किन्हीं सूत्रों से एक विचार प्रस्तुत करके, उन्हीं सूत्रों से विचारान्तर भी प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार हमारा विचार है कि इन दो अधिकरणों से मन्त्र और ब्राह्मण के बलाबल पर भी विचार किया है । हमने पूर्व अ० १, पाद १, सूत्र ५ की व्याख्या करते हुये पृष्ठ ५८—६० पर बताया है कि सूत्रकार ने इस सूत्र से मन्त्रों का स्वतःप्रामाण्य स्वीकार किया है । शाखाएं एवं ब्राह्मण मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों के प्रवचन हैं, यह भी हम पूर्व (पृष्ठ १०६—११४) लिख चुके हैं । ब्राह्मण मन्त्रों के व्याख्यान-ग्रन्थ हैं । यह पूर्व पाद के अन्तिम अधिकरण में सुतरां द्योतित हो जाता है (वि० द्र०—१।२। ५३ का शाबरभाष्य) । आचार्य सायण ने तैत्तिरीयसंहिता-भाष्य के उपोद्घात में मन्त्रब्राह्मण-समुदाय को वेद मानते हुये भी ब्राह्मणों को मन्त्रों का व्याख्यान माना है—यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः, तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः । यज्ञकर्मविचार में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की पारिभाषिक वेद और आम्नाय-संज्ञा स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में सर्ववैदिकों से समानरूप से आदृत है । फिर भी ब्राह्मणग्रन्थों के मन्त्र-व्याख्यान होने, और मन्त्रों में दृष्ट यज्ञों के मन्त्रों के विनियोजक ब्राह्मणों के ऋषियों द्वारा प्रोक्त होने से मन्त्र और ब्राह्मण समबल हैं, अथवा दोनों में अन्तर है, यह विचार करना आवश्यक है । इसी विचार को भगवान् जैमिनि प्रस्तुत करते हैं—

[मन्त्रमूलकाभाववती-चोदना प्रामाण्याधिकरण]

धर्मस्य शब्दमूलत्वाद् अशब्दमनपेक्षं स्यात् ॥१॥

सूत्रार्थ—चोदनालक्षित धर्म के शब्दमूलक=मन्त्रमूलक होने से, जो शब्दमूलक चोदना नहीं है, वह अपेक्षार्ह नहीं है, अर्थात् अप्रमाण है ।

शतपथ ब्राह्मण १।७।१।१, २ में पढ़ा है—**तामाछिनत्ति इषे त्वोर्जे त्वेति । स वत्सं शाखया उपस्पृशति वायव स्थेति** (=पर्ण [=पलाश] की शाखा को इषे त्वोर्जे त्वा मन्त्र से काटता है ।

वह [अध्वर्यु] पलाश शाखा से गौ के बछड़े को स्पर्श करता है)। इसमें यह विचारणीय है कि—तामाछिनत्ति, वत्सं शाखया उपस्पृशति चोदना धर्म में प्रमाण है वा नहीं ? अथवा जैसा विधान किया है, वैसा कर्तव्य है वा नहीं ? इस विषय में पूर्वपक्षी कहता है—चोदनालक्षण धर्म शब्द-मूलक है=मन्त्रमूलक है। अतः जो चोदना शब्दमूलक हैं, वही प्रमाण है। यथा—उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति में विहित पुरोडाशं प्रथयति चोदना मन्त्रगत उरु प्रथस्व पदबोधित अर्थ को कहनेवाली है। इसलिये इस प्रकार की शब्दमूलक=मन्त्रमूलक चोदना धर्म में प्रमाण हैं। किन्तु जो चोदना अशब्द=शब्दमूलक=मन्त्रमूलक नहीं हैं, वह अनपेक्ष होवें, अपेक्षा के अयोग्य होवे, अर्थात् अप्रमाण होवें। यथा– तां छिनत्ति, वत्सं शाखया उपस्पृशति। जिन इषे त्वोर्जे त्वा तथा वायव स्थ मन्त्र को बोलकर शाखा-छेदन और शाखा से वत्स का उपस्पर्शन कहा है, उनमें शाखा और उसके छेदन तथा वत्स और उपस्पर्शन का संकेत भी नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण (१।४, १३, १६, १७) में कहा भी है—एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभि-वदति। ऐसा ही गोपथब्राह्मण २।२।६ में में कहा है—एतद्वै···यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुरभिवदति। दोनों का भाव यह है कि जिस कर्म को करते हुये जो ऋक् वा यजुः मन्त्र उस कर्म को कहता है, वही यज्ञ की समृद्धि है। इससे स्पष्ट है कि जो चोदना शब्द=मन्त्रमूलक नहीं है, वह अप्रमाण है=अकर्तव्य है ॥१॥

अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥२॥

सूत्रार्थ—(अपि वा) पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है।अर्थात् जो मन्त्रमूलक चोदना नहीं हैं, वे अप्रमाण नहीं हैं। (कर्तृसामान्यात्) जिन मन्त्रद्रष्टाओं और ब्राह्मणग्रन्थ के प्रवक्ताओं ने उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति रूप मन्त्रमूलक चोदनाओं का प्रवचन किया,उन्होंने ही तामा-छिनत्ति इषे त्वोर्जे त्वा, वत्सं शाखयोपस्पृशति वायव स्थेति चोदनाओं का प्रवचन किया। अतः प्रवक्तृसामान्य से जो चोदनाएं साक्षात् शब्दमूलक प्रतीत नहीं होती, वे भी (प्रमाणम्) प्रमाण हैं। साक्षाद् मन्त्रमूलक प्रतीत न होने पर भी उनकी मन्त्रमूलकता में (अनुमानम्) अनुमान (स्यात्) करना होगा। अर्थात् इस प्रकार की चोदनाओं में भी प्रवक्ताओं ने मन्त्रानुसृत तात्पर्य को ध्यान में रखकर लिखा है।

इस प्रकार की चोदनाओं की मन्त्रमूलकता कई स्थानों पर प्रवक्तागण अर्थवादादि से संकेतित भी करते हैं। जैसा कि इसी प्रकरण में शतपथ के प्रवक्ता ने सोमाहरण के आख्यान द्वारा संकेत किया है कि पृथिवी पर जितनी ओषधि वनस्पतियों का प्रादुर्भाव होता है, उनमें सोमतत्त्व प्रधान कारण होता है। इसीलिये श्रुति में कहा है—सोम ओषधीनामधिपतिः···(तै० सं० ३।४।५; पार० गृह्य १।५।१०)। चर जगत् में भी प्राणियों की शरीर रचना में सोम का महत्त्वपूर्ण भाग होता है। इस प्रकार से सम्पूर्ण चराचर जगत् अग्नीषोम का ही प्रपञ्च है। कहा भी है—अग्नीषोमात्मकं जगत्[1]। ओषधि-वनस्पतियों में पलाश सोमप्रधान है। चर प्राणियों में गौ सोम

---

१. द्रष्टव्य—द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्। शत० १।६।३।२४॥

प्रधान है। जलों में आश्विनमास में बरसनेवाला गाङ्गजल, और नदियों में गङ्गाजल सोमप्रधान है (द्र०—पूर्व पृष्ठ १२१)। यज्ञ जो स्वयं अग्नीषोमात्मक है, उसमें गोघृत गोदुग्ध गोदधि ही उपादेय माने गये हैं। ओषधि-वनस्पतियों को सोमतत्त्व की प्राप्ति सूर्य-किरणों एवं वर्षाजल से होती है।

मन्त्र में इषे त्वा ऊर्ज्जे त्वा कहा है। इष् अन्न का नाम है, और ऊर्क् बल का नाम है। अन्न की प्राप्ति वृष्टि से होती है, और ऊर्क् की अन्न से। अतः शतपथ-प्रवक्ता ने कहा है—**वृष्ट्यै तदाह यदाहेषे त्वेति, ऊर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्क् रसो जायते तस्मै तदाह। १।७।१।२॥** इस प्रकार सोमप्रधान पलाशशाखा को छेदने, और सोमप्रधान गोवत्स को गोदोहन के पश्चात् उस के उपस्पर्श में विनियोग किया है। इस प्रकार उक्त चोदनाओं के साक्षात् मन्त्रमूलक न होने पर भी मन्त्रमूलकता का अनुमान सम्भव होने से ऐसी चोदनाएं भी धर्म में प्रमाण हैं।।२॥

[मन्त्र और चोदना के विरोध में चोदना का अप्रामाण्य अधिकरण]

पूर्व अधिकरण में मन्त्र के समान ही चोदना (=ब्राह्मणवचन) का भी प्रामाण्य सिद्ध किया है। उसके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण के विरोध होने पर **व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेत** के समान विकल्प प्राप्त होने पर सूत्रकार कहते हैं—

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्याद असति ह्यनुमानम् ॥३॥

सूत्रार्थ——मन्त्र और चोदना के (विरोधे) विरोध होने पर (तु) निश्चय से चोदना (अनपेक्ष्यम्) अनपेक्षित (स्यात्) होवे। (असति) विरोध न होने पर [पूर्वसूत्रोक्त] (अनुमानम्) चोदना के प्रामाण्य का अनुमान होवे।

यहां विचारणीय वाक्य है—**सोऽसावाज्यमधिश्रयति इषे त्वेति, तत्पुनरुद्वासयत्यूर्जे त्वेति** (शत० १।२।२।६), अर्थात् आज्य को तपाने के लिये इषे त्वा (यजुः १।२२) से अग्नि पर रखता है, और फिर ऊर्जे त्वा (यजुः १।३०) मन्त्र से उस आज्य को नीचे उतारता है। जिस प्रकार ब्राह्मण का चोदना-वचन है, उसके अनुसार आज्य को अग्नि पर रखने के अनन्तर ही उस का उतारना प्राप्त होता है। संहिता में अधिश्रयण मन्त्र **इषे त्वा** (यजुः १।२२), और उद्वासन मन्त्र **ऊर्जे त्वा** (यजुः १।३०) के मध्य में पुरोडाशों के अधिश्रयण मन्त्र **घर्मोऽसि** (यजुः १।२२) से पत्नीसन्नहन (=पत्नी के कटिप्रदेश में योक्त्र बांधना) के **अदित्यै रास्नासि** (यजुः १।३०) तक अनेक कर्मों के अभिधायक मन्त्र पढ़े हैं। अतः मन्त्रबल से **इषे त्वा** (१।२२) से आज्य का अधिश्रयण करके पुरोडाशाधिश्रयण से पत्नीसन्नहनान्त कर्म करके **ऊर्जे त्वा** (१।३०) से घृत का उद्वासन प्राप्त होता है। इसमें सूत्रकार के मतानुसार मन्त्र और चोदना के विरोध में मन्त्र की अपेक्षा चोदना अप्रमाण है। इसलिये चोदनोक्त क्रम के स्थान में मन्त्रोक्त क्रम से कार्य करना चाहिये।

इस विषय पर यही विचार कात्यायन मुनि ने श्रौतसूत्र १।५।७, ८, ९ सूत्रों में किया है। द्रष्टव्य—कात्यायन श्रौत के टीका ग्रन्थ।

[दृष्टमूलकस्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम् ॥३॥]

अधिकरणान्तरं वा। वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति[1] इति; यूपहस्तिनो दानमाचरन्ति[2] इति। तत्कर्तृसामान्यात् प्रमाणम्, इति प्राप्ते—

[हेतुदर्शनाच्च ॥४॥]

अप्रमाणं स्मृतिः[3]। अत्रान्यन्मूलम्। लोभादाचरितवन्तः केचित्, तत एषा स्मृतिः। उपपन्नतरं चैतत्, वैदिकवचनकल्पनात् ॥४॥ इति दृष्टमूलकस्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम् ॥३॥

इसी प्रकार मन्त्र और चोदना के विरोध का विशिष्ट उदाहरण है—ओषधे त्रायस्वैनम्; स्वधिते मैनं हिंसीः मन्त्रों का पशुयाग में पश्वङ्ग-विकर्तन में विनियोग। इस विषय की विशद मीमांसा श्रौतयज्ञ-मीमांसा में पशुबन्ध प्रकरण में देखें। यहां विस्तरभिया संकेतमात्र किया है।

इस उदाहरण के परिप्रेक्ष्य में हेतुदर्शनाच्च (१।३।४) सूत्र को हेतुमूलक=दृष्टमूलक पशुवध आदि विषयक चोदना के अप्रामाण्य के बोधन से सम्बद्ध जानना चाहिये। यज्ञ में पशुवध का आरम्भ कैसे हुआ, इसकी विशद विवेचना भी श्रौतयज्ञ-मीमांसा में की है ॥३॥

व्याख्या—अथवा अधिकरणान्तर है। वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति (=वैसर्जन होम-सम्बन्धी वस्त्र को अध्वर्यु लेता है); यूपहस्तिनो दानमाचरन्ति (=यूपहस्ती=यूप पर लपेटे गये वस्त्र का दान करते हैं)। यह कर्म [श्रौतस्मार्त कर्म के] समानकर्ता होने से प्रमाण है, ऐसा प्राप्त होने पर—

[हेतुदर्शनाच्च ॥४॥]

सूत्रार्थ—(च) और [जिन स्मृतियों में प्रवृत्ति का] (हेतुदर्शनात्) हेतु=कारण का दर्शन=ज्ञान है, अर्थात् उसकी प्रवृत्ति में लोभादि कारण देखा जावे, वे स्मृतियां अप्रमाण हैं।

व्याख्या—[उक्त] स्मृति अप्रमाण है। इस स्मृति में अन्य मूल है। [इस कर्म का] किन्हीं ने लोभ से आचरण किया, उससे यह स्मृति बन गई। वैदिकवचन की कल्पना से यह [कारण] युक्ततर है ॥४॥

विवरण—अधिकरणान्तरं वा—इस पर भट्ट कुमारिल ने सब व्याख्या-विकल्पों के दो ही

---

१. वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति इत्यग्नीषोमप्रणयनार्थं विसर्जनहोमकालसम्बन्धियजमानाच्छादनं वासोऽध्वर्युर्हरति, इति भट्टकुमारिलः।

२. यूपपरिव्याणशाटकं यूपहस्तिशब्देनेहोक्तम्, इति तन्त्रवार्तिकम्। 'यूपपरिवेष्टनवाससः' इति भाष्यविवरणम्। ३. 'अप्रमाणं वा। स्मृतेरत्रान्यन्मूलम्' इति भाष्यविवरणे पाठः।

[पदार्थप्राबल्याधिकरणम् ॥४॥]

शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत् ।५॥ (पू० आ०)

आचान्तेन कर्त्तव्यम्, यज्ञोपवीतिना कर्त्तव्यम्, दक्षिणाचारेण कर्त्तव्यम् इत्येवंलक्षणान्युदाहरणानि । किमेतानि श्रुतिविरुद्धानि न कर्त्तव्यानि, उताविरुद्धानि कार्याणीति चेत् पश्यसि, तैरप्यनुष्ठीयमानैर्वैदिकं किञ्चिन्न कुप्यति । तस्मादविरुद्धानीति ॥५॥

कारण माने हैं—पूर्व व्याख्या में अपरितोष, अथवा विषय की व्याप्ति[1] । प्रायः करके मीमांसा-भाष्यकार ने विषयव्याप्ति मानकर ही अधिकरणान्तरों का निर्देश किया है । यहां पर भी विषय-व्याप्ति ही कारण है । दृष्टमूलक स्मृति तो सर्वथा अप्रमाण है,यह दर्शाना ही भाष्यकार का प्रयोजन है । वैसर्जनहोमीयं वासः—अग्निष्टोम में चतुर्थ दिन अपराह्ण में वैसर्जन होम किया जाता है (द्र०—शत० ३।६।३।१-४) । इससे पूर्व यजमान अपने समानदायाद्य अथवा सपिण्ड यजमान का स्पर्श करते हैं । अध्वर्यु उन सपिण्डों को वस्त्र से आच्छादित करता है (द्र०—कात्या० श्रौत ८।६।३४, ३५ तथा इनका भाष्य) । सपिण्डों को जिस वस्त्र से ढका है, वही वैसर्जनीयहोमवास है । 'यूपहस्ती'—'यूप' परिवेष्टक वस्त्र का वाचक है, यह भट्ट कुमारिल और भाष्यविवरणकार का मत है (द्र०—पृष्ठ २३१, टि० २) ॥४॥

शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत् ॥५॥

सूत्रार्थ—(शिष्टाकोपे) शिष्ट=शास्त्रोपदिष्ट कर्म के अकोप=अकुपित=अव्यवस्थित =अविरुद्ध होने पर 'आचमन करके कार्य करना चाहिये' आदि स्मृतियां प्रमाण होवें ।

व्याख्या—आचान्तेन कर्म कर्तव्यम् (=आचमन किये हुये को अर्थात् आचमन करके कर्म करना चाहिये), यज्ञोपवीतिना कर्म कर्तव्यम् (=यज्ञोपवीति होकर=यज्ञोपवीत को दाहिने हाथ के नीचे से निकालकर कर्म करना चाहिये), दक्षिणाचारेण कर्तव्यम् (=दाहिने हाथ से कर्म करना चाहिये) इत्यादि उदाहरण हैं । क्या ये कर्म श्रुति से विरुद्ध हैं इन्हें नहीं करना चाहिये, अथवा श्रुति से अविरुद्ध हैं इन्हें करना चाहिये, ऐसा यदि विचारते हो, तो इन कर्मों के करने से वैदिक कर्म कुछ भी कुपित नहीं होता=उसमें कुछ भी गड़बड़ नहीं होती । इसलिये ये कर्म श्रुति से अविरुद्ध हैं, अर्थात् इन स्मार्त कर्मों का आचरण करना चाहिये ॥५॥

विवरण—यह सूत्र उत्तर सूत्र का एकदेश है । भाष्यकार ने इसका योगविभाग करके

---

१. सर्वव्याख्याविकल्पानां द्वयमेव प्रयोजनम् ।
पूर्वत्रापरितोषो वा विषयव्याप्तिरेव वा ॥ तन्त्रवार्तिक १।३।४॥

व्याख्या की है। पूरा सूत्र पूर्वपक्षी का है। पूर्वपक्षी ही अपने पक्ष में इस सूत्र भाग से आशंका उपस्थित करके अगले भाग से आशंका का निराकरण करता है।

आचमन—दाहिनी हथेली में उतना जल, जितना अधिक से अधिक हृदय तक पहुंचे, लेकर ओष्ठ से लगाकर पीना आचमन कहाता है। इस क्रिया में शब्द नहीं होना चाहिये। आचमन अन्तःशुद्धि का उपलक्षक है। आचमन से कण्ठस्थ कफ आदि की निवृत्ति भी होती है। **यज्ञोपवीत**—आचार्य उपनयन-संस्कार के समय बालक को अपने निकट रखकर जो दीक्षा देता है, उसका चिह्न उपवीत होता है। यह उपवीत गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम में भी धारण किया जाता है। उपनयन के पश्चात् ही बालक वेदाध्ययन और वैदिक कर्म का अधिकारी होता है। अतः यह विद्याविनीतत्व का चिह्न भी है। जो उपनीत होकर विद्याध्ययन करके भी वेदोक्त मार्ग पर न चले, विपरीत कर्म करे, उससे यह चिह्न उसी प्रकार से वापस ले लेने की व्यवस्था शास्त्रकारों ने की है, जैसे राजकर्म-अधिकारी के विशिष्ट चिह्न, जिनका सेवाकाल में धारण करना अनिवार्य होता है, परन्तु उन्हें अपदस्थ कर देने पर वापस ले लिया जाता है। भगवान् मनु ने कहा है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ मनु० २।१०३॥

अर्थात्—जो विप्र सायं प्रातः सन्ध्या नहीं करता, उसको सम्पूर्ण द्विजकर्मों से शूद्र के समान बहिष्कृत कर देना चाहिये।

मनुस्मृति के इसी श्लोक का व्याख्यान करते हुये **शूद्रवद् बहिष्कार्यः** का अभिप्राय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"द्विजकुल से अलग करके शूद्रकुल में रख देना चाहिये। वह सेवाकर्म किया करे, और उसके विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत भी न रखना चाहिये"। द्र०—पञ्चमहायज्ञविधि, अग्निहोत्र-सन्ध्योपासनप्रमाण-प्रकरण के अन्त में (दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह, पृष्ठ ३२०)।

समाज के ऊपर नियन्त्रण रखना प्रधानतया समाज के प्रमुख पुरुषों का काम है। परन्तु सामाजिक ढांचा बिगड़ न जावे, इसका ध्यान रखना राजा का भी कर्तव्य है[1]। अतएव जब समाज के नियन्त्रण में शिथिलता आने लगी, तब बोधायन मुनि ने समाज-नियन्त्रण का अधिकार राजा को दे दिया। बोधायन मुनि ने लिखा है—

सायं प्रातः सदा संध्यां ये विप्रा नो उपासते।
कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत्॥ बोधा० धर्म० २।४।२०॥

उपवीत का स्वरूप—कुछ समय से उपवीत विशिष्ट नाप के सूत से विशिष्ट प्रक्रिया से

---

१. समाज की व्यवस्था तब तक सुचारुरूप से नहीं चल सकती, जब तक ब्राह्मण और क्षत्रिय (=राज्याधिकारीगण) मिलकर काम न करें। इसीलिये वेद में कहा है—'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्' (यजुः ३२।१६)।

न शास्त्रपरिमाणत्वात् ।।६।। (पू० आ० नि०)

नैतदेवम् । शास्त्रपरिच्छिन्नं हि क्रमं बाधेरन् । कथम् ? वेदं कृत्वा वेदिं कुर्वीत[1] इतीमां श्रुतिमुपरुन्ध्यात्,अन्तरा वेदं वेदिं चानुष्ठीयमानमाचमनादि। दक्षिणेन चैकहस्तेना-

---

बनाया जाता है । सम्प्रति तो बाजार में मिलनेवाले सामान्य सूत के ही बने हुये होते हैं । अति-पुराकाल में उपवीत वस्त्र का होता था[2], जैसा कि सम्प्रति दाक्षिणात्य दुपट्टा रखते हैं । इसको कार्यविशेष के समय भिन्न-भिन्न प्रकार से धारण किया जाता था । मानुषकर्म सभा-सोसाइटियों में जाने पर इसे गले में इस प्रकार धारण कियां जाता था, जिससे इसके दोनों छोर आगे की ओर लटकते रहें । यज्ञकर्म के समय आगे लटकते दोनों छोर कर्म में बाधक होते हैं, अत: इसका एक भाग बायें कन्धे पर रहता है, और दूसरा भाग दाहिने हाथ के नीचे से निकालकर बायें कन्धे पर डाल दिया जाता है । यही अवस्था यज्ञोपवीत कहाती है । पितृकर्म में इससे विपरीत इसके एक छोर को बायें हाथ के नीचे से निकालकर दाहिने कन्धे पर डालते हैं । इस स्थिति को प्राचीनावीत कहते हैं ।

दक्षिणाचारेण—का सामान्य अर्थ है यज्ञ में जो कोई कार्य करना हो, वह दाहिनी ओर से ही करना चाहिये । यथा परिक्रमा करनी हो, तो जिसकी परिक्रमा करनी हो, उसे दाहिने हाथ की ओर रखकर करनी चाहिये । अर्थात् परिक्रमा करते हुये दाहिना हाथ परिक्रमणीय पदार्थ की (=भीतर की) ओर, और बांया हाथ बाहर की ओर होना चाहिये ।।५।।

न शास्त्रपरिमाणत्वात् ।।६।।

सूत्रार्थ—[आचमन आदि कर्म वैदिक कर्म के बाधक नहीं होंगे, यह] (न) नहीं है, कर्म का (शास्त्र-परिमाणत्वात्) शास्त्र के द्वारा परिमाण निश्चित होने से बाधक ही होंगे ।

व्याख्या—यह इस प्रकार नहीं है, अर्थात् विरुद्ध हैं । [आचमनादि कर्म] शास्त्र से परिच्छिन्न (=नियमित) क्रम को बांधेंगे ही । कैसे ? वेदं कृत्वा वेदिं कुर्वीत (=वेद=कुश=मुष्टिविशेष का निर्माण करके वेदि बनावें) इस श्रुति का अपरोधन (=बाधन) करेगा, वेद और वेदि के मध्य किया गया आचमनादि कर्म [अर्थात् 'कृत्वा' शब्द के प्रयोग से वेद के निर्माण

---

१. द्र०—तां वेदं कृत्वा···उत्तरवेदिं दशपदां सोमे करोति । आप० श्रौत ७।३।१०; वेदं कृत्वा···वेदिं करोति । आप० श्रौत० ८।१३।२।।

२. प्राचीन शास्त्रों एवं इतिहासग्रन्थों के अनुशीलन से उपवीत का यही स्वरूप परिलक्षित होता है । विस्तारभय से यहां संकेतमात्र किया है । हमारे मीमांसाशास्त्र के परमगुरु स्व० म० म० चिन्नस्वामी शास्त्री जी ने मीमांसा ३।१।२१ भाष्य में उदाहृत 'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते' वचन के प्रसंग में यज्ञोपवीत के उक्त प्राचीन स्वरूप का निदर्शन कराया था ।

नुष्ठीयमानेषु पदार्थेषु कदाचित् प्रधानं ¹स्वकालमतिक्रामेत् । उभाभ्यां हस्ताभ्यामनुतिष्ठन् प्रधानकालं सम्भावयिष्यति ।।६।।

अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ।।७।। (उ०)

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः । अगृह्यमाणकारणा एवञ्जातीयकाः प्रमाणम् । ननु

के अव्यवहित उत्तरकाल में वेदि का जो निर्माण जाना जाता है, उसको दोनों के मध्य किया गया आचमन भङ्ग करेगा] । [अकेले] दाहिने हाथ से पदार्थों का अनुष्ठान करने पर कभी प्रधान कर्म स्वकाल का अतिक्रमण भी कर सकता है । दोनों हाथों से अनुष्ठान करता हुआ [अध्वर्यु] प्रधान के काल को सम्भावित करेगा [अर्थात् प्रधान कर्म के काल में ही प्रधान कर्म सम्भव होगा] ।।६।।

विवरण—वेदं कृत्वा—'वेद' दर्भ से बनाया गया यज्ञीय उपकरणविशेष है। दर्भों की एक मुट्ठी लेकर मूल की ओर से दूहरा करके दाहिनी ओर से उसे लपेटने पर प्रादेश (=अंगूठा और अंगूठे के पास की तर्जनी अंगुली के फैलाने पर लगभग ११ अंगुल प्रमाण) मात्र, जो बैठे हुये बछड़े के आकार का स्वरूप निष्पन्न होता है, उसे 'वेद' कहते हैं । उक्त प्रादेशप्रमाण से अधिक दर्भ का जो अग्रभाग होता है, उसे काट दिया जाता है । यह जैसे घर में कलई पोतने की कूची होती है, प्रायः वैसा ही होता है, लम्बाई में भेद होता है । आद्युदात्त वेद शब्द ज्ञान का वाचक है, और अन्तोदात्त वेद शब्द दर्भमुष्टि का । यह इनका भेद है (द्र०—'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' पृष्ठ १३९-१४०; १५६-१५७)। **प्रधानं स्वकालमतिक्रामेत्**—प्रत्येक याग में कर्मों के प्रधान कर्म और अङ्ग कर्म दो भेद होते हैं । पूर्वाह्णो वै देवानाम् मध्यन्दिनो मनुष्याणाम् अपराह्णः पितृणाम् (शत० २।४।२।८) इस वचन के अनुसार देवकर्म=यज्ञों का काल पूर्वाह्ण है । एक हाथ से कर्म करने पर इस काल के अतिक्रमण की आशंका प्रकट की है ।।६।।

अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ।।७।।

सूत्रार्थ—(अपि वा) पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है [अर्थात् आचमनादि कर्म विरुद्ध=अप्रमाण नहीं हैं] । (कारणाग्रहणे) [किसी लोभादि दृष्ट] कारण का ग्रहण=दर्शन न होने पर (प्रयुक्तानि) शिष्ट पुरुषों द्वारा प्रयुक्त आचमनादि कर्मों को अविरुद्ध (प्रतीयेरन्) जानें, अर्थात् प्रमाण मानें ।

व्याख्या—अपि वा से पूर्वपक्ष का निवर्तन कहा है । जिन कर्मों का [लोभादि] कारण गृहीत नहीं होता (=जाना नहीं जाता), इस प्रकार के कर्म प्रमाण हैं । (आक्षेप) [आचमनादि

---

१. पूर्वाह्णो वै देवानाम्, मध्यन्दिनो मनुष्याणाम्, अपराह्णः पितृणाम् (शत० २।४।२।८) इति श्रुतिविहितम् ।

क्रमकालौ विरुन्धन्ति । विरुन्धन्तु, नैष दोषः । आचमनं पदार्थः, पदार्थानां च गुणः क्रमः । न च गुणानुरोधेन पदार्थो न कर्त्तव्यो भवति । अपि च—प्राप्तानां पदार्थानामुत्तारकालं क्रम आपतति । यदा पदार्थः प्राप्नोति, तदा क्रम एव नास्ति । केन सह विरोधो भविष्यति इति ?

तथा–यदि दक्षिणेन नाचर्यते, कालो मा [1]विरोधीदिति, तत्र कालानुरोधेन पदार्थो नाऽन्यथात्वमभ्युपगच्छेत् । प्रयोगाङ्गं हि कालः पदार्थानामुपकारकः । अतो न कालानुरोधेन व्यथयितव्यः पदार्थः । अपि च, शौचं दक्षिणाचारता यज्ञोपवीतित्वं चैवञ्जातीयका अर्था व्यवधातारो न भवन्ति, सर्वपदार्थानां शेषभूतत्वात् । तस्मादाचमनादीनां प्रामाण्यम् ॥७॥ **इति पदार्थप्राबल्याधिकरणम् ॥४॥**

कर्म] क्रम और काल के बाधक होते हैं । (समाधान) [क्रम और काल के] बाधक होवें, [फिर भी] यह दोष नहीं है । आचमन [अनुष्ठेय] पदार्थ (= कर्म) है । और पदार्थों का क्रम गौण है [अर्थात् पदार्थों के प्रति क्रम गुणभूत है, पदार्थ मुख्य हैं] । गौण के अनुरोध से पदार्थ कर्तव्य नहीं होता, ऐसी बात नहीं है [अर्थात् पदार्थों के मुख्य होने से वे कर्तव्य ही हैं] । और भी—प्राप्त हुये पदार्थों के उत्तरकाल में क्रम उपस्थित होता है [अर्थात् जब करने योग्य सभी पदार्थ उपस्थित हो जाते हैं, तब क्रम-निर्धारण की इच्छा होती है] । जब पदार्थ प्राप्त होता है, तब क्रम है ही नहीं । [उस अवस्था में पदार्थ का] किसके साथ विरोध होगा ?

तथा—यदि काल का विरोध न होवे, [इस हेतु से] दक्षिण हाथ से कर्म नहीं करते, तो उस अवस्था में काल के अनुरोध से पदार्थ (= कर्तव्य) अन्यथाभाव को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि प्रयोग का अङ्गभूत काल तो पदार्थों का उपकारक है । इसलिये काल के अनुरोध से पदार्थ को व्यथित नहीं करना चाहिये (= बिगाड़ना नहीं चाहिये) । और भी—शुद्धि, दक्षिण हाथ से व्यवहार, और यज्ञोपवीतित्व आदि इस प्रकार अर्थ [कर्म के] व्यवधायक नहीं होते । उनके सब पदार्थों के शेषभूत होने से [अर्थात् उनका पदार्थों के प्रति विधान होने से]। इसलिये आचमनादि पदार्थों का प्रामाण्य है ॥७॥

विवरण—मा विरोधीत्—'रुध' धातु अनुदात्त होने से अनिट् है । अतः अङ् विकरण के अभाव में मा विरौत्सीत् प्रयोग होना चाहिये । शबरस्वामी का यह प्रयोग प्राचीन प्रयोगानुसारी है। पाणिनि का इट्-अनिट्-विधान प्रायिक है । क्योंकि महाभारतादि आर्षग्रन्थों में ऐसे बहुत से शिष्ट प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जिनमें सेट् मानी गई धातुओं से अनिट् के, और अनिट् मानी गई धातु से

---

१. रुधेरनुदात्तत्वान्नेह इटः प्राप्तिः पाणिनीयमतानुसारं सम्भवति । तेनात्रेडर्थो यत्नः कार्यः । 'सर्वधातूनां बहुलं वेडित्यन्ये' इति 'क्रियारत्नसमुच्चये' (पृष्ठ ६६) गणरत्नसूरिराह । पाणिनीयानां मते 'आगमशासनमनित्यम्' इत्येवमिड्भावः समाधेयः ।

[शास्त्रप्रसिद्धपदार्थ-प्रामाण्याधिकरणम् ॥५॥]

तेष्वदर्शनाद् विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् ॥८॥ (पू०)

यवमयश्चरुः[1], वाराही उपानहौ[2], वैतसे कटे प्राजापत्यान् सञ्चिनोति[3], इति यववराह-वेतसशब्दान् समामनन्ति। तत्र केचिद्दीर्घशूकेषु यवशब्दं प्रयुञ्जन्ते, केचित् प्रियङ्गुषु।

इट्सहित के प्रयोग देखे जाते हैं। गुणरत्नसूरि ने 'क्रियारत्नसमुच्चय' में सभी धातुओं से इट् का विकल्प कहा है— सर्वधातूनां बहुलं वेड् इत्यन्ये (पृष्ठ ६६)। पाणिनीय वैयाकरण भी सर्व-आगम-विषयक 'आगमशासनमनित्यम्' नियम स्वीकार करते हैं।

भट्ट कुमारिल ने प्रकृतभाष्य के तन्त्रवार्तिक में आचमन, यज्ञोपवीत और दक्षिणाचार कर्मों के विषय में श्रुतियों का निर्देश करके भाष्योक्त-विचार को पूर्व अधिकरण से गतार्थ कहकर दूषित किया है, और उसने सूत्र ५, ६ से बौद्धादि वेदबाह्य मतोक्त विहार बनाना वैराग्य हिंसा-त्याग सत्यवदन आदि के विषय में विचार करके इन्हें अप्रमाण कहा है। सूत्र ८ से सदाचार के विषय में विचार किया है। इस विषय में पाठक 'तन्त्रवार्तिक' ग्रन्थ ही देखें। भट्ट कुमारिल का बुद्धोक्त वैराग्य हिंसा-त्याग सत्यवदन को अप्रमाण कहना हमारी समझ में नहीं आया। अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह का विधान चाहे कोई करे, धर्म ही होंगे? क्या चोर के दीपक जलाने और आप्त पुरुष के दीपक जलाने पर प्रकाश में कुछ अन्तर होगा?

भट्ट कुमारिल ने इसी प्रकरण में 'मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत् तद् भेषजं भेषजतायै' इस ताण्ड्य-ब्राह्मण[4] (२३।१६।७) को उद्धृत करके मनुस्मृति के प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है। यह चिन्त्य है। ब्राह्मण में निर्दिष्ट मनोर्ऋचः सामिधेन्यः वैवस्वत मनु से दृष्ट हैं, न कि स्वायम्भुव मनु से। मनुस्मृति स्वायम्भुव मनु प्रोक्त है। यही भूल आचार्य शंकर ने भी वेदान्त-भाष्य २।१।१ में की है। आचार्यों का प्रामाण्य स्वीकार होने से अन्य आचार्यों ने भी इसी भूल को दोहराया है ॥७॥

तेष्वदर्शनाद् विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् ॥८॥

सूत्रार्थ—(तेषु) उन [यवादि शब्दों] में (विरोधस्य) विरोध के (अदर्शनात्)[3] दिखाई न पड़ने से [दोनों आर्य-म्लेच्छ प्रसिद्ध अर्थों में] (विप्रतिपतिः) विशेषज्ञान (समा) बराबर (स्यात्) होवे, अर्थात् दोनों अर्थों का समानरूप से ग्रहण होवे।

व्याख्या—यवमयश्चरुः (=जौ का बना चरु होता है), वाराही उपानहौ (=वराह के चर्म से बने जूते होते हैं), वैतसे कटे प्राजापत्यान् संचिनोति (=बेंत की बनी हुई चटाई पर प्रजापति-देवतावाले द्रव्यों को रखता है), [इन श्रुतियों में] यव वराह और वेतस शब्दों को पढ़ते हैं। उनमें कुछ लोग यव शब्द का दीर्घशूक (=लम्बी बालीवाले='जौ' संज्ञक

---

१. वारुणो यवमयश्चरुः। मै० सं० २।६।४; काठक सं० १५।३॥
२. वाराही उपानहावुपमुञ्चते। तै० ब्रा० १।७।६॥
३. अनुपलब्धमूलम्।
४. तै० सं० २।२।१० में भी यह प्रकरण आया है।

वराहशब्दं केचिच्छूकरे, केचित् कृष्णशकुनौ । वेतसशब्दं केचिद् वञ्जुलके, केचिज्जम्ब्वाम् । तत्रोभयथा पदार्थावगमाद् विकल्पः ॥८॥

शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् ॥९॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । यवशब्दो यदि दीर्घशूकेषु, सादृश्यात् प्रियङ्गुषु भविष्यति । यदि प्रियङ्गुषु, सादृश्याद् यवेषु । किं सादृश्यम् ? पूर्वसस्ये क्षीणे भवन्ति दीर्घशूकाः प्रियङ्गवश्च । एतत् तयोः सादृश्यम् । कः पुनरत्र निश्चयः ? यः शास्त्रस्थानां

धान्य) में प्रयोग करते हैं, और कुछ लोग प्रियङ्गु (=मालकङ्गनी) में । कुछ लोग वराह शब्द का सूवर में व्यवहार करते हैं, और कुछ लोग काले पक्षी (कौवे) में । कुछ लोग वेतस शब्द का बेंत में प्रयोग करते हैं, और कुछ लोग जम्बू (=जामन) वृक्ष में । इन शब्दों के प्रयोग में दोनों पदार्थों का बोध होने से विकल्प होता है ॥८॥ [†'वायसे' इति कुतुहलवृत्तिकार आह ।]

विवरण—यवमयश्चरुः—यवमय चरु का विधान अनेक यागों में मिलता है । 'चरु' शब्द का अर्थ है—**अन्तरूष्मसिद्धश्चरुः**=अन्तरूष्मा से पका द्रव्य । यथा—विना माण्ड निकाले पकाया हुआ ओदन । वाराही उपानत् का वचन है—**वाराही उपानहावुपमञ्चते** (तै० ब्रा० १।७।९) । यह वचन राजसूय-प्रकरण में पठित है । राजा वराहचर्म निर्मित जूतों को **पशूनां मन्युरसि** (तै० सं० १।८।१५) मन्त्र से उतारता है । **वैतसे कटान्** वचन का मूलस्थान अज्ञात होने से यथावत् व्याख्या करने में हम असमर्थ हैं ॥८॥

शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् ॥९॥

सूत्रार्थ—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् आर्य म्लेच्छ जनों में प्रसिद्ध शब्दार्थ समानरूप से प्रमाण नहीं है । किन्तु (शास्त्रस्था) शास्त्रनिष्ठ=शास्त्रोक्त प्रतिपत्ति=शब्दार्थ प्रमाण है । (तन्निमित्तत्वात्) शब्दार्थज्ञान में शास्त्र के निमित्त होने से ।

विशेष—भाष्यकार के व्याख्यान से प्रतीत होता है कि उन्होंने **शास्त्रस्था** का विभक्ति व्यत्यय कर षष्ठ्यन्त बनाकर सूत्र का व्याख्यान किया है । उनके अनुसार सूत्र का अर्थ होगा—(शास्त्रस्था=शास्त्रस्थानाम्) शास्त्रनिष्ठ शिष्ट पुरुषों की प्रतिपत्ति प्रमाण है । शब्दार्थ के (तन्निमित्तत्वात्) शास्त्रस्थों=शिष्टों के निमित्त आश्रित होने से ।' तुलना करो—**शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्** (महाभाष्य ६।३।१०९) ॥

व्याख्या—'वा' शब्द पूर्वपक्ष को निवर्तित करता है । यव शब्द यदि दीर्घशूक (=जौ) में [मुख्यवृत्ति से प्रयुक्त] है, तो प्रियङ्गु (=मालकंगनी) में सादृश्य से [प्रयुक्त होगा] । यदि प्रियङ्गु में [मुख्यवृत्ति से प्रयुक्त] है, तो यवों में सादृश्य से [प्रयुक्त होगा] । [दोनों में] सादृश्य क्या है ? पूर्वशस्य (=धान्य) के क्षीण होने पर दीर्घशूक और प्रियङ्गु होते हैं । यही इनका सादृश्य है । इसमें निश्चय क्या है ? [अर्थात् यव शब्द दीर्घशूक में मुख्यवृत्ति से प्रयुक्त है, अथवा प्रियङ्गु में ?] । जो शास्त्रस्थ=शास्त्रनिष्ठ व्यक्ति हैं, उनमें जो अर्थ प्रसिद्ध

स शब्दार्थः । के शास्त्रस्थाः ? शिष्टाः[1] । तेषामविच्छिन्ना स्मृतिः शब्देषु वेदेषु च । तेन शिष्टा निमित्तं श्रुतिस्मृत्यवधारणे । ते ह्येवं समामनन्ति यवमयेषु करम्भपात्रेषु विहितेषु वाक्यशेषम्[2]—यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ते, अथैते मोदकाना इवोत्तिष्ठन्ति[3], इति दीर्घशूकान् यवान् दर्शयति वेदः। वेदे दर्शनाद् अविच्छिन्नपारम्पर्यो दीर्घशूकेषु यवशब्दः, इति गम्यते । तस्मात् प्रियङ्गुषु गौणः । तस्माद् दीर्घशूकानां पुरोडाशः[4] कर्त्तव्यः। तस्माद्वराहं गावोऽनुधावन्ति[5] इति शूकरे वराहशब्दं दर्शयति । अप्सुजो वेतस[6] इति वञ्जुले

है, वह मुख्य शब्दार्थ है । शास्त्रस्थ कौन हैं ? शिष्ट । उन शिष्टों की शब्दों और वेदों में अविच्छिन्न स्मृति (=स्मरण) है । इसलिये श्रुति और स्मृति के निश्चय में शिष्ट ही निमित्त हैं । वे यवमय करम्भ पात्रों का विधान करते हुये इस प्रकार वाक्य शेष पढ़ते है—'जहां अन्य ओषधियां म्लान (=क्षीण) हो जाती हैं, तो वे [यव] प्रसन्नचित्त के समान खड़े रहते हैं', इससे वेद दीर्घशूक-रूप यवों को दर्शाता है । वेद में [दीर्घशूक के लिये यव शब्द के] दर्शन से अविच्छिन्न-परम्परा-प्राप्त दीर्घशूक में यव शब्द है, ऐसा जाना जाता है । इसलिये प्रियङ्गु में [यव शब्द का प्रयोग] गौण है । इसलिये दीर्घशूकों (=जौवों) का पुरोडाश बनाना चाहिये । 'इसलिये वराह के पीछे गायें दौड़ती हैं' यह वचन सूवर अर्थ में वराह शब्द को दर्शाता है । 'जल में उत्पन्न हुआ वेतस है'

---

१. शिष्टः पुनरकामात्मा । वसिष्ठ धर्म० १।६; शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहंकाराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः । बोधा० धर्म १।१।५; एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गतास्तत्रभवन्तः शिष्टाः । महाभाष्य ६।३।१०९॥

२. अत्राह भाष्यविवरणकारः—'नहि सन्दिग्धेषु वाक्यशेषाद्' (मी० १।४।२९) इत्यनेन पौनरुक्त्यम् । अत्र हि वाक्यशेषस्य शब्दार्थनिर्णये प्रधानहेतुत्वानङ्गीकारात्, उपोद्बलकमात्रं त्विह वाक्यशेषः ।' (अर्थतोऽनुवादो भाष्य-विवरणस्य) । भट्टकुमारिलेन सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् (मी० १।४।२९) सूत्रेण गतार्थतामस्योपपाद्य भाष्यं निराकृतम् । भाष्यविवरणकारो भाट्टदोषमुद्दधारेति स्पष्टम् ।

३. द्र०—यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ति तदेते मोदमाना वर्धन्ते । शत० ३।६।१।१०॥

४. भाष्यकारेण 'यवमयश्चरुः' इत्युदाहृत्येह 'पुरोडाशः कर्तव्यः' इत्युच्यते । इदं कथनं श्रुत्यन्तरमूलकम् । तथा हि श्रुतिः—'अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं भूतिकामं याजयेद्' (मै० सं० २।१।२) । इह पूर्वस्माद् 'वारुणं यवमयं चरुमामयाविनं याजयेद्' इति वाक्यात् 'यवमयम्' पदमनुषज्यते । 'द्वादशकपालेषु' इति श्रवणात् पुरोडाश इत्युक्तम् । कपालेषु पुरोडाशः श्रप्यते, स्थाल्यां चरुरिति साधनभेदाद् अनुक्तोऽपि पुरोडाश एव गृह्यते ।

५. तु०—तस्माद् वराहे गावः सं जानते । शत० ५।४।३।१९॥

६. तै० सं० ५।३।१२।

वेतसशब्दम् । शूकरं हि गावोऽनुधावन्ति । वञ्जुलोऽप्सु जायते । जम्बूवृक्षः स्थले गिरि-नदीषु वा ॥९॥ इति शास्त्रप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्याधिकरणम् ॥५॥

यह वचन बेंत अर्थ में वेतस शब्द को [दर्शाता है] । सूवर के पीछे ही गायें दौड़ती हैं । बेंत ही जल में उत्पन्न होता है । जामन का पेड़ स्थल पर्वत और नदी [किनारे] होता है ॥९॥

विवरण—पूर्वसस्ये क्षीणे—शारदिक धान्यों में जब अन्य धान्य पककर सूख जाता है, तब प्रियङ्गु हरे रहते हैं । इसी प्रकार वासन्तिक धान्यों में जब चने आदि पक जाते हैं, तब जौ हरे रहते हैं । गेहूं और जौ को मिलाकर बोने पर भी परिपाक में गेहूं की अपेक्षा जलप्रधान होने से जौ कुछ दिन अधिक लेते हैं ।

शिष्टाः—शिष्टों के लक्षण हमने मूलभाष्य की टिप्पणी में दिये हैं । उन सब का सम्मिलित भाव यह है कि 'इस आर्यावर्त में जो ब्राह्मण अकामात्मा, मत्सररहित, निरहंकार, कुम्भी-धान्य (=घड़ाभर ही धान्य रखनेवाले=अपरिग्रही), दम्भ दर्प लोभ मोह क्रोध से रहित, अलोलुप और बिना किसी निमित्त के किसी भी विद्या में पारङ्गत हैं, वे 'शिष्ट' कहाते हैं ।

भट्ट कुमारिल ने शबरस्वामी के उदाहरणों का खण्डन करते हुये लिखा है कि—"किसी भी देश में यव शब्द से प्रियङ्गु, वेतस शब्द से जम्बू, और वराह शब्द से कौवे का कथन नहीं होता । इसलिये कल्पित आरोप द्वारा किये गये विचार से चित खिन्न होता है । इतना ही नहीं, सन्दिग्ध अर्थ में वाक्यशेष से निर्णय होता है (द्र०—मी० १।४।२९) ऐसा सूत्रकार कहेंगे ही । इसलिये भी यह पृथक् विचार नहीं करना चाहिये ।" यह लिखकर भट्ट कुमारिल ने विचारणीय शब्द का निर्देश इस प्रकार किया है—"यहां पीलु आदि शब्दों के सम्बन्ध में विचार करना चाहिये । पीलु शब्द आर्यों में वृक्षविशेष में प्रयुक्त होता है, और म्लेच्छों में हस्ती अर्थ में । दोनों का अर्थ समानरूप से ग्राह्य है", ऐसा पूर्वपक्ष करके लिखा है—जो बहुशास्त्रवेदी शास्त्राध्ययन में परम तत्पर शिष्ट हैं, वे शब्द को जिस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, वही प्रामाणिक है ।

विशेष विचार—हमारे विचार में शबरस्वामी उद्धृत शब्द और उनका म्लेच्छ-प्रसिद्ध अर्थ पुराकाल में प्रचलित रहा होगा । अथवा भाष्यकार ने ये उदाहरण पुरातन भाष्यों वा वृत्तियों के अनुसार दिये होंगे । शब्द और शब्दार्थ का प्रयोग कालान्तर में बदलता रहता है । अतः भट्ट कुमारिल के समय यवादि शब्दों का यदि देशान्तर में प्रियङ्गु आदि में प्रयोग नहीं होता था, अथवा भट्ट कुमारिल को ज्ञात नहीं था, तो एतावता भाष्यकार पर दोष लगाना चिन्त्य है । पीलु शब्द का उदाहरणान्तर देने पर भी विचारणीय तत्त्व तो समान ही है । इसी प्रकार 'सन्दिग्ध अर्थ में वाक्यशेष से निर्णय हो जाने से भी यवादि-विषय-विचार अयुक्त है' यह लिखना भी चिन्त्य है । सम्भवतः भट्ट कुमारिल के आक्षेप को ही ध्यान में रखकर शाबरभाष्य के विवरणकर्ता गोविन्द स्वामी ने लिखा है—'यहां सन्दिग्धेषु वाक्य शेषात्' से पुनरुक्ति नहीं है । यहां वाक्यशेष को को शब्दार्थनिर्णय में प्रधानहेतु के रूप में भाष्यकार से उपस्थित नहीं किया है, अपितु उपोद्बलक-मात्र के रूप में उपस्थित किया है (द्रष्टव्य—पृष्ठ २३९ की टि० २) ।

[पिकनेमाधिकरणं, म्लेच्छ प्रसिद्धार्थप्रमाण्याधिकरणं वा ॥६॥]

अथ यान् शब्दान् आर्या न कस्मिंश्चिदर्थे आचरन्ति, म्लेच्छास्तु कस्मिंश्चित् प्रयुञ्जते; यथा—पिक नेम सत तामरसादिशब्दाः, तेषु सन्देहः । किं निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः, उत यत्र म्लेच्छा आचरन्ति स शब्दार्थं इति ? शिष्टाचारस्य प्रामाण्यमुक्तं, नाशिष्टस्मृतेः । तस्मान्निगमादिवशेनार्थकल्पना । निगमादीनां चैवमर्थवत्ता भविष्यति । अनभियोगश्च शब्दार्थेष्वशिष्टानाम्, अभियोगश्चेतरेषाम् । तस्माद्धातुतोऽर्थः कल्पयितव्य इत्येवं प्राप्ते, ब्रूमः—

चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन ॥१०॥ (उ०)

चोदितमशिष्टैरपि शिष्टानवगतं प्रतीयेत, यत् प्रमाणेनाविरुद्धं तदवगम्यमानं न न्याय्यं त्यक्तुम् । यत्तु शिष्टाचारः प्रमाणमिति, तत् प्रत्यक्षानवगतेऽर्थे । यत्त्वभियुक्ताः

व्याख्या—[वेद में प्रयुक्त] जिन शब्दों को आर्य किसी अर्थ में प्रयोग नहीं करते, परन्तु म्लेच्छ किसी अर्थ में प्रयोग करते हैं; जैसे – पिक नेम सत तामरस आदि शब्द, उनमें सन्देह है । क्या [उनका] निगम निरुक्त व्याकरणादि के द्वारा धातु से अर्थ की कल्पना करनी चाहिये, अथवा जिस अर्थ में म्लेच्छ व्यवहार करते हैं, वह शब्दार्थ जानना चाहिये ? [पूर्व अधिकरण में] शिष्ट पुरुषों के व्यवहार को प्रमाण कहा है, अशिष्ट-स्मृति को नहीं । इसलिये निगम आदि के द्वारा अर्थ की कल्पना करनी चाहिये । इस प्रकार निगम आदि की अर्थवत्ता भी हो जायेगी । शब्दार्थ के विषय में अशिष्टों (=म्लेच्छों) का अभियोग (=रक्षा के लिये प्रयत्न-विशेष) भी नहीं होता, इतर (=शिष्ट पुरुषों) का प्रयत्नविशेष देखा जाता है । इसलिये धातु से अर्थ की कल्पना करनी चाहिये, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—निगमनिरुक्त०—निगम शब्द मुख्यतया वेद के लिये प्रयुक्त होता है । निरुक्तकार भी इत्यपि निगमो भवति में निगम शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग करते हैं । अर्थज्ञान में सहायक निरुक्त व्याकरण के साथ निगम शब्द का प्रयोग होने से यहां निगम से उन मन्त्रों का ग्रहण जानना चाहिये, जिनसे शब्दार्थ के परिज्ञान में साहाय्य मिलता है । अथवा निघण्टु का ग्रहण जानना चाहिये । यास्क ने निरुक्त १।१ में निघण्टु के लिये निगम शब्द का प्रयोग किया है—निगमा इमे भवन्ति ॥९॥

चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन ॥१०॥

सूत्रार्थ—(प्रमाणेन) प्रमाण से (अविरोधात्) विरोध न होने पर म्लेच्छों से (चोदितम्) कहा हुआ अर्थ (तु) भी (प्रतीयेत) जाना जाये=प्रमाण माना जाये ।

व्याख्या—अशिष्टों से व्यवहृत अर्थ भी जो शिष्ट जनों से अज्ञात है, प्रमाण होवे, जो अर्थ प्रमाण से अविरुद्ध है, उसे ज्ञात होनेवाले अर्थ को छोड़ना न्याय्य नहीं है । और जो कहा है—'शिष्टाचार प्रमाण है', वह प्रत्यक्ष प्रमाण से अनवगत अर्थ में जानना चाहिये । और जो कहा है—

शब्दार्थेषु शिष्टा इति, तत्रोच्यते—अभियुक्ततराः पक्षिणां पोषणे बन्धने च म्लेच्छाः । यत्तु निगमनिरुक्तव्याकरणानामार्थवत्तेति, तत्रैषामर्थवत्ता भविष्यति न यत्र म्लेच्छैरप्यवगतः शब्दार्थः । अपि च, निगमाऽऽदिभिरर्थे कल्प्यमाने अव्यवस्थितः शब्दार्थो भवेत् । तत्राऽनिश्चयः स्यात् । तस्मात् पिक इति कोकिलो[1] ग्राह्यः, नेमोऽर्द्धं[2], तामरसं[3] पद्मं, सत इति दारुमयं पात्र परिमण्डलं शतच्छिद्रम्[4]॥१०॥ इति पिकनेमाधिकरणं, म्लेच्छप्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरणं वा ॥६॥

'शब्दार्थ के विषय में शिष्ट ही प्रयत्नवान् होते हैं', इस विषय में कहते हैं—पक्षियों के पोषण और बन्धन में म्लेच्छ विशेष प्रयत्नवान् होते हैं। और जो कहा—'निगम निरुक्त व्याकरण [से अर्थ की कल्पना करने पर, इन] की अर्थवत्ता होगी', इनकी वहां अर्थवत्ता हो जायेगी जहां म्लेच्छों से भी शब्दार्थ अवगत नहीं होता। और भी, निगम आदि से अर्थ की कल्पना करने पर शब्दार्थ अव्यवस्थित होगा। उस [अव्यवस्थित अर्थ] में अर्थ का निश्चय नहीं होगा । इसलिये [म्लेच्छ प्रसिद्धचनुसार] पिक से कोकिल का ग्रहण करना चाहिये, नेम से अर्ध का, तामरस से पद्म का, सत से काष्ठनिर्मित गोलाकार बहुत छिद्रोंवाले पात्र का।

विवरण—म्लेच्छ मूलतः आर्यों की सन्तान हैं और उनकी भाषा भी आर्य भाषा=देववाणी की अपभ्रंश रूप है। अतः म्लेच्छ भाषाओं में बहुत से उन शब्दों का शुद्धरूप में अथवा अल्प विकृतरूप में प्रयोग देखा जाता है, जिनका आर्यभाषा से लोप हो चुका है । इस पृष्ठभूमि पर भगवान् जैमिनि ने वेद में प्रयुक्त, परन्तु आर्यों में अप्रयुक्त शब्दों के अर्थ परिज्ञान के लिये प्रकृत सूत्र अथवा अधिकरण का प्रवचन किया है। संस्कृतभाषा से शनैः-शनैः शब्दों का लोप कैसे हुआ और देश-विशेषों एवं जाति-विशेषों में वह विभागशः कैसे व्यवस्थित हो गई, इसका संकेत लगभग ५ सहस्र वर्ष प्राचीन जैमिनि के समकालिक एवं कृष्णयजुः के प्रवक्ता (द्र०—पूर्व पृष्ठ ११६) और निरुक्तशास्त्र के प्रवक्ता भगवान् यास्क ने इस प्रकार लिया है—

अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाषन्ते, विकृतय एकेषु । शवतिः गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते—शव इति । दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु । निरुक्त २।२॥

---

१. 'वाजिनं कामाय पिकः' (यजुः २४।३९)। अत्र 'कामाय' पदसन्निधानात् कामोद्दीपकत्वेन विज्ञातः कोकिलरवो लक्षणया गृह्यते। तेन पिकः कोकिलः।

२. 'नेमे देवा नेमे असुराः' (काठक सं० १४।९)। अत्र देवासुराणां विभागनिर्देशाद् अर्द्धवाची नेमशब्दः स्पष्टः।

३. नोपलब्धमस्माभिस्तामरसशब्दः समुपलब्धे वैदिकवाङ्मये।

४. इह 'सत' पात्रस्य शतछिद्रत्वमुक्तम्, तदप्रमाणम्। सते पुनाति (कात्या० श्रौत १९।२।९) इत्यत्र सते=पालाशे पात्रे सुरायाः पवनस्य विधानात्। द्वौ द्वौ समासं हुत्वा सते संस्रवान् समवनयति (शत० १२।८।३।१४-१५) इत्यत्र वैतसे पात्रे वसायाः संस्रवाणां समवनयनस्य विधानात्। नहि शतच्छिद्रे पात्रे सुरायाः वसासंस्रवाणां च धारणं शक्यते कर्तुम्।

अर्थात् – कुछ देश के लोगों में प्रकृतियां ही आख्यातरूप में प्रयुक्त होती हैं, कुछ में विकृतियां ही। 'शवति' (=शव) गत्यर्थक कम्बोज देशस्थ जनों में ही व्यवहृत होती हैं, और आर्यों में इसका विकार (=कृदन्तरूप) 'शव' ही प्रयुक्त होता है। प्राच्य जनों में दाति (=दाप्) का लवनार्थ में प्रयोग होता है, और उदीच्य जनों में [इसका विकार] 'दात्र' शब्द प्रयुक्त होता है।

यही निर्देश कुछ विस्तार से महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अ० १, पाद १, आ० १ में किया है। अतिविपुल संस्कृतभाषा में शनैः-शनैः शब्दों का ह्रास (=लोप) कैसे हुआ, इसका सोदाहरण सोपपत्तिक निर्देश हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' के प्रथम अध्याय **'संस्कृतभाषा की प्रवृत्ति विकास और ह्रास'** नामक अध्याय (भाग १, पृष्ठ १—५३, संवत् २०३०) में विस्तार से किया है। उसके अवलोकन से इस अधिकरण का महत्त्व भले प्रकार ज्ञात होगा।

प्रमाणेन अविरुद्धम् भाष्य अथवा **प्रमाणेन अविरोधात्** सूत्र पदों का भाव इतना ही है कि यदि बलवत्तर 'प्रकरण' प्रमाण से विरुद्ध न हो, तो म्लेच्छों में गम्यमान अर्थ भी प्रमाण है। अतः इस का **शिष्टैरचोदितम्** से संकोच नहीं करना चाहिये। उदाहरणरूप में हम पाक शब्द को उपस्थित करते हैं। यद्यपि **अर्भकपृथुकपाकाः वयसि** उणादिसूत्र (५।५३) से यह वयोविशेष में निपातित है और निरुक्तकार यास्क ने **यत्रा सुपर्णा** (ऋ० १।१६४।२१) मन्त्र के व्याख्यान (निरुक्त ३।१२) में पाक शब्द का अर्थ **पक्तव्यः=विपक्वप्रज्ञः** किया है, तथापि **यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः** (ऋ० ७।१०४।८; अथर्व ८।४।८) में 'पाक' शब्द का फ़ारसी भाषा में गृह्यमाण 'पवित्र' अर्थ स्वीकार कर लें तो—'जो पवित्र मन से व्यवहार करनेवाले मुझको झूठे वचनों से कहता है, अर्थात् मुझ पर झूठे लाञ्छन लगाता है' मन्त्रार्थ बड़ा सरल एवं हृदयग्राही उपपन्न होता है। 'पाक' शब्द का पवित्र अर्थ स्वीकार करने में प्रकरणादि का कोई विरोध भी नहीं है। सम्भव है उणादि में निर्दिष्ट 'पाक' का 'बालक' अर्थ भी पवित्रतामूलक लाक्षणिक ही हो। क्योंकि बालक राग-द्वेष-लोभ-मोह आदि दोषों से रहित होते हैं। **जजि युद्धे** धातु से घञ्-प्रत्ययान्त **'जङ्ग'** शब्द (द्र०—धातुप्रदीप, पृष्ठ २५) का फ़ारसी भाषा में व्यवह्रियमाण जङ्ग शब्द का युद्ध अर्थ स्वीकार योग्य है। यही अवस्था संस्कृत **जङ्गल** शब्द की जाननी चाहिये।

इस प्रकरण में यह ध्यान रखना चाहिये कि शबरस्वामी ने यदि **पिक** आदि शब्दों के उदाहरण स्वयं दिये हैं तो उनके काल में, और यदि उन्होंने प्राचीन व्याख्याग्रन्थों के अनुसार दिये हैं, तो अति पुरातन काल में इन शब्दों का प्रयोग आर्यों में लुप्त हो गया होगा। परन्तु उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में पिक नेम आदि बहुधा उपलब्ध होते हैं। विद्यमान शब्दों का किसी काल में लुप्त होना और कालान्तर में पुनः प्रकट होना सम्भव है।

पिकः कोकिलः—'पिक' का निर्देश अश्वमेध के **वाजिनां कामाय पिकः** (यजुः २४।३९) में मिलता है। वाजी और काम शब्दों के संयोग से पिक का अर्थ कोकिल है। कोयल का शब्द कामियों के काम को उत्तेजित करता है, यह कामशास्त्र में प्रतिपादित और लोकविदित है। **नेमोऽर्धम्**—नेम शब्द का प्रयोग वेद में बहुधा मिलता है। अर्ध अर्थ में नेम शब्द का साक्षात् प्रयोग

[कल्पसूत्राणामस्वतःप्रामाण्याधिकरणम् ।।७।।]

इह कल्पसूत्राण्युदाहरणम्[1]—माशकं, हास्तिकं, कौण्डिन्यकमिति। एवं लक्षणकानि किं प्रमाणमप्रमाणं वेति सन्दिग्धानि। किं प्राप्तम् ?

नेमे देवा नेमेऽसुराः (काठक सं० १४।९) में उपलब्ध होता है। फारसी की कहावत है—**नीम हकीम खतरे जान**। इसमें नीम शब्द अर्ध (=अधूरा) अर्थवाचक नेम शब्द का ही साक्षात् अपभ्रंश है। **तामरसं पद्मम्**—तामरस का पद्म अर्थ संस्कृत कोशों में तथा अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थों में मिलता है। परन्तु वैदिक प्रयोग हमें उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं मिला। **सत इति दारुमयं पात्रम्**—परिमण्डल=गोल दारुमय पात्र के अर्थ में 'सत' शब्द का प्रयोग वैदिक-वाङ्मय में कुछ स्थानों पर उपलब्ध होता है। यथा—**सते पुनाति गोऽश्वबालवालेन पुनाति** (कात्या० श्रौत १९।२।९)। यह वचन सौत्रामणि क्रतु के प्रसङ्ग में आया है। इसकी व्याख्या में लिखा है—**तां सुरां सते पालाशे महतीपात्रे**··· (विद्याधर टीका)। शतपथ १२।८।३।१४-१५ का वचन है—**द्वौ द्वौ समासं हुत्वा सते संस्रवान् समवनयति**—वसा के दो-दो ग्रहों को इकट्ठा होम करके हुत शेष को 'सत' में इकट्ठा करता है। इसी के आगे लिखा है—**वैतसः सतो भवति** यह संस्रव पात्र वेंत के काष्ठ का होता है। इन वचनों से इतना स्पष्ट है कि 'सत' दारुमय गोलपात्र का वाचक है। परन्तु शबरस्वामी ने **शतच्छिद्रम्** भी लिखा है। शतच्छिद्र का अर्थ है—चलनी, जिसमें सैंकड़ों छिद्र होते हैं। यदि सत पात्र शतच्छिद्र होवे, तो उसमें सुरा और वसा-संस्रव का ग्रहण नहीं हो सकता है। अतः यदि **शतच्छिद्रसदृशम्** पाठ होवे, तो परिमण्डल को विशेषित कर सकता है—चलनी सदृश गोल ऊंचे किनारे का।

व्याख्या—यहां (=इस अधिकरण में) कल्पसूत्र उदाहरण हैं—माशक हास्तिक कौण्डिन्यक। इस लक्षण (=संकेत=नाम) वाले [कल्पसूत्र] प्रमाण हैं, अथवा अप्रमाण, इस प्रकार सन्दिग्ध हैं। क्या प्राप्त होता हैं—

विवरण—आचार्य सायण ने अथर्वभाष्य की भूमिका में लिखा है—इस कल्पसूत्राधिकरण में आचार्य उपवर्ष ने नक्षत्रकल्प, वैतानसूत्र, संहिताविधिकल्प, आङ्गिरसकल्प और शान्तिकल्प को उदाहृत किया है (मूलपाठ द्रष्टव्य—इसी पृष्ठ की टि० १ में)।

---

१. सायणाचार्योऽथर्वभाष्यभूमिकायामाह—

तदुक्तम्—उपवर्षाचार्यैः कल्पसूत्राधिकरणे—

नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः।
तुर्य आङ्गिरसकल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः।। इति।

प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ॥११॥ (पू०)

प्रयोगस्य शास्त्रं प्रमाणमेवञ्जातीयकमिति ब्रूमः। सत्यवाचाम्[1] एतानि वचनानि। कथमवगम्यते ? वैदिकैरेषां संवादो भवति। य एव हि वेदे ग्रहास्त एवेह, या एव वेदे इष्टकास्ता एवेह। तस्मात् सत्यवाच आचार्याः। आचार्यवचः प्रमाणम्[2] इति च श्रुतिः। प्रत्यक्षतः प्रामाण्यमनवगतमिति यद्युच्येत, प्रमाणान्तरेण वचनेनावगतमिति न दोषः। वेदवाक्यैश्चैषां तुल्य आदरः। तस्मात् प्रमाणम् ॥११॥

प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ॥११॥

सूत्रार्थ—(प्रयोगशास्त्रम्) [कर्म के] प्रयोग का शास्त्र (=शासन=बोधन करानेवाला) कल्पसूत्र प्रमाण होवें (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

व्याख्या—इस प्रकार का प्रयोग-विधायक शास्त्र प्रमाण है, ऐसा हम कहते हैं। सत्यवाक् जनों के ये वचन हैं। कैसे जाना जाता है [कि सत्यवाक् जनों के वचन हैं] ? वैदिक कर्मों के साथ इनका संवाद होता है। जो ही ग्रह वेद में [कहे हैं] वे ही यहां (=कल्पसूत्र) हैं, जो ही इष्टकाएं वेद में [कहीं हैं] वे ही यहां हैं। इस [संवाद] से [कल्पसूत्रों के प्रवक्ता] आचार्य सत्यवाक् हैं [ऐसा जाना जाता है]। और 'आचार्य का वचन प्रमाण है' यह श्रुति है। यदि कहो कि प्रत्यक्ष रूप से [कल्पसूत्रों का] प्रामाण्य नहीं जाना जाता है, तो प्रमाणान्तर वचन से अवगत होता है, इसलिये दोष नहीं है। और वेद-वाक्यों के समान इनका आदर भी है। इस कारण [कल्पसूत्र] प्रमाण हैं ॥११॥

विवरण—सत्यवाच आचार्याः—चरक सूत्रस्थान अ० ११, श्लोक १८-१९ में लिखा है—रजोगुण और तमोगुण से निर्मुक्त आप्त शिष्ट जन, जिनका वाक्य असंशय सत्य होता है, वे नीरजरतम ऋषिजन झूठ किस हेतु से कहेंगे (मूलवचन भाष्य की टिप्पणी में देखें)। आचार्यवचः प्रमाणम् यह श्रुति वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ। शत० ११।३।३।६ में वचन है—अथ यदाचार्यवचसं करोति।

इस अधिकरण का जैसा शबरस्वामी ने व्याख्यान किया है, उसके अनुसार कल्पसूत्रों के स्वतःप्रमाण्य का विवेचन है। भट्ट कुमारिल प्रभृति नवीन मीमांसकों ने इस विचार को स्मृति-

---

१. तुलना कार्या—रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥
आप्ताः शिष्टाः विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्माद् असत्यं नीरजस्तमाः ॥
चरक संहिता सूत्रस्थान ११।१८, १९॥

२. अनुपलब्धमूलम्। तुलना कार्या—अथ यदाचार्यवचसं करोति। शत० ११।३।३।६॥

नासन्नियमात् ॥१२॥ (उ०)

नैतदेवम्, असन्नियमात् । नैतत् सम्यङ्निबन्धनम्, स्वराभावात् ॥१२॥

प्रामाण्यविषयक प्रथम दो अधिकरणों से गतार्थ-सा मानकर 'क्या कल्पसूत्र वेद हैं, वेदवत् अपौरुषेय हैं, अथवा वेद नहीं हैं, और न वेदवत् प्रमाण हैं' की विवेचना की है । उन्होंने इस विषय के उत्थान के लिये विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः, षडङ्गमेके (पार० गृह्य २।६।५-६) सदृश वचन उपस्थित किया है । जिसमें षडङ्ग अन्तर्गत कल्पसूत्रों को भी वेद कहा है । एतद्विषयक विशेष विचार उन ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से ही जानना चाहिये, विस्तारभय से हमने यहां संकेतमात्र किया है ।

हमारे विचार में शबरस्वामी ने जैसे स्मृति-प्रामाण्य-विषयक विचार प्रथम दो अधिकरणों में किया है, तदनुसार कल्पसूत्रों का भी स्मृति में अन्तर्भाव होने से इनका परतःप्रामाण्य विहित हो चुका । अधिक से अधिक शबरस्वामी के प्रकृत व्याख्यान के विषय में यही कह सकते हैं कि याज्ञिकों द्वारा यज्ञकर्म में श्रौतसूत्रों का विशेष आदर करने से, शाखा वा ब्राह्मण में विहित यज्ञकर्म के साथ श्रौतसूत्रों का सामञ्जस्य होने से तथा श्रौतसूत्र नाम से व्यवहृत होने से इनका वेद (मन्त्रब्राह्मण) के समान जो स्वतःप्रामाण्य विदित होता है, उस पर इस अधिकरण में विचार किया है ।

हमने इस पाद के प्रथम दो अधिकरणों की मन्त्र-ब्राह्मण बलाबल-विचार परक जो व्याख्या की है (द्र०—पृष्ठ २२८—२३०) तदनुसार इस अधिकरण का विचारणीय-विषय होगा—'क्या श्रौतसूत्र ब्राह्मणों के समान प्रमाण हैं, अथवा श्रौतसूत्रों का प्रामाण्य ब्राह्मणानुगत होने से है' । सूत्रकार का नासन्नियमात्, अवाक्यशेषाच्च (१२-१३) सूत्र और शबरस्वामी द्वारा किया गया अधिकरण का विचार हमारे मन्तव्य का प्रत्यक्ष पोषक है ॥११॥

नासन्नियमात् ॥१२॥

सूत्रार्थ—[कल्पसूत्र] (असन्नियमात्) [वेद के समान स्वरादि से] अच्छे प्रकार नियमित =निबद्ध न होने से [वेदवत्] प्रमाण (न) नहीं हैं ।

विशेष—इस सूत्र में असन्नियमात् पद का जो भिन्न अभिप्राय हमारी समझ में आया है, उसे हमने इस सूत्र के विवरण के अन्त में दिया है ।

व्याख्या—यह इस प्रकार नहीं है [अर्थात् कल्पसूत्र वेद के समान प्रमाण नहीं है] । सम्यक् नियमन (=निबद्धन) न होने से । यह [कल्पसूत्र] सम्यक् निबन्धन वाला नहीं है, स्वर का अभाव होने से ॥१२॥

विवरण—शुक्लयजुःप्रातिशाख्य का एक परिशिष्ट है—भाषिक-सूत्र । यह भाषिकसूत्र-ग्रन्थ शुक्लयजुःप्रातिशाख्यकार कात्यायन मुनि प्रणीत है वा नहीं, यह संदिग्ध है, फिर भी यह

अवाक्यशेषात् ॥१३॥ (उ०)

महत्त्वपूर्ण है । इसमें स्वर-विषयक अनेक ऐसे रहस्य निर्दिष्ट हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं । इसमें तान एवाङ्गोपाङ्गनाम् (कं० ३, सूत्र २८) सूत्र द्वारा वेद के अङ्ग और उपाङ्गों में तान=एकश्रुति स्वर का निर्देश किया है । एकश्रुति का अर्थ है—उदात्त अनुदात्त स्वरित स्वरों का अभाव । इस प्रकार शबरस्वामी का यह लिखना कि 'कल्पसूत्रों में स्वर का अभाव होने से इनका वेदवत् सम्यक् निबन्धन नहीं है' उपपन्न हो जाता है । परन्तु इसके साथ ही शाबरमतानुयायियों के मत में एक दोष भी उपस्थित होता है कि जिस-जिस ग्रन्थ में स्वर का अभाव देखा जाता है, उसे असन्निबद्ध माना जाये, तो ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में स्वर का अभाव होने से उन्हें भी असन्निबद्ध मानना होगा, वे भी कल्पसूत्रों के समान शबरादि के मत में स्वतःप्रमाण नहीं होंगे । क्योंकि भाषिक-सूत्र में कतिपय ब्राह्मणग्रन्थों के स्वरों की विविध प्रकार की व्यवस्था (द्र०—कं० ३, सूत्र १५, २५,२६) बताकर लिखा है—ततोऽन्येषां तानो[1] ब्राह्मणस्वरः (३।२७) । इसके अनुसार परिगणित सस्वर ब्राह्मणों से अतिरिक्त ब्राह्मणों में भी तान (=एकश्रुति=स्वर-राहित्य) माना है । भाषिक सूत्र के व्याख्याता ने आश्वलायनादीनाम् निर्देश किया है । और यदि यह माना जाये कि भाषिक-सूत्र उस समय की रचना है, जब ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों में स्वर का लोप हो चुका था (हमारा यही मत है । इसी कारण हम इसे कात्यायनकृत नहीं मानते) तो एक नया प्रश्न उपस्थित होता है कि अतिपुराकाल में जब लौकिक भाषा भी सस्वर थी और मनुस्मृति वा यास्कीय निरुक्त आदि भी सस्वर थे (द्र०—हमारा 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' ग्रन्थ, पृष्ठ ४७-४८, संस्क० २) उस अवस्था में इनके भी सन्निबद्ध होने से ब्राह्मणवत् प्रामाण्य प्राप्त होगा । अतः सन्निबन्धन में स्वराभावात् हेतु विचारणीय हो जाता है । भट्ट कुमारिल ने भी तन्त्रवार्तिक में इस हेतु को को अनेकान्त माना है ।

हमारा मत—हमारा विचार है कि प्रकृतसूत्र में असन्नियमात् का अभिप्राय है, जैसे ब्राह्मण-गत चोदना-वचन द्रव्य देवता काल कामना और विधायक लिङ् लकार से सन्नियमित (=सन्निबद्ध) हैं, वैसे श्रौतसूत्रगत चोदनाएं सन्नियमित नहीं हैं ॥१२॥

अवाक्यशेषाच्च ॥१३॥

सूत्रार्थ—(च) और [कल्पसूत्र] (अवाक्यशेषात्) [ब्राह्मणग्रन्थों के समान] वाक्यशेष =अर्थवादादि से रहित होने से प्रमाण नहीं हैं ।

---

१. काशी से मुद्रित उव्वट-भाष्यसहित मुद्रित शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के अन्त में मुद्रित भाषिक-सूत्र परिशिष्ट में 'तानो' पाठ त्रुटित है । द्र०—इस सूत्र की अनन्त टीका, पृष्ठ ४६९, ४७० (वही संस्क०) ।

ऋत्विजोवृणीते[1], वृता यजन्ति[2], देवयजनमध्यवस्यन्ति[3] इति । नात्र विधिर्गम्यते वर्त्तमानकालप्रत्ययनिर्देशात् । न चात्र वाक्यशेषः स्तावकोऽस्ति । तस्मादप्रमाणम् । यश्चादर उक्तः, स नान्तरीयकत्वाद् वेदवाक्यमिश्रसमाम्नानात् । यत्तु श्रुतिरिति, नैतत्, अर्थवादत्वात् । कथमर्थवादः ? विध्यन्तरं ह्यस्ति—आग्नेयोऽष्टाकपालः[4] इति । अत्राऽऽचार्यो वेदोऽभिप्रेतः—आचिनोत्यस्य बुद्धिमिति[5] । यद्वा आचार्यवचनं प्रमाणं तदपेक्षम् । कतरत् तत् ? यत प्रमाणगम्यम् ॥१३॥

व्याख्या—ऋत्विजों वृणीते (=ऋत्विजों का वरण करता है), वृता याजयन्ति (=वरण किये हुये ऋत्विक् याग कराते हैं), देवयजनमध्यवस्यन्ति (=देवयजन स्थान में बैठते हैं) इत्यादि । इन वाक्यों में विधि नहीं जानी जाती है, वर्तमान काल का प्रत्यय (=लट्-लकार) होने से । और यहां [विधि की] स्तुति करनेवाला वाक्यशेष भी नहीं है । इसलिये [कल्पसूत्र] अप्रमाण हैं । और जो [इनके विषय में] आदर का निर्देश किया है, वह वेदवाक्य से मिश्रित समाम्नान के आवश्यक होने से है । और जो [आचार्यवचः प्रमाणम्] श्रुति कही है, वह श्रुति [आचार्य वचन के प्रामाण्य की बोधक] नहीं है, अर्थवाद होने से [अर्थात् आचार्य वचः प्रमाणम् विधायिका श्रुति नहीं है, अर्थवाद है] । अर्थवाद कैसे है ? [यहां] विध्यन्तर है—आग्नेयोऽष्टाकपालः (=आठ कपालों में संस्कृत अग्निदेवताक पुरोडाश) । यहां आचार्य वेद अभिप्रेत है । [वेद] इस [अध्येता] की बुद्धि का चयन करता है [इस हेतु से वेद को आचार्य कहा है] । अथवा 'आचार्यवचन प्रमाण है' [श्रुति] उसकी अपेक्षा से है । वह कौन है [अर्थात् किसकी अपेक्षा से कहा है] ? जो [वचन] प्रमाणों से जानने योग्य होवे । [अर्थापत्ति से जाना जाता है कि जो आचार्यवचन प्रमाणान्तर से गम्य न होवे, वह अप्रमाण है ।] ॥१३॥

विवरण—नान्तरीयकत्वात्—'विना' अर्थवाले अन्तर शब्द से 'भव' अर्थ में छ (=ईय) प्रत्यय (अष्टा० ४।२।१३८)=अन्तरीय । उससे स्वार्थ में 'क'—अन्तरीयक । न अन्तरीयक नान्तरीयक । इस शब्द का प्रयोग जिसका त्याग न किया जा सके, अर्थात् आवश्यक अर्थ में होता है । महाभाष्य में लिखा है—कश्चिदन्नार्थी शालिकलापं सपलालं सतुषमाहरति नान्तरीयकत्वात् (महा० १।२।३९) । अर्थात् कोई अन्न की इच्छावाला धान के खेत के स्वामी से दिये गये धान के समूह को पलाल (=पराली) और तुष (=छिलके) के सहित ले जाता है, आवश्यक होने से । क्योंकि उसके पलाल और तुष को वह उसी समय पृथक् नहीं हो सकता । इसी प्रकार यहां भी 'स-[आदरो]नान्तरीयकत्वात्' का भाव है कि आचार्य के प्रति आदरबुद्धि रखना शिष्य के

---

१. आर्षेयान् यूनोऽनूचानाम् ऋत्विजो वृणीते सोमेन यक्ष्यमाणः । शाङ्खा० श्रौत ५।१।१॥

२. अनुपलब्धमूलम् । ३. द्र०—अथोत्तरं देवयजनमध्यवस्यति । शाङ्खा०श्रौत १५।१४।१॥

४. द्र०—मै० सं० १।१०।१॥ भाष्यकारेण 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' इति विधिवाक्यस्य आचार्यवचनं प्रमाणम् अर्थवाद इत्युक्तम्, तादृशं वचनं नोपलब्धमस्माभिः ।

५. तुलनीयम्—आचिनोति बुद्धिमिति वा । निरुक्त १।४॥

यच्चोक्तं—सत्यवाचामेतानि वचनानीति। तन्न—

सर्वत्र च प्रयोगात् सन्निधानशास्त्राच्च ॥१४॥ (उ०)

आचार्यवचनं हि भवति—'पूर्वपक्षे[1] सर्वासु तिथिष्वमावास्या'[2] इति। सन्निहितञ्च

लिये आवश्यक है। उसके बिना न छात्र गुरु से विद्या ग्रहण कर सकता है, और नाही गुरु अविनीत छात्र को पढ़ाता है। न श्रुतिः का भाव है— आचार्यवचः प्रमाणम् यह प्रामाण्य की विधायिका श्रुति नहीं है, किन्तु अर्थवाद है। विध्यन्तरमस्ति—भाष्यकार के अभिप्रायानुसार आचार्यवचः प्रमाणम् अर्थवाद आग्नेयोऽष्टाकपालः विधि का है। हमें आग्नेयोऽष्टाकपालः विधि के अर्थवाद के रूप में आचार्यवचः प्रमाणम् वचन उपलब्ध नहीं हुआ। सम्भवतः भाष्यकार ने यह कथन वृत्तिकार उपवर्ष के मतानुसार किया हो। उन्हें भी इस वचन के उक्त विधिवाक्य के अर्थवाद के रूप में उपलब्ध न होने से ही सम्भव है, उन्होंने यद्वा आचार्यवचनं द्वारा अर्थान्तर दर्शाने का प्रयत्न किया है। मीमांसा के अन्य ग्रन्थकार इस विषय में मौन हैं॥१३॥

व्याख्या—और जो यह कहा है कि—ये सत्यवाक् आचार्यों के वचन हैं, अतः प्रमाण हैं। यह ठीक नहीं है—

सर्वत्र च प्रयोगात् सन्निधानशास्त्राच्च ॥१४॥

सूत्रार्थ—(च) और (सर्वत्र) सम्पूर्ण शुक्लपक्ष में आमावास्येष्टि का, और सम्पूर्ण कृष्णपक्ष में पौर्णमासेष्टि का (प्रयोगात्) प्रयोग करने से=प्रयोग कहने से, (च) और (सन्निधानशास्त्रात्) सन्निधि में [अमावास्या में आमावास्येष्टि से और पौर्णमासी में पौर्णमासेष्टि से यजन-विधायक] शास्त्र के विद्यमान होने से।

विशेष—कुतुहलवृत्ति में प्रयुक्तत्वात् पाठ है। अर्थ दोनों का समान है।

व्याख्या—आचार्य का वचन है—पूर्वपक्षे सर्वासु तिथिष्वमावास्या (=पूर्वपक्ष में सब तिथियों में अमावास्या है)। [इस विषय में] शास्त्र (=वेदवचन) सन्निहित (=सम्यक्

---

१. पूर्वपक्षे=शुक्लपक्षे, अपरपक्षे=कृष्णपक्षे। इदं प्राचीनपद्धत्यनुसारं, यथा दाक्षिणात्या अद्यापि व्यवहरन्ति तथा व्यवहारो ज्ञेयः।

२. अर्थतोऽयमनुवादः। अत्रैतानि वचनानि द्रष्टव्यानि—'पौर्णमासेन हविषाऽपरपक्षमभियजते। स यत्र क्व च पुराऽमावस्यया यजते स्वे स्थाने यज इति विद्यात्। आमावास्येन पूर्वपक्षम्। स यत्र क्व च पुरा पौर्णमास्या यजते स्वे स्थाने यज इति विद्यात्। निदान सूत्र २।५॥ आमावास्यस्य कालात् पौर्णमासस्य कालो नातीयाद् आपौर्णमासादामावास्यस्य॥ बोधा० श्रौत २८।१३॥ आऽमावास्यायाः पौर्णमासं नात्येति, आपौर्णमास्या आमावास्यम्॥ गोभिल गृह्य १।९।१३॥

शास्त्रम्—पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत[1],अमावास्यायाममावास्यया यजेत[1] इति। तेन श्रुतिविरुद्धवचनान्न सत्यवाचः। तस्मादप्रमाणम् ॥१४॥ इति कल्पसूत्राऽस्वतःप्रामाण्याधिकरणम् ॥७॥

प्रकार पढ़ा हुआ) है—पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत (=पौर्णमासी में पौर्णमासी से यजन करे), अमावास्यायाममावास्यया यजेत् (=अमावास्या में अमावास्या से यजन करे)। इस कारण श्रुतिवचन से विरुद्ध होने से [कल्पसूत्रकार] सत्यवाक् नहीं हैं। इस हेतु से [आचार्यवचन =कल्पसूत्रकार का वचन] अप्रमाण है ॥१४॥

विवरण—पूर्वपक्षे—प्राचीन पद्धति अमान्तगणना, तथा वर्तमान दाक्षिणात्य पञ्चाङ्गों के अनुसार शुक्लपक्ष मास का पूर्वपक्ष है, और कृष्णपक्ष अपरपक्ष। पूर्वपक्षे सर्वासु—यह अर्थतः अनुवादवचन है। कल्पसूत्रकारों का कथन है कि यदि कोई किसी कारण से आमावास्येष्टि अमावास्या के दिन न कर सके, तो पूर्णिमा से पूर्व किसी भी दिन कर ले। क्योंकि पूर्णिमा से पूर्व सभी तिथियों में अमावास्या का सद्भाव है। इसी प्रकार पौर्णमासेष्टि भी नियतकाल में न कर सके, तो अगली अमावास्या से पूर्व कभी भी कर ले। इसके विधायक कतिपय वचन पृष्ठ २४९ पर भाष्य की टि० २ में देखें।

इसी प्रकार इन कल्पसूत्रकारों ने अग्निहोत्र आग्रहायणेष्टि चातुर्मास्य ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों के मुख्यकाल का अतिपात होने पर अनुग्रहरूप में कालान्तर का विधान किया है।

भाष्यकार का कथन है कि कल्पसूत्रकारों का सम्पूर्ण शुक्लपक्ष में आमावास्येष्टि, और सम्पूर्ण कृष्णपक्ष में पौर्णमासेष्टि का विधान प्रत्यक्ष श्रुतिवचन से विरुद्ध होने से अप्रमाण है। भट्ट कुमारिल के कथन से विदित होता है कि भाष्यकार की व्याख्या वृत्तिकार उपवर्ष की वृत्ति पर आधृत है। भट्ट कुमारिल ने लिखा है—'वृत्तिकार ने पार्वणस्थालीपाक-विषयक गृह्यकार (गोभिल गृह्य १।९।१३) के वचन को दर्शपौर्णमासगमक सूत्रकारवचन में अध्यारोप करके उदाहरण को उपस्थापित किया है। यह अत्यन्त अध्यारोप(=निकृष्ट अध्यारोप)से अभिभूत अभिप्राय-वाला होने से अनादरणीय है। इसलिये अन्य उदाहरण देना चाहिये।

मीमांसा के अन्य ग्रन्थकारों ने,विशेषकर कुतुहलवृत्तिकार ने भाष्यकार द्वारा निर्दिष्ट विचार को चिन्त्य कहकर "पूर्वपक्ष (शुक्लपक्ष) की सब तिथियों में अमावास्या, और अपरपक्ष(कृष्ण-पक्ष) की सब तिथियों में पौर्णमासी" पक्ष का प्रयत्नपूर्वक युक्तिमत्त्व प्रतिपादन किया है। इसकी सिद्धि के लिये कुतुहलवृत्तिकार ने तै० सं० २।२।२ की अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद्, यो दर्शपौर्णमासी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वाऽतिपातयेत् श्रुति को उदाहृत करके और व्याख्या करके लिखा है—'सम्पूर्ण अपरपक्ष पौर्णमासी है' इस कल्पसूत्र को प्रत्यक्ष श्रुतिविरोध से अप्रामाण्य में भाष्यकार ने कैसे उदाहृत किया है?

---

१. द्र०—आप० परि० कण्डिका २; आप० श्रौत २४।२।१९, २०॥

वस्तुतः साम्प्रतिक मीमांसक भी सतो गतिश्चिन्तनीया न्याय के अनुसार विद्यमान याज्ञिक-प्रक्रिया के साधुत्व-प्रतिपादन में ही श्रेय समझते हैं। न्याय्य क्या है, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। इसी कारण यदि भाष्यकार के न्याय्य कथन से इनके विचारों को ठेस पहुंचती है, तो ये भाष्यकार की निन्दा करते हैं। भट्ट कुमारिल के वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाष्यकार की यह विवेचना वृत्तिकार की व्याख्यानुसार है। क्या वृत्तिकार उपवर्ष, जो सूत्रकार जैमिनि से कुछ काल पश्चात् ही हुये, वे सूत्रकार का अभिप्राय नहीं जानते थे? उनकी अपेक्षा नवीन मीमांसक सूत्रकार के अभिप्राय को जानने में अधिक कुशल हैं? यह ठीक उसी प्रकार की बात है, जैसे साम्प्रतिक पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थकार मन्त्र का तात्पर्य नहीं समझते थे, हम अधिक समझते हैं। आर्ष परम्परा पर विश्वास रखनेवाला कौन व्यक्ति इस प्रकार के कथन पर विश्वास करेगा?

वास्तविकता यह है कि कल्पसूत्रकारों ने नियत समय पर कर्म न कर सकने पर कर्म का सर्वथा लोप न हो जावे, इसलिये अनुग्रहपक्ष का विधान किया था। बोधायन श्रौत २८।१२ में जहां कालातिपात होने पर भी कर्मों के विधान का उल्लेख किया है, उसका आरम्भ ही अथातोऽनुग्रहान् व्याख्यास्यामः से होता है। तैत्तिरीय संहिता २।२।२ का उक्त वचन कालातिपात होने पर प्रायश्चित्तेष्टि के रूप में विहित है (ऐसा ही मै० सं० २।१।१०; काठक सं० १०।५ में भी है)। यदि शुक्लपक्ष की सब तिथियों में अमावास्या, और कृष्णपक्ष की सब तिथियों में पौर्णमासी मान ली जाये, तो न कालातिपात होता है, और नाही प्रायश्चित्तेष्टि की सम्भावना है। उस अवस्था में प्रायश्चित्त के लिये इष्टि का विधान ही अनर्थक हो जावे। मीमांसाकार ने और उसके वृत्तिकार ने कल्पसूत्रकारों की अनुग्रहविधि को उचित न मानकर उनका खण्डन किया है। इनका तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की अनुग्रहविधि कर्म में अव्यवस्था उत्पन्न कर सकती है। इसलिये यथाशास्त्र कर्म करने पर इन्होंने बल दिया है। अनुग्रहविधि कार्यकर्ता को प्रमाद के लिये भी प्रेरित करती है। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण हम देते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन्ध्या-कर्म को प्रधानता देते हुये आचमन के विषय में लिखा है—नो चेन्न। इस विधान में उनका इतना ही तात्पर्य था कि यदि किसी विशेष कारण से सन्ध्या के समय आचमनीय जल न मिल सके, तो आचमन के अभाव में सन्ध्या-कर्म का परित्याग न किया जाये। परन्तु देखा जाता है कि उनके अनुयायी प्रायः घर में सन्ध्योपासन करते समय भी आचमन आदि नहीं करते। अतः हमारा मत है कि वृत्तिकार वा भाष्यकार ने कल्पसूत्रकारों के अनुग्रहविधि का जो अप्रामाण्य दर्शाया है, वह यथाविधि कर्म करने की दृष्टि से उचित ही हैं।

भट्ट कुमारिल का अन्यथा अधिकरण-नियोजन—भट्ट कुमारिल ने भाष्यकार के कल्पसूत्र स्वतःप्रमाण हैं अथवा परतःप्रमाण, इस विचार से असहमत होने से इस अधिकरण का विवेचनीय विषय कल्पसूत्र अपौरुषेय हैं अथवा पौरुषेय हैं बनाकर सूत्रों की व्याख्या की है। उत्तरवर्ती मीमांसकों ने भाट्ट मत का ही अनुसरण किया है। परन्तु प्रकरण की संगति को ध्यान में रखते हुये शबर स्वामी का व्याख्यान अथवा विवेचनीय विषय युक्त है। प्रकरण स्मृतियों के प्रामाण्याप्रामाण्य का है। यद्यपि कल्पसूत्र भी स्मृति के अन्तर्गत ही आते हैं, और उनके प्रामाण्याप्रामाण्य

[देशाचारेषु सामान्यतः श्रुतिकल्पनाधिकरणम्; होलाकाधिकरणं वा ॥८॥]

अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात् ॥१५॥ (पू०)

अनुमानात् स्मृतेराचाराणां च प्रामाण्यमिष्यते। येनैव हेतुना ते प्रमाणम्, तेनैव व्यवस्थिताः प्रामाण्यमर्हन्ति। तस्माद् होलाकादयः प्राच्यैरेव कर्त्तव्याः, 'आह्नीनैबुका-

---

का विचार प्रथम दो अधिकरणों में कर दिया है, पुनरपि यज्ञकर्म में श्रौतसूत्रों का क्रमादि के परिज्ञान में विशेष सहयोग होने से यज्ञिकों का इनके प्रति अधिक आदर है, और इसी दृष्टि से इन्हें भी ब्राह्मण के समान वेद भी मानते हैं[2] ॥१४॥

विशेष—प्रस्तुत अधिकरण में विशिष्ट देशवासियों से आचरित विशिष्ट आचारों के सम्बन्ध में विचार किया है। उसका स्वरूप है—प्राच्य उदीच्य प्रतीच्य दाक्षिणात्य आदि जनों के द्वारा आचरित आचारों के प्रमाण के लिये आचार-प्रामाण्य के आधार पर जिस श्रुति का अनुमान किया जायेगा, वह श्रुति सामान्यविषयक अनुमित की जावे, अथवा देशभेद से आचार-व्यवस्थापिका श्रुति की प्रकल्पना की जावे। यथा होलाक (=होली) कर्म प्राच्यदेशवासियों से आचरित है, तो क्या होलाकमाचरणीयम्—इस सामान्यरूप से श्रुति का अनुमान किया जावे, अथवा प्राच्यैरेव होलाकमाचरणीयम् ऐसी व्यवस्थित (=विशिष्ट) श्रुति का अनुमान किया जाये। इसमें सूत्रकार पूर्वपक्ष (=व्यवस्थित श्रुति का अनुमान करना चाहिये) को उपस्थित करते हैं—

अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात् ॥१५॥

सूत्रार्थ—(अनुमानव्यवस्थानात्) [आचारविषयक] अनुमान के व्यवस्थित होने से उस व्यवस्था से युक्त ही आचार प्रमाण होवे।

व्याख्या—[श्रुति के] अनुमान से स्मृति और आचारों का प्रामाण्य इष्ट है (द्र०—मी० १।३।२, ३ सूत्र)। जिस हेतु (=अनुमान) से वे [स्मृति और आचार] दोनों प्रमाण हैं, उसी हेतु से व्यवस्थित [स्मृति और आचार] प्रमाण होने योग्य हैं। इसलिये होलाक (=

---

१. करञ्जादिपूजनात्मकमाह्नीनैबुकमिति मीमांसाकौस्तुभे (१।३।१५) भट्टखण्डदेवः। स्वस्वकुलागतं करञ्जार्कादिस्थावरदेवतापूजनमाह्नीनैबुकशब्देनोच्यते इति मीमांसान्यायमालाविस्तरेऽत्रैव माधवः। गोमयमयीं देवतां दूर्वादिभिरभ्यर्च्य ज्ञातित्वकल्पनमाह्नीनैबुकमित्येके, मङ्गलवारे दधिमन्थनमित्यन्ये, प्रतिदिनं तण्डुलमुष्टिं मासमेकं भाण्डे निःक्षिप्य, घृतेन तेनापूपमेकं कृत्वा देवतापूजनमित्यपरे इति न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धौ (१।१।१, पृष्ठ २९७तमे) उदयनः।

२. विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः, षडङ्गमेके (पार० गृह्य २।६।५, ६)। 'तर्कः कल्पसूत्रमिति भर्तृयज्ञः' इति गदाधरो व्याख्यातवान्। उत्तरसूत्रेण षडङ्गान्तर्गतत्वाद् वा कल्पसूत्राणां वेदत्वं ज्ञेयम्।

दयो दाक्षिणात्यैरेव, 'उद्वृषभयज्ञादय उदीच्यैरेव । यथा शिखाकल्पो व्यवतिष्ठते—केचित् त्रिशिखाः, केचित् पञ्चशिखा इति ॥१५॥

होली) आदि पूर्व देशवासियों से ही कर्तव्य हैं; आह्नीनैबुक आदि दाक्षिणात्यों से ही; और उद्वृषभ यज्ञादि उदीच्यों से ही। जैसे शिखा-कल्पना व्यवस्थित है—कोई तीन शिखावाले होते हैं, कोई पांच शिखावाले ॥१५॥

विवरण— आह्नीनैबुकादयो दाक्षिणात्यैरेव—आह्नीनैबुक कर्म के सम्बन्ध में भट्ट खण्डदेव ने 'मीमांसा-कौस्तुभ' में इसी सूत्र की व्याख्या में लिखा है—'करञ्जादि-पूजनरूप आह्नीनैबुक कर्म दाक्षिणात्य ही करते हैं'[१]। 'मीमांसान्यायमालाविस्तर' में लिखा है—'स्वस्व कुलागत करञ्ज वा आक आदि स्थावर देवता का पूजन आह्नीनैबुक शब्द से कहा जाता है'[२]।

'न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि' (१।१।१, पृष्ठ २७९) में उदयनाचार्य ने लिखा है—

"गोबर की बनाई देवता-प्रतिमा का दूर्वा आदि से पूजन करके उसमें ज्ञातित्व (=बन्धुत्व) की कल्पना आह्नीनैबुक कहाता है, यह कुछ लोगों का कथन है। मङ्गलवार में दधि मथना दूसरे मानते हैं। प्रतिदिन एक मुट्ठी चावल एक मास तक पात्र में डालकर उससे घृत में एक अपूप (=पूआ) बनाकर देवता का पूजन करना अन्य बताते हैं।"

हमारे विचार में मीमांसाकौस्तुभ के कर्ता भट्ट खण्डदेव और न्यायमालाविस्तर के कर्ता माधवाचार्य के स्वयं दाक्षिणात्य होने से उनका विवरण अधिक प्रमाण होना चाहिये। अथवा उदयनाचार्य ने काशी में विद्यमान भिन्न-भिन्न क्षेत्र के दाक्षिणात्य विद्वानों से आह्नीनैबुक का जो स्वरूप जाना होगा, वह क्षेत्रभेद से ठीक हो सकता है।

उद्वृषभयज्ञादय उदीच्यैरेव—उद्वृषभयज्ञ के विषय में मीमांसान्यायमालाविस्तर में लिखा है—'ज्येष्ठमास की पूर्णिमा में बैलों की पूजा करके उन्हें दौड़ते हैं। यह 'उद्वृषभयज्ञ' कहाता है। राजस्थान में यह कर्म दिवाली के दूसरे दिन गोवर्धनपूजा के पश्चात् प्रचलित है। इस कार्य के लिये कृषक कुछ दिन पूर्व से ही बैलों को खिला-पिलाकर पुष्ट करते हैं। सींगों को विविध रङ्गों में रंगते हैं। समृद्ध जन सींगों पर चांदी वा सोने का वर्क, और साधारण जन श्वेत वा सुनहरी चमकीले कागज चिपकाते हैं। यह कर्म लगभग ३०-४० वर्ष पूर्व जिस उत्साह से किया जाता था, वह अब नष्टप्रायः हो गया है।

केचित् त्रिशिखाः—पूर्व १।३।२ के भाष्य में भाष्यकार ने शिखाकर्म को गोत्रचिह्न कहा है (द्र०—पृष्ठ २१५)। गोभिल गृह्यसूत्र २।९।२३ में यथागोत्रकुलकल्पम् से गोत्र और कुल के

---

१. ज्येष्ठमासस्य पौर्णमास्यां बलीवर्दानभ्यर्च्य धावयन्ति, सोऽयमुद्वृषभयज्ञ इति मीमांसान्यायमालाविस्तरेऽत्रैव माधवः। राजस्थाने त्वेतत् कर्म दीपमालिकाया अग्रिमे गोवर्धनपूजादिने कृषकाः समाचरन्ति।

२. द्र०—पृष्ठ २५२, टि० १।

अपि वा सर्वधर्मः स्यात् तन्न्यायत्वाद् विधानस्य ॥१६॥ (उ०)

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः। एवञ्जातीयकः सर्वधर्मः स्यात्। कुतः? तन्न्यायत्वाद् विधानस्य। विधीयतेऽनेनेति विधानं शब्दः। सोऽनुमीयते स्मृत्या। न च तस्याऽऽकृतिवचनता न्याय्या, न च व्यक्तिवचनता। न सर्वेषामनुष्ठातॄणां यदेकं सामान्यम्, तस्य वाचकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, योऽनुमीयेत। तस्मात् सर्वधर्मता विधेर्न्याय्या। कुतः? पदार्था कर्त्तव्या इति प्रमाणमस्ति, व्यवस्थायां तु न किञ्चित् प्रमाणमस्ति ॥१६॥

विधान के अनुसार २, ३, ५ शिखा रखने, अथवा पूरा मुण्डन कराने का विधान किया है। आपस्तम्ब गृह्य (खं० १६, सू० ६, ७) में यर्थाषिशिखा निदधाति, यथा वैषां कुलधर्मः कहा है। यहां यर्थाषि से प्रवराध्याय में विहित ऋषिगणना के अनुसार शिखा जाननी चाहिये। बोधायन गृह्य (२।४) में अथैनमेकशिखस्त्रिशिखपञ्चशिखो वा यथैवैषां कुलधर्मः। यर्थाषिशिखां निदधातीत्येके (=आपस्तम्बाः) कहा है। गोत्रभेद से कुछ शिखा-संख्या इस प्रकार जानें—

एकशिख—वसिष्ठ गोत्रवाले (दक्षिण भाग में)

द्विशिख—अत्रि और कश्यप गोत्रवाले (दक्षिण-उत्तर दोनों भागों में एक-एक)।

त्रिशिख—कुण्डपायी।

पञ्चशिख—अङ्गिरा और भृगु गोत्रवाले।

ऋषिभेद=प्रवरभेद से—जिस गोत्र में जितने प्रवर=ऋषिविशेष हुये उनकी संख्या के अनुसार। प्रवर-संख्या का परिज्ञान प्रवराध्याय नामक ग्रन्थ से होता है ॥१५॥

अपि वा सर्वधर्मः स्यात् तन्न्यायत्वाद् विधानस्य ॥१६॥

सूत्रार्थ – (अपि वा) पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। अर्थात् देशव्यवस्था से आचार-विधायिका श्रुति का अनुमान करना चाहिये, यह ठीक नहीं है। [देशविशेष में व्यवह्रियमाण धर्म] (सर्वधर्मः) सब का धर्म (स्यात्) होवे। (तद्) उस सर्वधर्म (विधानस्य) विधान के (न्यायत्वात्) न्याय्य होने से।

व्याख्या—'अपि वा' शब्दों से पूर्वपक्ष की निवृत्ति होती है। इस प्रकार का (=देशभेद से दृष्ट) सब का धर्म होवे। किस हेतु से? उस सर्वधर्म-विधान के न्याय्य होने से। जिससे कथन किया जाता है, वह विधान कहाता है, वह शब्द (=श्रुति) है। उस (=शब्द=श्रुति) का स्मृति से अनुमान किया जाता है। उस (=विधायक शब्द) का आकृति से कहना न्याय्य नहीं है, और नाही व्यक्ति से कहना न्याय्य है। सब अनुष्ठाताओं का जो एक सामान्य (=आकृति) है, उसका वाचक कोई शब्द नहीं है, जिसका अनुमान किया जाये। इसलिये विधि की सर्वधर्मता न्याय्य है। किस हेतु से? 'पदार्थ (=कर्म) करने चाहियें' इतना ही प्रमाण है, व्यवस्था में तो कोई प्रमाण नहीं है ॥१६॥

अथ यदुक्तम्—यथा शिखाकल्पो व्यवतिष्ठते इति—

दर्शनाद् विनियोगः स्यात् ॥१७॥ (उ०)

गोत्रव्यवस्थया शिखाकल्पव्यवस्थायां दर्शनं स्पष्टम् ।।१७॥

लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ॥१८॥ (उ०)

इदं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रम् । कानि तानि पदानि ? अथ किमर्थं न लिङ्गाद्

विवरण – न·· आकृतिवचनता न्याय्या, न च व्यक्तिवचनता—आकृतिवचनता न्याय्य नहीं है, इसी का भाव न सर्वेषाम्···एकं सामान्यम् से स्पष्ट किया है । यहां भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि जितने भी कर्म के अनुष्ठान करनेवाले व्यक्ति हैं, उनमें कोई ऐसा सामान्य (=समानधर्म) नहीं है, जिसको प्रस्तुत करके होलाक आदि आचारों की विधायिका श्रुति की कल्पना की जाये । इसलिये श्रुति की कल्पना सर्वधर्मरूप में ही हो सकती है । इसलिये जो भी होलाक आदि कर्मों के अनुष्ठान करने में समर्थ हैं, उन सब की दृष्टि से सर्वधर्मरूप में कल्पना करना न्याय्य है । दिक् वा देशविशेष से भी कल्पना नहीं की जा सकती है, इसका निर्देश सूत्रकार और भाष्यकार आगे करेंगे । भाष्यकारोदाहृत आचारों के विषय में हम अपना मत अधिकरण के अन्त में प्रकट करेंगे ।।१६।।

व्याख्या—और जो कहा है—जैसे शिखा की कल्पना व्यवस्थित है, [वैसे ही होलाकादि होवें । इस विषय में कहते हैं—]

दर्शनाद् विनियोगः स्यात् ॥१७॥

सूत्रार्थ—[शिखाकर्म में] (दर्शनात्) दर्शन से=दृष्टहेतु से (विनियोगः) विनियोग =विशेष नियम (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—गोत्रव्यवस्था से शिखा-कल्पना में दर्शन (=दृष्टहेतु) स्पष्ट है ॥१७॥

विवरण—भाष्यकार का यह अभिप्राय है कि गोत्रों की व्यवस्था से जो शिखाओं की कल्पना की है, उसमें हेतु स्पष्ट है । शिखाभेद के दर्शन से यह बालक किस गोत्र का है, यह सरलता से जान लिया जाता है । होलाक आदि कर्म में ऐसा दर्शन (=दृष्टहेतु) कोई नहीं है, जिससे इन कर्मों को व्यवस्थित माना जाये ॥१७॥

लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ॥१८॥

सूत्रार्थ—(च) और (नित्यस्य) नित्य=नियत (लिङ्गाभावात्) लिङ्ग=चिह्न के अभाव होने से भी व्यवस्था नहीं हो सकती है ।

व्याख्या—यह सूत्र किन्हीं [पूर्वपक्ष-विषयक] पदों से आगे पढ़ा गया है [अर्थात् सूत्रकार ने पूर्वपक्ष को मन में रखकर उत्तरसूत्र की ही रचना की है] । वे पद कौनसे हैं ?

व्यवस्था । यथा—शुक्लो होता[1] इति ? नास्ति तद् नित्यमेषां लिङ्गम्, यद् यथादर्शनमनुवर्त्तते । येऽपि श्यामा बृहन्तो लोहिताक्षाः, तेऽपि न सर्वे आह्लीनैबुकादीन् कुर्वते । अनेवंलिङ्गा अपि चानुतिष्ठन्ति । तस्मान्न व्यवस्था । शुक्लो होता इति प्रत्यक्षा श्रुतिः[2] ॥ १८ ॥

अथ कस्मान्न समाख्यया नियमः ? ये 'दाक्षिणात्याः' इति समाख्याताः, ते

(आक्षेप) क्यों नहीं लिङ्ग से व्यवस्था होवे । यथा— शुक्लो होता **(=होता शुक्लवर्ण होवे) ?** (समाधान) **इन (=होलाक आदि कर्मों) का नित्य (=नियत) लिङ्ग (=प्रतीति का कारण) नहीं है, जो यथादर्शन (=जैसे होलाक आदि कर्म जिन में देखे जाते हैं, उनका) अनुवर्तन करे । जो भी श्यामवर्ण बड़े लाल आंखोंवाले हैं. वे भी सब आह्लीनैबुक आदि नहीं करते । और जो इस प्रकार के नहीं हैं, वे भी [आह्लीनैबुक का] अनुष्ठान करते हैं । इस कारण व्यवस्था नहीं है ।** शुक्लो होता **यह प्रत्यक्ष श्रुति है ॥१८॥**

विवरण—भट्ट कुमारिल ने सूत्रस्थ 'नित्यस्य' पद की लिङ्ग के साथ सापेक्षता और **देवदत्तस्य गुरुकुलम्** में प्रयुज्यमान सापेक्ष समास से उसके साधुत्व के प्रतिपादन का विस्तार से खण्डन किया है, और महती खींचातानी (द्रष्टव्य तन्त्रवार्तिक) से सूत्र का—'(नित्यस्य) नियत कर्ता अथवा अधिकारी के प्रतिपादक (लिङ्गाभावात्) किसी चिह्न के न होने से होलाकादि कर्म का व्यवस्थित विधान नहीं हो सकता है' अर्थ दर्शाया है । हमारे विचार में महती खेंचातानी से किये गये इस अर्थ में भी **'पञ्चों दा फैसला सिर मत्थे, पतनाला ओत्थे दा ओत्थे'** (=पञ्चों का पतनाला हटाने का निर्णय स्वीकार करके भी उसे वहीं रखना) रूप पञ्जाबी कहावत के अनुसार असमर्थता दोष तो वैसा ही बना रहता है । अतः **देवदत्तस्य गुरुकुलम्, राजपुरुषः शोभनः** के समान यहां भी समास जानना चाहिये । इसी लिये महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है—**यत्र च गमको भवति, भवति तत्र वृत्तिः । तद्यथा—देवदत्तस्य गुरुकुलम्, देवदत्तस्य गुरुपुत्रः, देवदत्तस्य दासभार्येति** (महा० २।१।१) । अर्थात् जहां अर्थ सरलता से ज्ञात हो जाता है, वहां सापेक्ष का भी समास होता है । उसी प्रकार **लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य** में नित्य शब्द के साथ लिङ्ग के सापेक्ष होने पर भी अर्थ की प्रतीति हो जाती है । अतः समास की उपपत्ति **देवदत्तस्य गुरुकुलम्** के समान ही जाननी चाहिये । इसलिये गमकत्वरूप सरल युक्ति को स्वीकार न करके भट्ट कुमारिल का खींचातानी से समाधान करना चिन्त्य है ।

इदं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रम्——इस विषय में **प्रख्याभावाच्च योगस्य** (मी० १।१।२२) सूत्र के भाष्य में इन्हीं पदों पर लिखा गया विवरण (पृष्ठ ७८) देखें ॥१८॥

व्याख्या—क्यों नहीं समाख्या (=संज्ञा) से नियम होवे ? जो 'दाक्षिणात्य' इस नाम

---

१. अनुपलब्धमूलं वचनम् । २. नैषा श्रुतिरुपलब्धाऽस्माभिः ।

आह्नीनैबुकादीन् करिष्यन्ति; ये 'उदीच्या:' इति समाख्याता:, ते उद्वृषभयज्ञादीन्; ये प्राच्या इति, ते होलाकादीन्। यथा—राजा राजसूयेन[1] इति। नैतदेवम्—

आख्या हि देशसंयोगात् ॥१९॥ (उ०)

देशसंयोगादाख्या भवति। दक्षिणदेशान्निर्गत: प्राक्षु वा उदक्षु वाऽवस्थित आह्नीनैबुकादीन् करोत्येव, उदीच्याश्च देशान्तरे उद्वृषभयज्ञादीन्, प्राच्याश्च होलाकादीन्। अन्यदेश[ज]श्च देशान्तरगतो न नियोगत: परपदार्थान् करोति। तस्मान्न व्यवस्था। राजा राजसूयेन इति तु नियता जाति:[2] ॥१९॥

न स्याद् देशान्तरेष्विति चेत् ॥२०॥ (आ०)

से प्रसिद्ध हैं, वे आह्नीनैबुकादि को करेंगे; जो 'उदीच्य' इस नाम से प्रसिद्ध हैं, वे उद्वृषभयज्ञादि को; और जो 'प्राच्य' इस नाम से प्रसिद्ध हैं, वे होलाकादि को करेंगे। जैसे—राजा राजसूयेन (='राजा' इस नाम से प्रसिद्ध राजसूय से यजन करे)। इस प्रकार यह नहीं हो सकता है। क्योंकि—

आख्या हि देशसंयोगात् ॥१९॥

सूत्रार्थ—[दाक्षिणात्य प्राच्य उदीच्य] (आख्या) संज्ञा (हि) निश्चय से (देशसंयोगात्) देश के संयोग से होती हैं। [अत: उन से आचार-विषयक व्यवस्था नहीं हो सकती है।]

व्याख्या—संज्ञा (=नाम) देश के संयोग से होती है। [अर्थात् दक्षिण देश में जो निवास करता है, वह दाक्षिणात्य नामवाला होता है।] किन्तु दक्षिण देश से निकला हुआ प्राग्देश वा उदक् देश में अवस्थित व्यक्ति आह्नीनैबुकादि को करता ही है, और उदक् देशवाले देशान्तर में भी उद्वृषभ यज्ञादि को, और प्राक् देशवाले होलाकादि को करते ही हैं। अन्य देशवाला देशान्तर को प्राप्त हुआ नियमत: परपदार्थों (=उस देशवासियों के कर्मों) को नहीं करता। इसलिये [देश से] व्यवस्था नहीं हो सकती। राजा राजसूयेन में तो [राजरूप] नियत जाति है ॥१९॥

विवरण—राजा राजसूयेनेति नियता जाति:—राजशब्द क्षत्रियजाति में नियत है, इसका विचार मीमांसाभाष्य २।३।३ में किया है। राजा का अपत्य राजन्य कहता है—राजश्वशुराद् यत् (अष्टा० ४।१।१३७)। 'राजन्य' क्षत्रिय का वाचक है—बाहू राजन्य: कृत: (यजु: ३१। ११) ॥१९॥

न स्याद् देशान्तरेष्विति चेत् ॥२०॥

सूत्रार्थ—[प्राच्य दाक्षिणात्य उदीच्य आदि नाम] (न) नहीं (स्यात्) होवे, (देशान्तरेषु) देशान्तरों में जाने पर (इति चेत्) ऐसा मानें तो।

---

१. द्र०—राजा राजसूयेन स्वराज्यकामो यजेत। आप० श्रौत १८।८।१॥

२. द्र०—शाबरभाष्य २।३।३॥

इति चेत् पश्यसि—यदि देशसंयोगादाख्या भवेद्, देशान्तरस्थस्य न भवेत्। भवति च देशान्तरस्थस्य। माथुर इत्यसम्बद्धस्याऽपि मथुरया। तस्मान्न देशसंयोगादाख्या ॥२०॥

स्याद् योगाख्या हि माथुरवत् ॥२१॥ (आ० नि०)

देशसंयोगनिमित्तायामप्याख्यायां देशान्निर्गतस्य तदाख्या न विरुद्धा। यत एषा योगाख्या योगमात्रापेक्षा, न भूतवर्त्तमानभविष्यत्सम्बन्धापेक्षा। यतो दृश्यते—मथुरामभिप्रस्थितो[1] माथुर इति, मथुरायां वसन्[2], मथुराया निर्गतश्च[3]। यस्य तु अतोऽन्यतमः सम्बन्धो नाऽस्ति, न स माथुरः। तस्मान्न समाख्यया व्यवस्था ॥२१॥

व्याख्या—यदि यह देखते (=समझते) हो कि—यदि देश के संयोग से [प्राच्यादि] नाम होवे, तो देशान्तरस्थ का [प्राच्यादि] नाम न होवे। परन्तु देशान्तरस्थ का भी [प्राच्यादि नाम] होता है। [जैसे—] माथुर यह नाम मथुरा से असम्बद्ध का अर्थाद् देशान्तरस्थ का भी होता है। इसलिये [प्राच्यादि] देशसंयोग से नाम नहीं है ॥२०॥

विवरण—इस सूत्र के भाष्य का तात्पर्य इस प्रकार जानना चाहिये—सिद्धान्ती के 'देशनिमित्तक होलाकादि कर्म की व्यवस्था नहीं की जा सकती,' कथन पर पूर्वपक्षी आशंका करता है कि देशनिमित्तक प्राच्यादि समाख्या होने पर देशान्तरस्थ की प्राच्यादि संज्ञा नहीं होगी। इसलिये हम प्राच्य उदीच्य दाक्षिणात्य आदि को जात्यादिरूप नित्य लिङ्ग मानेंगे, और उसी के निमित्त से होलाकादि कर्म को विशेषित करेंगे (द्र०—तन्त्रवार्तिक) ॥२०॥

स्याद् योगाख्या हि माथुरवत् ॥२१॥

सूत्रार्थ—[प्राच्यादि देश से बाहर गये हुये की भी प्राच्यादि संज्ञा] (स्यात्) होवे। [प्राच्यादि] (योगाख्या) सम्बन्ध-निमित्ता आख्या (हि) ही है, (माथुरवत्) माथुर के समान। अर्थात् जैसे मथुरा में रहनेवाला माथुर कहाता है, उसी प्रकार मथुरा से निकला हुआ (=बाहर गया हुआ) भी माथुर कहाता है।

व्याख्या—आख्या के देशसंयोग-निमित्तक होने पर भी [उस-उस] देश से निकले हुये की वह (=उस देशनिमित्तक) संज्ञा विरुद्ध नहीं है। जिस कारण यह संज्ञा योग (=सम्बन्ध) मात्र की अपेक्षावाली है, भूत वर्तमान भविष्यत् कालनिमित्ता नहीं है। क्योंकि देखा जाता है कि—मथुरा के प्रति रवाना हुआ भी माथुर कहाता है, मथुरा में रहता हुआ, और मथुरा से निकला हुआ भी माथुर कहाता है। जिस व्यक्ति का इनमें से किसी से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, वह माथुर नहीं कहाता है। इसलिये [प्राच्यादि] संज्ञा से व्यवस्था नहीं हो सकती ॥२१॥

---

१. तद् गच्छति पथिदूतयोः। अष्टा० ४।३।८५॥ २. तत्र भवः। अष्टा० ४।३।५३॥
३. तत आगतः। अष्टा० ४।३।७४॥

कर्मधर्मो वा प्रवणवत् ॥२२॥ (प्रा०)

विवरण—नगर ग्राम वा देशनिमित्तक संज्ञा के विषय में भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी के चौथे अध्याय के तृतीय पाद में निम्न सूत्रों में सम्बन्धों का उल्लेख किया है—,

१. तत्र जातः (सूत्र २५)=वहां उत्पन्न होना। मथुरा में उत्पन्न—माथुर।

२. प्रायभवः (सूत्र ३९)=वहां प्रायः होना। मथुरा में प्रायः होनेवाला—माथुर।

३. संभूते (सूत्र ४१)=वहां होने की सम्भावना में। मथुरा में सम्भावनावाला—माथुर।

४. तत्र भवः (सूत्र ५३)=वहां विद्यमान। मथुरा में विद्यमान—माथुर।

५. तत आगतः (सूत्र ७४)=वहां से आया हुआ। मथुरा से आया हुआ—माथुर।

६. प्रभवति (सूत्र ८३)=वहां से प्रथमतः प्रकट होता है। हिमवान् से प्रकट होती है—हैमवती गङ्गा।

७. तद् गच्छति पथिदूतयोः (सूत्र ८५)=नगरदेशादि को जानेवाला मार्ग वा दूत। मथुरा को जानेवाला मार्ग वा दूत—माथुर।

८. अभिनिष्क्रामति द्वारम् (सूत्र ८६)=उस की ओर निकलनेवाला=खुलनेवाला द्वार। मथुरा की ओर खुलनेवाला द्वार—माथुर।

९. सोऽस्य निवासः (सूत्र ८९)=उसका वह निवास (=वर्तमान में रहने का स्थान)। मथुरा जिसका निवास है—माथुर।

१०. अभिजनश्च (सूत्र ९०)=उसका वह अभिजन (=पूर्वजों का निवास)। मथुरा जिसके पूर्वजों का निवास है—माथुर।

११. भक्तिः (सूत्र ९५)=उसका वह सेवनीय। मथुरा जिसका सेवनीय हो वह—माथुर।

१२. तस्येदम् (सूत्र १२०)=उसका यह। मथुरा का यह पदार्थ—माथुर।

इन पाणिनि-प्रोक्त १२ सम्बन्धों के अतिरिक्त कुछ अन्य भी सम्बन्ध हो सकते हैं, जिनके कारण से देशादि के सम्बन्ध से व्यक्ति वा समाज आदि का नामकरण होता है।

मथुरामभिप्रस्थितो माथुरः—इसमें तद् गच्छति पथिदूतियोः (अष्टा० ४।३।८५) से मथुरा को जानेवाले दूत अथवा मार्ग में अण् प्रत्यय जानना चाहिये। भट्ट कुमारिल ने कहा है कि **मथुरामभिप्रस्थितो माथुरः** की दूत-विषयक कल्पना करनी चाहिये, अथवा अप्रत्ययिता=अप्रामाणिक का कहा मानकर उपेक्षा करनी चाहिये। यदि इसमें अप्रत्ययिता का तात्पर्य भाष्यकार से है, तो चिन्त्य है ॥२१॥

कर्मधर्मो वा प्रवणवत् ॥२२॥

सूत्रार्थ—(वा) अथवा देश (कर्मधर्मः) कर्म का धर्म होवे, (प्रवणवत्) जैसे देश की प्रवणता=निम्नता कर्म का धर्म होता है।

अथ कस्मान्न कर्माङ्गं देशः ? यः कृष्णमृत्तिकाप्रायः, स आह्नीनैबुकादीनाम् । यथा—प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत[1] इति ।।२२।।

तुल्यं तु कर्तृधर्मेण ॥२३॥ (आ०नि०)

यथा कर्त्र्यव्यवस्थितं लिङ्गं श्यामादि न पदार्थैः संवादमुपैति, तद्वद्देशलिङ्गमव्यवस्थितम् । कृष्णमृत्तिकाप्रायेऽप्यन्ये न कुर्वन्ति, तथाऽन्यलिङ्गेऽपि कुर्वन्ति । तस्मान्न देशतो व्यवस्था । प्राचीनप्रवणन्तु श्रुत्या नियतं वैश्वदेवस्य ।।२३।।इति देशाचाराणां सामान्यतोऽनुमानाधिकरणम्, होलाकाधिकरणं वा ।।८।।

व्याख्या—देश कर्म का अङ्ग क्यों न होवे ? जो देश अधिकतर काली मिट्टीवाला है, वह आह्नीनैबुक आदि कर्मों का होवे । जैसे—प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत (=पूर्व की ओर निम्न देश में वैश्वदेव नामक चातुर्मास्य के प्रथम पर्व से यजन करे) ।।२२।।

तुल्यं तु कर्तृधर्मेण ।।२३।

सूत्रार्थ—[श्यामादि का कर्माङ्गत्व (तु) भी (कर्तृधर्मेण) कर्ता के धर्म के साथ (तुल्यम्) समान होने से अव्यवस्थित होने से कर्म का व्यवस्थापक नहीं होगा [अर्थात् जैसे श्यामादि कर्तृधर्म बनकर कर्म के व्यवस्थापक नहीं हो सकते, वैसे ही कर्म का अङ्ग बनकर भी कर्म के व्यवस्थापक नहीं हो सकते] ।

व्याख्या—जैसे कर्ता में अव्यवस्थित श्यामादि लिङ्ग पदार्थों (=कर्मों) के साथ संवाद (=एकरूपता) को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार देशलिङ्ग [श्यामादि] भी अव्यवस्थित है । काली मिट्टी की अधिकतावाले देश में भी अन्य (=आह्नीनैबुक के अनुष्ठाताओं से भिन्न) [आह्नीनैबुक आदि को] नहीं करते, तथा [कृष्ण-मृत्तिका से] अन्य लिङ्गवाले देश में भी करते हैं । इसलिये देश से व्यवस्था नहीं हो सकती । वैश्वदेव की प्राङ्निम्नता श्रुति से नियत है। [अर्थात् वैश्वदेव कर्म प्राक्प्रवण देश में करना चाहिये, यह श्रुति ने साक्षात् कहा है । होलाक आह्नीनैबुक आदि कर्म का श्रुति में विधान नहीं है, अतः जब उसकी प्रमाणता के लिये श्रुति का अनुमान करते हैं, तब वैश्वदेव के समान देशविशेष का सम्बन्ध कैसे जोड़ा जा सकता है ?] ।।२३।।

विवरण—इस पाद में सूत्रकार के सूत्रों और शबरस्वामी के भाष्य के अनुसार स्मृतियों= श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र और धर्मसूत्रों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय में विविध प्रकार से विचार पिछले अधिकरण (सूत्र १४) तक पूर्ण हो जाता है । प्रस्तुत अधिकरण में देशाचार के सम्बन्ध में विचार किया गया है । देशाचार न केवल देशभेद से व्यवस्थित ही है, अपितु जनों से प्रशस्य और निन्द्य भी देखा जाता है । यथा—स्त्रियों का नर्तन । उत्तर भारत में प्रायः स्त्रियों का घर से

---

१. आप० श्रौत ८।१।५।। तुलना कार्या—चातुर्मास्यप्रकरणे 'प्रवणे यष्टव्यम्' इति । मै० सं० १।१०।७।।

बाहर खुले में नर्तन निन्द्य समझा जाता है। राजस्थान में विवाह के अवसर पर कुलीन घरों की स्त्रियां स्वजनों पारिवारिक जनों एवं समाज के अन्य जनों के सामने नाचती हैं। इस अवसर पर स्त्रियों का नाचना निन्द्य नहीं समझा जाता है। गुजरात में स्त्रियां गरवा नृत्य जहां-कहीं और जब-कभी भी कर सकती हैं। इस प्रकार एक ही नृत्य कहीं सर्वथा निन्द्य, कहीं समयविशेष में अनिन्द्य, और कहीं सर्वदा अनिन्द्य समझा जाता है। नृत्य भावाभिव्यक्ति की एक कला है। वस्तुतः कलास्वरूप से नृत्य निन्द्य नहीं है। उसकी निन्दनीयता अश्लीलता आदि के कारण स्वीकार की जा सकती है। तो क्या इस विषय का देशाचार अपने-अपने निन्द्य अनिन्द्यरूपों में उन-उन देशस्थों के लिये प्रमाण है, यह विचारणीय होता है। इसी प्रकार स्त्रियों का अवगुण्ठन=परदा करना वा न करना है। इस प्रकार के विषयों के निन्द्यत्व में हेतुदर्शन (द्र०—सूत्र १।३।४) के आधार पर विचार करने पर विदित होता है कि उत्तर भारत में स्त्रियों के नर्तन और खुले मुख रहने पर प्रतिबन्ध में कारण सम्भवतः मुसलमानों के शासन के समय उनकी कामुकता एवं बलात् अपहरणादि के कारण लगाया गया। अतः श्लील नर्तन और अवगुण्ठन का अभाव सामान्य आचार के रूप में प्रमाण माना जायेगा। हां, इस प्रकार की प्रामाण्य-कल्पना में अश्लीलता आदि प्रत्यक्ष दोषों का परिवर्जन सामान्यरूप से अपेक्षित जानना चाहिये। अन्यथा प्राच्यों के होलका=होली के समय का बहुत-सा कदर्य व्यवहार भी प्रमाण कोटि में आ जायेगा। अतः विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् (मी० १।३।३) सूत्र की भावना को सर्वत्र सम्बद्ध करना चाहिये।

भट्ट कुमारिल ने कहा है—इस अधिकरण के आद्य दो सूत्रों (अनुमानव्यवस्थानात्० १५, अपि वा सर्वधर्मः स्यात्० १६) से यह भी विचार करना चाहिये कि गोभिलप्रोक्त गृह्यसूत्र वा गोतम प्रोक्त धर्मसूत्रादि का व्यवस्था से प्रमाण मानना चाहिये, अथवा इन्हें सर्वधर्म मानना चाहिये। पूर्वपक्ष=व्यवस्था में हेतु है, व्यवस्था से आश्रय करना। यथा गोतम और गोभिलप्रोक्त सामवेदियों से ही स्वीकृत हैं, वसिष्ठ सूत्र ऋग्वेदियों से, और शङ्खलिखितप्रोक्त सूत्र शुक्लयजुर्वेदियों से, आपस्तम्ब बौधायन सूत्र कृष्णयजुर्वेदियों से ही। सिद्धान्त है—सर्वधर्मः स्यात्=इनमें विहित कर्म सब के लिये है, क्योंकि सामान्य विधान ही न्याय्य है।

हमारे विचार में गृह्य-धर्मसूत्र-विषयक यह विचार वक्ष्यमाण सर्वशाखां प्रत्येकं कर्म संज्ञक अधिकरण (मी० २।४।८-३२) से गतार्थ हो जाता है। पृथक् विचार की आवश्यकता नहीं रहती ।।२३।।

विशेष—स्मृतिप्रामाण्याप्रामाण्य के अन्तर्गत आर्यों और म्लेच्छों में प्रसिद्ध अर्थों के सम्बन्ध में विचार करके आर्यों में व्यवहृत वैदिक शब्दों का आर्यजनप्रसिद्ध अर्थ, और आर्यों में अव्यवहृत शब्दों के म्लेच्छप्रसिद्ध अर्थ के प्रामाण्य का निरूपण कर चुके। अब शिष्टजनों और अशिष्ट जनों में प्रयुक्त शब्दों के प्रामाण्याप्रामाण्य=साधुत्व-असाधुत्व अर्थात् व्यवहार्य-अव्यवहार्य विषय पर विचार करते हैं—

[साधुशब्दप्रयुक्त्यधिकरणम् ॥६॥]

प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् ॥२४॥ (पू०)

गौः गावी गोणी गोपोतलिका इत्येवमादयः शब्दा उदाहरणम् । गोशब्दो यथा सास्नादिमतिं प्रमाणम्, किं तथा गाव्यादयोऽप्युत न, इति सन्देहः । किमत्रैकः शब्दोऽविच्छिन्नपारम्पर्योऽर्थाभिधायी, इतरे अपभ्रंशाः, उत सर्वेऽनादयः ? सर्वे इति ब्रूमः । कुतः? प्रत्ययात् । प्रतीयते हि गाव्यादिभ्यः सास्नाऽऽदिमान् अर्थः । तस्मादितो वर्षशतेऽप्यस्यार्थस्य सम्बन्ध आसीदेव । ततः परेण, ततश्च परतरेणेति अनादिता । कर्त्ता चाऽस्य सम्बन्धस्य नास्तीति व्यवस्थितमेव । तस्मात् सर्वे साधवः, सर्वैर्भाषितव्यम् । सर्वे हि

प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् ॥२४॥

सूत्रार्थ—(प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वात्) प्रयोग=शब्द, उसकी उत्पत्ति=अभिव्यक्ति के शास्त्र-सम्बद्ध न होने से (शब्देषु) शब्दों में प्रयोग की (व्यवस्था) [यह प्रयोगार्ह है यह नहीं, रूप] व्यवस्था (न) नहीं (स्यात्) होवे ।

विशेष—प्रयुज्यत इति प्रयोगः (कर्म में घञ् प्रत्यय)=शब्दः, तस्य उत्पत्तिः=प्रयोगोत्पत्तिः (=शब्द का उच्चारण), तस्या अशास्त्रत्वम्=प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वम्, तस्मात् । हमने प्रस्तुत सूत्र का अर्थ प्रकृतभाष्य और सूत्रकार के अभिप्रायानुसार लिखा है । भट्ट कुमारिल और उनके अनुयायियों ने इस अधिकरण में व्याकरण-स्मृति प्रमाण है वा नहीं विषय का विचार किया है । इसके लिये तन्त्रवार्तिक और कुतुहलवृत्ति आदि ग्रन्थ देखने चाहियें । वस्तुतः व्याकरण-शास्त्र का प्रामाण्याप्रामाण्य-विषय व्याकरण के स्मृतित्व के आधार पर स्मृत्यधिकरण से गतार्थ है ।

व्याख्या—[इस अधिकरण के] गौः गावी गोणी गोपोतलिका इत्यादि शब्द उदाहरण हैं । 'गो' शब्द जैसे सास्नादियुक्त द्रव्य में [प्रयुक्त] प्रमाण है, क्या वैसे ही 'गावी' आदि भी [प्रमाण हैं] अथवा नहीं, यह सन्देह है । [इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि इन में] क्या एक [गो] शब्द ही अविच्छिन्न-परम्परावाला अर्थ को कहनेवाला है, और अन्य अपभ्रंश हैं, अथवा सभी अनादि हैं ? सब [प्रमाण हैं, सब अनादि हैं] ऐसा हम कहते हैं । किस हेतु से ? प्रत्यय (=शब्द का उच्चारण होने पर अर्थ का ज्ञान) होने से । 'गावी' आदि शब्दों से भी सास्नादियुक्त द्रव्य जाना जाता है । इस से [जाना जाता है कि] आज से सौ वर्ष पूर्व भी इस (=गावी आदि) का अर्थ के साथ सम्बन्ध था ही । उससे पूर्व से, और उससे भी पूर्वतर काल से [सम्बन्ध था], इसलिये [इनकी] अनादिता है । इस (शब्दार्थ) सम्बन्ध का कर्ता कोई नहीं है, यह पूर्व व्यवस्थित हो चुका है (द्र०—सूत्र १।१।५, पृष्ठ ४०—४६) । इसलिये सभी शब्द साधु हैं, और सभी शब्दों से व्यवहार करना चाहिये । क्योंकि सभी शब्द [प्रयोक्ता के] अर्थ

साधयन्त्यर्थम् । यथा—हस्तः करः पाणिरिति । अर्थाय ह्येते उच्चार्यन्ते, नाऽदृष्टाय । न ह्येषामुच्चारणे शास्त्रमस्ति । तस्मान्न व्यवतिष्ठेत—कश्चिदेक एव साधुरितरेऽसाधव इति ॥२४॥

शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ॥२५॥ (उ०)

महता प्रयत्नेन शब्दमुच्चरन्ति—'वायुर्नाभेरुत्थितः, उरसि विस्तीर्णः, कण्ठे विवर्त्तितः, मूर्द्धानमाहत्य परावृत्तः, वक्त्रे विचरन् विविधान् शब्दानभिव्यनक्ति'[1] ।

(=प्रयोजन) को सिद्ध करते हैं। जैसे—हस्तः करः पाणिः आदि। अर्थ [का बोध कराने] के लिये ही इनका उच्चारण किया जाता है, अदृष्ट के लिये [उच्चारण] नहीं किया जाता है। इनके उच्चारण (=इनका ही उच्चारण करो, वा इनका मत करो) में कोई शास्त्र [का प्रमाण] नहीं है। इसलिये [इनका साधुत्व] व्यवस्थित नहीं है कि—एक ही साधु (=शुद्ध) है, अन्य असाधु (=अपभ्रंश=अशुद्ध) हैं ॥२४॥

शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ॥२५॥

सूत्रार्थ—(प्रयत्ननिष्पत्तेः) प्रयत्नविशेष से शब्द की निष्पत्ति=उच्चारण होने से उच्चारयिता का (शब्दे) 'गावी' आदि शब्द में (अपराधस्य) अपराध-अयथावत्=असाधु उच्चारण का (भागित्वम्) भागी होना सम्भव है। [अर्थात् कोई उच्चारयिता, आलस्य प्रमाद आदि से शब्द का जिस प्रकार यत्नपूर्वक उच्चारण करना चाहिये,वैसा नहीं करता, तो गावी आदि अपराधजन्य शब्द हैं। एक के अपराध से उच्चरित गावी आदि असाधु शब्द के व्यवहार से शिक्षमाण बालक 'गावी' आदि अपशब्दों को सीखता है। और उससे अन्य ने सीखा,उससे अन्य ने। इस प्रकार अपशब्द की परम्परा आरम्भ हो जाती है।]

व्याख्या—[साधु शब्दों का उच्चारण करनेवाले] बड़े प्रयत्न से शब्द का उच्चारण करते हैं—'[शब्दजनक] वायु नाभि से उठा हुआ, उरः स्थान में विस्तार को पाता हुआ, कण्ठ में [संकोच-विकास द्वारा] विविध से वर्तमान, मूर्द्धा से [टकराकर] लौटकर, मुख० (=तात्वादि स्थानों) में विचरता हुआ विविध शब्दों को अभिव्यक्त करता है। इस [प्रयत्नजन्य उच्चारण] में

---

१. तुलना कार्या—'तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरआदीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते । विधार्यमाणः सोऽपि तत्स्थानानि विहन्ति । तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यत आकाशे । सा वर्णश्रुतिः । स वर्णस्यात्मलाभः'। इति शिक्षाया अष्टमप्रकरणादावाहतुरापिशलिपाणिनी ।

श्लोकात्मिकायां पाणिनीयशिक्षायामेवं पठ्यते—'आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया । स कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।…सो दीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत । वर्णान् जनयति…॥

तत्रापराध्येताऽप्युच्चारयिता । यथा शुष्के पतिष्यामीति कर्दमे पतति, सकृद् उपस्प्रक्ष्यामीति द्विरुपस्पृशति । ततोऽपराधात् प्रवृत्ता गाव्यादयो भवेयुः, न नियोगतोऽविच्छिन्नपारम्पर्या एवेति ॥२५॥

अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ॥२६॥ (उ०)

न चैष न्यायो, यत् सदृशाः[1] शब्दा एकमर्थमभिनिविशमानाः सर्वेऽविच्छिन्नपारम्पर्या एवेति । प्रत्ययमात्रदर्शनादभ्युपगम्यते—सादृश्यात् साधुशब्देऽप्यवगते प्रत्ययोऽवकल्प्यते । तस्मादमीषामेकोऽनादिरन्येऽपभ्रंशाः । हस्तः करः पाणिरित्येवमादिषु त्वभियुक्तोपदेशादनादिरमीषामर्थेन सम्बन्ध इति ॥२६॥

उच्चारयिता अपराध (=यथावत् प्रयत्न न करना) भी कर सकता है । जैसे—सूखे में कूदूंगा [यह सोचकर भी] कीचड़ में गिर पड़ता है, एक बार छूऊंगा [यह सोचकर भी] दो बार छूता है । इस हेतु से उच्चारयिता के अपराध से प्रवृत्त हुये गावी आदि शब्द हो सकते हैं, नियमतः अविच्छिन्न परम्परावाले नहीं ॥२५॥

विवरण—किस शब्द का किस प्रकार उच्चारण करना चाहिये, और उसके लिये क्या-क्या यत्न करना चाहिये, यह पाणिनि आपिशलि आदि आचार्यों ने षडङ्ग के अन्तर्गत शिक्षा नामक अङ्ग में विस्तार से लिखा है । भाष्यकार ने वायुर्नाभेरुत्थितः आदि द्वारा जो प्रयत्न दर्शाया है, वह प्रायः सभी शिक्षाग्रन्थों का साररूप है । हमने भाष्य की टिप्पणी (पृष्ठ २६३, टि० १) में इस विषय के आपिशलि और पाणिनि-शिक्षा के समान सूत्र, तथा श्लोकात्मिका पाणिनीय-शिक्षा के नाम से प्रसिद्ध शिक्षा के वचन उदाहरणार्थ उदाहृत किये हैं ॥२५॥

अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ॥२६॥

सूत्रार्थ—(च) और [एक अर्थ के] (अनेकशब्दत्वम्) अनेक शब्द होना (अन्यायः) न्याययुक्त नहीं है ।

व्याख्या—यह न्याय नहीं है, जो समान शब्द [अर्थात्] एक अर्थ में निविष्ट (=एक अर्थ को कहनेवाले) सब शब्द अविच्छिन्न-परम्परावाले ही होवें । ['गावी' आदि शब्दों से अर्थ के] ज्ञानमात्र के दर्शन से जाना जाता है कि ['गावी' असाधु शब्द के] सादृश्य से साधु शब्द [गो] के ज्ञात होने से भी ज्ञान हो सकता है । इसलिये इनमें एक अनादि [अर्थात् साधु] है, अन्य (='गावी' आदि) अपभ्रंश हैं । हस्तः करः पाणिः इत्यादि [एकार्थक अनेक शब्दों] में तो अभियुक्तों (=प्रामाणिक=शिष्ट पुरुषों) के उपदेश से इनका अर्थ के साथ अनादि सम्बन्ध है ॥२६॥

विवरण—सदृशाः शब्दाः—इस पर भाष्यविवरणकार ने लिखा है—'[एकार्थक] घट कुम्भ कलश इत्यादि को विभक्त करने अर्थात् इन सब का साधुत्व स्वीकार करने के लिये सदृशाः पद का उपादान भाष्यकार ने किया है[1] ।' गौ गावी गोणी आदि शब्दों में परस्पर सादृश्य है,

---

१. घटः कुम्भः कलश इत्यादि व्यवच्छेत्तुं सदृशा इत्युक्तमिति भा० वि० ।

तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात् स्यात् ॥२७॥ (उ०)

परन्तु घटः कुम्भः कलशः में सादृश्य नहीं है। हमारे विचार में भाष्य-विवरणकार का व्याख्यान दूषित है। यदि एकार्थक घट कुम्भ कलश आदि साधु शब्दों को बचाने के लिये ही सदृशाः पद का प्रयोग भाष्यकार ने किया होता, तो आगे हस्तः करः पाणिः इन असदृश एकार्थक शब्दों के साधुत्व के लिये अभियुक्तोपदेश हेतु की आवश्यकता ही नहीं रहती है। अतः सदृशाः का अर्थ ही एकमर्थमभिनिविष्टमानाः किया है। अर्थात् सदृश शब्द का तात्पर्य है, समान अर्थवाले।

सादृश्यात् साधुशब्देऽवगते—यह हेतु प्रथम अपशब्द प्रयोग के समय में, अर्थात् जब किसी ने अज्ञान वा प्रमाद से 'गो' के स्थान में 'गावी' वा 'गोणी' शब्द का प्रयोग किया, तब तो श्रोता यह जान सकता हैं कि इसकी 'गो' शब्द के उच्चारण की इच्छा थी, अतः इसका अभिप्राय 'गो' शब्द के अर्थ से है। परन्तु जब अपभ्रंश पारम्पर्य से रूढ हो जाते हैं, श्रोता वा वक्ता को मूल शब्द का ज्ञान ही नहीं होता, उस अवस्था में भाष्यकार का हेतु अहेतु बन जाता है। असाधु शब्द अर्थ का ज्ञान किस प्रकार कराते हैं, इस विषय में भर्तृहरि ने वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड श्लोक १४९-१५५) में विस्तार से सभी पक्षों पर विचार करके सिद्धान्त दर्शाया है कि—'असाधु शब्द भी अर्थविशेष में बालवृद्धव्यवहार से संकेत ग्रह द्वारा उसी प्रकार अर्थ के बोधक होते हैं, जैसे साधु शब्द (श्लोक १५३)।

हस्तः करः पाणिः—यद्यपि ये शब्द सामान्यरूप से एकार्थक समझे जाते हैं, फिर भी इन में अर्थविशेष से प्रयोगविशेष होने से सूक्ष्म अर्थ का भेद है। यद्यपि पानीय जल का पर्याय है, फिर भी 'पानीय' शब्द के स्वगत अर्थ की विशेषता के कारण जल का जो प्रयोगक्षेत्र है, वह सारा इसका नहीं है। 'जल' एक सामान्य शब्द है, उसका प्रयोग पीने के लिये स्नान के लिये पैर धोने के लिये कपड़े धोने के लिये अपेक्षित सभी जल के लिये होता है। परन्तु स्नान करने वा पैर धोने के लिये पानी चाहनेवाला पानीयमानय प्रयोग करता है, तो वह असाधु है।'पानीय' नाम उसी जल का है, जो पीने के लिये विशेष घट आदि पात्र में रखा हुआ है। हस्तो हन्तेः (निरुक्त १।७) के अनुसार 'हस्त' शब्द हनन-साधन के लिये प्रयुक्त हुआ साधु है। 'कर' में करोति=क्रियासामान्य अर्थ समवेत होने से यह सामान्य शब्द है। और प्रायः सभी क्रियाओं के साथ प्रयुक्त होने की योग्यता रखता है। 'पाणि' शब्द पूजार्थ प्रयुक्त होता है। अतएव यास्क मुनि ने निरुक्त (२।२६) में लिखा है—पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः। प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति (=पाणि शब्द पूजार्थक पण धातु से निष्पन्न है। दोनों पाणि जोड़कर देवों की पूजा करते हैं)। वर्तमान में सदृशार्थ समझे जानेवाले सभी शब्द आदिकाल में प्रवृत्तिभेद से भिन्न-भिन्न सूक्ष्म अर्थों के वाचक थे। उत्तरकाल में एकार्थक समझ लिये गये। इसलिये सूत्रकार का अन्यायश्चानेकार्थत्वम् सूत्र यथावत् उपपन्न जानना चाहिये ॥२६॥

तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात् स्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थ—(तत्र) गो गावी आदि साधु-असाधु शब्दों के विषय में (तत्त्वम्) तत्त्व=

कथं पुनस्तत्र तत्त्वं शक्यं विज्ञातुम् ? शक्यमित्याह । अर्थिनो हि अभियुक्ता भवन्ति । दृश्यते चाभियुक्तानां 'गुणयतामविस्मरणमुपपन्नम् । प्रत्यक्षञ्चैतद् गुण्यमानं न भ्रश्यते इति । तस्माद् यमभियुक्ता उपदिशन्ति, एष एव साधुरिति, साधुरित्यवगन्तव्यः ।।२७।।

वास्तविकता=साधु शब्द का साधुत्व और असाधु शब्द का असाधुत्व (अभियोगविशेषात्) प्रयत्न के विशेष=भेद=तत्परता वा प्रमाद आदि से (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—(आक्षेप) उन (=साधु-असाधु शब्दों के विषय में तत्त्व (=वास्तविकता) को जानना कैसे शक्य (=सम्भव) है? (समाधान) [जानना] शक्य है। चाहनेवाले ही अभियुक्त (=तत्पर =प्रयत्नशील) होते हैं। और बार-बार आवर्तन (=अविच्छिन्न अभ्यास) करनेवाले प्रयत्नशीलों का अविस्मरण (=यथावत् स्मरण) रहना उपपन्न है, यह देखा जाता है । यह प्रत्यक्ष है कि बार-बार आवृत्ति किया गया नष्ट नहीं होता है । इसलिये जिस शब्द का प्रयत्नशील शिष्टजन उपदेश करते हैं, वह ही साधु है, और उसे ही साधु जानना चाहिये ।।२७।।

विवरण—गुणयताम्—गुण=आवर्तन=बार-बार अभ्यास, उसको करनेवालों का । न भ्रश्यते—भ्रष्ट नहीं होता=विस्मरण नहीं होता, अथवा शब्द का रूपान्तर नहीं होता । यमभियुक्ताः—अविच्छिन्न-परम्परा से व्याकरणादिशास्त्रों का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाले शिष्टजन जिस शब्द को साधु कहते हैं वह साधु है, और जिसे वे असाधु कहते हैं वह असाधु=अपभ्रंश है । किसी भी भाषा का व्याकरण चाहे कितना ही प्रयत्नपूर्वक और कितना ही विस्तृत क्यों न बनाया जाये, वह अधूरा ही होता है । भाषागत सब शब्दों का व्याकरण के द्वारा अन्वाख्यान करना असम्भव है । फिर पाणिनीय व्याकरण तो एक अत्यन्त संक्षिप्त व्याकरण है[2] । इसलिये शब्दों के साधुत्व-असाधुत्व-ज्ञान में व्याकरण सहायक तो होता है, परतु उसे अन्तिम साधन नहीं माना जाता है। अतएव भगवान् पतञ्जलि ने 'शब्दों के साधुत्व-असाधुत्व के ज्ञान में शिष्ट ही प्रमाण हैं' ऐसा पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (अष्टा० ६।१।१०९) के महाभाष्य में कहा है । इधर लगभग एक सहस्रवर्ष से शब्दों के साधुत्व-असाधुत्व के निश्चय के लिये वैयाकरणों ने उलटा मार्ग अपना लिया है । वे पाणिनीय व्याकरण (=सूत्र-वार्तिक=भाष्य) द्वारा प्रत्यक्षबोधित शब्दों को ही साधु कहने लगे, और प्राचीन परमप्रामाणिक वाल्मीकि कृष्णद्वैपायन एवं यास्कमुनिसदृश जनों के प्रयोगों को भी असाधु (=अपशब्द) कहने लगे (द्र०—शब्द-कौस्तुभ १।४।७; पदमञ्जरी, भाग १, पृष्ठ ७, ४६०; तथा अष्टा० ५।२।१० की महाभाष्य-प्रदीप टीका; पदमञ्जरी; सिद्धान्तकौमुदी आदि) । विशेष 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र' के प्रथमाध्याय में देखें ।।२७।।

---

१. गुणने गुणनमावर्तनम्, तद्वतामविच्छिन्नाभ्यासवतामित्युक्तं भवति, इति भाष्य-विवरणम् ।

२. यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात् । पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ।। देवबोध, महाभारत टीका के आरम्भ में ।। विशेष—'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' का प्रथमाध्याय ।

अथ यदुक्तम्—'अर्थोऽवगम्यते गाव्यादिभ्यः, अतः एषामप्यनादिरर्थेन सम्बन्धः' इति—

तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ॥२८॥ (उ०)

तदशक्तिरेषां गम्यते । गोशब्दमुच्चारयितुकामेन केनचिदशक्त्या गावीत्युच्चारितम् । अपरेण ज्ञातम्—सास्नादिमान् अस्य विवक्षितः । तदर्थं 'गौः' इत्युच्चारयितुकामो 'गावी' इत्युच्चारयति । ततः 'शिक्षित्वाऽपरेऽपि सास्नादिमति विवक्षिते 'गावी' इत्युच्चारयन्ति । तेन गाव्यादिभ्यः सास्नादिमानवगम्यते । अनुरूपो हि गाव्यादिर्गोशब्दस्य ॥२८॥

एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात् ॥२९॥ (उ०)

व्याख्या—और जो कहा है कि—'गाव्यादि शब्दों से अर्थ जाना जाता है, इसलिये इनका भी अर्थ के साथ अनादि सम्बन्ध है' । [इस विषय में कहते हैं—]

तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ॥२८॥

सूत्रार्थ—(च) और ['गावी' आदि शब्द अनादि नहीं हैं, क्योंकि 'गो' शब्द के उच्चारयिता के] (तदशक्तिः) गोशब्द के उच्चारण में अशक्ति कारण है, यह (तदनुरूपत्वात्) गावी आदि के गो आदि के सदृश होने से जाना जाता है ।

व्याख्या—उन [के उच्चारण] की अशक्ति [कारण] जाना जाता है । 'गो' शब्द के उच्चारण की कामनावाले किसी ने अशक्ति से 'गावी' ऐसा उच्चारण किया । दूसरे [सुननेवाले] ने समझा – इस [गावी शब्द के उच्चारयिता] का सास्नादिमान् विवक्षित है । उसके लिये 'गौः' ऐसा उच्चारण की कामनावाले ने 'गावी' ऐसा उच्चारण किया है । उससे सीखकर दूसरे भी सास्नादिमान् अर्थ में 'गावी' ऐसा उच्चारण करते हैं । इस कारण 'गावी' आदि से सास्नादिमान् अर्थ जाना जाता है । क्योंकि 'गावी' आदि 'गो' शब्द के अनुरूप है ॥२८॥

विवरण—ततः शिक्षित्वा—बड़ी आयु के पुरुष द्वारा गामानय के स्थान में 'गावीमानय' प्रयोग को सुनकर, और सास्नादियुक्त गौ का आनयन देखकर बालक यह सीखता है कि 'गावी' का सास्नादिमान् पदार्थ अर्थ है ॥२८॥

एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात् ॥२९॥

सूत्रार्थ—(च) और (विभक्तिव्यत्यये) विभक्ति के परिवर्तन=जिस अर्थ के लिये जो विभक्ति बोलनी चाहिये, उसे न बोलकर अन्य विभक्ति के उच्चारण में (एकदेशत्वात्) एकदेश से अर्थ की प्रतीति होती है ।

---

१. वृद्धव्यवहारेण शिक्षमाणा बाला अशक्तिजं 'गावीमानय' पदं श्रुत्वा सास्नादिमत्पदार्थं चानयमानं दृष्ट्वा शिक्षन्ति—'गावी' इत्यस्य सास्नादिमदर्थः ।

अत एव हि विभक्तिव्यत्ययेऽपि प्रत्ययो भवति । अश्मकैरागच्छामीति अश्मक-शब्दैकदेशे उपलब्धे 'अश्मकेभ्यः' इत्येव शब्दः स्मर्यते । ततः अश्मकेभ्य इत्येषोऽर्थं उपलभ्यते इति। एवं गाव्यादिदर्शनाद् गोशब्दस्मरणम् । ततः सास्नादिमानवगम्यते॥२६॥
इति साधुपदप्रयुक्त्यधिकरणम् ॥६॥

[आकृत्यधिकरणान्तर्गत—**लोकवेदशब्दतदर्थैक्याऽधिकरणम्** ॥१०॥]

अथ 'गौः' इत्येवमादयः शब्दाः किमाकृतेः प्रमाणमुत व्यक्तेः ? इति सन्देहः । उच्यते, इदं तावत् परीक्ष्यताम्—'किं य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः, उतान्ये'? इति । यदा त एव, तदाऽपि—'किं त एवैषामर्था ये लोके, उतान्ये' ? इति संशयः ।

व्याख्या—इसीलिये ही विभक्ति के व्यत्यय (=परिवर्तन) होने पर भी अर्थ की प्रतीति होती है । अश्मकैरागच्छामि में अश्मक शब्दरूप एकदेश के उपलब्ध होने पर अश्मकेभ्यः ऐसा शब्द ही स्मृत होता है । इस कारण [अश्मकैः शब्द से] अश्मकेभ्यः (=अश्मकदेश से) यह अर्थ जाना जाता है । इसी प्रकार गावी आदि के दर्शन से गोशब्द का स्मरण होता है । और उस [गोशब्दस्मरण] से सास्नादिमान् अर्थ जाना जाता है ॥२६॥

विवरण—भाष्यकार ने २८—२६ सूत्रों का जैसा अर्थ किया है, उससे जाना जाता है कि भाष्यकार अपशब्दों में साक्षात् अर्थवाचक शक्ति नहीं मानते । वे 'गावी' आदि अपशब्दों से 'गो' आदि शब्दों के स्मरण द्वारा अर्थप्रतीति मानते हैं। यह साधुशब्दस्मरणमूलक अर्थ-प्रतीति उस काल में तो मानी जा सकती है, जब तादृश शब्दों के अपभ्रंश का प्रारम्भिक काल हो । परन्तु उत्तरकाल में अपशब्दों के परम्परा से सास्नादिमान् अर्थों में रूढ़ हो जाने पर, तथा श्रोता को मूल साधु शब्द की प्रतीति न रहने पर उपपन्न नहीं होता । अतः कालान्तर में वृद्धव्यवहार से बालों का असाधु शब्द में ही शक्तिग्रह मानना उचित है । नैयायिकों और वैयाकरणों का यही मत है ॥२६॥

व्याख्या—'गौः' इत्यादि शब्द आकृति के प्रमापक (=वाचक) हैं अथवा व्यक्ति के ? यह सन्देह है । इस विषय में कहते हैं—पहिले यह परीक्षा करिये कि—'क्या जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक हैं, अथवा [लौकिक और वैदिक] पृथक्-पृथक् हैं ? और जब वे ही हैं [अर्थात् दोनों एक ही हैं], तब भी—क्या 'इन (=वैदिक शब्दों) के वे ही अर्थ हैं, जो लोक में हैं, अथवा भिन्न अर्थ हैं' ? यह संशय है ।

---

१. पतञ्जलिस्त्वाह—'प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न कांचित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ते । तत्र यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा साऽऽश्रयितव्या' । इति स्थानिवत् सूत्रभाष्ये (१।१।५८)।

तत्रान्ये लौकिकाः शब्दाः, अन्ये वैदिकाः । अन्ये चैषामर्था इति ब्रूमः । कुतः ? व्यपदेशभेदाद् रूपभेदाच्च।'इमे लौकिकाः'[1] 'इमे वैदिकाः'[1] इति व्यपदेशभेदः। अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्[2], इत्यन्यदिदं रूपं लौकिकाद्[3] अग्निशब्दात् । शब्दान्यत्वाच्च न त एवार्थाः । अपि च समामनन्ति—उत्ताना वै देवगवा वहन्ति[4] इति । ये देवानां गावस्त उत्ताना वहन्ति, इत्युक्ते गम्यते एव—'य उत्ताना वहन्ति, ते गोशब्देनोच्यन्ते' इति । तस्मादन्यो वैदिकगोशब्दस्यार्थः । तथा—देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम्[5] इति, हिरण्यपर्णो देवो वनस्पतिः वेदे । एतद् वै दैव्यं मधु यद् घृतम्[6], इति वेदे घृते मधुशब्दः ।

इस विषय में हम कहते हैं कि लौकिक शब्द अन्य हैं, तथा वैदिक शब्द अन्य हैं । और इन [दोनों] के अर्थ भी भिन्न हैं। कैसे ? व्यपदेश (=कथन) का भेद होने से, तथा रूप का भेद होने से । 'ये लौकिक हैं', 'ये वैदिक हैं' ऐसा व्यपदेश का भेद है। अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्, यह अन्य रूप है लौकिक अग्नि शब्द से । और [वैदिक] शब्दों के भिन्न होने से वे (=लौकिक) अर्थ भी नहीं हैं । और भी—[वैदिक लोग] पढ़ते हैं—उत्ताना वै देवगवा वहन्ति (=देवों की गौएं ऊपर को पैर करके चलती हैं) । ऐसा कहने पर जाना ही जाता है कि—जो ऊपर को पैर करके चलती हैं,वे [वेद में] गो शब्द से कही जाती हैं । इसलिये वैदिक 'गो' शब्द का अर्थ अन्य है [लौकिक अर्थ से] । और देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम् (=हे सोने के पत्तोंवाली वनस्पति! देवों के लिये हवियों का वहन करो), [इससे] वेद में सुवर्णपर्णवाली वनस्पति है [ऐसा जाना जाता है] । एतद्वै दैव्यं मधु यद् घृतम् (=यही देवताओं का मधु=शहद है, जो घृत है) [इससे] वेद में घृत अर्थ में मधु शब्द [प्रयुक्त होता है, यह जाना जाता है]।

---

१. तुलनीयम्—केषां शब्दानाम् । लौकिकानां वैदिकानां च । महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १।। २. ऋ० ६।१६।३४; तै० ४।३।१३।।

३. अत्र किंप्रकारकं लौकिकादग्निशब्दाद् वैदिकस्याग्निशब्दस्य अन्यद् रूपमिति न स्पष्टीकृतं भाष्यकारेण । भाष्यविवरणकारस्त्वाह—'नियतस्वरो हि वैदिकोऽग्निशब्दोऽनियतस्वरश्च लौकिकः' । अयमेवाभिप्रायो महतायासेन कुतुहलवृत्तिकृता व्यक्तीकृतः । अनयोराधारस्तन्त्रवार्तिके भट्टकुमारिलस्य स्वरेण रूपभेदं मन्यते इति वचनमेव । तैत्तिरीय-शाखाध्येता जयन्तभट्टस्त्वाह—'यद्यपि च अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् इति वेदे कृतणत्वमग्निशब्दं पठन्ति' । न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २८८ । जयन्तादप्यतिप्राचीनो भर्तृहरिराह—'यथा तैत्तिरीया कृतणत्वमग्निशब्दमुच्चारयन्ति । महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ १ । यद्यपि तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये (अ० १३, सूत्र १५) 'सुद्युम्न-अग्नि' आदिषु नकारस्य णकारापत्तिः प्रतिषिध्यते, तथापि केचन कृतणत्वमग्निशब्दमुच्चारयामासुरिति भर्तृहरिजयन्तवचनाभ्यां प्रतीयते । यथा तु महाभाष्यकारो लौकिकवैदिकपदानि निदर्शयाञ्चकार, तथा वैदिकपदेषु स्वरवर्णानुपूर्विनियमः, लौकिकेषु तदभाव एव, इति लौकिकवैदिकशब्देषु भेद इति भाष्यकारस्य शबरस्वामिनोऽभिप्रायः प्रदर्शनीयः । अतएव शबरस्वामिनाऽपि मन्त्रैकचरणं तथैवेहोपन्यस्तं यथा पतञ्जलिना चतुर्णामपि वेदानामाद्यमन्त्राणां प्रतीकान्युद्धृतानि । ४. अनुपलब्धमूलम् ।

५. मै० सं० ४।१३।७; तै० ब्रा० ३।६।११।। ६. अनुपलब्धमूलम् ।

तस्मादमीषामन्येऽर्थाः। इति प्राप्ते ब्रूमः—य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः। त एवैषामर्था इति। कुतः ?

प्रयोगचोदनाभावाद् अर्थैकत्वम् अविभागात् ॥३०॥ (उ०)

प्रयोगचोदनाभावात्। एवं प्रयोगचोदना सम्भवति, यदि त एव शब्दास्त एवार्थाः। इतरथा शब्दाऽन्यत्वेऽर्थो न प्रतीयेत। तस्मादेकशब्दत्वमिति। उच्यते प्रयोजनमिदम्।

इसलिये इन (=लौकिक और वैदिक शब्दों) के अन्य=भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—जो ही लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक हैं, और वह ही इनके अर्थ हैं। किस हेतु से ?

विवरण—व्यपदेशभेदात्—यहां भाष्यकार ने शब्दों के विषय में लौकिक और वैदिक दो कथन-प्रकार उल्लिखित किये हैं। इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलि ने भी लिखा है—केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च (महाभाष्य अ० १, पाद १, आ० १)। अन्यदिदं रूपम्—लौकिक अग्नि शब्द में और वैदिक अग्नि शब्द में क्या रूपभेद है, यह भाष्यकार ने स्पष्ट नहीं किया। भाष्य-विवरणकार ने वैदिक शब्द में नियतस्वर और लौकिक शब्द में अनियतस्वर रूपभेद का निर्देश किया है। कुतुहलवृत्तिकार ने भी बड़े प्रयत्न से इसी पक्ष का उपपादन किया है। जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी पृष्ठ २८८, तथा भर्तृहरि ने महाभाष्यप्रदीप पृष्ठ १ पर लिखा है कि—'तैत्तिरीय-शाखाध्येता अग्नि में नकार को णकार रूप में पढ़ते हैं'[1]। महाभाष्यकार ने लौकिक और वैदिक पदों के उदाहरण में वैदिक पदों के लिये चारों वेदों के प्रथम मन्त्र की प्रतीकें दी हैं, और लौकिक शब्दों के लिये गौः हस्ती आदि स्वतन्त्र शब्द दिये हैं। तदनुसार महाभाष्यकार के मत में वैदिक शब्दों में स्वरवर्ण आनुपूर्वी होती है, और लौकिक पदों में आनुपूर्वी का अभाव होता है। शबरस्वामी ने भी वैदिक अग्निपद के लिये मन्त्र के एक चरण का निर्देश किया है। अतः सम्भव है वह भी वैदिक शब्दों के रूप में स्वरवर्णानुपूर्वी का भेद ही कारण मानता हो।

प्रयोगचोदनाभावाद् अर्थैकत्वम् अविभागात् ॥३०॥

सूत्रार्थ—(प्रयोगचोदनाभावात्) प्रयोग=कर्म की चोदना=विधि के उपपन्न होने से लौकिक वैदिक शब्दों का (अर्थैकत्वम्) एक ही अर्थ है, (अविभागात्) दोनों में यह लौकिक है यह वैदिक है, ऐसा विभाग न हो सकने से शब्दैकत्व है।

व्याख्या—प्रयोग (=कर्म) की चोदना (=विधि) के उपपन्न होने से। इस प्रकार ही कर्म की विधि सम्भव होती है, यदि वे ही शब्द होवें और वे ही अर्थ होवें [अर्थात् लोक वा वेद में प्रयुक्त शब्द समान होवें, और अर्थ भी समान होवें]। अन्यथा [वैदिक] शब्दों के भिन्न होने से [वैदिक शब्दों के] अर्थ की प्रतीति नहीं होगी [क्योंकि शब्द के अर्थ का ज्ञान लोक-प्रयोग से होता है]। इसलिये [लौकिक वैदिक शब्दों का] एकशब्दत्व (=समानशब्दत्व) जानना चाहिये। (आक्षेप) यह जो [लौकिक वैदिक शब्दों को समान मानने का] प्रयोजन कहा

---

१. इस विषय में मूल प्रमाण भाष्य की, पृष्ठ २६९, टि० ३ में देखें।

हेतुर्व्यपदिश्यताम् इति । ततो हेतुरुच्यते—अविभागाद् इति । न तेषामेषाञ्च विभागमुपलभामहे । अत एव एकशब्दत्वम् । तांश्च तांश्चार्थानवगच्छामः । अतो नान्यत्वञ्च वदामः ।

यच्चोक्तम्—'ये उत्ताना वहन्ति ते देवगवाः, यद् घृतं तन्मधु, यो हिरण्यपर्णः स वनस्पतिरिति' ? नास्ति वचनं, यदुत्तानानां वहतां गोत्वं ब्रूयात् । 'ये गावः ते उत्ताना वहन्तीत्येवं तत्' । यदि चानेन वचनेन गोत्वं विधीयते, उत्ताना वहन्तीत्यनुवादः स्यात् । न च उत्ताना वहन्तः प्रसिद्धाः केचित् । ते नियोगतो विधातव्याः । तेषु विधीयमानेषु न शक्यं गोत्वं विधातुम् । भिद्यते हि तथा वाक्यम् । यदि चान्ये वैदिकाः, तत उत्तानादीनामर्थो न गम्येत । तत्र नतरां शक्येताऽविज्ञातलक्षणं गोत्वं विज्ञातुम् । न चोत्तानवहनवचनमप्यनर्थकम्, स्तुत्यर्थेनार्थवद् भविष्यतीति । एवं घृतस्य मधुत्वं, हिरण्यपर्णता च वनस्पतेः । तस्मात् त एव शब्दा अर्थाश्च ॥३०॥ इत्याकृत्यधिकरणान्तर्गत—लोकवेदशब्दतदर्थैक्याऽधिकरणम् ॥१०॥

है । [इनके एकत्व में] हेतु दीजिये । (समाधान) प्रयोजन-कथन के अनन्तर [सूत्रकार] हेतु कहते हैं—'विभाग न होने से' । उनका और इनका (=लौकिक और वैदिक शब्दों का) विभाग उपलब्ध नहीं होता है । इसलिये एकशब्दत्व है । और उन-उन अर्थों को [इन शब्दों के प्रयोग से] जानते हैं । इस कारण [शब्दों में] भिन्नता नहीं है, ऐसा कहते हैं ।

(आक्षेप) और जो कहा है कि [वेद में] 'जो ऊपर को पैर करके चलती हैं, वे देवों की गौवें हैं; जो घृत है, वह मधु है; और जो सुवर्ण के पत्तोंवाला है वह वनस्पति है ।' (समाधान) कोई ऐसा वचन नहीं है, जो ऊपर को पैर करके चलनेवालियों के गोत्व को कहे । 'जो गौवें हैं, वे ऊपर को पैर करके चलती हैं' इतना ही अर्थ है । यदि इस वचन से गोत्व का विधान करते हैं,तो उत्ताना वहन्ति यह अनुवाद होगा । और ऊपर को पैर करके चलनेवाले कोई [प्राणी] प्रसिद्ध नहीं हैं । इस अवस्था में उन (=उत्तान चलनेवालों) का नियमतः विधान करना होगा । उन (=उत्तान चलनेवालों) के विधान करने पर गोत्व का विधान नहीं किया जा सकता । उस प्रकार (=दोनों=उत्तान चलनेवालों का और गोत्व का विधान करने पर] वाक्यभेद होता है । [इतना ही नहीं,] यदि वैदिक शब्द भिन्न हैं, तो उत्तान आदि शब्दों का अर्थ नहीं जाना जाये । उस अवस्था में अविज्ञानरूपवाले गोत्व को जानना सर्वथा सम्भव नहीं है । [और यदि कहो कि ऊपर को पैर करके चलनेवाले प्राणी के न होने पर उत्तानवहन वचन अनर्थक होवे, तो] उत्तानवहन वचन अनर्थक भी नहीं है, यह स्तुति के लिये होने से अर्थवान् होगा । इसी प्रकार घृत का मधुत्व, और वनस्पति का हिरण्यपर्णत्व । इसलिये वे ही शब्द हैं, और वे ही अर्थ हैं । [अर्थात् लौकिक और वैदिक शब्द समान हैं, और उनका अर्थ भी समान है] ॥३०॥

विवरण—सूत्रकार वा भाष्यकार ने इस लोक-वेदाधिकरण के द्वारा लौकिक और वैदिक

[आकृत्यधिकरणम् ॥११॥]

यदि [य एव] लौकिकास्त एवार्थाः, तदा सन्देहः——किमाकृतिः शब्दार्थोऽथ व्यक्तिरिति ? का पुनराकृतिः, का व्यक्तिरिति ? द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाकृतिः, असाधारणविशेषा व्यक्तिः। कुतः संशय ? 'गौः' इत्युक्ते सामान्यप्रत्ययाद्, व्यक्तौ च क्रियासम्बन्धात्। तदुच्यते—व्यक्तिः शब्दार्थ इति। कुतः ?

शब्दों और उनके अर्थों का जो एकत्व कहा है, यह स्थिति संस्कृतभाषा की उस अति पुरातनकाल की स्थिति के परिप्रेक्ष्य में समझनी चाहिये, जब भाषा में वैदिक शब्द भी व्यवहृत होते थे। प्राकृत भाषाओं के शब्दों की तुलना से यह भी स्पष्ट होता है कि बहुत से प्राकृत-अपभ्रंशों का सम्बन्ध वैदिक शब्दों के साथ है, अर्थात् वे उनसे ही अपभ्रष्ट हुये हैं, न कि लौकिक शब्दों से। अपभ्रंशों की उत्पत्ति लोकव्यवहार में प्रचलित भाषा से ही होती है, न कि अव्यवहृत भाषा से। हमने इस विषय का प्रतिपादन 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ भाग १, पृष्ठ १—३६ (संवत् २०३०) में विस्तार से किया है।

इस लोकवेदाधिकरण के विषय में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह यह कि वेद में इतिहास माननेवाले अनेक व्यक्ति इसी अधिकरण की ओट लेकर कहते हैं कि जमदग्नि विश्वामित्र देवापि शन्तनु आदि का जो अर्थ लोक में है, वही वेद में भी मानना चाहिये। अर्थात् वेद में प्रयुक्त ये नाम लोकवत् व्यक्तिविशेष के वाची ही हैं। उन्हें दो बातों पर ध्यान देना चाहिये। प्रथम—मीमांसक वेद को अनादि-अपौरुषेय मानते हैं। अतः उनके मत में वेद में व्यक्ति-विशेषों के नामों का निर्देश है ही नहीं। दूसरा—प्रस्तुत प्रकरण में द्रव्य गुण और क्रियावाचक शब्दों पर ही विचार किया है, रूढ शब्दों का यहां प्रकरण ही नहीं है। इतना ही नहीं, मीमांसकों के मत में कोई शब्द रूढ है ही नहीं। ये दोनों बातें द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाकृतिः वचन से स्पष्ट हैं। महाभाष्य में पतञ्जलि ने भी सम्भवतः मीमांसक मत की दृष्टि से लिखा है—**त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः गुणशब्दा क्रियाशब्दा इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः।** (ऋलृक् अ० १, पा० १, प्रत्या० २) ॥३०॥

व्याख्या—यदि जो ही अर्थ लौकिक हैं वे ही वैदिक, तब सन्देह होता है कि—क्या आकृति (=जाति) शब्द का अर्थ है अथवा व्यक्ति ? आकृति क्या है, और व्यक्ति क्या है ? द्रव्य गुण और कर्मों का सामान्यमात्र आकृति है, और असाधारणविशेष व्यक्ति होता है। यह (=शब्द का अर्थ आकृति है वा व्यक्ति) संशय किस हेतु से है ? 'गौः' कहने पर सामान्य गोमात्र का ज्ञान होने से, और [आनयन आदि] क्रिया का सम्बन्ध व्यक्ति में [देखे जाने से]। इस विषय में कहते हैं—व्यक्ति शब्द का अर्थ है। कैसे ?

प्रयोगचोदनाभावाद् अर्थैकत्वम् अविभागात् ॥३०॥ (पू०)

प्रयोगचोदनाभावात् । आलम्भनप्रोक्षणविशसनादीनां प्रयोगचोदना आकृत्यर्थे न सम्भवेयुः । यत्रोच्चारणानर्थक्यं, तत्र व्यक्त्यर्थः । अतोऽन्यत्राकृतिवचनः, इति चेत्, उक्तम्—अन्यायश्चानेकार्थत्वम्[1] इति । कथं सामान्यावगतिः ? इति चेत्, व्यक्तिपदार्थकस्याकृतिः[2]चिह्नभूता भविष्यति । य एवमाकृतिः[3] स गौरिति । यथा—यस्य दण्डोऽस्ति स दण्डीति, न च दण्डवचनो दण्डिशब्दः । एवमिहापि ॥३०॥

प्रयोगचोदनाभावाद् अर्थैकत्वम् अविभागात् ॥३०॥

सूत्रार्थ—[व्रीहि का अवहनन, प्रोक्षण आदि] (प्रयोगचोदनाऽभावात्) कर्म की विधि का आकृति में सम्भव न होने से (अर्थैकत्वम्) एक व्यक्ति ही अर्थ है, (अविभागात्) आकृति और व्यक्ति का पार्थक्य न होने से ।

विशेष—शब्द का वाच्य आकृति है वा जाति, इस पर विचार करने से पूर्व लोक और वेद के शब्द और उनके अर्थ समान हैं वा भिन्न हैं, यह विचार करना आवश्यक था । अतः आकृत्यधिकरण के प्रथम सूत्र की ही दो प्रकार से व्याख्या करके दोनों विचार किये हैं । लोक-वेदाधिकरण में यही सूत्र सिद्धान्त-सूत्र है । और प्रयोगचोदनाभावात् में प्रयोगचोदना+भावात् विच्छेद किया है । आकृत्यधिकरण में यही सूत्र पूर्वपक्ष का (=व्यक्ति अर्थबोधक) है, और इसमें प्रयोगचोदना+अभावात् ऐसा विच्छेद जानना चाहिये ।

व्याख्या—कर्म की विधि का अभाव होने से । आलम्भन प्रोक्षण विशसन (=काटना) आदि कर्म की विधियां आकृति अर्थ में सम्भव नहीं होवें । अतः जिस (=आकृति) अर्थ में उच्चारण (=विधियों का निर्देश) अनर्थक होता है, वहां व्यक्ति अर्थ गृहीत होता है । इससे अन्यत्र (=जहां आकृतिपक्ष में विधिनिर्देश उपपन्न होने पर) शब्द आकृति कहनेवाला होवे, ऐसा यदि कहो, तो हम कह चुके हैं कि—'एक शब्द का अनेक अर्थ मानना अन्याय्य है' । [यदि शब्द का आकृति अर्थ नहीं है, तो] सामान्य (=आकृति) का ज्ञान कैसे होता है ? यह कहो तो, व्यक्ति पदार्थवाले की आकृति चिह्नरूप होगी । जो इस आकृतिवाली है, वह गौ है । जैसे—जिस का दण्ड होता है, वह दण्डी [कहाता है], पर दण्डी शब्द दण्ड को कहनेवाला नहीं है । इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये ॥३०॥

---

१. भाष्यकारेण वचनमिदमग्रेऽपि बहुत्रोपन्यस्यते । यथा—२।१।१२; ३।२।१; ५।४।१४; ६।१।२२॥ अयमेवार्थः शब्दान्तरैः पठ्यते—७।३।१४; १०।१।३७, ४२॥ एषु बहुत्र 'उक्तम्' व्यवहार उपलभ्यते । सम्भाव्यते शास्त्रान्तरस्य कस्यचिद् एतद् वचनं स्यात् । न्यायसुधाकारस्त्वाह—'अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् (१।३।२६) इति सूत्रं भाष्यकृता अन्यायश्चानेकार्थत्वम् इति ऊहित्वा पठितम्' । पृष्ठ ३५६॥ २. अत्र नाकृतिर्जातिः, अपि तु अवयवसंस्थानविशेषोऽभिप्रेतः ।

३. 'य एवमाकृतिकः' इति भाष्यविवरणे पाठः ।

अद्रव्यशब्दत्वात् ॥३१॥ (पू०)

द्रव्याश्रयस्य शब्दो द्रव्यशब्दः । न तत्र द्रव्याश्रयवचनः शब्दो भवेद्, यद्याकृतिः शब्दार्थो भवेत् । षड् देया द्वादश देयाश्चतुर्विंशतिर्देया[1] इति । न हि आकृतिः षडादिभिः संख्याभिर्युज्यते । तस्मान्नाऽऽकृतिवचनः ॥३१॥

विवरण—आलम्भनप्रोक्षण०—यह निर्देश पशुयाग-विषयक है । आलम्भन=मारना, प्रोक्षण=जल से मुखादि अवयवों को धोना, विशसन=अङ्गों को काटना । पशुयाग-विषयक इन क्रियाओं के विषय में 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' निबन्ध में देखें । सूत्र में प्रयोगचोदनाभावात् इतना ही कहा है । दर्शपौर्णमास आदि में पुरोडाश बनाने के लिये व्रीहीन् प्रोक्षति, व्रीहीन् अवहन्ति (=व्रीहि को गीला करता है, व्रीहि को कूटता है) आदि विधियों का निर्देश मिलता है । प्रोक्षण और अवहनन कर्म व्रीहित्व जाति में उपपन्न नहीं हो सकते हैं । अत: विधियों के अनर्थक होने से व्रीहि द्रव्य अर्थ गृहीत होता है ॥३०॥

अद्रव्यशब्दत्वात् ॥३१॥

सूत्रार्थ—[शब्द का आकृति अर्थ मानने पर] (अद्रव्यशब्दत्वात्) द्रव्य का आश्रय करनेवाला शब्द न होवे ।

विशेष—उक्त सूत्रार्थ भाष्य तथा वृत्त्यादि ग्रन्थों के अनुसार है । इस अर्थ में 'नञ्' का 'द्रव्य शब्द' के साथ असमर्थ समास मानना पड़ता है । क्योंकि इस अर्थ में 'नञ्' का क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है । भट्ट कुमारिल ने भाष्य को क्लिष्ट मानकर सूत्र का अन्यथा व्याख्यान किया है । परन्तु हमारी तुच्छ मति में वह भी अल्पक्लिष्ट नहीं है । असूर्यंपश्या राजदाराः (=सूर्य को न देखनेवाली रानियां) आदि में असमर्थसमास भी क्वचित् शाब्दिकों से स्वीकृत है । इस मत के अनुसार शाबरभाष्य की उपपत्ति जाननी चाहिये । हमारे विचार में सूत्र का पाठ द्रव्यशब्दत्वात् होवे, तो सूत्रार्थ तथा प्रकरण-संगति सरलता से लग जाती है । इस पाठ में सूत्रार्थ होगा—'(द्रव्यशब्दत्वात्) द्रव्यवाची शब्द के प्रयोग होने से भी व्यक्ति पदार्थ है' ।

व्याख्या—द्रव्य के आश्रयवाला शब्द द्रव्य शब्द से कहा है । द्रव्याश्रय को कहनेवाला शब्द न होवे, यदि आकृति शब्दार्थ होवे । षड् देया द्वादश देयाश्चतुर्विंशतिर्देयाः (=६ गौवें दक्षिणा में देवें, १२ गौवें देवे, २४ गौवें देवे) । आकृति का ६ आदि संख्याओं से सम्बन्ध नहीं होता । इसलिये शब्द आकृति को कहनेवाला नहीं है ॥३१॥

विवरण—षड् देया द्वादश देया०—यह वचन अग्न्याधेय कर्म की दक्षिणा के प्रसंग में आप० श्रौत ५।२०।१३ में पठित है (कात्या० श्रौत ४।१०।१२ में भी ऐसा ही निर्देश है) ॥३१॥

---

१. आप० श्रौत ५।२०।१३॥ तु०—कात्या० श्रौत ४।१०।१२॥

अन्यदर्शनाच्च ॥३२॥ (पू०)

यदि पशुरुपाकृतः पलायेत, अन्यं तद्वर्णं तद्वयसमालभेत[1] इति । यद्याकृतिवचनः शब्दो भवेद्, अन्यस्यालम्भो नोपपद्येत । अन्यस्यापि पशुद्रव्यस्य सैवाकृतिः । तस्माद् व्यक्ति-वचन इति ॥३२॥

आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् ॥३३॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । आकृतिः शब्दार्थः । कुतः ? क्रियाऽर्थत्वात् । श्येनचितं चिन्वीत[2] इति, वचनमाकृतौ सम्भवति, यद्याकृत्यर्थः श्येनशब्दः । व्यक्तिवचने तु न चयनेन श्येनव्यक्तिरुत्पादयितुं शक्यते । इत्यशक्यार्थवचनादनर्थकः । तस्माद् आकृतिवचनः ।

अन्यदर्शनाच्च ॥३२॥

सूत्रार्थ—(च) और [एक द्रव्य के नाश होने पर] (अन्यदर्शनात्) अन्य द्रव्य के दर्शन से भी शब्द व्यक्ति का वाचक है [आकृति का वाचक नहीं है] ।

व्याख्या—यदि पशुरुपाकृतः पलायेत, अन्यं तद्वर्णं तद्वयसमालभेत (=यदि मन्त्र-पूर्वक कुशा से स्पर्श किया पशु भाग जाये, तो उसी वर्णवाले और उसी वयःवाले पशु का आलभन करे) । यदि शब्द आकृतिवचन होवे, तो अन्य पशु का आलभन उपपन्न नहीं होवे । क्योंकि अन्य पशुद्रव्य की भी वही आकृति है । इसलिये शब्द व्यक्तिवचन है ॥३२॥

विवरण—पशुरुपाकृतः—मन्त्रपूर्वक कुशा से पशु का अभिमर्शन=स्पर्श उपाकरण कहाता है । उपाकृत पशु यूप में नियोजन=बांधने से पूर्व भाग जाये, तो उसके स्थान पर उसी वर्ण और उसी वय:वाले पशु का उपाकरण करके याग किया जाता है (द्र०—कात्या० श्रौत २५।९।१ और इसकी व्याख्या) ॥३२॥

आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् ॥३३॥

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है । अर्थात् शब्द का व्यक्ति अर्थ नहीं है । (क्रियार्थत्वात्) क्रिया के लिये [विधि का कथन होने से] (आकृतिः) आकृति शब्द का अर्थ है ।

व्याख्या—'तु' शब्द [व्यक्तिवचन] पक्ष को निवृत्त कहता है । आकृति शब्द का अर्थ है । किस कारण ? क्रिया के लिये होने से । श्येनचितं चिन्वीत (=श्येन के सदृश इष्टकाओं का चयन करे) यह वचन आकृति अर्थ में ही सम्भव होता है, यदि श्येन शब्द आकृति अर्थवाला होवे । व्यक्तिवचन में तो [इष्टका के] चयन से श्येन [पक्षीरूप] व्यक्ति उत्पन्न नहीं किया जा सकता है । इस अशक्य अर्थ के कथन से [यह] वचन अनर्थक होता है । इस कारण शब्द आकृति

---

१. तुलनीयम्—पशुश्चेदुपाकृतः पलायेत, वायवे तमुद्दिश्यान्यं तद्वर्णं तद्वयसमालभेत । कात्या० श्रौत २५।९।१॥ २. तै० सं० ५।४।११॥

ननु श्येनव्यक्तिभिश्चयनमनुष्ठास्यते। न साधकतमः श्येनशब्दार्थः। ईप्सिततमो ह्यसौ श्येनशब्देन निर्दिश्यते। अतश्चयनेन श्येनो निर्वर्त्तयितव्यः। स आकृतिवचनत्वेऽवकल्प्यते। ननु उभयत्र क्रियाया असम्भव एव व्यपदिश्यते। नाकृतिः शब्दार्थः। कुतः ? क्रिया न सम्भवेद् आकृतौ शब्दार्थे - व्रीहीन् प्रोक्षति[1] इति। तथा न व्यक्तिः शब्दार्थः। क्रियैव न सम्भवेद् व्यक्तेः शब्दार्थत्वे—श्येनचितं चिन्वीत[2] इति। यदप्युच्येत—व्रीहीन् प्रोक्षति, इति व्यक्तिलक्षणार्था आकृतिरिति शक्यम्। अन्यत्रापि—'श्येनचितं चिन्वीत' इति वदितुम्—आकृतिलक्षणार्था व्यक्तिरिति।

किं पुनरत्र ज्यायः ? आकृतिः शब्दार्थ इति। यदि व्यक्तिः शब्दार्थो भवेद्, व्यक्त्यन्तरे न प्रयुज्येत। अथ व्यक्त्यन्तरे प्रयुज्यते, न तर्हि व्यक्तिः शब्दार्थः। सर्वसामान्यविशेषविनिर्मुक्ता हि व्यक्तिरिति। उच्यते—नैष दोषः। व्यक्त्यन्तरे सर्वसामान्य-

---

को कहनेवाला है। (आक्षेप) [श्येन पक्षी के चयन से उत्पादन नहीं हो सकता है, तो] श्येन व्यक्तियों से चयन का अनुष्ठान करेंगे [अर्थात् श्येन पक्षियों को इष्टकाओं के स्थान में रखेंगे]। (समाधान) [श्येनचितं चिन्वीत वचनविहित क्रम में] श्येन शब्द का अर्थ साधकतम (=करण) नहीं है। यह इप्सिततम (=कर्म) श्येन शब्द से निर्दिष्ट है। इसलिये चयन के द्वारा श्येन बनाना है। वह [श्येन शब्द के] आकृतिवचन होने पर ही सम्भव है। (आक्षेप) दोनों पक्षों में क्रिया का असम्भव ही कहा जाता है। आकृति शब्द का अर्थ नहीं है। किस कारण ? आकृति शब्द का अर्थ मानने पर क्रिया सम्भव न होवे—व्रीहीन् प्रोक्षति (=व्रीहि का प्रोक्षण करता है)। तथा व्यक्ति शब्द का अर्थ नहीं है। व्यक्ति को शब्दार्थ मानने पर क्रिया ही सम्भव न होवे—श्येनचितं चिन्वीत। (समाधान) और जो कहते हो—व्रीहीन् प्रोक्षति, इसमें व्यक्ति को लक्षित करनेवाली [व्रीहि] आकृति है, ऐसा कह सकते हैं। अन्यत्र भी—श्येनचितं चिन्वीत में 'आकृति को लक्षित करनेवाली व्यक्ति है', ऐसा कह सकते हैं।

विवरण—न साधकतमः—'श्येनचित्' शब्द में कर्मण्यग्न्याख्यायाम् (अष्टा० ३।२।९२) से कर्म उपपद होने पर 'चिञ् चयने' धातु से कर्मकारक में ही क्विप् प्रत्यय होता है, अग्नि की संज्ञा गम्यमान होने पर। इस प्रकार 'श्येन' शब्द कर्मकारक होने से ईप्सिततम है, साधकतम (=करण) नहीं है। ईप्सिततम होने पर चयनकर्म से श्येन पक्षी की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, श्येन आकृति का उपपादन सम्भव है। इसलिये यहां श्येन शब्द श्येन आकृति का वाचक है॥

व्याख्या—यहां (=इन दोनों पक्षों में) उत्कृष्ट पक्ष क्या है ? आकृति शब्द का अर्थ है, यही पक्ष ज्यायान् है। यदि व्यक्ति शब्द का अर्थ होवे, तो [उस शब्द का] व्यक्त्यन्तर में प्रयोग न होवे। यदि व्यक्त्यन्तर में प्रयुक्त होता है, तो व्यक्ति शब्द का अर्थ नहीं है। सब सामान्यविशेष धर्म से मुक्त व्यक्ति होता है। (आक्षेप) यह दोष नहीं है। सर्वसामान्यविशेष-

---

१. तुलना कार्या—आप० श्रौत १।१९।१॥ २. तै० सं० ५।४।११॥

विशेषविनिर्मुक्ते एव प्रवर्त्तिष्यते। यदि व्यक्त्यन्तरे सर्वसामान्यविशेषवियुक्ते प्रवर्त्तिष्यते, सामान्यमेव तर्हि तत्। नेत्युच्यते। यो हि अर्थः सामान्यस्य विशेषाणाञ्चाश्रयः, सा व्यक्तिः। व्यक्तिवचनश्च शब्दो न सामान्ये न विशेषे वर्त्तते। तेषां त्वाश्रयमेवाभिदधाति। तेन व्यक्त्यन्तरे वृत्तिरदोषः। न हि तत् सामान्यम्॥

यदि व्यक्त्यन्तरेष्वपि भवति, सर्वसामान्यविशेषवियुक्तायामश्वव्यक्तौ गोशब्दः किमिति न वर्त्तते? आह—येष्वेव प्रयोगो दृष्टः, तेषु वर्त्तिष्यते, न सर्वत्र। न चाश्वव्यक्तौ गोशब्दस्य प्रयोगो दृष्टः[1]। तस्मात्तत्र न वर्त्तिष्यते। यदि यत्र प्रयोगो दृष्टस्तत्र वृत्तिः, अद्य जातायां गवि प्रथमप्रयोगो न प्राप्नोति, तत्रादृष्टत्वात्। सामान्यप्रत्ययश्च न प्राप्नोति—इयमपि गौरिति, इयमपि गौरिति। इयं वा गौरिति, इयं वा गौरिति स्यात्। भवति तु सामान्यप्रत्ययोऽदृष्टपूर्वायामपि गोव्यक्तौ। तस्मान्न प्रयोगापेक्षो 'गोशब्दो व्यक्तिवचनः' इति शक्यते आश्रयितुम्। एवं तर्हि शक्तेः स्वभाव एषः, यत्

निर्मुक्त व्यक्त्यन्तर में ही [शब्द] प्रवृत्त होगा। (समाधान) यदि सर्वसामान्यविशेष निर्मुक्त व्यक्त्यन्तर में ही प्रवृत्त होगा, तो वह सामान्य ही हो जायेगा। (आक्षेप) नहीं। जो अर्थ सामान्य और विशेषों का आश्रय होता है, वह व्यक्ति कहाता है। व्यक्ति को कहनेवाला शब्द न सामान्य में वर्तमान होता है और न विशेष में। [वह] उनके आश्रय को ही वह कहता है। इस प्रकार व्यक्तन्तर में [शब्द का] वर्तन दोषरहित है। क्योंकि वह सामान्य नहीं है॥

(आक्षेप) यदि व्यक्त्यन्तरों में भी [शब्द का वर्तन] होता है, तो सर्वविध सामान्यविशेष से निर्मुक्त अश्व व्यक्ति में 'गो' शब्द का वर्तन क्यों नहीं होता? [अर्थात् गोशब्द का प्रयोग अश्व में क्यों नहीं होता?] (समाधान) जिनमें [जिसका] प्रयोग देखा गया है, उनमें ही प्रवृत्त होगा, सर्वत्र प्रवृत्त नहीं होगा। अश्व व्यक्ति में गोशब्द का प्रयोग देखा नहीं गया है। इस हेतु से वहां (=अश्व व्यक्ति में) प्रवृत्त नहीं होगा। (आक्षेप) यदि जहां [जिस शब्द का] प्रयोग देखा गया है, वहां [उसकी] प्रवृत्ति होती है, तो आज उत्पन्न गो (=गो-वत्स) में [गो का] प्रथम प्रयोग प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वहां पर पहले [गो शब्द के] अदृष्ट होने से। और सामान्य का ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता—'यह भी गो है' 'यह गो है'। [सामान्यज्ञान के अभाव में] 'यह गो है' 'यह गो है' ऐसा प्रयोग होवे। किन्तु अदृष्टपूर्व गो व्यक्ति में भी सामान्यज्ञान होता है। इसलिये प्रयोग की अपेक्षा रखनेवाला 'गोशब्द व्यक्ति का वाचक है' ऐसे [पक्ष का] आश्रयण नहीं कर सकते। (समाधान) अच्छा तो यह [शब्द की] शक्ति का

---

१. वेदे क्वचिद् अश्वेऽपि गोशब्दः प्रयुज्यते। तथा चाह केशवस्वामी—

द्वयोस्त्वश्वे तथा ह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः।
माधवाचार्यसूरिश्च कोऽद्येत्यृचि भाषते॥ नानार्थार्णवसंक्षेप, भाग १, पृष्ठ ८८।

कस्याञ्चित् व्यक्तौ वर्त्तते कस्याञ्चिन्न। यथा—अग्निरुष्णः, उदकं शीतम्, एवमेतद् भविष्यतीति।

नैवं सिद्ध्यति। न ह्येतद् गम्यते—कस्याञ्चिद् व्यक्तौ वर्त्तते, कस्याञ्चिन्नेति। सत्यमेतत्। गोत्वं लक्षणं भविष्यतीति। यत्र गोत्वं तस्यां व्यक्ताविति। एवं तर्हि विशिष्टा व्यक्तिः प्रतीयेत। यदि च विशिष्टा, पूर्वतरं विशेषणमवगम्येत। न हि अप्रतीते विशेषणे विशिष्टं केचन प्रत्येतुमर्हन्तीति। अस्तु, विशेषणत्वेनाकृतिं वक्ष्यति, विशेष्यत्वेन व्यक्तिम्। न ह्याकृतिपदार्थकस्य व्यक्तिर्न पदार्थः, व्यक्तिपदार्थकस्य वा नाकृतिः। उभयमुभयस्य पदार्थः। कस्यचित् किञ्चित् प्राधान्येन विवक्षितं भवति। तेन अत्राकृतिर्गुणभावेन, व्यक्तिः प्रधानभावेन विवक्ष्यते इति[1]। नैतदेवम्। उभयोरुच्यमानयोर्गुणप्रधानभावः स्यात्। यदि चात्र आकृतिः प्रतीयते शब्देन, तदा व्यक्तिरपि

स्वभाव है, जो किसी व्यक्ति में [वह शब्द] प्रवृत्त होता है, किसी में नहीं होता। जैसे—अग्नि उष्ण है, जल शीतल; इसी प्रकार यह [शब्द के प्रयोग की व्यवस्था] होगी।

विवरण—नाश्वव्यक्तौ गोशब्दस्य प्रयोगो दृष्टः—भाष्यकार का यह कथन लौकिक प्रयोग में तो उपपन्न होता है। परन्तु वेद में बहुत्र 'गो' शब्द का 'अश्व' में भी प्रयोग देखा जाता है। केशव स्वामी ने 'नानार्थार्णवसंक्षेप' (भाग १, पृष्ठ ८) में लिखा है—स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद की बहुतसी ऋचाओं में दोनों लिङ्गों में प्रयुज्यमान गोशब्द का अश्व अर्थ में व्याख्यान किया है। इसी प्रकार कोऽद्य० (ऋ० १।८४।१६) में माधवाचार्य ने 'गो' शब्द का अर्थ 'अश्व' किया है। द्र०—'इन्द्रस्य धुरि गा अश्वान् कर्मवतो दीप्तिमतः' वेङ्कट माधव के बृहद्भाष्य में; 'इन्द्रस्य धुरि अश्वान् कर्मवतः क्रोधवतः' लघुभाष्य में। अडियार लायब्रेरी (मद्रास) संस्करण, भाग २, पृष्ठ ५६७॥

व्याख्या—(आक्षेप) इस प्रकार सिद्ध नहीं होता। [स्वाभाविक शक्ति मानने पर] यह नहीं जाना जाता है कि किस व्यक्ति में [गोशब्द-शक्ति] वर्तमान है, किस में नहीं है। (समाधान) यह सत्य है। [गोशब्द-शक्ति का] गोत्व लक्षण (=चिह्न) हो जायेगा। जहां गोत्व है, उस व्यक्ति में [गोशब्द-प्रयुक्त होगा]। (आक्षेप) अच्छा तो विशिष्ट व्यक्ति जानी जाये। (समाधान) यदि विशिष्ट [व्यक्ति जानी जाये, तो विशिष्ट व्यक्ति के ज्ञान से] पूर्व विशेषण जाना जाये। बिना विशेषण के जाने विशिष्ट को कोई नहीं जान सकते। (आक्षेप) ऐसा होवे, विशेषणरूप से आकृति को कहेगा, और विशेष्यरूप से व्यक्ति को। आकृति पदार्थ माननेवाले का व्यक्ति पदार्थ नहीं है ऐसी बात नहीं है, और ना ही व्यक्ति पदार्थ माननेवाले को आकृति पदार्थ नहीं है। दोनों ही दोनों के पदार्थ हैं। किसी [पक्षवाले] को कुछ प्रधानरूप से विवक्षित होता है। इससे यहां आकृति गुणभाव से और व्यक्ति प्रधानभाव से विवक्षित है। (समाधान) यह इस प्रकार नहीं हो सकता। [शब्द के द्वारा] दोनों (=आकृति और व्यक्ति) के कथ्यमान होने पर गुणप्रधानभाव हो सकता है। यदि यहां शब्द से आकृति प्रतीत होती है,

---

१. 'न ह्याकृतिपदार्थस्य' इत्यारभ्य 'विवक्ष्यते' इत्यन्तस्यास्य भाष्यस्य महाभाष्येण (१।२।६४) तुलना कार्या (द्र०—कीलहार्न संस्क०, भाग १, पृष्ठ २४६, पं० १४–१७)॥

पदार्थं इति न शक्यते वदितुम् । कुतः ? आकृतिर्हि व्यक्त्या नित्यसम्बद्धा । सम्बन्धिन्यां च तस्यामवगतायां सम्बन्ध्यन्तरमवगम्यते ॥

तदेतदात्मप्रत्यक्षम्—यच्छब्दे उच्चरिते व्यक्तिः प्रतीयते इति । किं शब्दाद् उताकृतेः, इति विभागो न प्रत्यक्षः । सोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते । अन्तरेणापि शब्दं य आकृतिमवबुद्धयेत, अवबुद्धयेतैवासौ व्यक्तिम् । यस्तूच्चरितेऽपि शब्दे मानसादपचारात् कदाचिदाकृतिं नोपलभेत, न जातुचिदसाविमां व्यक्तिमवगच्छेत । ननु व्यक्तिविशिष्टायामाकृतौ वर्त्तते । व्यक्तिविशिष्टायाञ्चेद् वर्त्तते, व्यक्त्यन्तरविशिष्टा न प्रतीयेत । तस्माच्छब्द आकृतिप्रत्ययस्य निमित्तम् । आकृतिप्रत्ययो व्यक्तिप्रत्ययस्येति ॥

तब व्यक्ति भी पदार्थ है, ऐसा नहीं कह सकते । किस कारण से ? आकृति व्यक्ति के साथ नित्य सम्बद्ध है । [शब्द द्वारा] उस सम्बन्धिनी [आकृति] के ज्ञात होने पर सम्बन्ध्यन्तर [द्रव्य] जाना जाता है ।

विवरण—इस आकृत्यधिकरण में 'शब्द का वाच्य द्रव्य है वा आकृति' विषय का सूत्रकार और भाष्यकार ने जो विवेचन किया है, ऐसा ही गुणदोषनिदर्शनपूर्वक विवेचन पतञ्जलि ने भी सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (अष्टा० १।२।६४) के महाभाष्य में किया है । वहां द्रव्याभिधानं व्याडिः द्वारा शब्द से द्रव्य (=व्यक्ति) का कथन होता है, यह व्याडि आचार्य का मत कहा है । और आकृत्यभिधानाद्वैकविभक्तौ वाजप्यायनः द्वारा आकृति का कथन होता है, यह वाजप्यायन आचार्य का मत दर्शाया है । न ह्याकृतिपदार्थकस्य…विवक्ष्यते इति—इस सन्दर्भ द्वारा शबरस्वामी ने जो कहा है, वह महाभाष्य की ही अनुकृतिमात्र है । वहां कहा है—न ह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो द्रव्यपदार्थिकस्य वाऽऽकृतिर्न पदार्थः । उभयोरुभयं पदार्थः । कस्यचित्तु किञ्चित्प्रधानभूतं किञ्चिद् गुणभूतम् । आकृतिपदार्थिकस्याऽऽकृतिः प्रधानभूता द्रव्यं गुणभूतम् । द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता (महा० १।१।६४, कीलहार्न संस्करण, पृष्ठ २४६, पं० १४–१७) । महाभाष्यकार ने द्रव्यपक्ष और आकृतिपक्ष दोनों के समन्वय में यह कथन किया है ।।

व्याख्या—यह आत्म-प्रत्यक्ष है [अर्थात् सभी जानते हैं] कि – शब्द के उच्चरित होने पर व्यक्ति प्रतीत होता है । [परन्तु वह व्यक्ति] शब्द से प्रतीत होता है अथवा आकृति से, यह विभाग प्रत्यक्ष नहीं होता । यह [विभाग] अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है । जो बिना शब्द के भी आकृति को जान लेवे, वह व्यक्ति को जान ही लेवे । जो शब्द के उच्चरित होने पर भी मानसदोष से कदाचित् आकृति को उपलब्ध न करे, वह कभी भी इस व्यक्ति को नहीं जान पायेगा । (आक्षेप) [शब्द] व्यक्ति से विशेषित आकृति में वर्तमान होता है । (समाधान) यदि व्यक्ति से विशेषित आकृति में [शब्द] वर्तमान होता है, तो [उसी शब्द से] व्यक्त्यन्तर से विशेषित [आकृति] न जानी जाये । [यतः व्यक्त्यन्तर से विशिष्ट आकृति भी जानी जाती है] इस कारण शब्द आकृति-ज्ञान का ही निमित्त है । आकृति का ज्ञान व्यक्ति के ज्ञान का निमित्त है ।

ननु गुणभूता प्रतीयते, इत्युक्तम् । न गुणभावोऽस्मत्पक्षस्य बाधकः । सर्वथा तावत् प्रतीयते, अर्थाद् गुणभावः प्रधानभावो वा । स्वार्थं चेदुच्चार्यते, प्रधानभूता । अथ न स्वार्थं परार्थमेव, ततो गुणभूता । न तत्र शब्दव्यापारोऽस्ति । ननु च दण्डीति, न तावद् दण्डिशब्देन दण्डोऽभिधीयते, अथ च दण्डविशिष्टोऽवगम्यते । एवमिहापि न तावदाकृतिरभिधीयेत, अथ चाकृतिविशिष्टा व्यक्तिर्गम्येतेति । नैतत् साधु । उच्यते, सत्यं दण्डिशब्देन दण्डो नाभिधीयते, न त्वप्रतीते दण्डे दण्डिप्रत्ययोऽस्ति । अस्ति तु दण्डिशब्दैकदेशभूतो दण्डशब्दो, येन दण्डः प्रत्यायितः । तस्मात् साध्वेतद् यत् प्रतीते विशेषणे विशिष्टः प्रतीयते इति । न तु गोशब्दावयवः कश्चिदाकृतेः प्रत्यायकः, अन्यो व्यक्तेः । यत उच्येत तत आकृतिरवगता । न गोशब्द आकृतिवचन इति । न च यथा

विवरण—अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्—अन्वय = अनुगत प्रतीति । जहां-जहां आकृति की प्रतीति होती है, वहां-वहां व्यक्ति की भी प्रतीति अवश्य होती है । व्यतिरेक = पृथक्त्व—आकृति का ज्ञान न होने पर व्यक्ति का ज्ञान न होना । **व्यक्तिविशिष्टा**—गौ शब्द के उच्चारण करने पर देवदत्त की जो शुक्ल आदि गाय है, उसके बोध से गोत्व आकृति का बोध होता है । यह कह कर पूर्वपक्षी आकृतिज्ञान में व्यक्तिज्ञान का हेतुत्व सिद्ध करता है । **व्यक्त्यन्तरविशिष्टा न प्रतीयेत**—यदि गोशब्द से देवदत्त की शुक्ल गाय व्यक्ति के ज्ञान से गोत्व व्यक्ति का ज्ञान माना जाये, तो उसी गोशब्द से देवदत्त की ही कृष्णा गाय व्यक्तिविशिष्ट गोत्व की प्रतीति नहीं होगी । क्योंकि गोत्व-प्रतीति में जो विशिष्टव्यक्ति शुक्ल गाय निमित्त थी, वह नहीं है ।।

व्याख्या—(पूर्वपक्षी) [व्यक्ति] गौणरूप से प्रतीत होता है, ऐसा कहा है । [इस लिये व्यक्त्यन्तर-विशिष्ट गोत्व का ज्ञान हो जायेगा ।] (समाधान) [व्यक्ति का] गुणभाव हमारे पक्ष का बाधक नहीं है । सब प्रकार से [आकृति] प्रतीत होती है, अर्थात् [आकृति का] गुणभाव हो चाहे प्रधानभाव । यदि [शब्द] स्वार्थ (=आकृति के बोध) के लिये उच्चारित होता है, तो [आकृति] प्रधानभूत होती है । और जो स्वार्थ (=आकृति के बोध) के लिये नहीं [उच्चारित होता है] परार्थ (=व्यक्ति के बोध) के लिये ही [उच्चारित होता है], तो [आकृति] गुणभूत होती है । उस [गुणभूत व्यक्ति में] शब्द का व्यापार नहीं है । (आक्षेप) जो दण्डी [का उदाहरण दिया है] उसमें दण्डी शब्द से दण्ड नहीं कहा जाता, फिर भी दण्ड-विशिष्ट [व्यक्ति] जाना जाता है । इसी प्रकार यहां भी [गोशब्द से] आकृति का कथन नहीं होता, फिर भी आकृति-विशिष्ट व्यक्ति जाना जाता है । इसलिये यह (=विशेषण के प्रतीत होने पर ही विशिष्ट प्रतीत होता है) कथन युक्त नहीं है । (समाधान) यह सत्य है कि दण्डी शब्द से दण्ड नहीं कहा जाता है, परन्तु दण्ड की प्रतीति के बिना दण्डी का ज्ञान नहीं होता है । और दण्डी शब्द का एकदेशरूप दण्ड शब्द है, जिससे दण्ड बोधित होता है । इसलिये यह कथन युक्त ही है कि विशेषण के प्रतीत होने पर ही विशिष्ट की प्रतीति होती है । परन्तु गोशब्द का तो कोई अवयव आकृति का बोधक, और अन्य व्यक्ति का [बोधक] नहीं है । जिससे कहा जाये कि उस भाग से आकृति जानी जाती है । गोशब्द आकृति का वाचक नहीं है । और जैसे दण्डी शब्द

दण्डिशब्दो न दण्डे प्रयुक्तः, एवं गोशब्दो नाकृतौ। तदर्थमेव निर्दशितं केवलाऽऽकृत्य-भिधानः श्येनशब्द इति। तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामसति श्येनव्यक्तिसम्बन्धे श्येन-शब्दोच्चारणादाकृतिवचन इति गम्यते। न तु व्रीह्याकृतिसम्बन्धमन्तरेण व्रीहिव्यक्तौ शब्दस्य प्रयोगो दृष्टः। तस्माद् आकृतिवचनः शब्द इत्येतज्ज्यायः ॥३३॥

न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न द्रव्यमिति चेत् ॥३४॥ (उ०)

दण्ड में प्रयुक्त नहीं है, उसी प्रकार गो शब्द आकृति में प्रयुक्त नहीं है [ऐसा नहीं कह सकते]। इसीलिये हमने [श्येनचितं चिन्वीत द्वारा] केवल आकृतिवचन श्येन शब्द का निदर्शन कराया है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा श्येन व्यक्ति का सम्बन्ध न होने पर श्येन शब्द के उच्चारण से [वह] आकृतिवचन है, ऐसा जाना जाता है। परन्तु व्रीहि की आकृति के सम्बन्ध के बिना व्रीहि शब्द का व्रीहि व्यक्ति में प्रयोग नहीं देखा गया। इसलिये शब्द आकृतिवचन है, यही पक्ष ज्यायान् (=युक्ततर) है ॥३३॥

विवरण—न तु गोशब्दावयवः—इस कथन का भाव यह है कि दण्डी शब्द में दो अवयव हैं—दण्ड+इन्। इनमें 'दण्ड' शब्द से दण्ड का बोधन होता है, और 'इन्' शब्द से तद्वान्=दण्डवान् का। इस प्रकार गोशब्द में दो अवयव नहीं हैं। जिनमें एक से आकृति का बोध होवे, और दूसरे से आकृतिविशिष्ट व्यक्ति का ॥३३॥

न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न द्रव्यमिति चेत् ॥३४॥

सूत्रार्थ—[आकृति को शब्द का अर्थ मानने पर] (क्रिया न स्यात्) प्रोक्षण आदि क्रिया नहीं होगी, (इति चेत्) ऐसा कहो तो, (अर्थान्तरे) अर्थान्तर=द्रव्यान्तर=पश्वन्तर में (विधा-नम्) विधान [नहीं होगा, ऐसा कहो तो], (द्रव्यम्) गो आदि द्रव्य [षड् आदि संख्या से युक्त] (न) नहीं जाने जायेंगे, (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

विशेष—यह सूत्र उत्तरसूत्र के साथ मिलकर एक सूत्र है। सूत्र ३०, ३२ और ३१ से द्रव्यवादी ने आकृतिपक्ष में जो दोष दर्शाये हैं, उनका सूत्रकार ने यहां निर्देश करके तीनों का तदर्थत्वात् इत्यादि उत्तरभाग से समाधान किया है। न इति चेत् अंश का मध्य भाग अर्थान्तरे विधानम् के साथ भी सम्बन्ध अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में कुतुहलवृत्तिकार ने लिखा है—वाक्य की समाप्ति के लिये उत्तरत्र अनुषङ्ग (=पूर्वपदों का सम्बन्ध) होता है, इस सामान्य नियम (द्र०—मी० २।१।४८) का अपवाद पढ़ा है—व्यवायान्नानुषज्यते (मी० २।१।४९)=व्यवधान होने पर अनुषङ्ग नहीं होता। प्रथम नियम से द्वितीय वाक्य अर्थान्तरे विधानम् में न इति चेत् पदों का अनुषङ्ग हो जायेगा। परन्तु द्वितीय वाक्य का व्यवधान होने से तृतीय भाग में अनुषङ्ग प्राप्त नहीं होता है, इसलिये तृतीय भाग न द्रव्यमिति चेत् में पुनः साक्षात् न इति चेत् पद पढ़े हैं। व्यवायान्नानुषज्यते सूत्र में विधर्म शब्द के व्यवधान में अनुषङ्ग का प्रतिषेध कहा है (द्रष्टव्य इसी सूत्र का भाष्य); परन्तु हमें यहां विधर्म शब्द दिखाई नहीं देता। सम्भव है अर्थान्तरे पद को विधर्म शब्द माना हो। इस विषय में हम अपना विचार अगले सूत्र के भाष्य के अन्त में लिखेंगे।

अथ यदुक्तम्—न क्रिया सम्भवेद्—व्रीहीन् प्रोक्षति[1] इति। न द्रव्यशब्दः स्यात्—षड् देया[2] इति। अन्यदर्शनवचनञ्च न स्याद्—अन्यं तद्रूपम्[3] इति। तत् परिहर्त्तव्यम् ॥३४॥

तदर्थत्वात् प्रयोगस्याविभागः ॥३५॥ (उ०)

आकृत्यर्थत्वाच्छब्दस्य यस्या व्यक्तिराकृत्या सम्बन्धस्तत्र प्रयोगः। प्रोक्षणं हि द्रव्यस्य कर्त्तव्यतया श्रूयते। कतमस्य? यद् यजतिसाधनम्। अपूर्वप्रयुक्तत्वात्तस्य,

---

व्याख्या—और जो कहा है [कि—आकृति को पदार्थ मानने पर] व्रीहीन् प्रोक्षति [से कहीं प्रोक्षण] क्रिया सम्भव नहीं होगी। [आकृति को पदार्थ मानने पर] षड् देया आदि में द्रव्यवाचक शब्द सम्भव नहीं होगा। [आकृति को पदार्थ मानने पर] अन्यं तद्रूपम् आदि अन्य [द्रव्य के] दर्शन का वचन उपपन्न नहीं होगा। इन [दोषों का] परिहार करना चाहिये ॥३४॥

विवरण—सूत्रकार ने पूर्वपक्षस्थ सूत्र क्रम ३०—३१—३२ को बदलकर ३०—३२—३१ के क्रम से दोषों का संग्रह किया है। भाष्यकार ने पूर्वपक्षस्थ सूत्रक्रम से दोषों का निदर्शन कराया है ॥३४॥

तदर्थत्वात् प्रयोगस्याविभागः ॥३५॥

सूत्रार्थ—शब्द के (तदर्थत्वात्) आकृति के लिये होने से (प्रयोगस्य) प्रोक्षणादि कर्म का (अविभागः) विभाग=असम्बद्धता नहीं है [अर्थात् आकृति प्रोक्षणादि कर्म के आश्रयभूत द्रव्य को विशेषित करेगी]।

विशेष—कुतुहलवृत्तिकार ने इस सूत्र के आदि में 'न' पद का अध्याहार करके अर्थ किया है—'जो दोष कहे हैं, वे नहीं हैं'। अन्य व्याख्याकारों ने 'न' पद के अध्याहार के विना ही अर्थ किया है। अविभागः पद का अर्थ भाष्यकार ने स्पष्ट नहीं किया। सुबोधिनी-वृत्तिकार ने प्रयोगस्य अविभागः=अबाधः (=प्रयोग की बाधा नहीं होगी) किया है। खण्डदेव ने 'मीमांसा-कौस्तुभ' में अविभागः=नासम्बद्धत्वम् अर्थ किया है। भट्ट कुमारिल तथा कुतुहलवृत्तिकार आदि ने—'जाति और व्यक्ति का अविनाभाव' अर्थ दर्शाया है। भट्ट कुमारिल ने सूत्रार्थ के कई विकल्प लिखे हैं, उन्हें 'तन्त्रवार्तिक' में देखें।

व्याख्या—शब्द के आकृत्यर्थ होने से जिस व्यक्ति का आकृति के साथ सम्बन्ध है, उसमें प्रयोग है। प्रोक्षण द्रव्य की कर्तव्यता के रूप में सुना जाता है। कौन से द्रव्य के? जो यजति (=यज धातु) का साधन है। उस [द्रव्य] के अपूर्व प्रयुक्त होने से, आकृति का नहीं, [आकृति

---

१. तुलना कार्या—आप० श्रौत १।१९।१॥
२. आप० श्रौत ५।२०।१३; तु०—कात्या० श्रौत ४।१०।१२॥
३. तुलना कार्या—कात्या० श्रौत २५।९।१॥

नाकृतेः, अशक्यत्वात् । तत्र व्रीहिशब्द आकृतिवचनः प्रयुज्यते प्रोक्षणाश्रयविशेषणाय। स ह्याकृतिं प्रत्याययिष्यति। आकृतिः प्रतीता सती प्रोक्षणाश्रयं विशेक्ष्यतीति। तेनाकृतिवचनं न विरुद्धयते इति। एवं षड् देया गावो दक्षिणा इति दक्षिणाद्रव्ये संख्यायाः प्रयोक्तव्ये गाव इत्याकृतिवचनो विशेषकः। तथा अन्यमिति विनष्टस्य प्रतिनिधेरन्यत्वसम्बन्धः। तत्र पशुशब्द आकृतिवचन आकृत्या विशेक्ष्यतीति। तस्माद् गौरश्व इत्येवमादयः शब्दा आकृतेरभिधायका इति सिद्धम् ॥३५॥ इत्याकृतिशक्त्यधिकरणम् ॥१०॥

इति श्रीशबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य
(स्मृतिपादाभिधेयः) तृतीयः पादः ॥

—:०:—

में अपूर्व की उत्पत्ति के] अशक्य होने से। वहां (=व्रीहीन् प्रोक्षति में] आकृतिवचन व्रीहि शब्द प्रोक्षणकर्म के आश्रय (=द्रव्य) के विशेषण के लिये प्रयुक्त होता है। वह [व्रीहि शब्द] आकृति का ज्ञान करायेगा। प्रतीत हुई आकृति प्रोक्षण के आश्रय (=द्रव्य) को विशेषित करेगी। इसलिये आकृतिवचन शब्द विरुद्ध नहीं होता। इसी प्रकार षड् देया गावो दक्षिणा (=छः गौवें दी जायें दक्षिणा में) इस दक्षिणाद्रव्य में संख्या के प्रयोगार्ह होने पर 'गावः' यह आकृति को कहनेवाला शब्द [द्रव्य का] विशेषक है। और अन्यम् यह विनष्ट [पशुद्रव्य] के प्रतिनिधि के अन्यत्व सम्बन्धवाला है। वहां (=यद्युपाकृतः पशुः में) आकृति को कहनेवाला पशु शब्द आकृति से [द्रव्य को] विशेषित करेगा। इसलिये गौः अश्वः इत्यादि शब्द आकृति के अभिधायक हैं, यह सिद्ध है ॥३५॥

अन्त्य ३४—३५ सूत्रों की अर्थ-मीमांसा—हम पूर्व संकेत कर चुके हैं कि 'न क्रिया स्यादिति चेद् अर्थान्तरे विधानं न द्रव्यमिति चेत् तदर्थत्वात्प्रयोगस्याविभागः यह पूर्ववत् एक सूत्र है। हमारा विचार है कि ये दो सूत्र हैं—न क्रिया स्यादिति चेद् अर्थान्तरे विधानम् एक सूत्र है, और न द्रव्यमिति चेत् तदर्थत्वात् प्रयोगस्याविभागः दूसरा सूत्र है। प्रतीत होता है भाष्यकार आदि ने पूर्वपक्ष के संख्या ३०—३१—३२ के तीन सूत्र देखकर यहां उनका समाधान करने के लिये सूत्र का वर्तमानरूप स्वीकार किया है। पर यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये, तो प्रतीत होगा कि मूल दोष दो ही हैं। एक—आकृतिपक्ष में प्रयोग की चोदना उपपन्न नहीं होगी। यह दोष जैसे व्रीहीन् प्रोक्षति में व्रीहि-आकृति में प्रोक्षणक्रिया की असम्भवता है, वैसे ही षड् गावो देया में गो-आकृति में देया क्रिया के प्रति है। पूर्वपक्षी ने गोद्रव्यगत संख्या के सम्बन्ध को लेकर कुछ भिन्न रूप से उपस्थित किया है। दूसरा—पशुरुपाकृतः पलायेत अन्यं तद्वर्णं तद्वयसम् में यह दोष दिया है कि आकृतिशब्दार्थ मानने पर उपाकृत पशु की जो पशुत्व आकृति है, वही तद्वर्ण अन्य की है। अतः इसमें अन्य शब्द का प्रयोग उपपन्न नहीं होगा। इस परिप्रेक्ष्य में दोनों सूत्रों का सीधा सरल अर्थ इस प्रकार होगा—

न क्रिया स्यादिति चेद् अर्थान्तरे विधानम्—यदि, कहते हो कि आकृति शब्दार्थ मानने पर (क्रिया न स्यात्) प्रोक्षण और दान क्रिया उपपन्न नहीं होगी, क्योंकि आकृति का

प्रोक्षण और दान सम्भव नहीं है, तो यह युक्त नहीं । आकृतिविशेषित वा आकृतिसहचरित (अर्थान्तरे) द्रव्यरूप अर्थान्तर में (विधानम्) प्रोक्षण और दान का विधान जानना चाहिये । लोक में भी कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशय[1] कहने पर कुन्त (=आयुधविशेष) और यष्टि (=लाठी) से विशिष्ट वा सहचरित पुरुष में प्रवेशय क्रिया का विधान माना जाता है । इसी प्रकार यहां भी व्रीहित्व जातिविशिष्ट वा सहचरित द्रव्य में प्रोक्षण, और गोत्वविशिष्ट वा सहचरित द्रव्य में दान क्रिया और षट् आदि संख्या का विधान जाना जायेगा ।

न द्रव्यमिति चेत् तदर्थत्वात् प्रयोगस्याविभागः—यदि यह कहते हो कि आकृति को शब्दार्थ मानने पर पशुत्वजाति के समान होने से (द्रव्यम्) तद्वर्णं तद्वयः अन्य पशु द्रव्य का ग्रहण उपपन्न (न) नहीं होता है, तो यह ठीक नहीं है, 'अन्यं तद्वर्णं तद्वयसं पशुमालभेत' वचन के (तदर्थत्वात्) पशुत्व आकृति से विशिष्ट प्रतिनिधिरूप व्यक्ति के लिये निर्देश होने से (प्रयोगस्य) प्रयोग=कर्म का (अविभागः) विभाग=नाश नहीं होगा । अर्थात् पूर्व पशु द्रव्य के नष्ट हो जाने पर भी प्रतिनिधिभूत पश्वन्तर के द्वारा प्रकृत कर्म पूर्ण हो जायेगा ।।३५।।

—:०:—

१. द्र०—महाभाष्य ४।१।४८, साहचर्यादतस्मिंस्तद् इत्यस्योदाहरणे; सहचरणाद् यष्टीः भोजय । द्र०—न्यायभाष्य २।२।६३

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः

[उद्भिदादिशब्दानां यागनामधेयत्वाधिकरणम्, उद्भिदधिकरणं वा ॥१॥]

उद्भिदा यजेत[1], बलभिदा यजेत[2], अभिजिता यजेत[3], विश्वजिता यजेत[4] इति समामनन्ति। तत्र सन्देहः—किमुद्भिदादयो गुणविधयः, आहोस्वित् कर्मनामधेयानीति? कुतः संशयः? उभयथाऽपि प्रतिभातो वाक्यात्। उद्भिदेत्येष शब्दो यजेतेत्यनेन सम्बध्यते। स किं वैयधिकरण्येन सम्बन्धमुपैति—उद्भिदा द्रव्येण यागमभिनिर्वर्त्तयेदिति, उत सामानाधिकरण्येन—उद्भिदा यागेन यजेतेति? द्वेधाऽप्येतस्मिन् प्रतिभाति वाक्ये सम्भवति संशयः। किं तावत् प्राप्तम्?

उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात् ॥१॥ (पू०)

व्याख्या—उद्भिदा यजेत (=उद्भिद् से यजन करे), बलभिदा यजेत (=बलभिद् से यजन करे), अभिजिता यजेत (=अभिजित् से यजन करे), विश्वजिता यजेत (=विश्वजित् से यजन करे) ऐसा पढ़ते हैं। वहां सन्देह है कि—क्या उद्भिद् आदि गुणविधियां हैं, अथवा कर्म के नाम हैं। यह संशय किस कारण है? वाक्य से दोनों प्रकार [का अभिप्राय] जाना जाता है। उद्भिद् शब्द यजेत इस के साथ सम्बद्ध होता है। वह क्या वैयधिकरण्य से सम्बन्ध को प्राप्त होता है—उद्भिद् द्रव्य[5] से याग को सम्पन्न करे, अथवा [उद्भिद् 'यजेत' के साथ] सामानाधिकरण्य [से सम्बन्ध को प्राप्त होता है]—उद्भिद् [नामवाले] याग से यजन करे? इस वाक्य में दोनों प्रकार से प्रतिभासित होने से संशय सम्भव है। तो यहां क्या प्राप्त होता है?

उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात् ॥१॥

सूत्रार्थ—(समाम्नायैदमर्थ्यम्) समाम्नाय=वेद का ऐदमर्थ्य=कर्म की प्रयोजनता (उक्तम्) कह चुके। (तस्मात्) इसलिये (सर्वम्) सब वेद (तदर्थम्) कर्म के लिये (स्यात्) होवे। [अर्थात् वेद कर्म के लिये है, इसलिये वेद में पठित उद्भिदा यजेत आदि वाक्यगत उद्भिद् आदि याग के लिये हैं। तात्पर्य यह है कि उद्भिद् आदि द्रव्य से याग करे।]

---

१. ताण्ड्य ब्रा० १६।७।३॥ २. ताण्ड्य ब्रा० १६।७।३॥

३. द्र०—ताण्ड्य ब्रा० १६।८।४—अभिजिता वै देवा इमान् लोकान् अभ्यजयन्॥

४. द्र०—ताण्ड्य ब्रा० १६।८।४—विश्वजिता विश्वमजयन्।

५. द्रष्टव्य—आगे विवरण।

उक्तमस्माभिः समाम्नायस्यैदमर्थ्यम्। कश्चिदस्य भागो विधिः, योऽविदितमर्थं वेदयति। यथा—सोमेन यजेत[1] इति। कश्चिदर्थवादो, यः प्ररोचयन् विधिं स्तौति। यथा—वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता[2] इति। कश्चिन्मन्त्रो, यो विहितमर्थं प्रयोगकाले प्रकाशयति। यथा—बर्हिर्देवसदनं दामि[3] इत्येवमादि। तस्मादुद्भिदादयोऽमीषां प्रयोजनानामन्यस्मै प्रयोजनाय भवेयुः। तत्र तावन्नार्थवादः, वाक्यशेषो हि स भवति विधातव्यस्य। न च मन्त्रः। एवञ्जातीयकस्य प्रकाशयितव्यस्याभावात्। परिशेष्याद् गुणविधिः। उद्भिद्गुणता यागस्य विधीयते। कुतः? प्रसिद्धेरनुग्रहाद्, गुणविधेरर्थवत्त्वात्, प्रवृत्तिविशेषकरत्वाच्च[4]। न चैषां यागार्थता लोकेऽवगम्यते, न च वेदेन परिभाष्यते। अतो गुणविधयः[5]।

व्याख्या—हमने समाम्नाय का कर्म के लिये होना कह दिया है (द्र०—मी०प्र० १, पाद २)। उसका कोई भाग विधिरूप है, जो अविदित अर्थ का ज्ञान कराता है। जैसे—सोमेन यजेत (=सोम से यजन करे)। कोई भाग अर्थवादरूप है, जो विधि को रुचियुक्त बनाता हुआ [विधि की] स्तुति करता है। जैसे—वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता (=वायु अतिशीघ्र गतिवाला देवता है)। कोई भाग मन्त्र है, जो विहित अर्थ को प्रयोगकाल में प्रकाशित करता है। जैसे—बर्हिर्देवसदनं दामि (=देवसदन बर्हि को काटता हूं) इत्यादि। इस कारण उद्भिद् आदि भी इन्हीं प्रयोजनों में से किसी प्रयोजन के लिये होने चाहियें। वहां (=उनमें से) यह अर्थवाद नहीं हो सकता, क्योंकि वह अर्थवाद विधान योग्य का वाक्यशेष होता है। और मन्त्र भी नहीं है। इस प्रकार के प्रकाश करने योग्य अर्थ का अभाव होने से। इसलिये परिशेष से यह गुणविधि है। उद्भिद् गुणवाले द्रव्य से याग का विधान किया जाता है। किस कारण से? प्रसिद्धि के अनुग्रह से, गुणविधि के अर्थवान् होने से, और विशेष प्रवृत्तिकारक होने से। और इन [उद्भिद् आदि] की यागार्थता (=यागप्रयोजनता) न तो लोक से जानी जाती है, और न वेद से कही जाती है। इसलिये ये गुणविधि हैं।

विवरण—उक्तमस्माभिः—मीमांसा अ० १, पाद २ में सम्पूर्ण आम्नाय की यागार्थता का प्रतिपादन किया है। सोमेन यजेत—यहां याग और सोमद्रव्य दोनों के अप्राप्त होने से इस वाक्य से सोमविशिष्ट याग का विधान मीमांसक स्वीकार करते हैं—सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्। द्र०—मीमांसा सूत्र—तद्गुणास्तु विधीयेरन् अविभागाद् विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टाः १।४।९, व्याख्या यथास्थान देखें)। गुणविधिः—गुणस्य विधिः गुणविधिः—जहां पर कर्म (=याग) प्रकारान्तर से प्राप्त होता है, वहां उस याग के उद्देश से गुण (=द्रव्यादि) मात्र का विधान किया जाता है। जैसे—अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः वचन से विहित अग्निहोत्र होम प्राप्त

---

१. द्र०—य एवं विद्वान् सोमेन यजते। तै० सं० ३।२।२; द्र०—शाबरभाष्य ३।१।१३॥

२. तै० सं० २।१।१॥ ३. मै० सं० १।१।२; ४।१।२॥

४. विशेष अर्थ विवरण में देखें। ५. गुणविधि का स्वरूप विवरण में देखें।

यदि गुणविधिः, न तर्हि कर्म विधीयते । अविहिते च कर्मणि तत्र गुणविधानमनर्थकम् । नेति ब्रूमः । प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे गुणविधानमर्थवद्भविष्यति । यद्वि नामधेयं स्याद्, यावदेव यजेतेति, तावदेव उद्भिदा यजेतेति । न प्रवृत्तौ कश्चिद् गुणविशेषः स्यात् । गुणविधौ च गुणसंयोगादभ्यधिकमर्थं विदधत उद्भिदादयः शब्दा अर्थवन्तो भविष्यन्ति । तस्माद् गुणविधय इत्येवं प्राप्तम् ॥१॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अपि वा नामधेयं स्याद् यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात् ॥२॥ (उ०)

है । उसी होम के उद्देश से दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् (=इन्द्रियों की सुदृढ़ता की कामनावाले का दही से होम करे) दधि द्रव्य का विधान गुणविधि कहाती है (द्र०—मीमांसान्यायप्रकाश, पृष्ठ ५, काशी संस्कृत सीरिज, बनारस)। उद्भिद्गुणवत्ता—भट्ट कुमारिल ने उद्भेदन=खोदने की क्रिया में समर्थ खनित्र आदि का वाचक माना है । हमारे विचार में यहां याग के प्रसंग में उद्भिद् शब्द से वृक्षलता ओषधि ग्रहण करना युक्त है ॥

व्याख्या—(आक्षेप) [उद्भिदा यजेत आदि] यदि गुणविधि है, तो कर्म का विधान नहीं होता । और अविहित कर्म में गुण का विधान अनर्थक है । (समाधान) नहीं है । [सोमयागों की] प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम में गुणविधान अर्थवत् हो जायेगा । और यदि [उद्भिद्] नामधेय होवे, तो जितना अर्थ यजेत (=याग करे) का होता है, उतना ही उद्भिदा यजेत (=उद्भिद् याग करे) का है । [उद्भिद्संज्ञक याग की] प्रवृत्ति में कोई गुणविशेष नहीं होगा । और गुणविधि मानने पर [उद्भिद्] गुण के संयोग से [प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम में] अधिक अर्थ का विधान करते हुये उद्भिद् आदि शब्द अर्थवान् हो जायेंगे । इसलिये ये गुणविधियां हैं, ऐसा जाना जाता है ॥१॥

विवरण—तावदेव उद्भिदा यजेत—'यजेत' कहने से याग करे, इतना अर्थ जाना जाता है ।'उद्भिदा यजेत' में उद्भिद् नाम होने पर भी किसी विशेष अर्थ को प्रकट नहीं करेगा । क्योंकि याग के स्वरूपविधायक द्रव्य देवता आदि का परिज्ञान न इस वाक्य से होता है,और न वाक्यान्तर से । अतः विशेष अर्थ का ज्ञान न होने से भाष्यकार ने दोनों से समान अर्थ की प्रतीति होना कहा है ।

भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में इस सूत्र की अन्य प्रकार से व्याख्या की है । उसे उन्हीं के ग्रन्थ में देखें ॥१॥

व्याख्या—इस प्रकार (=उद्भिदादि गुणविधियां हैं) प्राप्त होने पर—

अपि वा नामधेयं ··अविधायकत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थ—(अपि वा) पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है [अर्थात् उद्भिदादि गुणविधियां नहीं

अपि वेति पक्षो विपरिवर्त्तते । नामधेयं स्याद्, इति प्रतिजानीमहे। एवमविहित-मर्थं विधास्यति ज्योतिष्टोमाद् यागाऽन्तरम् । श्रुतिश्चैवं यागमभिधास्यति । इतरथा श्रुतिरुद्भिदादीन् वक्ष्यन्ती उद्भिदादिमतो लक्षयेत्[1] । उद्भिद्वता यागेन कुर्यादिति । यागेन कुर्यादिति, यजेतेत्यस्यार्थः । करणं हि यागः । उद्भिदाद्यपि तृतीयानिर्देशात् करणम् । तत्रोद्भिदा यागेनेति कर्मनामधेयत्वेन सामानाधिकरण्यसामञ्जस्यम् । द्रव्य-वचनत्वे मत्वर्थलक्षणया सामानाधिकरण्यं स्यात् । श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्ज्यायसी । तस्मात् कर्मनामधेयम् । ननु प्रसिद्धं द्रव्यवचनत्वमपह्नूयेत, अप्रसिद्धं कर्मवचनत्वं प्रतिज्ञायेत । उच्यते—तृतीयानिर्देशात् कर्मवचनता । कुतः? करणवाचिनो हि प्रातिपदि-कात् तृतीया भवति । करणं च यागः । तेन यागवचनमिममनुमास्यामहे ।

हैं] । (यदुत्पत्तौ) जिस की उत्पत्ति=विधान में (अपूर्वम्) अपूर्व कर्म का विधान होता है [वह उद्भिदादि] (नामधेयम्) कर्म के नाम (स्यात्) होवें, [नामधेयत्व के सम्भव होने पर गुण के] (अविधायकत्वात्) अविधायक होने से ।

विशेष—तन्त्रवार्तिक में इस सूत्र के अन्य दो अर्थ भी किये हैं । उन्हें उसी ग्रन्थ में देखें ।

व्याख्या—'अपि वा' पदों से पक्ष का विपर्यय होता है [अर्थात् गुणविधिपक्ष की निवृत्ति होती है] । [उद्भिदादि कर्म का] नामधेय होवे, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं । इस प्रकार (=कर्म का नामधेय होने पर) जो ज्योतिष्टोम से यागान्तररूप अविहित अर्थ है, उसका विधान करेगा। और इस प्रकार [यजेत] श्रुति याग का विधान करेगी । अन्यथा [यजेत] श्रुति उद्भिदादि का कथन करती हुई उद्भिदावान् [याग] को लक्षित करे । उद्भिद् जिसमें है, उस याग से [फल को सिद्ध] करे । 'याग से करे' यह 'यजेत' पद का अर्थ है । [इसमें] याग करण है। और उद्भिद् आदि भी तृतीया-निर्देश से करण हैं । वहां (=ऐसा सम्बन्ध करने पर) उद्भिद् याग से [यजन करे] इस प्रकार कर्म नामधेय रूप से सामानाधिकरण्य का सामञ्जस्य होता है। [उद्भिद् आदि को] द्रव्यवाचक मानने पर मत्वर्थलक्षणा से सामानाधिकरण्य होगा । श्रुति और लक्षणा के विषय में श्रुति ज्यायसी होती है । इसलिये [उद्भिद् आदि] कर्म के नाम हैं। (आक्षेप) [उद्भिद् आदि को कर्मनाम मानने पर उद्भिद् आदि की] द्रव्यवचनता को छोड़ना होगा, और अप्रसिद्ध कर्मनामधेयत्व स्वीकार करना होगा । (समाधान) उक्त विषय में कहते हैं—[उद्भिदा आदि में] तृतीया विभक्ति के निर्देश से कर्मवचनता है । किस हेतु से ? करणवाची प्रातिपदिक से ही [कर्तृकरणयोस्तृतीया (अष्टा० २।३।१८) से] तृतीया विभक्ति होती है । और याग करण है । इस हेतु से इस [उद्भिद् आदि] की याग की वाचकता का अनुमान करेंगे ।

---

१. अत्र तन्त्रवार्तिके पाठभेदः प्रदर्शितः—'इतरथा श्रुतिरुद्भिदादीन् वक्ष्यति तद्वतो लक्षयेत्, वक्ष्यन्ती लक्षयेत् इति वा ग्रन्थः ।

नैतद्युक्तम् । यदि तृतीयानिर्देशे सति उद्भिदादिभ्यः शब्देभ्यो यागे बुद्धिरुत्पद्येत, स्यादेतदेवम् । न हि नो बुद्धिरुत्पद्यते, तस्मादयुक्तम् । तृतीयावचनमन्यथा नोपपद्यते इति चेत्, कामं मोपपादि । न जातुचिदनवगम्यमानेऽपि यागवचनो भविष्यति । तस्माद् गुणविधयः । लक्षणेति चेद्, वरं लक्षणा कल्पिता, न यागाभिधानम् । लौकिकी हि लक्षणा, हठोऽप्रसिद्धकल्पनेति । अपि च, यदि नामधेयं विधीयते, न यागः । अथ यागो, न नामधेयम् । उभयविधाने वाक्यभेद इति । उच्यते—न नामधेयं विधायिष्यते । अनुवादा हि उद्भिदादयः । कुतः प्राप्तिरिति चेत्, ततोऽभिधीयते—उच्छब्दसामर्थ्याद् भिच्छब्द-सामर्थ्याच्चोद्भिच्छब्दः क्रियावचनः । उद्भेदनं प्रकाशनं पशूनामनेन क्रियते इत्युद्भिद्

विवरण—ज्योतिष्टोमाद् यागान्तरम्—पूर्वपक्षी ने उद्भिदा यजेत को गुणविधि मानते हुये प्रकरणप्राप्त ज्योतिष्टोम को आधार बनाया था । जैसे—दध्ना जुहुयात् में पूर्वनिर्दिष्ट 'अग्निहोत्र को उद्देश करके दही से होम करे' में अग्निहोत्र को आधार बनाकर दधिरूप गुण का विधान किया है, उसी प्रकार 'ज्योतिष्टोम याग को उद्देश कर करके उद्भिदा यजेत से उद्भिद् गुणविशिष्ट ज्योतिष्टोम याग करे' यह अर्थ होगा । **मत्वर्थलक्षणया**—इसका भाव यह है कि गुण-विधि पक्ष में उद्भिद् द्रव्य का सीधा याग के साथ सामानाधिकरण्य उपपन्न न होने पर 'उद्भिद् द्रव्यवान् याग' ऐसा अर्थ करना होगा । जहां मतुप् आदि प्रत्यय के बिना भी अर्थ के सामञ्जस्य के लिये उसके अर्थ को स्वीकार किया जाता है, वह मत्वर्थलक्षणा कहाती है । यथा यष्टीः भोजय; कुन्तलान् प्रवेशय में यष्टि में भोजनक्रिया और कुन्तल (=आयुधविशेष) में प्रवेशक्रिया सम्भव नहीं होने से यष्टीः का अर्थ यष्टिमतः, और कुन्तलान् का कुन्तलमतः स्वीकार किया जाता है ॥

व्याख्या—(आक्षेप) यह (=कर्मनामधेयत्व) युक्त नहीं है । यदि [उद्भिदा आदि में] तृतीया-निर्देश होने से उद्भिद् आदि शब्दों से यागविषयक-ज्ञान उत्पन्न होवे, तब तो यह इस प्रकार हो सकता है । हमें ['उद्भिदा' आदि के श्रवण से याग का] ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, इसलिये [आपका कथन] अयुक्त है । यदि कहो कि तृतीया-विभक्ति का कथन [याग-वचनता के] बिना उपपन्न नहीं होता, तो मत उत्पन्न होवे । किसी भी प्रकार [यागवचनता के] ज्ञात न होने पर याग का वाचक नहीं होगा । इसलिये गुणविधियां हैं । यदि कहो कि [द्रव्यवचन मानने पर] लक्षणा माननी होगी, तो लक्षणा की कल्पना उचित है, याग का कथन उचित नहीं । लक्षणा तो लोकविदित है, और 'हठ' अप्रसिद्ध कल्पना है । और भी, यदि [उद्भिदा यजेत] से नामधेय का विधान करते हैं, तो याग का विधान नहीं होगा । और यदि याग का विधान करते हैं, तो नामधेय का विधान नहीं होगा । दोनों (=नामधेय और याग) के विधान करने पर वाक्यभेद होगा । (समाधान) उक्त विषय में कहते हैं—[उद्भिदा यजेत वाक्य] नामधेय का विधान नहीं करेगा । उद्भिद् आदि अनुवाद हैं । किससे प्राप्ति है [जिसका अनुवाद है] यदि ऐसा कहो, तो कहा जाता है—'उत्' शब्द के सामर्थ्य से और 'भिद्' शब्द के सामर्थ्य से 'उद्भिद्' शब्द क्रिया को कहनेवाला है । उद्भेदन=प्रकाशन पशुओं का इससे किया जाता है, इससे 'उद्भिद्' याग है ।

यागः। एवमाभिमुख्येन जयाद् अभिजित्; विश्वजयाद् विश्वजित्। एवं सर्वत्र। अतः कर्मनामधेयम्। यत्त्वप्रवृत्तिविशेषकरोऽनर्थक इति। नामधेयमपि गुणफलोपबन्धेनार्थवत्। तस्मात् कर्मनामधेयान्येवञ्जातीयकानीति सिद्धम् ॥२॥ इत्युद्भिदादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम् ॥१॥

[चित्रादिशब्दानां यागनामधेयताधिकरणम्, चित्राज्याधिकरणं वा ॥२॥]

चित्रया यजेत पशुकामः[1], त्रिवृद् बहिष्पवमानम्[2], पञ्चदशान्याज्यानि[3], सप्तदश पृष्ठानि[4]

इसी प्रकार अभिमुखता से जय से 'अभिजित्'; विश्व के जय से 'विश्वजित्'। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये। इससे यह कर्म का नाम है। और जो कहा है कि—विशेषप्रवृत्ति को करने-वाला न होने से अनर्थक होगा [यह ठीक नहीं है]। कर्मनाम भी गुणफल के सम्बन्ध से अर्थवान् है। इसलिये इस प्रकार के शब्द कर्म के नाम हैं, यह सिद्ध है ॥२॥

विवरण—हठोऽप्रसिद्धकल्पना—इस पर वार्तिककार ने कहा है—पुराने तालाब के जल पर आच्छादित हरा द्रव्य (=सेवार) 'हठ' कहाता है। उसे हटाने पर भी वह पुनः स्वच्छन्दता से जल पर आच्छादित हो जाता है। उसी प्रकार जो स्वच्छन्द व्यवहार होता है, वह 'हठ' कहाता है। पाणिनीय धातुपाठ में **हठ प्लुतिशठत्वयोः। बलात्कारे इत्येके** (भ्वा० सूत्र २२७)। इस में प्लुति=प्लवन अर्थ में हठ शब्द का अर्थ सेवार होगा। शठता=वा जबरदस्ती से अपनी बात मनवाना अर्थ में स्त्रीहठ राजहठ बालहठ में प्रयुक्त हठ शब्द है। इस प्रकार धात्वर्थभेद से ही अर्थभेद सम्भव होने पर सेवार अर्थ में 'हठ' शब्द की मुख्य प्रवृत्ति मानकर, अन्यत्र तद्धर्मोपचार से हठ शब्द का लाक्षणिक प्रयोग स्वीकार करना चिन्त्य है। **क्रियावचनः**—शब्द किसी अर्थविशेष में रूढ़ होने पर भी उपपद वा धातुसम्बद्ध अर्थ को नहीं छोड़ता है। यथा—पङ्कज शब्द कमल में रूढ़ होने पर भी **पङ्के जातः**=कीचड़ में उत्पन्न होना, अर्थ तो अपने भीतर रखता ही है। इसलिये इसी प्रसङ्ग में तन्त्रवार्तिक में कहा है—**पदमज्ञातसन्दिग्धं प्रसिद्धैरपृथक् श्रुतिः। निर्णीयते निरूढं तु न स्वार्थादपनीयते ॥ प्रकाशनं पशूनाम्**—यद्यपि पूर्वसूत्र में **उद्भिदा यजेत** इतना ही वाक्य उद्धृत किया है, परन्तु ताण्ड्य-ब्राह्मण में इससे पूर्व **पशुकामो यजेत** (ताण्ड्य १९।७।२) में पशुकामनावाले के लिये यज्ञ का विधान होने से **उद्भिदा यजेत** (ताण्ड्य १९।७।३) उत्तरवाक्य का सम्बन्ध **पशुकामः** के साथ जानना चाहिये। इसी दृष्टि से खण्डदेव ने भाट्टदीपिका के इस अधिकरण में **उद्भिदा यजेत पशुकामः** इस रूप में पाठ उद्धृत किया है। ताण्ड्य-ब्राह्मण १९।७।२ के भाष्य में लिखा है कि लाट्यायन श्रौतसूत्रकार ने उद्भिद् और बलभिद् यागों को सहानुष्ठान कहा है—**'उद्भिद्बलभिद्भ्यामविप्रयोगेण यजेत'** (ला० श्रौत ९।४।९) ॥२॥

व्याख्या—चित्रया यजेत पशुकामः (**=चित्रा से पशुकामनावाला यजन करे**); त्रिवृद् बहिष्पवमानम् (**=बहिष्पवमान त्रिवृत् होता है**); पञ्चदशान्याज्यानि भवन्ति

---

१. तै०सं० २।४।६॥ एतद्विषयेऽग्रे वक्ष्यमाणस्य 'दधिमधुपयोघृतम्' इत्युद्धरणस्य टिप्पणी द्रष्टव्या। २. ताण्ड्य ब्रा० २०।१।१॥ ३. ताण्ड्य ब्रा० २०।१।१॥ ४. ताण्ड्य ब्रा० २०।१।१॥

इत्युदाहरणम् । किं चित्राशब्दः पवमानशब्दः आज्यशब्दः पृष्ठशब्दश्च गुणविधयः, उत कर्मनामधेयानि, इति संशयः ? प्रसिद्धेः अर्थवत्त्वात् प्रवृत्तिविशेषकरत्वाच्च गुणविधयः । न चैते कर्मणि प्रसिद्धाः, न चामी यौगिकाः । जातिशब्दा ह्येते, चित्रा इति च गुणशब्दः । चित्रया यजेतेति च यागानुवादः । विज्ञातत्वान्न यागविधिः । गुणे फलकल्पनायां[1] यजतेर्न विवक्षा । तथा आज्यानि भवन्ति, पृष्ठानि भवन्तीति च । गुणविधिकल्पनायामपि न लक्षणा[2] । तस्माद् गुणविधय इत्येवं प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

(=पन्द्रह आज्य होते हैं); सप्तदश पृष्ठानि (=सत्रह पृष्ठ होते हैं) इत्यादि उदाहरण हैं। क्या [इनमें] चित्राशब्द, पवमानशब्द, आज्यशब्द, और पृष्ठशब्द गुणविधियां हैं, अथवा कर्म के नाम हैं, यह संशय है ? प्रसिद्धि से, अर्थवत्त्व होने से, और प्रवृत्तिविशेष के करनेवाले होने से गुणविधियां हैं । ये शब्द कर्म में प्रसिद्ध नहीं हैं, और ये यौगिक भी नहीं हैं । ये जातिशब्द हैं, और चित्रा यह गुणशब्द है । और चित्रया यजेत यह याग का अनुवाद है [अर्थात् यजेत से याग का अनुवाद करके चित्रा गुण का विधान किया है] । [याग के] विज्ञात होने से यह याग की विधि नहीं है । गुण में फल की कल्पना होने से 'यज' [धात्वर्थ] की विवक्षा नहीं है । और इसी प्रकार आज्यानि भवन्ति; पृष्ठानि भवन्ति । गुणविधि-कल्पना में भी [मत्वर्थ]लक्षणा नहीं है । इसलिये ये गुणविधियां हैं, ऐसा प्राप्त होता है । ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

विवरण—पूर्व अधिकरण में उद्भिद् आदि यौगिक शब्दों के सम्बन्ध में विचार किया था कि ये गुणविधि हैं वा नामधेय । इस अधिकरण में गुण शब्द और जाति शब्दों के विषय में विचार किया जाता है । चित्रा पवमान गुणशब्द हैं, तथा आज्य और पृष्ठ जातिशब्द हैं ।

गुणे फलकल्पनायां यजतेर्न विवक्षा—इसका कुछ अध्यापक गुणफलकल्पनायाम् पाठ मानकर फलाय गुणविधौ यजतेर्विवक्षा नास्ति इत्यभिप्रायः, यागस्यानुवादमात्रत्वात् (=फल के लिये गुणविधि में 'यज' की विवक्षा नहीं है, याग का अनुवादमात्र होने से)। हमारे विचार में यथामुद्रित गुणे फलकल्पनायाम् पाठ ही साधु है । तन्त्रवार्तिक में भी यही पाठ प्रतीकरूप से निर्दिष्ट है। इसका अर्थ है—पहले 'चित्रया यजेत' में 'दध्ना जुहोति'[3] के समान केवल याग का अनुवाद कहा है। यहां दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्[4] (=इन्द्रिय-कामनावाले का दही से अग्निहोत्र करे) में दधिरूप

---

१. 'गुणफलकल्पनायाम्' पाठान्तरेऽयमर्थः—फलाय गुणविधौ यजतेर्विवक्षा नेत्यभिप्रायः, यागस्यानुवादमात्रत्वात् । यथा मुद्रितपाठ एव तन्त्रवार्तिके उपात्तः । अस्य पाठस्यायं भावः—पूर्वं खलु 'चित्रया यजेत' इत्यत्र 'दध्ना जुहोति' वत् केवलगुणविधौ यागानुवाद उक्तः । इह तु दध्नेन्द्रियकामस्येववद् गुणे फलकल्पना क्रियते । तत्रापि यजतेर्विवक्षा नास्ति । 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादिना यागस्य विहितत्वाद् इति ।

२. मत्वर्थलक्षणेति भावः ।

३. अनुपलब्धमूलम् । वाक्यमिदं बहुधा मीमांसका उदाजह्रुः ।

४. तै० ब्रा० २।१।५॥

यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः ॥३॥ (सि०)

यस्मिन् गुणविधिर्नामधेयमिति सन्दिग्धे गुणोऽपर उपदिश्यते, प्रधानेन कर्मणा तस्य सम्बन्धः, कर्मनामधेयमित्यर्थः। गुणविधौ हि सति वाक्यं भिद्येत । पुंपशौ प्राप्ते स्त्रीपशुः, पशवः फलं, चित्रो गुण इति न शक्यमेकेन वाक्येन विधातुम् । चित्रो गुणो विधीयमानः स्त्रियां विधीयेत, नासावग्नीषोमीये पशुकामे च विधीयेत ।[1] सोऽपि नाग्नीषोमीये । तथा पञ्चदशानि आज्यानि भवन्ति इति आज्येषु पञ्चदशता । न चाविहितानि स्तोत्रेष्वाज्यानि भवन्ति। न चान्यद्विविधायकं वाक्यम्,तच्चैतदाज्यानि विदध्याद्,विहितेषु च पञ्चदशताम् । गम्यते च पञ्चदशताया आज्यानां च सम्बन्धः । स्तोत्रसम्बन्धश्चाज्यानामविज्ञातः, पञ्चदशतासम्बन्धश्च । द्वावेतावर्थावेकवाक्यस्याशक्यौ विधातुम् । अथ

गुण में फल की कामना का विधान होने पर जैसे 'यज' की विवक्षा नहीं होती होम का अनुवाद होने से, उसी प्रकार यहां भी अग्नीषोमीयं पशुमालभेत वाक्य से याग के विहित होने से चित्रारूप गुण में फलकामना का विधान होने पर भी 'यज' की विवक्षा नहीं है ।

यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः ॥३॥

सूत्रार्थ—(यस्मिन्) जिस वाक्य में गुणविधि वा नामधेय का सन्देह होवे, और (गुणोपदेश॰) गुण का कथन होवे, उसका (प्रधानतः) प्रधान धात्वर्थ के साथ (अभिसम्बन्धः) सम्बन्ध होता है । अर्थात् कर्म का नाम होता है ।

व्याख्या—जिसमें=गुणविधि वा नामधेयरूप से सन्दिग्ध वचन में अन्य गुण का उपदेश किया जाता है, उसका प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध होता है, अर्थात् वह कर्म का नाम होता है । [ऐसे वचनों में] गुणविधि होने पर वाक्यभेद होवे । [अग्निषोमीयं पशुमालभेत वाक्यानुसार] नर पशु की प्राप्ति में स्त्रीपशु, पशुरूप फल, चित्रनामक गुण, इन सब का एक वाक्य (=चित्रया यजेत पशुकामः) से विधान नहीं किया जा सकता है । विधीयमान चित्रगुण स्त्रीपशु में विधान किया जायेगा, वह अग्नीषोमीय [पशु] में और पशुकाम [फल] में विधान नहीं होगा। और वह भी अग्नीषोमीय [पशुयाग में विधान नहीं होगा । और पञ्चदशान्याज्यानि भवन्ति (=पन्द्रह आज्य होते हैं) आज्य में पञ्चदशता (=पन्द्रहपन) । बिना विधान किये स्तोत्रों में आज्य नहीं होते । और अन्य कोई विधायक वाक्य नहीं है, जो इन आज्यों का विधान करे, तथा विहित [आज्यों] में पञ्चदशता का विधान करे । [पञ्चदश आज्यानि भवन्ति वाक्य में] पञ्चदशता वा आज्यों का सम्बन्ध ज्ञात होता है । आज्यों का स्तोत्रों के साथ सम्बन्ध अज्ञात है, और पञ्चदशता सम्बन्ध भी । इन दो अर्थों (=आज्यस्तोत्र सम्बन्ध और पञ्चदशता सम्बन्ध) का विधान एक वाक्य से अशक्य है । और यदि [आज्य] कर्मनामधेय होवे, तो यह

---

१. स चित्रः कृष्णसारङ्गो नाग्नीषोमीये विधीयेत, इत्येके मन्यन्ते । अस्यार्थस्य पूर्वत्र नाग्नीषोमीये इत्यनेनोक्तत्वात् पशुकामो नाग्नीषोमीये विधीयेत इति सम्बन्धं वयमनुजानीमहे ।

नु कर्मनामधेयम्, नैष विरोधो भवति। केवलं संख्यासम्बन्धस्तदानीं विधीयते। अपि च, आज्यानि स्तोत्राणि इत्यनेन शब्देन लक्षणयैव गुणो विधीयते। अतः कर्मणां नामधेयानि वाक्यान्तरैः 'आज्यैः स्तुवते'; 'पृष्ठैः स्तुवते'[1] इत्येवमादिभिर्विहितानाम्।

यत्त्वप्रसिद्धं कर्मणां नामधेयमिति, अवयवप्रसिद्ध्या—आजिगमनाद्दाज्यानि। कथमाजिगमनमिति? अर्थवादवचनात्। 'यदाजिमीयुस्तदाज्यानामाज्यत्वम्'[2] इति। स्पर्शवचनात् पृष्ठानि[3]। पवमानार्थमन्त्रकत्वाद् 'बहिःसम्बन्धाच्च बहिष्पवमानम्। दधि मधु पयो घृतं धानास्तण्डुला उदकं तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्', इति नानाविधद्रव्यत्वाच्चित्रा। तस्मादेवञ्जातीयकानि कर्मनामधेयानीति।

विरोध नहीं होता है। उस समय (=कर्मनामधेय पक्ष में) केवल [पञ्चदश] संख्या के सम्बन्ध का विधान किया जाता है। और भी—आज्यानि स्तोत्राणि (=आज्य स्तोत्र हैं) इस शब्द से लक्षणा से ही गुण का विधान हो जायेगा। इसलिये आज्यैः स्तुवते (=आज्यों से स्तुति करता है), पृष्ठैः स्तुवते (=पृष्ठों से स्तुति करता है) इत्यादि वाक्यान्तरों से विहितों के कर्मों के नाम हैं।

विवरण—सोऽपि नाग्नीषोमीये—यहां 'सः' पद से क्या ग्राह्य है, यह विचारणीय है। 'सः' पद के पुंल्लिङ्ग होने से पूर्व चित्रो गुणः और पशुकामः शब्दों का सम्बन्ध हो सकता है। चित्रगुण का अग्नीषोमीय में विधान नहीं होगा, यह बात नाग्नीषोमीये से कह दी। अतः यहां पशुकामः पद के सम्बन्ध का अग्निषोमीय पशु में अभाव दर्शाया है॥

व्याख्या—और जो यह कहा है कि कर्मों का नाम अप्रसिद्ध है [सो ठीक नहीं], अवयव की प्रसिद्धि से—आजि (=मर्यादा=सीमा) को प्राप्त होने से आज्य हैं। आजि की प्राप्ति कैसे है? अर्थवादवचन से। यदाजिमीयुस्तदा ज्यानामाज्यत्वम् (=जिस कारण मर्यादा को प्राप्त हुये, इसी कारण आज्यों का आज्यत्व है। स्पर्शवचन से पृष्ठ हैं। पवमान अर्थवाले मन्त्रों से युक्त होने से, और [सदोमण्डप से] बहिर्देश-सम्बन्ध से बहिष्पवमान है। दधि मधु पयो घृतं धानास्तण्डुला उदकं तत्संसृष्टं प्राजापत्यम् [=दधि मधु पयः (=दूध), घृतं, धाना (=खीलें), तण्डुल (=चावल), और उदक, इनसे मिश्रित प्रजापतिदेवतावाली हवि]। इससे नानाविध द्रव्यवाली हवि होने से चित्रा है। इसलिये इस प्रकार के [पद] कर्मों के नामधेय हैं।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. द्र०—ताण्ड्य ब्रा० ७.२।१—यदाजिमायंस्तदाज्यानामाज्यत्वम्।

३. अथ तन्त्रवार्तिके—'तासां वायुः पृष्ठे व्यवर्तत' इति ताण्ड्यवचनम् (७।८।१) उद्धृत्य 'यस्मादपां वायुना पृष्ठे स्पृष्टे रथन्तरादीनि जातानि तस्मात्तानि पृष्ठानि' इत्यर्थवादाद् विज्ञायत इत्युक्तम्। ४. सदोमण्डपाद् बहिर्देशो ज्ञेयः।

५. तैत्तिरीयसंहितायां यस्मिन् प्रकरणे 'चित्रया यजेत पशुकामः' (तै० सं० २।४।६) इति श्रूयते, तत्र 'दधि मधु घृतम्' इत्यादि वचनं नोपलभ्यते। यत्र चैतद् वचनसमकक्षं 'दधि मधु

विवरण—आजिमीयुः—जिस सीमा वा मर्यादा को निश्चित करके धावक लोग दौड़ते हैं, वह 'आजि' कहाती है। 'प्रजापति ने आजि=मर्यादावाले आज्यस्तोत्र की रचना की' यह तात्पर्य इस वाक्य का सायणाचार्य ने दर्शाया है (द्र०—ताण्डच ब्रा० ७।२।१ भाष्य)। **स्पर्शवचनात्**—इस अर्थ में भाष्यकार ने कोई वचन उद्धृत नहीं किया है। ताण्डच ब्रा० ७।८।१ में एक वचन है तासां वायुः पृष्ठे व्यवर्तत। इस वचन को उद्धृत करके भट्ट कुमारिल ने प्रकृत वचन के व्याख्यान में लिखा है—जिस कारण वायु से पृष्ठ=स्पृष्ट में रथन्तर आदि हुये, इस कारण ये पृष्ठ हैं। ऐसा अर्थवाद से जाना जाता है। दूसरे खण्ड में कहा है—तत्पृष्ठेषु न्यदधुः। यह अर्थवादवाक्य वामदेव के सर्वदेवत्य का बोधक है। इसका प्रकरणानुसारी भाव है—यह वाम=धन सब का होवे, इस कारण सब इस धन का भोग करें। इस प्रकार कहने पर उस वामदेव्य धन को रथन्तरादि पृष्ठ-संज्ञक स्तोत्रों पर रख दिया। इस कारण वामदेव सब देवतावाला है (द्र०—सायण भाष्य)। **पवमानार्थमन्त्रकत्वात्**—पवमानार्थका मन्त्रा यस्मिन् तत्=पवमान अर्थवाले मन्त्र हैं, जिस स्तोत्र में वह। **बहिस्सम्बन्धाच्च**—यहां बाह्यत्व सदोमण्डप से अभिप्रेत है। वहिष्पवमान का गान सदोमण्डप से बाहर किया जाता है।

दधिमधु···नानाविधद्रव्यत्वात् चित्रा—इस विषय में पूज्य गुरुवर्य मीमांसक-शिरोमणि श्री पं० चिन्नस्वामीजी शास्त्री ने स्वीय 'तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली' में विस्तृत विचार किया है। उसका सार इस प्रकार है—"**चित्रया यजेत पशुकामः** वचन तै० सं० के द्वितीय काण्ड के चतुर्थ प्रपाठक के षष्ठ अनुवाक में पठित है। उसके अनन्तर ही **प्रैवाग्नेयेन वापयति** इत्यादि से सात हवियों का विधान किया है। उनमें चार चरु हवियां हैं, और तीन पुरोडाश। इस प्रकरण में दधि मधु आदि हवियों का पाठ नहीं है, और नाहीं उन [चरु पुरोडाशरूप सात] हवियों में प्रजापति देवता श्रुत है। इतना ही नहीं, चरु पुरोडाश रूप हवियों के विषय में चित्रात्व की उपपत्ति के लिये कहा है—**यद्वा अस्यां विश्वं भूतमधिप्रजायते, तेनेयं चित्रा** (=यतः इन्हीं हवियों के आधार पर सम्पूर्ण भूत=प्राणी उत्पन्न होते हैं, इससे यह चित्रा है)। इन कारणों से यह **चित्रया यजेत पशुकामः** उदाहरण नहीं हो सकता है। इसी तृतीय प्रपाठक के द्वितीय अनुवाक में **दधि मधु घृतमापो धाना भवन्ति** वचन में दधि आदि पांच हविष्य अन्न कहे हैं। **प्राजापत्यं भवति** कहकर प्रजापति देवता भी कहा है। परन्तु इस प्रकरण में **चित्रया यजेत पशुकामः** वचन का श्रवण नहीं है। इस कारण यह दधि मधु घृतं उदाहरण भी नहीं हो सकता है। मैत्रायणी आदि शाखाओं में भी इस प्रकार के दोनों वाक्य एकत्र संगत उपलब्ध नहीं होते। इसलिये भाष्यकारादि के लेखन-सामर्थ्य से चित्रा के

घृतमापो धाना भवन्ति···प्राजापत्यं भवति' (तै० सं० २।३।६) वचनं पठ्यते, तत्रान्यासामिष्टीनां सम्बन्धः। अपि च शाबरभाष्ये सप्त हवींष्युक्तानि तैत्तिरीयवचने पञ्च हवींषीत्यपि भेदः। न चैतद् वचनमन्यत्रोपलब्धे वैदिकवाङ्मये श्रूयते। द्र०—अस्मद्गुरुवर्याणां चिन्नस्वामिशास्त्रिणां विरचिता 'तन्त्रसिद्धान्तावली', पृष्ठ १७-१८। विशेषः—शाबरभाष्योद्धरणानाम् आकरग्रन्थनां यः कश्चिदपि प्रयत्नष्टिप्पण्यां क्रियते, तत्र यत्र तदुद्धरणं यदि तस्मिंस्थले यथाप्रकरणमुपलभ्यते चेत् तत्तात्रस्थं ज्ञेयम्, अन्यथा उदाहरणस्थलनिर्देशः श्रुतिसामान्यपरो ज्ञेयः।

अथ कस्मान्न पञ्चदशसंख्याविशिष्टानि आज्यानि स्तोत्रकर्मसु विधीयन्ते? विशिष्टानां वाचकस्य शब्दस्याभावात्। ननु पदद्वयमिदं वाचकं भविष्यति। पञ्चदशान्याज्यानीति विशिष्टानाम्। तदेतेषु स्तोत्रेषु विधास्यति। नैतत्पदद्वयमपि विधायकम्। एकमत्र विधायकम्, एकमुद्देशकम्। उभयस्मिन् विधायके परस्परेण सम्बन्धो न स्यात्। अविधायके स्तोत्रसम्बन्धो न विधीयते। न चात्रैकं पदं, विशेषणं प्रति उद्देशकं, स्तोत्रं प्रति विधायकं भवितुमर्हति। वचनव्यक्तिभेदाद्।अतोऽयमसमाधिः॥३॥ इति चित्रादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्॥२॥

प्रकरण में ही दधि मधु आदि सप्त हवि विशिष्ट वाक्य किसी शाखान्तर में पढ़े गये थे, यह अनुमान करना चाहिये" (द्र०—तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली, पृष्ठ १७-१८)।

विशेष चेतावनी—पूज्य गुरुवर के उक्त लेख से यह स्पष्ट है कि भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचनों के जो मूलस्थान का निर्देश आधुनिक जन (इसमें हम भी सम्मिलित हैं) करते हैं, वह सर्वत्र संगत नहीं है। इसलिये भाष्यकारीय उदाहरणों के जो पते दिये गये हैं, उन्हें पूर्वापर के प्रसङ्ग को देखकर उनकी यथार्थता जाननी चाहिये। जिन उदाहरण वाक्यों का पाठ भाष्यकारोक्त अभिप्राय के सर्वथा अनुरूप तत्तत्स्थानों पर उपलब्ध होवे, उन्हें उस रूप में समझें। जहां पूर्वापर प्रसङ्ग भाष्यकार के अनुरूप न होवे, उन्हें तुलनात्मक पाठस्थल-निर्देश के रूप में ग्रहण करें॥

व्याख्या—(आक्षेप) क्यों नहीं पञ्चदश-संख्या-विशिष्ट 'आज्य' स्तोत्रकर्मों[1] में विधान किये जाते? (समाधान) [पञ्चदश-संख्या]-विशिष्ट [आज्यों] के वाचक शब्द का अभाव होने से। (आक्षेप) पञ्चदशानि आज्यानि ये दो पद [पञ्चदश-संख्या]-विशिष्ट [आज्यों] के वाचक हो जायेंगे। यह पदद्वयसमूह [पञ्चदशसंख्याविशिष्ट आज्यों का] इन स्तोत्रों में विधान करेगा। (समाधान) ये दो पद भी विधायक नहीं हैं। [इनमें] एक यहां विधायक है, और एक उद्देशक [अर्थात् आज्यों को उद्देश करके पञ्चदशानि पद [पञ्चदश संख्या का] विधायक है]। दोनों के विधायक होने पर [इनका] परस्पर सम्बन्ध नहीं होगा। अविधायक होने पर स्तोत्र के सम्बन्ध का विधान नहीं होगा। यहां एक [पञ्चदशानि] पद उद्देशक (=आज्यों) के प्रति विशेषण और स्तोत्रों के प्रति विधायक नहीं हो सकता, दोनों वचनों के व्यक्तिभेद (=स्वरूपभेद) होने से। इसलिये यह समाधान नहीं है॥३॥

विवरण—विशिष्टानां वाचकस्य शब्दस्याभावात्—इसका तात्पर्य यह है कि पञ्चदशान्याज्यानि में प्रधान आख्यात का उच्चारण न होने से पञ्चदशसंख्याविशिष्ट स्तोत्रों का विधान नहीं हो सकता। **ननु पदद्वयम्**—'भवति' क्रियासामान्य के सम्बन्ध से पञ्चदशसंख्याविशिष्ट स्तोत्रों का विधान हो जायेगा, यह पूर्वपक्षी का आशय है। **नैतत् पदद्वयमपि विधायकम्**—प्रधान विधायिका लिङादि क्रिया विशेषणों को संगृहीत कर लेती है, सत्तामात्र वाचिका भवति क्रिया का प्रत्येक के साथ (=पञ्चदशानि भवन्ति, आज्यानि भवन्ति रूप में) सम्बन्ध होने से समुदायरूप वाक्य में

---

१. स्तोत्र—गीतमन्त्र (साम) द्वारा देवतादि के गुणों का कथन स्तोत्र कहाता है। शस्त्र—गान बिना ऋक् मन्त्र द्वारा देवतादि के गुणों का प्रकाशन शस्त्र कहाता है।

[अग्निहोत्रादिशब्दानां यागनामधेयताधिकरणम्, तत्प्रख्याधिकरणं वा ॥३॥]

अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः[1] इति; आघारमाघारयति[2] इति च समामनन्ति । तत्र संशयः—किमग्निहोत्रशब्द आघारशब्दश्च गुणविधी, उत कर्मनामधेये इति ? गुणविधी इति ब्रूमः । कुतः ? गम्यते हि 'अग्नये होत्रमस्मिन्' इति । तथा क्षरणसमर्थं द्रव्यं घृतादि, आघारमाघारयति इति । प्रसिद्धिरेवमनुग्रहीष्यते । गुणविधिश्च दर्विहिमे, आघारश्चोपांशुयाजे । तत्रैतयोरर्थवत्ता, प्रवृत्तिविशेषकरत्वञ्च । न च गुणविधिपक्षे लक्षणा भवति, यथा उद्भिदा यजेत[3] इति । अग्निहोत्रे समासेनावगतं गुणविधानम् । आघारेऽपि 'आघारं निर्वर्त्तयति' इति श्रुत्यैव गुणो विधीयते । तस्माद् गुणविधी । इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

सम्बन्ध नहीं होता है । अतः पञ्चदशानि और आज्यानि का परस्पर सम्बन्ध न होने से इतना ही अर्थ जाना जायेगा—कोई पञ्चदश होते हैं, आज्य भी जितने हैं, उतने होते हैं । इसलिये ये दोनों पद भी विधायक नहीं हैं । वचनव्यक्तिभेदात्—एक आज्यानि पद के विशेषण के प्रति उद्देशक होने पर वचनव्यक्ति (=वचन-स्वरूप) होगी—आज्यान्युद्दिश्य पञ्चदशत्वं विधीयते । स्तोत्र के प्रति आज्यानि के विधायक होने पर वचनव्यक्ति होगी—स्तोत्राण्युद्दिश्य आज्यानि विधीयन्ते ॥३॥

व्याख्या—अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः (=स्वर्ग की कामनावाला अग्निहोत्र होम करता है); आघारमाघारयति (=आघार को आघारित करता है) ऐसा पढ़ते हैं । उनमें संशय है—क्या अग्निहोत्र शब्द और आघार शब्द गुण की विधियां हैं, अथवा कर्म के नाम हैं ? गुण की विधियां हैं । कैसे ? ['अग्निहोत्र' शब्द से] 'अग्नि के लिये होत्र=होम जिसमें' ऐसा अर्थ जाना जाता है । [इससे देवतारूप गुण का विधान जाना जाता है ।] तथा आघारमाघारयति से क्षरण (=टपकने में) समर्थ द्रव्य घृतादि [का विधान जाना जाता है] । इस प्रकार प्रसिद्धि अनुगृहीत होगी । [अग्निदेवतारूप] गुण का विधान दर्विहोम में, और आघार (घृतरूप) [गुण का विधान] उपांशुयाज में होगा । वहां इनकी प्रयोजनवत्ता है [क्योंकि दर्विहोम में देवता का, और दर्शपौर्णमासान्तर्गत उपांशुयाग में द्रव्य का निर्देश नहीं है], और प्रवृत्तिविशेष का करनेवाला भी होगा । गुणविधि पक्ष में, जैसे उद्भिदा यजेत में, [मत्वर्थ]लक्षणा होती थी, वैसी लक्षणा नहीं होती । 'अग्निहोत्र' शब्द में [अग्निदेवतारूप] गुण का विधान समास (=अग्नये होत्रं होमो यस्मिन्) से जाना जाता है । और आघार में भी 'आघार को निष्पन्न करता है' इस श्रुति से ही गुण का विधान किया जाता है । इसलिये ये गुण की विधियां हैं । ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

---

१. द्र०—'अग्निहोत्रं जुहोति' । तै० सं० १।५।९॥

२. तै० सं० २।५।११; तै० ब्रा० ३।३।७॥ ३. ताण्ड्य ब्रा० १९।७।३॥

तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम् ॥४॥ (सि०)

तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम् । यौ गुणावेताभ्यां विधीयते इत्याशङ्क्यते, तावन्यत एवावगतौ । यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति[1] इति देवताविधानम्; चतुर्गृहीतं वा एतदभूत्स्याघारमाघार्य[2] इत्याघारे च द्रव्यविधिः । अविदितवेदनञ्च विधिरित्युच्यते । विदितं चात्रान्यतो गुणविधानम् । तस्मान्न गुणविधी, कर्मनामधेये तु सम्भवतः । यस्मिन्नग्नये होत्रं होमो भवति, तदग्निहोत्रम् । दीर्घधारा क्षरणक्रिया प्रसिद्ध एवाघारः । तस्मात् कर्मनामधेये । प्रसिद्ध्यादयश्चोक्तोत्तराः । प्रजापतिनिवृत्त्यर्थमग्निविधानं भविष्यतीति चेत्, नैतदेवम् । अग्निं ह्येष विधातुं शक्नोति,न प्रजापतिं प्रतिषेद्धुम् । प्रतिषिद्ध्यमानस्य च प्रजापतेर्विधानमनर्थकं स्यात् । प्रजापतिर्देवतेति गम्यते । गम्यमानं च न शक्यं मिथ्येति कल्पयितुम् । अतोऽयमसमाधिः ।

विवरण——'अग्निहोत्र' शब्द पर कई विवाद हैं । होत्र शब्द कर्मसाधन है, अथवा भावसाधन । इसी प्रकार भट्टोजिदीक्षित वा नागेशादि का मत है कि 'अग्निहोत्र' शब्द कर्मनाम नहीं है । इन सब की विवेचना प्रकृतसूत्र के भाष्य की व्याख्या के अन्त में करेंगे ।

तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम् ॥४॥

सूत्रार्थ—(तत्प्रख्यम्) अग्निहोत्र में अग्निदेवतारूप गुण और आघार में घृत द्रव्यरूपी गुण का प्रख्यापन करनेवाला (अन्यशास्त्रम्) अन्य शास्त्र है । अतः ये कर्मनाम हैं ।

व्याख्या——उसको कहनेवाला अन्य शास्त्र है । जो गुण इन [अग्निहोत्र तथा आघार-विषयक वचनों] से विधान किये जाते हैं, ऐसी शङ्का की जाती है, वे गुण अन्यतः (=दूसरे वचनों से) ही जाने गये हैं । यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति (=जो अग्नि के लिये और प्रजापति के लिये सायं होम किया जाता है) से देवता का विधान; और चतुर्गृहीतं वा एतदभूत् तस्याघारमाघार्य (=यह चार बार करके गृहीत आज्य था, उससे आघार का आघरण करके) से आघार में द्रव्य का विधान किया जा चुका है । अविदित अर्थ का बोधन कराना 'विधि' कहाती है । यहां अन्य वचनों से गुण का विधान विदित है । इसलिये ये गुणविधियां नहीं हैं, कर्मनाम तो हो सकते हैं । जिसमें अग्नि के लिये होत्र=होम होता है, वह 'अग्निहोत्र' कहाता है । दीर्घ धारावाली प्रसिद्ध क्षरणक्रिया ही आघार है । इसलिये ये कर्म के नाम हैं । प्रसिद्धि और प्रवृत्तिविशेषकरत्व के उत्तर दे चुके हैं (क्रमशः सूत्र २–३) । यदि कहो कि—प्रजापति-देवता की निवृत्ति के लिये अग्नि [देवतारूप गुण] का विधान होगा, तो ऐसा नहीं हो सकता । यह अग्नि का विधान तो कर सकता है, प्रजापति का निषेध (=निवृत्ति) नहीं कर सकता । [क्योंकि] प्रतिषिध्यमान प्रजापति का विधान अनर्थक होवे । प्रजापति देवता हैं, यह [यदग्नये प्रजापतये च सायं जुहोति वचन से] जाना जाता है । जो अर्थ वचन से गम्यमान होता है, उसको 'यह मिथ्या है' ऐसी कल्पना नहीं कर सकते । इसलिये यह समाधान ठीक नहीं है ।

---

१. द्र०—मै० सं० १।८।७।। २. अनुपलभ्यमूलम् ।

उच्यते, आघारमाघारयति इति द्रव्यपरा चोदना । **यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते**[1] इति । द्रव्यं ह्यनया क्रियया क्षार्यते । क्षारितं च यागं साधयति । तत्कस्य प्रधानस्य कर्मणो नामधेयमिति ? उच्यते, एतदेवाघारणं प्रधानकर्म । नन्वस्य द्रव्यदेवतं नास्ति । अस्तीति ब्रूमः । तस्याघारमाघार्य इत्याज्यं द्रव्यम्, मान्त्रवर्णिकी देवता। **[इत] इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वरःइत्याघारमाघारयति**[2] इति मन्त्रो ह्यभिदधत् कर्म तत्साधनं वा कर्मणि समवैति । एष च मन्त्र

विवरण—चतुर्गृहीतं वा एतद् अभूत्—आज्यस्थाली से ध्रुवा-संज्ञक स्रुक् में स्रुवा से एक-एक स्रुव करके चार बार आज्य लेकर रखा जाता है । प्रत्येक आहुति के लिये इसी ध्रुवा से घृत लिया जाता है । जितने स्रुव घृत लिया जाता है, उतना घृत आज्यस्थाली से ध्रुवा में छोड़ा जाता है ।[3] यह सामान्य नियम है । इसलिये ध्रुवा में घृत पूरे परिमाण में बना रहता है । जो केवल घृताहुति होती है, उसके लिये चतुरवत्तं जुहोति वचन के अनुसार चार बार करके चार स्रुवा घृत ध्रुवा से लिया जाता है । यही चतुरवत्त घृत आघार के लिये भी है । उसी से आघार-आहुति दी जाती हैं। आघार-आहुतियां दो होती हैं, ये पूर्वाघार और उत्तराघार कहाती हैं । ये दक्षिण और उत्तर में दी जाती हैं । इन आहुतियों के देने का प्रकार श्रौतसूत्रकारों के भेद से विविध प्रकार का है । कहीं ये कुण्ड के दक्षिण और उत्तर में पश्चिम से पूर्व तक सीधे रूप में दी जाती हैं, और कहीं पश्चिम-उत्तर कोण से दक्षिण-पूर्व कोण तक, यथा दक्षिण पश्चिम कोण से उत्तरपूर्व कोण तक । **दीर्घधारा क्षरणक्रिया**—प्रायः आहुतियां अग्नि में एक स्थान पर ही दी जाती हैं । आघार की आहुतियां लम्बे आकार में एक कोण से दूसरे कोण तक दी जाती है, और मध्य में टूटे नहीं, इसलिये घृत की धारा स्थूल होती है । यह घृतधारा सीधी होनी चाहिये, और मध्य में टूटनी नहीं चाहिये ॥

व्याख्या—(आक्षेप) आघारमाघारयति यह चोदना द्रव्यपरक है । यह यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते (=जिस से द्रव्य की चिकीर्षा =करने की इच्छा होती है) इस वचन (मी० २।१।७[1]) से जाना जाता है । इस (=आघारयति) क्रिया से [घृत] द्रव्य गिराया जाता है । और यह गिराया हुआ घृत द्रव्य याग को सिद्ध करता है । तो फिर यह किस प्रधानकर्म का नाम होगा ? (समाधान) कहते हैं, यह अवघारण (=घृत को गिराना) ही प्रधान कर्म है । (आक्षेप) इस कर्म का द्रव्य और देवता नहीं है [बिना द्रव्य-देवता के यागकर्म सम्पन्न नहीं होता है] । (समाधान) [द्रव्य और देवता] हैं, ऐसा हम कहते हैं । तस्य आघारमाघार्य (=उस चतुर्गृहीत आज्य का आघारकर्म करके) इससे आज्य द्रव्य है, और मन्त्र में वर्णित देवता है । [इत] इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वर से आघार का आघरण करता है, से कर्म अथवा कर्मसाधन का कथन करता हुआ मन्त्र कर्म के साथ संयुक्त होता है । और यह

---

१. मी० २।१।८॥ २. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—तै० सं० १।१।१२; आप० श्रौत २।१४।१॥

३. स्रुवेणाज्यस्थाल्या आज्यमादायाऽऽदाय तां ध्रुवां घृतेनावह्रायावदाय ध्रुवामाप्याययतीति, सार्वत्रिकम् । आप० श्रौत २।१२।९॥

इन्द्रमभिधातुं शक्नोति । स यदीन्द्रस्तत्साधनं भवेद्, एवमनेन मन्त्रेणाघारः शक्यते कर्तुम् । तस्मादिन्द्रो देवता । द्रव्यदेवतासंयुक्तमाघारणम् । तस्माद् यजतिः । तस्य यजतेर्नामधेयमिति ॥४॥ इत्यग्निहोत्रादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम् ॥३॥ तत्प्रख्यन्यायः ॥

मन्त्र इन्द्र देवता का कथन कर सकता है । यदि वह इन्द्र उस कर्म का साधन होवे, तो इस प्रकार इस मन्त्र से आघार किया जा सकता है । इसलिये [आघारकर्म का] इन्द्र देवता है । द्रव्य और देवता से संयुक्त आघारण कर्म है । इससे यह 'यजतिः' (=याग) है । उस याग का [आघार] नाम है ॥४॥

विवरण—[इत]इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वरः यह दो मन्त्रों की प्रतीकें हैं । यहां भाष्यपाठ में इन्द्र से पूर्व 'इतः' शब्द त्रुटित हो गया है (द्र०—तै० सं० १।१।१२) । यही पाठ आगे मी० २।२।१६ के भाष्य में भी उद्धृत है । वहां भी [इतः] पद त्रुटित है । **तस्माद् यजतिः**—द्रव्यं देवता त्यागः (कात्या० श्रौत १।२।२) वचन के अनुसार द्रव्य देवता और त्याग के समुच्चय का नाम, अर्थात् देवतोद्देश से द्रव्य का त्याग याग=यज्ञ कहाता है । यहां द्रव्य=घृत,देवता=इन्द्र,और आघारण=टपकाना छोड़ना का समुच्चय होने से आघारयति क्रिया का अर्थ 'याग' है ॥४॥

'अग्निहोत्र' पद पर विचार—अग्निहोत्र में तीन विचारणीय विषय हैं—(१) 'होत्र' शब्द कर्मसाधन है, वा भावसाधन, (२) अग्निहोत्र पद में समास और समासस्वर, (३) वैयाकरणों द्वारा कर्मनामधेयत्व में उपस्थापित आशङ्का । इन विषयों पर क्रमशः विचार करते हैं—

'होत्र' शब्द - इस शब्द में हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् (उ० ४।१६९) से हु दानादानयोः धातु से त्रन् प्रत्यय होता है । यह कर्म वा भाव दोनों में हो सकता है । वैयाकरण प्रायः कर्म में प्रत्यय मानते हैं हूयत इति होत्रम् आहुतिः । मीमांसक भाव में प्रत्यय स्वीकार करते हैं । द्र०—इसी सूत्र की कुतुहलवृत्ति तथा मीमांसाकौस्तुभ पृष्ठ २०९ (चौखम्बा सं०) । मीमांसकपक्ष ही इस विषय में युक्त है । कर्मसाधनपक्ष में अग्निहोत्र पद में बहुव्रीहिसमास स्वीकार करना पड़ता है, जबकि 'अग्निहोत्र' शब्द में तत्पुरुषसमास का अन्तोदात्तत्व देखा जाता है ।

अग्निहोत्र में समास वा स्वर—भाष्यकार शबरस्वामी ने पूर्वपक्ष में अग्नये होत्रमस्मिन् विग्रह द्वारा बहुव्रीहिसमास दर्शाया है । बहुव्रीहि मानने पर मत्वर्थलक्षणा आश्रित नहीं करनी पड़ती है, वह मत्वर्थ बहुव्रीहि से प्राप्त हो जाता है (द्र०—तन्त्रवार्तिक)। शबरस्वामी ने सिद्धान्तपक्ष में भी यस्मिन्नग्नये होत्रं होमो भवति द्वारा बहुव्रीहिसमास ही स्वीकार किया है । बहुव्रीहिपक्ष में होत्रकर्म साधन होता है । बहुव्रीहिसमास में बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अष्टा० ६।२।१) से पूर्वपदप्रकृतिस्वर (='अग्नि' का अन्तोदात्तत्व) होना चाहिये । परन्तु 'अग्निहोत्र' शब्द वैदिकवाङ्मय में अथर्व (=शौनक) संहिता ६।९७।१ को छोड़कर सर्वत्र अन्तोदात्त देखा जाता है । अथर्व ६।९७।१—अभ्यहं विश्वाः पृतना यथा सान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः में अग्निहोत्रा पद में पूर्वपद प्रकृतिस्वर है । अतः यहां बहुव्रीहिसमास है, यह स्पष्ट है । वयमग्निहोत्रा इदं हविः

विधेम (=अग्नि के लिये वा अग्नि में होत्र=होम जिनका है, ऐसे हम लोग इस हवि से परिचर्या करते हैं) यहां विधेम का कर्ता अग्निहोत्राः है। इस प्रकार स्वरभेद=पूर्वपदप्रकृतिस्वर तथा समासान्तोदात्तत्व दोनों के दर्शन से स्पष्ट है कि सामान्यतया प्रयुक्त 'अन्तोदात्त अग्निहोत्र' शब्द में तत्पुरुष समास ही है। यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वर का दर्शन न होता, तो कथंचित् बहुव्रीहिस्वर में परादिश्च परान्तश्च (महा० ६।२।१९९) श्लोक वार्तिक के अनुसार पूर्वपदप्रकृतिस्वर की बाधा मान सकते थे। परन्तु पूर्वपदप्रकृतिस्वरवाले अग्निहोत्र पद के श्रवण से यह कल्पना उपपन्न ही नहीं होती। इसलिये अग्नये होत्रम्=अग्निहोत्रम् इस प्रकार ही शब्दार्थ जानना चाहिये। चतुर्थीसमास प्रकृति-विकृति-वाचक शब्दों का ही होता है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ९ का विवरण)। अतः अग्नये होत्रम् यह विग्रह न होकर अर्थनिर्देश है। समास यहां अग्नेर्होत्रम्=अग्निहोत्रम् ऐसा ही जानना चाहिये (द्र०—पूर्व पृष्ठ ९ का विवरण)। कुतुहलवृत्तिकार ने यहां सुप् सुपा (अष्टा० २।१।४) से समास का निर्देश करके लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः वार्तिक की व्याख्या धर्माय नियमो धर्मनियमः (महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १) को उद्धृत करके चतुर्थीसमास स्वीकार किया है, और उसमें कैयट आदि व्याख्याकारों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। यह सब चिन्त्य है, अविचारितरमणीय है। कैयट ने चतुर्थीसमास न मानकर षष्ठी-समास स्वीकार किया है। उसका यह कथन है—चतुर्थ्या तादर्थ्यं प्रतिपाद्यते। सम्बन्धसामान्ये तु षष्ठीं विधाय समासः कर्तव्यः, चतुर्थीसमासस्य प्रकृतिविकारमात्र एव विधानात्। प्रतीत होता है कुतुहलवृत्तिकार ने कैयट के प्रदीप-व्याख्यान को बिना देखे ही चतुर्थीसमास में कैयट की सम्मति उद्धृत कर दी।

अग्निहोत्र का कर्मनामधेयत्व—भट्टोजिदीक्षित तथा नागेश भट्ट प्रभृति वैयाकरणों ने तृतीया च होश्छन्दसि (अष्टा० २।३।३) सूत्र की व्याख्या में अग्निहोत्र शब्द को हवि अर्थवाला माना है। इसमें 'यस्याग्निहोत्रमधिश्रितममेध्यमापद्यते' इत्यादि श्रुति को उदाहृत किया है। अग्निहोत्र का अग्नि पर अधिश्रयण और अमेध्य होना हवि अर्थ में ही सम्भव है। इस अर्थ में अग्नये हूयते व्युत्पत्ति दर्शाई है। प्रकृत सूत्र से कर्म में द्वितीया और तृतीया का विधान होता है—यवागूमग्निहोत्रं जुहोति, यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति। प्रथम उदाहरण में 'अग्निहोत्र' शब्द को हवि अर्थवाला मानने पर विशिष्ट हविवाचक यवागू शब्द का समान विभक्ति होने पर सामानाधिकरण्य उपपन्न हो जाता है। परन्तु द्वितीय उदाहरण में यवाग्वा तृतीयान्त का अग्निहोत्रम् द्वितीयान्त के साथ सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता। इस दोष को हटाने के लिये भट्टोजीदीक्षित ने लिखा है—'विरुद्धार्थकविभक्त्य-नवरुद्धत्वात् नामार्थयोरभेदेनान्वयः—यवाग्वाख्यं हविरग्नौ देवतोद्देशेन प्रक्षिपतीत्यर्थः (शब्द-कौस्तुभ २।३।३)। विरुद्ध अर्थवाली विभक्तियों के भी अवरुद्ध न होने से नाम (=यवागू) और अर्थ (=हवि) का अभेद से अन्वय होता है—यवागू नामक हवि को देवता के उद्देश से अग्नि में छोड़ता है।' इसी प्रकार नागेश भट्ट ने भी महाभाष्य २।३।३ के उद्योत में लिखा है, और पाणिनीय स्मृति के द्वारा जैमिनीय न्याय की बाधा को उचित ठहराया है। भगवान् महाभाष्य-कार ने अग्निहोत्र के अग्नि और हवि अर्थ, तथा जुहोति के प्रीणन और प्रक्षेपण अर्थ मानकर

पाणिनीय सूत्र का खण्डन करके तृतीया और द्वितीया विभक्ति के यथाश्रुत करण तथा कर्म अर्थ करके अर्थ किया है—**यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति**=यवागू से अग्नि को तृप्त करता है, तथा **यवागूः अग्निहोत्रं जुहोति**=यवागुसंज्ञक हवि को अग्नि में छोड़ता है।

हमारे विचार में 'अग्निहोत्र' शब्द कर्मनाम ही है। कर्मनाम के रूप में इसका वैदिक-वाङ्मय में बहुधा प्रयोग मिलता है। यथा—(१) **स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपौर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुः सोमः** (ऐ० ब्रा० २।३।३)। इस वचन में अन्य दर्शपौर्णमास आदि याग-नामधेयों में अग्निहोत्र का उल्लेख होने से 'अग्निहोत्र' याग का नाम है। (२) **दीर्घसत्रं वा एत उपयन्ति येऽग्निहोत्रं जुह्वति** (शत० १२।४।१।१)। इस वचन में भी अग्निहोत्र को दीर्घसत्र कहा है, सत्र कर्मविशेष का नाम है। अतः इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'अग्निहोत्र' कर्म नाम ही है।

अब अन्य अर्थों पर विचार करना चाहिये। भट्टोजीदीक्षित ने 'हवि' नाम में जो वचन लिखा है—**यस्याग्निहोत्रमधिश्रितममेध्यमापद्येत**, इसमें अग्निहोत्र शब्द साहचर्यलक्षणा से अग्निहोत्रकर्म की हवि का वाचक है। हवि ही मुख्यार्थ है, इसमें कोई ऐसा प्रमाण देना चाहिये, जो अकाट्य हो। इसी प्रकार महाभाष्यकार ने 'अग्निहोत्र' शब्द के अग्नि अर्थ के लिये प्रयोग दिया है—**अग्निहोत्रं प्रज्वलितम्**। इसमें भी मुख्यार्थ के अनुपपन्न होने पर साहचर्यलक्षणा से 'अग्निहोत्र' शब्द अग्निहोत्र सहचरित 'अग्नि' अर्थ जाना जाता है। अतः अग्निहोत्र के कर्मनामधेयत्व में कुछ भी बाधा नहीं है।

अब विचारणीय यह रहता है कि सायंकाल में अग्नि और प्रातः सूर्य देवता होने पर, तथा शाखान्तर में सायं अग्नि और प्रजापति और प्रातः सूर्य और प्रजापति के देवता[1] होने पर अग्निहोत्र कर्मनामधेय कैसे हुआ? इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि सायं प्रातः दोनों काल का मिलकर एक अग्निहोत्र होता है। उसमें भी प्रातः सायं क्रम नहीं है, सायं प्रातः क्रम है, अर्थात् अग्निहोत्र का पूर्वार्ध सायंकाल में होता है, और उत्तरार्ध अगले दिन प्रातः। वेद में भी प्रथम सायमग्निहोत्र के मन्त्र पठित हैं, पश्चात् प्रातः के (द्र०—यजु० ३।१०)। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि वेद में जहां भी जगत् के सर्ग का उल्लेख है, वहां प्रथम प्रलयकाल का वर्णन मिलता है, पश्चात् सर्ग का। यथा नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१२९), अघमर्षण सूक्त (ऋ० १०।१९०)। विना प्रलय के निर्देश के सर्ग का वर्णन हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी वर्तमान सर्गस्थ मानवों के सामाजिक धर्मों (=नियमों) का जो वर्णन किया है, उसमें भी सर्ग से पूर्व प्रलयावस्था का वर्णन मिलता है (द्र०—मनु० अ० १)। इसी नियम के अनुसार अग्निहोत्र कर्म का पूर्वार्ध सायं अग्निहोत्र, और उत्तरार्ध प्रातः अग्निहोत्र माना गया है। सायं अग्निहोत्र में अग्नि देवता है। उसमें उसी के लिये होम किया जाता है। अतः पूर्ण कर्म का नाम आदिदेवता की दृष्टि से 'अग्निहोत्र' नाम रखा गया है। अग्नि में होम करने से अग्निहोत्र नाम नहीं है, क्योंकि

---

१. अग्नये च प्रजापतये च सायम्, सूर्याय च प्रजापतये च प्रातः। मै० सं० १।८।७॥

अथैष श्येनेन अभिचरन् यजेत[1]; **अथैष सन्दंशेन अभिचरन् यजेत**[2]; **अथैष गवाऽभिचरन् यजेत**[3] इति समाम्नायन्ते। तत्र गुणविधिः, कर्मनामधेयमिति सन्देहः। प्रसिद्ध्यादिभिः पूर्वपक्ष उद्भिदादीनामिव। ते तूद्भिदादयः क्रियानिमित्ताः शक्नुवन्ति यागं वदितुम्। इमे पुनर्जातिनिमित्ता न शक्नुवन्ति। तेन गुणविधय इत्येवं प्राप्तम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

सभी याग अग्नि में ही सम्पन्न होते हैं। इसलिये दोनों समय के अग्निहोत्र के अग्नि और सूर्य देवता में प्रथम अग्निदेवता है। एकदेशलक्षणा से अग्निहोत्र नाम उभयकालिक कर्म का नाम है। शाखान्तर में अग्नि और सूर्य के साथ प्रजापति भी देवता है, परन्तु उसके दोनों काल में होने से प्रजापति सामान्य है। अग्नि और सूर्य ही प्रधान देवता हैं।

व्याख्या—अथैष श्येनेनाभिचरन् यजेत (=यह [शत्रु का नाश करने की इच्छावाला] अभिचार कर्म करता हुआ 'श्येन' याग से यजन करे); अथैष सन्दंशेन अभिचरन् यजेत (=यह अभिचार कर्म करता हुआ 'सन्दंश' याग से यजन करे); अथैष गवाऽभिचरन् यजेत (=यह अभिचार कर्म करता हुआ 'गो' याग से यजन करे) इत्यादि वचन पढ़ते हैं। इनमें [श्येन-सन्दंश-गो] गुणविधि हैं, अथवा कर्म के नाम, यह सन्देह है। प्रसिद्धि आदि से पूर्वपक्ष उद्भिद् आदि के समान जानना चाहिये। वे उद्भिद् आदि शब्द क्रियानिमित्तावाले (=उद्भेदन आदि क्रिया को निमित्त मानकर प्रवृत्त हुये) याग को कह सकते है (=याग के नाम बन सकते हैं)। परन्तु ये [श्येन-सन्दंश-गो शब्द] जातिनिमित्तवाले (=जाति को निमित्त मानकर प्रवृत्त हुये) [याग को] नहीं कह सकते। इसलिये गुणविधि हैं, यह प्राप्त हुआ। ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

विवरण—अभिचरन्—शत्रु आदि को मारने के लिये जो कर्म किया जाता है, वह अभिचार कर्म कहाता है। अभिचार के कई उपाय होते हैं। सामने ललकार कर शस्त्र आदि से मारना, गुप्तरूप से स्वयं वा किसी से मरवाना आदि। उन्हीं में से एक कर्म 'अभिचार' याग भी एक उपाय है। यह यागरूप होता हुआ भी अनर्थ=अधर्म है, यह भाष्यकार शबरस्वामी ने मी० १।१।२ के भाष्य (पृष्ठ १५) में कहा है। इस विषय में पृष्ठ १६ का 'विवरण' भी देखें। प्रसिद्ध्यादिभिः—यहां आदि शब्द से १।४।१ के भाष्य में उक्त अर्थवान् होना, और प्रवृत्तिविशेष के करनेवाले होना हेतुओं का संग्रह जानना चाहिये। क्रियानिमित्ताः—उद्भिद् आदि शब्दों की क्रियानिमित्तता १।४।२ के भाष्य में देखें। जातिनिमित्ताः—श्येन (=पक्षीविशेष); सन्दंश (=संडासी); गो (=गो पशु) ये शब्द जातिवाचक होने से जातिनिमित्त हैं। गुणविधयः—अभिचारकर्म के लिये जो याग किया जाये, उसमें श्येन पक्षी, सन्दंश (=संडासी) और गो पशु का याग के साधनरूप से विधान करना, यहां गुणविधि है, ऐसा तात्पर्य जानना चाहिये।

---

१. द्र०—षड्विंश ब्रा० ३।८।१॥ २. द्र०—षड्विंश ब्रा० ३।१०।१॥ ३. अनुपलब्धमूलम्।

तद्व्यपदेशं च ॥५॥ (सि०)

तद्व्यपदेशञ्च। तेन श्येनादिना प्रसिद्धेन यस्य व्यपदेशः, तच्च कर्मनामधेयम्। श्रुतिर्हि नामधेयत्वे, लक्षणा गुणविधौ। यत्तु जातिशब्दा इमे, न यागमभिवदन्तीति। सादृश्यव्यपदेशादभिवदिष्यन्ति। एवं हि व्यपदेशो भवति—**यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते, यमभिचरन्ति श्येनेन**[1] इति। निपत्यादत्ते इत्यनेन सादृश्येन श्येनशब्दो यागे। यथा सिंहो देवदत्त इति। तस्मात् कर्मनामधेयम्। सन्दंशे—[2]**यथा सन्दंशेन दुरादानमादत्ते**[3] इति। गवि—**यथा गावो गोपायन्ति**[4] इति। तस्मात् सन्दंशशब्दोऽपि कर्मनामधेयं, गोशब्दोऽपि ॥५॥ **इति श्येनादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्** ॥४॥ तद्व्यपदेशन्यायः ॥

तद्व्यपदेशं च ॥५॥

सूत्रार्थ—(च) और (तद्व्यपदेशम्) उन=श्येन आदि का कथन नामधेय में निमित्त है।

व्याख्या—और उन (=श्येनादि) का व्यपदेश (=कथन) [नामधेय में निमित्त है]। उस श्येनादि प्रसिद्ध शब्द से जिसका कथन है, वह (=श्येनादि शब्द) कर्म का नाम है। [कर्म का] नाम मानने पर श्रुति (=मुख्यार्थ) का ग्रहण होता है, और गुणविधि मानने पर लक्षणा (=लाक्षणिक अर्थ होता है)। और जो यह कहा है कि ये [श्येनादि] शब्द जातिवाचक शब्द हैं, याग को नहीं कहते [यह ठीक नहीं है], सादृश्य के कथन से [याग का] कथन करेंगे। इस प्रकार से कथन होता है—यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते, यमभिचरन्ति श्येनेन **(=जैसे बाज पक्षी को झपट्टा मारकर पकड़ता है, वैसे ही यह श्येनयाग द्वेष करनेवाले शत्रु को झपट्टा मारकर पकड़ लेता है, अर्थात् शत्रु को प्राणों से वियुक्त कर देता है, जिसके लिये अभिचार कर्म करते हुए श्येनयाग से यजन करते हैं)। 'झपट्टा मारकर पकड़ता है' इस सादृश्य से श्येनशब्द याग में व्यवहृत होता है। जैसे—'देवदत्त सिंह है' [में सिंह शब्द पराक्रम आदि सादृश्य से देवदत्त में व्यवहृत होता है]। इसलिये यह [श्येन] कर्म का नाम है। सन्दंश में—**यथा सन्दंशेन दुरादानमादत्ते**(=जैसे संडासी से कठिनाई से पकड़ने योग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं [वैसे कठिनाई से निग्रह में आनेवाले द्वेष करनेवाले शत्रु को सन्दंश याग से पकड़ते=मारते हैं])। गो में—**यथा गावो गोपायन्ति**(=जैसे गौवें अपने वत्सादि की हिंसक प्राणियों से रक्षा करती हैं [वैसे गोयाग से अभिचार करनेवाले यजमान की गोयाग रक्षा करता है])। इस कारण संदंश शब्द भी कर्म का नाम है, और गोशब्द भी ॥५॥**

---

१. तुलना कार्या—यथा श्येन आददीतैवमेवैनमादत्ते। षड्विंश ब्रा० ३।८।१॥

२. भाष्यपुस्तकेषु—'संदंशेन यथा' इति पूर्वापरौ पाठौ। पूर्वोत्तरभाष्यपाठानुसारं 'यथा सन्दंशेन' इति पाठेन भाव्यम्।

३. तुलना कार्या—यथाह दुरादानं संदंशेनानुहायाददीतैवमेवैनमेतेनादत्ते। षड्विंश ब्रा० ३।१०।१॥ ४. अनुपलब्धमूलम्।

विवरण—श्रुतिर्यागनामधेयत्वे—याग नाम मानने पर श्येन शब्द के मुख्यार्थ का ग्रहण होता है, अर्थात् 'यजति' क्रियागत यज-धात्वर्थ याग के साथ करणरूप से अन्वित होकर श्येन-यागेन इष्टं (=शत्रुमारणं) भावयेत्=श्येनयाग से इष्ट=शत्रुमारण को सिद्ध करे। **लक्षणा गुणविधौ**—यदि 'यजति' क्रियागत यज-धात्वर्थ के उद्देश्य से श्येन नामक द्रव्य का विधान करें, तब श्येनेनाभिचरन् यजेत का अर्थ होगा—अभिचार करता हुआ श्येनपक्षीवाले याग से इष्ट को सिद्ध करे। इस प्रकार गुणविधि मानने पर श्येनवता यागेनेष्टं भावयेत् में मत्वर्थलक्षणा माननी पड़ती है। श्रुतिगम्य अर्थ के उपपन्न होने पर लक्षणा से अर्थ करना अनुचित होता है। **सन्दंशेन यथा**—यहां पूर्व यथा वै श्येनो०, और उत्तरत्र यथा गावो० वचन में यथा पद का पूर्व प्रयोग हुआ है, वैसे ही यहां भी यथा सन्दंशेन पाठ होना चाहिये। **दुरादानम्**—अत्यन्त तपे हुये, हाथ से न पकड़े जा सकनेवाले, पदार्थ को पकड़ता है।

विशेष—'अभिचार कर्म' का षड्विंश-ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है। यह पञ्चविंश ब्राह्मण=ताण्ड्य ब्राह्मण का परिशिष्ट रूप है। इसके तृतीय प्रपाठक के ८वें खण्ड में श्येनयाग का, १० वें खण्ड में सन्दंशयाग का, और ११ वें खण्ड में वज्रयाग का निर्देश है। इसमें गोयाग का निर्देश नहीं है। प्रतीत होता है भाष्यकार ने इन तीनों का निर्देश किसी अन्य ब्राह्मण के अनुसार किया है। इसमें भाष्यकार द्वारा उद्धृत—यथा वै श्येनो० और सन्दंशेन यथा वचन भी प्रमाण हैं। क्योंकि षड्विंश ब्राह्मण में श्येन तथा संदंश के प्रसंग में उक्त अभिप्रायवाले वचन तो हैं, परन्तु पाठ में भिन्नता है।

ब्राह्मण-परिशिष्ट—ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी अन्य ग्रन्थों के समान 'परिशिष्ट' मिलते हैं। यथा शतपथब्राह्मण काण्ड १३, अ० ५ के प्रथम ब्राह्मण में कहा है—'एते उक्त्वा यदध्रिगोः परिशिष्टं भवति तदाह।' इस परिशिष्ट के विषय में एक बात विशेष विचारणीय है। इस परिशिष्ट में शुक्ल यजुः अ० २३, मं० १९—३१ तक के १३ मन्त्रों का जो विनियोग वा अर्थ दर्शाया है, उसके अनुसार अश्वमेध में मृत अश्व के शिश्न को पकड़कर राजमहिषी का स्व भग में स्थापन, अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का कुमारी, महिषी तथा अन्यजातीय पत्नियों के साथ अश्लील भाषण आदि का वर्णन है। परन्तु यहां यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि शतपथ में इससे पूर्व काण्ड १३, अ० २, ब्रा० ८, ९ में इन्हीं मन्त्रों का राष्ट्र वा राष्ट्रनीतिपरक सुन्दर अर्थ किया है[1]। दो प्रकार का अर्थ एक ही ग्रन्थ में उपलब्ध होने से शङ्का होती है कि इनमें एक प्रकरण प्राचीन है, और दूसरा नवीन। अश्लील अर्थवाला प्रकरण निस्सन्देह उत्तरकालीन है। यह इसके आरम्भ में पठित अध्रिगोः परिशिष्टं भवति के 'परिशिष्ट' शब्द से ही सुव्यक्त है।

---

१. शतपथब्राह्मणोक्त इस व्याख्या का विवरण स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के 'भाष्यकरणशङ्का-समाधान विषय' में देखिये। उससे इन मन्त्रों के शतपथ में किये गये उत्कृष्ट अर्थों का परिज्ञान होगा।

परिशिष्टोक्त अर्थ के प्रक्षेप में प्रमाण—यहां यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि शतपथ में प्रथम जो उक्त याजुष मन्त्रों का राष्ट्रनीतिपरक अर्थ दर्शाया है, वैसा ही तै० ब्रा० ३।९।६-७ में भी मिलता है, परन्तु उसमें शतपथोक्त द्वितीय अश्लील अर्थ तै० ब्रा० में नहीं मिलता। इससे भी यही सिद्ध होता है कि शतपथ-ब्राह्मण में उक्त परिशिष्ट में कहा गया द्वितीय अश्लील अर्थ उत्तरकालीन है। सायण ने तै० ब्रा० के सुन्दर राष्ट्रनीतिपरक अर्थों की यथावत् व्याख्या न करके मन्त्रार्थ सूत्रग्रन्थानुसार अश्लील ही किये हैं।

शाखाग्रन्थों में भी इसी प्रकार परिशिष्टों का मिश्रण देखा जाता है। अतः वैदिकवाङ्मय का अध्ययन करते समय बड़ी सावधानी वर्तनी चाहिये। ऋग्वेद में भी खिल हैं, पर वे ऋक्संहिता से बाहर स्वतन्त्र रूप में पठित हैं। उपलब्ध संहिता में निर्दिष्ट वालखिल्यसंज्ञक ११ सूक्त (मं० ८, सूक्त ४९-५९) शैशिरीय-शाखा में नहीं थे। कात्यायन सर्वानुक्रमणी के दोनों प्रकार के पाठ उपलब्ध हैं (द्र०—पं० सातवलेकर मुद्रापित ऋग्वेद-संहिता, संवत् १९९६ के परिशिष्ट में सर्वानुक्रमणी का पाठ)। ११ सूक्त शाकल-संहिता के मूलपाठ के अन्तर्गत हैं। बृहद्देवता में इनका निर्देश मिलता हैं। शाखान्तरों में इन सूक्तों की संख्या में भी भेद है। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इन सूक्तों की वालखिल्य-संज्ञा इन नाम के ऋषियों द्वारा दृष्ट होने से है। इस नामान्तर्गत 'खिल्य' का परिशिष्टवाचक खिल शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। माध्यन्दिन-संहिता में भी कुछ भाग खिल माना जाता है[1], परन्तु यह कल्पना उत्तरकालीन है[2]। वैदिक परम्परा में यह प्रसिद्धि है—**यस्य पदपाठो नास्ति स खिलपाठः** (=जिसका पदपाठ नहीं है, वह खिलपाठ माना जाता है)। ऋग्वेद के वालखिल्य-संज्ञक ३१ सूक्तों, और यजुर्वेद के खिल शब्द बोधित अध्यायों का पदपाठ उपलब्ध होने से ये खिल (=परिशिष्ट) नहीं हैं। सारे वैदिकवाङ्मय में ऋ० मं० १० का अघमर्षण सूक्त (१९०) ऐसा है, जिसका पदपाठ उपलब्ध नहीं होता, फिर भी यह ऋक्संहिता का मूलपाठ माना जाता है। इसका विचार आवश्यक है कि अघमर्षण सूक्त को संहितान्तर्गत स्वीकार करते हुये भी इसका पदपाठ क्यों नहीं उपलब्ध होता है? विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान (होशियारपुर) से स्कन्दस्वामी वेङ्कटमाधव आदि का जो ऋग्भाष्य छपा है, उसमें अघमर्षण सूक्त का पदपाठ छापा है, परन्तु उस पर कुछ भी टिप्पणी न होने से इसके विषय में हम कुछ नहीं जान सके कि इस सूक्त का पदपाठ उन्होंने किसी हस्तलेख से लिया है, वा स्वयं कल्पित किया है ॥५॥

---

१. माध्यन्दिनीयके यजुर्वेदाम्नाये सर्वे सखिले...। याजुषसर्वानुक्रमणी के आरम्भ में।

२. यह शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध सर्वानुक्रमणी अनार्ष एवं नवीन रचना है। इसके लिये देखिये 'वैदिक छन्दोमीमांसा' की भूमिका; तथा वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, पृ० १४६-१५१, १६५-१७१, २४५-२४९।

नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानमिति चेत् ॥६॥ (पू०)

वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत[1] इति श्रूयते। तत्र किं गुणविधिः, कर्मनामधेयमिति सन्देहः। एवं चेत् सन्देहः, दृश्यते गुणविधिः। न सन्देहः, श्रूयते हि गुणः। सोऽवगम्यमानो न शक्यो 'नास्तीति' वदितुम्। तस्माद् गुणविधिः ॥६॥

नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानमिति चेत् ॥६॥

सूत्रार्थ—(नामधेये) नामधेयरूप से प्रतीयमान [वाजपेय शब्द] में (गुणश्रुतेः) गुण का श्रवण होने से (विधानम्) गुण का विधान (स्यात्) होवे, (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो।

विशेष—भाष्यकार ने 'इति चेत्' पदों का अन्यथा सम्बन्ध जोड़ा है। हम ने सूत्रार्थ में यथापूर्व भाष्यकारानुमोदित अभिप्राय के अनुसार ही इनका अन्त में सन्निवेश किया है। 'इति चेत्' पदान्त भाग उत्तर भाग से सम्बद्ध एकसूत्र माना जाता है, यह हम पूर्व कह चुके हैं। तदनुसार 'इति चेद्' पदों का अन्त में ही सम्बन्ध होता है।

व्याख्या—वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत (=वाजपेय से स्वाराज्य की कामनावाला यजन करे) यह सुना जाता है। इस 'वाजपेय' शब्द में गुण की विधि है, अथवा [यह] कर्म का नाम है, यह सन्देह है। इस प्रकार यदि सन्देह है, तो गुणविधि देखी जाती है। सन्देह नहीं है, गुण सुना ही जाता है। वह [गुण] प्रतीयमान होता हुआ 'नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते। इसलिये गुणविधि है ॥६॥

विवरण—**स्वाराज्यकामः**—'स्वयं राजते इति स्वराट्। स्वोपपदाद् राजतेः क्विपि स्वराट्। स्वराजो भावः स्वाराज्यम्' अर्थात् स्वयं प्रकाशित होनेवाला 'स्वराट्', उसका भाव स्वाराज्य। 'स्वाराज्यं कामयते स्वाराज्यकामः' अर्थात् स्वयं प्रकाशित होने की कामनावाला वाजपेय से यजन करे। भाष्यकारनिर्दिष्ट वचन उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता है। आपस्तम्ब श्रौत १८।१।१ में कहा है—'शरदि वाजपेयेन यजेत ब्राह्मणो राजन्यो वर्द्धिकामः' अर्थात् ऋद्धि=समृद्धि की कामनावाला ब्राह्मण वा क्षत्रिय शरद् ऋतु में वाजपेय से यजन करे। ऋद्धि स्वयं प्रकाशित होने का साधन है। अतः ऋद्धिकामः तथा स्वाराज्यकामः का तात्पर्य समान है।

दृश्यते गुणविधिः—का भाव यह है कि वाजपेय शब्द वाज=अन्न=यवागू का पेय=पान जिसमें होता है। इस प्रकार वाजपेय शब्द से अन्नरूप गुण का विधान है। **वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत** का अर्थ होगा—**यागमुद्दिश्य विधीयमानेन वाजेन स्वाराज्यं भावयेत्**=याग के उद्देश से विधीयमान वाज से स्वाराज्य को सिद्ध करे। **न सन्देहः, श्रूयते हि गुणः**— इस वाक्य की

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तु० 'कार्या—'शरदि वाजपेयेन यजेत ब्राह्मणो राजन्यो वर्द्धिकामः' आप० श्रौत १८।१।१॥

तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ।।७।। (उ०)

नैतदेवं, तुल्ये हि इमे क्रिये स्याताम् । या च वाजपेयक्रिया—या च दर्शपूर्णमास-क्रिया । उभयत्र दार्शपौर्णमासिको विध्यन्तः स्यात् । तथा च दीक्षाणामुपसदाञ्च दर्शनं नावकल्प्येत—**सप्तदशदीक्षो वाजपेयः**[1] इति, **सप्तदशोपसत्को वाजपेयः**[2] इति ।

दो प्रकार से योजना जाननी चाहिये । पूर्ववाक्य में सन्देह प्रकट करके गुणविधि का दर्शन कहा है । इस वाक्य में सन्देह है ही नहीं, क्योंकि यहां साक्षात् गुण का श्रवण उपलब्ध होता है । दूसरी योजना इस प्रकार है—पूर्व वाक्य में सन्देह दिखाकर गुणविधि का दर्शन कहा है । इस पर सिद्धान्ती कहता है—**न सन्देहः**—सन्देह है ही नहीं, वाजपेय शब्द पूर्व **तत्प्रख्य-न्याय** (मी० १। ४।४) से नामधेय सिद्ध है, ऐसा हम कहते हैं । इस पर पूर्वपक्षी कहता है—**श्रूयते गुणविधिः**—यह तत्प्रख्य न्याय से सिद्ध नहीं है, यहां गुणरूप वाज=अन्न का पानरूप गुण सुना जाता है ।।६।।

तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ।।७।।

सूत्रार्थ—[गुणविधि होने पर] (क्रिययोः तुल्यत्वात्) वाजपेयक्रिया और दर्शपौर्णमास-क्रिया के तुल्य होने से [सप्तदश दीक्षा आदि का वाजपेय में दर्शन] (न) नहीं होवे ।

अथवा—(न) गुणविधि नहीं है, (क्रिययोः तुल्यत्वात्) वाजपेयक्रिया और ज्योतिष्टोम-क्रिया के तुल्य होने से ।

व्याख्या—ऐसा (=गुणविधि) नहीं है । ये दोनों क्रियाएं तुल्य हो जावें-जो वाजपेय क्रिया है और जो दर्शपौर्णमास क्रिया है । दोनों में दर्शपौर्णमास में होनेवाला विध्यन्त (=क्रिया-कलाप) होवे । और वैसा होने पर [वाजपेय में] दीक्षाओं और उपसदों का दर्शन उपपन्न न होवे—सप्तदशदीक्षो वाजपेयः (=सत्रह दीक्षावाला वाजपेय) हैं; सप्तदशोपसत्को वाजपेयः (=सत्रह उपसत्‌वाला वाजपेय है) ।

विवरण—**तुल्ये···क्रिये स्याताम्**—यदि वाजपेय में वाज=अन्नरूप यवागू गुण का विधान होवे, तो इसमें **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या** न्याय से दर्शपौर्णमासगत पुरोडाश के धर्म प्राप्त होंगे । दर्शपौर्णमास का क्रियाकलाप प्राप्त होगा । **सप्तदश दीक्षाः, सप्तदशोपसदः**—ज्योतिष्टोम नामक सोमयाग में यजमान दम्पती को दीक्षा देने और उपसत्‌संज्ञक इष्टि का विधान है । वाजपेय में १७ दीक्षा और १७ उपसद् का विधान मिलता है । यदि वाजपेय पौर्णमास के समान अन्न द्रव्यवाला याग होवे, तो उसमें सत्रह दीक्षाओं और सत्रह उपसदों का दर्शन न होवे ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—**सप्तदश दीक्षाः** । कात्या० श्रौत १४।१।१०; आप० श्रौत १८।१।६।। २. अनुपलब्धमूलम् । कात्यायन श्रौत उपसदामनुल्लेखात् ज्योतिष्टोमवत् तिस्र एवोपसदो भवन्ति । आपस्तम्बश्रौतसूत्रे तु तिस्र उपसदः (१८।१।६) इति प्रत्यक्षं तिसृणामुपसदां विधानं दृश्यते ।

अथ वा—तुल्यत्वात् क्रिययोर्नेति । यदि न गुणविधिः, ततस्तुल्यैषा वाजपेयक्रिया ज्योतिष्टोमक्रियया । तत्र दीक्षाणामुपसदां च दर्शनमुपपन्नम्। तस्मात् कर्मनामधेयमिति । लिङ्गं त्वेतत्, प्राप्तिः पुनरुत्तरसूत्रेण ॥७॥

ऐकशब्द्ये परार्थवत् ॥८॥ (उ०)

यदि गुणविधिः स्यात्, स्वार्थवत् परार्थवच्चाभिधानं विप्रतिषिद्धचते येजेतेत्यस्य शब्दस्य । यदि स्वाराज्यकामो यजेतेति स्वाराज्यकामस्य यागं विधातुं स्वार्थमुच्यते, न तर्हि वाजपेयेन गुणेन सम्बद्धुं परार्थमनूद्येत—यागेन वाजपेयगुणकेनेति । भिद्येत हि

व्याख्या—अथवा दोनों क्रियाओं के तुल्य होने से [गुणविधि] नहीं है। यदि गुणविधि न होवे, तभी वाजपेयक्रिया ज्योतिष्टोमक्रिया से तुल्य होवे । उस अवस्था में दीक्षाओं और उपसदों का दर्शन उपपन्न होवे । इसलिये [वाजपेय] कर्मनाम है । यह [गुणविधि न होने में] लिङ्गमात्र दर्शाया है, [कर्मनाम की] प्राप्ति उत्तर सूत्र से कहेंगे ॥७॥

विवरण—दोनों व्याख्याओं में इतना ही अन्तर है कि पूर्व व्याख्या में गुणविधि मानने पर वाजपेय की क्रिया की दर्शपौर्णमासक्रिया से तुल्यता होने पर [वाजपेय में] दीक्षा और उपसद् का जो दर्शन है, उसकी अनुपपन्नता कही है । दूसरी व्याख्या में गुणविधि न होने पर वाजपेय की क्रिया की ज्योतिष्टोम की क्रिया से तुल्यता कहकर वाजपेय में दृष्ट दीक्षा और उपसदों की उपपत्ति दर्शाई है ॥७॥

ऐकशब्द्ये परार्थवत् ॥८॥

सूत्रार्थ—[वाजपेयेन यजेत स्वर्गकामः को गुणविधि मान मानने पर] (ऐकशब्द्ये) एक 'यजेत' शब्द के उच्चारण में [गुणविधान के लिये] (परार्थवत्) परार्थ=याग के अनुवादवाला उच्चारण मानना पड़ता है । अर्थात् यजेत गत याग को उद्देश करके वाजरूप गुण का विधान किया जाता है । उस अवस्था में स्वर्गकामः पद का यजेत के साथ सम्बन्ध नहीं होता ।

विशेष—सूत्रार्थ अस्पष्ट-सा है । परन्तु भाष्यवृत्ति आदि से यही सूत्रार्थ जाना जाता है । ऐकशब्द्ये—शब्दनं शब्दः=उच्चारणम् । एकश्चासौ शब्दः=एकशब्दः । तस्य भावः, ष्यञ्= ऐकशब्दयम् । परार्थवत्—कुतुहलवृत्तिकार ने इसमें स्वार्थ में वति प्रत्यय माना है । हमारा विचार है, यहां मतुप् प्रत्यय है । 'एक उच्चारण में परार्थवाला उच्चारण मानना होगा' यह तात्पर्य है ।

व्याख्या—[वाजपेय] यदि गुणविधि होवे, तो यजेत शब्द का अपने प्रयोजनवाला और पर प्रयोजनवाला कथन विरुद्ध होवे । यदि स्वाराज्यकामो यजेत (=स्वाराज्य की कामनावाला यजन करे), यह स्वाराज्य-कामनावाले के यागरूप स्व-अर्थ को कहने के लिये बोला जाता है,तब वापपेयरूप गुण से संबद्ध करने रूप पर के लिये अनुदित नहीं होगा—वाजपेयगुणवाले याग से यजन करे । इस प्रकार [स्वार्थ याग के विधान—स्वाराज्यकामो यजेत, और परार्थ—वाज

तथा वाक्यम् । ननु द्वे एवैते वाक्ये प्रत्यक्षमुपलभामहे—स्वाराज्यकामो यजेतेत्येतदेकं प्रत्यक्षं पदद्वयम्, यजेत वाजपेयेनेत्येतदपि प्रत्यक्षमेव । नैतदेवम् । एवं सति चत्वारि पदान्युपलभेमहि, त्रीणि चैतान्युपलभ्यन्ते । उच्यते, यजेतेत्येतदुभाभ्यां सम्भन्त्स्यते । कथं सकृदुच्चारितं सम्बन्धमुभाभ्यामेष्यतीति ? रूपाभेदात् । ईदृशमेवास्य रूपं स्वाराज्यकामेन सम्बध्यमानस्य, ईदृशमेव वाजपेयेन । अतस्तन्त्रेणोभाभ्यां सम्भन्त्स्यते इति । नैतदस्ति, ईदृशेनैव रूपेणेति । यद्यज्ञातस्ततो विधिः, यदि ज्ञातस्ततोऽनुवादः । न च ज्ञातोऽज्ञातश्च युगपत् सम्भवतीति ।

आह—यदिदमुक्तम्—'गुणविधिपक्षेऽनुवादो यजेतेति' । यद्ययमनुवादः, केनेदानीं गुणो विधीयते ? वाजपेयशब्देनेति मा वोचः । न ह्याख्यातमन्तरेण कृत्यं वा नामशब्दार्थस्य व्यापारो विधीयते । यश्चात्राख्यातशब्दो यजेतेति, सोऽनुवाद इत्युक्तम् । केनेदानीं तस्य व्यापारो विधीयते ? अतः स्वाराज्यकामं गुणं च प्रति यजेतेति विधिः । तस्मादुभाभ्यां सम्बध्यते इति । यद्युभयत्र विधिः, वाजपेयो न स्वाराज्यकामस्य यागेन

रूप गुण को याग से सम्बद्ध करने के लिये—यागमुद्दिश्य वाजो विधीयते=वाजपेयेन यजेत] वाक्यभेद होगा । (आक्षेप्ता) यहां तो हम दो ही वाक्य प्रत्यक्ष उपलब्ध करते है—स्वाराज्यकामो यजेत यह एक प्रत्यक्ष दो पदवाला है । यजेत वाजपेयेन यह भी वाक्य प्रत्यक्ष है । (समाधाता) यह इस प्रकार नहीं है । ऐसे [दो वाक्य] होने पर चार पद हम उपलब्ध करते हैं, ये (=वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत) तीन ही पद उपलब्ध होते हैं (आक्षेप्ता) कहते हैं—'यजेत' पद दोनों (=वाजपेयेन और स्वाराज्यकामः) के साथ संबद्ध हो जायेगा । (समाधाता) एकबार उच्चारित दोनों के साथ कैसे सम्बद्ध हो जायेगा ? (आक्षेप्ता) रूप के अभेद होने से । स्वाराज्यकाम से सम्बद्ध होनेवाले का भी ऐसा ही रूप है, और ऐसा ही [रूप है] वाजपेय के साथ सम्बद्ध होनेवाले का । इस लिये तन्त्र (=दो के उद्देश्य से एक बार प्रवृत्ति=एक बार उच्चारण) से दोनों के साथ सम्बद्ध हो जायेगा । (समाधाता) ऐसे रूप से ही [दोनों के साथ सम्बद्ध होगा] यह नहीं है । यदि [याग] अज्ञात है, तब [यजेत] विधि होगा, और यदि ज्ञात है तो [यजेत] अनुवाद होगा । [यजेत=याग] ज्ञात और अज्ञात एक साथ सम्भव नहीं है ।

(आक्षेप्ता) जो यह कहा है—'गुणविधिपक्ष में यजेत अनुवाद है' । [अर्थात् गुणविधि पक्ष में भी आख्यात को अवश्यविधि रूप स्वीकार करना होता है । अतः रूपभेद नहीं है ।] (समाधाता) यदि [यजेत] यह अनुवाद है, तो गुण का विधान किस से किया जाता है ? वाजपेय शब्द से [गुण का विधान होता है] ऐसा नहीं कह सकते । (आक्षेप्ता) बिना आख्यात शब्द के वा कृत्य [तव्य आदि] प्रत्ययान्त शब्द के नाम शब्द के अर्थ के व्यापार का विधान नहीं किया जाता । और जो यहां आख्यात शब्द यजेत है, वह अनुवाद है यह कह चुके, तो अब उसके व्यापार का विधान किससे होवे ? इसलिये स्वाराजकाम और गुण के प्रति यजेत यह विधि है । इस कारण दोनों (=स्वाराज्यकाम और गुण) के प्रति सम्बद्ध होता है । (समाधाता) यदि दोनों (स्वाराज्य-

सम्बध्येत । द्वे ह्येते तदा वाक्ये । न स्वाराज्यकामस्य यागेन सह गुणविधेरेकवाक्यता । 'प्रकरणात् सम्बन्धः स्वाराज्यकामस्य यागेन' इति चेत् न । वाक्येन यागमात्रे विधानात् । 'अस्तु, यागमात्रेण सम्बन्धः' इति चेत् न । स्वाराज्यकामस्य यागेन सह एकवाक्यताया गम्यमानत्वात् । तदेवं प्रकरणस्य वाक्यस्य च अबाधो[1] युज्यते, यदि कर्मनामधेयम् । गुणविधिपक्षे हि सर्वे इमे वाक्यभेदादयो दोषाः प्रादुर्भवेयुः । तस्मात् कर्मनामधेयं वाजपेयशब्द इति सिद्धम् ॥८॥ **इति वाजपेयादिशब्दानां नामधेयताऽधिकरणम्, वाजपेयाधिकरणं वा ॥५॥**

काम और गुण) में विधि है, तो वाजपेय स्वाराज्यकाम का याग से संबद्ध नहीं होगा । तब ये दो वाक्य हैं [—वाजपेयेन यजेत,स्वाराज्यकामो यजेत]। स्वाराज्यकाम का याग के साथ गुणविधि की एकवाक्यता नहीं होगी । 'प्रकरण से स्वाराज्यकाम का याग के साथ सम्बन्ध हो जायेगा' ऐसा यदि कहो तो यह नहीं होगा । वाक्य से यागमात्र में विधान होने से [अर्थात् यागोद्देश से वाजरूपगुण का विधान यागमात्र में होगा, क्यों कि किसी विशिष्ट याग के प्रकरण में तो वाजपेयेन यजेत गुणविधि कही नहीं है] । 'अच्छा तो यागमात्र से [स्वाराज्यकाम का] सम्बन्ध होवे', ऐसा यदि कहो तो यह नहीं होगा । स्वाराज्यकाम का [वाजपेयेन यजेत] याग के साथ एकवाक्यता के प्रतीत होने से । इस प्रकार प्रकरण की और वाक्य की बाधा का अभाव युक्त होता है, यदि[वाजपेय] कर्म का नाम होवे । गुणविधिपक्ष में निश्चय से ये सभी वाक्यभेदादि दोष प्रादुर्भूत होंगे । इसलिये वाजयेय शब्द कर्म का नाम है, यह सिद्ध होता है ॥८॥

विवरण—'वाजपेय' शब्द पर विचार—'वाजपेय'शब्द के अर्थ और समास के विषय में बहुत मतभेद हैं । क्रतुयज्ञेभ्यश्च (अष्टा० ४।३।६८) की व्याख्या में वैयाकरणों ने वाजो नाम यवागूभेदः तस्य पेयः=वाज यवागू का एक भेद है, उसका पान 'वाजपेय' । 'यवागू' का लक्षण है छः गुने जल में सिद्ध चावल जौ आदि का दलिया आदि । सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका में वाजस्य पेयः षष्ठीसमास स्वीकार करके गतिकारकोपपदात् कृत् (अष्टा० ६।२।१३९) से कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर कहा है, वह स्वरप्रक्रिया की अज्ञानता का बोधक है । वाजस्य न गति है, न कारक, न उपपद । तब भला यहां इस सूत्र की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? वस्तुतः वाजः पेयोऽस्मिन् बहुव्रीहिसमास मानना युक्त है । पूर्वपदप्रकृतिस्वर की प्राप्ति में परादिश्छन्दसि बहुलम् (अष्टा० ६।२। १९९); अथवा परादिश्च परान्तश्च आदि वार्तिक (महाभाष्य ६।२।१९९) से उत्तरपदाद्युदात्तत्व जानना चाहिये ।

'वाज' शब्द का यवागू-भेद अर्थ भी उपपन्न नहीं होता । वाजपेय में यवागू द्रव्य नहीं

---

१. काशीमुद्रिते 'वाधो' इत्येव पाठः । पूना-संस्करणे तु शुद्धः पाठ उपलभ्यते । केचन 'न बाधो युज्यते' 'वाधो न युज्यते' इति वा पाठं मन्वते । तदपि न युक्तम् ।

[आग्नेयादीनामनामताधिकरणम्, आग्नेयाधिकरणं वा ॥६॥]

यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां [च] पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति[1] इत्येवमादयः श्रूयन्ते। तत्र सन्देहः—किमाग्नेयोऽग्नीषोमीय इत्येवमादयो गुणविधयः, कर्मनामधेयानीति? किं तावत् प्राप्तम्? गुणविधौ सत्यनेको गुणो विधीयेत—अग्निपुरोडाशाष्टाकपाला इति। तस्मान्न गुणविधय इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

है, वहां सोम और सुरा[2] द्रव्य हैं। अधिक से अधिक यवागू को सुरा का साधन द्रव्य माना जा सकता है। परन्तु वाजपेय में सुरा भी पेय नहीं है, क्योंकि सुराग्रहों से होम नहीं होता है। तै० ब्रा० १।३।३।७ में **प्रतितिष्ठन्ति सोमग्रहैः** से सोमयाग करने और **वाजसृद्भ्यः सुराग्रहान् हरन्ति** से सुराग्रहों को वाजसृद्=वैश्यों को देने का विधान है। इसलिये वाजपेय में पेय द्रव्य सोम ही है। अतः वाज शब्द से सोम का ही ग्रहण जानना चाहिये। सोम ही देवों का श्रेष्ठ अन्न है, यह वाजपेय प्रकरण में कहा है—**एतद्वै देवानां परममन्नं यत् सोमः** (तै० ब्रा० १।३।३।२)। इसलिये 'वाज' का अर्थ जो यवागू अर्थ करते हैं, वह चिन्त्य है। इस विषय के परिज्ञान के लिये अस्मद्गुरुवर्य श्री म० म० चिन्नस्वामी जी कृत तन्त्ररत्नावली, पृष्ठ २१,२२ देखें ॥८॥

व्याख्या—यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां [च] पौर्णमास्यां च अच्युतो भवति (=जो आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश अमावास्या में और पौर्णमासी में च्युत नहीं होता है (=निरन्तर रहता है) इत्यादि वचन सुने जाते हैं। इनमें सन्देह होता है—क्या आग्नेय और अग्निषोमीय गुणविधिणं हैं, अथवा कर्मनामधेय हैं? क्या प्राप्त होता है? गुणविधि होने पर अनेक गुणों का विधान होवे—अग्नि पुरोडाश और कपाल का। इसलिये ये गुविधियां नहीं हैं। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—इत्येवमादयः—आदि शब्द से **ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्** (तै० सं० २।५।२) आदि वचनों (द्र०—मी० भाष्य २।२।३ में उद्धृत) का संग्रह जानना चाहिये। इसी दृष्टि से उत्तरवाक्य में आग्नेय के साथ अग्नीषोमीय का भी निदश किया है। अग्नि का विधान **अग्निर्देवताऽस्य पुराडाशस्य**= 'आग्नेयः' पद से होगा। अष्टाकपाल का विधान **अष्टसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः**='अष्टाकपालः' से, और पुरोडाश का विधान आग्नेय अष्टाकपालः में प्रयुक्त तद्धित प्रत्यय के सामर्थ्य से प्राप्त होता है। 'कपाल' विभिन्न आकार के

---

१. तै० सं० २।६।३॥

२. यह 'सुरा' मद्यरूप नहीं है। यह ओदन को अन्य प्रक्षेप द्रव्यों के साथ केवल तीन दिन रखकर बनाया गया उत्तर भारत में गाजर की कांजी जैसा द्रव्य है। सौत्रामणि याग में भी नहीं सुरा होती है। अतः सौत्रामणि याग में मद्य पीने का दोष लगाना शास्त्र के अज्ञान का बोधक है।

तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टाः ।९॥ (सि०)

तच्च कर्म गुणाश्चास्य विधीयेरन् । अविभक्ता हि ते कर्मणो विधानार्थे तद्धितान्ते शब्दे । तत्र हि अष्टाकपालस्याग्नेयता विधीयते । स एष एवमाग्नेयो भवति, यद्यग्नये संकल्प्य दीयते । तेनायमनेन प्रकारेण यागो विहितो भवति । स एवं विधीयमानो न शक्योऽग्निमष्टाकपालं चाविधाय विधातुम् । सम्बन्धो हि विधीयमानो न शक्यते सम्बन्धिनाववविधाय विहित इति वक्तुम् । तस्माद् गुणविधयः । अष्टसु कपालेषु संस्क्रियमाणो व्रीहिमयो यवमयो वा पुरोडाश एव भवति । सोऽनुवादः । सिद्धश्चात्राष्टा-

---

मिट्टी से बने अग्नि में पकाये गये पात्र होते हैं । विभिन्नदेवताक पुरोडाशों के पाक के लिये भिन्न-संख्याक कपालों का विधान शास्त्र में मिलता है । इन को अग्नि पर रखकर उन पर पुरोडाश को धरकर पकाया जाता है । कपालसंख्या के भेद से ही कोई पुरोडाश अष्टकपाल कहाता है, तो कोई एकादश कपाल ।

तद्गुणास्तु विधीयेरन्...न चेदन्येन शिष्टाः ॥९॥

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है [अर्थात् कर्मनाम नहीं हैं] । (तद्गुणाः) वह कर्म और कर्म के गुण (विधीयेरन्) विधान किये जायें (विधानार्थे) विधान के लिये प्रयुक्त तद्धितप्रत्ययान्त शब्द में (अविभागात्) अविभक्त (=सहोच्चरित) होने से । (न चेद् अन्येन शिष्टाः) यदि अन्य किसी वचन से न कहे गये हों ।

विशेष—तद्गुणाः—यहां कर्म की दृष्टि से 'तच्च गुणाश्च' और याग की दृष्टि से 'स च गुणाश्च' द्वन्द्वसमास जानना चाहिये । कुतुहलवृत्तिकार ने 'तु' शब्द को अवधारणार्थक मानकर 'याग और अग्नि आदि गुण अवश्य विहित होवेंगे' अर्थ किया है ।

व्याख्या—वह कर्म और उसके गुण विहित होवेंगें । वे (=गुण) कर्म के विधान के लिये प्रयुक्त तद्धितान्त शब्द में अविभक्त=सहोच्चरित हैं, वहां आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश को अग्नि देवताकत्व का विधान किया है । वही [पुरोडाश] आग्नेय होता है, यदि अग्नि के लिये संकल्प करके उसे दिया जाये । इस हेतु से इस प्रकार याग विहित होता है । [अर्थात् देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग ही याग कहाता है । यहां अग्नि देवता, पुरोडाश द्रव्य, और अग्नि देवता के उद्देश्य से याग तीनों का समन्वय है ।] वह [याग इस प्रकार विधान किया जाता हुआ अग्नि और अष्टाकपाल के बिना विधान किये विधान करने के लिये समर्थ नहीं होता । विधीयमान सम्बन्ध-सम्बन्धियों के विधान के बिना विहित होता है, ऐसा नहीं कह सकते । इस लिये ये गुण-विधि हैं । आठ कपालों में संस्क्रियमाण व्रीहि वा यव का बना पुरोडाश ही होता है [अन्य चरु आदि हवि का संस्कार आठ कपालों पर नहीं हो सकता] । अतः उस [पुरोडाश] का अनुवाद है । आठ कपालों पर सिद्ध (=निष्पन्न) हुआ [पुरोडाश] अष्टाकपाल कहा जाता है । कपालेषु

कपाल उच्यते। कपालेषु श्रपयति[1] इति वचनाद् नान्येन श्रपितं गृह्णन्ति। तेनाऽस्मिन् पक्षे न वाक्यभेदो भवति, न चेदन्येन शिष्टः। यत्र पुनरन्येन वचनेन शिष्टा गुणा भवन्ति, भवति तत्र नामधेयम्। यथा—अग्निहोत्रं जुहोतीति ॥९॥ इत्याग्नेयादीनामनामताऽधिकरणम् ॥६॥

[बर्हिराज्यादिशब्दानां जातिवाचित्वाधिकरणम्, बर्हिराज्याधिकरणं वा ॥७॥]

बर्हिराज्ययोः पुरोडाशे च सन्देहः—किमेते संस्कारशब्दा, उत जातिशब्दा इति। संस्कारशब्दा इति ब्रूमः। संस्कृतेषु तृणेषु बर्हिःशब्दमुपचरन्ति सर्वत्र, नासंस्कृतेषु। संस्कृते च घृते आज्यशब्दम्, तथा संस्कृते पिष्टे पुरोडाशशब्दम्। नन्वसंस्कृतेऽपि कस्मिंश्चिद्देशे उपचर्यते। यथा—'बर्हिरादाय गावो गताः' इति भवन्ति वक्तारः, तथा—आज्यं क्रय्यमिति, पुरोडाशेन मे माता प्रहेलकं ददातीति। सादृश्यात्तेषु प्रयोगः। यथो-

श्रपयति (=कपालों पर पकाता है) इस वचन से अन्य से पकाये हुए का ग्रहण नहीं होता। इस हेतु से इस पक्ष(=गुणविशिष्ट विधानपक्ष) में वाक्यभेद नहीं होता, यदि [गुण का] अन्य से विधान न हुआ हो। और जहां अन्य वचन से गुण विहित होते हैं वहां कर्मनाम होता है। यथा—अग्निहोत्रं जुहोति में [यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति से अग्नि देवता, और दध्ना जहोति, पयसा जुहोति से द्रव्य का विधान होने से अग्निहोत्र कर्म का नाम माना जाता है। द्र०—मी० १।४।४] ॥९॥

विवरण—पुरोडाश एव भवति—खण्डदेव ने पुरोडाशं कूर्मं भूतं सर्पन्तमपश्यन् (तै० सं० २।६।३) से पुरोडाश की प्रतिपत्ति (=प्रतीति) स्वीकार की है ॥९॥

———

व्याख्या—बर्हि आज्य और पुरोडाश में सन्देह है—क्या ये संस्कार निमित्त शब्द हैं [अर्थात् किन्हीं संस्कारों से संस्कृत द्रव्यविशेष के नाम हैं], अथवा जातिवाची शब्द हैं। संस्कार-निमित्त शब्द हैं, ऐसा हम कहते हैं। [संस्कार से] संस्कृत तृणों में बर्हिशब्द का सर्वत्र व्यवहार करते हैं, असंस्कृत में नहीं करते। और संस्कृत घृत में आज्य शब्द का, तथा संस्कृत पेषण किये गये द्रव्य में पुरोडाश शब्द का [व्यवहार करते हैं]। (आक्षेप) किसी देश में असंस्कृत में भी तो उपचार (=व्यवहार) किया जाता है। यथा—'बर्हि को काटकर (=खाकर) गौवें चली गईं' ऐसा वक्ता बोलते हैं। तथा—आज्य खरीदना है, पुरोडाश से मेरी माता पहेली देती है [अर्थात् पुरोडाश देकर पहेली बूझने को कहती है]। (समाधान) उन [असंस्कृतों] में सादृश्य से [बर्हि आदि का] प्रयोग

१. अनुपलब्धमूलम्। अनयैवानुपूर्व्या मी० ४।१।८ भाष्येऽप्युद्धृतः। मी० ४।१।२६ भाष्ये 'कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति' इति पाठ उपलभ्यते। तुलना कार्या—अष्टासु कपालेष्वधिश्रयति। आप० श्रौत १।२४।६॥ उत्तानेषु कपालेष्वधिश्रयति। तै० सं० २।३।६॥

पशये यूपशब्दः । कुत एतत् ? यत एकदेशे हि शब्दप्रयोगः । तस्मात् संस्कारशब्दा इत्येव प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

बर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः ॥१०॥

बर्हिरादिष्वसंस्कृतेष्वपि शब्दलाभान्न संस्कारशब्दाः । ननूक्तं सादृश्यादेकदेशे भविष्यन्ति । तन्न । प्रसिद्धे हि संस्कारशब्दत्वे, सादृश्यादिति शक्यते वक्तुम् । तच्चा-

---

होता है । जैसे उपशय में यूप शब्द [का प्रयोग होता है] । यह कैसे ? यतः किसी देश में ही [वैसा] शब्द का प्रयोग होता है [सर्वत्र नहीं होता] । इसलिये [ये बर्हि आज्य पुरोडाश] संस्कारनिमित्त शब्द हैं, ऐसा प्राप्त होता है । ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

विवरण—आहवनीयमादधाति का शब्दार्थ होता है—आहवनीय अग्नि की निष्पत्ति के लिये विधिपूर्वक आधान कर्म करता है । यूपं करोति का अर्थ होता है—यूप की निष्पत्ति के लिये वृक्ष को काटकर यथाप्रमाण छीलकर यथाविहित आकार का यूप बनाता है । यहां आधानादि कर्मों से आवहवनीय आदि की जैसे निष्पत्ति होती है,उसी प्रकार कुशा के लवन तथा घृत के उत्पवन आदि कर्म से बर्हि वा आज्य की निष्पत्ति नहीं होती है । इसलिये इनके विषय में 'दर्भों को काटो बर्हि बनाने के लिये', 'घृत का उत्पवन करो आज्य बनाने के लिये' अर्थ सम्भव न होने से यहां बर्हि आज्य आदि शब्द संस्कार-निमित्तक हैं, अथवा सामान्य शब्द हैं, यह सन्देह होता है । संस्कार-शब्दाः—बर्हि में मन्त्रोच्चारणपूर्वक काटना, घृत में दो कुशा के पवित्रसंज्ञक तृणों से उत्पवन, पुरोडाश में हवि के ग्रहण से पुरोडाश पाक पर्यन्त सभी कर्मों को मन्त्रोच्चारणपूर्वक करना, तथा आठ वा ग्यारह आदि संख्यावाले कपालों पर पकाना आदि संस्कार होते हैं । उपशये यूपशब्दः—ऐकादशिनी पशुयाग में ११ पशुओं के बन्धन के लिये ११ यूप होते हैं । उनके समीप में १२वां उपशयसंज्ञक काष्ठ होता है । इस में यूप के तक्षण आदि धर्म नहीं किये जाते । इसलिये यह यूप शब्द से व्यवहारयोग्य नहीं है । यह काष्ठ ११वें यूप के समीप आड़ा (=लेटा हुआ) रखा जाता है । इसलिये इसे उप=यूप के समीप शयः=सोनेवाला होने से उपशय कहते हैं ।

बर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभाद् अतच्छब्दः ॥१०॥

सूत्रार्थ—(बर्हिराज्ययोः) बर्हि और आज्य में (असंस्कारे) संस्कार न होने पर भी (शब्दलाभात्) बर्हि और आज्य शब्द की प्राप्ति=दर्शन होने से (अतच्छब्दः) संस्कार-निमित्तक शब्द नहीं है ।

व्याख्या—बर्हि और आज्य में असंस्कृतों में भी [बर्हि और आज्य] शब्द की प्राप्ति होने से ये संस्कारशब्द नहीं हैं । (आक्षेप) हमने कहा था कि सादृश्य से एकदेश (=किसी देश) में प्रयोग उपपन्न हो जायेंगे । (समाधान) यह ठीक नहीं है । संस्कारनिमित्तिक शब्द के प्रसिद्ध होने पर सादृश्य से [असंस्कृत में प्रयोग हो जायेगा, यह] कहा जा सकता है । यह (=बर्हि आदि

प्रसिद्धम्। कथम्? बर्हिरादिशब्दैरुद्दिश्य संस्कारा विधीयन्ते। तेन सत्सु शब्देषु संस्कारैर्भवितव्यम्, सति च संस्कारे शब्दलाभ इतीतरेतराश्रयं भवति। न चाविहिताः संस्कारा भवन्ति, यानालोच्य लोकः प्रयुञ्जीत। तस्मान्न लोकाः संस्कृतेषु बर्हिरादीन् प्रयुञ्जते। तत एकदेशेऽपि जातिनिमित्ता दृष्टाः सर्वत्र जातिनिमित्ता भवितुमर्हन्ति। न चाऽलौकिकानां सतां वेदादेव पूर्वोत्तरपदसम्बन्धमनपेक्ष्य शक्यतेऽर्थोऽध्यवसातुम्। पूर्वोत्तरपदे अनर्थके मा भूतामित्येवं स परिकल्प्येत। अशक्यस्त्वनवगम्यमानः परिकल्पयितुम्। अर्थवती च ते पदे पूर्वोत्तरे लौकिकेनासंस्कृतप्रयोगेण भविष्यतः। तस्माज्जातिशब्दा एवञ्जातीयकाः। प्रयोजनम्—'बर्हिषा यूपावटमवस्तृणाति'[1] इति। संस्कृतैरेव स्तरितव्यम्, यदि पूर्वपक्षः। विपरीतं सिद्धान्ते ॥१०॥ इति बर्हिरादिशब्दानां जातिवाचित्वाऽधिकरणम् ॥७॥

शब्द संस्कारनिमित्तक हैं, ऐसा) प्रसिद्ध नहीं है। कैसे? बर्हि आदि शब्दों से निर्देश करके संस्कारों का विधान किया जाता है। इसलिये [संस्काररहित द्रव्य में] शब्दों के वर्तमान होने पर संस्कारों को होना चाहिये [अर्थात् असंस्कृत द्रव्य को बर्हि आदि शब्दों से निर्देश करके संस्कार का विधान किया जाता है], और संस्कार होने पर [बर्हि आदि] शब्द की प्राप्ति होना, यह इतरेतराश्रय होता है। अविहित कोई संस्कार नहीं होते, जिनको सोचकर लोग [बर्हि आदि का] प्रयोग करें। इस लिये लोग [संस्कारविशेष से] संस्कृत द्रव्यों में बर्हि आदि का प्रयोग नहीं करते। इसलिये एक देश में भी जातिनिमित्त दृष्ट [बर्हि आदि शब्द] सर्वत्र जातिनिमित्त हो सकते हैं। और अलौकिक (=लोक में अप्रसिद्ध) होते हुये शब्दों का वेद से ही पूर्वोत्तरपदसम्बन्ध की अपेक्षा न करके अर्थ नहीं जाना जा सकता है। पूर्वोत्तरपद अनर्थक न होवें, इस हेतु से वह कल्पित किया जायेगा। परन्तु अनवगम्यमान [अर्थ] की कल्पना करना अशक्य है। और वे (=बर्हिर्लुनाति आदि) पूर्व तथा उत्तरपद लौकिक असंस्कृत [बर्हि के लिये प्रयुक्त 'बर्हि'] प्रयोग से अर्थवान् हो जायेंगे। इसलिये इस प्रकार के [बर्हि आज्य आदि] जाति शब्द हैं। [इस विचार का] प्रयोजन है—बर्हिषा यूपावटमवस्तृणाति (=बर्हि से यूप के गड्ढे को, जिस में यूप को खड़ा करना है, आच्छादित करता है)। यदि पूर्वपक्ष [स्वीकार किया जाये] तो [लवनादिसंस्कार से] संस्कृत बर्हि से ही [यूप के गड्ढे को] आच्छादित करना चाहिये। सिद्धान्तपक्ष में विपरीत (=लौकिक असंस्कृत बर्हि से आच्छादन) होता है ॥१०॥

विवरण—इस अधिकरण में आज्य शब्द को लौकिक घृतवाचक सिद्ध किया है। परन्तु ऐ० ब्रा० १।३ में लिखा है—आज्यं वै देवानां सुरभि, घृतं मनुष्याणाम्, आयुतं पितृणाम्। अर्थात् देवों की सुगन्धि (=प्रिय) आज्य है, घृत मनुष्यों की सुरभि है, आयुत पितरों की। इनका लक्षण इस प्रकार किया है—'पिघला हुआ आज्य होता है, घनीभूत घृत कहाता है, आधा पिघला

---

१. द्र०—श०ब्रा० ३।७।१।७—'बर्हींषि प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति' इति यूपावटस्तरणे श्रुतिः।

[प्रोक्षिणीशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम्, प्रोक्षण्यधिकरणं वा ॥८॥]

प्रोक्षणीरासादय[1] श्रूयते । तत्र प्रोक्षणीशब्दं प्रति सन्देहः । किं संस्कारनिमित्तः, उत जातिनिमित्तः, उत यौगिक इति ? तत्र संस्कारेषु सत्सु दर्शनात् संस्कारशब्दतायामवगम्यमानायाम् । असंस्कृते शब्दलाभाज्जातिशब्दः, असंस्कृतास्वेवाऽप्सु प्रोक्षणीभिरुद्वेजिताः स्मः इति कस्मिंश्चिद्देशे भवन्ति वक्तारः । तेन जातिशब्द इति प्राप्ते—

आयुत होता है ।[2] तै०सं० ६।१।१ में घृत देवों का, मस्तु (=थोड़ा पिघला) पितरों का, निष्पक्व (=अच्छे प्रकार पका) मनुष्यों का प्रिय होता है[3]। वैद्यक शास्त्र में द्विगुण जल के साथ विलोडित दही को मस्तु कहा गया है । हमारे विचार में स्वयं पिघला अथवा अल्प उष्णता पर पिघला नवनीत, जिसमें छाछ का कुछ भाग पृथक् हो जाता है,और कुछ भाग रह जाता है,ऐसा घृत 'आज्य' कहाता है । इस प्रकार का आज्य प्राचीन देवभूमि=हिमालय में रहनेवाले देवों को प्रिय था (आज भी पार्वत्य प्रदेश में ऐसा ही घृत बनाया जाता है) । शीत के कारण यह पर्याप्त दिनों तक खराब नहीं होता । देवभूमि हिमालय से नीचे मैदान में रहनेवाले मनुष्यों को निष्पक्व=अच्छे प्रकार पका हुआ, जिसमें छाछ का अंश न रहे, प्रिय होता है । क्योंकि निष्पक्व घृत उष्ण जल वायु में भी चिरस्थायी होता है । आयुत अथवा मस्तु=द्विगुण जल सहित विलोडित दधि पितरों वृद्धों वा मन्दाग्नि के रोगियों के लिये हितकर होता है । आधे पिघले अथवा थोड़े पिघले नवनीत में भी छाछ की मात्रा होने से निष्पक्व घृत की अपेक्षा वह सुपाच्य होता है । यज्ञ का उद्भव पहले देव जाति में हुआ था,उसी दृष्टि से 'आज्यं वै देवानां सुरभि' यह ऐतरेय का वचन है । जब मैदानी भाग के मानवों में यज्ञ आरम्भ हुये तो यज्ञीय कर्म में निष्पक्व घृत का ही प्रयोग होने लगा । इसी का संकेत तैत्तिरीय श्रुति घृतं वै देवानाम् में है । अतः आज्य और घृत में मूलतः भेद होते हुये भी मानवयज्ञों में आज्य और घृत को पर्याय मानकर प्रयोग होने लगा ॥१०॥

व्याख्या—प्रोक्षणीरासादय (=प्रोक्षणी को रखो) ऐसा सुना जाता है । इसमें 'प्रोक्षणी' शब्द के प्रति सन्देह होता है । क्या [प्रोक्षणी शब्द] संस्कार-निमित्तक शब्द है, अथवा जातिनिमित्तिक है, अथवा यौगिक है? वहां (=इस सन्देह में) संस्कारों के होने पर [प्रोक्षणी शब्द के] दर्शन से संस्कारनिमित्तक शब्दता की प्रतीति होने से [संस्कार-निमित्तक है] । असंस्कृत में शब्द के लाभ (=प्रयोग) होने से जातिशब्द है । क्योंकि असंस्कृत जलों में प्रोक्षणीभिरुद्वेजिता स्मः (=जलों से हम भयभीत अथवा कम्पित हैं) ऐसा किसी देश में वक्ता प्रयोग करते हैं । उससे जातिनिमित्तक शब्द है, ऐसा प्राप्त होने पर—

---

१. तै० ब्रा० ३।२।९; आप० श्रौत २।३।१०॥

२. सर्पिर्विलीनमाज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं विदुः ।
विलीनार्धमायुतं तु नवनीतं यतो घृतम् ॥ ऐ० ब्रा० व्याख्या १।३ षड्गुरु शिष्य ।

३. घृतं वै देवानां मस्तु पितृणां निष्पक्वं मनुष्याणाम् ॥ तै० सं० ६।१।१॥

प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् ॥११॥

यौगिक इत्युच्यते । कुतः ? अर्थसंयोगात् । प्रोक्षण्य इत्युपसर्गधातुप्रत्ययसमुदायस्य जातिनिमित्तता प्रयोगादनुमीयते । सेचनसंयोगात्तु उपसर्गधातुकरणप्रत्ययसहितोऽप्सु प्रवर्त्तते, इति प्रसिद्धिरनुगृहीता भविष्यति । यदाऽन्यदपि सेचनं प्रोक्षणशब्देनोच्यते, तदा तत्संयोगादेवाप्सु भविष्यति । इति न समुदायार्थः कल्पयितुं शक्यते । तस्माद् यौगिकः । प्रयोजनम्—घृतं प्रोक्षणं भवति' इति, यदि संस्कारशब्दः—प्रोक्षणीरासादय इति प्रैषः ।

विवरण—दर्शपौर्णमास आदि में वेदि में पात्रस्थापन के प्रसङ्ग में प्रोक्षणीः आसादय ऐसा आदेश वचन है । अध्वर्यु 'अग्नीत्' नामक ऋत्विक् को आदेश देता है, और अग्नीत् प्रोक्षणी आदि को रखता है (पक्षान्तर में अध्वर्यु स्वयं अपने को प्रैष देता है, और स्वयं पात्रासादन कर्म करता है । द्र०—आप० श्रौत २।३।१० रुद्रदत्तवृत्ति) । हवि आदि के प्रोक्षण (=सिञ्चन=छींटे देने) के लिये जो जल होता है,वह यहां प्रोक्षणी कहा गया है । प्रोक्षणी जल जिस पात्र में रखे जाते हैं, वह प्रोक्षणीपात्र कहाता है । प्रोक्षणीरासादय वाक्यगत प्रोक्षणी शब्द पर इस अधिकरण में विचार किया है कि यह शब्द संस्कारनिमित्तक है, अथवा जातिनिमित्त है, अथवा यौगिक । पूर्व अधिकरण के न्याय से जातिशब्द प्राप्त होता है । योगाद् रूढिर्बलीयसी (=यौगिक अर्थ की अपेक्षा शब्द का किसी अर्थ में जो रूढिपन है, वह बलवान् होता है) इस न्याय से भी प्रोक्षणी जातिशब्द (=जलवाचक शब्द) जाना जाता है । यह पूर्वपक्षी का अभिप्राय है ।

प्रोक्षणीष्वर्थं संयोगात् ॥११॥

सूत्रार्थ-(प्रोक्षणीषु) प्रोक्षणी में (अर्थसंयोगात्) उपसर्ग-प्रकृति-प्रत्यय समुदाय के अर्थ का संयोग होने से, यह यौगिक शब्द है ।

व्याख्या—यौगिक है ऐसा कहते हैं । किस हेतु से ? 'प्रोक्षणी' इस उपसर्ग धातु प्रत्यय (=प्र+उक्ष+ल्युट्=अन+ङीप्)समुदाय की जातिनिमित्तता[प्रोक्षणीभिरुद्वेजिताः स्मः इस] प्रयोग से अनुमानित की जाती है । सेचन[अर्थ] के संयोग से तो उपसर्ग धातु करण [अर्थवाले] प्रत्ययसहित जल में प्रवृत्त होता है । इस प्रकार [लोक] प्रसिद्धि अनुगृहीत हो जायेगी । जब अन्य भी सेचन [द्रव्य] प्रोक्षण शब्द से कहा जाता है, तब उस [सेचन अर्थ] के संयोग से ही जल में भी प्रयुक्त हो जायेगा । इसलिये [प्रोक्षणीसमुदाय के अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती है । इसलिये [प्रोक्षणी शब्द] यौगिक है । [इस विचार का] प्रयोजन है—घृतं प्रोक्षणं भवति (=घृत प्रोक्षण होता है) [ऐसा जहां निर्देश है, वहां] यदि [प्रोक्षणी] संस्कार शब्द होवे, तो [घृत के लिये] प्रोक्षणीरासादय ऐसा प्रैष (=आज्ञा) दिया जायेगा । यदि [प्रोक्षणी] जाति-

---

१. सोमारौद्रं चरुं निर्वपेच्छुक्लानां व्रीहीणां ब्रह्मवर्चस्काम इत्यस्मिन् काम्येष्टौ 'घृतं प्रोक्षणं भवति' इति श्रूयते । मै० सं० २।१।५॥

यदि जातिशब्दः—घृतमासादय इति। यदि यौगिकः—प्रोक्षणमिति ॥११॥ इति प्रोक्षणीशब्दस्य यौगिकत्वाऽधिकरणम् ॥८॥

शब्द होवे तो [प्रोक्षणी=जल के न होने से] घृतमासादाय प्रैष दिया जायेगा। और यदि यौगिक होवे तो [घृत के भी सिञ्चनार्थ होने से] प्रोक्षणमासादाय प्रैष दिया जायेगा ॥११॥

विवरण—प्रोक्षणी शब्द के यौगिकत्व में प्रोक्षण प्रातिपदिक से अभिप्राय है। आपः के स्त्रीलिङ्ग होने से जल के लिये प्रोक्षणी का प्रयोग प्रोक्षणी आसादाय वाक्य में जानना चाहिये। इसलिये जहां घृत प्रोक्षणकार्य के लिये होता है, वहां घृत के नपुंसकलिङ्ग होने से प्रोक्षणमासादय प्रैष दिया जायेगा। घृतं प्रोक्षणं भवति—यह वचन ब्रह्मवर्चस की कामनावाले के लिये विहित काम्येष्टि प्रकरण में पढ़ा है (द्र०—मै० सं० २।१।५)। इस इष्टि में सोम और रुद्र देवता के लिये घृत में शुक्ल व्रीहि के तण्डुल का चरु बनाया जाता है। इसमें जल-सम्बन्धी सभी कार्य घृत से किये जाते हैं।

विशेष—मैत्रायणी संहिता २।१।५ में इस इष्टि के सम्बन्ध में पुराकल्प पढ़ा है—स्वर्भानुर्वा आसुरः सूर्यं तमसा विध्यत्। तं सोमारुद्रा अभिषज्यताम्। तस्य वा एतेनैव शमलमपहताम्। अर्थात्—सूर्य को स्वर्भानु नाम के असुर ने तम से ढक दिया था। उस सूर्य की सोम और रुद्र देवता ने चिकित्सा की। इसके द्वारा ही उसके कृष्णपन को दूर किया। इस प्रकार स्वर्भानु से सूर्य के अनेक बार ग्रस्त होने, और उसके शमल=ऊपर आये मैल के पर्त को विविध दैवी शक्तियों द्वारा दूर करने का वर्णन वैदिक-वाङ्मय में बहुत्र मिलता है। यह सर्ग के आरम्भ काल की घटना है। महद् अण्ड प्रजापति विराट् पुरुष हिरण्यगर्भ (ये एक महद् अण्ड के ही नाम हैं) से जब सौरमण्डल अपने ग्रह-उपग्रहों सहित अण्डज प्राणियों के सदृश बाहर निकला, उस समय सूर्यमण्डल पर एक पर्त थी, जिसने सूर्य के प्रकाश को रोक रखा था। यथा लोहे को अति गरम (=लाल) करने पर उसके ऊपर मैल की पर्त जम जाती है, उसी प्रकार सूर्य पर मैल की पर्त जम गई थी। और जैसे लुहार उस पर्त को कूटकर तथा बार-बार गर्म करके हटाता है,उसी प्रकार सूर्यमण्डल में वर्तमान विविध दैवी-शक्तियों ने उसे दूर करने का प्रयत्न किया। इस विषय पर विस्तार से हमने श्रौतयज्ञ-मीमांसा के अन्तर्गत सूर्य पशु का आलभन शीर्षक में लिखा है, पाठक वहां देखें।

स्वर्भानु असुर और कोई नहीं है, मल के आवरण को ही यहां स्वर्भानु कहा है। सायण ने तै० सं० २।१।२ में लिखा है—स्वः सूर्यस्य भां प्रकाशं नुदति अपसारयति इति स्वर्भानुः (=स्वः=सूर्य की भाः=प्रकाश को दूर करनेवाला=हटानेवाला=रोकनेवाला ही स्वर्भानु है)। मै० सं० के प्रकृत प्रसङ्ग में उक्त मलावरण को दूर करनेवाला सोम और रुद्र को बताया है। सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ० ९।१२।३) इस श्रुति के सोम का स्थान सूर्य है। यह सोम=जलतत्त्व का सूक्ष्म सारभूत ज्वलनधर्मा अंश है, जिसे वैदिकभाषा में यम कहा है। 'रुद्र' नाम अग्नि का है। यह सोम का सहचारी है। इन्हीं दोनों शक्तियों के संयोग से सूर्यस्थ मल का अपवारण यहां कहा है।

[निर्मन्थ्यशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम्, निर्मन्थ्याधिकरणं वा ॥९॥]

तथा निर्मन्थ्ये ॥१२॥ (सि०)

निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति[1] संस्कृते दर्शनात् संस्कारशब्दो निर्मन्थ्य इति । असंस्कारे-

---

इस दैवी यज्ञ के अनुकरण पर ब्रह्मवर्चस कामनावाले के लिये सोमारौद्र यज्ञ का शास्त्रकारों ने विधान किया है । मानव शरीर के सूर्यलोक मस्तिष्क नामक हृदय में ओज नामक जो पीतवर्ण जल रहता है, वही शरीर में सोम[2] है । इसकी उत्पत्ति भी वीर्यनामक अन्तिम धातु से होती है । वीर्य का यह सार भाग है । इसी सोम=ओज के आधार पर मानव जीवन टिका हुआ है । ब्रह्म=शरीर के वर्चस्=कान्ति के लिये सोम की वृद्धि अत्यावश्यक है । इस यज्ञ के द्वारा मानवशरीर में सोम=ओज की वृद्धि करके शरीर की कान्ति के अवरोधक मल को, जो वीर्यक्षय वा ओजक्षय से उत्पन्न होता है[3],दूर करने का विधान दर्शाया है। इस यज्ञ में घृत में श्वेत व्रीहि के चावल को पकाकर आहुति देने का विधान किया है । घृत का जहां भी हमारे शास्त्रों में विधान है वहां गो-घृत ही अभिप्रेत होता है । चरक सूत्रस्थान अ० १७, श्लोक ७५ में ओज धातु के वर्ण और गन्ध का गोघृत से साम्य दर्शाया है ।[4] गोघृत के संयोग से पके चरु=विना मांड निकाले पकाये गये चावल की शरीरस्थ अग्नि में आहुति देने से ओज की वृद्धि होती है। घृतौदन परम वीर्य कारक है, यह आयुर्वेदिकों का मत है । वीर्यवृद्धि से ओज की वृद्धि होती है, और उससे शरीर में कान्ति बढ़ती है, शरीर की म्लानता दूर होती है । इस प्रकार यज्ञमुख से शरीरयज्ञ का शास्त्रकारों ने यहां विधान किया है । यज्ञकाल में ब्रह्मचर्य उसका प्रधान अङ्ग माना गया है । इसलिये शरीरस्थ स्वर्भानु असुर की निवृत्ति के लिये शरीररूपी वेदि में घृतपक्व चरु की आहुति दी जाये, तब ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है । यह यज्ञ के उपमान से स्वतः प्राप्त होता है ।।११।।

तथा निर्मन्थ्ये ।।१२।।

सूत्रार्थ—(तथा) उसी प्रकार, जैसे प्रोक्षणी के विषय में कहा है (निर्मन्थ्ये) निर्मन्थ्य अग्नि के सम्बन्ध में जानना चाहिये ।

व्याख्या—निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति (=निर्मन्थ्य अग्नि से ईंटें पकाता है),इसमें संस्कृत अग्नि में निर्मन्थ्य का प्रयोग दर्शन से निर्मन्थ्य शब्द संस्कारनिमित्तिक है । असंस्कृत अग्नि में

---

१. अनुपलब्धमूलम् । तुलना कार्या—निर्मन्थ्येन लोहिनीः पचन्ति । आप०श्रौत १६।१३।७।।

२. ऋग्वेद का सम्पूर्ण नव मण्डल पवमान सोम का वर्णन करता है । आधिदैवत में यह सोम सूर्यमण्डलस्थ ऊर्जा प्रकाश का मूल है । अध्यात्म में शरीरस्थ सूर्यमण्डल=मूर्धा में स्थित ऊर्जा वा कान्ति का मूल ओज है । अधियज्ञ में यह सोम सोमलता वा उसके प्रतिनिधि गण हैं ।

३. दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चौजसः क्षये । चरक, सूत्रस्थान १७।७४ ।।

४. हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम् । ओजः शरीरे समाख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ।। इसका पाठान्तर—प्रथमे जायते ओजः......। सर्पिर्वर्णम् मधुरसम्...... । द्र०—निर्णयसागर मुद्रित मूल चरक, तृतीय संस्करण, सं० १९८६, पृष्ठ १०२ ।

ऽपि दृश्यते—निर्मन्थ्यमानय, ओदनं पक्ष्याम इति । निर्मन्थनयोगात् पूर्ववद् यौगिक इति संस्थितम् । प्रयोजनम्—संस्कारनिमित्ते संस्कृतेन इष्टकाः पक्तव्याः । जातिशब्दे यथोपपन्नेन । यौगिके अचिरनिर्मथितेन । यथा—नावनीतेन भुङ्क्ते इत्यचिरनिर्दग्धेनेति गम्यते ॥१२॥ इति निर्मन्थ्यशब्दस्य यौगिकत्वाऽधिकरणम् ॥६॥

भी निर्मन्थ्यमानय ओदनं पक्ष्यामः (=निर्मन्थ्य=अग्नि को लाओ, चावल पकावेंगे) में निर्मन्थ्य के प्रयोग के दर्शन से [निर्मन्थ्य जातिनिमित्तक] शब्द है। निर्मन्थन क्रिया के संयोग से यह पूर्ववत् यौगिक शब्द हैं, यह स्थित है । [इस विचार का] प्रयोजन है—यदि निर्मन्थ्य शब्द संस्कारनिमित्तक है, तो संस्कृत अग्नि में ईंटें पकानी चाहियें । यदि जातिशब्द होवे, तो जैसे-तैसे किसी भी प्रकार प्राप्त अग्नि से [ईंटें पकानी चाहियें] । [निर्मन्थ्य शब्द के] यौगिक होने से तत्काल [अरणी के] मन्थन से उत्पादित अग्नि से ईंटें पकानी चाहियें । जैसे—नावनीतेन भुङ्क्ते कहने पर सद्य पकाये गये घृत से खाता है, अभिप्राय जाना जाता है ॥१२॥

विवरण—निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति—यह वचन अग्निचयन यागविषयक है । यह साक्षात् वचन तो हमें उपलब्ध नहीं हुआ, तथापि इसी विषय का आप० श्रौत १६।१३।७ में अग्निचयनविषयक ईंटों को पकाने के लिये निर्मन्थ्येन लोहिनीः पचन्ति वचन मिलता है । लोहिनीः का अर्थ है—ईंटें पक कर लाल रंग की होनी चाहियें (इसी प्रकरण में ईंटों को बनाने वा पकाने की विधि का निर्देश मिलता है)। निर्मन्थ्य—निर् मन्थ घञ्=निर्मन्थनं निर्मन्थः । निर्मन्थमर्हति इत्यर्हार्थे छन्दसि च (५।१।६७) इत्यनेन यत्[1]=निर्मन्थ्यः=निर्मन्थ्य के योग्य । अचिरनिर्मथितेन—'तत्काल मथित अग्नि' यह अर्थ यद्यपि साक्षात् निर्मन्थ्य शब्द से नहीं जाना जाता है, फिर भी सभी अग्नियों के मन्थन से ही उत्पन्न होने पर भी पुनः जो निर्मन्थ्य शब्द का प्रयोग किया है, उसके सामर्थ्य से यह अर्थ जाना जाता है। जैसे-लोक में घृत नवनीत (मक्खन) को पकाकर ही बनाया जाता है, फिर भी तत्काल तैयार घृत के लिये लोक में व्यवहार होता है—'मैं तो नवनीत से ही भोजन कर रहा हूं' । इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये । कुतुहल वृत्तिकार ने कहा है कि उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते (=उपसर्ग से धात्वर्थ बलात् अन्य अर्थ में ले जाया जाता है) इस वैयाकरणीय न्याय से अचिरत्व अर्थ प्राप्त होता है । इस विषय में विशेष विचार तन्त्रवार्तिक में देखें ॥१२॥

---

१. महाभाष्यकार के मत में दण्डादिभ्यो यत् (५।१।६६) पाठ है । द्र०—महाभाष्य, हनो वा वध च । (३।१।९७) वार्त्तिक की व्याख्या । काशिकाकार ने 'य' प्रत्यय माना है, वह चिन्त्य है । 'निर्मन्थ्य' शब्द अन्तस्वरित है । यह यत् प्रत्यय में ही सम्भव है । द्र०—अष्टा० ६।१। १८५ तित् स्वरितम् सूत्र ।

[वैश्वदेवशब्दस्य नामधेयताधिकरणम्, वैश्वदेवाधिकरणं वा ॥१०॥]

वैश्वदेवे विकल्प इति चेत् ॥१३॥ (पू०)

चातुर्मास्येषु प्रथमे पर्वणि वैश्वदेवे सन्देहः—'वैश्वदेवेन यजेत'[1] इति किं वैश्वदेवशब्दो गुणविधिः, उत कर्मनामधेयमिति। इति यदि सन्देहो, न सन्देहः। वैश्वदेवे विकल्पः। गुणविधिर्वैश्वदेवशब्दः। गम्यते हि गुणविधानम्—विश्वेदेवा विधीयन्ते आग्नेयादिषु[2] यागेषु। तत्राग्न्यादीनां विश्वेदेवैर्विकल्पः। एवं प्रसिद्धिरर्थवती भविष्यति ॥१३॥

व्याख्या—चातुर्मास्य संज्ञक यागों के प्रथम पर्व वैश्वदेव में सन्देह है—वैश्वदेवेन यजेत (=वैश्वदेव से यजन करे) में वैश्वदेव शब्द गुण की विधि है, अथवा कर्म का नाम है। यदि ऐसा सन्देह है तो यह सन्देह नहीं है। वैश्वदेव में [देवता का] विकल्प है। वैश्वदेव शब्द गुणविधि है। [इससे] गुण का विधान जाना जाता है—विश्वेदेवों का विधान किया जाता है आग्नेय आदि यागों में। उस अवस्था में अग्नि आदि देवों का विश्वेदेवों के साथ विकल्प होता है। इस प्रकार ['वैश्वदेव' यह] प्रसिद्धि अर्थवती (=सार्थक) होवेगी ॥१३॥

विवरण—चातुर्मास्य नाम का चार पर्वोंवाला याग है। ये चार-चार मास के अन्तर से किये जाते हैं। इनके नाम हैं—वैश्वदेव, वरुणप्रघास साकमेध और शुनासीरीय। वैश्वदेव पर्व फाल्गुन मास की पूर्णिमा को, वरुणप्रघास पर्व आषाढ़ की पूर्णिमा को, साकमेध पर्व कार्त्तिक की पूर्णिमा को और शुनासीरीय कार्त्तिक पूर्णिमा के पश्चात् जब इच्छा होवे किया जाता है।

चातुर्मास्य सृष्टियज्ञ में ऋतुओं का प्रातिनिध्य करते हैं। इन्हें भैषज्य-यज्ञ भी कहते हैं। कौषीतकि ब्रा० ५।१ में लिखा है—

भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते ॥ ऐसा ही वचन गोपथ २।१।१९ में मिलता है।

अर्थात् ऋतुओं की सन्धियों में व्याधियां उत्पन्न होती हैं। इसलिये ये ऋतु-सन्धि में किये जाते। इन से रोगों का निवारण होता है, इस लिये ये भैषज्ययज्ञ हैं।

'ऋतुसन्धियों में उत्पन्न व्याधियों का निवारण करना' यह इन यागों का दृष्टफल है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त सम्पूर्ण कर्मों का जहां शास्त्रोक्त फल होता है, वहां यज्ञमात्र से जल वायु में उत्पन्न प्रदूषणों की निवृत्त होने से इन यज्ञों से रोगवारणरूप, साक्षात् दृष्टफल भी होता है। इसीलिये ऐतरेय ब्राह्मण में बहुधा (१.७, ९; ३।१३, ३१; ४।२८) कहा है—यज्ञोऽपि तस्यै

---

१. द्र०—यद् वैश्वदेवेन यजेति। तै० ब्रा० १।४।१०॥

२. द्र०—आग्नेयोऽष्टाकपालः, सौम्यश्चरुः, सावित्रो द्वादशकपालः, सारस्वतश्चरुः, पौष्णश्चरुः, मारुतः सप्तकपालः, वैश्वदेव्यामिक्षा, द्यावापृथिवीया एककपालः। मै० सं० १।१०।१॥

न वा प्रकरणात् प्रत्यक्षविधानाच्च न हि प्रकरणं द्रव्यस्य ॥१४॥ (सि०)

नैतदेवम् । प्रत्यक्षश्रुतिविहिता अग्न्यादयः, तेषां यागानां विश्वेदेवा वाक्येन,

---

जनतायै कल्पते (यज्ञ भी उस जनता के लिये कल्याणकारी होता है) । शास्त्रों में विविध रोगों से ग्रस्त पुरुषों के लिये अनेक यागों का विधान उपलब्ध होता है । वास्तविकता तो यह है कि अनेक रोग औषधसेवन की अपेक्षा यज्ञों से शीघ्र निवृत्त होते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने समय की यज्ञ-विमुख जनता को यज्ञ की ओर आकृष्ट करने के लिये यज्ञों के दृष्टफल जल-वायु की शुद्धि और उस से रोगों की निवृत्ति का अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है । इससे वे यज्ञों के अदृष्ट आध्यात्मिक फल से मुंह नहीं मोड़ते । साधारण जनता को अदृष्टफल की अपेक्षा दृष्टफल अधिक आकृष्ट करते हैं । इसलिये वे दृष्टफलों का उपदेश करते हैं ।

वैश्वदेवशब्दो गुणविधिः—इस का भाव यह है कि **वैश्वदेवेन यजेत** वाक्य याग के प्रति वैश्वदेव देवता रूपगुण का विधान करता है । **आग्नेयादिषु यागेषु**—वैश्वदेव पर्व में अग्नि आदि देवताओं के उद्देश्य से आठ यागों का विधान किया है (द्र०—पृ० ३२१, टि० २) । इन आठ यागों में जो अग्नि पूषा सोम आदि देवता कहे हैं उनके स्थान पर विश्वेदेव देवता का उक्त वचन विधान करता है । **आग्नेयोऽष्टकपालः** आदि (पृ० ३२१, टि० २ में उद्धृत वचन) से अग्नि आदि का विधान कियान किया है और **वैश्वदेवेन यजेत** वाक्य से विश्वेदेव देवता का । दोनों का विधान होने से **व्रीहिभिर्यजेत् यवैर्यजेत** के समान विकल्प होता है । इससे **प्रसिद्धिरर्थवती**—चातुर्मास्य के इस प्रथम पर्व की वैश्वदेव प्रसिद्धि सार्थक होती है ॥१३॥

न वा प्रकरणात् प्रत्यक्षविधानाच्च न हि प्रकरणं द्रव्यस्य ॥१४॥

सूत्रार्थ—[वैश्वदेव शब्द] (प्रकरणात्) प्रकरण से (च) और (प्रत्यक्षविधानात्) प्रत्यक्ष [अग्न्यादि देवों के] विधान से (न वा) गुणविधि नहीं है । (द्रव्यस्य) हविरूप द्रव्य का (प्रकरणम्) साधारण प्रकरण (न हि) नहीं है [अर्थात् प्रकरणस्थ द्रव्य अग्न्यादि देवता से संबद्ध हैं । इस कारण श्रुत द्रव्य के प्रति विश्वेदेव देवतारूप गुण का विधान नहीं हो सकता] ।

विशेष—हमने भाष्य वार्तिक वृत्ति आदि ग्रन्थों को देखकर सूत्र का सामान्य सरल भाव यहां प्रकट किया है । सूत्रार्थ के विषय में भाष्य कुछ अस्पष्ट है ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है अर्थात् वैश्वदेव गुणविधि नहीं है । [आग्नेय अष्टाकपाल आदि यागों के] अग्न्यादि देवता प्रत्यक्ष श्रुति से विहित है । उन यागों का विश्वेदेव देवता वाक्य से जाना जायेगा । [अर्थात् विना द्रव्य के याग की उपपत्ति नहीं हो सकती । इस कारण लक्षणा से विश्वेदेव देवता द्रव्य को प्राप्त करता है ।] प्रकरण सामर्थ्य से उसी [प्रकरण पठित अष्टकपालादि द्रव्य] के साथ संबद्ध होगा, अन्य [द्रव्य] के साथ संबद्ध नहीं होगा ।

प्रकरणात् तेनैव नान्येनेति गम्यते। न चायं विषमशिष्टो विकल्पो भवितुमर्हति। न हि प्रकरणं श्रुतस्य द्रव्यस्य बाधने समर्थम्। तस्मात् कर्मनामधेयम् ॥१४॥

मिथश्चानर्थसम्बन्धः ॥१५॥ (उ०)

[इसलिये प्रकरण से यह कल्पना होगी आग्नेयादि विहित यागद्रव्य से वैश्वदेव का यजन करे। इस प्रकार] यह विषमरूप (=प्रत्यक्ष श्रुति तथा प्रकरणानुरोध विषम होने) से कहा गया विकल्प नहीं हो सकता है। और नाही प्रकरण-श्रुत द्रव्य के बाधन में [वाक्य] समर्थ है। इसलिये यह कर्मनाम है ॥१४॥

विवरण—प्रकृत भाष्य के अस्पस्ट होने से तात्पर्य समझाने के लिये तन्त्रवार्त्तिक का सहारा लेकर दो स्थानों पर [ ] में पाठ रखा है। **नहि प्रकरणं द्रव्यस्य** इस सूत्रांश वा भाष्यांश का वार्त्तिककार ने कई प्रकार की कल्पना करके सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है। 'भाष्यगत द्रव्य शब्द वस्तुवाची' है यह कहकर संगति इस प्रकार लगाई है—'श्रौत (=श्रुतिप्राप्त) अग्न्यादि देवताभूत द्रव्य का प्रकरण बाधक नहीं है। अथवा द्रव्य के सम्बन्धिरूप से श्रुत जो अग्न्यादि उसका प्रकरण बाधक नहीं है। **तस्मात् कर्मनामधेयम्**—इस का अभिप्राय वार्त्तिककार ने इस प्रकार दर्शाया है—विकीर्ण (=बिखरे हुए) आठ यागों के एकीकरण से 'वैश्वदेव' यह समुदायानुवाद अर्थवान् होता है। वार्त्तिककार ने अपना मत इस प्रकार लिखा है—परस्पर सम्बद्ध आठों हवियों के समुदाय पद के विना **वसन्ते वैश्वदेवेन, प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन** इत्यादि विधान उपपन्न नहीं सकता। इसलिये एकदेशस्थ विश्वेदेवों से उपलक्षितों का छत्रि-न्याय से सबका वैश्वदेवनाम है।' इसका भाव यह है कि विश्वेदेवों में बहुत देवता सन्निविष्ट हैं। (ज्योतिष ग्रन्थों में विश्वेदेवा पद १३ संख्या के लिये प्रयुक्त होता है)। उनमें जो ८ अग्न्यादि देवता इस प्रकरण में पठित हैं उनसे सबका छत्रि-न्याय विश्वदेव नाम हो जायेगा। छत्रि-न्याय का स्वरूप इस प्रकार है—किसी समुदाय में एक व्यक्ति के पास छाता होने पर भी वह अन्य छाता रहितों का उपलक्षक होता है। यथा—**छत्रिणो गच्छन्ति**। इस का निर्देश भाष्यकार ने मीमांसा १।४।२८ के भाष्य में किया है।

आपस्तम्ब श्रौत ८।१।२ के वृत्तिकार रामाग्निचित् ने लिखा है—**मीमांसकैर्वैश्वदेव्यामिक्षासाहचर्याद् दण्डिन्यायेन वैश्वदेवशब्दस्य प्रवृत्तिरुक्ता** अर्थात् मीमांसकों ने [आग्नेयादि आठ यागों में पठित] **वैश्वदेव्यामिक्षा** के साहचर्य से दण्डि-न्याय से वैश्वदेव शब्द की प्रवृत्ति कही है। अपने मत में ब्राह्मणक्त निर्वचन को स्वीकार किया है। ब्राह्मणोक्त निर्वचन इस प्रकार है—**यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्** (तै० ब्रा० १।४।१०)। रामनिचित् ने जो मीमांसक मत उद्धृत किया है, वह किसका मत है, यह द्रष्टव्य है ॥१४॥

मिथश्चानर्थसम्बन्धः ॥१५॥

सूत्रार्थ—[एक बार प्रयुक्त वैश्वदेव शब्द का] आग्नेयादि यागसमूह को लक्षित करना और विश्वेदेवों का विधान करना रूप] (मिथः) परस्पर (अनर्थसंबन्धः) अर्थ का सम्बन्ध उपपन्न नहीं हो सकता।

अथोच्येत, वैश्वदेव इत्यनेन शब्देन प्रत्यक्षमग्न्यादिगुणविशिष्टो यागगणो लक्ष्यते। वैश्वदेवी हि तत्राऽऽमिक्षा[1] समवैति। यदि वैश्वदेवशब्देन यागगणो लक्ष्यते, न तर्हि विश्वेदेवा विधीयन्ते। कथम् ? सकृदुच्चरितो वैश्वदेवशब्दो यागगणं लक्षयिष्यति, विश्वाँश्च देवान् विधास्यतीति नायं वैश्वदेवशब्दस्य विश्वैर्देवैर्मिथः सम्बन्धो घटते। तस्मात् कर्मनामधेयमेव, न गुणविधिरिति ॥१५॥

विशेष—भाष्यानुसारी इस अर्थ में 'नञ्' का 'अर्थसम्बन्ध' शब्द के साथ असमर्थ समास है। सूत्रग्रन्थों में इस प्रकार के असमर्थ समासों का प्रयोग बहुधा उपलब्ध होता है। समर्थ और असमर्थ नञ्समास के लक्षण भाष्य-व्याख्या के अन्त में लिखेंगे।

व्याख्या—यदि कहो कि 'वैवदेव' इस शब्द से प्रत्यक्ष विहित अग्न्यादि गुण विशिष्ट याग-समुदाय लक्षित होता है, क्यों 'वैश्वदेवी आमिक्षा' उनमें समवेत (=पठित) है [तो यह उचित नहीं है] क्योंकि यदि वैश्वदेव शब्द से यागसमुदाय लक्षित होता है तो विश्वेदेवों का विधान नहीं होता। कैसे ? एक बार उच्चरित वैश्ववेव शब्द कैसे यागगण को लक्षित करेगा और कैसे विश्वेदेवों का विधान करेगा, इस प्रकार वैश्वदेव शब्द का विश्वेदेवों के साथ यह अन्योन्य सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता। [अर्थात् एक बार उच्चरित वैश्वदेव शब्द 'वैश्वदेवी आमिक्षा' घटित याग-गण के साथ और विश्वेदेवों की विधायक क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता है।] इसलिये [वैश्वदेव शब्द] कर्म का नाम है, गुणविधि नहीं है ॥१५॥

विवरण—सूत्र के अनर्थसम्बन्धः पद में असमर्थ नञ्समास है। नञ् का उत्तरपद के साथ समर्थ और असमर्थ दोनों प्रकार का समास होता है। 'नञ्' शब्द का प्रतिषेध अर्थ दोनों प्रकार के समास में उपलब्ध होता है। परन्तु समर्थ नञ्समास अनश्वमानय में नञ् के प्रतिषेध अर्थ की प्रधानता नहीं होती, अश्वभिन्न किसी वाहन के लाने में मुख्यता होती है। असमर्थ नञ्समास असूर्यंपश्या॰ उलूकाः में नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ होने से उसका तत्सम्बद्ध सूर्य आदि पद के प्रतिषेध में मुख्य तात्पर्य होता है, विधान में गौणता होती है। इन उभयविध नञ्समासों का वैयाकरण पर्युदास-प्रतिषेध और प्रसज्य-प्रतिषेध के नाम से कथन करते हैं। उन्होंने इन दोनों के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

प्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता। पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥

अर्थात्—जिस नञ्समास में विधि की प्रधानता हो, प्रतिषेध में अप्रधानता हो और उत्तर पद के साथ नञ् का सम्बन्ध होवे, वह नञ्समास पर्युदास प्रतिषेध होता है। यथा—स्थानान्तर के प्रस्थान को तत्पर व्यक्ति किसी से कहे—अनश्वमानय। इसका अर्थ होता है अश्व से भिन्न कोई वाहन लाओ। यहां आनय='वाहन लाओ' अर्थ की प्रधानता है, अश्व के आनयन के प्रतिषेध में प्रधानता नहीं है। इस लिये वाहन लाने को गया हुआ पुरुष यदि उस समय अश्व से भिन्न किसी

---

१. द्र०—३२१ तमे पृष्ठे २स्यां टिप्पण्यामुद्धृतः पाठः।

परार्थत्वाद् गुणानाम् ॥१६॥ (उ०)

परार्थाश्च गुणाः । ते न शक्नुवन्ति प्रधानमावर्त्तयितुम् । तेन सकृद्यागः कर्त्तव्यः, न गुणानुरोधेनावर्त्तितुमर्हति[1] । सम्प्रतिपन्नदेवतत्वाच्च न विरोधः । तत्रैकस्यां प्रधाना-

---

अन्य वाहन को नहीं पाता है और वह अश्व को ही ले आता है तो आज्ञा देनेवाला उस पर रुष्ट नहीं होगा । क्योंकि उसका निर्देश तो वाहन लाने के लिये है, अश्व के प्रतिषेध में उसका तात्पर्य नहीं है । अतः अश्व को न चाहता हुआ भी वह गन्तव्य स्थान तक जाने के लिये अन्य वाहन के अभाव में उसे स्वीकार कर लेता है ।

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता । प्रसज्यः स तु विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ् ॥

अर्थात्—जहां विधि की अप्रधानता होवे प्रतिषेध में प्रधानता होवे और नञ् का क्रिया के साथ सम्बन्ध होवे, वहां प्रसज्य प्रतिषेध माना जाता है । यथा—असूर्यं पश्या उलूकाः=उल्लू सूर्य को नहीं देखते' इसमें सूर्य की दर्शन क्रिया के प्रतिषेध में तात्पर्य है, विधि में अर्थात् 'उल्लू रात में देखते हैं' में तात्पर्य नहीं है । इस प्रकार का नञ्समास प्रसज्य प्रतिषेध कहाता है । इसमें सुबन्त के साथ समास को प्राप्त नञ् का दर्शन क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है—न देखनेवाला । इस प्रकार का नञ्समास असमर्थ समास कहाता है । सभी सूत्रग्रन्थों में इस असमर्थ नञ्समास का प्रयोग उपलब्ध होता है । लोक में इसका प्रयोग वहीं होता है, जहां अर्थ-परिज्ञान में कोई कठिनाई न होवे ॥१५॥

परार्थत्वाद् गुणानाम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—(गुणानाम्) वैश्वदेव पर्व के अष्टाकपाल आदि हविरूप गुणों के (परर्थत्वात्) पर =प्रधान=याग के लिये होने से [हविरूप गुण भेद से प्रधान यागकर्म का आवर्तन नहीं होगा । उस अवस्था में वैश्वदेव की तीस आहुतियां उपपन्न नहीं होंगी । इसलिये यह देवताविधानरूप गुणविधि नहीं है] ।

विशेष—भट्टकुमारिल ने इस सूत्र की पूर्व सूत्र के साथ एक सूत्रत्व की संभावना प्रकट करते हुए इस प्रकार सूत्रार्थ दर्शाया है—(गुणानाम्) हविरूप गुणों के (परार्थत्वात्) परार्थ= याग के लिये होने से (मिथः) एक साथ आठ हवियों की आहुति देने पर त्रिंशत्=तीस संख्या की प्राप्तिरूप (अनर्थसम्बन्धः) अर्थ का सम्बन्ध नहीं होगा ।

व्याख्या—गुण (=हवि आदि) परार्थ (=याग के लिये) होते हैं । वे प्रधान (=याग) का आवर्तन नहीं कर सकते । इसलिये [वैश्वदेव शब्द से देवता के विधान करने पर] एक बार याग करना होगा, गुण (=हवियों) के अनुरोध से वह आवर्तित नहीं हो सकता [अर्थात् आठ हवियों के कारण वैश्वदेवलाक याग ८ बार नहीं किया जा सकता] । सम्प्रतिपन्न (=एकरूप से प्राप्त अर्थात् एक) देवता के होने से [आठों हवियों का एक साथ त्याग में] विरोध भी नहीं है ।

---

१. समानदेवतोद्देशेन विधीयमानानां हविषां सहैताग्नौ प्रक्षेपो भवति । एकैवाहुतिर्भवतीत्यर्थः । न समानदेवताकेषु विभिन्नेषु हव्येषु हविषामनुरोधेन यागावृत्तिर्भवतीत्यर्थः ।

हुतौ त्रिंशदाहुतयो हूयन्ते' इति त्रिंशत्संख्यासम्पत्तिराहवनीयाहुतीनां नावकल्पते . तस्मात् कर्मनामधेयमिति सिद्धम् ॥१६॥ इति वैश्वदेवादिशब्दानां नामधेयताधिकरणम् ॥१०॥

उस अवस्था में [आठों हवियों की] एक प्रधान आहुति होने पर [वैश्वदेव पर्व में कथित] त्रिंशदाहुतयो हूयन्ते (=तीस आहुतियां दी जाती हैं) इस तीस संख्या की सम्पत्ति (=प्राप्ति) आहवनीय आहुति की उप्पन्न नहीं होती है। इसलिये ['वैश्वदेव' शब्द] कर्म का नाम है, यह सिद्ध होता है ॥१६॥

विवरण—न गुणानुरोधेन—इसका भाव यह है कि 'विश्वेदेव' देवतारूप गुण का विधान मानने पर वैश्वदेव पर्व में पठित अष्टाकपाल आदि आठ हवियों (द्र०—पृष्ठ ३२१, टि० २) के अनुरोध से आठ याग नहीं हो सकते=आठ बार आहुतियां नहीं दे सकते। क्योंकि जहां एक ही देवता के लिये दो वा अधिक हविद्रव्यों का विधान होता है वहां दोनों हविद्रव्य वा सब हवि द्रव्य एक साथ ही उस देवता के लिये दिये जाते हैं। यथा पौर्णमास में आग्नेय पुरोडाश, उपांशु याग और अग्नीषोमीय पुरोडाश का विधान होने से प्रधान याग की तीन आहुतियां होती हैं। दर्श में ऐन्द्र दधि, ऐन्द्र पयः और उपांशु याग रूप में तीन का विधान होने पर भी दधि और पयः हविद्रव्यों का एक इन्द्र देवता होने से दोनों द्रव्यों की एक साथ आहुति देने पर प्रधान याग की दो आहुतियां होती हैं। इन के साथ ५ प्रयाज, ३ अनुयाज, २ आज्यभाग, १ स्विष्टकृत (=११ आहुतियों) की गणना करने पर पौर्णमास में (प्रयाजादि की ११+प्रधान याग की ३ मिलकर) १४ आहुतियां होती हैं। दर्श में ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पयः की इकट्ठी आहुति देने पर (प्रायाजादि की ११+प्रधान याग की २ मिलकर) १३ आहुतियां ही होती हैं। इस विषय में मीमांसा अ० १४, पाद २, सूत्र ३० (=संकर्षकाण्ड २।२।३०) में तथा शाबरभाष्य २।२।८ में **चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते त्रयोदशामावास्यायाम्** वचन उद्धृत किया है।

त्रिंशदाहुतयो हूयन्ते—इन तीस आहुतियों की गणना तै० ब्रा० १।६।३ में इस प्रकार की है—**नव प्रयाजा इज्यन्ते, नवानुयाजाः, अष्टौ हवींषि, द्वावाघारौ, द्वावाज्यभागौ, त्रिंशत्सम्पद्यन्ते** (=९ प्रयाज की, ९ अनुयाज की, ८ मुख्य याग की, २ आघार, २ आज्यभाग की=३० आहुतियां होती हैं)। मैत्रायणी संहिता १।१०।८ में २ आघाराहुतियों के स्थान में १ अग्नि की और १ वाजिन की आहुतियों का निर्देश करके ३० संख्या कही हैं। ३० संख्या की गणना प्रकार में भेद होते हुये भी प्रधानाहुतियां सर्वत्र समान हैं। यदि अष्टाकपाल आदि आठ हवियों (द्र०—पृष्ठ ३२१, टि० २) के अग्नि आदि ८ देवों के स्थान में गुणविधि पक्ष में विश्वेदेव देवता

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तैत्तिरीयब्राह्मणे त्वेवं त्रिंशदाहुतयः परिगण्यन्ते—नव प्रयाजा इज्यन्ते, नवानुयाजाः, अष्टौ हवींषि, द्वावाघारौ, द्वावाज्यभागौ, त्रिंशत् सम्पद्यन्ते (तै० ब्रा० १।६।३)। मैत्रायणीयास्तु किञ्चिद् भेदेन परिगणनं कुर्वते। द्र०—मै० सं० १।१०।८॥

[वैश्वानरेऽष्टत्वादीनामर्थवादताधिकरणम्, वैश्वानरेष्टचधिकरणं वा ॥११॥]

वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते[1] इति श्रूयते । तत्र यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति[2] इत्येवमादयः[3] कपालविकल्पाः श्रूयन्ते, तेषु सन्देहः । किम् अष्टत्वादयो गुणविधयः, उताऽर्थवादा इति । तत्र गुणविधय इत्येवं ब्रूमः । कथम् ?

का विधान माना जाये, तो आठों हवियों का एक देवता होने से आठों द्रव्यों की एक ही आहुति होगी (जैसे दर्श में ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पयः की) उस अवस्था में आहुतियों की संख्या ३० न होकर २३ रह जायेगी । इस प्रकार गुणविधि मानने में दोष दिखाकर वैश्वदेव की कर्मनामता सिद्ध की है ॥१६॥

व्याख्या—वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते (=पुत्र उत्पन्न होने पर वैश्वानर देवतावाले आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश का निर्वाप करे) ऐसा सुना जाता है । वहीं यदष्टाकपालो भवति भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति (=आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश होता है गायत्री से ही इस=उत्पन्न पुत्र को पवित्र करता है) इत्यादि कपालों के विकल्प सुने जाते हैं । उनमें सन्देह है—क्या अष्टत्व आदि गुणविधियां हैं, अथवा अर्थवाद हैं ? उस (=सन्देह) में गुणविधियां हैं ऐसा कहते हैं । कैसे ?

विवरण—वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्—यह काम्येष्टि है । निर्वाप शब्द का अर्थ है—गार्हपत्याग्नि के पश्चिम में स्थापित शकट से अथवा गार्हपत्य के पश्चिम में उदगग्र (=अग्र भाग उत्तर है जिसका, ऐसे) स्फ्य को रखकर उसके ऊपर प्रागग्र (पूर्व में अग्रभाग है जिसका, ऐसे) दारुपात्री (=लम्बायमान ऊंचे किनारे के काष्ठ के पात्र) को रखकर, अथवा घड़े से अथवा कोष्ठ (=अनाज रखने की कोष्ठी) से अथवा भस्त्रा (=चमड़े की थैली) से उसमें रखे व्रीहि वा यव का=पुरोडाश योग्य अन्न का मन्त्रपूर्वक एक-एक मुट्ठी भरकर चार बार अग्निहोत्र-हवणी संज्ञकपात्र में ग्रहण करना निर्वाप कहाता है । याज्ञिकों के मतानुसार शकट वा दारुपात्र से ही हविद्रव्य का ग्रहण होता है । कुम्भ वा भस्त्रा से ग्रहण प्राचीन काल में होता था । यह शतपथ-ब्राह्मण १।१।२।७ में लिखा है । यद्यपि यहां निर्वपेत् (=ग्रहण करे) इतना ही कहा है, परन्तु वैश्वानर देवता के उद्देश से हवि के ग्रहण से याग का विधान माना जाता है, क्योंकि जब तक देवता के उद्देश से गृहीत द्रव्य का देवता के लिये त्याग (=आहुति) न किया जाये, निर्वाप कर्म पूर्ण नहीं

---

१. तै० सं० २।२।५॥ २. तै० सं० २।२।५॥ तत्र गायत्रियैवैनं पाठः ।

३. आदिपदेन संकेतितः पाठस्त्वित्थं पठ्यते—यन्नवकपालस्त्रिवृतैवास्मिन् तेजो दधाति । यद्दशकपालो विराजैवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति । यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभैवास्मिन्निन्द्रियं दधाति । यद्द्वादशकपालो जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति । यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति । तै० सं० २।२।५॥

पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये ॥१७॥ (उ०)

ये हि पूर्ववन्तो विदितपूर्वमर्थमभिवदन्ति ते अविधानार्थाः। तदेतदस्य वाक्यस्य समाम्नाये सामर्थ्यं, यदविहितपूर्वकाभिधानम्। किं तत् ? विधानसामर्थ्यम्। एवमविहितमर्थं विधास्यति। इतरथा अर्थवादाः सन्तोऽनर्थकाः स्युः। न च द्वादशकपालस्य शेषभावमुपगन्तुमर्हति। प्रत्यक्षा ह्यष्टानां कपालानां स्तुतिः, परोक्षा द्वादशानाम्। प्रत्यक्षाभावे च परोक्षा स्यात्। तस्माद् गुणविधयः ॥१७॥

होता। इत्येवमादयः—यहां आदि शब्द से 'यदष्टाकपालो···पुनाति' के आगे तै० सं० २।२।५ में पठित जिन वचनों का संकेत है, उनका निर्देश पृष्ठ ३२७, टि० ३ में देखें।

पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये ॥१७॥

सूत्रार्थ—जो (पूर्ववन्तः) पूर्वविदित अर्थ को कहनेवाले होते हैं, वे (अविधानार्थाः) विधान के लिये नहीं होते हैं, अर्थात् अविधायक=अर्थवाद होते हैं, (समाम्नाये) अष्टाकपालादि के समाम्नान में (तत्सामार्थ्यम्) वह=अविहितपूर्व का विधान करना रूप सामर्थ्य है। इसलिये यह गुणविधि है। अर्थात्—वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् वाक्यनिर्दिष्ट वैश्वानर याग में द्वादशकपालता के स्थान पर अष्टकपालतारूप गुण का विधान किया है।

विशेष—तन्त्रवार्तिककार और उसके अनुयायियों ने सूत्रार्थ कुछ भिन्न प्रकार किया है। हमने शाबरभाष्य से अनुसार सूत्रार्थ दर्शाया है।

व्याख्या—जो पूर्ववान्=पूर्वतः जाने गये अर्थ को कहते हैं वे विधान के लिये नहीं होते हैं। इस (=अष्टाकपाल आदि) वाक्य के समाम्नाय (=पाठ) में वह सामर्थ्य है जो पूर्व अविहित अर्थ का कहना है। वह क्या है? [अपूर्व] विधान का सामर्थ्य। इस प्रकार (=विधान-सामर्थ्य) होने से अविहित अर्थ का विधान करेगा। अन्यथा अर्थवाद होते हुये अनर्थक (=विशेष अर्थ के अविधायक) होंगे। [अष्टाकपाल वाक्य] द्वादशकपाल के शेषभाव को भी प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि अष्टाकपालों की स्तुति प्रत्यक्ष ही है, द्वादशकपालों की [अष्टाकपाल के द्वादशकपालों के अन्तर्गत होने से] स्तुति परोक्ष है। प्रत्यक्ष स्तुति के अभाव में परोक्ष स्तुति हो सकती है। इस कारण [यदष्टाकपालो भवति आदि वाक्य] गुण कर्म की विधियां हैं ॥१७॥

विवरण—तस्माद् गुणविधयः—हमने विभिन्न कपालों के फल पूत तेजस्वी अन्नाद्य इन्द्रियावी पशुमान् आदि पदों के निर्देश से उस-उस फल की कामना की दृष्टि से गुणविधि का कथन किया है। प्रत्येक संख्या-विशिष्ट विधान के साथ भट्टकुमारिल ने लिखा—'द्वादश संख्या के साथ अष्ट नव दश एकादश संख्या विकल्प को प्राप्त होती हुई गुणविधियां ही हैं। यह सब वैकल्पिक अनेक संख्याविशिष्ट वैश्वानर याग के विधान से एक ही उत्पत्ति वाक्य है। इसलिये इनमें बलाबल नहीं है, अर्थात् समान हैं'। हमारा विचार है कि गुणविधि पक्ष में प्रत्येक संख्याविशिष्ट वाक्य को गुण-

गुणस्य तु विधानार्थेऽतद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति ॥१८॥ (उ०)

नैतदस्ति गुणविधय इति । गुणस्य विधानार्था एते सन्तः पुरोडाशस्य कपालेषु संख्यां विदध्युः । न शक्नुवन्ति यागप्रयोगस्य विधातुम् । द्वादशकपालता हि यागस्य वाक्येन, अष्टाकपालादयः प्रकरणेन । तेन ते यागे न भविष्यन्ति । अपि चाष्टत्वादयः पुरोडाशेन एकवाक्यभूताः प्रकरणं बाधित्वा न यागस्य भविष्यन्ति । यागासम्बन्धे च अनर्थकाः, पुरोडाशसम्बन्धे फलाभावात् । अर्थवादत्वेन तु वैश्वानरयागस्य स्तुतिरुपपद्यते । तस्मादर्थवादा इति ॥१८॥

विधि मानने पर उसका उत्तरवाक्य अर्थवाद है। मीमांसकों द्वारा अर्थवादोक्त फल भी फलत्वेन स्वीकृत होता है। द्र०—मीमांसा १।२।१६ सूत्र तथा भाष्य। यहां पूर्णाहुतिं जुहोति विधि का शेष **पूर्णाहुत्या सर्वान् कामनवाप्नोति** अर्थवाद है। यदि अर्थवादलब्ध फल को फल न माना जाय, तो **सर्वान्** पद पर किया गया विचार अनर्थक हो जाता है[1]। अतः अर्थवादलभ्य तत्तत्फल की कामना की दृष्टि से गुणविधि दर्शाना युक्त है। पूर्वपक्षी स्वयं यह बात मी० १।४।२१ में कहेगा ॥१७॥

गुणस्य तु विधानार्थे··प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति ॥१८॥

सूत्रार्थ—[अष्टाकपालादि वाक्य के] (गुणस्य) अष्टाकपालत्वादि गुण के (विधानार्थे) विधान के लिये होने पर (अतद्गुणाः) वैश्वानर याग के गुण नहीं होंगे, वहां द्वादशकपालता के प्रत्यक्ष शिष्ट होने से। (प्रयोगे) यागान्तर के विधान में असमर्थ होते हुये (अनर्थकाः) अनर्थक =अनुपयुक्त (स्युः) होवेंगे। (तं प्रति) यागान्तर के प्रति (अर्थवत्ता) प्रयोजनता (न अस्ति) नहीं है, फल का अभाव होने से।

विशेष—यह सूत्रार्थ भाष्यानुसारी है, अन्य व्याख्याओं में कुछ भेद है।

व्याख्या—'गुणविधियां हैं' यह नहीं है। गुण के विधानार्थ होते हुये ये [अष्ट आदि शब्द] पुरोडाश के कपालों में संख्या का विधान करेंगे। याग के प्रयोग का विधान नहीं कर सकते। याग की द्वादशकपालता [वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्] वाक्य से निश्चित है, अष्टाकपालत्वादि प्रकरण [सामर्थ्य] से जाने जाते हैं। इस कारण (=वाक्य की अपेक्षा प्रकरण के दुर्बल होने से) [अष्टाकपालादि] याग में [सम्बद्ध] नहीं होंगे। और भी—अष्टत्वादि पुरोडाश के साथ एकवाक्यभूत हुए प्रकरण का बाध करके याग से सम्बद्ध नहीं होंगे। और याग के साथ सम्बद्ध न होने पर अनर्थक होंगे, पुरोडाश के सम्बन्ध में फल का अभाव होने से। अर्थवादरूप से तो वैश्वानर याग की स्तुति हो सकती है। इस लिये अर्थवाद है।

१, प्रकृत में फलकाम-विधि नहीं हो सकती है, यह सिद्धान्ती मी० १।४।२२ में कहेगा।

तच्छेषो नोपपद्यते ।।१९।। (आ०)

इति यदुक्तम्, तत्परिहर्त्तव्यम् इति आभासा(षा)न्तं सूत्रम् ।।१९।।

विवरण—अष्टाकपालादयः—पूर्व वाक्य में द्वादशकपालता और उत्तरवाक्य में अष्ट-त्वादयः शब्द भावप्रत्ययान्त है। अतः हमारा विचार है कि यहां भी **अष्टाकपालत्वादयः** पाठ होना चाहिये। इससे 'अष्टाकपालत्व आदि का सम्बन्ध प्रकरण से जाना जाता है' वाक्यार्थ भले प्रकार उपपन्न होता है। अथवा भावप्रधान निर्देश मानकर व्याख्या करनी चाहिये। **अष्टाकपाल-त्वादयः पुरोडाशेन०**—अष्टाकपाल शब्द का अर्थ है—आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश। इस अर्थ में अष्टाकपाल शब्द से संस्कृत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, और उसका **द्विगोर्लुगनपत्ये** (अष्टा० ४।१।८८) से लुक् हो जाता है। इस प्रकार अष्टाकपालत्व और पुरोडाश की एक-वाक्यता जाननी चाहिये। **पुरोडाशसम्बन्धे फलाभावात्**—अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता, वह तो विधिवाक्य की स्तुति ही करता है। इस कारण अर्थवाद वाक्य बोधित पूत तेजस्वी आदि फल नहीं है। जब ये फल नहीं है तो अष्टाकपाल आदि पदों के होने पर भी याग गम्यमान नहीं होगा। पूर्व जो अर्थवाद बोधित फलश्रुति के तात्पर्य-बोधन के लिये प्रवृत्त **सर्वत्वमाधिकारि-कम्** (मी० १।२।१६) सूत्र उपस्थित किया है, वह अभ्युपगमवाद अर्थात् अर्थवाद-बोधित फल होता है, को स्वीकार करके पूर्वपक्षी द्वारा उपस्थापित आपत्ति के निराकरणार्थमात्र है। मीमांसक रात्रिसत्रन्याय (द्र०—मी० भा० ४।३।१७-१९) से जहां भी अर्थवाद का फल स्वीकार करते हैं, वहां यागविधायक वाक्य के साथ फलश्रुति न होने पर तत्संबद्ध अर्थवाद-बोधित फल को स्वीकार करते हैं ।।१८।।

तच्छेशोनोपद्यते ।।१९।।

सूत्रार्थ—[अष्टाकपालादि वाक्य] (तच्छेयः) **वैश्वनरं द्वादशकपालं निर्वपेत्** वाक्य का शेष (न) नहीं (उपपद्यते) उपपन्न होता है [क्योंकि द्वादशकपालस्थ द्वादश संख्या के साथ अष्टा-कपाल आदिस्थ आठ आदि संख्याओं का सम्बन्ध नहीं है]।

व्यांख्या—'उसका शेष उत्पन्न नहीं होता' यह जो कहा था, उसका परिहार करना चाहिये। यह आभासान्त अर्थात् अभिप्राय प्रकाशन में जिसकी समाप्ति है, ऐसा सूत्र है। अर्थात् यह पूर्व अभिप्राय को ही स्मरण करता है, नया कुछ नहीं कहता ।।१९।।

विवरण—भाष्यकार ने 'उसका शेष उपपन्न नहीं होता है' रूप दोष २७ वें सूत्र के भाष्य में ही उपस्थित कर दिया हैं, 'अत: उसने सूत्र का उक्त प्रकार व्याख्यान किया है। सूत्रकार के मतानुसार **तच्छेषो नोपपद्यते** दोष की व्याख्या यहां करनी चाहिये। इसी दृष्टि से हमने उपर्युक्त सूत्रार्थ किया हैं। आभास का आभाष पाठान्तर भी है। उसका अर्थ होगा—पूर्व कथन के प्रकाशन में जिसकी समाप्ति होती है, ऐसा सूत्र ।।१९।।

अविभागाद् विधानार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन् ॥२०॥ (आ० नि०)

यदा त्वष्टाकपालादिप्ररोचनार्था अनर्थका इत्यवगतम्, तदा लक्षणया द्वादशकपालस्य स्तुतिर्वैश्वानरयागप्ररोचनार्था भविष्यति । सन्ति हि द्वादशसंख्यायामष्टत्वादयः संख्याविशेषा अविभक्ताः । अतो द्वादशकपालस्य स्तुत्यर्थत्वेनावयवस्तुतिरुपपद्यते । यथा शोभनमस्य चक्रस्य नेमितुम्बारम्, शोभनमस्याः सेनाया हस्त्यश्वरथपादातमिति । तस्मादुपपन्ना स्तुतिरिति ॥२०॥

कारणं स्यादिति चेत् ॥२१॥ (आ०)

इति चेद् भवान् पश्यति—अर्थवादा इति, कारणमष्टत्वादीनां ब्रह्मवर्चसादि कस्मान्न भवति ? ब्रह्मवर्चसकामस्याष्टाकपालः । एवमुत्तरेषु यथाकामम् । किमेवं

अविभागाद् विधानार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्यते ॥२०॥

सूत्रार्थ—(विधानार्थे) द्वादशकपाल के विधान करनेवाले शब्द में वर्तमान द्वादश संख्या में अष्ट आदि संख्या के (अविभागात्) अविभक्त होने अर्थात् सम्मिलित होने से अष्टाकपाल आदि का निर्देश (स्तुत्यर्थेन) स्तुति के प्रयोजन से (उपपद्यते) उपपन्न होता है ।

व्याख्या—जब अष्टाकपाल आदि प्ररोचन के लिये हैं, अनर्थक हैं, यह जान लिया गया, तब लक्षणा से द्वादशकपाल की स्तुति वैश्वानर याग की प्ररोचना के लिये होवेगी । द्वादश संख्या में अष्ट आदि संख्याविशेष अविभक्त हैं ही । इस कारण द्वादशकपाल की स्तुति के प्रयोजन से [अष्टत्व आदि] अवयवों की स्तुति उपपन्न होती है । जैसे इस चक्र की नेमि तुम्ब और अरे उत्तम हैं, इस सेना के हस्ती अश्व रथ पादाति (=पैदल सैनिक) उत्तम हैं । [यहां जैसे चक्ररूप एक अर्थ के नेमि (=चक्र का भूमि को स्पर्श करनेवाला भाग) तुम्ब और अरों की स्तुति से चक्ररूप अर्थ की स्तुति होती है । तथा जैसे सेनारूप एक अर्थ के हस्ती अश्व रथ पादातियों की स्तुति से सेनारूप अर्थ की स्तुति होती है, [उसी प्रकार द्वादशकपालरूप एक अर्थ की अष्टाकपाल आदि से स्तुति जाननी चाहिये ।] इस हेतु से [अष्टाकपाल आदि की स्तुति से द्वादशकपाल की] स्तुति उपपन्न होती है ॥२०॥

कारणं स्यादिति चेत् ॥२१॥

सूत्रार्थ—[अष्टाकपाल आदि का] (कारणम्) ब्रह्मवर्चस आदि कारण=प्रवृत्ति का निमित्त होवें (इति चेत्) ऐसा होवे तो ।

व्याख्या—यदि आप यह समझते हैं कि अर्थवाद हैं, तो अष्टत्वादि का कारण ब्रह्मवर्चस आदि कारण क्यों न होवे । ब्रह्मवर्चस की कामनावाले का अष्टाकपाल पुरोडाश होता है । इसी प्रकार अगले वाक्यों में भी यथाकाम (=तेज की कामनावाले का नवकपाल, अन्नाद्य की कामना

भविष्यति ? पुरोडाशस्य गुणविधानेऽप्यानर्थक्यं न भविष्यति । न च लक्षणया द्वादशकपालस्य स्तुतिः कल्पिता भविष्यति । तस्मात् कामेभ्यो विधयो भविष्यन्ति ॥२१॥

आनर्थक्यादकारणं कर्तुर्हि कारणानि गुणार्थो हि विधीयते ॥२२। (उ०)

यदि कामाय विधयः, भिन्नानि वाक्यानि भवेयुः । एकं चेदं वाक्यम्—वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते इत्येवमुपक्रान्तं यद् द्वादशकपालो भवति जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति, पूत एव स तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति[1] इत्येवमन्तम् । तस्य मध्येऽष्टत्वादयः श्रूयमाणा यदि न संबध्येरँस्ततो वाक्यान्तराणि

वाले का दशकपाल, इन्द्रियकामनेवाले का एकादशकपाल और पशुकामनावाले का द्वादशकपाल) जनना चाहिये । इस से क्या होगा ? पुरोडाश के गुण-विधान में भी आनर्थक्य नहीं होगा । और लक्षणा से द्वादशकपाल की स्तुति की कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी । इसलिये ये कामविधियां हैं॥२१॥

आनर्थक्यादकारणं··· हि विधीयते ॥२२॥

सूत्रार्थ—[पूतत्वादि अष्टत्वादि के] (अकारणम्) कारण=निमित्त=फल नहीं है, [वाक्यभेद-उपक्रम-उपसंहारभङ्ग आदि दोषों के कारण फलत्व सम्बन्ध का ज्ञान न होने से (आनर्थक्यात्) वाक्य के अनर्थक होने से । (हि) जिस कारण (कर्तुः) याग के कर्ता के फल के प्रति गुण (कारणानि) कारण होते हैं । [यहां पुत्र के पूतत्वादि के निर्देश से अष्टत्वादि] (गुणार्थः) स्तुति के लिये (हि) ही (विधीयते) विधान किये जाते हैं । अर्थात् यहां पूत तेजस्वी आदि फल पुत्र के कहे हैं । अतः यदष्टाकपालो भवति आदिवाक्य गुणविधि नहीं हो सकते ।

विशेष—इस सूत्र की व्याख्या वृत्तिकारों ने कुछ अन्य प्रकार से की है । उपर्युक्त सूत्रार्थ भाष्य तथा वार्तिक के अनुसार है ।

व्याख्या—यदि काम के लिये विधियां होवें तो [यद् अष्टाकपालो भवति आदि] भिन्न वाक्य होंगे । परन्तु यह एक वाक्य है—वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते इस प्रकार आरम्भ होकर यद् द्वादशकपालो भवति जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति । यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति, पूत एव स तेजस्वन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति (=जो द्वादशकपाल पुरोडाश होता है जगती छन्द से ही इस में पशुओं को रखता है । जिसके उत्पन्न होने पर इस इष्टि का निर्वाप किया जाता है, वह पूत (=पवित्र) हुआ तेजस्वी अन्नाद इन्द्रियावी =इन्द्रियों से सम्पन्न और पशुमान् होता है) यहां तक । इस [एक वाक्य] के मध्य में श्रूयमाण अष्टत्वादि आदि [एक वाक्य में] संबद्ध न होवे, तो वाक्यान्तर हो जावेंगे । कर्ता (=याग के

---

१. द्र०—३२७ तमे पृष्ठे, तृतीया टिप्पणी ।

भवेयुः । कर्तुर्हि कारणानि पूतत्वादीनि भवेयुः । स एष गुणार्थोऽत्र विधीयते—वैश्वानर-यागे पूत एव इत्येवमादिः । तेन चैतेऽष्टत्वादयः साक्षाद्धेतुत्वेन संबध्यन्ते—'यस्माद् गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति तेन पूत एव सः, यस्मात् त्रिवृतैवाऽस्मिँस्तेजो दधाति तेन तेजस्वी, यस्माद् विराजैवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति तेनान्नादः, यस्मात् त्रिष्टुभैवाऽस्मिन्निन्द्रियं दधाति तेन इन्द्रियावी, यस्माज्जगत्यैवाऽस्मिन् पशून् दधाति तेन पशुमानिति' । ततः कामाय विधयोऽसम्भवन्तो यद्यर्थवादा अपि न भवेयुः, आनर्थक्यमेवैषां स्यात् । तस्माद् अकारणं ब्रह्मवर्चसत्वादयोऽष्टत्वादीनाम् । तस्मादष्टत्वादयोऽर्थवादा इति ॥२२॥ इति वैश्वानरेऽष्टत्वाद्यर्थवादताऽधिकरणम् ॥११॥

कर्ता) के ही पूतत्वादि फल [के प्रति अष्टत्वादि] कारण होवेंगे [अर्थात् यदि पूतत्वादि फल याग-कर्ता से सम्बद्ध होवें, तो अष्टत्वादि उसके कारण=प्रयोजक होवें] । [परन्तु पूतत्वादि उस उत्पन्न पुत्र, जिसके निमित्त से वैश्वानर याग किया जाता हैं, से सम्बद्ध है—यस्मिन् जात एतामिष्टि निर्वपति स पूत एव···] । वह तो [वैश्वानर याग के] गुण (=स्तुति) के लिये विहित है—वैश्वानर याग होने पर पूत ही होता है, इत्यादि । और उस (=पूत आदि) से ये अष्टत्वादि साक्षात् हेतुरूप से सम्बद्ध होते है—'जिस कारण गायत्री से ही इस (=उत्पन्न पुत्र) को ब्रह्मवर्चस से पवित्र करता है, उससे वह पूत ही होता है, जिस कारण त्रिवृत् से ही इस में तेज को स्थापित करता है, उससे वह तेजस्वी होता है, जिस कारण विराट् से ही इस में अन्नाद्य को स्थापित करता है, उससे वह अन्नाद होता है, जिस कारण त्रिष्टुप् से ही इसमें इन्द्रिय को स्थापित करता है, उससे वह इन्द्रियावी (=श्रेष्ठ इन्द्रियों से युक्त) होता है, जिस कारण जगती से ही इसमें पशुओं को स्थापित करता है, इससे वह पशुमान् होता है' । इस कारण काम के प्रति विधियां न होते हुये यदि अर्थवाद (=विधि के स्तावक) भी न होवे, तो इनका आनर्थक्य ही होगा । इस से ब्रह्मवर्चसत्वादि अष्टत्वादि के कारण नहीं हैं, अर्थात्—ब्रह्मवर्चसकामोऽष्टाकपालेन यजेत् (=ब्रह्मवर्चस की कामनावाला अष्टाकपाल पुरोडाश से यजन करें) ऐसा गुणविधिपरक अभिप्राय इन वाक्यों का सम्भव नहीं है । इससे अष्टत्वादि (=यदष्टाकपालो भवति आदि) अर्थवाद हैं ॥२२॥

विवरण—त्रिवृतैव—त्रिवृत् तीन आवृत्तिरूप स्तोम का नाम है । इसका स्वरूप आगे जहां (मी० १।४।२४) त्रिवृत् पञ्चदश आदि स्तोमों का वर्णन आवेगा, वहां स्पष्ट करेंगे । विराजैव—विराट् दशाक्षर छन्द का नाम है । आगे ११ संख्या के साथ त्रिष्टुप् (=११×४=४४ अक्षर) छन्द और १२ संख्या के साथ जगती (१२×४=४८ अक्षर) छन्द का निर्देश होने से विराट् से विराट् पङ्क्ति (१०×४=४० अक्षर) छन्द का अभिप्राय लेना अधिक उचित होगा ॥२२॥

[यजमानशब्दस्य प्रस्तरादिस्तुत्यर्थाधिकरणम्, तत्सिद्ध्यधिकरणं वा ॥१२॥]

यजमानः प्रस्तरः[1] **यजमान एककपालः**[2] इत्यादि समाम्नायते । तत्र सन्देह—किं यजमानः प्रस्तर इत्येष गुणविधिः, किमर्थवाद इति ? तथा यजमान एककपाल इति । किं तावत् प्राप्तम् ? गुणविधिरिति । किमेवं भविष्यति ? एवम् अपूर्वमर्थं विधास्यति । इतरथाऽर्थवादोऽनर्थकः स्यात् । अर्थवत्त्वञ्च न्याय्यम् । तस्माद् विधिः ।

व्याख्या—यजमानः प्रस्तरः (=प्रस्तर यजमान है), यजमान एककपालः (=एककपाल में संस्कृत पुरोडाश यजमान है) इत्यादि वचन पढ़े हैं । उनमें सन्देह है—क्या यजमानः प्रस्तरः यह गुणविधि (=प्रस्तर कार्य में यजमान गुण का विधान किया जाता) है अथवा अर्थवाद है ? और यजमान एककपालः (=एककपाल में संस्कृत पुरोडाश के कार्य में यजमानरूप गुण का विधान किया जाता है) । इसमें क्या प्राप्त होता है ? गुणविधि है [ऐसा जाना जाता है] । इस प्रकार (=गुणविधि होने पर) क्या होगा ? इस प्रकार अपूर्व (=पूर्वतः अज्ञात) अर्थ का विधान करेगा । अन्यथा अर्थवाद अनर्थक होवे । [वैदिक वचन का] अर्थवान् होना न्याय्य है । इसलिये [गुण]विधि है ।

विवरण—**प्रस्तर**—दर्शपौर्णमासेष्टि में वेदि में विछाने के लिये जो चार मुट्ठी (=खड़ी हुई कुशाओं को इकट्ठा करके मुट्ठी में बांधकर) कुशा काटी जाती है, उसमें बर्हिर्देव सदनं दामि (मै० सं० १।१।२) मन्त्र से काटी गई प्रथम मुट्ठी की कुशा प्रस्तर कहाती है । ३ मुट्ठी कुशा वेदि में प्रागग्र (=पूर्व दिशा में जिसका अग्रभाग होवे, इस प्रकार) बिछाई जाती है । बिछाते समय पश्चिम में काटा हुआ जो भाग होता है, उसे अन्य कुशा के अग्र भाग से छिपाया जाता है, अर्थात् पहले बिछाई हुई कुशा के पश्चिम कटे हुये भाग के ऊपर अगले कुशाग्र भाग को रखा जाता है । इन्हीं तीन मुट्ठियों में मध्य (=द्वितीय) मुट्ठी से अथवा अन्य कुशा से सुदृढ़ दो कुशा के ग्रहण किये गये तृण विधृति कहाते हैं । इन विधृति-संज्ञक दो कुशा तृणों को पूर्व बिछाई गई प्रागग्र कुशाओं के ऊपर उदग्र (=अग्रभाग उत्तर में और कटा भाग दक्षिण में रखते हुये) दोनों में अन्तर (=फासला) रखा जाता है । इनके ऊपर प्रस्तर संज्ञक प्रथम मुट्ठी की कुशा प्रागग्र फैलाकर बिछाई जाती है । पूर्व बिछाई प्रागग्र कुशा और ऊपर प्रागग्र बिछाई प्रस्तर-संज्ञक कुशाओं के मध्य में विधृति-संज्ञक दो कुशा तृण रहते हैं, वे पूर्व बिछाई प्रागग्र कुशाओं से प्रस्तर-संज्ञक प्रागग्र कुशाओं को पृथक् करते हैं । पृथक्ता से धारण करने के कारण उक्त दो उदग्र तृण विधृति कहाते हैं । इष्टि के अन्त में प्रस्तर-संज्ञक कुशाओं को अग्नि में छोड़ा जाता है । इन प्रस्तर-संज्ञक कुशाओं के ऊपर जुहू वा उपभृत् ध्रुवा आदि सभी स्रुक् संज्ञक पात्र रखे जाते हैं ।

---

१. तै० सं० १।७।४; २।६।५; ऐ० ब्रा० २।३॥

२. द्र०—यजमानो वा एककपालः । मै० सं० १।१०।७; तै० ब्रा० १।६।३॥

तत्सिद्धिः[1] ॥२३॥ (उ०)

नतदेवम् । यदि विधिः स्यात्, प्रस्तरकार्ये यजमानो नियम्येत, यजमानकार्ये वा प्रस्तरः । प्रस्तरे जुहूमासादयति, सर्वा वा स्रुचः[2] इति यजमाने जुहूरासाद्येत, सर्वा वा स्रुच इति । तथा सति न याजमानं शक्यते कर्तुम्—दक्षिणतो ब्रह्मयजमानावासाते कर्मणः क्रियमाणस्य[3] इति । न च प्रस्तरो याजमानं शक्नोति कर्तुम् । तथा यदि यजमान एककपालकार्ये विनियुज्येत, सर्वहुतः क्रियेत । तत्र सर्वतन्त्रपरिलोपः स्यात् । न चैककपालो याजमानं

तत्सिद्धिः ॥२३॥

सूत्रार्थ—[यजमानः प्रस्तरः आदि अर्थवाद हैं ।] (गुणाश्रयः) गौण अर्थ के आश्रय से प्रस्तर को यजमान कहकर स्तुति की है । गौण अर्थ के आश्रयण में प्रस्तर से (तत्सिद्धिः) यजमान के कार्य की सिद्धि होना है ।

विशेष—'तत्सिद्धिः' से लेकर 'लिङ्गसमवाया इति गुणाश्रयाः' तक एक सूत्र है (द्र०—नीचे टिप्पणी १) । एक सूत्र होने से द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं सम्बध्यते (=द्वन्द्वसमास के अन्त में पठित शब्द द्वन्द्व के प्रत्येक अवयव के साथ सम्बद्ध होता है) इस न्याय से गुणाश्रयाः का यहां सम्बन्ध जानना चाहिये । भाष्यकार ने एक सूत्र का विभाग करके और प्रत्येक पद से यथायोग्य विभक्ति जोड़कर पृथक्-पृथक् व्याख्या की है ।

व्याख्या—यह इस प्रकार (=गुणविधि) नहीं है । यदि [यजमानः प्रस्तरः, यजमान एककपालः गुण की] विधि होवे, तो प्रस्तर के कार्य (=जुहु आदि रखने के कार्य) में यजमान का नियमन (=नियुक्ति) होवे, अथवा यजमान के कार्य में प्रस्तर की नियुक्ति होवे । प्रस्तरे जुहूमासादति, सर्वा वा स्रुचः (=प्रस्तर-संज्ञक कुशाओं पर जुहू को वा सभी स्रुचों को रखता है) [विधि के अनुसार] यजमान [के शरीर] पर जुहू वा सभी स्रुचों को रखा जायेगा । वैसा होने (=यजमान पर जुहू आदि रखने) पर [यजमान] यजमान-सम्बन्धी कार्य नहीं कर सकेगा । जैसे—'[वेदि के] दक्षिण में ब्रह्मा और यजमान बैठते हैं' किये जानेवाले कर्म के [करने में असमर्थ होगा] । और प्रस्तर (=कुशा) भी यजमान-सम्बन्धी कर्म नहीं कर सकता । और यदि यजमान को एककपाल में संस्कृत पुरोडाश के कार्य में विनियुक्त करें, तो [यजमान] सर्वहुत किया जाये (=आहवनीय में छोड़ा जाये) । उस अवस्था में (=यजमान की आहुति दे देने पर) सारे यज्ञकार्य का लोप हो जावे । और एककपाल में संस्कृत पुरोडाश भी यजमान-सम्बन्धी

---

१. इदं तत्सिद्धिरित्यारभ्यगुणाश्रया इत्यन्तमेकं सूत्रम् । तत्स्वरूपं त्वित्थम्—तत्सिद्धि-जातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवाया इति गुणाश्रयाः (द्र०—कुतुहलवृत्तिः) । भाष्यकारेण योग-विभागं कृत्वा यथायोग्यविभक्तीः संयुज्य व्याख्याताः ।

२. अनुपलब्धमूलम् ।

३. अनुपलब्धमूलम् ।

शक्नोति कर्तुम् । तस्मान्न विधिः । विध्यन्तरं चास्ति—प्रस्तरमुत्तरं बर्हिषः सादयति, एककपालं सर्वहुतं करोति[1] इति । तस्मादपि न विधिः । किं तर्हि ? अर्थवादः । यजमानो ज्ञायत एवं प्रस्तर एककपाल इति च ॥

कथं पुनरनयोः सामानाधिकरण्यं ज्ञायते ? न हि प्रस्तर एककपालो वा यजमानः । न च यजमान एकस्मिन् कपाले संस्कृतः पुरोडाशः, प्रथमो वा कुशमुष्टिर्लूनः । कथं

कार्य नहीं कर सकता । इसलिये यह [गुण]विधि नहीं है । तथा [प्रस्तर और एककपाल में संस्कृत पुरोडाश की] अन्य विधि है—प्रस्तरमुत्तरं बर्हिषः सादयति (=प्रस्तर को वेदि में बिछाई हुई कुशाओं पर रखता है), एककपालं सर्वहुतं करोति (=एककपाल में संस्कृत पुरोडाश को सर्वहुत करता है, अर्थात् पूरे पुरोडाश को अग्नि में छोड़ता है) । इस [विध्यन्तर के कारण] भी [गुण]विधि नहीं है । तो क्या है ? अर्थवाद है । यजमान जाना ही जाता है कि प्रस्तर और एककपाल पुरोडाश है [अर्थात् प्रस्तर और एककपाल यजमान के कार्य को करनेवाले हैं ।]

विवरण—यजमानकार्ये वा प्रस्तरः—यजमान को करने के अनेक कर्मों का यज्ञ में विधान किया गया है । यथा व्रत ग्रहण, ऋत्विग्वरण, त्याग=इदं न मम का निर्देश आदि । **सर्वहुतः क्रियेत**—सामान्यरूप से पुरोडाश के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध से अङ्गुष्ठपर्वमात्र (=अंगूठे के पोर के बराबर) भाग लेकर आहुति दी जाती है, परन्तु एक कपाल में संस्कृत पुरोडाश से अङ्गुष्ठ पर्वमात्र दो भाग न लेकर पूरे पुरोडाश को ही आहवनीय में छोड़ते हैं । अतः एककपालपुरोडाश के कार्य में यजमान का नियोजन होने पर उसे भी अग्नि में सर्वहुत करना होगा । इसी प्रकार **सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** (=सूक्तवाक मन्त्र से प्रस्तर को अग्नि में छोड़ता है) विधि के अनुसार प्रस्तर के कार्य में यजमान का नियोजन होने पर उसे अग्नि में डालना पड़ेगा । इस प्रकार यज्ञकर्म का लोप हो जायेगा । **विध्यन्तरं चास्ति**—इसका तात्पर्य है कि प्रस्तर और एककपाल पुरोडाश के सम्बन्ध में 'प्रस्तर को कुशा के ऊपर बैठाना (=रखना) चाहिये', 'एककपाल पुरोडाश को समग्ररूप में आहवनीय में छोड़ना चाहिये' विधियां कही हैं । यदि ये विधियां प्रस्तर और एककपाल पुरोडाश के सम्बन्ध में न होतीं, तो गुणविधि की कल्पना कथंचित् की जा सकती थी । विध्यन्तर के होने से गुणविधि की कल्पना नहीं हो सकती है ।

व्याख्या—(आक्षेप) इन दोनों [यजमान और प्रस्तर तथा यजमान और एककपाल] का सामानाधिकरण्य कैसे जाना जाता है ? (समाधान) प्रस्तर और एककपाल में संस्कृत पुरोडाश यजमान नहीं है, और नाही यजमान एककपाल में संस्कृत पुरोडाश है, अथवा प्रथम काटी गई

---

१. द्यावापृथिवीयमेककपालमुपक्रम्य श्रूयते—यत् सर्वहुतं करोति । मै० सं० १।१०।७॥

परशब्दः परत्र वर्त्तते, किमर्थं वा ज्ञायमानस्य सङ्कीर्त्तनम् इति ? उच्यते, ज्ञायमानः सङ्कीर्त्यते स्तोतुम् । प्रस्तर उत्तरो बर्हिषः सादयितव्यो यजमानत्वात् । तथा यजमान एककपालः सर्वहुतः कर्त्तव्यः, स्वर्गं आहवनीयस्तत्र प्रतिष्ठापितो भवति[1] इति ।

कथं परत्र वर्त्तते परशब्द इति ? गुणवादस्तु[2], गुणादेष वादः । कथमगुणवचनो गुणं ब्रूयात् ? स्वार्थाभिधानेनेति ब्रूमः । सर्वे एवैते गौणाः शब्दाः, न स्वार्थं हित्वा गुणेषु वर्त्तन्ते । प्रसिद्धहानिर्हि तथा स्यात्, अप्रसिद्धकल्पना च । न च सर्वे गुणसमुदायवचनाः, गुणहीनेऽपि तथा दर्शनात् । अप्रसह्यकार्य्यपि हि कदाचिद्रोगेणोपहतः सिंह्याः पुत्र सिंह एव । समुदायवाची च नावयवे प्रवर्त्तितुमर्हति । सर्वसिंहव्यक्तिषु यत् सामान्यं तद्वचनः

कुशा की मुट्ठी है । (आक्षेप) अन्य को कहनेवाला अन्य अर्थ में कैसे वर्तमान होता है, अथवा ज्ञायमान [प्रस्तर वा एककपाल] का कथन किस लिये होता है ? (समाधान) ज्ञायमान का कथन होता है स्तुति के लिये । प्रस्तर को कुशा के ऊपर बिठाना (=रखना) चाहिये, यजमान (=यजमानवत् श्रेष्ठ) होने से । तथा यजमानरूप एककपाल पुरोडाश को सर्वहुत करना चाहिये, स्वर्ग आहवनीय है, उसमें वह स्थापित होता है ।

विवरण— यजमान एककपालः सर्वहुतः कर्तव्यः— इस विषय में मै० सं० १।१०।७ में अर्थवाद है — यजमानो वा एककपालः, आहवनीयः स्वर्गो लोकः, यत् सर्वहुतं करोति, हविर्भूतमेवैनं स्वर्गं लोकं गमयति । अर्थात् — एककपाल पुरोडाश यजमान है । जैसे यज्ञ के द्वारा यजमान स्वर्ग को प्राप्त होता है, वैसे ही हविर्भूत एककपाल पुरोडाश को आहवनीयाग्निरूप स्वर्ग को प्राप्त कराता है ॥

व्याख्या—(आक्षेप) अन्य को कहनेवाला शब्द अन्य अर्थ में कैसे वर्तमान होता है ? (समाधान) गुणवादस्तु (मी० १।२।१०) गुण (=गौण अर्थ) से यह वाद (=अन्य अर्थ को कहना) है । (आक्षेप) अगुणवचन (=अगौणवचन=प्रधान को कहनेवाला) कैसे गौण अर्थ को कहेगा ? (समाधान) अपने अर्थ के कथन से [गौण अर्थ को कहेगा] ऐसा कहते हैं । जो ये सब गौण शब्द हैं, वे अपने अर्थ को छोड़कर गौण अर्थ में वर्तमान नहीं होते । वैसा (=अपने अर्थ को छोड़कर गौण अर्थ को कहते हैं) मानने पर प्रसिद्ध [अर्थ] का त्याग होगा, और अप्रसिद्ध [अर्थ] की कल्पना होगी । [वाच्यार्थ के अन्तर्भूत] गुण से हीन में भी उस शब्द का प्रयोग देखा जाने से, सारे ही शब्द [वाच्य के अन्तर्भूत] गुणों के समुदाय को कहनेवाले नहीं हैं । बल से अप्रसह्यकारी (=आक्रमण के अयोग्य) भी रोग से ग्रस्त शेरनी का पुत्र सिंह ही है । [गुणों के] समुदाय को कहनेवाला अवयव में प्रवृत्त नहीं हो सकता । [समुदायवाची की अवयव में प्रवृत्ति मानने पर] सब सिंह व्यक्तियों में जो सामान्य (=जाति) अर्थ है, उसका वाचक शब्द

---

१. द्र०—यजमानो वा एककपालः, आहवनीयः स्वर्गो लोकः, यत् सर्वहुतं करोति, हविर्भूतमेवैनं स्वर्गं लोकं गमयति । मै० सं० १।१०।७॥ २. मीमांसा १।२।१०॥

शब्दः,इति स्थितो न्यायः प्रत्युद्ध्रियेत । न चासति सिंहे परिकल्पनया प्रवर्त्तेत,कल्पनाया अशक्यत्वात् । 'कथं नु स्वार्थाभिधानेन प्रत्ययव्यवस्था' इति चेत्, अर्थसम्बन्धात् । सिंह इति निर्ज्ञाते प्रसह्यकारिता तत्र प्रायेणेति प्रसह्यकारीति गम्यते, अर्थप्रत्ययसामर्थ्यात् । यो हि मन्यते—प्रसह्यकारिणं प्रत्याययेयमिति, स यदि सिंहशब्दमुच्चारयति सिद्धचत्यस्याभिप्रेतम् । सिंहार्थः प्रतीतः प्रसह्यकारीति सम्बन्धादितरमर्थं प्रत्याययति । एवं स्वार्थाभिधानेन तद् गुणसम्बन्धः प्रतीयते ।

है, अर्थात् शब्द जाति=आकृति का वाचक है (द्र०—आकृत्यधिकरण, मी० १।३।३३), यह सिद्ध न्याय उखाड़ दिया जायेगा । और सिंह [आकृति] के न होने पर कल्पना प्रवृत्त नहीं होगी, कल्पना के अशक्य होने से । 'स्वार्थ के कथन से [गौण अर्थ की] प्रतीति की व्यवस्था कैसे होगी' ऐसा यदि कहो, तो अर्थ के सम्बन्ध से होगी । सिंह ऐसा ज्ञात होने पर उसमें प्रसह्यकारिता प्रायः होने से [तादृश] अर्थ के ज्ञान-सामर्थ्य से [सिंह शब्द के उच्चारण से] प्रसह्यकारी अर्थ जाना जाता है । जो यह मानता है कि—प्रसह्यकारी अर्थ का बोध कराऊं, वह यदि सिंह शब्द का उच्चारण करता है, तो उसका अभिप्रेत (=इच्छित) सिद्ध होता है । सिंह शब्द का प्रतीत हुआ अर्थ 'प्रसह्यकारी' रूप सम्बन्ध से [सिंह से] भिन्न अर्थ का बोध कराता है । इस प्रकार स्व अर्थ के अभिधान से वह गुणसम्बन्ध प्रतीत होता है ।

विवरण—न च सर्वे गुणसमुदायवचनाः—इस पर तन्त्रवार्तिक में कुमारिल ने लिखा है—'अन्य आचार्यों का मत है कि सब सिंह आदि शब्द जातिगुणक्रिया के समुदाय के वाचक हैं । समस्त समुदायरूप अर्थ के सम्भव न होने पर कतिपय गुण वा क्रियाओं के योग से भी वे प्रयुक्त होते हैं ।' सम्भव है भट्टकुमारिल का यह संकेत महाभाष्यकार पतञ्जलि की ओर हो । भगवान् पतञ्जलि ने नञ् (अष्टा० २।२।६) सूत्र के भाष्य में अथवा सर्वे एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते—ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति (=ब्राह्मणादि सब शब्द गुणसमुदाय को कहते हैं) लिखकर विस्तार से इसकी व्याख्या की है । मीमांसक द्रव्यशब्दों को जातिवाचक मानते हैं । इसी कारण गुणसमुदायवचनता में शबरस्वामी ने दो दोष दिये हैं—(१) समुदायवाची शब्द अवयव में वर्तमान नहीं होते, (२) पूर्व (मी० १।२।३३) स्थापित 'द्रव्य शब्द जातिवाचक हैं' इस सिद्धान्त की हानि होवेगी । जहां तक प्रथम दोष का सम्बन्ध है, वह हमारे विचार में चिन्त्य है । समुदायवाचक शब्द का अवयव में प्रयोग लोक में प्रायः होता है । यथा हस्तपाद आदि का समुदाय 'शरीर' कहाता है । हस्तपाद आदि एकदेश में चोट लगने पर जैसे 'मेरा हाथ वा पांव दुःखता है' अथवा 'हाथ वा पांव में चोट लगी है' का प्रयोग होता है, ऐसे ही मेरा शरीर दुःखता है, मेरे शरीर में चोट आई है, का प्रयोग होता है । वन वृक्षसमुदाय का वाचक है । उसके एकदेश के आग से जल जाने पर लोग कहते हैं—'वन जल गया'। शबरस्वामी ने वन की सत्ता का निराकरण मी० १।१।५ के भाष्य (पृष्ठ ४०) में किया है । तदनुसार उनके मत में शरीर भी नहीं है, क्योंकि अङ्गों के पृथक्-पृथक् कर देने पर शरीर नाम का कोई पदार्थ नहीं बचता । इस विषय में नैयायिकों का मत 'वृक्षसमुदाय का वाचक वन है' युक्त है । लोक भी इसी में प्रमाण है । दूसरा दोष मीमांसक मत में उचित है ॥

इह तु **यजमानः प्रस्तरः, यजमान एककपाल** इति कीदृशो गुणसम्बन्धः प्रतीयते ? तत्सिद्धिकर इति। सर्वो ह्यात्मनः कार्यसिद्धिं करोति। अन्योऽपि यस्तस्य कार्यसिद्धिं करोति, स तस्मिन्नुच्चरिते हृदयमागच्छति। यथा—'राजा पत्तिगणकः' इति, पत्तिगणको राज्ञः कार्यं साधयति, स राजशब्दे उच्चरिते प्रतीयते। एवमिहापि यजमानकार्यं प्रस्तरैककपालौ साधयतः, तौ यजमाने प्रतीते प्रतीयेते। तस्मात्तौ यजमानशब्देन प्रत्याय्येते। कथम् ? स्तुतौ स्यातां बर्हिष उपरि सादने सर्वहोमे चेति। तस्मादेवञ्जातीयका अर्थवादाः, न विधय इति ॥२३॥ **इति यजमानशब्दस्य प्रस्तरादिस्तुत्यर्थताऽधिकरणम् ॥१२॥**

[अग्न्यादिशब्दानां ब्राह्मणादिस्तुत्यर्थाधिकरणम्, जात्यधिकरणं वा ॥१३॥]

आग्नेयो वै ब्राह्मणः[1], **ऐन्द्रो राजन्यः**[2], **वैश्यो वैश्वदेवः**[3] इत्येवमादयः श्रूयन्ते। तत्र किं

व्याख्या—(आक्षेप) यहां यजमानः प्रस्तरः, यजमान एककपालः में किस प्रकार का गुणसम्बन्ध प्रतीत होता है ? (समाधान) तत्सिद्धिकर (=उसकी सिद्धि करनेवाला) है। सभी अपने कार्य को सिद्ध करते हैं। अन्य भी जो उसके कार्य को सिद्ध करता है, वह उसके उच्चरित होने पर हृदय को प्राप्त होता है, अर्थात् जाना जाता हैं। जैसे—'राजा पत्तिगणक' [कहने पर] पत्तिगणक (अर्थ विवरण में देखें) राजा का कार्य सिद्ध करता है, वह राज शब्द के उच्चरित होने पर जाना जाता है। इसी प्रकार यहां भी यजमान के [यज्ञ] कार्य को प्रस्तर और एककपाल पुरोडाश सिद्ध करते हैं, वे यजमान के प्रतीत होने पर प्रतीत होते हैं। इसलिये ये [प्रस्तर और एककपाल पुरोडाश] यजमान शब्द से जनाये जाते हैं। कैसे ? स्तुति को प्राप्त होवें, बर्हि के ऊपर बैठने (=रखने) में और सर्वहोम में। इसलिये इस प्रकार के वचन अर्थवाद हैं, [गुण] विधियां नहीं हैं ॥२३॥

विवरण—राजा पत्तिगणकः—पत्ति नाम पैदल तथा सैन्यभेद जिसमें एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े, पांच पैदल हों, का नाम है (द्र०—अमरकोष २।८।८४)। यहां राजा के निर्देश से सैन्यभेद अर्थ अभिप्रेत है। पत्ति की गणना करनेवाला अधिकारी पत्तिगणक कहाता है। **राज्ञः कार्यं साधयति**—पत्तिगणक अधिकारी राजा के कार्य का साधक होता है। इसलिये उसे भी गौण रूप से राजा कहा है ॥२३॥

व्याख्या—आग्नेयो वै ब्राह्मणः (=ब्राह्मण निश्चय ही आग्नेय=अग्निदेवतावाला है), ऐन्द्रो राजन्यः (=राजन्य=क्षत्रिय इन्द्र देवतावाला है), वैश्यो वैश्वदेवः (=वैश्य विश्वदेव-

---

१. तै० सं० २।३।३; तै० ब्रा० २।७।३॥ आग्नेयो ब्राह्मणः। ताण्ड्य ब्रा० १५।४।८॥

२. ताण्ड्य ब्रा० १५।४।८॥ ऐन्द्रो वै राजन्यः। तै० ब्रा० ३।८।२३॥

३. वैश्वदेवो हि वैश्यः। तै० ब्रा० २।७।२॥

गुणविधयः, अर्थवादाः इति सन्देहः। गुणविधय इति ब्रूमः। एवमपूर्वमर्थं विधास्यन्ति, इतरथा अर्थवादाः सन्तोऽनर्थकाः स्युः।

जातिः ॥२४॥ (सि०)

न विधिः, विध्यन्तरस्य भावात्। तस्मात् संवादः। तस्य संकीर्त्तनं विधिस्तुत्यर्थम्। अनाग्नेयादिष्वाग्नेयादिशब्दाः केन प्रकारेण? गुणवादेन। को गुणवादः? अग्निसम्बन्धः। कथम्? एकजातीयकत्वात्। किमेकजातीयकत्वम्? [1]प्रजापतिरकामयत प्रजाः [2]सृजेयमिति। स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत। तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत, गायत्रीच्छन्दः, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणाम्, अजः पशूनाम्। तस्मात्ते मुख्याः, मुखतो ह्यसृज्यन्त। उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत। तमिन्द्रो देवताऽन्वसृज्यत, त्रिष्टुप् छन्दः, बृहत् साम, राजन्यो मनुष्याणाम्, अविः

देवतावाला है) इत्यादि वचन सुने जाते हैं। उनमें गुणविधियां हैं अथवा अर्थवाद हैं, ऐसा सन्देह है। गुणविधियां हैं ऐसा कहते हैं। इस प्रकार (=गुणविधियां होने पर) अपूर्व अर्थ का विधान करेंगी, अन्यथा अर्थवाद होते हुये अनर्थक होवें।

विवरण—अपूर्वमर्थं विधास्यन्ति—ब्राह्मण के साथ अग्निदेवता के, क्षत्रिय के साथ इन्द्र देवता के, और वैश्य के साथ विश्वदेव देवता के सम्बन्ध का विधान करेंगी।

जातिः ॥२४॥

सूत्रार्थ—[आग्नेयो वै ब्राह्मणः अर्थवाद है] (गुणाश्रयः) गौण अर्थ के आश्रय से यहां ब्राह्मण को आग्नेय कहकर स्तुति की है। गौण अर्थ के आश्रयण में (जातिः) जन्म=उत्पत्ति कारण है। [अग्नि और ब्राह्मण की समान उत्पत्ति के बोधक अर्थवादवचन भाष्य में देखें।]

व्याख्या—गुणविधि नहीं है, विध्यन्तर के होने से। इसलिये यह संवाद (=अर्थवाद) है। उस (=संवाद) का कथन विधि की स्तुति के लिये है। अनाग्नेय आदि को (=अग्नि आदि के सम्बन्ध के अभाव) में आग्नेय आदि शब्द किस प्रकार से [प्रयुक्त हैं]? गुणवाद से। गुणवाद क्या है? अग्नि का सम्बन्ध। कैसे? एकजातीय (=एक से जन्म) होने से। एकजातीयकत्व क्या है? 'प्रजापति ने कामना की कि प्रजा को उत्पन्न करूं। उसने मुख से त्रिवृत् [स्तोम] को उत्पन्न किया। उसके पीछे अग्निदेवता उत्पन्न हुआ, गायत्री छन्द, रथन्तरसंज्ञक साम, मनुष्यों में ब्राह्मण, और पशुओं में अज। इसलिये ये मुख्य हैं, मुख से ही उत्पन्न हुये हैं। उर और बाहुओं से पञ्चदश [स्तोम] को उत्पन्न किया। उसके पीछे इन्द्रदेवता उत्पन्न हुआ, त्रिष्टुप् छन्द, बृहत्-संज्ञक साम, मनुष्यों में राजन्य, और पशुओं में अवि (=भेड़)। इसलिये ये

---

१. अतिस्वल्पभेदेन। तै० सं० ७।१।१॥

२. तै० सं० ७।१।१ इत्यत्र 'प्रजाः प्रजायेयेति' पाठः।

पशूनाम् । तस्मात्ते वीर्यवन्तः, वीर्याद्धि असृज्यन्त । ऊरुभ्यां[1] मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत । तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त, जगतीच्छन्दः, वैरूपं साम, वैश्यो मनुष्याणाम्, गावः पशूनाम् । एवमुक्ते सत्येकस्मिन्नेवंजातीयके विज्ञाते ऽन्योऽपि तज्जातीयको हृदयमागच्छति । तस्मादर्थवादशब्दाः ॥२४॥ इत्याग्नेयादिशब्दानां ब्राह्मणादिस्तुत्यर्थताऽधिकरणम् ॥१३॥

वीर्यवान् हैं, वीर्य से ही उत्पन्न हुये हैं । मध्य (भाग) ऊरुओं (=जङ्घाओं) से सप्तदश स्तोम को उत्पन्न किया । उसके पीछे विश्वेदेव देवता उत्पन्न हुये, जगती छन्द, वैरूप-संज्ञक साम, मनुष्यों में वैश्य, और पशुओं में गौवें ।' इस प्रकार [नाना पदार्थों की उत्पत्ति] कहने पर एकजातीय एक [पदार्थ] के विज्ञात होने पर अन्य भी उसी जातिवाला हृदय को प्राप्त होता है, अर्थात् ज्ञात होता है । इसलिये ये [आग्नेयो वै ब्राह्मणः आदि] शब्द अर्थवाद हैं ॥२४॥

विवरण—प्रजापतिरकामयत—इस सुदीर्घ पाठ को उद्धृत करने का प्रयोजन यह है कि किन-किन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है । पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात होने से मन्त्रार्थ के ज्ञान में बड़ी सहायता मिलती है । यास्क मुनि ने वेदार्थ में साहाय्य की दृष्टि से, विशेषकर उन मन्त्रों की दृष्टि से जो अनादिष्ट-देवतावाले (=जिनमें देवतावाची पद साक्षात् उपलब्ध नहीं होता) मन्त्रों के देवता (=विषय) के ज्ञान के लिये अपने ढंग से इसी प्रकार का वर्गीकरण निरुक्त (अ० ७, खण्ड ८-११) में किया है । इसे निरुक्तकार ने **भक्तिसाहचर्य** नाम दिया है । भक्तिसाहचर्य का अर्थ है—भजन=सेवन=मन्त्रपदों में मुख्यरूप से व्याप्त होना । देवता मन्त्रार्थ का प्राणभूत है । उसके साथ जिन लोक छन्द साम स्तोम आदि का साहचर्य देखा जाता है, उनका कथन यास्क ने इस प्रकरण में किया है । इस विषय में शबर स्वामी का **एकस्मिन् एवंजातीयके विज्ञातेऽन्योऽपि तज्जातीयको हृदयमागच्छति** लेख महत्त्वपूर्ण है । इसी नियम के आधार पर अनादिष्ट-देवतावाले मन्त्रों के देवता के परिज्ञान में समानजातीय छन्द लोक स्तोम साम आदि से देवता-विज्ञान करना चाहिये, यह यास्क ने लिखा है । पिङ्गल मुनि ने भी इस प्रकार की एकजातीयता अथवा भक्ति-साहचर्य को स्वीकार करके सन्दिग्ध छन्दोंवाले मन्त्रों के छन्दःज्ञान में देवता स्वर वर्ण आदि का उपयोग करने का विधान किया है (द्र०—छन्दःसूत्र अ० ३, सू० ६१–६३) ।

त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश—ये स्तोमों के नाम हैं । स्तोम क्या हैं, और किस प्रकार इनकी प्रकल्पना होती है, इसका हम संक्षेप से वर्णन करते हैं—

सामवेद के दो भाग हैं—मन्त्र और गान । सामवेदीय सभी मन्त्र ऋक् अर्थात् पादबद्ध (पद्यरूप) हैं । साममन्त्रसंहिता के दो भाग हैं—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक । पूर्वार्चिक में उन मन्त्रों का पाठ है, जिनमें विभिन्न ऋषियों ने सामगान का दर्शन किया । इसलिये पूर्वार्चिक की ऋचाएं योनि-ऋक् कहाती हैं । एकं साम तृचे क्रियते (=एक साम तीन ऋचियों पर गाया

---

1. तै० सं० ७।१।१ इत्यत्र 'ऊरुभ्याम्' पदं नास्ति ।

जाता है), नियम के अनुसार किसी भी साम को योनि-ऋक् के साथ दो अन्य ऋचाओं को मिलाकर गान किया जाता है। इसलिये उत्तरार्चिक में पूर्वार्चिक की ऋचा के पश्चात् सामान्यत: दो-ऋचाएं और पढ़ी गई हैं (कहीं-कहीं दो ही ऋचाएं हैं, कहीं-कहीं ३ से अधिक भी हैं, उन पर सामगान की व्यवस्था के पृथक् नियम हैं)।

एक साम तीन ऋचाओं पर गाया जाता है। इसकी तीन आवृत्तियां की जाती हैं। इन्हें पर्याय कहा जाता है। पर्यायों में मन्त्रावृत्ति की संख्या के भेद से किये गये गान को स्तोम कहते हैं। उनके संख्याभेद से **त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश एकविंश त्रिणव त्रयस्त्रिंश चतुस्त्रिंश चतुश्चत्वारिंश और अष्टाचत्वारिंश** नाम हैं। किस यज्ञ में किस साम का किस स्तोमरूप में गान करना चाहिये, इसका निर्देश ताण्डच ब्राह्मण आदि याज्ञिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। तीन ऋचाओं की तीन पर्यायों में जिस प्रकार आवृत्ति की जाती है, उसे **विष्टुति** कहते हैं। स्तोमों के विष्टुतिभेद का निर्देश भी ताण्डच ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उसके अनुसार **त्रिवृत् स्तोम** की १ विष्टुति, **पञ्चदश स्तोम** की ३ विष्टुतियां, **सप्तदश स्तोम** की ७ विष्टुतियां, **एकविंश स्तोम** की ४ विष्टुतियां, **त्रिणव स्तोम** की २ विष्टुतियां, **त्रयस्त्रिंश स्तोम** की ५ विष्टुतियां, **चतुस्त्रिंश स्तोम** की १ विष्टुति, **चतुश्चत्वारिंश स्तोम** की ३ विष्टुतियां, और **अष्टचत्वारिंश स्तोम** की २ विष्टुतियां, अर्थात् सब मिलाकर २८ विष्टुतियां होती हैं। इन विष्टुतियों के प्रकार के परिज्ञान के लिये गुरुवर्य म० म० श्री पं० चिन्नस्वामी जी सम्पादित ताण्डच-ब्राह्मण भाग २ की भूमिका देखनी चाहिये। हम यहां प्रकार के निदर्शन के लिये त्रिवृत् स्तोम और पञ्चदश स्तोम की विष्टुतियों का चित्रण करते हैं। उन्हें इस प्रकार जानना चाहिये—प्रत्येक विष्टुति में ऊपर संकेतित १-२-३ संख्या गेय साम की तीन ऋचाओं के क्रम की हैं। बाईं ओर बगल में तीन पर्यायों का निर्देश किया है। किस पर्याय में साम की किस ऋक्साम का कितनी बार उच्चारण होता है, उसका संकेत (—) ऐसी आड़ी वा (|) खड़ी रेखा से किया है। यथा—

त्रिवृत् स्तोम की विष्टुति

ऋक्क्रम-संख्या	१	२	३
तृतीय पर्याय	—	—	—
द्वितीय पर्याय	|	|	|
प्रथम पर्याय	—	—	—

गणना की स्मृति के लिये गूलर के वृक्ष के प्रादेशमात्र (१० अङ्गुल परिमाण) के कीलाकार तीक्ष्णाग्र काष्ठ उतनी संख्या में दर्शाये गये ढंग से आड़े खड़े रखे जाते हैं। इन्हें याज्ञिक 'कुशा' कहते हैं।

इस स्तोम में प्रत्येक पर्याय में तीन ऋचाओं में गेय ऋक्साम का एक बार गान होने से ३×३=९ ऋचाओं पर साम का गान होने से यह त्रिवृत् (=तीन आवर्तन) होने से **त्रिवृत् स्तोम** कहाता है।

[यजमानादिशब्दानां यूपस्तुत्यर्थाधिकरणम्, सारूप्याधिकरणं वा ॥१४॥]

यजमानो यूपः[1], **आदित्यो यूपः**[2] इत्यादि श्रूयते । तत्र गुणविधिः, अर्थवादः इति सन्देहः । अर्थवत्त्वाद् गुणविधिः ।

पञ्चदश स्तोम की प्रथमा विष्टुति

ऋक्क्रम-संख्या	१	२	३
तृतीय पर्याय	—	—	≡
द्वितीय पर्याय	|	|||	|
प्रथम पर्याय	≡	—	—

इस स्तोम में १५ संख्या की उपपत्ति के लिये प्रथम पर्याय में पहली ऋचा का ३ बार, दूसरी और तीसरी का एक बार, इस प्रकार ३+१+१=५ प्रथम पर्याय में ५ संख्या उपपन्न होती है । द्वितीय पर्याय में दूसरी ऋचा ३ बार, पहली और तीसरी का एक-एक बार (१+३+१ =५) । तृतीय पर्याय में पहली दूसरी ऋचाओं का एक-एक बार और तीसरी का तीन बार (१+१+३=५) । इस प्रकार प्रत्येक पर्याय में एक-एक पञ्चक (=पांच संख्या का समूह) की उपपत्ति होने से ३×५=१५ संख्या बनती है । इसलिये इसका नाम पञ्चदश स्तोम है । पञ्चदश स्तोम की शेष दो विष्टुतियां इस प्रकार बनती हैं—

पञ्चदश स्तोम की द्वितीया विष्टुति

ऋक्क्रम-संख्या	१	२	३	
तृतीय पर्याय	—	≡	≡	(७)
द्वितीय पर्याय	|	|	|	(३)
प्रथम पर्याय	≡	—	—	(५)

पञ्चदश स्तोम की तृतीया विष्टुति

ऋक्क्रम-संख्या	१	२	३	
तृतीय पर्याय	≡	—	≡	(७)
द्वितीय पर्याय	|	|||	|	(५)
प्रथम पर्याय	—	—	—	(३)

इस प्रकार इन विष्टुतियों में भी प्रतिपर्याय ऋक्संख्या के भेद से पञ्चदश संख्या उपपन्न होती है । विष्टुतियों की संज्ञाविशेष का भी निर्देश सामग्रन्थों में मिलता है ॥२४॥

व्याख्या—यजमानो यूपः (=यूप यजमान है), आदित्यो यूपः (=यूप आदित्य है) इत्यादि सुना जाता हैं । उसमें गुणविधि है अथवा अर्थवाद यह सन्देह है । [अर्थवाद के अनर्थक होने से, और] अर्थवान् होने से गुणविधि है ।

---

१. का० सं० २६।६॥ २. तै० ब्रा० २।१।५॥

सारूप्यात् ॥२५॥ (उ०)

अशक्यत्वाद् यूपकार्यसाधनं यजमानस्य, यजमानकार्यसाधने वा यूपस्य । विध्यन्तरभावाच्च न विधिः । विधिस्तुत्यर्थं संवादः । गुणवादात् सामानाधिकरण्यम् । को गुणः ? सारूप्यम् । किं सारूप्यम् ? ऊर्ध्वता तेजस्विता च । तस्मादेवञ्जातीयका अर्थवादाः ॥२५॥ इति यजमानादिशब्दानां यूपस्तुत्यर्थताधिकरणम् ॥१४॥

[अपश्वादिशब्दानां गवादिप्रशंसाधिकरणम्, प्रशंसाधिकरणं वा ॥१५॥]

अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः[1], अयज्ञो वा एष योऽसामा[2], असत्रं वा एतद्

सारूप्यात् ॥२५॥

सूत्रार्थ—[यजमानो यूपः अर्थवाद है] (गुणाश्रयः) गौण अर्थ के आश्रय से यहां यूप को यजमान कहकर स्तुति की है । गौण अर्थ का आश्रयण (सारूप्यात्) यूप और यजमान के सारूप्य से होता है । [यूप की लम्बाई यजमानसम्मित=यजमान के बराबर होना दोनों का सारूप्य है ।]

व्याख्या—यूप के कार्य-साधन (=पशुबन्धनादि) में यजमान के नियोजन के अशक्य होने से [अर्थात् यजमान में पशु नहीं बांधा जा सकता], और यजमान के कार्य-साधन में यूप के नियोजन के अशक्य होने से । [यूप को यजमान तथा आदित्यरूप गुणविधान करने पर तत्प्रयोजक] विध्यन्तर के होने से भी [गुण] विधि नहीं है । विधि की स्तुति के लिये संवाद (=अर्थवाद) है । गुण के कथन से दोनों में सामानाधिकरण्य है । कौनसा गुण ? सारूप्य । सारूप्य क्या है ? ऊर्ध्वता और तेजस्विता । इसलिये इस प्रकार के अर्थवाद हैं ॥२५॥

विवरण—ऊर्ध्वता—यूप की ऊंचाई यजमानसम्मितो यूपो भवति (=यजमान के प्रमाण का यूप होता है) नियम से यजमान के बराबर होना दोनों का सारूप्य है । यूप के विविध प्रमाण (=ऊंचाई) यज्ञों में कहे हैं । इसके लिये आपस्तम्ब श्रौत ७।२।११-१७ देखना चाहिये । सूत्र १६ में पुरुषमात्र प्रमाण कहा है । इसके भाष्य में धूर्तस्वामी ने लिखा है—पुरुषप्रमाण एव सर्वदा । तेजस्विता—यूप का घृत से अभ्यञ्जन किया जाता है=घृत लगाया जाता है—देवस्य त्वा सविता मध्वानक्तु (का० श्रौत ६।३।२) । इससे यूप में चमकसी आ जाती है । यही तेजस्विता यूप और आदित्य का सारूप्य है ॥२५॥

व्याख्या—अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः (=गौ और अश्व से भिन्न अपशु हैं, गौ और अश्व ही पशु हैं), अयज्ञो वा एष योऽसामा (=यह यज्ञ नहीं है, जो

---

१. द्र०—अपशवो⋯पशवो गोअश्वान् । तै० सं० ५।२।६॥ २. तै० सं० १।५।७॥

यदच्छन्दोमम्[1] इति श्रूयते। तत्र विध्यर्थवादसन्देहे अर्थवत्त्वाद्विधय इति प्राप्ते अभिधीयते—

प्रशंसा ॥२६॥ (उ०)

यदि विधयो भवेयुः, गोअश्वा एव पशवः स्युः, सामवानेव यज्ञः, छन्दोमवदेव सत्रम्। अन्येषां पशूनां यज्ञानां सत्राणां चोत्पत्तिरनर्थिका स्यात्, विध्यन्तरञ्च नावकल्पेत। अतः स्तुत्यर्थं संवादः। गोअश्वान् प्रशंसितुमन्येषां पशूनां निन्दा, सामवतः प्रशंसितुम् असाम्नां निन्दा, छन्दोमवन्ति प्रशंसितुमच्छन्दोमकानि निन्द्यन्ते। यथा—'यदघृतमभोजनं तत्', 'यन्मलिनमवासस्तत्' इति ॥२६॥ **इत्यपश्वादिशब्दानां गवादिप्रशंसार्थताधिकरणम् ॥ नहि निन्दान्यायः ॥१५॥**

साम से रहित है), असत्रं वा एतद् यदच्छन्दोमम् (=वह सत्र नहीं है, जो छन्दोमरहित है) यह सुना जाता है। उनमें गुणविधि और अर्थवाद के सन्देह में [विधि के] अर्थवान् होने से गुणविधि है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—असामा—सूत्रकार ने साम का लक्षण गीतिषु सामाख्या (२।१।३६) किया है। इसके अनुसार सामवेदीय ऋचाओं के आधार पर जो गान होता है, वह 'साम' कहाता है। सामगान के चार भेद हैं—गेय गान, अरण्य गान, ऊह गान और ऊह्य गान। **असत्रम्—**सत्र के विषय में पूर्व पृष्ठ ६४, टि० २ में लिख चुके हैं। पाठक उसे पुनः देख लें। **अच्छन्दोमम्—**द्वादशाहादि सत्रों में छन्दोमसंज्ञक चार अहः होते हैं। उनमें क्रमशः चतुर्विंश स्तोम, चतुश्चत्वारिंश स्तोम, और अष्टाचत्वारिंश स्तोमोंवाले ३ अहः सर्वत्र समान हैं। चतुर्थ अहः में मतभेद है (द्र०—निदान सूत्र ३।६; तै० सं० सायणभाष्य ७।३।३। इन छन्दोमसंज्ञक अहों से रहित सत्र को असत्र कहा है। गुणविधिपक्ष में गौ और अश्व से अन्यों में अपशुत्वरूप गुण, असामा यज्ञों में अयज्ञत्वरूप गुण, और अच्छन्दोमों में असत्रत्वरूप गुण का विधान जानना चाहिये।

प्रशंसा ॥२६॥

सूत्रार्थ—[**अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः** अर्थवाद है] (गुणाश्रयः) गौण अर्थ के आश्रय से यहां गोअश्वों से अन्य को अपशु कहकर गोअश्व की (प्रशंसा) प्रशंसा की है।

व्याख्या—[अपशवो वा अन्ये आदि] **यदि गुणविधियां होवें, तो गौ और अश्व ही पशु होवें, सामयुक्त ही यज्ञ होवे, और छन्दोमयुक्त ही सत्र होवे। अन्य पशुओं यज्ञों और सत्रों की उत्पत्ति अर्थात् विधान अनर्थक होवे, तथा [गो अश्व से अन्य अजादि पशु, साम से रहित दर्श-पौर्णमास आदि, और छन्दोम से रहित सत्र सम्बन्धी] विध्यन्तर समर्थ न होवे। इसलिये स्तुत्यर्थ ये अर्थवाद हैं। गौ और अश्वों की प्रशंसा के लिये अन्य पशुओं की निन्दा है, सामयुक्त यज्ञों की प्रशंसा के लिये सामरहित यज्ञों की निन्दा है, और छन्दोमसंज्ञक स्तोमों से युक्त सत्रों की प्रशंसा के लिये छन्दोमस्तोमरहित सत्रों की निन्दा की है। जैसे—'जो घृतरहित है, वह भोजन नहीं है', 'जो मलिन है, वह वस्त्र नहीं है' ॥२६॥**

---

१. तै० सं० ७।३।६, ८॥

[बाहुल्येन सृष्टिव्यपदेशाधिकरणम्, भूमाधिकरणं वा ॥१६॥]

सृष्टीरुपदधाति[1] इति श्रूयते। तत्र गुणविधिः, अर्थवादः इति सन्देहे अपूर्वत्वाद् विधिरिति प्राप्ते उच्यते—

विवरण—प्रकृत उदाहरणों में गोअश्वों, सामवान् यज्ञों और छन्दोमयुक्त सत्रों की प्रशंसा के लिये अन्य पशुओं यज्ञों और सत्रों की निन्दा कही है। इसी से नहि निन्दा निन्दितु प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुम् (=निन्दा का प्रयोजन निन्दा नहीं है, अपितु तद्भिन्न की स्तुति में तात्पर्य है) यह न्याय माना जाता है। इसको मीमांसक 'नहि निन्दा-न्याय' कहते हैं॥२६॥

———

व्याख्या—सृष्टीरुपदधाति (=सृष्टियों का उपधान करता है=रखता है), यह सुना जाता है। इसमें गुणविधि है वा अर्थवाद, इस सन्देह में अपूर्व विधान होने से गुणविधि है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—अग्निचयन याग में सृष्टीरुपदधाति वचन पठित है। 'सृष्टि' शब्द में इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे (महाभाष्य ३।३।१०८) वार्तिक से धातु-निर्देश में श्तिप् प्रत्यय होने से 'सृष्टि' शब्द से 'सृज' धातु विवक्षित है। वह सृज धातु [असृज्यत, असृज्येताम्, असृज्यन्त पद] जिन मन्त्रों में प्रयुक्त हैं, वे सृष्टिमत् मन्त्र कहाते हैं। सृष्टिमत् मन्त्र उपधान (=रखने) के लिये है जिन इष्टकाओं (=ईंटों) का, वे इष्टकाएं सृष्टि कही जाती हैं। द्र०—पाणिनीय सूत्र—तद्वान् आसामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतोः (अष्टा० ४।४।१२५) अर्थात् तद्वान्=वह सृष्टि (सृज् धातु) शब्द है जिस मन्त्र में, व इनका उपधान मन्त्र है इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है, यदि वे उपधानीय इष्टकाएं होवें, और मतुप् का लुक् हो जाता है। यथा—पयः शब्द है जिस मन्त्र में वह पयस्वान् मन्त्र, उससे उपधानीय इष्टकाएं इस अर्थ में यत् पयस्वान् यत्, मतुप् का लुक्=पयस् य=पयस्या उपदधाति। इसी प्रकार यहां भी सृष्टिमत् यत्, मतुप् का लोप होकर सृष्टि यत् इस अवस्था में छान्दस यत् प्रत्यय का लुक्=सृष्टि, इसका द्वितीया का बहुवचन—सृष्टीरुपदधाति।

अब यहां गुणविधि इस प्रकार जाननी चाहिये—अग्निं चिन्वीत इस विधि से अग्नि के चयन का विधान है। इष्टकाभिरग्निं चिनुत से 'अग्न्याख्य स्थण्डिलविशेष को इष्टकाओं से सिद्ध करें' अर्थ कहा गया है। इस प्रकार अग्नि और इष्टकाओं का विधान विध्यन्तरों से हो चुका है। यद्यपि सृष्टीरुपदधाति से सृष्टिमान् मन्त्र से रखी जानेवाली इष्टकाओं का उपधान अर्थ गम्यमान होता है, परन्तु इसमें से इष्टकाओं का विधान इष्टकाभिरग्निं चिनुते वचन से हो चुका है। अतः यह विधि इष्टकाचयन को उद्देश करके सृजि धातु युक्त एकयाऽस्तुवत इत्यादि मन्त्रों का ही विधान करती है।

---

1. तै० सं० ५।३।४॥

भूमा ॥२७॥ (उ०)

यदि विधिः, सृष्टि-मन्त्रका उपदधातीष्टका इत्यर्थः । तत्र न इष्टकानां विशेषः कश्चिदाश्रीयते, एवंरूपाः सृष्टिमन्त्रकाः, नैवंरूपा इति । तत्र सर्वासां सृष्टिलिङ्गा मन्त्राः प्राप्नुयुः । अन्येषाम् असंयुक्तानां मन्त्राणामानर्थक्यं स्यात् । तस्मादनुवादो मन्त्रसमाम्नानात् प्राप्तानामुपधाने मन्त्राणाम् । सृष्टीनां सङ्कीर्त्तनं सर्जनार्थवादार्थम् । अपि च, विधित्वे लक्षणा—एकयाऽस्तुवत[1] इत्यत्र या असृष्टयस्ता लक्षयेत् । नन्वनुवादेऽपि लक्षणा? नानुवादपक्षे लक्षणायां दोषः । कथं त्वसृष्टिषु सृष्टिषु च सृष्टिशब्द इति ? भूम्ना । बहवस्तत्र सृष्टिलिङ्गा मन्त्राः, अल्पशो विलिङ्गा इति ॥२७॥ **इति बाहुल्येन सृष्टिव्यपदेशाधिकरणम्, भूमाधिकरणं वा ॥१६॥**

भूमा ॥२७॥

सूत्रार्थ—[सृष्टीरुपदधाति यह गुणविधि सृज् धातु से सम्बद्ध मन्त्रों का विधायक नहीं है, अपि तु] (भूमा) भूमारूप (गुणाश्रयः) गुण के आश्रय से, अर्थात् सृज धातु युक्त मन्त्रों के बाहुल्य से, तत्प्रकरणपठित सृज धातु से रहित मन्त्रों से उपधीयमान इष्टकाओं का विधान करता है ।

व्याख्या—[सृष्टीरुपदधाति] यदि गुणविधि होवे, तो सृष्टिमन्त्रवाली इष्टकाओं को रखता है, यह अर्थ होगा । वहां (=इष्टकाओं के उपधान में) इष्टकाओं का कोई भेद आश्रित नहीं है कि इस रूपवाली इष्टकाएं सृष्टिमन्त्रवाली हैं, इस प्रकार की सृष्टिमन्त्रवाली नहीं हैं । ऐसी अवस्था में [सृष्टिमन्त्ररूप गुणविधि मानने पर] सभी इष्टकाओं के सृष्टिलिङ्गवाले मन्त्र प्राप्त होवेंगे । अन्य [इष्टका के उपधान में साक्षात्] असंयुक्त मन्त्रों का आनर्थक्य प्राप्त होगा । [अर्थात् अग्नि के स्थण्डिलनिर्माण के लिये आवश्यक सभी इष्टकाओं का सृष्टिलिङ्ग मन्त्रों से ही उपधान हो जाने पर उस प्रकरण में पठित मन्त्र निष्प्रयोजन होवेंगे] । इसलिये [अग्निचयन-प्रकरण में] मन्त्रपाठ से इष्टका-उपधान में प्राप्त मन्त्रों का अनुवाद है । सृष्टियों का संकीर्तन सर्जन कर्म के अर्थवाद के लिये है । और भी, गुणविधि मानने पर लक्षणा होगी—एकयाऽस्तुवत (तै० सं० ४।३।१०) के प्रकरण में जो सृष्टिरहित हैं, उनको लक्षित करेगा । अनुवाद में भी तो लक्षणा है ? अनुवादपक्ष में लक्षणा होने में दोष नहीं है । तो कैसे सृष्टिपद-रहितों और सृष्टिपदसहितों में सृष्टि शब्द होगा ? भूम्ना=आधिक्य से । वहां सृष्टिलक्षण मन्त्र बहुत हैं, सृष्टिलिङ्गरहित अल्प हैं ।।२७ ।

विवरण—सृष्टिमन्त्रकाः—सृष्टिमन्त्र से प्राप्त इष्टकाएं रखता है, अर्थ होगा । असृष्टयः—एकयाऽस्तुवत के प्रकरण में १७ मन्त्र हैं । द्र०—तै० सं० ४।३।१० तथा शुक्लयजुः माo संo अo १४, कं० २८-२९-३०-३१ [कण्डिका २८ में ४ मन्त्र, कण्डिका २९ में ५ मन्त्र,

---

1. तै० सं० ४।३।१०॥

[प्राणभृदादिशब्दानां स्तुत्यर्थताधिकरणम्, लिङ्गसमवायाधिकरणं वा ॥१७॥]

लिङ्गसमवायात् ॥२८। (उ०)

प्राणभृत उपदधाति[1], अज्यानीरुपदधाति[2] इति । विधित्वे प्राणभृन्मन्त्रकासूपधीयमानासु विलिङ्गानां मन्त्राणामानर्थक्यम् । तस्मादनुवादः । लिङ्गसमवायात् परशब्दः परत्र वर्त्तते । यथा—छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेन छत्रिणा सर्वे लक्ष्यन्ते । न चायं प्राणभृच्छब्दः सृष्टिशब्दश्च जहत्स्वार्थं मन्त्रगणं लक्षयेत् । यद्गणे च सृष्टिप्राणभृच्छब्दौ समवेतौ, तावपि परिगृह्येते । यथा छत्रिशब्देन स्वार्थलक्षणार्थेन सोऽपि छत्री गृह्यते इति ॥२८॥

इति प्राणभृदादिशब्दानां स्तुत्यर्थताऽधिकरणम् ॥१७॥

कण्डिका ३० में ५ मन्त्र, और कण्डिका ३१ में ३ मन्त्र हैं] । उनमें पहला चौदहवां और सत्रहवां मन्त्र सृष्टिरहित (=सृज धातु के असृज्यत, असृज्येताम्, असृज्यन्त प्रयोग से रहित) हैं । सर्जनार्थवादार्थम्—इसका अर्थवाद है—यथासृष्टमेवावरुन्धे (तै० सं० ५।३।४) । विधित्वे लक्षणा—विधि में लक्षणा दोष माना जाता है—न विधौ लक्षणा यह मीमांसकों का न्याय प्रसिद्ध है । नानुवादपक्षे लक्षणायां दोषः—इसका भाव यह है कि बिना लक्षणा के स्तुति-निन्दारूप अर्थवाद उपपन्न ही नहीं होता । अतः अनुवाद=अर्थवाद में लक्षणा दोष नहीं है, अपितु उसका भूषण है ॥२७॥

लिङ्गसमवायात् [गुणाश्रयः] ॥२८॥

सूत्रार्थ—[प्राणभृत उपदधाति यह गुणविधि नहीं है] । (लिङ्गसमवायात्) 'प्राण' लिङ्ग का समवाय=योग=सम्बन्ध होने से (गुणाश्रयः) यह गौण अर्थ के आश्रय से प्राण लिङ्ग से रहित मन्त्रों का भी स्तावक है ।

व्याख्या—प्राणभृत उपदधाति (=प्राणभृत् इष्टकाओं का उपधान करता है), अज्यानीरुपदधाति (=अज्यानि इष्टकाओं का उपधान करता है) । गुणविधि मानने पर प्राणभृत् मन्त्र से उपधान की जानेवाली इष्टकाओं में [प्राणभृत्] लिङ्गविरहित मन्त्रों का आनर्थक्य होगा । इसलिये यह अनुवाद (=अर्थवाद) है । [प्राणभृत्] लिङ्ग के समवाय (=योग) से परशब्द (=प्राणभृत् शब्द) परत्र (=अप्रमाणभृत् में) व्यवहृत है । जैसे—'छत्री जाते हैं' कहने पर [एक व्यक्ति के भी छाते से युक्त होने पर उस] एक छत्री से सभी लक्षित होते हैं । और यह प्राणभृत् शब्द और सृष्टि शब्द अपने अर्थ को छोड़ता हुआ मन्त्रसमुदाय को लक्षित नहीं करे । जिस मन्त्रसमुदाय में सृष्टि और प्राणभृत् शब्द समवेत अर्थात् विद्यमान हैं, वे भी गृहीत होते हैं । जैसे—स्व अर्थ को न छोड़ते हुये छत्री शब्द से लक्षणार्थ से वह छत्री भी गृहीत होता है ॥२८॥

---

१. तै० सं० ५।२।१०॥ २. द्र०—अज्यानीरेता उपदधाति । तै० सं० ५।७।२॥

विवरण—प्राणभृत उपदधाति—जैसे सृष्टिसंज्ञक इष्टकाओं के उपधान-मन्त्रों में सृष्टि (=सृज धातु के रूप) पठित हैं, उस प्रकार प्राणभृत्संज्ञक इष्टकाओं के उपधान-मन्त्रों में प्राणभृत् शब्द पठित नहीं हैं। यहां पूर्ववत् 'उपभृत् शब्दवान् उपधान मन्त्र है इनका' ऐसी व्युत्पत्ति सम्भव नहीं, तथापि उपधान-मन्त्र में प्राण प्राणायन शब्दों का पाठ होने से तथा **प्राणभृत उपदधाति** के उत्तरभाग **रेतस्येव प्राणान् दधाति** का निर्देश होने से **प्राणं बिभर्ति**='प्राण को धारण करता है' अर्थ का परिज्ञान होने से प्राणभृत् से पूर्ववत् **तद्वानासामुपधानो मन्त्रः** (अष्टा० ४।४।१२५) से यत्, मतुप् का लुक् और छान्दस यत् का लुक् होकर प्राणभृत् इष्टकाओं की संज्ञा होती है।

प्राणभृत्संज्ञक ५० इष्टकाएं हैं। इन इष्टकाओं के मन्त्र तै० सं० ४।३।२ में, तथा शुक्ल यजुः अ० १३ कण्डिका ५४–५५–५६–५७–५८ में पठित हैं। कात्या० श्रौत १७।६।३ में प्रति-मन्त्रम् निर्देश होने से महीधर आदि ने प्रतिकण्डिका १०-१० मन्त्र (=५×१०=५०) मानकर एक-एक मन्त्र से एक-एक प्राणभृत् इष्टका का उपधान कहा है। सायणाचार्य ने तै०सं० ४।३।२ के व्याख्यान में लिखा है—'यद्यपि एक वाक्य होने से यह एक ही मन्त्र है, तथापि प्रति इष्टका आवृत्ति से १०–१० मन्त्र बन जाते हैं। अर्थात् सायण **अयं पुरः** से **प्रजाभ्यः** तक एक मन्त्र ही मानता है, न कि १० मन्त्रों का समूह। तैत्तिरीय शाखाध्येता कुतुहलवृत्तिकार महीधरवत् खण्डशः ५० मन्त्र ही मानता है। ५० मन्त्रपक्ष में द्वितीय **'तस्य प्राणो भौवायनः'**, तृतीय **'वसन्तः प्राणायनः'** और दशम **'प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः'** इन तीन मन्त्रों में ही प्राणलिङ्ग सम-वेत है। **विलिङ्गानाम्**—शेष ४७ मन्त्र प्राणलिङ्ग से रहित हैं। **सृष्टीरुपदधाति** के १७ मन्त्रों में से १४ मन्त्रों में सृज धातु की क्रिया पठित हैं, ३ में नहीं है। यहां प्राणभृत् के ५० मन्त्रों में से केवल ३ मन्त्रों में प्राण का लिङ्ग है, ४७ में नहीं है। अतः पूर्व अधिकरण से गतार्थ न होने से सूत्रकार ने नया अधिकरण रचा है।

अज्यानीरुपदधाति—अज्यानि-संज्ञक ५ इष्टकाएं हैं। इन के मन्त्र तै० सं० ५।७।२ में पठित हैं – **शतायुधाय, ये चत्वारः, ग्रीष्मो हेमन्तः, इदुवत्सराय, भद्रान्नः श्रेयः**। तै० सं० के इसी प्रकरण में पांचों मन्त्रों का निर्देश करके **अज्यानीरेता उपदधाति, एता वै देवता अपराजितास्ता एव प्रविशति, नैव जीयते** (=अज्यानि-संज्ञक इन इष्टकाओं का उपधान करता है। ये मन्त्रनिर्दिष्ट इन्द्र आदि देवता अपराजित हैं। यजमान इन्हीं देवताओं में प्रवेश करता है, वह किसी से जीता नहीं जाता) अर्थवाद पढ़ा है। उक्त पांच मन्त्रों में से केवल द्वितीय मन्त्र में **अज्यानिम्** पद पठित है, शेष चार मन्त्रों में नहीं है। पांच मन्त्रों के समुदाय में एक मन्त्र में भी दृष्ट लिङ्ग का सम्बन्ध अलिङ्ग मन्त्रों को भी लक्षित करेगा। जैसे—**छत्रिणो गच्छन्ति** में एक के छाताधारी होने पर भी **छत्रिणः** पद अन्यों को भी लक्षित करता है।

एकेनापि छत्रिणा—किसी समुदाय में कतिपय छत्री (=छाताधारी) होवें और शेष छाते से रहित होवें, तो भी **छत्रिणो यान्ति**=छाताधारी जाते हैं, यह प्रयोग होता है। इसे लोक में छत्रि-न्याय कहते हैं। ऐसा ही एक लौकिक दण्डि-न्याय भी है। दोनों में अन्तर यह है कि **दण्डिनो यान्ति** का प्रयोग वहां होता है, जहां समुदाय के अधिकांश व्यक्तियों के हाथों में दण्ड होता है,

[वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थनिरूपणाधिकरणम्, वाक्यशेषाधिकरणम्, अक्ताधिकरणं वा ।।१८।।]

अक्ताः शर्करा उपदधाति, तेजो वै घृतम्[1] इति श्रूयते । तत्र सन्देहः, किं घृततैलवसानामन्यतमेन द्रव्येणाञ्जनीयाः शर्कराः, उत घृतेनैवेति ? कथं सन्देहः ? अञ्जनसामान्येन वाक्यस्योपक्रमः, घृतेन विशेषेण निगमनम् । यथोपक्रमं निगमयितव्यमेकस्मिन् वाक्ये । तत्र यद्वा सामान्यमादौ विशेषोपलक्षणार्थं विवक्ष्यते, यद्वा निगमने विशेषः सामान्यलक्षणार्थः । तदारम्भनिगमनयोः किं समञ्जसम् ? इति संशयः । एवं सन्दिग्धेषु उपक्रमे सामान्यवचने विरोधाभावान्न विशेषः परिकल्प्यः । निगमने तूपजातः सामान्यप्रत्यय इति विरोधाल्लक्षणार्थं घृतवचनम् । यथा—सृष्टिष्वसृष्टिषु च सृष्टिशब्दः, एवं घृतम-

---

और अल्प व्यक्तियों के हाथ में दण्ड नहीं होता । छत्रि-न्याय इस दण्डि-न्याय से उलटा है, यहां समुदाय में छत्रियों की संख्या अल्प होती है, और छातारहितों की अधिक । मीमांसकों का भूम-न्याय दण्डि-न्याय है ।

मूल सूत्रपाठ इस प्रकार है—तत्सिद्धि जातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवाया इति गुणाश्रयाः (द्र०—कुतुहलवृत्ति)। सूत्र में इति शब्द प्रकारवाची है, उससे पूर्वनिर्दिष्ट रूपात् प्रायात् (मी० १।२।११) निर्दिष्ट गुणवचनता का भी संग्रह जानना चाहिये (कुतुहलवृत्ति) ।।२८।।

व्याख्या—अक्ताः शर्करा उपदधाति, तेजो वै घृतम् (=अञ्जन की हुई अर्थात् चुपड़ी हुई शर्करा=रोड़ी को रखता है, घृत ही तेज है) यह सुना जाता है । इसमें सन्देह है, क्या घृत तैल वसा में से किसी द्रव्य से शर्कराओं का अञ्जन किया जाये, अथवा घृत से ही ? सन्देह कैसे है ? वाक्य का आरम्भ अञ्जन-सामान्य से किया है (अर्थात् केवल अक्ताः अञ्जन की हुई इतना ही कहा है), और घृतरूप विशेष [अञ्जनसाधन] से वाक्य का उपसंहार किया है । एक वाक्य में जैसा आरम्भ होवे, वैसा ही उपसंहार होना चाहिये । वहां (=उपक्रम और उपसंहार के भिन्न होने पर) चाहे तो आदि में [उक्त] सामान्यशब्द विशेष के उपलक्षणार्थ विवक्षित होवे, चाहे उपसंहार [श्रुत] विशेष [घृत] सामान्य के उपलक्षण के लिये होवे । ऐसी अवस्था में उपक्रम और उपसंहार में क्या [मानना] युक्त है ? यह संशय होता है । इस प्रकार सन्दिग्धों में उपक्रम में सामान्यवचन में विरोध न होने से विशेष की परिकल्पना नहीं करनी चाहिये । उपसंहार में तो सामान्यज्ञान उत्पन्न हुआ [घृतविशेष वचन के] विरोध से घृतवचन लक्षणार्थ है [अर्थात् उपक्रम में अञ्जन-सामान्य का निर्देश होने पर निगमन में भी उसी की प्रतीति होती है । उसका घृतविशेष वचन से विरोध होने पर निगमन में श्रूयमाण घृत को अञ्जनसामान्य का उपलक्षक जानना चाहिये] । जैसे—[सृष्टीरुपदधाति में] सृष्टिशब्द सृष्टिपदघटित और असृष्टिपदघटित में

---

१. द्र०—तै० ब्राह्मणे (३।१२।५) इत्थं पठ्यते—'यदि हिरण्यं न विन्देत्, शर्करा अक्ता उपदध्याद्, तेजो घृतम्, स तेजसमेवाग्निं चिनुते' ।

घृतं च घृतमित्युच्यते सन्दिग्धषु । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ॥२६॥ (३०)

सामान्यवचनेन विशेषापेक्षिणोपक्रमो वाक्यस्य विशेषे निगमनवशेन । कुतः ? न हि सामान्यं विहितम्, येन विरोधो निगमनस्य । कथमविहितम् ? सन्दिग्धेषु विधानशब्दाभावात् । न हि विधानशब्दोऽस्ति । अक्ताः शर्करा उपदधातीति वर्त्तमान-कालनिर्देशात् । नाऽपि सामान्यस्य साक्षात् स्तुतिः, प्रत्यक्षन्तु घृतस्य स्तवनम् । श्रुत्या घृतस्य स्तुतिः, लक्षणया सामान्यस्य । श्रुतिश्च लक्षणाया ज्यायसी । तस्माद् घृतविधा-नम् । एवं वासः परिधत्ते, एतद्वै सर्वदेवत्यं वासो यत् क्षौमम्[1] इति । तथा इमां स्पृष्ट्वोद्गायेत्,

---

व्यवहृत है, इसी प्रकार सन्दिग्धों में घृत और घृतभिन्न [अञ्जनद्रव्य] 'घृत' ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—अक्ताः शर्करा उपदधाति—तै० ब्राह्मण के अनुसार इस वचन से चातुर्होत्र-चयन याग में अङ्गुलि के तीसरे पर्व के परिमाण की सुवर्ण की इष्टकाएं उपलब्ध न होने पर घृत से सींची हुई रोड़ी का वेदी में उपधान (=रखना) कहा है । पूरा वचन इस प्रकार है—हिरण्येष्टको भवति । यावदुत्तममङ्गुलिकाण्डं यज्ञपरुषा सम्मितम् । तेजो हिरण्यम् । यदि हिरण्यं न विन्देत्, शर्करा अक्ता उपदध्यात्, तेजो घृतम् । स तेजसमेवाग्नि चिनुते (तै० ब्रा० ३।१२।५)।

सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ॥२६॥

सूत्रार्थ—[जिन वाक्यों के उपक्रम=आरम्भ और निगमन=उपसंहार में भेद होने से सन्देह होवे, ऐसे] (सन्दिग्धेषु) सन्दिग्ध वाक्यों में (वाक्यशेषात्) वाक्यशेष=उपसंहार से अर्थ का निश्चय करना चाहिये ।

व्याख्या—वाक्य के विशेष अर्थ की अपेक्षा रखनेवाले सामान्यवचन से उपक्रम निगमन-वश (=उपसंहारबल) से विशेष में [व्यवस्थित होता है] । कैसे ? सामान्य अर्थ का विधान नहीं किया है, जिससे निगमन का विरोध होवे । [सामान्य] अविहित कैसे है ? सन्दिग्धों में विधान (=विधायक) शब्द का अभाव होने से । कोई विधान शब्द नहीं है । अक्ताः शर्करा उपदधाति में वर्तमानकाल का निर्देश होने से । और ना ही सामान्य अर्थ की साक्षात् स्तुति है, घृत की स्तुति प्रत्यक्ष है [—तेजो वै घृतम्]। श्रुति से घृत की स्तुति है, और लक्षणा से सामान्यवचन की [स्तुति जानी जाती है] । श्रुति लक्षणा से श्रेष्ठ है । इसलिये [शर्करा के अञ्जन-कार्य में] घृत का विधान है । इसी प्रकार वासः परिधत्ते, एतद्वै सर्वदेवत्यं वासो यत् क्षौमम् (=वस्त्र धारण करता है, यही सर्वदेवतावाला वस्त्र है, जो क्षौम वस्त्र है) [में निगमन से क्षौम वास के परिधान का विधान जानना चाहिये] । तथा इमां स्पृष्ट्वा उद्गायेत्, इमां हि औदुम्बरीं

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

इमां हि औदुम्बरीं विश्वाभूतान्युपजीवन्ति[1] इति ॥२९॥ इति वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थनिरूपणाधिकरणम् ॥१८॥

[सामर्थ्यानुसारेणाऽव्यवस्थितानां व्यवस्थाधिकरणम्, सामर्थ्याधिकरणं वा ॥१९॥]

स्रुवेणाऽवद्यति[2], स्वधितिनाऽवद्यति[2], हस्तेनाऽवद्यति[2] इति श्रूयते । तत्र सन्देहः, किं स्रुवेणावदातव्यं सर्वस्य द्रवस्य संहतस्य मांसस्य च, तथा स्वधितिना हस्तेन च, उत सर्वेषामर्थतो व्यवस्था– द्रवाणां स्रुवेण, मांसानां स्वधितिना, संहतानां हस्तेनेति ? अविशेषाऽभिधानादव्यवस्था इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

विश्वाभूतान्युपजीवन्ति (=इस को स्पर्श करके साम को गावे, इस औदुम्बरी=गूलर के वृक्ष की शाखा का सब भूत आश्रयण करते हैं) [में अति सामान्य इमां सर्वनाम शब्द से निर्दिष्ट का इमामौदुम्बरीं निगमन से उदुम्बर की शाखा के विधान में तात्पर्य है] ॥२९॥

विवरण—वर्तमानकालनिर्देशात्—'उपदधाति' यह प्रयोग वर्तमानकालिक लट् लकार का है । अतः इसका अर्थ 'रखता है' इतना ही है, विधानरूप रखे यह नहीं है । उपदधाति लिङर्थक लेट् लकार का प्रयोग भी सम्भव है । उस अवस्था में यह विधायक होगा । तै० ब्रा० ३।१२।५ के शर्करा अक्ता उपदध्यात् प्रयोग के अनुसार इसे लेट् का प्रयोग ही मानना चाहिये । न सामान्यस्य स्तुतिः—अञ्जनसमर्थ द्रव्यसामान्य की अथवा अञ्जनमात्र की स्तुति नहीं है । लक्षणया सामान्यवचनस्य—घृत का अञ्जनसमर्थ द्रव्यसामान्य अर्थ लक्षणा से होगा, तब अञ्जनसमर्थ द्रव्य की तेजो वै घृतम् से स्तुति होगी । क्षौमम्—क्षुमा नाम अतसी=अलसी का है । उसके रेशे से बना वस्त्र क्षौम कहाता है । यज्ञ में क्षौम वस्त्र के परिधान का विधान है । रेशम के कीड़े के द्वारा बनाये गये कोश के तन्तुओं से निर्मित रेशमी वस्त्र का विधान नहीं है । क्योंकि उसके उत्पादन में हिंसा होती है । 'क्षौम' का अर्थ भी प्रायः रेशमी वस्त्र से किया जाता है। उसका अभिप्राय क्षुमा= अलसी के रेशे से बनाये गये नकली रेशमी वस्त्र जानना चाहिये ॥२९॥

व्याख्या—स्रुवेणाऽवद्यति (=स्रुव से अवदान करता है=आहुति देने के लिये हवनीय द्रव्य के भागों को पृथक् करता है),स्वधितिनाऽवद्यति(=स्वधिति=छुरी से अवदान करता है), हस्तेनाऽवद्यति (=हाथ से अवदान करता है), यह सुना जाता है । इनमें सन्देह है, क्या स्रुव से द्रव (=पिघला घृतादि), संहत (=विशिष्ट आकारवाला दृढ पुरोडाशादि), तथा मांस आदि सब का अवदान करना चाहिये, और स्वधिति और हाथ से [सब का अवधान करना चाहिये], अथवा सब की प्रयोजन के अनुसार व्यवस्था होनी चाहिये—द्रवों की स्रुव से, मांसों की स्वधिति से, और संहत द्रव्य की हाथ से ? विशेष का कथन न होने से अव्यवस्था [जाननी चाहिये, अर्थात् किसी भी स्रुवादि से किसी भी द्रव्य का अवदान किया जा सकता है] । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. अनुपलब्धमूलम् ।

अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् ॥३०॥ (उ०)

अर्थाद्वा कल्पना, सामर्थ्यात् कल्पना इति। स्रुवेणावद्येद्, यथा शक्नुयात्। तथा यस्य शक्नुयात् तस्य चेति। आख्यातशब्दानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी। एवञ्चेद्, यथाशक्ति व्यवस्था भवितुमर्हति। तथा—अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहोति[1] इति, द्विहस्तसंयोगोऽञ्जलिः, स व्याकोशोऽर्थात् कर्त्तव्यः। तथा हि शक्यते होमो निर्वर्त्तयितुम्। तद् यथा—कटे भुङ्क्ते इत्यर्थात् कल्प्यते—कटे समासीनः कांस्यपात्र्यामोदनं निधाय भुङ्क्ते इति ॥३०॥ इति सामर्थ्याऽनुसारेणाव्यवस्थितानां व्यवस्थाऽधिकरणम् ॥१९॥

॥ इति श्रीशबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ समाप्तोऽयं प्रथमोऽध्यायः ॥

—:०:—

अर्थाद् वा कल्पनैकदेशत्वात् ॥३०॥

सूत्रार्थ—[स्रुवेणाऽवद्यति, स्वधितिनाऽवद्यति, हस्तेनाऽवद्यति इत्यादि अवदानक्रिया के साधनभूत स्रुव आदि की अवदान कर्म में अव्यवस्था प्राप्त होती है। क्योंकि किससे किस द्रव्य का अवदान करे, यह नहीं कहा है।] (वा) यह ठीक नहीं है। (अर्थात्) स्रुवादि साधनगत सामर्थ्य से जिस साधन से जिस द्रव्य का अवदान हो सकता है, उस की (कल्पना) कल्पना करनी चाहिये। (एकदेशत्वात्) सामर्थ्य के द्रव्य का एकदेश होने से।

व्याख्या—वा=ऐसा नहीं है। अर्थ से कल्पना होवे, सामर्थ्य के अनुसार कल्पना होवे। स्रुव से अवदान करे, जैसे अवदान किया जा सके। और जिस द्रव्य का अवदान किया जा सके उसका करे। अर्थ को कहते हुये आख्यात (=क्रिया) शब्दों की शक्ति (=सामर्थ्य) सहचारिणी (=साथ रहनेवाली) होती है। जब ऐसा है, तो यथाशक्ति (=शक्ति=सामर्थ्य के अनुसार) व्यवस्था होनी चाहिये। और—अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहोति (=अञ्जलि से प्रदाव्य (=दावाग्नि) में सत्तू का होम करे), दो हाथों का संयोग अञ्जलि कहाता है, उसे [सत्तू के धारण करने के लिये] सामर्थ्य से व्याकोश=खुली हुई करना चाहिये। वैसा करने पर ही [उससे सत्तू का] होम किया जा सकता है। जैसे—कटे भुङ्क्ते (=चटाई पर खाता है) [कहने पर 'भुङ्क्ते' क्रिया के] सामर्थ्य से कल्पना की जाती है—चटाई पर बैठा हुआ कांसी की थाली में चावल रखकर खाना है ॥३०॥

विवरण—मांसानां स्वधितिना—यज्ञ में पशु-हिंसा विहित है वा नहीं, क्या यज्ञ में पशु-हिंसा आदिकाल से चली आ रही है, अथवा उसका उत्तरकाल में प्रचलन हुआ, इत्यादि विषयों

---

१. सोमयागस्य अवभृथकर्मणोऽनन्तरं वेद्याः प्रदाहे दावाग्नौ 'अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहुयात्' (तै० सं० ३।३।८; गोपथ-ब्राह्मण २।४।८) इति श्रूयते।

पर विशेष विचार श्रौतयज्ञ-मीमांसा में देखें। आख्यतशब्दानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहचारिणी, यह सामान्य न्याय है। अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये——सोमयाग के अन्त्य अवभृथ कर्म के पश्चात् सोम-याग की वेदि के दाह-प्रकरण में यह वचन उपलब्ध होता है। तदनुसार वेदि को दहन करनेवाली दावाग्नि में अञ्जलि से सत्तू द्वारा होम का विधान किया है। द्विहस्तसंयोगोऽञ्जलिः—दोनों हाथों का संयोग,जिसमें दोनों हाथों की हथेली और अङ्गुष्ठसहित अङ्गुलियां मिल जाती हैं, को अञ्जलि कहते हैं। यथा—साञ्जलि देवान् प्रणमति। व्याकोशः—अञ्जलि के ऊर्ध्वभाग को खोलकर संपुट-सा बनाना ॥३०॥

इति अजयमेरु(अजमेर)मण्डलान्तर्गत-विरञ्च्यावासा(विरकच्यावासा)भिजनेन
सारस्वत-कुलावतंसस्य तत्रभवतः श्री सूर्यरामस्य प्रपौत्रेण
श्री रघुनाथस्य पौत्रेण श्रीयमुनादेवी-गौरीलालाचार्ययोः पुत्रेण
पूर्वोत्तरमीमांसापारदृश्वनां महामहोपाध्यायाद्यनेकविरुद्भाजाम्
श्रीचिन्नस्वामिशास्त्र्यपरनाम्नां वेङ्कटसुब्रह्मण्य-शास्त्रिणाम्
अन्तेवासिना भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
वाजसनेयचरणेन माध्यन्दिनिना
युधिष्ठिर-मीमांसकेन
विरचितायां
मीमांसा-शाबरभाष्यस्य वैदिकतत्त्व-प्रकाशिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां
प्रथमोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥

[वेदरामखनयनाख्ये वैक्रमाब्दे कार्तिकपौर्णमास्यां शुक्रवासरे
प्रथमाध्यायव्याख्याया लेखनं पूर्णतामगमत्।]

—०—

आत्म-परिचय

जन्म और अध्ययन

मेरा जन्म राजस्थान राज्य के पुष्कर क्षेत्र अन्तर्गत अजमेर (=अजयमेरु). मण्डल के विरकच्यावास (=विरञ्च्यावास) में बसे हुये भारद्वाज गोत्र, त्रिप्रवर, आचार्य टंक, यजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखा अध्येता सारस्वत कुल में हुआ है। मेरे दादा का नाम **रघुनाथ जी**, पिता का नाम **गौरीलाल आचार्य**, एवं माता का नाम **यमुनाबाई** था। यद्यपि कई पीढ़ियों से निर्वाह का मुख्य साधन कृषि था, परन्तु मेरे पिताजी ने कृषि-कर्म छोड़कर अध्यापन-कार्य स्वीकार किया था।

हमारे गांव में एक सूरजमल पटेल थे। उन्होंने अजमेर में नवभारत के निर्माता वेदोद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाषण सुने थे (मुझे भी वचपन में उन्होंने स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व के संस्मरण सुनाये थे)। इनके संसर्ग से पिताजी एवं ग्राम के दो नवयुवक **रामचन्द्र जी लोया** और **शिवचन्द जी इनाणी** भी आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुये। अध्ययनार्थ पिताजी कुछ वर्ष अजमेर में रहे। वहां आर्यसमाज के संसर्ग में आने से वे स्वामी दयानन्द सरस्वती के दृढ़ अनुयायी बन गये।

पिताजी का लगभग २३ वर्ष की अवस्था में विवाह हुआ। उन दिनों कन्याओं को पढ़ाने की परिपाटी नहीं थी। पिताजी ने स्वामी दयानन्द के अनुयायी होने से मेरी माता को स्वयं पढ़ा-लिखाकर सुशिक्षित किया, और उन्हें अपने विचारों के अनुकूल बना लिया। सुसंस्कृत माता-पिता ने निश्चय किया कि हम अपनी सन्तान को अपने वंश के अनुरूप सच्चा वेदपाठी ब्राह्मण बनायेंगे।

पिताजी ने अध्ययन के पश्चात् तात्कालिक बीकानेर और किशनगढ़ राज्य में अध्यापन कार्य किया, परन्तु सन् १९०८ में वे इन्दौर राज्य की सेवा में चले गये। अतः मेरा जन्म इन्दौर राज्य के नीमाड़ जिले के **मुहम्मदपुर** ग्राम में **भाद्र सुदी नवमी संवत् १९६६**, तदनुसार २२ सितम्बर सन् १९०९ को हुआ। सातवें वर्ष मुझे स्थानीय (मण्डलेश्वर की) पाठशाला में प्रविष्ट किया। इस अवधि में मेरे एक भाई और एक बहन हुई। पर वे दोनों अकाल में ही कालकवलित हो गये। उपनयनोचित (आठ वर्ष की) अवस्था में मुझे गुरुकुल भेजने का निश्चय कर लिया था, और आठवें वर्ष के मध्य में गुरुकुल कांगड़ी (हरद्वार) से मुझे प्रविष्ट करने की अनुमति भी प्राप्त कर ली थी, परन्तु विधाता को यह स्वीकार न था। अतः कुछ समय पूर्व ही मेरी स्नेहमयी माता का स्वर्गवास हो गया। इस कारण पिताजी लगभग ढाई तीन वर्ष अन्यमनस्क रहे। मुझे तत्काल गुरुकुल में अध्ययनार्थ न भेज सके।

१९२१ में महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन चल रहा था। अमृतसर के जलियांवाला

बाग का नरमेध हो चुका था। उन दिनों देशोद्धारक स्वामी दयानन्द के सभी अनुयायी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूप से स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग ले रहे थे। अतः पिताजी ने भी महात्मा गांधी के **'स्कूल कालेज छोड़ो'** आदेश के अनुसार मुझे राजकीय पाठशाला से उठाकर पूर्व संकल्पानुसार ब्राह्मणोचित वेदवेदाङ्ग के अध्ययनार्थ गुरुकुल भेजने का विचार किया। अवस्था अधिक हो जाने से गुरुकुल कांगड़ी में मुझे प्रवेश नहीं मिला। अतः सान्ताक्रुज़ बम्बई में चल रहे गुरुकुल में मुझे भेजा। उस समय मैं प्राइमरी (चतुर्थ कक्षा) उत्तीर्ण कर चुका था। मराठी और गुजराती भाषा का भी मुझे परिज्ञान था। अतः मैं उस समय सान्ताक्रुञ्ज गुरुकुल में प्रविष्ट होनेवाले ३५ ब्रह्मचारियों में बौद्धिक परीक्षा में सर्वप्रथम आया। किन्तु यहां भी प्रवेश पाना विधाता को स्वीकार न था। अतः जन्मजात पैरों की विकृति के कारण शारीरिक परीक्षा में डाक्टर ने अनुत्तीर्ण कर दिया। अतः स्वामी दयानन्द के अनुयायी होते हुये भी वेदपाठी ब्राह्मण बनाने की अदम्य इच्छा के कारण सनातन धर्म के ऋषिकुल (हरद्वार) में प्रविष्ट कराने का विचार किया, और पत्र-व्यवहार करके अनुमति भी प्राप्त कर ली।

दैव-गति विचित्र होती है। उसे मानव कभी जान नहीं सकता। विधाता के प्रत्येक कार्य में मानव का हित निहित होता है। इसी के अनुरूप ऋषिकुल में प्रविष्ट कराने से पूर्व ही उत्तर-प्रदेश के **'आर्यमित्र'** (साप्ताहिक) में स्वामी सर्वदानन्द जी के साधु आश्रम (पुल काली नदी, अलीगढ़) की एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई। इसमें स्वामी दयानन्द निर्दशित **'आर्ष–पाठविधि'** के अनुसार अध्ययनाध्यापन का उल्लेख था। उसे पढ़कर पिताजी ने उक्त आश्रम के आचार्यजी से पत्र-व्यवहार किया। उन्होंने मुझे अपने आश्रम में प्रविष्ट कर लेने की अनुमति दे दी।

३ अगस्त १९२१ को पिता जी मुझे लेकर श्री स्वामी सर्वदानन्द जी के आश्रम में पहुंचे। वहां की सब व्यवस्था देखकर और सन्तुष्ट होकर मुझे गुरुजनों के सुपुर्द कर दिया। उस समय आश्रम में श्री पं० **ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु**, श्री पं० **शंकरदेवजी**, तथा श्री पं० **बुद्धदेवजी** अध्यापन वा व्यवस्था का कार्य करते थे। पांच मास के पश्चात् ही विद्यालय **गण्डासिंहवाला अमृतसर** में स्थानान्तरित हो गया। वहां इस का नाम **विरजानन्द आश्रम** रखा गया। कुछ कारणों से संचालक-समिति आश्रम को अधिक दिन न चला सकी। इसी बीच श्री पं० बुद्धदेव जी आश्रम के कार्य से पृथक् हो चुके थे। अतः दोनों गुरुजन १२–१३ ब्रह्मचारियों को लेकर **काशी** चले गये। आय की यथावत् स्थिति न होने से एक समय अन्नक्षेत्र में भोजन करते-कराते हमें व्याकरण पढ़ाते रहे, और स्वयं दर्शनशास्त्रों का अध्ययन करते रहे। सन् १९२८ के आरम्भ में अमृतसर के प्रसिद्ध कागज के व्यापारी श्री **लाला रामलाल कपूर** का स्वर्गवास हुआ (गण्डासिंहवाला में विरजानन्द आश्रम के लिये जितनी कागज कापी आदि की आवश्यकता होती थी, उसकी पूर्ति ये महानुभाव ही करते थे)। अतः इनके वैदिकधर्मनिष्ठ पुत्रों ने श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु को काशी से बुलाकर उनकी सम्मति से अपने पिता जी की स्मृति में २६ फर्वरी १९२८ को **रामलाल कपूर ट्रस्ट** की स्थापना की, और ब्रह्मचारियों के सहित अमृतसर आने का अनुरोध किया। तदनुसार श्री पं० ब्रह्मदत्त जी सभी छात्रों के सहित अमृतसर चले गये, और सन् १९३१ के अन्त तक अमृतसर में

रहे। इस अवधि में मैंने श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु[1] से पातञ्जल महाभाष्य पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण, निरुक्तशास्त्र एवं अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन पूर्ण कर लिया था।

पूर्व काशीवास के समय पूज्य गुरुवर्य पूर्वमीमांसाशास्त्र का अध्ययन विशेष कारणवश न कर सके थे। उसकी न्यूनता उन्हें बराबर खलती रही। अतः मीमांसादर्शन के विशिष्ट अध्ययन के लिये आप हम सभी छात्रों को साथ में लेकर सन् १९३१ के अन्त में पुनः काशी पहुंचे। वहां स्व० श्री म० म० **चिन्नस्वामीजी शास्त्री**, और श्री पं० **पट्टाभिरामजी शास्त्री** से समग्र पूर्व-मीमांसा का, श्री पं० **ढुण्डिराज जी शास्त्री** से न्याय वैशेषिक के अनेक प्राचीन दुष्कर ग्रन्थों का, श्री पं० **भगवत प्रसाद जी मिश्र** वेदाचार्य से कर्मकाण्ड, विशेषकर कात्यायन श्रौतसूत्र का अध्ययन किया। कतिपय अन्य विषयों का भी अन्य गुरुजनों से अध्ययन किया। तदनन्तर सन् १९३५ में काशी से लौटकर लाहौर में रावी पार बारहदरी के समीप श्री लाला रामलाल कपूर के उद्यान में आश्रम की स्थिति हुई। पूर्व अमृतसर निवासकाल में और लाहौर निवासकाल में श्री पं० **भगवद्दत्त जी** के सान्निध्य में आकर भारतीय प्राचीन इतिहास तथा अनुसन्धान-कार्य की शिक्षा ग्रहण की।

इस प्रकार सन् १९२१ से १९३५ तक श्री गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु तथा अन्य मान्य गुरुजनों के चरणों में रहकर संस्कृत वाङ्मय के विविध विषयों का अध्ययन किया, परन्तु कोई राजकीय परीक्षा नहीं दी। अप्रेल १९३६ में विरजानन्दाश्रम (लाहौर) का मैं विधिवत् स्नातक बना। इससे कुछ मास पूर्व २६ दिसम्बर १९३५ को मेरे पिताजी का इन्दौर राज्य के नन्दबाई ग्राम (चित्तौड़गढ़ से ३० मील उत्तरपूर्व) में अध्यापन-कार्य करते हुये स्वर्गवास हो गया था। २ जून १९३६ को मेवाड़ अन्तर्गत शाहपुरा के श्री पं० **मूलचन्दजी** तुगनायत (त्रिगुणातीत) की पुत्री, एवं श्री पं० **भगवान्स्वरूपजी** (अजमेर) द्वारा पालिता **'यशोदा देवी'** के साथ मेरा विवाह हुआ। इस समय मेरे तीन पुत्र और दो पुत्रियां हैं। ये सभी अपने-अपने व्यवसायों वा घरों में सुव्यवस्थित हैं।

राजकीय परीक्षा के परित्याग के कारण जीवन-निर्वाह का निश्चित साधन न होने से स्वीय परिवार के निर्वाहार्थ यत्र-तत्र विविध कार्य करते हुये भी संस्कृत वाङ्मय की श्रीवृद्धि तथा ऋषि-ऋण-निर्मोचन के लिये अध्ययन-अध्यापन और शोध-कार्य में अद्य यावत् यथाशक्ति संलग्न हूं। मैंने अपने जीवन में जो कुछ भी कार्य किया है, उसका प्रधान श्रेय मेरी सहधर्मिणी यशोदादेवी को है, जिसने ब्राह्मणोचित अयाचित-वृत्ति से प्राप्त स्वल्प आय में परिवार का भरणपोषण करते हुये मुझे पूर्ण सहयोग दिया है।

इसके आगे संस्कृत-वाङ्मय के रक्षण और प्रचार के लिये किये गये अध्यापन और शोध-कार्य का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

---

१. इनको सन् १९६३ में राष्ट्रपति ने संस्कृतभाषा की विशिष्ट-सेवा के लिये सम्मानित किया था।

कृतकार्य-विवरण

मैंने परिवार के निर्वाह के लिये भी अद्य यावत् प्रधानतया दो प्रकार के कार्यों का ही आश्रय लिया है। प्रथम—अध्यापन, द्वितीय—शोध-कार्य।

(१) अध्यापन-कार्य

संस्कृत-वाङ्मय के अध्यापन का कार्य दो प्रकार से किया। एक—किसी संस्था के साथ सम्बद्ध होकर। दूसरा—स्वतन्त्ररूप से। यथा—

(क) सन् १९३६ से १९४२ पर्यन्त लाहौर रावी नदी के पार विरजानन्द साङ्गवेदविद्यालय में महाभाष्यपर्यन्त पाणिनीय-व्याकरण और निरुक्तशास्त्र का अध्यापन-कार्य किया।

(ख) सन् १९४३–४५ पर्यन्त अजमेर में रहते हुये स्वतन्त्ररूप से महाभाष्य और निरुक्त आदि का अध्यापन किया।

(ग) सन् १९४६ से ३१ जुलाई १९४७ तक लाहौर के पूर्वलिखित विद्यालय में अध्यापन कार्य किया।

(घ) सन् १९४७ के अन्त से १९५० के आरम्भ तक अजमेर में रहते हुये स्वतन्त्ररूप से व्याकरणशास्त्र का अध्यापन करता रहा।

(ङ) सन् १९५०–५५ के आरम्भ तक लाहौर से स्थानान्तरित विरजानन्द साङ्गवेद-विद्यालय अपरनाम पाणिनीय महाविद्यालय (मोतीझील) वाराणसी में अध्यापन-कार्य किया।

(च) सन् १९५५ से १९५९ के आरम्भ तक देहली में स्वतन्त्ररूप में शास्त्री और संस्कृत एम० ए० के छात्रों को पढ़ाता रहा।

(छ) सन् १९६२ से १९६६ तक अजमेर में अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त, पूर्वमीमांसा तथा कात्यायन श्रौतसूत्र आदि का स्वतन्त्ररूप से अध्यापन करता रहा।

(ज) सन् १९६७ में केन्द्र द्वारा भुवनेश्वर (उड़ीसा) में स्थापित 'सान्ध्य संस्कृत-महाविद्यालय' में ३ मास तक आचार्य पद पर कार्य किया।

(झ) जुलाई १९६७ से रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) के पाणिनीय विद्यालय में यथासम्भव अध्यापन-कार्य कर रहा हूं।

विशेष—ख—घ—च—छ निर्दिष्ट कालों में घर पर अध्ययनार्थ आये हुये छात्रों को निःशुल्क पढ़ाता रहा।

(२) शोध-कार्य

शोध-कार्य का आरम्भ—मैंने छात्रावस्था में सन् १९३० से ही शोधकार्य आरम्भ कर दिया था। तब से अब तक निरन्तर इस कार्य में संलग्न हूं।

अध्ययन के पश्चात् सन् १९३६ से जो शोधकार्य किया, वह दो प्रकार का है। एक—किसी संस्था के साथ सम्बद्ध होकर, दूसरा—स्वतन्त्ररूप से। मैंने गत ४२ वर्षों में जो शोधकार्य किया, उसकी सूची वहुत विस्तृत है। उसका संक्षेप इस प्रकार है—

विशिष्ट शोधपूर्ण लेख—१३ लेख संस्कृत में, १६ लेख हिन्दी में।

प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन—शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण और वेदादि विषय के २० दुर्लभ एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन।

प्राचीन प्रौढ़ ग्रन्थों की हिन्दी-व्याख्या—पतञ्जलि मुनि विचरित महाभाष्य के प्रथम दो अध्यायों की हिन्दी-व्याख्या के तीन भाग छप चुके हैं। पूर्वमीमांसाशास्त्र के शबरस्वामी कृत भाष्य की हिन्दी-व्याख्या का प्रथम भाग प्रस्तुत है। आगे कार्य चल रहा है।

विशिष्ट सम्मान—राजस्थान राज्य के संस्कृतशिक्षा-विभाग द्वारा वेद और संस्कृत-व्याकरण-सम्बन्धी शोधकार्य पर ३०००-०० रुपये, सन् १९६३।

राष्ट्रपति-सम्मान—संस्कृतभाषा की उन्नति प्रसार एवं साहित्यिक सेवा के लिये १५ अगस्त १९७६ को राष्ट्रपति-सम्मान की घोषणा, एवं २ अप्रेल १९७७ को सम्मान प्रदान किया गया। इस सम्मान से सम्मानित व्यक्ति को ३००० तीन सहस्र रुपया वार्षिक अनुदान दिया जाता है।

लेखन-सम्पादन कार्य पर पुरस्कार—इस समय तक निम्न पुस्तकों पर उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कार प्राप्त हुआ है—

१—संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १ पर	५००-००	सन् १९५२
२—वैदिक-स्वर-मीमांसा पर	७००-००	सन् १९५९
३—वैदिक-छन्दोमीमांसा पर	५००-००	सन् १९६१
४—काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम् पर	५००-००	सन् १९७२
५—माध्यन्दिन-पदपाठ पर	५००-००	सन् १९७३
६—महाभाष्य-हिन्दी-व्याख्या भाग २ पर	५००-००	सन् १९७४
७—ऋग्वेद-भाष्य (स्वामी दयानन्द सरस्वती) भाग १ पर	२५००-००	सन् १९७५
८— ,, ,, ,, ,, भाग २ पर	३०००-००	सन् १९७६
९—महाभाष्य-हिन्दी-व्याख्या भाग ३ पर	३०००-००	सन् १९७६

शोधकार्य के लिये सहायता—राजस्थान राज्य के संस्कृतशिक्षा-विभाग द्वारा माध्यन्दिन-पदपाठ के सम्पादन-कार्य के लिये ३ वर्ष तक १५०-०० मासिक अर्थात् १५०×३६= ५४००-०० रुपया (सन् १९६४–१९६७ तक)।

मौलिक शोध-पूर्ण ग्रन्थ

इस काल में मैंने निम्न शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं—

१. संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, (भाग १)—इस ग्रन्थ में पाणिनि से प्राचीन तेईस वैयाकरणों का इतिवृत्त, उनमें अनेक आचार्यों के उपलब्ध सूत्रों का संकलन, पाणिनि

और उसके व्याकरण पर टीका-टिप्पणी लिखनेवाले लगभग १५० आचार्यों, तथा पाणिनि से उत्तरवर्ती १५ प्रमुख व्याकरण-प्रवक्ताओं, और उनके लगभग ८० व्याख्याताओं का इतिहास लिखा गया है। न केवल राष्ट्रभाषा हिन्दी में, अपितु संसार की किसी भी भाषा में संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र के इतिहास पर इतना विस्तृत ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ।

प्रथम-संस्करण (उत्तरप्रदेश सरकार से पुरस्कृत) सन् १९५१
द्वितीय परिवर्धित संस्करण—(१५० पृष्ठ बढ़े) सन् १९६३
तृतीय ,, संस्करण—(५० पृष्ठ बढ़े) सन् १९७३

२. संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास (भाग २)—इसमें व्याकरणशास्त्र के परिशिष्टरूप धातुपाठ उणादिसूत्र लिङ्गानुशासन परिभाषापाठ और फिट्सूत्रों के प्रवक्ताओं तथा व्याख्याताओं का इतिवृत्त लिखा गया है। अन्त में प्रातिशाख्यों के प्रवक्ता और व्याख्याता तथा व्याकरणप्रधान लक्ष्यात्मक काव्यग्रन्थों के रचयिताओं का इतिहास भी दे दिया है।

प्रथम संस्करण सन् १९६२
द्वितीय परिवर्धित संस्करण (५८ पृष्ठ बढ़े) सन् १९७३

३. संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास (भाग ३)—इसमें अवशिष्ट विषय तथा अनेक परिशिष्ट सूचियां आदि दी हैं।

प्रथम संस्करण सन् १९७३

४. वैदिक-स्वर-मीमांसा—इसमें वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त उदात्त अनुदात्त स्वरित आदि स्वरों का वाक्यार्थ के साथ क्या सम्बन्ध है, स्वर-परिवर्तन से अर्थ में किस प्रकार परिवर्तन होता है, स्वरशास्त्र की उपेक्षा से वेदार्थ में कैसी भयंकर भूलें होती हैं, इत्यादि अनेक विषयों का सोपपत्तिक सोदाहरण प्रतिपादन किया है। अन्त में वैदिक ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों के विभिन्न प्रकार के संकेतों स्वरचिह्नों की सोदाहरण व्याख्या की है। परिशिष्ट में मन्त्रसंहिता पाठ से पदपाठ में परिवर्तन के नियमों की सोदाहरण विवेचना की है।

प्रथम संस्करण (उत्तरप्रदेश सरकार से पुरस्कृत) सन् १९५८।
द्वितीय ,, (इसमें लगभग ७०-८० पृष्ठ बढ़े) सन् १९६३।

५. वैदिक-छन्दोमीमांसा—इसमें वैदिक-वाङ्मय से सम्बन्ध रखनेवाले ५-६ उपलब्ध छन्दःशास्त्रों के अनुसार सभी छन्दों के भेद-प्रभेदों के लक्षण और उदाहरण दर्शाये हैं। साथ में छन्दोज्ञान की वेदार्थ में उपयोगता, छन्दःपरिवर्तन के कारण, और छन्दःशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास आदि अनेक विषयों का समावेश किया है। वैदिक-छन्दःसम्बन्धी इतनी विशद विवेचना किसी भी भाषा के ग्रन्थ में नहीं की गई है।

प्रथम संस्करण (उत्तरप्रदेश सरकार से पुरस्कृत) सन् १९६०

६. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—इस ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रत्येक ग्रन्थ का विशद इतिहास दिया है। उनके ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों और उस समय तक अमुद्रित ग्रन्थों का विस्तृत विवरण दिया है। अनेक परिशिष्टों में विविध प्रकार की प्राचीन उपयोगी ऐतिहासिक सामग्री का संकलन किया है। सन् १९५०

७. ऋग्वेद की ऋक्संख्या (हिन्दी तथा संस्कृत)—ऋग्वेद की ऋक्संख्या के विषय में प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों में अत्यन्त मतभेद है। इस निबन्ध में सभी लेखकों की दी गई ऋक्संख्या की विवेचना, और उनकी गणना-सम्बन्धी भूलों का निदर्शन कराते हुये वास्तविक ऋग्गणना दर्शाई है। कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

८. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा—वेदविषयक विभिन्न कालों में लिखे गये १७ निबन्धों का परिशोधित एवं परिवर्धित संग्रह। सन् १९७६।

अप्रकाशित ग्रन्थ—

९. छन्दः-शास्त्र का इतिहास।

१०. शिक्षा-शास्त्र का इतिहास।

११. निरुक्त-शास्त्र का इतिहास।

इनकी पाण्डुलिपि (=रफ कापी) लगभग तैयार है, परन्तु मुद्रण सम्भवतः न हो सकेगा।

युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित वा सम्पादित उपलभ्यमान पुस्तकें

लिखित—

१—संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास—(तीन भागों में) मूल्य ६०-००

२—वैदिक-स्वरमीमांसा मूल्य ५-००

३—ऋग्वेद की ऋक्संख्या—(संस्कृत-हिन्दी) मूल्य १-००

४—वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा—(संस्कृत-हिन्दी) मूल्य ३०-००

५—वैदिक-नित्यकर्म-विधि—प्रातः से शयनपर्यन्त प्रत्येक दैनिक कर्म, बृहद् यज्ञ तथा दर्शपौर्णमास के मन्त्रों का पदार्थ और व्याख्या-सहित संकलन। मूल्य २-००

व्याख्यात—

६. महाभाष्य—हिन्दी-व्याख्या—आरम्भ से द्वितीय अध्याय तक।
प्रथम भाग ४०-०००, द्वितीय भाग ३५-००, तृतीय भाग २५-००

७. मीमांसा-शबरभाष्य-हिन्दी-व्याख्या—प्रथम भाग ३०-००, राज-संस्करण ४०-००

सम्पादित—

८—निरुक्त-समुच्चयः—आचार्य वररुचिकृत प्रामाणिक ग्रन्थ मूल्य ६-००

९—भागवृत्ति-संकलनम्— मूल्य ३-००

१०—शिक्षा-सूत्राणि—आपिशल पाणिनीय एवं चान्द्र-शिक्षासूत्रों का संग्रह। मूल्य १-५०

११—दैवम्-पुरुषकारोपेतम्—(धातुपाठ-विषयक उपयोगी ग्रन्थ) मूल्य ८-००

१२—काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्—चन्नवीर कविकृत कन्नड टीका का संस्कृत-रूपान्तर। मूल्य ८-००

१३—काशकृत्स्न-व्याकरण—संस्कृत-व्याख्या सहित। मूल्य ३-००

१४—माध्यन्दिन-पदपाठ—शुद्ध सुन्दर मुद्रण। मूल्य १५-००

१५—उणादिकोष—(स्वामी दयानन्द सरस्वती) मूल्य १०-००

१६—ऋग्वेद-भाष्यम्—(„ „ „ (तीन भाग) प्रथम भाग ३०-०० द्वितीय भाग २५-००, तृतीय भाग ३०-००

१७—सत्यार्थ-प्रकाश—(स्वामी दयानन्द सरस्वती) मूल्य २४-००, राज-संस्करण ३०-००

१८—संस्कारविधि „ „ „ मूल्य १०-००, राज-संस्करण १२-००

१९—दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह—स्वामी द० स० कृत २४ लघुग्रन्थों का संग्रह। मूल्य २०-००

विशेष—संख्या १६-१९ तक के प्रत्येक ग्रन्थ में सहस्रों टिप्पणियां, और १०-१२ प्रकार के परिशिष्ट वा सूचियां दी गई हैं। श्रेष्ठ कागज, सुन्दर छपाई से युक्त।

रामलाल कपूर ट्रस्ट के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका—स्वामी दयानन्द सरस्वती। सटिप्पण स्थूलाक्षर १५-००

२. पाणिनीयं शब्दानुशासनम्—भाग १। सूत्रपाठ, उसके विविध पाठभेद, तथा सूत्रसूची सहित। मूल्य ४-००

३. अष्टाध्यायी (मूल सूत्रपाठ)—शुद्ध संस्करण मूल्य २-००

४. धातुपाठ—धात्वादी सूची सहित, शुद्ध संस्करण मूल्य २-००

५. अष्टाध्यायी-भाष्य—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। प्रथम भाग २५-००, द्वितीय भाग २०-००, तृतीय भाग १५-००

६. संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत प्रथम भाग ७-००, द्वितीय भाग (यु० मी०) ८-००

७. विदुर-नीति—युधिष्ठिर मीमांसक कृत पदार्थ तथा विस्तृत व्याख्या ५-५०

८. नाड़ी-तत्त्व-दर्शनम्—पं० सत्यदेव वासिष्ठ कृत (हिन्दी-संस्कृत) मूल्य १०-००

९. अथर्ववेद-भाष्य—श्री पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय कृत। काण्ड १८–१९। १५-०० „ काण्ड २०—१५-००

१०. श्रीमद्भगवद् गीता—स्वामी तुलसीराम कृत हिन्दी व्याख्या। मूल्य ५-००

उपर्युक्त सभी पुस्तकों का प्राप्ति-स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, (सोनीपत-हरयाणा)